

ॐ

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० ११६

समयसार

उत्तरार्ध

(निर्जरा आंधकार से पूर्ण)

मूलग्रंथकर्ता

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य देव

आत्मख्याति टीकाकार
श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्य

तात्पर्यवृत्ति टीकाकार
श्रीमद् जयसेनाचार्य

ज्ञानज्योति भाषा टीकाकर्त्री
जंबूद्वीप रचना की पावन प्रेरिका
गणिनी आर्यिका शिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

पद्यानुवादकर्त्री :
आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

प्रकाशक :
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथमावृत्ति
१९०० प्रति

शरद् पूर्णिमा, वीर नि० सं० २५२१
८ अक्टूबर १९९५

मूल्य—१५०/-

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना का क्रम

विषय	पृष्ठ संख्या
१. समयसार—एकअध्ययन	४
२. श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेव	१९
३. श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्य	२४
४. श्रीमद् जयसेनाचार्य	२७
५. ज्ञानज्योति टीकाकर्त्री—गणिनी श्री ज्ञानमती जी	३१
६. हृदय के उद्गार	३४
७. पद्यानुवाद-आर्यिका श्री चंदनामती जी	३६
८. संपादकीय आभार	४०
९. स्वाध्याय प्रारंभ-समापन विधि	४६
१०. महत्त्वपूर्ण अंश	४७
११. मंगलाचरण	४८

समयसार उत्तरार्ध का क्रम

निर्जराधिकार	१
बंध अधिकार	१२९
मोक्ष अधिकार	२५५
सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार	३११
स्याद्वाद शुद्धि अधिकार	५६५
प्रशस्ति	६०७

परिशिष्ट

गाथा—अन्वयार्थ-पूर्वार्ध	६१३
मूलगाथायें—उत्तरार्ध	६४८

समयसार—एक अध्ययन

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

वंदे समयसार । त्वां, कार्यकारणरूप ! भोः ।

स्वात्मोपलब्धिसिद्ध्यर्थं, नित्यं मेऽन्तो विराजताम् ॥

श्री कुंदकुंददेव द्वारा विरचित “समयसार” ग्रंथ अध्यात्म ग्रंथों में सर्वोपरि है। इसका दूसरा नाम “समयप्राभृत” है।

समयसार का अन्वर्थ नाम एवं विषय—

आचार्यदेव ने मंगलाचरण करते हुये इस समयप्राभृत ग्रंथ को कहने की प्रतिज्ञा की है। यथा—

वन्दितु सख्यसिद्धे ध्रुवमचलभणोवमं गदै पते ।

नेच्छति समप्राभृतमिणो रुद्रकेशती भणियं ॥ १ ॥

श्री जयसेनाचार्य ने अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में “समयप्राभृत” इस नाम का सार्थक अर्थ दिया है। यथा—

“समयप्राभृतं”—समयप्राभृतं सम्यक् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेन अयनं गमनं समयः । प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्य आत्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं । “समयप्राभृत” सं अर्थात् सम्यक्-समीचीन, अय अर्थात् बोध— ज्ञान है जिसके वह समय है इसे ही आत्मा कहते हैं। अथवा सम—एकीभाव से अयन—गमन करना—प्राप्त करना सो समय है। यह समय शब्द का अर्थ हुआ। प्राभृत अर्थात् सार और सार का अर्थ है शुद्धावस्था। इस प्रकार “समय” अर्थात् आत्मा की “प्राभृत” अर्थात् शुद्ध अवस्था को समयप्राभृत कहते हैं।

दूसरी गाथा में स्वयं श्री कुंदकुंददेव स्वसमय-परसमय का लक्षण करते हुये कहते हैं—

जीवो-चरित्तदंसणणाणदिठउ तं हि ससमयं जाण ।

पुग्गलकम्मपदेसदिठयं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जीव स्वसमय है और पुद्गल कर्मप्रदेश में स्थित जीव परसमय है।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने तंकोत्कीर्ण जीव पदार्थ को समय शब्द से कहकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप रत्नत्रय में एकरूप से स्थित होने को स्वसमय कहा है। यह निर्विकल्प ध्यानावस्था ही है। और मिथ्यात्व, राग, द्वेष से परिणत जीव को परसमय कहा है। श्री जयसेनाचार्य ने वीतराग चारित्र से परिणत जीव को स्वसमय और निश्चयरत्नत्रय के अभाव में स्थित जीव को परसमय कहा है। इस गाथा की हिंदी टीका में मैंने रयणसार के आधार से यह सिद्ध किया है कि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक

अंतरात्मा हैं इसके पूर्व तीन गुणस्थान के जीव बहिरात्मा हैं, ये बहिरात्मा और अंतरात्मा परसमय हैं तथा परमात्मा—अर्हत—सिद्ध स्वसमय है।

आगे तृतीय गाथा में समय की व्याख्या करके उसका महत्व बतलाते हैं—

एयत्तणिच्छयगओ, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।

बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

श्री जयसेनाचार्य ने समय शब्द की व्याख्या करते हुये कहा है—

“स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः” “समओ” समय-शब्देनात्मा।” अपने शुद्ध गुणपर्यायों से परिणत आत्मा सिद्ध भगवान ही है अथवा अभेद रत्नत्रय से परिणत आत्मा एकत्वनिश्चयगत कहलाता है। यह आत्मा सर्वत्र—एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं में भी शुद्ध निश्चयनय से सुंदर है— उपादेय है।

पुनः आचार्य देव कहते हैं—

श्रुत, परिचित और अनुभूत काम, भोग, बंध की कथायें सभी को सुलभ हैं किंतु एकत्व और विभक्त आत्मा की उपलब्धि सुलभ नहीं है। यहाँ श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—

यह जीव स्वयं तो अनात्मज्ञ है और आत्मज्ञ—आचार्य आदिकों की उपासना नहीं करता है अतएव निर्मल विवेक के आलोक से परद्रव्यों से भिन्न और केवल एकत्व स्वरूप ऐसे समय को—आत्मा को प्राप्त नहीं कर पाया है। श्रीजयसेनाचार्य ने भी कहा है कि निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चयरत्नत्रय से परिणत आत्मा एकत्व है और रागादि विभाव भावों से रहित आत्मा विभक्त है।

पुनः श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

“आत्मा के इस एकत्व—विभक्त को मैं अपने विभव से कहता हूँ—यदि दिखाता हूँ तो परीक्षा करके प्रमाण मानना, स्वीकार करना और कहीं चूक जाऊँ तो छलग्रहण नहीं करना—दोष ग्रहण नहीं करना।”^१

पुनः आचार्यदेव शुद्ध आत्मा का लक्षण करते हुये कहते हैं—

ण वि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं, णओ जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

जो ज्ञायक भाव है वह न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं। इस तरह से जो जाना गया है वह वही है अन्य कुछ नहीं है। अभिप्राय यह है कि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से ज्ञायक—ज्ञानस्वभावी ही है। प्रथम गुणस्थान से छठे तक प्रमत्त संज्ञा है और सातवें से लेकर चौदहवें तक

अप्रमत्त संज्ञा है। यह ज्ञायक आत्मा शुद्धनिश्चयनय से प्रमत्त-अप्रमत्त आदि कर्मजनित अवस्थाओं से रहित है। यहां इस गाथा से आचार्यदेव ने आत्मा को एक अखंड ज्ञानस्वरूप सिद्ध किया है। यही विषय अगली गाथा में स्पष्ट है—

व्यवहारेणुवदिस्सइ, णासिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

ज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है किंतु आत्मा में न ज्ञान है न दर्शन है न चारित्र है आत्मा तो मात्र ज्ञायक है और शुद्ध है। यह निश्चयनय का कथन है। इस गाथा से यह स्पष्ट है कि छठी गाथा की अपेक्षा आत्मा ज्ञानमात्र शुद्ध है, एक है, यह निश्चयनय केवल अभेद की विवक्षा रखता है और शुद्ध आत्मा/सिद्धात्मा में भी जो अनंतगुण हैं उनमें से ज्ञान-दर्शन आदि गुण भी यद्यपि शुद्ध हैं फिर भी यहां जो व्यवहारनय है वह भेद को कहने वाला है अशुद्ध को नहीं इत्यादि।

पुनः व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश या शुद्धात्मा की प्राप्ति शक्य ही नहीं है इसीलिये आचार्यदेव कहते हैं—

जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना कुछ भी समझाना शक्य नहीं है वैसे ही व्यवहारनय के बिना परमार्थ का/निश्चय का उपदेश देना शक्य नहीं है।^१ आगे स्वयं आचार्यदेव ने कहा है—

जो परमभाव के दर्शी हैं उनको शुद्ध आत्मा का कथन करने वाला शुद्धनय ही जानने—ग्रहण करने योग्य है, किंतु जो अपरम-अशुद्ध भाव में स्थित हैं उनको व्यवहारनय का उपदेश देना योग्य है। यहाँ टीकाकार ने अपरमभाव से सप्तम गुणस्थान तक के मुनियों को लिया है अर्थात् चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान वालों को व्यवहारनय के अनुसार श्रद्धान और आचरण करना ही रहता है। यहाँ तक श्री आचार्यदेव ने भूमिका बनाई है।

समयसार में नवतत्त्व—

आगे जीवाजीवाधिकार में कहते हैं—

“भूतार्थ से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं।” यहाँ भूतार्थ शब्द से भेद को कहने वाला अशुद्ध निश्चयनय ही हो सकता है चूंकि शुद्ध निश्चयनय से नव तत्त्व व्यवस्था ही नहीं है।

इस प्रकार पूरे समयसार में आत्मा को व्यवहारनय से अशुद्ध कहकर निश्चयनय से शुद्ध एक ज्ञानमात्र सिद्ध किया है अतः समयसार की अपेक्षा आत्मा टंकोत्कीर्ण, एक ज्ञायक/ज्ञानमात्र ही है। इस

तरह श्रीकुंदकुंददेव ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सर्वत्र शुद्ध आत्मा को समय या स्वसमय कहा है। समयसार के दो भेद हैं— कारणसमयसार और कार्यसमयसार। कार्यसमयसार तो अनंत चतुष्टय की प्राप्ति हो जाने से अर्हत अवस्थारूप है। कारण समयसार के दो भेद हैं—

व्यवहार कारणसमयसार और निश्चय कारणसमयसार।

व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप छोटे और सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि व्यवहार कारणसमयसार हैं और सातवें गुणस्थान के द्वितीयस्थान सातिशय अप्रमत्त से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज निश्चय कारणसमयसार हैं। इसलिये व्यवहार कारणसमयसार सरागमुनियों की चर्यारूप है। और निश्चय कारणसमयसार निर्विकल्पध्यानरूप है।

यह व्यवहार कारणसमयसार निश्चय कारणसमयसार के लिये कारण है और निश्चय कारणसमयसार कार्य समयसार के लिये कारण है। इसी प्रकार एक कारणकारण समयसार भी माना है जो पंचम गुणस्थान योग्य देशचारित्र रूप है। यह मुनियों के चारित्र के लिये अर्थात् व्यवहार कारणसमयसार के लिये कारण होने से ही “कारणकारण” माना गया है।

दोनों टीकाकारों की गाथाओं में पाठ भेद

वंदितु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

श्री कुंदकुंददेव ने सर्वप्रथम “वंदितु सव्वसिद्धे” पद से सिद्धों की वंदना की है। इस गाथा में सिद्धगति के विशेषण में “अचल” पद रखा है। इसकी टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी “अचलत्वमुपगतां” पद से “अचल” पद की ही व्याख्या की है।

श्री जयसेनाचार्य ने इस गाथा को निम्न प्रकार से लिया है—

वंदितु सव्वसिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

इसमें गइं-गदिं, सुय-सुद, भणियं-भणिदं ऐसे पाठ भेद तो हैं किंतु इनमें अर्थ भेद नहीं है। इसी में अर्थभेद वाला भी एक पाठभेद है वह “अचल” के स्थान में “अमल” है। श्रीजयसेनाचार्य ने पहले “अमल” पद का अर्थ किया है कि जो भावकर्ममल आदि से रहित—निर्मल है। पुनः कहा है— “अथवा अचलं इति पाठांतरे” अथवा “अचल” इस पाठांतर से द्रव्य, क्षेत्र आदि पांच परिवर्तन के भ्रमण से रहित होने से अचल है इत्यादि।

इस टीका से यह स्पष्ट है कि श्रीजयसेनाचार्य के सामने पाठ भेद की प्रतियां थीं। उन्होंने एक प्रति को लेकर टीका की है फिर भी पाठ भेद को रखकर अर्थभेद भी खोला है।

इसी का एक उदाहरण और भी देखिये—

“दिट्ठी जहेव णाणं” ऐसा पाठ श्रीअमृतचंद्रसूरि ने रखा है। (गाथा नं० ३२० अ०)

श्री जयसेनाचार्य ने—“दिट्ठी संयपि णाणं”। ऐसा पाठ लिया है। पहले इसका अर्थ करके कहा है—“अथवा पाठांतरं दिट्ठी खयं पि णाणं” ऐसा पाठ भेद है उसका दूसरा व्याख्यान किया है। इससे यह समझ में आता है कि इन तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य के सामने जो पाठ भेद थे उन्हें लिया है। इस ग्रंथ में ऐसे कई प्रमाण हैं।

दूसरी गाथा में भी अन्तर है।

जीवो चरित्तदंसणणाणदिठउ तं हि ससमयं जाण ।

पुग्गलकम्मपदेसदिठयं च तं जाण परसमयं ॥२॥

श्रीअमृतचंद्रसूरि ने इसी के अनुसार अर्थ किया है। यथा—“पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात् ।” इत्यादि। श्रीजयसेनाचार्य ने इस गाथा को निम्न प्रकार से लिया है—

जीवो चरित्तदंसणणाणदिठद तं हि ससमयं जाण ।

पुग्गलकम्मुवदेसदिठदं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

इसमें तीसरे चरण के पाठ भेद के अनुसार ही श्रीतात्पर्यवृत्तिकार ने टीका की है। यथा—“पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं” पाठ का ही अर्थ किया है। यहाँ श्रीजयसेनाचार्य ने पाठांतर नहीं कहा है। इससे यह लगता है कि इस गाथा का पाठभेद इनको नहीं मिला होगा।

जो भी हो श्रीअमृतचंद्रसूरि द्वारा की गई टीका की गाथाओं में और श्रीजयसेनाचार्य द्वारा की गई टीका की गाथाओं में अधिकतर अंतर है। अब श्रीकुंदकुंददेव के मुख से निकली हुई कौनसी गाथायें हैं इसका निर्णय करना हम और आप जैसे छद्मस्थों के लिये शक्य नहीं है।

ऐसे ही कई एक गाथायें श्रीअमृतचंद्रसूरि की टीका में अधिक हैं और श्रीजयसेनाचार्य की टीका में तो अनेक गाथायें अधिक हैं। कुल मिलाकर श्रीअमृतचंद्रसूरि ने ४१५ गाथायें ली हैं और श्रीजयसेनाचार्य ने ४३९ गाथायें ली हैं। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने “नव अंक” (अधिकार) लिये हैं और श्रीजयसेनाचार्य ने “दश अधिकार” लिये हैं। यह अंतर “जीवाजीवाधिकार” से ही हो गया है श्रीअमृतचंद्रसूरि ने इसे “एक अंक” कहा है और श्रीजयसेनाचार्य ने इसे जीव और अजीव नाम से दो अधिकारों में लिया है।

ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय—

इस समयसार में नव तत्त्वों का विवेचन है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

श्री गौतमस्वामी ने यतिप्रतिक्रमण के सूत्र दंडक में कहा है—

“से अभिमदजीवाजीव-उवलद्ध-पुण्णपाव-आसवसंवरणिज्जर-बंधमोक्खमहिकुसले।” इनमें अभिमत जीव-अजीव इनसे उपलब्ध हुये पुण्य-पाप, आसव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इत्यादि।

इस सूत्र में नवपदार्थों का जो क्रम है श्रीकुंदकुंददेव ने समयसार ग्रंथ में भी वही क्रम रखा है। यथा—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।

आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्पत्तं ॥ ३ अ० ॥

भूतार्थनय से जाने गये जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नवपदार्थ ही सम्यक्त्व हैं।

पुनः श्रीकुंदकुंददेव ने इस ग्रंथ में इसी क्रम से अधिकार विभक्त किये हैं।

(१) जीवाजीवाधिकार—इस समयसार में सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार है। इसमें श्री अमृतचंद्रसूरि की टीका के अनुसार ६८ गाथायें हैं और श्री जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार ७३ गाथायें हैं। इनमें जीव और अजीव द्रव्य का व्यवहारनय-निश्चयनय की अपेक्षा विवेचन है फिर भी निश्चयनय का कथन इस ग्रंथ में प्रधान है।

३८ गाथाओं में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने “पूर्वरंग” समाप्त किया है पुनः आगे ३० गाथाओं में जीवा-जीवाधिकार पूर्ण किया है। इस तरह ६८ गाथायें हैं।

श्रीजयसेनाचार्य ने १४ गाथाओं में “पीठिका” ली है पुनः ४३ गाथा के बाद २८ गाथाओं में “जीवाधिकार” नाम से पहला अधिकार पूर्ण किया है। इसमें एक गाथा कौन सी अधिक है सो समझ में नहीं आई है।

इसके बाद गाथा ४४ से ७३ पर्यन्त ऐसे ३० गाथाओं में अजीवाधिकार नाम से दूसरा अधिकार पूर्ण किया है।

(२) श्रीअमृतचंद्रसूरि ने गाथा ६९ से १४४ तक ७६ गाथाओं में “कर्तृकर्म” नाम से दूसरा अधिकार पूर्ण किया है। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा ७४ से लेकर गाथा १५१ तक इन ७८ गाथाओं में इस कर्ता-कर्म अधिकार को पूर्ण किया है और इसे तीसरा महाधिकार कहा है।

प्रश्न यह हो सकता है कि यहाँ नव पदार्थों के वर्णन में यह “कर्ता-कर्म” किस पदार्थ में शामिल होगा ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जयसेनाचार्य ने “पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संबंधी भूमिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः” पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की भूमिकारूप से इसे स्वीकार किया है क्योंकि जीव और अजीव में कर्ता-कर्म संबंध हुये बिना आगे के पुण्य, पाप, आस्रव आदि सात पदार्थ बनेगे ही नहीं, ऐसा अभिप्राय है।

(३) श्री अमृतचंद्रसूरि ने गाथा १४५ से १६३ तक ऐसे १९ गाथाओं में इस तीसरे पुण्यपापाधिकार को लिया है। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा १५२ से १७० तक १९ गाथाओं में ही इस अधिकार को पूर्ण करके इसे चौथा अधिकार कहा है।

(४) श्री अमृतचंद्रसूरि ने गाथा १६४ से १८० तक १७ गाथाओं में आस्रव नाम का चौथा अधिकार लिया है। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा १७१ से १८७ तक १७ गाथाओं द्वारा इस अधिकार को पूर्ण करते हुये इसे पांचवां अधिकार कहा है।

(५) श्रीअमृतचंद्रसूरि ने गाथा १८१ से १९२ तक १२ गाथाओं में संवर नाम के पांचवें अधिकार को लिया है। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा १८८ से २०१ तक ऐसे १४ गाथाओं द्वारा इसे छठा अधिकार कहा है।

(६) श्रीअमृतचंद्रसूरि ने गाथा १९३ से २३६ तक ४४ गाथाओं में निर्जरा नाम के छठे अधिकार को कहा है। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा २०२ से २५१ तक ५० गाथाओं में इसे सातवां अधिकार माना है।

(७) श्रीअमृतचंद्रसूरि ने २३७ से २८७ तक ५१ गाथाओं द्वारा सातवां बंध अधिकार कहा है। श्रीजयसेनाचार्य ने २५२ से ३०७ तक ५६ गाथाओं में इसे आठवां अधिकार कहा है।

(८) श्री अमृतचंद्रसूरि ने गाथा २८८ से ३०७ तक ऐसे २० गाथाओं में मोक्ष अधिकार नाम से आठवां अधिकार लिया है। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा ३०८ से ३२६ तक १९ गाथाओं में इसे नवमां अधिकार कहा है। यहाँ समापन में श्रीजयसेनाचार्य ने २२ गाथायें कही हैं। तीन गाथाओं की कमी यहाँ पर समझ में नहीं आई है।

(९) श्रीअमृतचंद्रसूरि ने गाथा ३०८ से ४१५ तक ऐसे १०८ गाथाओं में सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार नाम से नवमां अधिकार लिया है। श्रीजयसेनाचार्य ने ३२७ से ४३६ तक ऐसे ११० गाथाओं में यह दशवां अधिकार पूर्ण किया है। इसमें पहले १४ गाथाओं में मोक्षाधिकार की चूलिका कही है पुनः ९६ गाथाओं में सर्वविशुद्धज्ञान नाम से अथवा समयसारचूलिका नाम से दशवां अधिकार कहा है।

अनंतर समापन में स्याद्वाद अधिकार को पूर्ण करके श्रीअमृतचंद्रसूरि ने इसको अधिकार की संख्या में नहीं लिया है। श्रीजयसेनाचार्य ने इसे पूर्ण करते हुये कहा है कि—
“दशाधिकारैरेकोन—चत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता।” दश अधिकारों द्वारा उनतालिस अधिक चार सौ गाथाओं में अर्थात् ४३९ गाथाओं में तात्पर्यवृत्ति समाप्त हुई। यथा—

पीठिका में	१४	संवर अधिकार	१४
जीवाधिकार में	२८	निर्जराधिकार	५०
अजीवाधिकार	३० (= ७२)	बंधाधिकार	५६
कर्तृकर्म अधिकार	७८	मोक्षाधिकार	२२
पुण्य-पापाधिकार	१९	चूलिका	१४
आस्रवाधिकार	१७	सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार	९६

= ४३९ गाथायें हैं।

नोट—मोक्षाधिकार में श्रीजयसेनाचार्य ने २२ गाथायें लिखी हैं किंतु वर्तमान में सभी प्रतियों में हमें १९ गाथायें ही मिली हैं अतः इस ग्रंथ में ४३६ गाथायें ही हैं।

समयप्राभृत ग्रंथ जो वीर नि. सं. २४४० में सनातन जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित हुआ था। इसमें तात्पर्यवृत्ति^१ टीका पहले है पुनः आत्मख्याति^२ टीका है। इसमें ४४५ गाथायें हैं। श्रीजयसेनाचार्य की टीका समाप्ति में गाथा ४३९ ही कही हैं।

यथा—इति श्रीकुंदकुंदाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रन्थस्य संबंधिनी दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता ॥

इससे यह प्रतीत होता है कि अमृतचंद्रसूरि की टीका में कई गाथायें अधिक हैं। इसी से यहाँ गाथा संख्या दोनों की मिलने से और कई एक गाथाओं के दो बार आ जाने से ही यहाँ नौ गाथायें बढ़ गई हैं। वे गाथायें अग्रलिखित हैं—

१. श्री जयसेनाचार्यकृत

२. श्री अमृतचंद्रसूरिकृत।

- १— अहं सयमेव हि परिणमदि कम्म भावेण पुग्गलं दब्बं ।
जीवे परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥२६॥
- २— णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दब्बं ।
तह तं णाणावरणाइ परिणदं भुणसु तच्चेव ॥२७॥
- ३— जइ जीवेण सहच्चिय, पुग्गलदब्बस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु, दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥४९॥
- ४— आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं न हरंति तुहं कहं ते मरणं कदं तेहिं ॥२६७॥
- ५— जो मण्णदि जीवेमिय जीविज्जामिय परेहि सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतोदु विवरीदो ॥२६८॥
- ६— आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आठं च ण दित्ति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥२७०॥
- ७— आधाकम्मादीया पुग्गलदब्बस्स जे इमे दोसा ।
कहं ते कुव्वदि णाणी परदब्बगुणा दु जे णिच्चं ॥३१४॥
- ८— आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दब्बं ।
कहं तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥३१५॥
- ९— जो पुणं णिरवराहो चेदा णिस्संकिओ दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्ठेहिं अहं तु जाणंतो ॥३३३॥

व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों का समन्वय करने वाली गाथायें इस ग्रंथ में अनेक हैं उन्हें देखिये—

उभयनय समन्वयपरक गाथायें—

ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।

णवि णाणं च चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ अ० ॥

अर्थ—ज्ञानी के चरित्र, दर्शन और ज्ञान हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है । किन्तु निश्चयनय से उसके ज्ञान भी नहीं है, चरित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है, वह शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है ।

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।

ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमेदिठदा भावे ॥ १२ अ० ॥

अर्थ—जो परमभाव के दर्शी हैं उनको शुद्ध आत्मा का कथन करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है किन्तु जो अशुद्धभाव में स्थित हैं उनको व्यवहारनय का उपदेश देना योग्य है ।

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदब्बाणि साहुणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिण्णिवि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ अ० ॥

अर्थ—मुनियों को नित्य ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सेवन करना चाहिये, पुनः ये तीनों भी निश्चयनय से आत्मा ही हैं ऐसा जानो ।

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।

ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदापि एकट्ठो ॥ २७ अ० ॥

अर्थ—व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर निश्चित ही एक हैं किंतु निश्चयनय का कहना है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं ।

ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।

गुणठणंता भावा, ण दु केई णिच्छयणयस्य ॥ ५६ अ० ॥

अर्थ—व्यवहारनय से तो ये सब वर्ण आदि भाव जीव के होते हैं किंतु निश्चयनय की अपेक्षा गुणस्थान पर्यन्त कोई भी भाव जीव के नहीं हैं ।

तत्थ भवे जीवाणं, संसारत्थाण होंति वण्णादी ।

संसारपमुक्काणं, णत्थि हु वण्णादओ केई ॥ ६१ अ० ॥

अर्थ—संसारी जीवों के इस संसार में वर्णादि पर्याये होती हैं किंतु संसार से छूट चुके ऐसे मुक्त जीवों के कोई भी वर्णादिक नहीं हैं ।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।

वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ अ० ॥

अर्थ—निश्चयनय का यह कथन है कि आत्मा आत्मा का ही कर्ता है पुनः वह आत्मा अपनी आत्मा का ही भोक्ता है ऐसा तुम जानो ।

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।

तं चेव पुणो वेयइ, पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ अ० ॥

अर्थ—व्यवहारनय का ऐसा मत है कि यह आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को करता है पुनः उसी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को भोगता है ।

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।

सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवई कम्मं ॥ १४१ अ० ॥

अर्थ—जीव में कर्म बंधा हुआ है और स्पर्श भी करता है यह व्यवहारनय ने कहा है और जीव में कर्म न बंधा है न स्पर्शता है यह शुद्धनय का कथन है ।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं, ववहारेण विदुसा पवट्ठंति ।

परमट्ठमस्सिदाण दु, जदीण कम्मवखओ विहिओ ॥ १५६ अ० ॥

अर्थ—विद्वान लोग निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं क्योंकि परमार्थ के आश्रित हुये यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है ऐसा कहा है।

व्यवहारभासिष्ण उ, परद्रव्यं मम भणति अविदियत्या ।

जाणति निच्छयेण उ, न य मह परमाणुमिच्छमवि किंचि ॥ ३२४ ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप नहीं जाना है वे पुरुष व्यवहार के कहे हुए वचनों को लेकर कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है। और जो निश्चयकर पदार्थों का स्वरूप जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणु मात्र भी कोई मेरा नहीं है।

एवं व्यवहारस्स उ, वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।

सुण निच्छयस्स वयणं, परिणामकयं तु जं होई ॥ ३५३ ॥

अर्थ—इस तरह से तो व्यवहारनय का मत संक्षेप से कहने योग्य है और जो निश्चयनय के वचन हैं वे अपने परिणामों से किए होते हैं उनको सुनो।

एवं तु निच्छयणयस्स, भासियं णाणदंसणचरित्ते ।

सुण व्यवहारणयस्स य, वत्तव्वं से समासेण ॥ ३६० ॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निश्चयनय का कथन है और उस संबंध में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो।

व्यवहारिओ पुण णओ, दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।

निच्छयणओ ण इच्छइ, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

अर्थ—व्यवहारनय तो मुनि-श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं करता।

आयारादी णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।

छज्जीवणिकं च तहा, भणइ चरित्तं तु व्यवहारो ॥ २७६ ॥

आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च ।

आदा पच्चवक्खाणं, आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥ युगलम् ।

अर्थ—आचारांग आदि शास्त्र तो ज्ञान हैं, जीवादि तत्त्व हैं वे दर्शन हैं और छहकाय के जीवों की रक्षा चारित्र है इस तरह तो व्यवहार नय कहता है।

निश्चय से मेरी आत्मा ही ज्ञान है, मेरी आत्मा ही दर्शन है और चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है और मेरी आत्मा ही संवर तथा योग है।

पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती य ।

णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥ ३०६ ॥

अपडिकमणं अपडिसरणं, अपपरिहारो अधारणा चेव ।

अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥ ३०७ ॥ युगलम् ।

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि इस तरह आठ प्रकार तो विषकुंभ हैं क्योंकि इसमें कर्तापन की बुद्धि संभवती है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठ प्रकार अमृतकुंभ हैं क्योंकि यहाँ कर्तापने का निषेध है।

न्याय सिद्धांत—

आचार्य श्रीकुंदकुंददेव सिद्धांत एवं अध्यात्म के तो अतिशय महान् विद्वान् ही थे वे न्यायग्रंथों के भी विद्वान् थे उनका सर्वतोमुखी ज्ञान आगे के साधुओं के लिये अनुकरणीय रहा है। उन्होंने इस अध्यात्म ग्रंथ में भी न्याय का विषय लेकर पाठकगणों को न्याय ग्रंथों के पढ़ने की प्रेरणा दी है। कई जगह नित्य एकांत का खंडन करते हुये कहा है—“यदि कर्मण वर्गणायै कर्मरूप से परिणमन नहीं करती हैं तो—संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा। या तो संसार का अभाव हो जावेगा या सांख्य का सिद्धांत आ जावेगा।”^१

ऐसे ही पुनः कहते हैं—“यदि जीव क्रोधादि भावों से स्वयं परिणमन नहीं करता है तो भी संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा। संसार का अभाव हो जावेगा या सांख्य का सिद्धांत हो जावेगा।”^२

आगे भी कहा है कि “जो एकांत से कर्मों को ही कर्ता मानते हैं और जीव को अकर्ता सिद्ध करते हैं वे भी सांख्य के उपदेश का ही अनुसरण करते हैं—

एवं संखुवदेसं जे उ परुविति एरिसं समणा । तेसिं पयडी कुव्वइ, अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥

जो कोई श्रमण—जैन मुनि ऐसा सांख्यमत का उपदेश देते हैं उनके मत में प्रकृति (कर्म) ही करती है और सभी आत्मा अकारक ही हो जाते हैं। अर्थात् जो ऐसा एकांत कहते हैं वे जैनमुनि श्रमणाभास हैं, सांख्यमत के एकांत का ही अनुसरण करने वाले हैं, इत्यादि।

इसी प्रकार गाथा ३४५ से ३४८ तक बौद्धमत के क्षणिक एकांत का खंडन किया गया है। यथा—

जो चेव कुणइ सो चिय, ण वेदये जस्स एस सिद्धतो ।

सो जीवो णायव्वो, मिच्छाइट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥

जो जीव कर्मों को कर्ता है वह नहीं भोगता है अन्य ही भोगने वाला होता है जिनका ऐसा सिद्धांत है वह अर्हतमत से बाह्य मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना।

इसी तरह जो संसार के कर्ता विष्णु भगवान को मानते हैं उनके एकांत से माने गये ईश्वरकर्तृत्व का खंडन करते हुये आत्मा को भी एकांत से नर, नारक आदि पर्यायों का कर्ता मानने का निराकरण है—

“लोगसमणाणमेयं, सिद्धंतं जइ ण दीस विसेसो ।

लोगस्स कुणइ विण्हू, समणाणवि अप्पणो कुणइ ॥३२२॥

१. गाथा ११७ अ० । २. गाथा १२२ अ०

यदि लौकिकजनों के मतानुसार श्रमणों—जैनमुनियों के मत में भी आत्मा को छहकारूप जीवों का कर्ता माना जावे तब तो लौकिक सृष्टिवाद और जैनमुनि के कर्तृत्ववाद सिद्धांत में कोई अंतर प्रतीत नहीं होगा क्योंकि जैसे लोक—संसार का कर्ता विष्णु है वैसे ही जैन मुनियों के यहाँ आत्मा को नानापर्यायरूप संसार का कर्ता मानना पड़ेगा, पुनः लोक और श्रमण इन दोनों में से किसी को भी मोक्ष नहीं हो सकेगा, इत्यादि।” अर्थात् जीवात्मा निश्चयनय से नानापर्यायों का अकर्ता है और व्यवहारनय से अपनी-अपनी पर्यायों का कर्ता है इत्यादि।

रत्नत्रय का लक्षण—

इस महान ग्रंथ में व्यवहार रत्नत्रय का भी लक्षण किया है—

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं, तेसिमधिगमो णाणं ।

रायादीपरिहरणं, चरणं एसो तु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं जीवादि पदार्थों को जानना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि भावों का त्याग करना सो चारित्र है, यही मोक्ष का मार्ग है। अर्थात् यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आगे निश्चयनय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग को कहते हैं—

णवि एस मोक्खमग्गो, पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।

दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गं जिणा वित्ति ॥४१०॥

निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिवेष और कौपीनधारी आदि क्षुल्लकवेष ये बाह्य वेष मोक्षमार्ग नहीं हैं किंतु दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है ऐसा समझना। अर्थात् इन बाह्य वेषों के बिना भी रत्नत्रय नहीं है फिर भी इनसे ममत्व छोड़ने का उपदेश है अर्थात् यहाँ निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग की विवक्षा है।

यहाँ श्री कुंदकुंददेव ने “पाखंडीलिंग” से निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग और “गृहिलिंग” से क्षुल्लक-ऐलक आदि श्रावक लिंग को लिया है। टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी “श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहं”—मैं श्रमण/मुनि हूँ और मैं श्रमण/मुनियों का उपासक/श्रावक हूँ ऐसा ही अर्थ किया है। तथा तात्पर्यवृत्तिकार श्रीजयसेनाचार्य ने भी “निर्ग्रन्थ यतिलिंग कौपीनकरणादिबहुभेदसहितं गृहिलिंग” निर्ग्रन्थयतिलिंग और लंगोटी धारण करना आदि—ऐलक-क्षुल्लक से लेकर बहुत भेद सहित श्रावक के लिंग/वेष, इत्यादि कथन रूप से मुनि और श्रावक वेष को ही कहा है।

अगली गाथा में स्वयं श्री कुंदकुंददेव ने कहा है कि—

ववहारिओ पुण्णओ, दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ ण इच्छह, मोक्खपहे सब्बलिंगाणि ॥४१४॥

व्यवहारनय की अपेक्षा से दोनों ही लिंग मोक्षमार्ग में कहे गये हैं और निश्चयनय से मोक्षमार्ग में किन्हीं भी लिंग को नहीं माना है।

इन प्रकरणों से यह विदित होता है कि “पाखंडी” शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि के लिये होता था। श्री कुंदकुंददेव तक या कुछ बाद में भी यह परंपरा रही होगी किंतु बाद में श्रीसमंतभद्रस्वामी

के समय में तो “पाखंडी” शब्द का प्रयोग दिगम्बर पुनियों से अतिरिक्त नाना प्रकार के वेषधारी साधुओं में किया है। यथा—

सगन्धान्भहिसानां, संसारावर्तवर्तिनाम् । पाखण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥२४॥

जो आरंभ-परिमह सहित हिंसा में आसक्त हैं वे साधु संसार समुद्र में ही डूबते रहते हैं ऐसे पाखंडी साधुओं को गुरु मानना “गुरुमूढ़ता” है। इत्यादि। वर्तमान में भी “पाखंडी” शब्द से नाना वेषधारी साधुओं को और पाखंड शब्द से जैनधर्म से भिन्न नाना क्रियाओं को लिया जाता है।

वैसे व्युत्पत्ति अर्थ में तो “पापं खण्डयति इति पाखंडी” जो पापों का खण्डन करे—नाश करे वह पाखंडी है ऐसी व्याख्या के अनुसार उपर्युक्त समयसार में कहा हुआ अर्थ संगत हो जाता है।

कर्मबंध कहां तक है—

जहमा दु जहण्णादो, जाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।

अण्णत्तं जाणगुणो, तेण दु बंधगो भण्णदो ॥१७१॥

आत्मख्याति—ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः स तु यथाख्यात-चारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंध हेतुरेव स्यात् ।

तात्पर्यवृत्ति—यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वजघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति ।”

ज्ञानगुण का जब तक जघन्य भाव रहता है—कषायसहित परिणमन रहता है तब तक—यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे-नीचे राग का सद्भाव अवश्यंभावी होने से वह बंध का हेतु ही है। अर्थात् दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्म लोभरूप राग भाव रहने से वहाँ तक कर्मों का बंध अवश्य ही है, आगे यथाख्यात चारित्र के हो जाने पर कर्मबंध नहीं होता है। मात्र साताप्रकृति का अल्पबंध विवक्षित नहीं है।

समयसार का लक्षण—

मूलगाथाओं में श्री कुंदकुंददेव ने समयसार का लक्षण दिया है—

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण नयपक्खं । पक्खातिक्कंतो, पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीव में कर्म बंधे हुये हैं अथवा नहीं बंधे हैं ये दोनों प्रकार ही नयों के पक्ष हैं—नयों की अपेक्षा से ही यह द्विविध कथन है पुनः जो दोनों पक्षों से अतिक्रान्त—आगे बढ़ चुके हैं—निर्विकल्प ध्यान में स्थित हैं वे ही समयसार हैं।

पुनरपि कहते हैं—

सम्मददंसणजाणं, एदं लहदित्ति णवरि वक्खदेसं । सव्वणयपक्खरहिदो, भण्णदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

जो सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऐसे नाम को प्राप्त करता है ऐसा जो यह संपूर्ण नयपक्षों से रहित है वही समयसार है ऐसा समझना।

समयसार का ज्ञान किन्हें है किन्हें नहीं ?

पाखंडीलिंगेसु व, गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु । कुव्वंति जे ममत्तं, तेहिं ण जायं समयसारं ॥४१३॥

जो श्रमण और श्रमणोपासक इन बाह्य वेष्टों के ममकार व मिथ्या अहंकार को करते हैं उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

“..... भगवंतं समयसारं न पश्यन्ति।” श्री अमृतचंद्रसूरि भी समयसार को भगवान कहते हैं उनका कहना है कि जो एकांत से व्यवहार में ही हैं निश्चयनय के अभिप्राय से शून्य हैं वे भगवान स्वरूप समयसार को नहीं देख पाते हैं। सार यही है कि जो निर्विकल्प ध्यान में स्थित होते हैं वे ही भगवान आत्मा ऐसे समयसार को देखते हैं अथवा स्वयं समयसार बन जाते हैं।

इसके बाद दोनों ही टीकाकार आचार्यों ने स्याद्वादशुद्धि अधिकार कहा है। वास्तव में स्याद्वाद के बिना समयसार को समझना सर्वथा असंभव है।

पंचास्तिकाय ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है—

“..... द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किंतु तदुभयायत्ता^१ ।”

भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से भगवान के उपदेश एक नय के आश्रित नहीं है किंतु उभय नयों के आश्रित हैं।

ये परस्पर विरुद्ध भी दोनों नय एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तथा समीचीन नय कहलाते हैं—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चैत्र मिथ्यैकांततास्ति नः । निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्^२ ॥

मिथ्या नयों का समूह मिथ्या ही है, चूंकि हम स्याद्वादियों के यहां मिथ्या एकांत नहीं है। निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्ष नय वास्तविक है क्योंकि वे अर्थक्रियाकारी हैं— अपने प्रयोजन को सिद्ध कराने वाले हैं।

सभी नय परस्पर में विरोधी होकर भी श्रीजिनेंद्रदेव के मत में परस्पर में अविरोधी ही हैं, ऐसा श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं—

नयसत्त्वर्तवः सर्वे, गव्यन्ये चाप्यसंगताः । श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे, दिव्यद्धर्या चावसंभृताः^३ ॥७३॥

हे प्रभो ! द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक अथवा नैगम आदि नय, नेवला-सर्प आदि परस्पर विद्वेषी प्राणी और शिशिर-ग्रीष्म आदि ऋतुयें ये सब तथा इनके सिवाय और भी जो पृथ्वी पर परस्पर विरोधी पदार्थ हैं जो कि परस्पर में कभी नहीं मिलते हैं, वे सब आपके प्रभाव से एक साथ संगत हो गये हैं— आपस के विरोध को छोड़कर मिल गये हैं तथा कितने ही अन्य कार्य देवों की वृद्धि से निष्पन्न किये गये हैं।

इस प्रकार इस समयसार ग्रंथ में प्रारंभ में ही स्वसमय-परसमय का लक्षण दिखलाकर जो स्वसमय को कहने की प्रतिज्ञा की थी, उसी का पूर्णरूप से विवेचन किया गया है।

१. पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका का अंश।

२. देवागमस्तोत्र।

३. स्तुतिविद्या।

समयसार पूर्वार्ध—

इस ग्रंथ में प्रथम—१. जीवाजीवाधिकार २. कर्तृकर्म अधिकार, ३. पुण्यपाप अधिकार, ४. आसन्न अधिकार और ५. संवर अधिकार ये पांच अधिकार हैं। यह पूर्वार्ध ग्रंथ सन् १९९० में छप चुका है।

समयसार उत्तरार्ध—

इस उत्तरार्ध में ६. निर्जरा अधिकार, ७. बंध अधिकार, ८. मोक्षाधिकार और ९. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार ऐसे चार अधिकार हैं। इसमें श्रीजयसेनाचार्य की टीका के अनुसार निर्जरा अधिकार सातवां होने से दश अधिकार है। बंधादि अधिकारों में कतिपय गाथाओं में अंतर तो है ही, कुछ गाथायें आगे पीछे भी हैं। इसीलिये परिशिष्ट में श्री जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार २०२ से ४३६ तक सभी गाथायें दे दी गई हैं। एवं पूर्वार्ध की १ से लेकर २०१ तक गाथाओं को छाया और अन्वयार्थ के साथ दिया गया है चूंकि पूर्वार्ध ग्रंथ में परिशिष्ट में मात्र गाथायें ही दी गई हैं। यहाँ उत्तरार्ध में श्री जयसेनाचार्य की टीका के साथ ही गाथायें हैं उसी के साथ छाया और अन्वयार्थ भी दे दिया है।

ज्ञानज्योति टीका—

इस ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति और श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति इन दोनों टीकाओं की हिंदी है। आत्मख्याति टीका में जो कलशकाव्य हैं उनका पद्यानुवाद आर्यिका चंदनामती द्वारा रचित है। मूलगाथाओं का पद्यानुवाद भी आर्यिका चंदनामती द्वारा किया गया है। प्रमुख-प्रमुख गाथा टीका में भावार्थ, विशेषार्थ भी दिये हैं जिनमें मैंने गुणस्थान व्यवस्था स्पष्ट की है। प्रत्येक अधिकार के अंत में पूरे अधिकार के सारांश भी दे दिये हैं। इस ग्रंथ में श्री जयसेनाचार्य की टीका के साथ उनके द्वारा मान्य गाथा एवं अन्वयार्थ दिया है। इसका कारण यह है कि इस तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथाओं में अंतर है इसीलिए यथास्थान देना उचित समझा गया है।

इस प्रकार शुद्ध परमात्म स्वरूप समयसार का या निश्चय कारणसमयसार का वर्णन करने वाला यह "समयसार" ग्रंथ है। मूलाचार के अनुसार कथित चर्या में निष्णात महामुनि ही इस समयसार के पात्र हैं। शेष श्रावक या अव्रती जन तो इसको पढ़कर अपनी श्रद्धा को दृढ़ करते हुये इसके आधार से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करते रहे यही समयसार का सार है। □

“आचार्यवर्य श्री कुन्दकुन्द देव”

—गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी मूलसंघ के अग्रणी आचार्य हुए हैं यही कारण है कि वर्तमान में मंगल हेतु कुन्दकुन्द का नाम गौतमस्वामी के अनन्तर लिया जाता है। विद्वानों के निर्णयानुसार इनका जन्म दक्षिण भारत में माना गया है। “कौण्डकुन्दपुर” नामक ग्राम में कर्मण्डु की पत्नी श्रीमती के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। इनके समय के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है।

“नन्दीसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन की थी।”

“कुन्दकुन्द स्वामी की परम्परा वाले मूलसंघ को अर्हद्वलि आचार्य ने चार संघ में विभक्त किया, ऐसा भी एक शिलालेख में कथन है।”^१

तथा कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने बोधपाहुड में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहकर उनका जयघोष किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली के अनन्तर ही हुए हैं।

यथा—

“जिनेन्द्रदेव—भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ—शब्दों में ग्रथित हुआ। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषा सूत्रों को उसी रूप से जाना है और उसी रूप से कहा है जो द्वादश अंग के ज्ञानी हैं, चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करने वाले हैं ऐसे श्रुतकेवली भद्रबाहु गमकगुरु भगवान् जयवंत होंगे।”^२

“नन्दीसंघ की पट्टावली में भी—१. भद्रबाहु द्वितीय (४) . २. गुप्तिगुप्त (२६). ३. माघनन्दी (३६), (४). जिनचन्द्र (४०) ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४९). ६. उमास्वामी (१०१), इत्यादि। इसमें भी भद्रबाहु का परम्परा शिष्य कुन्दकुन्द को कहा है।”^३

१. यः पुष्पदेवेन च भूतबल्यारुणेनापि शिष्यद्वितयेन रेवे। फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्नोक्तुराभिमित्य कल्पभूजः ॥

अर्हद्वलिस्संघचतुर्विधः स श्रीकौण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्। कालस्थभावादिह जायमानद्वेशोत्पत्त्योत्तरणाय चक्रे ॥

(अध्वजबेलगोल के १०५ नं० का शिलालेख)

२. पट्टावली पृ० १२७।

३. तीर्थंकर महावीर और इनकी आचार्य परम्परा। पृ० ४, पृ० ४४१।

“इनकी परम्परा व समय के विषय में विशेष जिज्ञासु विद्वानों की कृतियों का अवलोकन करें।”^१

इसके विषय में विदेह क्षेत्र में गमन, चारण ऋद्धि प्राप्ति, पाषाण की देवी को बुलवाना आदि कई बातें प्रसिद्ध हैं। पट्टावली में इनके पाँच नाम माने हैं उनका भी कई जगह समर्थन है।

पाँच नाम—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो, वक्रग्रीवो महामतिः ।

एलाचार्यो गृद्धपिच्छः, पद्मनन्दीति तन्नुतिः ॥

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनन्दी ये पाँच नाम हैं।

वि० सं० १९० में विद्यमान श्री देवसेन आचार्य ने दर्शनसार में इनके विदेहगमन की बात कही है। यथा—

“यदि पद्मनन्दी स्वामी श्री सीमंघर स्वामी के दिव्य ज्ञान से सम्बोधन न प्राप्त करते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते।”^२

श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय प्राभूत के प्रारम्भ में कहा है—

“जो श्री कुमारनन्दि सैद्धान्तिक देव के शिष्य हैं, प्रसिद्ध कथा के न्याय से पूर्व-विदेह में जाकर, वीतराग, सर्वज्ञ, सीमंघरस्वामी तीर्थंकर परमदेव का दर्शन करके और उनके मुख कमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थ समूहों से ज्ञान को प्राप्त कर आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण करके पुनः यहां आये ऐसे श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य देव, जिनका अपर नाम पद्मनन्दी है।”^३

यहाँ इनके गुरु का नाम कुमारनन्दी दिया है। नन्दिसंघ की पट्टावली में इनके गुरु का नाम “जिनचन्द्र” कहा है। यथा—“मूलसंघ में नन्दिसंघ हुआ, उसमें बलात्कार गण है। उसमें पूर्वपदों के अंश के ज्ञाता माघनन्दी आचार्य के पट्ट पर जिनचन्द्र हुए पुनः उनके पद पर पाँच नाम को धारण करने वाले पद्मनन्दी मुनि हुए।”^४

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार : (डा० लालबहादुर शास्त्री एम० ए०)

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। (डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य)

वैतनधर्म का प्राचीन इतिहास द्वि० भाग। (पं० परमानन्द शास्त्री)

२. जई पत्रमण्डिणाहो सीमंघरस्वामिदिव्यणाणेण :

ण विबोहइ तो समणा कहं सुमंगं फयाणंति ॥ ४२ ॥ (दर्शनसार)

३. अथ श्री कुमारनन्दि सैद्धान्तिकदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमंघरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमल-विनिर्गतदिव्यध्वनिं श्रवणादवधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्दीपरनामधेयैः

४. श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्यः ।

तत्राभवत्पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववधः ॥

पदे तदीये मुनिगान्धर्वतौ जिनादिचन्द्रः समपूदतन्द्रः ।

ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥ (नन्दिसंघ पट्टावली)

श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत की टीका में प्रत्येक प्राभृत की समाप्ति में विदेहगमन की बात कही है। यथा—“श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से विराजित चतुरंगुल आकाशगामी त्र्यम्बकधारी, पूर्वविदेह की पुँडरीकिणी नगरी में सीमंघर स्वामी अपरनाम स्वयंप्रभजिनदेव की वंदना करने वाले, उनके द्वारा श्रुतज्ञान से भारतवर्ष के भव्यजनों को सम्बोधित करने वाले श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के आभरण स्वरूप और कलिकाल सर्वज्ञ^१ इत्यादि।

इस प्रकार देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य और श्रुतसागरसूरि इन तीन आचार्यों ने श्री कुन्दकुन्द देव के विदेहगमन की बात कही है।

चारणत्र्यम्बक के विषय में देखिये—

^१तस्यान्वये भूविदिते बभूव, यः पद्मनन्दी प्रथमाभिधानः।

श्री कुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः, सत्संयमादुदगतचारणर्द्धिः ॥५॥

श्री श्रुतसागर सूरि ने षट्प्राभृत ग्रन्थ के प्रत्येक पाहुड़ की टीका की समाप्ति में यह बात कही है। पाषाण की देवी को बुलवाना—

ऐसा प्रसिद्ध है कि “श्री कुन्दकुन्द स्वामी संघ सहित यात्रा हेतु गिरनार पहुँचे। वहाँ पर श्वेताम्बर साधुओं का भी संघ पहुँचा। पहले वंदना कौन करे इस पर विवाद होने पर कुन्दकुन्ददेव ने वहाँ पर स्थित अम्बिका देवी की मूर्ति को मंत्र के बल पर बुलवा दिया।”^२

यथा—“बलात्कारण के अग्रणी श्री पद्मनन्दिगुरु हुए हैं, जिन्होंने पाषाण से निर्मित श्री सरस्वती को बुलवा दिया।”^३

“जिन्होंने इस कलिकाल में ऊर्जयंत गिरि के ऊपर पाषाण से घटित ब्राह्मी देवी को बुलवा दिया, वे कुन्दकुन्दगणी हमारी रक्षा करें।”^४

यहाँ पर अम्बिका देवी, सरस्वती देवी और ब्राह्मी ऐसे तीन नाम उपलब्ध हैं जो भी हो पाषाण की देवी को बुलवा देना यह स्पष्ट है।

१. इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यऐलाचार्य गृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुँडरीकिणीनगर-
वदितसीमभरापस्नामकस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतसंबोधिभरतवर्षभव्यजनेन श्रीजिनचंद्रसूरिपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन इत्यादि ॥षट्प्राभृत टीका
पृ० ३७९)

२. श्रवणबेलगोला के ६५ वें शिलालेख में।

३. संघसहित श्री कुन्दकुन्दगुरु वंदन हेतु गये गिरनार।

बाद पर्यो जहाँ संशयमति सो साक्षी बटी अम्बिकाकार ॥

“सत्य पंथ निर्ग्रन्थ दिग्भर” कही सूरि तह प्रगट पुकार।

सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार ॥ (कवि वृन्दावन)

४. पद्मनन्दीगुरुर्जातो बलात्कारणग्रणी।

पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥ (गुर्वाचली)

५. कुन्दकुन्दगणी येनोर्जयन्तगिरिमस्तके।

शेवदाहादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥६४॥ (पांडव पु० पृ० २)

बहुत सी प्रशस्तियों में भी श्री कुन्दकुन्द देव की ऋद्धि आदि का वर्णन आता है। यथा—

“श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा, ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यञ्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः^१ ॥४॥

“वंशो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः

कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः ॥

यश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीकश्च-

चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्^२ ॥५॥

“श्री कौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः^३ ॥४॥”

“तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृत—

संतुष्टचित्तश्री कुन्दकुन्दाचार्याणाम्^४ ॥५॥

“तत्पट्टोदवाद्रिदिवाकर श्रीएलाचार्यगृद्धपिच्छ—

वक्रगीवपद्मनादिकुन्दकुन्दाचार्यवर्याणाम्^५ ॥२॥

इन सब प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी महान् तपस्वी, गणनायक और मन्त्रों के विशेष ज्ञाता थे तथा विदेह क्षेत्र में जाकर सीमन्धर भगवान का साक्षात् दर्शन करके आये थे।

शंका—लङ्गगुप्त के रत्न के फल में पंचम काल में ऋद्धिधारी के होने का निषेध है। यथा—

“देवताओं के विमान को वापस जाता हुआ देखने से पंचमकाल में देवता विद्याधर तथा चारणमुनि नहीं आयेगे।”^६

समाधान—इस कथन से ऋद्धि होने का सर्वथा निषेध नहीं है। अतः पंचम काल के प्रारम्भ में श्री कुन्दकुन्द देव को चारण ऋद्धि मानना बाधित नहीं है।

इन महिमाशाली आचार्यों की अनेकों रचनायें आज हमें सर्वज्ञ भगवान् के वचनों का अमृतपान करा रही हैं। चूँकि वीरसेन, विद्यानन्द आदि आचार्यों ने सूत्रकारों के सूत्रों को सर्वज्ञवचन तुल्य प्रमाणीक कहा है।

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पृ० ४, पृ० ३६८)

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पृ० ४, पृ० ३७३)

३. जैन शिलालेख, आपलेख सं० ४०।

४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पृ० ४, पृ० ४०४)।

५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पृ० ४, पृ० ४३९)।

६. व्याघ्रद्वयपानं गीर्वाणविपानं चोक्षितं ततः।

कालेऽस्मिन्नगमिष्यन्ति सुरखेचरचारणाः ॥३६॥ (भद्रबाहु च० पृ० २)

श्री कुन्दकुन्द की रचनायें—

चौरासी पाहुड़^१, षट्खंडागम टीका, दशभक्ति, अष्टपाहुड़, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसअणुपेक्खा, समयसार, मूलाचार और कुरलकाव्य ।

मूलाचार को कुछ विद्वान कुन्दकुन्द की कृति नहीं मानते हैं । किन्तु कुछ विद्वानों ने इसके बारे में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

“मूलाचार की एक टीका श्री मेधचन्द्राचार्य कृत “मुनिजर्नचिन्तामणि” नाम की है जो कि कर्नाटक भाषा में है, जिसमें प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में इसे “श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत” लिखा है तथा कर्नाटक टीका के प्रारम्भ में भी श्लोक के अनन्तर गद्य में—“कोण्डकुन्दाचार्य” नाम दिया है ।”^२

“दूसरी टीका संस्कृत में है जो कि सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीवसुनन्दी आचार्य द्वारा बनाई हुई है ।”^३ इसके प्रारम्भ में टीकाकार ने “श्री वट्टकेराचार्यः” ऐसा कहा है और टीका के अन्त में “इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः । कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य ।” ऐसा उल्लेख है, अतः इन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य को ही “वट्टकेराचार्य” नाम से वसुनन्दि आचार्य ने कहा है ऐसा स्पष्ट है । चूंकि इन्होंने षट्खंडागम के तीन खंडों पर “परिकर्म” नाम की वृत्ति लिखी है । मालूम होता है, इसी हेतु से इनका “वृत्तिकार”—वट्टकेर नाम प्रसिद्ध हो गया है । कुछ भी हो, मूलाचारकृति भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत ही है ।

वर्तमान युग में इन आचार्यों के ये ग्रन्थ ही हम लोगों के लिये मोक्षमार्ग प्रदर्शक हैं । कहा भी है—

“इस कलिकाल में भरतक्षेत्र में सर्वज्ञ देव नहीं हैं किन्तु उनकी वाणी मौजूद है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले सच्चे दिगम्बर साधु भी मौजूद हैं जो कि मोक्षमार्ग को प्रशस्त किये हुए हैं ।”^४

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० १२३ ।

२. मण श्रीकोण्डकुन्दाचार्य सं० ॥

(मूलाचार प्रस्तावना, मूलाचार, हिन्दी, फलटण से प्रकाशित)

३. मुद्रित हो चुकी है । (भाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला)

४. संप्रत्यमित न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणिः ।

तद्वाच्य परमासतेन भरतक्षेत्रे जगद्भोतिका ।

सद्गुरुव्यभारिणो यतिवसुधैरासा समालम्बन ।

तत्पूजा जिनवाचि पूजनपतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ (पद्मनन्दिपंचविंशतिका, पृ० ३०)

“श्रीमान् अमृतचन्द्र सूरि”

—गणिनी आर्यिका ज्ञानभती

आध्यात्मिक ग्रन्थों के टीकाकारों में श्री अमृतचंद्र सूरि का सर्वप्रथम स्थान है। यदि अमृतचंद्र सूरि न होते तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव के रहस्य को समझना कठिन हो जाता अतः कुन्दकुन्ददेव के व्याख्याता के रूप में अमृतचंद्र सूरि का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके मौलिक ग्रन्थ भी अपने आप में अतीव विशेषता लिये हुए हैं। निश्चयतः इन आचार्य की विद्वत्ता, वाग्मिता और प्राञ्जल शैली अप्रतिम है। आध्यात्मिक विद्वानों में कुन्दकुन्द देव के पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे अमृतचंद्र सूरि हैं।

इनका जीवन परिचय, समय और इनकी रचनाओं पर यहाँ किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है।

जीवन परिचय—इनका परिचय किसी भी कृति में प्राप्त नहीं होता है, परन्तु कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे इनके व्यक्तित्व का निश्चय किया जा सकता है। पं० आशाधर ने इनका उल्लेख “ठक्कुर पद” के साथ किया है—“ऐतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचंद्र सूरि विरचित समयसारटीकायां दृष्टव्यम्।”^१

यहाँ “ठक्कुर” शब्द विचारणीय है। “ठक्कुर” शब्द का प्रयोग प्रायः जागीरदार या जमींदार के लिये प्रयुक्त होता है। यह पद क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दोनों के लिये समान रूप से प्रयुक्त होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमृतचंद्रसूरि क्षत्रिय थे या ब्राह्मण। पर इतना निश्चय अवश्य है कि वे किसी सम्माननीय कुल के व्यक्ति रहे थे। संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसंघ के आचार्य थे।

समय विचार—डा० ए० एन० उपाध्ये ने इनका समय ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी के लगभग माना है। पट्टाबली में अमृतचंद्र के पट्टारोहण का समय वि० सं० ९६२ दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। डा० नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य भी इनका समय ई० सन् की १०वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही मानते हैं।

रचनार्ये—

टीका ग्रन्थ—१. समयसार टीका २. प्रवचनसार टीका ३. पंचास्तिकाय टीका।

मौलिक ग्रन्थ—१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २. तत्त्वार्थसार ३. समयसार कलश।

१. समयसार टीका—इस टीका का नाम “आत्मख्याति” है। इस टीका में आचार्यश्री ने गाथा के शब्दों का व्याख्यान न कर उसके अभिप्राय को अपनी परिष्कृत गद्यशैली में व्यक्त किया है। गाथा की टीका के अन्त में, कहीं-कहीं मध्य में भी कुछ पद्य काव्य दिये हैं जो सरल और मधुर हैं, इन्हीं काव्यों का “समयसार कलश” नाम से पृथक् अस्तित्व भी है। टीका को नाटक के समान अंकों में विभाजित किया है। प्रारंभिक भाग को पूर्वरंग कहा है। नाटक में पात्रों के प्रवेश-निष्क्रमणवत् यहाँ भी प्रवेश और निष्क्रमण दिखाया है। यथा—“जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।” अर्थात् जीवाजीवाधिकार के प्रारम्भ में “जीव-अजीव पृथक्-पृथक् होकर चले गये।” इसी तरह प्रत्येक अधिकार में वर्णन है। वस्तुतः यह संसार एक रंगमंच है जिस पर जीव-अजीव नानारूप धारण करके अभिनय करते हैं।

१. अनगर धर्मामृत टीका, पृ० ५८८।

शुद्धनय को प्राप्त करने के अधिकारी कौन हैं ? व्यवहारनय कहाँ तक उपयोगी है ? स्थल-स्थल पर टीका में अच्छा प्रकाश मिलता है। यथा—ये खलु पर्यकपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमभावमनुभवन्ति, तेषां सुनय एव . . . प्रयोजनवान्।” जो अंतिम पाक से उत्तीर्ण अर्थात् सोलह ताव को प्राप्त हुए सुवर्ण के सदृश परमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजनवान् है और जो एक-दो आदि ताव से शुद्ध हुए ऐसे अशुद्ध स्वर्ण सदृश अपरमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है ऐसे शुद्ध भाव का अनुभव शुद्धोपयोगी मुनि को ही होगा न कि श्रावक को या सरागचर्या वाले मुनि को। अतः संयमासंयमी और सरागसंयमी के लिये व्यवहारनय ही प्रयोजनीभूत है। श्री जयसेनस्वामी ने इसी अभिप्राय को अपने अतीव सरल शब्दों में कहा है—“अपरम्—अशुद्ध असंयत् सम्यग्दृष्टि, श्रावक, प्रमत्तमुनि तथा भेदरत्नत्रय में स्थित शुभोपयोगी अप्रमत्त मुनि अपरमभाव का अनुभव करते हैं अतः उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। तथा अभेदरत्नत्रय रूप परम समाधि के काल में शुद्धोपयोगी मुनियों को शुद्धनय प्रयोजनीभूत है।”

आगे व्यवहारनय का महत्व दिखलाते हुये ४६ वीं गाथा की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि—

“व्यवहारो हि . . . परमार्थ प्रतिपादकत्वात् अपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्ति निमित्तं दर्शयितुं न्याय एव।” व्यवहारनय परमार्थ की प्रतिपादकता होने से अपरमार्थ होते हुये भी तीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसका वर्णन करना न्याय संगत ही है। “चूँकि यदि व्यवहारनय का उपदेश न दिया जाय तो निश्चय से तो जीव और शरीर भिन्न ही हैं पुनः उन त्रस-स्थावर जीवों का राख के समान निःशंक होकर मर्दन कर डालने पर भी हिंसा नहीं होनी चाहिये। और हिंसा के अभाव में उसे पाप बंध भी नहीं होना चाहिये। तथा च . . . परमार्थ से जीव के राग, द्वेष, मोह भी नहीं हैं पुनः उनसे छूटने के लिये—मोक्ष के लिये उपायभूत रत्नत्रय को भी ग्रहण नहीं करना चाहिये, और इस तरह तो मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा।”

तात्पर्य यही हुआ कि व्यवहारनय के आश्रय से ही संसार से छूटने का मार्ग ग्रहण किया जाता है।

इसी तरह श्रीअमृतचन्द्र सूरि द्वारा रचित प्रवचनसार और पंचास्तिकाय की टीकायें भी स्याद्वादमय भाषा से परिपूर्ण होने से स्थल-स्थल पर एकांत दुरामही निश्चयाभाषी की कठोर भर्त्सना करती हैं और व्यवहाराभाषी को भी निश्चय का भान कराने में समर्थ हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय—यह मुख्यरूप से श्रावकाचार ग्रन्थ है इसमें आठ अंगों के वर्णन में निश्चय-व्यवहार नयों का अच्छा विवेचन है। अहिंसाणुव्रत का वर्णन करते हुये आचार्यश्री मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फलों के त्याग का आदेश देते हुये कहते हैं—

“अष्टावनिष्टदुस्तर—दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।

जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

ये आठ अनिष्ट हैं, दुस्तर पाप के स्थान हैं, जो इनका त्याग कर देते हैं वे ही शुद्धबुद्धि वाले मनुष्य जिनधर्म की देशना के लिये पात्र होते हैं।

समयसार की टीका, कलश काव्य आदि के रचयिता श्री अमृतचन्द्रसूरि के उपर्युक्त शब्द ध्यान देने योग्य हैं। वास्तव में आज पात्रता न देखकर ही जो उपदेश दे देते हैं वह उनके लिये व शिष्यों के

लिये भी हानिप्रद अर्थात् विपरीत हो जाता है। ऐसे ही इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ का और भी एक श्लोक बहुत ही महत्वशाली है—

“निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

ऊपर में पाँच पाप के त्याग को चारित्र कहा है। पुनः इस श्लोक में कहते हैं कि जो इन पाँच पापों से पूर्णतया विरत हो चुके हैं—त्याग कर चुके हैं वे यति समयसारभूत होते हैं और जो इन पाँच पापों का एक देश त्याग करते हैं वे उनके उपासक होते हैं।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनि ही समयसार रूप हैं और श्रावक उपासक कहलाते हैं। समयसार अवस्था को प्राप्त करने में वे समर्थ नहीं हैं।

इस पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में अहिंसा का जितना सुन्दर विवेचन है वैसा प्रायः अन्यत्र देखने में नहीं आता है अतः यह ग्रन्थ प्रत्येक श्रावक श्राविकाओं के लिये विशेषतया पठनीय है। ऐसे ही सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का वर्णन भी इसमें बहुत ही मार्मिक है।

तत्त्वार्थसार—यों तो यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र का व्याख्यान अथवा सार है फिर भी इसके विषय स्रोत गृह्यपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव का तत्त्वार्थवार्तिक, प्राकृत पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ हैं। अतः इसे “तत्त्वार्थसूत्र” ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करने वाला पद्यात्मक ग्रन्थ कहा जाय तो कोई बाधा नहीं है।

समयसार कलश—यद्यपि ये सभी कलश काव्य समयसार की “आत्मख्याति व्याख्या” टीका के अन्तर्गत ही हैं, फिर भी काव्य के रसास्वादी साधु इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ के रूप में लेकर उन पर टीका भी रच चुके हैं। ये काव्य कुल २७८ हैं। जैसे मन्दिर के ऊपर मणिमयी कलश चढ़ाने पर ही मन्दिर शोभित होता है, वैसे ही समयसार टीकारूपी मन्दिर पर ये काव्य मणिमयी कलश के समान सुन्दर—मनोहर होने से सार्थक नाम वाले होते हैं। उदाहरण के लिये देखिये—

आत्मा का अनुभव करने वाले शुद्धोपयोगी मुनियों की कैसी अद्वैत अवस्था होती है ?—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं ।

क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्-

ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ १ ॥

उस समय नयों का उदय ही नहीं होता है, प्रमाण भी अस्त हो जाते हैं और पता ही नहीं कि निक्षेपसमूह कहाँ चले जाते हैं ? अधिक तो क्या कहें सभी को समाप्त करने वाले इस अनुभवरूप तेज के प्रगट हो जाने पर कुछ भी “द्वैत” प्रतिभासित नहीं होता है। उस समय मात्र आत्मानुभवरूप एक अद्वैत ही प्रतिभासित होता है।

इस प्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि अपने नाम के अनुसार ही आत्मानुभवरूपी अमृत का स्वयं तो पान करते ही होंगे किन्तु उनकी वाणी आज भी अगणित भव्य-जीवों को जिनधर्मरूपी अमृत का और अध्यात्मरूपी अमृत का पान करा रही है और आगे भी पता नहीं कितने जीवों को इस मधुर अमृत का पान कराती ही रहेगी।

श्री जयसेनाचार्य

—आर्यिका चन्दनामती

श्री कुन्दकुन्ददेव के समयसार शास्त्रि ग्रन्थों के द्वितीय टीकाकार श्रीजयसेनाचार्य भी एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। उन्होंने समयसार की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि के नाम का भी उल्लेख किया है और उनकी टीका के कई एक कलश काव्यों को भी यथास्थान उद्धृत किया है अतः यह पूर्णतया निश्चित है कि श्री जयसेनाचार्य के सामने श्री अमृतचन्द्र सूरि की आत्मख्याति टीका आदि टीकायें विद्यमान थीं फिर भी शैली और अर्थ की दृष्टि से इनकी तात्पर्यवृत्ति टीका श्री अमृतचन्द्र सूरि की अपेक्षा भिन्न है।

श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि—

“अथ श्री कुमारानन्दसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-श्रीमन्धरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गत दिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्म-तत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनद्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं, अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।”

श्री जयसेनाचार्य के इन शब्दों से यह बात साष्ट है कि “श्री कुमारानंदि सिद्धान्तदेव के शिष्य श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य देव जिनके पद्मनंदि, एलाचार्य, वक्रग्रीव नाम भी प्रसिद्ध हैं वे विदेहक्षेत्र में गये थे। वहाँ सर्वज्ञदेव श्रीमन्धरस्वामी के श्रीमुख से शुद्धात्मतत्त्व का सार ग्रहण करके वापस भरतक्षेत्र में आकर शिवकुमार महाराज नामक किन्हीं भव्य शिष्य आदि को लेकर अन्य शिष्यों को समझाने के लिए इस पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र की रचना की है। उस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीका मैं लिख रहा हूँ।”

आचार्य जयसेन स्वामी श्री अमृतचन्द्र सूरि के समान कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के टीकाकार हुए हैं। समयसार की टीका में इन्होंने अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख किया है इससे यह ज्ञात होता है कि जयसेन स्वामी ने अमृतचन्द्र सूरि की टीका का आधार लेकर ही किया है।

प्रवचनसार टीका के अन्त में प्रशस्ति में आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने गुरुपरम्परा का परिचय निम्न प्रकार लिखा है—

ततः श्रीसोमसेनोभूद् गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तरस्मै जयसेनतपोभृते ॥
शीघ्रं बभूव मातुसाधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥
यः संततं सर्वाविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥

अर्थात् मूलसंघ के निर्गन्ध तपस्वी वीरसेनाचार्य हुए। उनके शिष्य अनेक गुणों के धारी आचार्य सोमसेन हुए और उनके शिष्य आचार्य जयसेन हुए। सदा धर्म में रत प्रसिद्ध मालु नाम के साधु हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उससे यह चारुभट नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ है जो सर्वज्ञ की पूजा तथा गुरुचरणों की सदा सेवा करता है। उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्य ने अपने पिता की भक्ति के विलोप होने से भयभीत हो इस प्राभृत नामक ग्रन्थ की टीका की है।

इसके आगे भी उन्होंने कहा है—

श्रीमान त्रिभुवनचन्द्र गुरु को नमस्कार करता हूँ जो आत्मा के भावरूपी जल को बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के तुल्य हैं और कामदेव नामक प्रबल महापर्वत के सैंकड़ों टुकड़े करने वाले हैं।

इस प्रशस्ति में श्री जयसेनाचार्य ने स्वयं अपने शब्दों में यह स्पष्ट किया है कि उनके गुरु का नाम सोमसेन तथा दादा गुरु का नाम वीरसेन था। इन्होंने त्रिभुवनचन्द्र गुरु को भी नमस्कार किया है किन्तु प्रशस्ति से यह ज्ञात नहीं हो पाता है कि ये त्रिभुवनचन्द्र कौन हैं ? इतना स्पष्ट है कि जयसेनाचार्य सेनगण के हैं। अन्य किसी टीका में जयसेनाचार्य ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है।

ग्रन्थ रचना—

जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थों पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की टीका से भिन्न शैली में अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इनकी टीकाओं की विशेषता यह है कि प्रत्येक गाथा के पदों का शब्दार्थ पहले स्पष्ट करते हैं, उसके पश्चात् "अयमत्राभिप्रायः" लिखकर उसका विशेष अर्थ खोलते हैं। सभी ग्रन्थों में इन्होंने अपनी टीका का नाम "तात्पर्यवृत्ति" रखा है। अमृतचन्द्रजी के क्लिष्ट शब्दों को ही सरल शब्दों में बतलाना इनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। कहीं पर भी अमृतचन्द्र जी के विपरीत इनका अर्थ नहीं देखने में आता है। यह आज के मन्दबुद्धि शिष्यों के लिये अनुकरणीय आदर्श है कि पूर्वाचार्यों के शब्दों में निजी स्वार्थवश तोड़-मरोड़ करना एक नैतिक अपराध भी है और नरक निगोद का द्वार तो खुल ही जाता है।

भगवान कुन्दकुन्द के भावों को नय शैली में और गुणस्थानों में खोलना जयसेन जी की प्रमुख विशेषता रही है। कोई भी प्राणी समयसार जैसे ग्रन्थों को पढ़कर बहक न जाये इसके लिये जयसेनाचार्य की टीका पढ़ना अति आवश्यक है। इन्होंने अपनी टीका में अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं जो कि पूर्वाचार्यों के प्रति उनकी श्रद्धा, आस्था और अध्ययनशीलता का परिचायक है।

समयसार में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने जहाँ ४१५ गाथाओं पर आत्मख्याति टीका लिखी है, वहाँ जयसेनाचार्य ने ४४५ गाथाओं पर तात्पर्यवृत्ति टीका लिखी है। ये टीका करने से पूर्व प्रत्येक अधिकार की भूमिका में गाथाओं की संख्या खोल देते हैं। जैसे कि प्रवचनसार के प्रारम्भ में ही इन्होंने बताया है कि "मध्यमरुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए मुख्य तथा गौणरूप से अन्तरंगतत्त्व और बाह्यतत्त्व के वर्णन करने के लिये १०१ गाथाओं में ज्ञानाधिकार कहेंगे". इत्यादि।

प्रवचनसार की भूमिका में श्री जयसेनाचार्य ने यह भी बताया है कि किसी निकटभव्य शिवकुमार

को सम्बोधित करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह ग्रन्थ लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि महामुनिराज कुन्दकुन्द भी शिष्यपरिकर रखते थे और शिष्यों का हितचिन्तन भी करते थे।

प्रवचनसार में नौवीं गाथा की टीका में श्री जयसेनस्वामी लिखते हैं—

“यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन

अर्थात् जिस प्रकार स्फटिक मणि का पत्थर निर्मल होने पर भी जपाकुसुम आदि रक्त, कृष्ण, श्वेत उपाधि के वश से लाल, काला, श्वेत रंगरूप परिणाम करता है, उसी तरह यह जीव स्वभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहारनय की अपेक्षा गृहस्थ के रागसहित सम्यक्त्व पूर्वक दान-पूजा आदि शुभ कार्यों को करता है तथा मुनिधर्म के मूलगुण और उत्तरगुणों का अच्छी तरह पालन करता हुआ परिणामों को शुभ करता है।

इस प्रकार जयसेनाचार्य ने व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयों का आलम्बन लेकर कुन्दकुन्द के तीनों प्राभूत ग्रंथों की व्याख्या की है।

समयसार ग्रंथ के निर्जरा अधिकार में सबसे प्रथम गाथा में कहा है कि “सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के निमित्त हैं।” उसकी टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—

शिष्य ने प्रश्न किया कि “राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने पर निर्जरा के निमित्त हैं, ऐसा आपने कहा किन्तु सम्यग्दृष्टि के तो रागादि हैं। पुनः किसी वस्तु का उपभोग करके निर्जरा का कारण कैसे होगा ?

आचार्य कहते हैं कि—

“अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तुचतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं।”

इस ग्रंथ में वास्तव में वीतरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो गौणरूप से है। तथा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्वजनित रागादि नहीं हैं अतः उतने अंश में उसके भी निर्जरा है।

आगे भी कहा है—

“अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।”

इस ग्रंथ में पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्य रूप से ग्रहण है, सरागसम्यग्दृष्टियों का तो गौणरूप से ग्रहण है। सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्रसूरि द्वारा भी इसी अर्थ की पुष्टि हो रही है। देखिये—

१. तीर्थकार महावीर और उनकी आचार्य परम्परा से उद्धृत।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने गाथा १७० में कहा है कि "अबन्धोति णाणी दु" ज्ञानी तो अबन्धक ही है। पुनः आगे १७१ वीं गाथा में कहते हैं कि—

"जिस कारण ज्ञानगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी कारण वह ज्ञानगुण बन्ध करने वाला कहा गया है।" इसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात्।"

वह (ज्ञानगुण) यथास्युक्त चारित्र के नीचे अवश्यंभावी रागपरिणाम का सद्भाव होने से बन्ध का कारण ही है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि की इस एक पंक्ति से ही सारे समयसार का अभिप्राय समझा जा सकता है कि ग्यारहवें गुणस्थान के पहले-पहले राग का सद्भाव रहने से अवश्यमेव बन्ध होता ही होता है। अतः चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ यदि अपने को वीतरागी और अबन्धक मान रहे हैं तो कोरी असत् कल्पना ही है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समयसार में वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य करके ही सब कथन है। अतः इस ग्रन्थ का विषय भी साधुवर्गों के लिये ही है न कि श्रावकों के लिये। यही समयसार ग्रन्थ का रहस्य है।

श्री जयसेनाचार्य का काल—

इनकी टीकाओं में उद्धृत श्लोकों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने द्रव्यसंग्रह, तत्त्वानुशासन, चारित्रसार, त्रिलोकसार और लोकविभाग आदि ग्रंथों का हवाला देकर अपनी टीकाओं में प्रयुक्त किया है। चारित्रसार के रचयिता चामुण्डराय हैं और इन्हीं के समकालीन आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने त्रिलोकसार की रचना की है। चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण शक संवत् ९०० (ई० सन् १७८) में समाप्त किया है। अतः निश्चित है कि जयसेन ईसवी सन् ९७८ के पश्चात् ही हुए हैं। उनके समय की यह सीमा पूर्वार्द्ध सीमा के रूप में मानी जा सकती है।

जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका (पृष्ठ ८) में वीरनन्दि के "आचारसार" ग्रंथ के दो पद्य उद्धृत किये हैं। कर्नाटक कवि चरिते के अनुसार इन वीरनन्दि ने अपने आचारसार पर एक कन्नड़ टीका शक संवत् १०७६ (ईसवी सन् ११५४) में लिखी है। अतः जयसेन ईस्वी सन् ११५४ के पश्चात् ही हुए होंगे।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है कि नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द के तीनों प्राश्रुतों पर कन्नड़ में टीका लिखी है और उनकी टीका का मूल आधार जयसेन की टीकाएँ हैं। इनकी टीका का रचनाकाल ईसवी सन् की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

कुल मिलाकर श्री जयसेन स्वामी ने साहित्य जगत् में अपना अपूर्व योगदान दिया है और आज की दिग्भ्रमित जनता का सम्मार्ग निर्देशन किया है। ऐसे श्रीगुरु के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक शत-शत नमोस्तु।

ज्ञानज्योति टीका कर्त्री गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी

द्वारा—आर्यिका चन्दनामती

हिन्दी वर्णमाला का सबसे पहला अक्षर “अ” है और सबसे अन्तिम अक्षर “ह” है। “अ” शब्द से आदि तीर्थ “अयोध्या” और “ह” शब्द से ऐतिहासिक तीर्थ “हस्तिनापुर” ग्रहण करना चाहिए। इन दोनों शब्दों के बीच में समस्त स्वर और व्यंजन समाहित हो जाते हैं। इसी प्रकार से इन दोनों वर्णों के सूचक अयोध्या व हस्तिनापुर तीर्थों की उद्धारिका परमपूज्य गणिनी शिरोमणि आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का वास्तविक परिचय तो उनकी जीवन्त कृतियों से ही प्राप्त हो सकता है। कुछ पंक्तियों में उनके व्यक्तित्व को बता पाना उसी तरह अशक्य है। जैसे छोटे-छोटे हाथों से समुद्र की विशालता का मापना अशक्य है तथापि शब्दों के लघु दर्पण में उस पवित्रात्मा का स्वरूप झलकाने का मेरा यह बाल प्रयास है।

ईसवी सन् १९३४ की शरदपूर्णिमा को रात्रि के ९ बजकर १५ मिनट पर बाराबंकी, (उ०प्र०) के टिकैतनगर ग्राम में लाला श्री छोटेलाल जी की धर्मपत्नी सौ० मोहिनी देवी ने चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की भाँति एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। जीवन उपवन में खिले इस प्रथम पुष्प का नाम रखा गया— “मैना”। मैना ने पूर्व जन्म के संस्कारवश तथा इस जन्म में कुछ निमित्तों को प्राप्त कर सन् १९५२ की शरदपूर्णिमा को बाराबंकी दि० जैन मंदिर में आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज से सप्तम प्रतिमा रूप आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया पुनः सन् १९५३ में चैत्र कृ० १ को श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर क्षुल्लिका दीक्षा धारण कर वीरमती नाम प्राप्त किया।

सन् १९५३-५४ के दो चातुर्मास अपने गुरु आचार्य श्री देशभूषण महाराज के साथ टिकैतनगर एवं जयपुर में करने के पश्चात् एक दिन इन्हें ज्ञात हुआ कि बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य, गुरुणांगुरु चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज “कुन्थलगिरि” महाराष्ट्र में सल्लेखना लेने जा रहे हैं अतः उनके दर्शन की तीव्र अभिलाषा से गुरु आज्ञा लेकर क्षुल्लिका श्री विशालमती माताजी के साथ दक्षिण पहुँची और परम वीतरागी आचार्य श्री के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना। आचार्य श्री इस प्रथम क्वारी कन्या को दीक्षित अवस्था में देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए और अनेक अमूल्य शिक्षाओं से इन्हें संतुष्ट कर आदेश दिया कि “मेरे प्रथम शिष्य मुनि वीरसागर हैं उन्हें मैं अपना आचार्यपट्ट प्रदान कर रहा हूँ, उनसे ही तुम आर्यिका दीक्षा ग्रहण करना।” इस प्रकार सन् १९५५ में आचार्य श्री की अद्वितीय समाधि देखकर उनके शिष्य प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से सन् १९५६ में वैशाख कृ० २ को माधोराजपुरा (राज०) में आर्यिका दीक्षा धारण कर ज्ञानमती नाम प्राप्त किया।

आर्यिका ज्ञानमती जी के बढ़ते चरण—अपने नाम के अनुसार ज्ञान की आराधना, शिष्य संग्रह, साहित्यसृजन, जम्बूद्वीप रचना निर्माण की प्रेरणा आदि करके आर्यिका ब्राह्मी-सुन्दरी एवं चन्दना का मार्ग इस कलियुग में दर्शाया है।

अयोध्या तीर्थ की पुनरुद्धारिका—अनन्त तीर्थकरों की जन्मभूमि शाश्वत तीर्थ अयोध्या को आपका अनायास सानिध्य प्राप्त हुआ और वह “ऋषभ जन्मभूमि” के नाम से विश्व के मानस पटल पर उभर कर आ गया है। २३ अक्टूबर १९९२ (धनतेरस) को हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना के समक्ष ध्यान करते हुए प्रातःकाल आपको अयोध्या में विराजमान भगवान ऋषभदेव की विशालकाय प्रतिमा का दर्शन हुआ एवं उनके महामस्तकाभिषेक की भावना जागृत हुई। पुनः ११ फरवरी १९९३ (फाल्गुन कृ० ५) को अपने संघ सहित विहार करके १६ जून १९९३ (आषाढ़ कृ० १२) को अयोध्या पहुँची। १९ जून को वहाँ की अतिशयकारी टोंक (ऋषभदेव जन्म स्थल

की प्रतीक) पर आपने अयोध्या में ही चातुर्मास करने का निर्णय लिया जिससे तीर्थक्षेत्र कमेटी के पदाधिकारीगण एवं अवध प्रांत की जनता में हर्ष की लहर दौड़ गई। सैकड़ों वर्षों से अयोध्या में किसी भी साधु-संत का चातुर्मास नहीं हो सका था अतः अयोध्या के महन्तों एवं सम्भ्रान्त जनों ने पूज्य माताजी को दिव्यशक्ति स्वीकार किया।

नवनिर्माण—पूज्य माताजी की प्रेरणा से अयोध्या के रायगंज जैन मंदिर परिसर में तीनचौबीसी एवं समवसरण इन दो जिन मंदिरों का नवनिर्माण हुआ तथा वहाँ के मूलमंदिर में गोमुखयक्ष, चक्रेश्वरीदेवी क्षेत्रपाल-पद्मावती की चार वेदियाँ बनीं। श्री अनन्तनाथ टोंक पर २१ चरणों की स्थापना हुई, समस्त तीर्थकरों के परिचय, इतिहास और अर्थ से सम्बन्धित लगभग ६० शिलालेख लगाए गये, रायगंज में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज एवं मूर्ति के संस्थापक आचार्य श्री देशभूषण महाराज की चरण छतरी के निर्माण के साथ ही आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी की प्रतिमा विराजमान की गई। यात्रियों की सुविधा हेतु २० फ्लैट बने तथा अन्य २० फ्लैट का शिलान्यास हुआ।

जीर्णोद्धार—प्राचीन कटरा मन्दिर, समस्त टोंक, पांडुकशिला स्थल का जीर्णोद्धार पूज्य श्री की प्रेरणा से हुआ तथा पांडुकशिला स्थल पर भी शांति, कुंथु, अरह तीर्थकरत्रय के चरण विराजमान किये गये हैं जिससे वह एक स्वतंत्र टोंक बन गई है।

महामस्तकाभिषेक—परमपूज्य आचार्य श्री देशभूषण महाराज की प्रेरणा से सन् १९६५ में स्थापित की गई भगवान् ऋषभदेव की ३१ फुट उत्तुंग खड्गनासन प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक २४ फरवरी १९९४ (माघ शु० १३) को राष्ट्रीय स्तर पर गणिनी आर्यिका श्री के संघ सानिध्य में सम्पन्न हुआ तथा आपकी आज्ञा से प्रति पांच वर्षों में महामस्तकाभिषेक का संकल्प क्षेत्रकमेटी ने लिया।

एक वर्ष में दो पंचकल्याणक—१९ फरवरी १९९४ से २३ फरवरी १९९४ तक पूज्य माताजी के सानिध्य में ब्र० सूरजमल जी प्रतिष्ठाचार्य द्वारा तीनचौबीसी मन्दिर की ७२ प्रतिमाओं की तथा समवसरण की ६० जिन प्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई पुनः अगले वर्ष १५ फरवरी १९९५ से २० फरवरी १९९५ तक समवसरण की शेष प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा पं० नरेशचंद शास्त्री, जम्बूद्वीप हस्तिनापुर के प्रतिष्ठाचार्य द्वारा सम्पन्न हुई।

मन्दिर कलशारोहण—२० फरवरी १९९५ को दोनों नवनिर्मित मन्दिरों के शिखर पर कलशारोहण एवं ध्वजारोहण हुआ जिससे मन्दिर परिसर में अतिशय प्रसरित हो गया है।

प्रदेश सरकार द्वारा सहयोग—पूज्य माताजी के सानिध्य में प्रथम पंचकल्याणक के अवसर पर २० फरवरी १९९४ को उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने पधारकर प्रतिष्ठा मंच से अनेक जनकल्याण की योजनाएं घोषित कीं—

१. ऋषभदेव नेत्र चिकित्सालय, २. भगवान् ऋषभदेव राजकीय उद्यान, ३. डा० राममनोहर लोहिया विश्वविद्यालय फैजाबाद में “ऋषभदेव जैन चेयर” की स्थापना, ४. ज्ञानमती महिला पॉलिटेक्निक कॉलेज, ५. ज्ञानमती कन्या इन्टर कॉलेज। ये समस्त योजनाएं लगभग पूर्ण हो चुकी हैं कुछ का निर्माण चल रहा है।

राजकीय उद्यान में भगवान् ऋषभदेव प्रतिमा की स्थापना—प्रदेश सरकार द्वारा घोषित एवं कमिश्नर श्री राधेश्याम कौशिक द्वारा स्वीकृत करने पर अयोध्या क्षेत्र कमेटी के नवनिर्वाचित अध्यक्ष कर्मयोगी ब्र० श्री रवीन्द्र कुमार जैन एवं महामंत्री श्री सरोज कुमार जैन तहसील फतेहपुर ने “भगवान् ऋषभदेव राजकीय उद्यान में नई दिल्ली (साउथ एक्सटेंशन) के दानवीर श्रेष्ठी श्री महावीर प्रसाद जैन बंगाली स्वीट सेन्टर द्वारा प्रदत्त अर्थाजलि के माध्यम से २१ फुट उत्तुंग पद्मासन मुद्रा में विशालकाय प्रतिमा का निर्माण कराया। दिनांक २० फरवरी १९९५ को कमिश्नर श्री कौशिक जी द्वारा संघ सानिध्य में तथा श्री जयशंकर श्री पाण्डे, (पूर्व विधायक) की अध्यक्षता में

प्रतिमा का अनावरण हुआ। यह एक ऐतिहासिक एवं अविस्मरणीय निर्माण पूज्य माताजी के अयोध्या प्रवास का सुफल है जो युग-युगों तक संघ आगमन की स्मृतियाँ दिलाता रहेगा। दि० जैन प्रतिमा से सुशोभित भारत देश का यह प्रथम उद्यान अपने पुष्पों की सुरभि दुनियाँ में फैलाएगा ऐसा विश्वास है।

डी० लिट् की मानद उपाधि—डॉ० राममनोहर लोहिया विश्वविद्यालय फैजाबाद के तत्कालीन कुलपति श्री कान्तिप्रसाद नौटियाल ने अपनी सृज्ञवृत्ति के आधार पर पूज्य माताजी को विश्वविद्यालय की ओर से ५ फरवरी १९९५ को एक दीक्षान्त समारोह में डी० लिट् (साहित्य चारित्री) की उपाधि से सम्मानित करके गौरव का अनुभव किया। इसी दिन वहाँ पूज्य माताजी के सानिध्य में “ऋषभदेव जैन पीठ” के भवन का शिलान्यास हुआ, उसका निर्माण पूर्ण हो चुका है। अब वहाँ के नये कुलपति श्री अंगनेलाल उस जैन पीठ को प्रगतिपथ पर ले जाने हेतु अग्रसर हैं।

अवध यात्रा की विभिन्न उपलब्धियाँ—बहती गंगा के समान साधु-साध्वियों का मंगल विहार सामान्य-विशेष समस्त प्राणियों के लिए होता है। यही बात चरितार्थ करते हुए पूज्य माताजी का हस्तिनापुर से अयोध्या तक विहार प्रत्येक जाति के लिए मंगलप्रद रहा। प्रत्येक स्थान पर इनके सार्वजनिक प्रवचनों से प्रभावित होकर सैकड़ों नर-नारियों ने मांसाहार, शराब, नशेबाजी, जुआ, धूम्रपान आदि व्यसनों का त्याग किया। अनेक नगरों में धार्मिक क्रियाकलापों में सुप्तप्राय जैन श्रावकों में अप्रतिम चेतना जागृत हुई। बरेली, शाहजहाँपुर, सीतापुर आदि शहर इस जागृति के जीवन्त उदाहरण हैं।

निर्माण प्रेरणा—“अहिच्छत्र” तीर्थ पर पूज्य माताजी की पावन प्रेरणा के आधार पर श्री प्रेमचन्द जैन तेल वाले मेरठ एवं श्री सुमेरुचंद जैन रामपुर के संयोजन में “निशाल तीसचौबीसी जिन मन्दिर” का निर्माण द्रुतगति से चल रहा है। पुनः अयोध्या के दिव्य निर्माण के साथ-साथ सीतापुर में २८ अप्रैल १९९५ को “साधुनिवास” का शिलान्यास तथा ९ अप्रैल १९९३ को “ज्ञानमती स्वाध्याय भवन” का उद्घाटन हुआ। अतिशयक्षेत्र त्रिलोकपुर में आपकी प्रेरणा से “पारिजात कल्पवृक्ष” नामक सिद्धार्थवृक्ष का निर्माण हुआ उसमें १५ अप्रैल १९९५ को सिद्धों की चार प्रतिमाएं विराजमान की गईं। बाराबंकी के बड़े जैन मन्दिर में “ज्ञानमती निलय” का निर्माण समाज ने किया तथा टिकैतनगर में “ज्ञानमती कीर्तिस्तम्भ” का निर्माण अक्टूबर १९९४ में श्री महावीर प्रसाद जैन बंगाली स्वीट सेन्टर दिल्ली की ओर से हुआ है। टिकैतनगर में पूज्य माताजी की प्रेरणा से “ही” बीजाक्षर की चौबीस तीर्थंकर से समन्वित प्रतिमा और विद्यमान बीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएं वहाँ के जैन मन्दिर जी में विराजमान हुई हैं। दरियाबाद नामक नगर में सैकड़ों वर्षों से वीरान पड़े “सिंघई महल” नामक भूखण्ड का जीर्णोद्धार आपकी प्रेरणा से ही होकर वहाँ १८ नवंबर १९९४ को भगवान् ऋषभदेव के अतिशयकारी चरण विराजमान हुए हैं। उस स्थल को अब “ऋषभदेव उद्यान” के नाम से जाना जाता है। तहसील फतेहपुर में ३० अप्रैल १९९३ को महावीर जैन विद्यालय का शिलान्यास हुआ। सिधौली में मन्दिर के द्वितीय चरण का शिलान्यास १६ अप्रैल १९९३ को हुआ जो पूर्ण हो चुका है उसमें विराजमान होने वाली जिन प्रतिमाओं का पंचकल्याणक भी शीघ्र होने वाला है।

इस प्रकार अनेक कार्य अवध यात्रा के मध्य सम्पन्न हुए। जैन धर्म के अध्ययन हेतु कई नगरों में रात्रि पाठशाला स्थापित की गई तथा अनेक महिला मंडल, बालसंघ आदि गठित हुए जो अद्यावधि सामाजिक एवं धार्मिक कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

आत्मिक एवं पारमार्थिक कार्यकलापों की प्रेरणास्रोत पूज्य चारित्रचंद्रिका, युगप्रवर्तिका, तीर्थोद्धारिका, वात्सल्यमूर्ति, विधानवाचस्पति, डी० लिट् आदि पदवियों से अलंकृत गणिनी आर्यिका श्री के पावन चरणयुगल में सविनय शतशः नमन।

हृदय के उद्गार

—पीठाधीश्वर क्षुल्लक मोतीसागर
जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर

प्रस्तुत ग्रन्थ की टीकाओं की हिन्दी भाषानुवादकर्त्री पूज्य गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी ने बाल्यकाल से अब तक जितने कार्य किये हैं वे सब अपने आप में अद्वितीय हैं।

जहाँ लोग अपने व परिवार के सदस्यों की प्राणरक्षा के लिये कुदेवों को पूजने में संलग्न थे वहीं आपने ८ वर्ष की अल्प वय में अपने लघुभाता प्रकाशचन्द व सुभाषचन्द को भयंकर चेचक होने पर भी माँ को कुदेव पूजने से रोका एवं भगवान् जिनेन्द्र की पूजा-भक्ति करके तथा पवित्र गंधोदक लगाकर पूर्ण स्वस्थ कर दिया। कुदेव को पूजने से मना करने पर समाज के लोग कह रहे थे कि यह लड़की अपने भाईयों को बचने नहीं देगी किन्तु उनके स्वस्थ होने पर सबने दाँतों तले उंगली दबाई।

नाटक-सिनेमा देखकर अधिकतर आबाल-गोपाल सांसारिक रास-रंग में निमग्न हो जाते हैं किन्तु आपने १२ वर्ष की अल्प वय में नाटक अकलंक-निकलंक देखकर आचार्य श्री अकलंकदेव के पदचिन्हों पर चलकर आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का मनोभाव बनाया। यह निर्णय लिया कि “वास्तव में कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर नहीं रखना ही श्रेयस्कर है।”

जब खेलने और खाने की अवस्था थी तब आप पद्मनंदी पंचविशतिका, मनोवती की दर्शन कथा, शीलकथा, सीता जी का बारहमासा पढ़ती थीं। इन सबने आपके वैराग्य को दृढ़ किया।

विशेष रूप से यह देखने में आता है कि साधुवर्ग त्याग-संयम का उपदेश देते हैं, प्रेरणा देते हैं, किन्तु लोग किसी भी प्रकार से त्याग एवं त्यागियों से बचने का प्रयास करते हैं। इससे विपरीत पूर्ण युवा अवस्था में शरदपूर्णिमा की मदमाती चांदनी में जबकि संसारी जन भोगों में निमग्न होते हैं, आपने वैराग्य रस से सराबोर होकर दीक्षा धारण करने की उद्घोषणा की। अवध की पुण्यधरा बाराबंकी पहुँचकर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से दीक्षा प्रदान करने की उत्कट भावना अभिव्यक्त की। उस समय तत्कालीन समाज के लोगों ने उसका तीव्र प्रतीकार किया और जब उनका बस नहीं चल पाया तो दीक्षा रोकने के लिये पुलिस को बुला लाये।

जो माँ हर स्थिति में बेटी को छाती से लगाती है, उस माँ मोहिनी ने निर्मोही बनकर बेटी को दीक्षा देने के लिये सहर्ष स्वीकृति-पत्र अपने हाथ से लिखकर दे दिया।

अबला नारी की असीम वीरता को देखकर ही आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने श्री महावीरजी में आपको क्षुल्लिक दीक्षा प्रदान करते हुए “वीरमती” नाम प्रदान किया। आचार्य प्रवर श्री वीरसागर जी को इस नाम से भी संतुष्टि नहीं हुई तो आर्यिका दीक्षा प्रदान करके इस ज्ञान की साक्षात् मूर्ति का नाम “ज्ञानमती” रखकर अतीव गौरव का अनुभव किया।

आमतौर पर शिष्य वर्ग पढ़ने से कतराता है किन्तु आपको व्याकरण पढ़ाने में कई पंडित कतरा गये। कहते थे कि—इन्हें तो अध्ययन की भस्मक व्याधि है। यही कारण था कि जिस कातंत्र व्याकरण

को आज का छात्र कम से कम दो अन्यथा चार वर्ष में पढ़ने की क्षमता रखता है उसे आपने २० वर्ष की आयु में मात्र २ माह में पढ़कर कंठस्थ कर लिया।

सभी लोग गुरु से अध्ययन करते हैं, आपने सारा ज्ञान शिष्यों से प्राप्त किया अर्थात् सम्पूर्ण ग्रंथों का अध्ययन बिना गुरु से पढ़े आपने अपने शिष्यों को पढ़ाकर अर्जित किया।

जिस शरीर के प्रति संसारी जन तीव्र अनुराग रखते हैं, पोषण करते हैं, उसका आपने आवश्यकता से अधिक शोषण किया। रुग्ण अवस्था में सभी को आराम करना अच्छा लगता है किन्तु आपने रुग्ण अवस्था में स्वास्थ्य की अपेक्षा भी अधिक लेखन कार्य किया। एक-एक करके डेढ़ सौ ग्रंथों का एक पहाड़ खड़ा कर दिया, जिसको पार करना/पढ़ना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है।

आज तो यह देखने में आ रहा है कि पूज्य माताजी ने जो-जो महान् कार्य किये उन सबका अनुसरण अन्यत्र भी पूर्ण तन्मयता से किया जा रहा है जो कि माताजी के कार्यों की अच्छाई का परिचायक है।

इस बीसवीं सदी में, यदि देखा जाय तो माताजी ने ग्रंथ लेखन के कार्य में अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किया है। इसी प्रकार से हस्तिनापुर में बनी जम्बूद्वीप की रचना एवं जम्बूद्वीप रचना स्थल पर बने कमल मन्दिर, ध्यान मन्दिर, निर्माणाधीन विशाल इन्द्रध्वज मन्दिर भी ज्ञानमती माताजी के अदम्य साहस तथा अलौकिक ज्ञान के परिचायक हैं। जम्बूद्वीप ज्ञातज्योति का प्रवर्तन भी भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जावेगा।

माताजी ने जितने भी कार्य किये हैं वे सब ऐसे हैं जो कि भूतकाल के इतिहास को देखने से लगता है कि पहली बार हुए हैं/हो रहे हैं। जिस प्रकार से सम्पूर्ण विश्व में भगवान् बाहुबली की प्रतिमा अप्रतिम है उसी प्रकार से हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप की रचना भी संसार के लिये अभूतपूर्व देन है।

अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद, नियमसार की संस्कृत-हिन्दी टीका, मूलाचार का अनुवाद, इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र, तीनलोक, जम्बूद्वीप, तीस चौबीसी आदि बीसों मंडल विधानों का सरस सृजन तो आपकी सशक्त लेखनी से हुआ ही है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन कृत टीकाओं का भावार्थ-विशेषार्थ के साथ माताजी ने जो यह हिन्दी अनुवाद किया है, जो कि आपके हाथों में है, यह भी अध्यात्म जगत में चार चांद लगाने वाला कार्य है। अब तक इस समयसार की एक-एक आचार्य की टीका का अनुवाद तो प्रकाशित हुआ है किन्तु यह पहला अवसर है जबकि दोनों टीकाकारों के हिन्दी अनुवाद का यह प्रकाशन एक साथ हो रहा है, जो कि अनेक तथाकथित अध्यात्मवादियों की भ्रांत धारणाओं को दूर करने में एवं सहज जिज्ञासुओं को समीचीन दिशा-बोध प्रदान करने में समर्थ होगा।

मुझे इस बात का गौरव है कि माताजी के अधिकांश कार्यों को सुसम्पन्न करने में सहयोगी/सहभागी होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

पद्यानुवादकर्त्री आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी का परिचय

लेखिका—कु० इन्दू जैन (संघस्थ)

भारत की पावन शस्य श्यामला भूमि को सदा से ही गौरव प्राप्त होता रहा है महापुरुषों की जन्मस्थली कहलाने का। इतिहासों, पुराणों, ग्रन्थों में अनगिनत ऐसे “यथा नाम तथा गुण” को चरितार्थ करने वाले लोग भरे पड़े हैं, उसी शृंखला में “यथा नाम तथा गुण” की सूक्ति को निज जीवन में सार्थक रूप प्रदान करने वाली हैं परम पूज्या प्रातःस्मरणीय, वात्सल्यमूर्ति १०५ “आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी”। इनका जन्म अवध प्रान्त के बाराबंकी जिले के एक छोटे से ग्राम टिकैतनगर में श्रेष्ठी स्व० लाला श्री छोटेलाल जी की धर्मपत्नी मोहिनी देवी की पवित्र कुक्षि से ईसवी सन् १९५८ वि० सं० २०१५ की ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को हुआ था।

कहा जाता है जिस घर में नारी धार्मिक संस्कारों से परिपूरित व सुशिक्षित हो वह घर स्वर्ग सदृश बन जाता है तथा पूरे समाज व पूरे देश ही नहीं अपितु देखने में आता है कि उस घर में जन्मे बालक-बालिकायें अपने कार्य-कलापों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में अपने व अपने माता-पिता के नाम को आलोकित करते हैं। यह कोई आज की बात नहीं, करोड़ों-करोड़ों वर्ष पूर्व का इतिहास भी उठाकर हम देखें तो यह दृष्टिगत होता है कि भगवान आदिनाथ के एक सौ एक पुत्रों ने व उनकी दोनों पुत्रियों—ब्राह्मी और सुन्दरी ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी। ये तो हुई करोड़ों वर्ष पहले की बात, अगर सौ साल का भी इतिहास उठावें तो न जाने कितने उदाहरण हमें देखने को मिलेंगे। और ताजा उदाहरण हम देखना चाहें तो हमारे सामने आता है पू० आर्यिका श्री १०५ चन्दनामती माताजी का। उनकी माँ मोहिनी स्वयं धार्मिक संस्कारों में पली हुई एक सुयोग्य महिला थीं सो उन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों में जन्म से नहीं बल्कि गर्भ से ही धार्मिक संस्कारों को समावेशित कर दिया था। उन्होंने १३ सन्तानों को जन्म देकर अपने कई रत्नों को समाज एवं देश सेवा के लिए समर्पित कर दिया, जिनमें से चारित्र चन्द्रिका आदि कई-कई उपाधियों से विभूषित परम पूज्या, प्रातःस्मरणीय, वन्दनीय श्री ज्ञानमती माताजी को कौन नहीं जानता ? जो कि उनकी प्रथम सन्तान हैं। जिस प्रकार समुद्र का कोई माप नहीं हो सकता है उसी प्रकार उनके गुणों का कोई वर्णन नहीं हो सकता है।

इनकी एक और बड़ी वहन हैं परम पूज्या १०५ आर्यिका श्री अभयमती माताजी, जिन्होंने अपने विभिन्न कार्य-कलापों से समाज को लाभान्वित किया है।

आपके एक भाई श्री रवीन्द्र कुमार जी “जिन्हें कर्मयोगी की उपाधि से सम्मानित किया गया है” बाल ब्रह्मचारी हैं, जिन्होंने पूज्य ज्ञानमती माताजी द्वारा निर्मित जम्बूद्वीप रचना में अपना तन, मन, धन से सहयोग दिया है और आज भी बराबर अपने जीवन का हर एक पल धर्म एवं समाज के प्रति समर्पित किये हुए हैं।

अब इसी त्याग में अगला नाम आता है “पूज्य चन्दनामती माताजी” का। आपका बचपन का नाम था “कु० माधुरी”। जब नाम में ही इतनी मिठास भरी हो तो काम में मिठास यानि कार्य तो अच्छे करने ही थे। तो पाठकों । जुड़ गयी इसी त्याग की श्रृंखला में एक और कड़ी।

१३ वर्ष की छोटी सी उम्र, जिसे बाल्यावस्था कहते हैं। उस तेरह वर्ष की लघुवय में ही इन्होंने अपनी गृहस्थावस्था की सबसे बड़ी बहन आ० श्री ज्ञानमती माताजी से आजन्म ब्रह्मचर्य जैसा महान व्रत निज जीवन में अंगीकार कर लिया। आप स्वयमेव सोचिये। १३ वर्ष की बाल्यावस्था, इस उम्र के बालक तो त्याग का मतलब भी नहीं समझ पाते। प्रारम्भ से ही आपमें त्याग कूट-कूट कर भरा हुआ था। सन् १९७१ में वि० सं० २०२८ में भाद्रपद शुक्ला दस (सुगन्ध दशमी) का पावन दिन था जब अजमेर (राजस्थान) में आजन्म ब्रह्मचर्य जैसा महाव्रत आपने ग्रहण किया।

आपकी माँ मोहिनी देवी ने भी समस्त परिवार का मोह छोड़कर अजमेर में ही आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज से सन् १९७१ में दीक्षा धारण कर “आर्यिका रत्नमती” नाम प्राप्त किया था।

आपने सर्वप्रथम अपने इस माधुर्यपूर्ण “माधुरी” नाम को सार्थक किया। इन्होंने लघुवय से ही भजन की रचना करनी शुरू कर दी थी। आप शिक्षाकाल में अध्ययन करते हुए भजन बनाती रहती थीं। पूज्य माताजी के पास रहते हुए आपने अनेक जगहों पर पूज्य माताजी द्वारा रचित विधानों को कराया। आपकी ओजपूर्ण वाणी में नाम के अनुसार ही मधुरता भरी हुई है। जहाँ-जहाँ आप विधान करवाने गयी हैं वहाँ-वहाँ आपके नाम की धूम मची हुई है, आज भी लोग आते हैं तो आपके द्वारा करवाये गये विधानों को याद करते रहते हैं। सिर्फ विधान ही नहीं अपितु विभिन्न प्रान्तों में शिविर, प्रवचन इत्यादि कार्यक्रमों से इन्होंने विशिष्ट ख्याति प्राप्त की है तथा समाज का असीम वात्सल्य प्राप्त किया है।

पूज्य चन्दनामती माताजी द्वारा बनाये गये भजनों में जो मधुरता, सरसता, भक्ति-भावना भरी हुई है वह पाठकों के मानस पटल पर छा जाने वाली है।

लोगों द्वारा कहा जाता है और जहां तक देखने में भी आता है कि कोई पुत्री अपनी माता की सेवा करने का आजन्म सौभाग्य नहीं प्राप्त कर पाती, यौवन की दहलीज पर आते-आते वह पराई हो जाती है, मगर आपको यह सौभाग्य भी प्राप्त है। आपने माता और गुरु की छत्रछाया में अपना सम्पूर्ण जीवन बिताने का संकल्प लिया। आपकी ज्ञान साधना उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने लगी।

सन् १९७२ में ही आपने सोलापुर परीक्षा बोर्ड से प्रथम श्रेणी में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की तथा गुरुमुख से अष्टसहस्री, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया।

मोक्षपथ पर जब पथिक चलने लगता है तो वह शीघ्रातिशीघ्र अपनी मंजिल पाना चाहता है। उसी क्रम में आपने इसकी प्रथम सीढ़ी रूप सन् १९८१ में पू० ज्ञानमती माताजी से ही दो प्रतिमा के व्रत ग्रहण करके अपने देशसंयमी जीवन का शुभारम्भ किया, तदनन्तर मार्च सन् १९८७ में आपने सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर गृह त्याग कर दिया।

स्वाध्याय और अध्ययन के साथ-साथ मातृभक्ति एवं गुरुवैय्यावृत्ति इनके जीवन का प्रमुख अंग रहा है। इन्होंने न केवल अपनी माता की आजीवन सेवा ही की बल्कि सन् १९८५ में उनका सुन्दर

समाधिमरण हस्तिनापुर में हुआ उसमें भी आप अन्त तक उनकी वैयावृत्ति करके अपने जीवन को धन्य करती रहीं।

पूज्य ज्ञानमती माताजी के साथ बराबर आप छाया की भांति १३ वर्ष की उम्र से रह रही हैं। जम्बूद्वीप रचना के निर्माण के प्रारम्भ से ही आपने अपने जीवन को सर्वांगीण रूप से समर्पित किया है। सन् १९८५ में पू० ज्ञानमती माताजी के मंगल आर्शार्वाद से भारत भ्रमण करने वाली 'ज्ञानज्योति' के साथ बराबर घूमते हुए आपने जैन धर्म का चहुंमुखी प्रचार किया है। विद्यावाचस्पति आदि उपाधियां भी परीक्षा देकर आपने प्राप्त की हैं। लगभग २१ वर्षों से "सम्यग्ज्ञान" नाम से निकलने वाली मासिक पत्रिका में आपका पूरा-पूरा योगदान रहता है। आपने कुछ वर्षों तक "श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान" के "मन्त्री" पद के कार्यभार को भी सम्भाला।

सभी प्रकार से १८ वर्षों तक गुरु की सेवा-सुश्रूषा, वैयावृत्ति इत्यादि करते हुए आखिर वह समय भी आ गया जब ये एक बाला से बन गयीं 'जगत्माता'। नारी जीवन की अन्तिम त्यागमयी सीढ़ी है "आर्यिका दीक्षा"। कुटुम्बीजनों के तीव्र मोहमयी वातावरण के बीच हुई दीक्षा का तो वास्तव में हृदयविदारक दृश्य था जब भारी भीड़ में १३ अगस्त सन् १९८९ रविवार, श्रावण शुक्ला ११ को जम्बूद्वीप स्थल पर दिगम्बर जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी अर्थात् अपनी उन्हीं गुरु से (अपने लम्बे-लम्बे केशों का लुंचन करवा के) आर्यिका दीक्षा लेकर कु० माधुरी से आप बन गयीं "आर्यिका चन्दनामती"। गुरु से प्राप्त इस नाम को भी आपने सफल किया। आपके द्वारा दिये गये प्रवचन तथा लिखे गये भजनों में जो चन्दन जैसी शीतलता व मोहकता भरी हुई है कि मानव उसे सुनता हुआ उसमें कुछ क्षण को उसी प्रकार खो जाता है जिस प्रकार चन्दन की सुगन्धि में मनुष्य अपनी सुध-बुध खो बैठता है। वह स्वयं को कुछ क्षण उसी में मानों समाहित कर लेता है।

कहा जाता है कि जीवन में एक गुरु तथा एक अपने धर्म पर दृढ़ श्रद्धान रखने वाला जीव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। ये तो आप सब जानते ही हैं कि मानव का चरम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति ही होता है। पूज्य चन्दनामती माताजी ने भी सदा युगप्रवर्तिका, गणिनी आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी पर गुरुरूप में सदा दृढ़ श्रद्धान रखा।

पूज्य आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी के जीवन का मूल उद्देश्य पू० ज्ञानमती माताजी की कृतियों का संरक्षण एवं संवर्धन करना है। आपका सुबह से लेकर रात तक का सारा समय पू० माताजी को समर्पित है। सदा आपकी यही भावना रहती है कि "पू० माताजी के द्वारा किये गये कार्यों को दिगदिगन्त व्यापी बनाती रहूँ।" आपके प्रवचनों व भजनों में पूज्य माताजी के प्रति भक्ति व समर्पण भावना साक्षात् दृष्टिगोचर होती है। आप ममता व वात्सल्य की ऐसी मूर्ति हैं जिसका वर्णन शब्दों में अवर्णनीय है।

अभी ११ फरवरी सन् १९९३ को होने वाले अवध विहार में आपने पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के साथ मंगल विहार करते हुए अवध की जनता को अपने उपदेशामृत से अभिसिंचित किया है, साथ ही अपनी जन्मभूमि टिकैतनगर व अयोध्या में चातुर्मास करते हुए पू० माताजी के साथ ही खूब धर्मप्रभावना करते हुए पू० माताजी द्वारा किये गये प्रत्येक कार्यों में आपने अपना पूर्णरूपेण योगदान दिया

है। अयोध्या व हस्तिनापुर में पू० माताजी की प्रेरणा से नवनिर्मित योजनाओं में भी आपकी अटूट लगन रहती है। गुरुभक्ति का आप एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

आप दीक्षित जीवन में लगातार छः वर्षों से सतत ज्ञानाराधना में रत रहते हुए, पूज्य माताजी की सेवा करते हुए हम सभी बालिकाओं को धर्म का अध्ययन कराया करती हैं। आप इंग्लिश भाषा में भी खूब अच्छे भजन व पूजाएं बनाया करती हैं।

प्रस्तुत समयसार ग्रन्थ की मूल गाथा व कलश काव्य का पद्यानुवाद आपके द्वारा ही किया गया है। इसके पूर्व आपके द्वारा लिखित पुस्तक “ज्ञान ज्योति की भारत यात्रा” अत्यन्त लोकप्रिय हुई है।

इन गुणों से विभूषित वात्सल्यमूर्ति माताजी के बारे में लिखने के लिए शब्द भी कम पड़ते हैं फिर भी मेरा यह प्रयास सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

मैं भी स्वयं को धन्य मानती हूँ कि उन माताजी के श्री चरणों में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन त्यागमूर्ति माताजी के चरण-कमलों में कोटि-कोटि वन्दन करते हुए यही विनम्र अभिलाषा है कि मैं भी आपके जीवन से कुछ प्रेरणा ले सकूँ तथा यही मंगल कामना है कि सदा-सदा ही आपका ममतापूर्ण वरदहस्त मुझ पर बना रहे व मुझमें भी आपका कुछ अंश आ जावे और मैं अपने इस जीवन को लगातार त्याग की ओर उन्मुख करते हुए आपके सदृश गुरुभक्ति का आदर्श उपस्थित कर सकूँ और अपने इस नरतन को सफल करते हुए मोक्षमार्ग को प्रशस्त कर सकूँ। अन्त में इन अगणित गुणों की खान श्री चन्दनामती माताजी के लिए चार पंक्तियाँ समर्पित हैं—

चन्दन सी शीतलता जिनमें, मन में मधुरिष प्यार भरा।

ऐसी माँ चन्दनामती को, वन्दन शत-शत बार मेरा ॥

युगों युगों तक माता तेरा, वरदहस्त यूँ बना रहे।

तुझ सम मैं भी बन पाऊँ माँ, कृपादृष्टि तव सदा रहे ॥

सम्पादकीय

—ब्र० खीन्द्र कुमार जैन

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमोगणी,

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व सन् १९७४ में भगवान् महावीर स्वामी का २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव सारे भारतवर्ष में राष्ट्रीय स्तर पर धूमधाम से मनाया गया। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का समय माना जा रहा है। उपरोक्त मंगलाचरण से यह स्पष्ट है कि विगत २५०० वर्ष में भगवान् महावीर के बाद गणधरो में गौतम स्वामी एवं आचार्यों में आ० श्री कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि रहा है। उन्हीं आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का इस समय द्विसहस्राब्दि महामहोत्सव मनाया जा रहा है। जैन परम्परा में समयसार ग्रन्थ व आ० श्री कुन्दकुन्द देव का नाम दोनों पर्यायवाची से हो गये हैं। आज जो गृहस्थ ८ मूलगुण के नाम भी नहीं जानते हैं वे भी समयसार ग्रन्थ के नाम से परिचित हो चुके हैं। स्थान-स्थान पर समयसार के व्याख्यान व समयसार का स्वाध्याय वर्तमान शताब्दी में बहुचर्चित हुआ है। समयसार ग्रन्थ का प्रकाशन भी वर्तमान शताब्दी में जितनी बहुलता से हुआ है उतना विगत दो हजार वर्षों में कभी नहीं हुआ होगा। इससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्म के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ा है।

समयसार का हृद्य—

समयसार ग्रन्थ को आ० श्री कुन्दकुन्द देव ने गाथाओं में निबद्ध किया, पश्चात् आ० श्री अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका लिखी। उसके पश्चात् आ० श्री जयसेन स्वामी ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखी। पिछली कुछ शताब्दियों से प्राकृत-संस्कृत भाषा जनसामान्य की भाषा न होकर विद्वत समाज की भाषा बनकर रह गई है। अतः सामान्य जनों के लिये हिन्दी भाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओं का प्रचलन अधिकता से चल रहा है। इसी कारण से समयसार ग्रन्थ के ऊपर पिछले वर्षों में हिन्दी टीकायें सामने आईं। लेकिन एक कमी यह महसूस हो रही थी कि अभी तक जितने समयसार प्रकाशित हुये उनमें से कुछ प्रकाशकों ने आ० श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका के साथ ग्रन्थ को प्रकाशित किया और कुछ प्रकाशकों ने आ० श्री जयसेन की टीका के साथ ग्रन्थ को प्रकाशित किया। दोनों टीकायें एक साथ उपलब्ध हों एवं दोनों आचार्यों की हिन्दी टीका भी एक साथ उपलब्ध हो ऐसा ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। इस कमी की पूर्ति की ओर पू० गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानभती माताजी का ध्यान गया और उन्होंने उपरोक्त दोनों आचार्यों की संस्कृत टीकाओं पर हिन्दी टीका लिखना प्रारम्भ किया। इस टीका में अक्षरशः हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ भावार्थ, विशेषार्थ एवं गुणस्थानों को रखकर पूज्य माताजी ने आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव के मनोभावों को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता—

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ में एक साथ आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव की गाथायें, आ० श्री अमृतचन्द्र जी की संस्कृत टीका, आ० श्री जयसेन जी की संस्कृत टीका, पूज्य गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा दोनों आचार्यों की हिन्दी टीका है। साथ ही गाथाओं का पद्यानुवाद पू० आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी द्वारा किया गया है, तथा आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी ने जो अपनी टीकाओं में स्थान-स्थान पर कलश रचे हैं उन्हें “अमृत कलश” संज्ञा दी गई है। उन अमृत कलश का हिन्दी पद्यानुवाद भी पू० आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी ने बनाकर दिया है। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वांगीण सामग्री से भरपूर सहित समाज के सामने दिया जा रहा है।

आशा है उपरोक्त समस्त आचार्यों एवं आर्यिकाओं के द्वारा समाहित यह ग्रन्थ विद्वानों के लिये एवं स्वाध्यायार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

संस्थान का परिचय

जिस संस्थान द्वारा उपरोक्त ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है उसकी संक्षिप्त जानकारी पाठकों को देना में आवश्यक समझता हूँ।

संस्थान का जन्म—

पूज्य गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का जन्म सन् १९७२ में हुआ। इस संस्थान का रजिस्ट्रेशन दिल्ली सोसायटी एक्ट के अन्तर्गत सन् १९७२ में ही करा लिया गया।

संस्थान की कार्यकारिणी—

संस्थान के नियमानुसार प्रत्येक तीन वर्ष में संस्थान की कार्यकारिणी का गठन पू० माताजी की आज्ञा से होता आ रहा है। डा० कैलाशचन्द्र जैन (राजा टायज) दिल्ली संस्थान के सर्वप्रथम अध्यक्ष मनोनीत किये गये थे। महामंत्री श्री वैद्य शांतिप्रसाद जैन (दिल्ली), कोषाध्यक्ष ब० श्री मोतीचन्द जैन, मंत्री श्री कैलाशचन्द्र जैन (करोल बाग, नई दिल्ली) एवं उपमंत्री ब० रवीन्द्र कुमार जैन आदि पदाधिकारी मनोनीत किये गये थे। उसके बाद संस्थान के अध्यक्ष पद पर श्री मदनलाल जी चांदवाड, रामगंज मंडी (राजस्थान) ६ वर्ष तक रहे, पश्चात् ६ वर्ष तक श्री अमरचंद जी पहाड़िया (कलकत्ता), संस्थान के अध्यक्ष पद पर रहे। महामंत्री स्व० श्री कैलाशचन्द्र जैन, सरधना (उ० प्र०) तथा उनके बाद श्री गणेशीलाल जी रानीवाला (कोटा) को महामंत्री पद पर मनोनीत किया गया। पुनः ४ वर्ष तक ब० रवीन्द्र कुमार जैन अध्यक्ष रहे। श्री गणेशीलाल रानीवाला कोटा—कार्याध्यक्ष, श्री जिनेन्द्र प्रसाद जैन ठेकेदार दिल्ली—महामंत्री, श्री अमरचंद जैन होमबेड मेरठ—मंत्री तथा श्री कैलाशचंद जैन करोल बाग, दिल्ली—कोषाध्यक्ष पद पर रहे हैं।

वर्तमान त्रिवर्षीय कार्यकारिणी में लगभग १०० सदस्य सारे भारतवर्ष से मनोनीत हैं, जिसमें साहू श्री अशोककुमार जैन—दिल्ली, श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल—इन्दौर, श्री गणेशीलाल जैन रानीवाला—कोटा (संरक्षक) पद पर, श्री शीलचन्द्र जैन जौहरी—दिल्ली, ब० श्री रवीन्द्र कुमार जैन, मै—हस्तिनापुर (अध्यक्ष),

श्री जिनेन्द्र प्रसाद जैन ठेकेदार—दिल्ली (कार्याध्यक्ष), श्री कैलाशचंद जैन—करोल बाग, नई दिल्ली (महामंत्री) एवं श्री अमरचंद जैन होम ब्रेड—मेरठ (मंत्री) तथा श्री मनोज कुमार जैन—हस्तिनापुर (कोषाध्यक्ष) पद पर मनोनीत हैं।

हिसाब एवं धन की व्यवस्था—

संस्थान का आय-व्यय प्रतिवर्ष आडिटर से आडिट कराया जाता है एवं कार्यकारिणी की बैठक में हिसाब पास किया जाता है। धन के सम्बन्ध में संस्थान की संपूर्ण आय रसीद अथवा कूपन से प्राप्त होती है तथा स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, हस्तिनापुर, पंजाब नेशनल बैंक, हस्तिनापुर एवं बैंक ऑफ बड़ौदा, दिल्ली में संस्थान के नाम से खाते हैं, जिसका संचालन संस्थान के अध्यक्ष, कार्याध्यक्ष, कोषाध्यक्ष एवं मंत्री उपरोक्त चार में से किन्हीं दो हस्ताक्षरों से होता है।

निर्माण—

सन् १९७४ से हस्तिनापुर में निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया। अब तक जम्बूद्वीप स्थल पर जम्बूद्वीप की रचना के निर्माण के साथ ही यात्रियों, शोधार्थियों एवं पर्यटकों के लिये लगभग २०० कमरे व फ्लैट बन चुके हैं। तीनमूर्ति मंदिर का निर्माण हुआ है, जिसमें तीन वेदियां हैं। मुख्य वेदी में भगवान आदिनाथ, भरत व बाहुबली की मूर्ति विराजमान हैं तथा अगल-बगल की वेदी में भगवान् पार्श्वनाथ भगवान् नेमीनाथ की प्रतिमा विराजमान हैं भगवान् महावीर स्वामी का नया कमल मंदिर बन चुका है जिसका कलशारोहण व वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव मई १९९० में हो चुका है। इसके अलावा साधुओं के रहने के लिये रत्नत्रय निलय, कार्य संचालन के लिये कार्यालय एवं पानी की सुविधा के लिये बड़ी टंकी भी बनाई जा चुकी है। इनके अतिरिक्त भगवान् वासुपूज्य मंदिर, शांति कुंथु अरहनाथ तीर्थकरत्रय मंदिर तथा ध्यान मंदिर का नवनिर्माण हुआ है। अन्य निर्माण कार्य भी योजनानुसार चल रहे हैं, जिनका वर्णन भविष्य में समाज के समक्ष प्रस्तुत होगा।

शैक्षणिक गतिविधियाँ—

निर्माण के अतिरिक्त संस्थान के द्वारा शिक्षा एवं धर्मप्रचार का कार्य भी समय-समय पर होता रहा है। शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, सेमिनार, अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार आदि के आयोजन भी समय-समय पर होते ही रहते हैं।

सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन—

पू० गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित चारों अनुयोगों से युक्त एवं धर्म प्रभावना के समाचारों से सहित सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन जुलाई १९७४ से इसी संस्थान के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया था, जिसका विमोचन प०पू० आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के करकमलों से ऐतिहासिक दिगम्बर जैन लाल मन्दिर दिल्ली में १ जुलाई १९७४ को किया गया था। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत में लगभग सभी नगरों में इस पत्रिका के सदस्य हैं तथा पिछले २१ वर्षों से मासिक पत्रिका का प्रकाशन निराबाध चल रहा है।

वीरज्ञानोदय ग्रन्थमाला—

संस्थान के अन्तर्गत वीरज्ञानोदय ग्रन्थमाला की स्थापना सन् १९७४ में की गई जिसमें प्रथम पुष्प के रूप में अष्टसहस्री के एक भाग का प्रकाशन १९७४ में हुआ था। उसके बाद पू० ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित लगभग १५० से अधिक ग्रंथों का प्रकाशन अब तक हो चुका है। बच्चों के लिये बाल विकास (चार भाग) एवं इन्द्रध्वज मण्डल, कल्पद्रुम मंडल विधान आदि अनेक प्रकाशन अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। इसी ग्रन्थमाला से इस समयसार ग्रंथ के पूर्वार्द्ध को सन् १९९० में प्रकाशित किया गया था पुनः अब उसी का उत्तरार्ध ५ वर्ष की दीर्घकालीन अवधि के पश्चात् प्रकाशित किया जा रहा है। पूज्य माताजी द्वारा तो इसका भी अनुवाद कार्य उस समय ही पूर्ण हो गया था किन्तु इस मध्य मेरी व्यस्तता एवं माताजी के अवध प्रवास के कारण साहित्य प्रकाशन का कार्य लगभग बन्द ही रहा। पाठकों को इस मध्य समयसार उत्तरार्ध की इन्तजारी करनी पड़ी जिसका मुझे खेद है।

आचार्य श्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ—

सन् १९७९ में पू० माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप स्थल पर आचार्य श्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ का शुभारम्भ हुआ, जिसके अन्तर्गत धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ लौकिक अध्ययन की सुविधा भी प्रदान की गई है। अब तक इस विद्यापीठ से पढ़कर कई विद्वान् जगत्प्रसिद्ध हो चुके हैं।

जम्बूद्वीप पारमार्थिक औषधालय—

नवम्बर १९८५ से जम्बूद्वीप स्थल पर निःशुल्क आयुर्वेदिक औषधालय भी प्रारम्भ किया गया है, जिसमें राजवैद्य शीतल प्रसाद एण्ड सन्स के सौजन्य से औषधि प्राप्त होती रहती है।

जम्बूद्वीप पुस्तकालय—

संस्थान के अन्तर्गत एक विशाल पुस्तकालय की योजना रखी गई है, जिसका नाम जम्बूद्वीप पुस्तकालय रखा गया है। इस पुस्तकालय में विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों के अनुसार ही पुस्तकों को संचित किया जा रहा है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें—

प्रथम पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सन् १९७५ में भगवान् महावीर स्वामी की सवा नौ फुट ऊंची प्रतिमा की हुई थी। इसके लिये उस समय समय कम होने से एक छोटे से कमरे का ही निर्माण हो सका था। इस पंचकल्याणक में चारित्र चक्रवर्ती १०८ आ० श्री शांतिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल संघ सहित एवं एलाचार्य श्री विद्यानंद जी व गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी का सानिध्य प्राप्त हुआ। प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर निवासी थे। इसी कमरे को हटाकर भव्य कमल मन्दिर का निर्माण कार्य सन् १९९० में सम्पन्न हुआ है।

द्वितीय पंचकल्याणक ८४ फुट ऊंचे सुमेरु पर्वत के १६ जिन बिम्बों का २९ अप्रैल से ३ मई १९७९ तक आयोजित किया गया। इस पंचकल्याणक महोत्सव में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के शिष्य आचार्यकल्प श्री श्रेयांस सागर जी महाराज का एवं गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी का सानिध्य प्राप्त हुआ था। इस आयोजन के प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमल जी निवाई थे।

तृतीय पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २८ अप्रैल १९८५ से २ मई १९८५ तक सम्पन्न हुई। यह आयोजन जम्बूद्वीप के समस्त जिन बिम्बों के पंचकल्याणक का था। यह समारोह राष्ट्रीय स्तर पर सम्पन्न हुआ। इसमें सानिध्य प्राप्त हुआ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के संघस्थ मुनि श्री निर्मलसागर आदि साधुगणों का एवं आ० श्री सुबाहुसागर जी तथा गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के संघ का। प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमल जी थे। समारोह में भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से धर्मानुरागी बन्धुओं ने भाग लिया तथा उ० प्र० सरकार का भी प्रशासन की ओर से अच्छा सहयोग रहा। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी ने जम्बूद्वीप का उद्घाटन किया था। अन्य केन्द्रीय व उत्तर प्रदेश के मंत्रीगण व सांसद भी समारोह में उपस्थित हुये थे। रक्षामंत्री श्री पी० वी० नरसिंहराव भी आयोजन में सम्मिलित हुए।

चतुर्थ पंचकल्याणक ६ मार्च से ११ मार्च १९८७ तक सम्पन्न हुआ। इस महोत्सव में भगवान् पार्श्वनाथ व भगवान् नेमीनाथ की दो विशाल पद्मासन प्रतिमाओं का पंचकल्याणक महोत्सव हुआ। इस कार्यक्रम में आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के विशाल संघ का सानिध्य तथा गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के संघ का सानिध्य प्राप्त हुआ। इस प्रतिष्ठा के प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री शिखरचन्द जी शिण्ड थे। इसी शुभ अवसर पर सुमेरुपर्वत पर स्वर्ण कलशारोहण भी किया गया। मुख्य अतिथि के रूप में माधवराव सिंधिया, केन्द्रीय रेल मंत्री तथा श्री जे० के० जैन पूर्व सांसद भी आये।

पंचम पंचकल्याणक ३ मई से ७ मई १९९० तक सम्पन्न हुआ। इस प्रतिष्ठा में इन्द्रध्वज तेरहद्वीप के ४५८ जिन प्रतिमाओं की तथा चौबीस तीर्थकरों से समन्वित "ह्रीं" प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई एवं कमल मंदिर के ऊपर कलशारोहण तथा झंडारोहण हुआ। इस कमल मंदिर का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री बी० सत्यनारायण रेड्डी ने किया तथा जम्बूद्वीप का प्रथम महामहोत्सव मनाया गया जिसकी पांच वर्ष में करने की प्रेरणा सन् १९८५ में पूज्य माताजी ने प्रदान की थी।

ज्ञानज्योति प्रवर्तन—

४ जून १९८२ को साल किला मैदान, दिल्ली से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी के कर-कमलों से हुआ था। निरंतर ३ वर्षों तक इस ज्ञानज्योति का प्रवर्तन सम्पूर्ण भारतवर्ष के नगर-नगर में हुआ। जिससे अहिंसा, चरित्र-निर्माण एवं विश्व-बन्धुत्व का व्यापक प्रचार-प्रसार किया गया। इस प्रवर्तन में अनेक प्रांतों के राज्यपाल, मुख्यमंत्री, सांसद, कमिश्नर, डी० एम०, एस० डी० एम० आदि अनेक राजकीय अधिकारियों ने ज्योतिरथ का स्वागत किया। दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं और भट्टारकों का भी स्थान-स्थान पर आशीर्वाद व सानिध्य प्राप्त हुआ। प्रवर्तन में तत्कालीन सांसद श्री जे० के० जैन का सराहनीय सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा।

ज्ञानज्योति की हस्तिनापुर में अखण्ड स्थापना—

१०५८ दिनों तक सारे भारतवर्ष में प्रवर्तन के बाद ज्ञानज्योति की अखण्ड स्थापना २८ अप्रैल १९८५ को जम्बूद्वीप मेन गेट के ठीक सामने स्थाई तौर पर हस्तिनापुर में कर दी गई है। यह स्थापना श्री जे० के० जैन सांसद की अध्यक्षता में तत्कालीन रक्षामंत्री भारत सरकार—श्री पी० वी० नरसिंहराव (वर्तमान प्रधानमंत्री) के करकमलों से हुई थी।

जम्बूद्वीप स्थल पर भव्य दीक्षाये—

पू० गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी के शिष्य एवं शिष्याओं के दीक्षा समारोह भी जम्बूद्वीप स्थल पर समय-समय पर आयोजित किये गये हैं। सर्वप्रथम संघस्थ ब० श्री मोतीचन्द जैन, सनावद (म० प्र०) की क्षुल्लक दीक्षा का कार्यक्रम ८ मार्च १९८७ को सम्पन्न हुआ। यह दीक्षा आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के कर-कमलों से सम्पन्न हुई थी। दीक्षा के उपरान्त उनका नाम क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी रखा गया।

द्वितीय दीक्षा समारोह कु० माधुरी शास्त्री, जो कि पू० ज्ञानमती माताजी की शिष्या एवं गृहलयाऽस्था की लघु भगिनी हैं, उनकी दीक्षा १३ अगस्त १९८९ को विशाल स्तर पर सम्पन्न हुई। गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी के कर-कमलों से दीक्षा प्राप्त करके उनका नाम आर्यिका श्री चंदनामती रखा गया।

तृतीय दीक्षा ब० श्यामाबाई की १५ अक्टूबर १९८९ को सम्पन्न हुई। पू० गणिनी आर्यिकारल श्री ज्ञानमती माताजी के करकमलों से उन्हें क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान करके क्षुल्लिका श्रद्धामती नाम रखा गया।

इस प्रकार दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान में विभिन्न बहुमुखी योजनायें चल रही हैं, जिनमें भारतवर्ष के समस्त दिगम्बर जैन समाज का सहयोग प्राप्त होता रहता है।

हस्तिनापुर का संक्षिप्त परिचय—

जैन पुराणों के आधार से हस्तिनापुर बहुत प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरी है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का प्रथम आहार इसी भूमि पर हुआ। उसी दिन से एक प्रकार से यह दानतीर्थ प्रवर्तन भूमि हो गई है। उसके बाद भगवान् शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ तीन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप एवं केवलज्ञान ऐसे चार-चार कल्याणक इसी भूमि पर सम्पन्न हुये हैं। तीनों महापुरुष तीर्थंकर की पदवी के साथ-साथ चक्रवर्ती व कामदेव भी थे। यही हस्तिनापुर कौरव-पाण्डवों की राजधानी रही है। रक्षाबन्धन का पर्व इसी हस्तिनापुर से प्रारम्भ हुआ है, जहाँ पर ७०० मुनियों के विशाल संघ पर बलि मंत्री ने उपसर्ग किया था और विष्णुकुमार महामुनि ने वामन का रूप धारण करके उस उपसर्ग का निवारण किया था। इसके अलावा जैन पुराणों में अनेक कथानक इस हस्तिनापुर भूमि से जुड़े हुए हैं। अतः उत्तर भारत का यह एक प्रसिद्ध और ऐतिहासिक स्थल है, लेकिन प्रचार की कमी से यह तीर्थ बहुत पिछड़ा हुआ था। जम्बूद्वीप निर्माण के बाद इस स्थल का प्रचार देश-विदेश में बराबर हो रहा है, जिससे आने वाले जैन-अजैन यात्रियों की संख्या में विगत वर्षों में कई गुनी वृद्धि हुई है।

ग्रंथ की प्रूफ रीडिंग में पूज्य क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी, पूज्य आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने व मैंने अथक परिश्रम किया है, फिर भी त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। पाठकगणों को जो भी अशुद्धि मिले उसे हमें सूचित करें, जिससे अगले संस्करण में उन अशुद्धियों को शुद्ध किया जा सकेगा।

अन्त में हाई-टैक ग्राफिक्स, मेरठ को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने ग्रंथ के सुन्दर कंपोजिंग में परिश्रम किया।

हस्तिनापुर

“इत्थलम्”

१५-९-९५

स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समापन की विधि

अथ^१ पौर्वाण्हिक स्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो-धम्मो मंगलं । चत्तारिलोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारिसरणं पव्वज्जामि—अरहंतं सरणं पव्वज्जामि सिद्ध सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पब्बुज्जरां करेमि तावक्कारा पावक्कवां दुज्जरिदं वोत्तराणि ।

(९ बार णमोकार मन्त्र जपना—सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में ।)

थोस्सामिस्तव—थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलिअणंतजिणे । णरपवर लोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ।

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे । अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चेव केवलिणो ॥

श्रुतभक्ति—

श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम् ।

अंगांगदाहाभावित-मनन्तविषयं नमस्यामि ॥१॥

इच्छामि भन्ते ! सुदभक्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्म-सुत्तपट्ठमाणि-ओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइ-धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगइगमणं समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(णमो अरहंताणं से लेकर ऊपर का पूरा पाठ पढ़कर ९ बार णमोकार मन्त्र जपकर 'थोस्सामि' स्तव पढ़कर भक्ति पढ़ें)

आचार्यभक्ति—

गुरुभक्त्या वयं सार्ध-द्वीपद्वितयवर्तिनः ।

वंदामहे त्रिसंख्योन—नवकोटिमुनीश्वरान् ॥१॥

इच्छामि भन्ते ! आयरियभक्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसणसम्मचारित्त-जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण-पालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगइगमणं समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

पुनः स्वाध्याय समापन करते समय—

नमोऽस्तु पौर्वाण्हिक स्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(पूर्ववत् णमो अरहंताणं आदि पढ़कर ९ बार महामन्त्र जपकर 'थोस्सामि' पढ़कर श्रुत भक्ति पढ़ें ।)

१. मध्याह्न में स्वाध्याय करते समय 'अपराण्हिक' बोलें । रात्रि में स्वाध्याय के प्रारम्भ के समय 'पूर्वाण्हिक' बोलें ।

महत्त्वपूर्ण अंश

(समयसार स्वाध्याय से पूर्व इन उद्धरणों को
हृदय पटल पर अंकित कर लेना चाहिए)

सुद्धो सुद्धादेसो णादब्बो परमभावदरिसीहिं ।

ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥ १२ अ०, १४ ज० ॥

श्रीजयसेनाचार्य की टीका का अंश—“व्यवहारनयः प्रयोजनवान् भवति ये
“अपरमे”—अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्त-
संयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः” ।

गाथा ४६ अ० ५१ ज०—“व्यवहारोहि व्यवहारिणां तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य
एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनं
हिंसाभावाद् भवत्येव बंधस्याभावः—मोक्षोपायपरिमहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।” (श्रीअमृतचंद्रसूरि) ।

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।

पक्खत्तातिककंतो पुण भण्णादि जो सो समयसारो ॥ १४२ अ०, १५२ ज० ॥

“सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानधनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति ।

(अमृतचंद्रसूरि) ।

श्रीजयसेनाचार्य के सरल शब्द—‘गणधरदेवादि’ छद्मस्थजनः निर्विकल्पसमाधिकाले
नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रान्तः”

निर्जराअधिकार (गाथा १९३ अ०, २०३ ज०) में कहते हैं—

अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं ।”

आगे भी कहा है—“अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या
ग्रहणं ।”

सम्यग्दृष्टि अबंधक है इसे (गाथा १७१ अ०, १७९ ज०) में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं—“स तु
यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्” ॥

यथाख्यात चारित्र की अवस्था के पहले-पहले अवश्य ही राग का सद्भाव होने से वह ज्ञानगुण बंध का
हेतु ही है । यह यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान से होता है अतः दसवें गुणस्थान तक रागभाव का उदय
रहने से कर्मबंध अवश्य होता है । सिद्धांत की भाषा में यहाँ तक का चारित्र भी सराग चारित्र कहलाता है ।

मंगलाचरण
(श्री कुन्दकुन्ददेव कृत)

वंदितु सव्वसिद्धे, ध्रुवमचलमणोवमं गङ्गं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

मंगलाचरण
(श्री अमृतचंद्रसूरि कृत)

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

मंगलाचरण
(श्री जयसेनाचार्य कृत)

वीतरागं जिनं नत्वा, ज्ञानानन्दैकसंपदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य, वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥

मंगलाचरण
(गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत)

सिद्धान् नत्वा स्वयंसिद्ध—स्वात्म-तत्त्वस्य सिद्धये ।
ज्ञानज्योतिर्मयी विद्या, तस्यै प्रीत्या नमोऽस्तु मे ॥१॥

(६) अथ निर्जराधिकारः

अथ प्रविशति निर्जरा—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागाद्यासवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरात्रिहंधन् स्थितः ।

प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति । १३३ ।

अब यहां निर्जरा प्रवेश करती है—

जैसे नृत्य की रंगभूमि में नृत्यकर्ता स्वांग बनाकर प्रवेश करता है वैसे ही यहां तत्त्वों का नृत्य है। अतः अब रंगभूमि में निर्जरा का प्रवेश दिखलाते हैं।

यहां टीकाकार निर्जरा को ज्ञानज्योति रूप कहते हैं—

काव्यार्थ—रागादि भावास्व के निरोध से निजधुरा को धारण करता हुआ यह उत्कृष्ट संवर आगे आने वाले संपूर्ण ही कर्मों को अतिशय रूप से दूर से रोककर स्थित हो गया। अब इस समय पहले के बंधे हुये जो कर्म हैं उनको जलाने के लिये अग्निवत् यह निर्जरा वृद्धिगत होते हुये प्रगट हो रही है, इस निर्जरा के प्रगट होने से यह ज्ञानज्योति निरावरण होकर पुनः रागादि भावों से मूर्च्छित नहीं होती है। १३३ ।

भावार्थ—कर्मों का आना रुक जाना संवर है, इस संवर के होने के बाद पूर्व में बंधे हुये जो कर्म हैं उन्हें नष्ट करने के लिये निर्जरा का होना आवश्यक है। यहां निर्जरा करते हुये ही

कलश का हिन्दी पद्यानुवाद—शंभु छंद

रागादिक आसव को रोका संवर ने निज शक्ती द्वारा ।

नव कर्म नहीं आने पावें यह देख रहा संवर प्यारा ॥

फिर पूर्ववद्ध कर्मों को भी निर्जरा जलाने आती है ।

तब राग न मूर्च्छित करे हृदय में ज्ञानज्योति जल जाती है ॥ १३३ ॥

उपभोगमिदियेहि, द्रव्याणमचेदणाणमिदराणं ।

जं कुणदि सम्मदिड्ढी, तं सब्बं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ अ० ॥

उपभोगमिदियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषां ।

यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं ॥ १९३ ॥

आत्मख्यातिः—विरागस्योपभोगो निर्जरयै एव, रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बन्धनिमित्तमेव स्यात् । स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितं ॥ १९३ ॥

(भूमिका) —तत्रैवं सति रंगभूमेः सकाशात् शृङ्गाररहितपात्रवत् शुद्धजीवस्वरूपेण संवरो निष्क्रान्तः । अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका निर्जरा प्रविशति । उपभोगमिदियेहि

ज्ञानज्योति प्रगट होती है वह पुनः रागादि से परिणत न हो तभी वह ज्ञानज्योति संपूर्ण निर्जरा में समर्थ होती है ।

अन्वयार्थ—(सम्यग्दृष्टिः यत् इंद्रियैः अचेतनानां इतरेषां द्रव्याणां उपभोगं करोति) सम्यग्दृष्टि जो कुछ भी इंद्रियों के द्वारा अचेतन और इतर—चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है (तत् सर्वं निर्जरानिमित्तं) वह सब निर्जरा के निमित्त है ॥ १९३ ॥

आत्मख्याति—विराग जीव का—वीतराग सम्यग्दृष्टि का उपभोग निर्जरा के लिये ही है और रागादि भावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि जीव के अचेतन और अन्यद्रव्यों का जो भी उपभोग है वह सब कर्म बंध के लिये ही होता है । वही उपभोग रागादि भावों का अभाव हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा के लिये ही होता है । इस कथन से यहां द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा गया है ॥ १९३ ॥

भावार्थ—यहां श्री अमृतचंद्रसूरि ने विराग सम्यग्दृष्टि पद रखे हैं जिससे स्पष्ट है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि के इंद्रियों द्वारा उपभोग कर्मनिर्जरा के लिये हैं, सराग सम्यग्दृष्टि के नहीं । अब इसे ही श्री जयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं । यहां 'उपभोग' शब्द से कर्मोदय से हुये सुख-दुःख ही विवक्षित हैं ।

गाथा का हिन्दी पद्यानुवाद—शंभु छंद

(२०२)—जो सम्यग्दृष्टि इंद्रियों से चेतन व अचेतन द्रव्यों का ।

उपभोग किया करता तो भी वह कर्म निर्जरा को करता ॥

उस वीतरागि सम्यग्दृष्टी को रागद्वेष मोहादि नहीं ।

इसलिए निमित्तादिक मिलने पर भी उसको निर्जरा कही ॥ १९३ ॥

इत्यादिगाथामादि कृत्वा दंडकान् विहाय पाठक्रमेण पंचाशद्गाथापर्यंतं षट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यानं करोति । तत्र द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तीनां क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं । तदनंतरं ज्ञानवैराग्यशक्तेः सामान्यव्याख्यानार्थं सेवतो वि ण सेवदि इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापंचकं । ततः परं तयोरेव ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणार्थं परमाणुमित्तिवंपि इत्यादि तृतीयस्थले सूत्रदशकं । ततश्च मतिश्रुतावाधमनःपर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मुक्तिकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं येन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानार्थं णाणगुणेहि विहीणा इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टकं । ततः परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणार्थं णाणी रागप्पजहो इत्यादि पंचमस्थले गाथाः चतुर्दश । तदनंतरं शुद्धनयमाश्रित्य चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रितानां निश्चयनिश्शंकादृष्टगुणानां व्याख्यानार्थं सम्पादिट्ठी जीवो इत्यादि षष्ठस्थले सूत्रनवकं कथयति । इति षड्भिरंतराधिकारैः निर्जराधिकारे समुदायपातनिका ।

भूमिका—अब यहां ऐसा होने पर शृंगार रहित पात्र के समान इस रंगभूमि से शुद्धजीवस्वरूप में संवर निकल गया । अब वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप, शुद्धोपयोग लक्षणवाली जो संवर पूर्वक होने वाली निर्जरा है वह यहां प्रवेश करती है—उसमें 'उवभोज्जमिदियेहि' इत्यादि गाथा को आदि में करके दंडकों को छोड़कर पाठ के क्रम से पचास गाथा पर्यंत छह स्थलों के द्वारा निर्जरा का व्याख्यान करते हैं । उसमें द्रव्यनिर्जरा, भावनिर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का क्रम से व्याख्यान करते हैं, इस प्रकार पीठिकारूप से प्रथमस्थल में चार गाथायें हैं । इसके बाद ज्ञान और वैराग्य शक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिये 'सेवतो वि ण सेवदि' इत्यादि रूप से द्वितीयस्थल में पांच गाथायें हैं । इसके बाद उन ज्ञान और वैराग्य शक्ति को विशेषरीति से कहते हुये 'परमाणुमित्तिवंपि' इत्यादि तृतीय स्थल में दश गाथासूत्र हैं । पश्चात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांचों ज्ञान अभेदरूप से परमार्थ संज्ञक हैं और मुक्ति के लिये कारणभूत हैं । जो परमात्मपद है वह पद जिस स्वसंवेदन ज्ञानगुण से प्राप्त होता है उसका सामान्य व्याख्यान करने के लिये 'णाणगुणेहि विहीणा' इत्यादि चतुर्थस्थल में आठ गाथासूत्र हैं । उसके बाद उसी ज्ञानगुण का विशेष-विवरण करने के लिये 'णाणी रागप्पजहो' इत्यादि पांचवें स्थल में चौदह गाथासूत्र हैं । इसके बाद शुद्धनय का आश्रय लेकर चिदानंद एक स्वभाव शुद्धात्म भावना के आश्रित जो निश्चय निःशंकित आदि आठ गुण हैं उनके व्याख्यान के लिये 'सम्पादिट्ठी' इत्यादि छठे स्थल में नव गाथासूत्र कहेंगे । इस प्रकार छह अंतराधिकारों से निर्जरा अधिकार में यह समुदाय पातनिकारूप से पीठिका का कथन किया गया है ।

(उत्थानिका) —तद्यथा, अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति :—

(२०२ ज०) उवभोज्जमिदियेहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।

जं कुणदि सम्पदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥

उपभोगमिद्रियैः द्रव्याणाम-चेतनानामितरेषां ।

यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं ॥ २०२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—उवभोज्जमिदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्पदिट्ठी—सम्यग्दृष्टिः कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणां संबंधि यद्वस्तुपभोग्यं करोति । कैः कृत्वा ? पंचेन्द्रियविषयैः तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं तद्वस्तु मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानां सद्भावेन बंधकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवतीति । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति ? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः । अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं, तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः । कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टेः अनंतानुबन्धिक्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य चाऽप्रत्याख्यान-क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागादयो न संतीत्यादि । किं च

उत्थानिका—अब द्रव्यनिर्जरा को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्पदिट्ठी जं अचेदणाणं इदराणं दव्वाणं इंदियेहिं उवभोज्जं कुणदि) सम्यग्दृष्टि जो भी अचेतन और चेतन द्रव्यों का इंद्रियों के द्वारा उपभोग करता है (तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं) वह सब उपभोग निर्जरा के लिये होता है ॥ २०२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—सम्यग्दृष्टि—कर्ता जीव पंचेन्द्रियों के विषयों द्वारा चेतन-अचेतन द्रव्य संबंधि जिस वस्तु का उपभोग करता है वही वस्तु मिथ्यादृष्टि जीव के राग द्वेष मोह का सद्भाव होने से बंध का कारण है फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव के राग द्वेष मोह का अभाव होने से वही समस्त भी वस्तु निर्जरा के लिये कारण हो जाती है ।

प्रश्न—यहां आपने राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने पर निर्जरा का कारण कहा है और सम्यग्दृष्टि के तो रागादि भाव हैं तो फिर कैसे निर्जरा के लिये कारण होगा ?

उत्तर—यहां इस ग्रंथ में वास्तव में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण है और जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि हैं उनका गौणरूप से ग्रहण है और इसका समाधान तो पहले ही कहा जा चुका है ।

प्रश्न—क्या कहा है ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि के अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया,

सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बंधपूर्विका भवति । तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबन्धक इति । एवं द्रव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ २०२ ॥

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा ।

तं सुहदुक्खद्वानुत्तिग्गं वेदसि अहं णिज्जरं जादि ॥ १९४ अ० ॥

लोभ और मिथ्यात्व इनके उदय से होने वाले रागादि भाव नहीं हैं और श्रावक के अप्रत्याख्यानानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले रागादि भाव नहीं हैं। इसी प्रकार से आगे के गुणस्थानों में लगा लेना चाहिये। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि के संवरपूर्वक निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि के तो गजस्नान के समान बंधपूर्वक निर्जरा होती है। इस कारण से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अबन्धक है ऐसा समझना। इस प्रकार द्रव्यनिर्जरा के व्याख्यानरूप से एक गाथा पूर्ण हुई है ॥ २०२ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान से जितनी-जितनी प्रकृतियां बंध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं उतने-उतने कर्मों की निर्जरा हो गई है उनका आगे बंध नहीं होगा अतः सम्यग्दृष्टि के संवर पूर्वक निर्जरा होती है। किंतु मिथ्यादृष्टि के तो कर्म उदय में आकर अपना फल देकर झड़ते रहते हैं और पुनः पुनः बंधते रहते हैं इसीलिये बंधपूर्वक निर्जरा होने से वह कार्यकारी नहीं मानी गई है इसीलिये इसे हाथी के स्नान के समान कहा है क्योंकि हाथी स्नान करके पुनः अपनी सूढ़ से धूल उड़ाकर अपने ऊपर डाल लेता है अतः उसका नहाना न नहाने के समान ही हो जाता है।

यहां भूमिका में ही श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि “अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका निर्जरा प्रविशति।” अब यहां वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग लक्षणवाली निर्जरा प्रवेश करती है यह संवरपूर्वक ही होती है। यह निर्विकल्प ध्यान सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें तक रहता है। अतः इस अधिकार में मुख्य रूप से मुनियों के होने वाली निर्जरा ही विवक्षित है।

उत्थानिका—अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

(२०३)—उपभोग द्रव्य का करने से सुख-दुख उत्पन्न नियम से हों।

उन उदय प्राप्त सुख-दुखों को अनुभव करता स्वयमेव अहो ॥

इसके पश्चात् वही सुख-दुख निर्जरा रूप हो जाते हैं।

सम्यग्ज्ञानी के सभी भाव बिन बन्धन के झड़ जाते हैं ॥ १९४ ॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा ।

तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥ १९४ ॥

आत्मख्यातिः—उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातसाताविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रागादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्णः सन् बन्ध एव स्यात् । सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बन्धनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरेव स्यात् ॥ १९४ ॥

अनुष्ठुप्—

तद् ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।

यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥ १३४ ॥

अन्वयायं—(द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमात् सुखं वा दुःखं वा जायते) द्रव्यकर्मों का उपभोग करने पर नियम से सुख अथवा दुःख होता है (उदीर्णं तत् सुख-दुःखं वेदयते अथ निर्जरां याति) जीव उदय में आये हुये उन सुख या दुःख का अनुभव करता है फिर वह द्रव्यकर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाता है—झड़ जाता है ॥ १९४ ॥

आत्मख्याति—परद्रव्य को भोगते समय जीव के उस निमित्त से हुये सुखरूप अथवा दुःख-रूप भाव नियम से ही उदय में आते हैं वे साता और असाता इन दो भेदों का उल्लंघन न करने से वेदना दो भेदरूप है अर्थात् वे ही सुख अथवा दुःख रूप से उदय में आते हैं । जिस समय जीव इन भावों का अनुभव करता है तब यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो उसके रागादिभावों का सद्भाव होने से वह अनुभव—सुख-दुःख का वेदन बन्ध का निमित्त हो जाता है । वह कर्म उदय में आकर निर्जीर्ण होते हुये भी निर्जीर्ण न होता हुआ बन्धरूप ही हो जाता है । सम्यग्दृष्टि के तो रागादिभावों का अभाव हो जाने से वह कर्म का उदय बन्ध का निमित्त नहीं होकर केवल-मात्र निर्जीर्ण होता हुआ झड़ जाता है तब निर्जरा ही हो जाती है ॥ १९४ ॥

काव्यार्थ—वह निश्चित रूप से ज्ञान की ही सामर्थ्य है अथवा विराग्य की सामर्थ्य है कि कोई महापुरुष कर्म को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बंधता है ॥ १३४ ॥

भावार्थ—जब जिस कर्म का उदय आता है चाहे साता हो या असाता का, तब जीव में सुख या दुःख रूप भाव नियम से उत्पन्न होते हैं । ये भाव मिथ्यादृष्टि के राग-द्वेष आदि भाव पैदा

जो कर्मों का फल चखकर भी नव कर्मों से नहीं बंधता है ।

उसकी विराग शक्ती समझो वह सम्यग्ज्ञान में रमता है ॥

अज्ञानी प्राणी ऐसा सुन आश्चर्य चकित हो जाता है ।

लेकिन ज्ञानी शुक्लध्यानी बन आत्मा में खो जाता है ॥ १३४ ॥

(उत्थानिका) —अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्याति—

(२०३ ज०) द्रव्ये उवभुज्जन्ते नियमा जायदि सुहं च दुक्खं च ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अथ णिज्जरं जादि ॥

द्रव्ये, उवभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं च ।

तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥ २०३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—द्रव्ये उवभुज्जन्ते नियमा जायदि सुहं च दुक्खं च उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवशेन सुखं दुःखं वा वस्तुस्वभावत एव जायते तावत् । तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि निरुपरागस्वसंविधिभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्नं तत्सुखं दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति । न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति । अथ णिज्जरं जादि अथ अहो ततः कारणान्निर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्तं

करके आगे के लिये कर्मबंध करा देते हैं, पुनः झड़ जाते हैं । अतः उनकी निर्जरा होते हुये भी आगे कर्मबंध करा देने से निर्जरा न हुई के समान ही है । किंतु सम्यग्दृष्टि के उदय में आये हुए कर्म राग-द्वेष भाव उत्पन्न नहीं कर पाते हैं तभी उसके उदय में आकर झड़ जाने से निर्जरा हो गई और आगे के लिये कर्म नहीं बंधते हैं । यह सम्यग्दृष्टि अवस्था राग-द्वेष भावों को न करने वाला ग्यारहवे-बारहवें गुणस्थान में ही घटती है वहीं कर्मबंध छूटता है । कथंचित् चतुर्थगुणस्थान से अंश-अंशरूप से ही बंध से रहित होता है ऐसा समझना चाहिये ।

उत्थानिका—अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(द्रव्ये उवभुज्जन्ते नियमा सुहं च दुक्खं च जायदि) द्रव्यों का उपभोग करने पर नियम से सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं (तं सुहदुक्खं उदिण्णं वेददि अथ णिज्जरं जादि) उन उदय में आये हुये सुख-दुःख का अनुभव करता है पुनः—उन द्रव्यकर्मों की निर्जरा हो जाती है ॥ २०३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—उदय में आते हुये द्रव्य कर्मों का जीव के द्वारा उपभोग करने पर नियम से—निश्चय से साता-असाता के उदय के निमित्त से सुख अथवा दुःख वस्तु स्वभाव से जीव में होते ही हैं । राग रहित स्वसंवेदन भावना से उत्पन्न हुये पारमार्थिक सुख से भिन्न, इन उदय में आये हुये सुख अथवा दुःख को यह सम्यग्दृष्टि जीव राग-द्वेष न करते हुये हेयबुद्धि से अनुभव करता है । किंतु उसी रूप से तन्मय नहीं होता है । 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकार से 'मैं' इस प्रत्यय से—ज्ञान से अनुभव नहीं करता है । अहो ! आश्चर्य है कि इस कारण से वह

भवति । मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्ध्या, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बंधकारणं भवति । किं च, यथा कोऽपि तत्स्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति । तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति । तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात् । इति भावनिर्जराव्याख्यानं गतं ॥ २०३ ॥

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।

पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥ १९५ अ० ॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति ।

पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥ १९५ ॥

आत्मख्यातिः—यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन

कर्मोदय स्वस्थभाव से उस जीव के निर्जरा का निमित्त हो जाता है । पुनः मिथ्यादृष्टि जीव के उपादेय बुद्धि से 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रत्यय से वह कर्मोदय बंध का कारण हो जाता है । विशेष बात यह है कि जैसे कोई भी घोर यद्यपि मरना नहीं चाहता है फिर भी कोतवाल के द्वारा पकड़ा गया होने से मरण का अनुभव करता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी यद्यपि आत्मा से उत्पन्न हुये सुख को उपादेय जानता है और विषय-सुखों को हेय जानता है फिर भी चारित्रमोह कर्म रूपी तलवर—कोतवाल के द्वारा पकड़ा हुआ होने से उस कर्म का अनुभव करता है इसी कारण से वह निर्जरा का निमित्त हो जाता है । इस प्रकार भावनिर्जरा का व्याख्यान पूर्ण हुआ ॥ २०३ ॥

उत्थानिका—अब ज्ञान की सामर्थ्य दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा वैद्यः पुरुषः विषं उपभुंजानः मरणं न उपयाति) जैसे वैद्य पुरुष विष का उपभोग करता हुआ भी मरण को नहीं प्राप्त करता है (तथा ज्ञानी पुद्गलकर्मणः उदयं भुंक्ते बध्यते नैव) वैसे ही ज्ञानी पुद्गलकर्मों का उदय भोगता है फिर भी कर्मों से बंधता नहीं है ॥ १९५ ॥

आत्मख्याति—जैसे कोई विष का ज्ञाता वैद्य पर के लिये मरण का कारण ऐसे विष को भोगता हुआ भी अमोघ विद्या की सामर्थ्य से—सफल मंत्र-तंत्र के प्रयोग से विष की मारण

(२०४)—जैसे इक वैद्य पुरुष विष को खाने पर भी नहीं मरता है ।

क्योंकि विष एक रसायन बन मारण शक्ति को हरता है ॥

बस इसी तरह ज्ञानी आत्मा पुद्गलकर्मों को भोक्ता है ।

विरती भावों से कर्म भोगकर भी उनसे नहीं बंधता है ॥ १९५ ॥

निरुद्धतच्छक्तित्वात् प्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुञ्जानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वात् न बध्यते ज्ञानी ॥ १९५ ॥

(उत्थानिका) —अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

(२०४ ज०) जह विसमुपभुज्जन्ता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति ।

पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुज्जदि णेव वज्झदे णाणी ॥

यथा विषमुपभुज्जमाना वैद्यपुरुषा न मरणमुपयांति ।

पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥ २०४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह विसमुपभुज्जन्ता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति यथा विषमुपभुञ्जानाः संतो गारुडविद्यापुरुषाः, अमोघमंत्रसामर्थ्यात् नैव मरणमुपयांति । पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुज्जदि णेव वज्झदे णाणी

शक्ति को समाप्त कर देने से मरता नहीं है वैसे ही अज्ञानी जीव भी रागादि भाव के सद्भाव से पुद्गल कर्मों के उदय को भोगता है वह उदय उसके बंध का कारण है फिर भी ज्ञानी अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य से—सफल ज्ञान की सामर्थ्य से रागादि भावों का अभाव हो जाने पर उस कर्मोदय की शक्ति को समाप्त कर देने से कर्मों से नहीं बंधता है ॥ १९५ ॥

भावार्थ—अमोघविद्या उसे कहते हैं कि जो कभी असफल होवे ही नहीं, वैसे ही यहाँ ज्ञानी महासाधु का ज्ञान अमोघ ज्ञान है उसके प्रगट हो जाने से उसमें फिर कर्मों का उदय होते हुये भी उसके परिणामों में राग-द्वेष आदि भाव उत्पन्न ही नहीं होते हैं तभी उसके कर्मों का उदय फल देकर झड़ जाता है और आगे के लिये कर्म नहीं बंधते हैं किंतु अज्ञानी जीव के कर्मों के उदय से सुख-दुःख के भोगते समय हर्ष-विषाद परिणाम होते ही आगे के लिये कर्मों का बंध हो जाता है । यहाँ विष का उदाहरण दिया है । यद्यपि विष को खाने से मृत्यु होती है फिर भी यदि विष का वेत्ता कुशल वैद्य उसकी मारण शक्ति खतम कर देता है पुनः उसी से रसायन तैयार कर लेता है तो वह विष मृत्यु के बजाय जीवन बढ़ाने का—स्वस्थ करने का काम कर देता है ।

उत्थानिका—अब वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की सामर्थ्य को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह विज्जापुरिसा विसं उवभुज्जन्ता मरणं ण उवयंति) जैसे वैद्य पुरुष विष को खाते हुये भी मरण को प्राप्त नहीं करते हैं (तह णाणी पुग्गलकम्मस्सुदयं भुज्जदि णेव वज्झदे) वैसे ही ज्ञानी पुद्गल कर्मों के उदय को भोगता है फिर भी बंधता नहीं है ॥ २०४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे विष को खाते हुये भी गारुडि मंत्र के ज्ञाता मंत्रवादी पुरुष अपने अमोघमंत्र की सामर्थ्य से मरण को नहीं प्राप्त होते हैं । वैसे ही परमतत्त्वज्ञानी पुरुष शुभ अथवा

तथा परमतत्त्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफलं भुंक्ते तथापि निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानामोघमंत्रबलाच्चैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्तिव्याख्यानं गतं ॥ २०४ ॥

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।

दब्बुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥ १९६ अ० ॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।

द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥ १९६ ॥

आत्मख्यातिः—यथा कश्चित्पुरुषो मयैव प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मयैव पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यात् माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुञ्जानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यात् बध्यते ज्ञानी ॥ १९६ ॥

रथोद्धताछन्दः—नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।

ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ १३५ ॥

अशुभ कर्मों के फलों को भोगते हैं फिर भी निर्विकल्प समाधि लक्षण भेदज्ञान रूपी अमोघमंत्र के बल से कर्मों से नहीं बंधते हैं। यह ज्ञानशक्ति का व्याख्यान किया गया है ॥ २०४ ॥

उत्थानिका—अब वैराग्य की सामर्थ्य को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा पुरुषः मद्यं अरतिभावेन पिबन् न माद्यति) जैसे कोई पुरुष मदिरा को अरुचि से पीता हुआ मतवाला नहीं होता है (तथा एव द्रव्योपभोगे अरतः ज्ञानी अपि न बध्यते) उसी प्रकार से द्रव्यों के उपभोग के समय विरक्त हुआ ज्ञानी भी कर्मों से नहीं बंधता है ॥ १९६ ॥

आत्मख्याति—जैसे कोई पुरुष मदिरा के प्रति तीव्र अरुचि भाव रखते हुये उसे पीता हुआ भी तीव्र अरुचिभाव की सामर्थ्य से मतवाला नहीं होता है वैसे ही रागादि भावों का अभाव हो जाने से सर्वद्रव्यों के उपभोग के प्रति तीव्र विरक्त भाव से प्रवृत्त होता हुआ ज्ञानी पुरुष विषयों का उपभोग करता हुआ भी तीव्र वैराग्य भाव की सामर्थ्य से कर्मों से नहीं बंधता है ॥ १९६ ॥

(२०५)—ज्यों अरतिभाव से कोई पुरुष औषधि में मदिरा पान करे ।

तो भी मतवाला नहीं होता यह विरति भाव माहात्म्य अरे ॥

वैसे ही ज्ञानी विरक्त भाव से अशनपान आदिक करता ।

वह मुनि विरक्ति की शक्ति से कर्मों का बन्ध नहीं करता ॥ १९६ ॥

जब आत्मा में वैराग्य और परमार्थ ज्ञान आ जाता है ।

तब विषयों का सेवनकरते भी उसका फल नहीं पाता है ॥

मुनिजन जो अशनपान करते या सुख दुख अनुभव करते हैं ।

उनका बस यही विषय सेन्नन वे सबसे निर्मम रहते हैं ॥ १३५ ॥

(उत्थानिका) —अथ संसार-शरीरभोगविषये वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति;—

(२०५ ज०) जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दब्बुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।

द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥ २०५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो यथा कश्चित् पुरुषो व्याधिप्रतीकारनिमित्तं मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौषधं निक्षिप्य मद्यं पिबन्नपि रतेरभावात् माद्यति । दब्बुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पंचेन्द्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता यावतांशेन निर्विकारस्वसंवित्तिशून्यबहिरात्मजीवापेक्षया रागभावं न करोति, तावता तावतांशेन कर्मणा न बध्यते । यदा तु हर्षनिष्ठादिरूपसमस्तवितर्कलक्षणालग्नित्परमयोगलक्षणभेदज्ञानबलेन सर्वथा वीतरागो भवति ।

इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—यह मनुष्य विषयों का सेवन करते हुये भी उस विषय सेवन के अपने फल को ज्ञान के वैभव और वैराग्य के बल से नहीं भोगता है अतः यह विषयों का सेवन करने वाला होते हुये भी सेवन करने वाला नहीं होता है ऐसा समझना ॥ १३५ ॥

भावार्थ—काव्य के टीकाकार श्री शुभचंद्राचार्य ने यहां विषयसेवन का अर्थ 'सुख दुःख आदि का अनुभव' किया है । जोकि पुनियों में भी घटित हो जाते हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब संसार शरीर और भोग के विषय में वैराग्य को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह अरदिभावेण मज्जं पिवमाणो पुरिसो ण मज्जदि) जैसे अरतिभाव से मद्य को पीता हुआ पुरुष उन्मत्त नहीं होता है (तहेव दब्बुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि) वैसे ही द्रव्यों का उपभोग करते हुये भी विरक्त हुआ ज्ञानी भी कर्मों से नहीं बंधता है ॥ २०५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे कोई पुरुष रोग को दूर करने के लिये मदिरा में मदिरा के प्रतिपक्षी ऐसी औषधियों को मिलाकर उस मदिरा को पीते हुये भी उसमें प्रीति का अभाव होने से वह मत्तवाला नहीं होता है—उसे मदिरा से उन्मत्तता नहीं होती है वैसे ही परमात्मतत्त्व का ज्ञानी पुरुष पंचेन्द्रियों के विषयभूत भोजन-पान आदि द्रव्यों का उपभोग करते हुये भी निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान से शून्य जो बहिरात्मा जीव है उसकी अपेक्षा से जितने-जितने अंश से राग भाव नहीं करता है उतने-उतने अंशों में ही वह कर्मों से नहीं बंधता है । और जब वही ज्ञानी

तदा सर्वथा न बध्यते इति वैराग्यशक्तिव्याख्यानं गतं । एवं यथाक्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्य-
शक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥ २०५ ॥

हर्ष-विषाद आदिरूप समस्त विकल्प जाल से रहित परमयोग लक्षणवाले भेदज्ञान के बल से सर्वथा वीतरागी हो जाता है तब सर्वथा कर्मों से नहीं बंधता है । इस प्रकार यहां वैराग्य की शक्ति का व्याख्यान किया गया है । इस तरह यथा क्रम से द्रव्यनिर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञान शक्ति और वैराग्य शक्ति के प्रतिपादनरूप से इस निर्जरा अधिकार में तात्पर्य व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें हुई हैं ॥ २०५ ॥

विशेषार्थ—आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने यहां ज्ञान की सामर्थ्य को बतलाते हुये गाथा में विष के उपभोग करने वाले वैद्य का उदाहरण दिया है । उसके बारे में विचार करने से यह प्रतीत होता है कि सामान्य मनुष्य या सामान्य वैद्य भी विष के खाने से मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं किंतु कोई विशेष विद्वान वैद्य ही ऐसे हैं जो कि विष में जो मारण शक्ति है किन्हीं औषधि या मंत्रादि के प्रयोग से उसे खत्म करके उसको खाते हुये भी मरने के बजाय आरोग्य लाभ कर लेते हैं ।

चूंकि श्री अमृतचंद्रसूरि ने टीका में कहा है कि “विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्या-
सामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते ।” वह कुशल विषवेत्ता वैद्य किसी अमोघ—सफल विद्या की सामर्थ्य से विष को खाते हुये भी विष की मारक शक्ति को नष्ट कर देने से वह मरता नहीं है वैसे ही “अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति” ज्ञानी भी अमोघ—सफल—अचूक ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य से रागादिभावों का—राग द्वेष, मोह भावों का अभाव हो जाने से कर्मों से नहीं बंधता है । यहां अमोघ शब्द ज्ञान के साथ लगा देने से और रागादि का अभाव कह देने से स्पष्ट हो जाता है कि यह ज्ञान हम और आप जैसे लोगों का नहीं हो सकता है ।

इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि “वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं” यह वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान महामुनि के ही होगा । आगे भी इसी गाथा की टीका में कहते हैं कि ‘परमतत्त्वज्ञानी’ “निर्विकल्प-समाधिलक्षणभेदज्ञानामोघमंत्रबलात्रैव बध्यते” निर्विकल्प समाधि स्वरूप जो भेदज्ञान है वही अमोघमंत्र है—अचूक मंत्र है उसी के बल से वे शुभ अशुभ कर्मों को भोगते हुये भी कर्मों से नहीं बंधते हैं । यह भेदज्ञान भी शुद्धोपयोग में स्थित महामुनि के ही हो सकता है ।

इसी प्रकार आगे गाथा में वैराग्य की सामर्थ्य दिखलाते हुये श्री कुंदकुंददेव ने स्वयं कहा है कि “मदिरा को अरतिभाव से पीते हुये जैसे मनुष्य उन्मत्त नहीं होता है ।” यह उदाहरण भी विचारणीय है । क्या मदिरा पीने वाले मद्यपायी—शराबी लोग कभी अरतिभाव से मदिरा पियेंगे ? नहीं, वे तो प्रीति से ही पीते हैं । यहां यह प्रश्न सहज उठता है कि बिना जाने भी यदुकुमारों ने पर्वत की कंदराओं में पड़ी हुई मदिरा को जल समझ कर पिया था न कि मदिरा

अथैतदेव दर्शयति—

सेवन्तोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई ।

पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥ १९७ अ० ॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।

प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥ १९७ ॥

समझकर । फिर भी वे उन्मत्त हो गये, मदिरा ने अपना असर दिखाया और उन्होंने बेभान हो श्रीद्वीपायन मुनि पर उपसर्ग कर दिया जिससे सारी द्वारिका का विनाश हो गया ।

यहां श्री अमृतचंद्रसूरि ने जो यह कहा है कि “प्रवृत्ततीव्रारतिभावः “मदिरा के प्रति तीव्र अरतिभाव से प्रवृत्त हुआ पुरुष पीते हुये भी उन्मत्त नहीं होता है । वैसे ही ‘तीव्रविरागभावसामर्थ्यात्’ तीव्र—उत्कृष्ट वैराग्य भाव की सामर्थ्य से ‘ज्ञानी न बध्यते’ ज्ञानी आत्मा कर्मों से नहीं बंधता है । यह उत्कृष्ट वैराग्य भाव चौथे, पांचवे गुणस्थान में संभव नहीं है, प्रत्युत महामुनियों के ही संभव है । शायद इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि ‘मदिरा में मादक शक्ति की प्रतिपक्षभूत औषधि मिलाकर कोई मनुष्य रोग के दूर करने के लिये औषधि रूप में यदि उस मदिरा को पीता है तो वह उन्माद नहीं लाती है ।’ अतः यह बात हम लोगों को सहज ही समझ में आ जाती है कि ‘मदिरा के प्रति अरतिभाव’, रोगी के लिये ही संभव है वही औषधि में मिश्रित मदिरा को बिना रुचि के पीता है ।

आगे श्री जयसेनस्वामी ने कहा है कि ‘पंचेन्द्रिय के विषयों का उपभोग करते हुये भी यह मनुष्य जितने अंश में राग भाव को नहीं करता है उतने अंशों में ही कर्मों से नहीं बंधता है ।’ यह व्यवस्था चतुर्थ-पंचम और छठे-सातवें गुणस्थानों में घट जायेगी । पुनः कहा है कि ‘निर्विकल्प ध्यान में यह पूर्ण खीतरागी हो जाता है तब सर्वथा कर्मों से नहीं बंधता है’ यह अवस्था ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही होती है । इसी प्रकार से ज्ञान और वैराग्य ये दोनों जब एक साथ रहते हैं तभी यह आत्मा निर्जरा का पात्र होकर कर्मों से छूटता है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब इसी अर्थ को दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(कश्चित् सेवमानोऽपि न सेवते) कोई विषयों का सेवन करते हुये भी नहीं सेवन करता है (असेवमानः अपि सेवकः) कोई सेवन न करते हुये भी सेवन करने वाला होता है (कस्य अपि प्रकरणचेष्टा च सः प्राकरणः इति न भवति) किसी पुरुष के जैसे कार्य की क्रिया तो है फिर भी वह कार्य करने वाला है ऐसा नहीं होता है ॥ १९७ ॥

(२०६)—कोई तो विषयों का सेवन करने पर भी सेवक नहीं है ।

कोई सेवन नहीं करने पर भी सेवक संज्ञा से युत है ॥

प्रकरण के भी अनुसार किसी की कार्यचेष्टा दिखती है ।

फिर भी स्वामित्व भाव नहीं होने से विरक्ति ही रहती है ॥ १९७ ॥

आत्मख्यातिः—यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः । तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसञ्चितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव । मिथ्यादृष्टिस्तु विषयान्सेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ॥ १९७ ॥

मंदाक्रांता छंदः—सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः

स्वं वस्तुत्वं कर्तव्यं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।

यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च

स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥ १३६ ॥

आत्मख्यातिः—जैसे कोई मनुष्य किसी प्रकरण—कार्य की क्रिया में व्यापार करता हुआ भी उस क्रिया को करता हुआ भी—उस प्रकरण—क्रिया का स्वामी न होने से वह उस प्राकरणिक—क्रिया का कर्ता नहीं कहलाता है और अन्य कोई मनुष्य उस क्रिया में प्रवृत्ति न करता हुआ भी उसका स्वामी होने से उस क्रिया का प्राकरणिक होता है—कर्ता माना जाता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि पूर्व में संचित किये गये कर्मों के उदय से प्राप्त हुये विषयों को सेवन करता हुआ भी रागादि भावों के अभाव से विषय सेवन के फल का स्वामी न होने से वह सेवन करने वाला नहीं है और मिथ्यादृष्टि तो विषयों का सेवन नहीं करते हुये भी रागादि भावों का सद्भाव होने से विषय सेवन के फल का स्वामी है अतः वह सेवन करने वाला ही है ॥ १९७ ॥

इसे ही कलश काव्य में दिखलाते हैं—

काव्यार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अभ्यास करने के लिये अपने स्वरूप को ग्रहण करके पर के स्वरूप को छोड़ देता है । इसी कारण वह अपने और पर के भेद को वास्तविक रीति से जानकर अपने में ही स्थित होता है तथा अन्य रागादि के संयोग से सब प्रकार से विरक्त हो जाता है ॥ १३६ ॥

भावार्थः—जो सम्यग्दृष्टि है वह ज्ञान के बल से स्व और पर को जान लेता है पुनः वैराग्य के बल से स्व में ही रहता है अन्य रागादि पर भावों को छोड़ देता है । यह ज्ञान और वैराग्य का समन्वय ही कर्मबंध से दूर कर निर्जरा करा देता है । मात्र कोरे ज्ञान से निर्जरा नहीं होती है ।

सम्यग्दृष्टी के निश्चित ही वैराग्य ज्ञान शक्ती रहती ।

जिसके द्वारा निज पर स्वरूप के भावों की व्यक्ती रहती ॥

निज पर स्वरूप को जान मुनी आत्मस्वरूप में रमता है ।

पर को अपने से भिन्न ज्ञान उनसे विरक्त वह रहता है ॥ १३६ ॥

(उत्थानिका) —अथैतदेव वैराग्यशक्तिस्वरूपं विवृणोति:—

(२०६ ज०) सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोवि ।

पगरणचेट्टा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि ॥

सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।

प्रकरणचेष्टा कस्यापि, न च प्राकरिणिक इति स भवति ॥ २०६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वकीयगुणस्थानयोग्याशनपानादिपंचेन्द्रियभोगं सेवन्नपि सेवको न भवति । अन्यः पुनरज्ञानी कश्चिद् रागादिसद्भावादसेवन्नपि सेवको भवति । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति । पगरणचेट्टा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि यथा कस्यापि परगृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति, तथापि विवाहादिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्राकरिणिको न भवति । अन्यः पुनः प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्राकरिणिको भवति । तथा परमतत्त्वज्ञानी सेवमानोऽपि सेवको भवति । अज्ञानी जीवो रागादिसद्भावादसेवकोऽपि सेवक इति ॥ २०६ ॥

उत्थानिका—अब इसी वैराग्यशक्ति का स्वरूप दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(कोवि सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो) कोई सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करने वाला हो जाता है (कस्सवि पगरणचेट्टा य सो पायरणोत्ति ण होदि) किसी पुरुष के कार्य की चेष्टा तो है फिर भी वह उस क्रिया को करने वाला नहीं होता है ॥ २०६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—निर्विकार स्वसंवेदक ज्ञानी जीव अपने गुणस्थान के योग्य भोजन-पान आदि पांचों इंद्रियों के भोगों का सेवन करते हुये भी सेवन करने वाला नहीं होता है । पुनः अन्य कोई अज्ञानी जीव रागादि भावों का सद्भाव होने से विषयों का सेवन न करते हुये भी सेवन करने वाला हो जाता है । इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—जैसे कोई पर घर से आया हुआ है उसकी भी इस घर में विवाह आदि के कार्यों में प्रवृत्ति तो हो रही है फिर भी वह विवाह आदि प्रकरण का स्वामी नहीं है अतः प्राकरिणिक—उन प्रकरण संबंधी क्रियाओं का कर्ता नहीं होता है । किंतु अन्य जो कोई मनुष्य उस प्रकरणरूप क्रिया का स्वामी है वह नृत्य-गीत आदि तत्प्रकरण संबंधी क्रियाओं को नहीं करते हुये भी प्रकरण संबंधी राग के सद्भाव से प्राकरिणिक—उस प्रकरण क्रिया का कर्ता माना जाता है वैसे ही परमात्मतत्त्व का ज्ञानी जीव इन विषयों का सेवन करने वाला होते हुये भी सेवन करने वाला नहीं है और अज्ञानी जीव रागादि भावों के सद्भाव से इन विषयों का सेवन नहीं करते हुये भी सेवन करने वाला हो जाता है ऐसा समझना ॥ २०६ ॥

विशेषार्थ—यहां श्रीजयसेनाचार्य ने निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव को विषयों का सेवन करने वाला होते हुये भी असेवक माना है। यह सप्तम आदि गुणस्थान की अपेक्षा से समझ में आता है। हाँ, वही छठे में आकर आहार-विहार आदि करते हुये भी छठे-सातवें गुणस्थान में चढ़ते-उतरते रहने से आहारादि संबंधी गृद्धि का अभाव होने से—मात्र संयम की रक्षा हेतु आहार की भावना होने से वह सेवन करने वाला नहीं भी है।

यहां ज्ञानशक्ति से विशेष भेदज्ञान कहा गया है और वैराग्यशक्ति से वैराग्य प्राप्तकर घर कुटुंब छोड़कर दीक्षा लेकर मुनि बनना ऐसा अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि यहां प्रकरण मुनियों का ही है। हां, अंशात्मक श्रावकों में घटाया जा सकता है। अतः सम्यग्दृष्टि श्रावक को भी लिया जा सकता है जैसे कि—

“गेही पै गृह में न रचे ज्यों जल तें भिन्न कमल है।

नगर नारि को प्यार यथा कादे में हेम अमल है॥”

यहां तीन उदाहरण दिये हैं 'जो गृहस्थ होकर भी घर में अत्यंत रागी नहीं हैं—विरक्तमना है वह जल से भिन्न कमल के समान अलिप्त है, वेश्या जैसे किसी पर प्रेम करती है तो धन के लोभ से करती है उसका सच्चा प्रेम नहीं है वैसे ही वह गृहस्थ भी घर में प्रेम करते हुये कर्मों की जबरदस्ती से रहता है उसका सच्चा प्रेम अपनी आत्मा पर रहता है। तीसरे उदाहरण में जैसे सुवर्ण कीचड़ में पड़ा हुआ भी अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता है। इसी के पोषण में एक किंवदंती प्रचलित है कि "भरत जी घर में ही वैरागी।" इस सूक्ति के अनुसार कोई विद्वान् उनसे प्रश्न करने लगे तब भरतजी ने उनसे कहा—“भाई ! आप एक कटोरा पूरा भरा हुआ तेल से सहित लेकर मेरे पूरे राजमहल में और कटक में घूम कर आ जावो, पर हां, देखो, तेल की एक बूंद भी जमीन पर गिरने न पावे अन्यथा साथ में चलता हुआ सिपाही उसी क्षण तुम्हारा शिर धड़ से अलग कर देगा।” वे महानुभाव इस कहे अनुसार तेल से परिपूर्ण कटोरे को लेकर सारी जगह घूमकर आ गये पुनः भरतजी ने पूछा—कहिये, क्या क्या देखा ? तब उसने कहा— राजन् ! मैंने कुछ भी नहीं देखा। अरे क्यों ? तब उसने कहा—राजन् ! मुझे तो यही चिंता थी कि कहीं कटोरे से यदि एक बूंद भी गिर गई तो मेरी मृत्यु निश्चित है अतः मैं कटोरे की संभाल में ही संलग्न रहा। तब भरत ने कहा—भाई ! ऐसे ही मैं भी इन सारे चक्रवर्ती के भोगों को भोगते हुये भी नरक जाने के डर से अपनी आत्मा के उपयोग में, उसकी भावना में, चिंतन-मनन में तत्पर रहता हूं अतएव मुझे लोग वैरागी कह देते हैं। अस्तु, जो भी हो इतना तो कहना ही पड़ेगा कि भरत चक्रवर्ती जैसा उदाहरण इस युग में एक ही है। यह चतुर्थकाल ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का था। तीसरे काल में

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणओ जिणवरेहिं ।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिव्वको ॥ १९८ अ० ॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।

न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥ १९८ ॥

आत्मख्यातिः—ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायक-
भावस्वभावोऽहं ॥ १९८ ॥

चौरासी लाख वर्ष पूर्व से अधिक काल शेष रहने पर भगवान आदिनाथ हुये थे । अतः तबसे लेकर भगवान महावीर तक भरत जैसे कोई अन्य महापुरुष का उदाहरण पढ़ने में नहीं आया कि जिनने दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट कर लिया हो । भरत सम्राट् क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, पंचमगुणस्थानवर्ती ब्रती थे और भगवान के समवसरण में प्रगाढ़ भक्ति के प्रभाव से देशावधि नामक अवधिज्ञान से सहित हो चुके थे । इन्होंने पूर्व भवों में भी कई भवों तक दिगंबर मुनि बन-बन कर घोर तपश्चर्या करके कर्मों को अतीव हल्का कर लिया था । कहां इस कोड़ाकोड़ी सागर के असंख्यात वर्षों में असंख्यातों मोक्षगामी जीवों में वे एक पुरुष ? और कहां हम और आप जैसे क्षुद्रमानव ? अतः उनका उदाहरण लेकर अपनी आत्मा की वंचना नहीं करनी चाहिये । हां, जितना अधिक बन सके उतने अधिकरूप में अपने ज्ञान और वैराग्य को वृद्धिगत करते हुये कषायों को मंद करते रहना चाहिये ।

उत्थानिका—सम्यग्दृष्टि आत्मा सामान्य से स्व और पर को इस प्रकार जानता है—

अन्वयार्थ—(जिनवरैः कर्मणां उदयविपाकः विविधः वर्णितः) जिनेन्द्रदेव ने कर्मों के उदय का फल अनेक प्रकार का कहा है । (ते तु ममस्वभावाः न) वे तो मेरे स्वभाव नहीं हैं (अहं तु ज्ञायकभावः एकः) मैं तो एक ज्ञायकभाव स्वरूप हूँ ॥ १९८ ॥

आत्मख्याति—जो कर्मों के उदय से उत्पन्न हुये विविध प्रकार के भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं मैं तो प्रत्यक्ष में टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाला ही हूँ । अर्थात् जैसे टांकी से उकेरा हुआ पाषाणबिंब एक जैसा ही रहता है वैसे ही मैं एक ज्ञाता—जानने मात्र स्वभाववाला ही हूँ ॥ १९८ ॥

(२०७)—कर्मों का उदय विपाक जिनेश्वर ने है विविध प्रकार कहा ।

मेरे स्वभाव वे भी नहीं हैं मैंने तो सहज स्वभाव लहा ।

मैं तो बस एक मात्र ज्ञायक चैतन्यरूप परमात्मा हूँ ।

ज्ञानी ऐसा चिन्तन करता मैं कर्मरहित शुद्धात्मा हूँ ॥ १९८ ॥

(उत्थानिका) —अथ सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति—

(२०७ ज०) उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।

न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायक—भावस्त्वहमेकः ॥ २०७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं उदयविपाको विविधो नानाप्रकारः कर्मणां संबंधी वर्णितः कथितः, जिनवरैः, ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ते कर्मोदयप्रकारः कर्मभेदा मम स्वभावा न भवन्ति इति । कस्मात् ? इति चेत्, टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावोऽहं यतः कारणात् सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वरूपावेवं जानाति इति भणितं । कथं सामान्यं ? इति चेत् क्रोधोहं मानोहमित्यादि विवक्षा नास्तीति । तदपि कथमिति चेत् “विवक्षाया अभावः सामान्यमिति वचनात् ।” एवं भेदभावनारूपेण ज्ञानवैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतं ॥ २०७ ॥

उत्थानिका—अब सम्यग्दृष्टि सामान्यतया अपने और पर के स्वभाव को अनेक प्रकार से—भिन्न-भिन्न प्रकार से जानता है—

अन्वयार्थ—(जिणवरेहिं कम्माणं उदयविवागो विविहो वणिणदो) जिनेन्द्रदेव ने कर्मों के उदय का फल विविध प्रकार का कहा है (ते दु मज्झ सहावा ण अहमिक्को जाणगभावो दु) वे तो मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं एक ज्ञायक भाव वाला ही हूँ ॥ २०७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जिनेन्द्रदेव ने कर्मों के उदय का विपाक—रस—फल नाना प्रकार का कहा है । वे नाना विध कर्मों के सभी भेद मेरे स्वभाव नहीं हैं क्योंकि मैं टंकोत्कीर्ण परमानंदस्वरूप ज्ञायक एकरसभाववाला ही हूँ । यहां सम्यग्दृष्टि सामान्य से अपने और पर के स्वरूप को इस प्रकार से जानता है ऐसा कहा गया है ।

प्रश्न—यहां सामान्य का क्या अर्थ है ?

उत्तर—यहां पर मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ, इत्यादि विवक्षा नहीं है । और विवक्षा के अभाव को ही सामान्य कहते हैं ऐसा समझना । इस प्रकार से भेदभावनारूप से ज्ञान और वैराग्य के सामान्य व्याख्यान की मुख्यता से पांच गाथायें हुई हैं ॥ २०७ ॥

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं तावज्जानाति—

पुद्गलकर्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।

ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥ १९९ अ० ॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।

नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥ १९९ ॥

आत्मख्यातिः—अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोहं । एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्म-नोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि । एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुचंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यं—संपन्नो भवति ॥ १९९ ॥

(भूमिका) —इत ऊर्ध्वं गाथादशकपर्यंतं पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणं करोति ।

उत्थानिका—सम्यग्दृष्टि अपने को और पर को विशेषरीति से इस प्रकार जानता है—

अन्वयार्थ—(रागः पुद्गलकर्म तस्य एषः विपाकोदयः भवति) राग पुद्गलकर्म है उसके विपाक का यह उदय होता है । (एषः मम भावः तु न) यह राग तो मेरा भाव नहीं है (अहं खलु एकः ज्ञायकभावः) मैं निश्चित ही-एक ज्ञायक भाव हूँ ॥ १९९ ॥

आत्मख्याति—यह राग नाम का जो पदार्थ है वह पुद्गलकर्म है, उसके उदय के अनुभव से उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव होता है, यह मेरा स्वभाव नहीं है । मैं तो प्रत्यक्ष गोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाला ही हूँ । इसी प्रकार से राग पद का परिवर्तन करके उसके स्थान में द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इंद्रिय इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । इसी दिङ्मात्र कथन से अन्य भी अनेक भावों को समझना चाहिये । इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने स्वरूप को जानता हुआ और रागभाव को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान और वैराग्य से संपन्न होता है ॥ १९९ ॥

(भूमिका)—इसके बाद में दशगाथापर्यंत पुनः ज्ञान वैराग्य शक्ति का विशेष कथन करेंगे ।

(२०८)—सम्यग्दृष्टी निज पर के भेद ज्ञान में तत्पर रहता है ।

है पुद्गल कर्म राग उसका फल उदय स्वयं अनुभवता है ॥

फिर भी ये मेरे भाव नहीं नहिं इन भावों का कर्ता मैं ।

मैं ज्ञायक एक स्वभावी हूँ अगणित गुणमणि का भर्ता मैं ॥ १९९ ॥

(उत्थानिका) —अथ सम्यग्दृष्टिः स्वरपरस्वरूपमेवं विशेषेण जानाति—

(२०८ ज०) पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो ।

ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥

पुद्गल कर्म क्रोधस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।

नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥ २०८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो पुद्गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाकः फलरूप उदयो भवति । स कः ? शांतात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एषः अक्षमारूपो भावः क्रोधः ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को न वैष मम भावः । कस्मात् ? इति चेत् टंकोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकभावोऽहं यतः । किं च—पुद्गलकर्मरूपः क्रोधः क्वास्ते ? भावरूप एव दृश्यते इति ? नैव । पुद्गलपिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यक्षाक्षमारूपः स भावक्रोधः । इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं तिष्ठति । कथं ? इति चेत् “पुग्गलपिण्डो दब्बं तस्सत्ती भावकम्मं तु” इत्यादि । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि षोडशसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानिति ॥ २०८ ॥

उत्थानिका—अथ सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरीति से स्व और पर के स्वरूप को इस प्रकार से जानता है—

अन्वयार्थ—(कोहो पुग्गलकम्मं तस्स विवागोदयो एसो हवदि) क्रोध यह पुद्गलकर्म है इसके उदय का फल यह क्रोध होता है (एस दु मज्झ भावो ण दु अहमिक्को जाणगभावो) ‘यह मेरा स्वभाव नहीं है मैं तो एकाकी ज्ञायक भाव वाला ही हूँ ॥ २०८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—पुद्गलकर्मरूप जो वह द्रव्यक्रोध जीव में पूर्व से बंधा हुआ स्थित है उसका विशिष्ट पाक—विपाक वही फलरूप उदय कहलाता है वह उदयरूप में आया हुआ क्रोध अक्षमारूप भाव है जो शांत आत्मतत्त्व से पृथग्भूत संसारी आत्मा का ही परिणाम है । यह भावक्रोध मेरा भाव नहीं है क्योंकि मैं तो टंकोत्कीर्ण परमानंद ज्ञायक एक भाववाला ही हूँ ।

प्रश्न—पुद्गलकर्मरूप क्रोध भला कहां स्थित है ? भावरूप क्रोध ही तो दिखायी देता है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, पुद्गलपिण्डरूप द्रव्यक्रोध है और उसके उदय से होने वाला जो अक्षमारूप—क्षमा से रहित भाव है वह भावक्रोध है इस प्रकार का व्याख्यान तो पहले ही कहा गया है । जो कि ‘पुग्गलपिण्डो दब्बं तस्सत्ती भावकम्मं तु’ इत्यादि गोम्पटसार कर्मकांड की गाथा के आधार से है अर्थात् पुद्गलपिण्डरूप द्रव्यकर्म है और उनमें फल देने की जो शक्ति है वह भावकर्म है इत्यादि । इसी प्रकार से क्रोधपद का परिवर्तन करके गाथा में मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शनेन्द्रिय नामवाले ऐसे सोलह सूत्रों का व्याख्यान कर लेना चाहिये । इसी प्रकार से अन्य और भी

(उत्थानिका) —अथ कथं तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति—

(२०९ ज०) कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो ।

परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी ।

कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः ।

परद्रव्याणामुपयोगो न तु देहो भवति अज्ञानी ॥ २०९ ॥

तत्पर्यवृत्ति—कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो कथमेष विविधकर्मोदयफल-
विपाकस्तव स्वरूपं न भवतीति केनापि पृष्टः तत्रोत्तरं ददाति परदव्वाणुवओगो निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्व-

असंख्यात लोकमात्र प्रमाण विभाव परिणाम स्थान होते हैं उन्हें जानकर सभी को छोड़ना चाहिये ॥ २०८ ॥

भावार्थ—यहां गाथा में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने राग पद माना है अतः राग से अतिरिक्त द्वेषादि सोलह नाम गिनाये हैं तथा श्री जयसेनाचार्य ने 'क्रोध' पद माना है और मानादि से लेकर सोलह पद गिनाये हैं। जो भी हो यह अंतर यद्यपि विशेष अंतर नहीं है फिर भी अंतर तो अंतर ही है। यहां यह भी समझ में आता है कि इस तरह जो सोलह पद—मान आदि को परिवर्तित कर-करके गाथायें बनायी जाती हैं वे ही दण्डक सूत्र गाथायें कहलाती हैं। जैसे कि—

पुग्गलकम्मं माणो, तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।

ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ १ ॥

ऐसी गाथायें आत्मचिंतन के लिये बहुत ही उपयोगी हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—कैसे ये भाव तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव, भेदभावनारूप से उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(विविहो कम्मोदयफलविवागो एस कह तुज्झ ण हवदि) नाना प्रकार का यह कर्मोदय से होने वाला फलरूप जो विपाक है वह तुम्हारा क्यों नहीं है ? (परदव्वाणुवओगो ण दु देहो अण्णाणी हवदि) यह परद्रव्यों का उपयोग—उदय है अतः देह भी ज्ञानरहित है वह भी मेरा नहीं है ॥ २०९ ॥

तत्पर्यवृत्ति—यह प्रत्यक्षगोचर हुआ अनेकप्रकार का जो कर्मों के उदयस्वरूप फल का विपाक है वह तुम्हारा स्वरूप क्यों नहीं है ? ऐसा किसी ने पूछा तब आचार्य देव उत्तर देते हैं कि निर्विकार परमाह्लाद एक लक्षण वाले ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से पृथग्भूत ये परद्रव्यरूप कर्म हैं वे

(२०९)—नाना कर्मोदय फलविपाक तेरे स्वभाव कैसे नहि हैं ?

तू ही तो उनका कर्ता है तो भोक्ता भी कैसे नहि है ?

ऐसा पूछे जाने पर ज्ञानी सब पर को जड़ कहता है ।

सारे औपाधिक भाव और निज तन को भी पर कहता है ॥

शुद्धात्मद्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठन्ति तेषामुपयोग उदयोयं औपाधिकस्फटिकस्य परोपाधिवत् । न केवलं भावक्रोधादि मम स्वरूपं न भवति इति न तु देहो ह्यदि अप्याणी देहोऽपि मम स्वरूपं न भवति तु स्फुटं । कस्मादिति चेत् अज्ञानी जडस्वरूपो यतः कारणात् अहं पुनः अनंतज्ञानादिगुणस्वरूप इति ॥ २०९ ॥

एवं सम्महिद्वी अप्याणं मुणदि जाणयसहावं ।

उदयं कम्मविपाकं य मुअदि तत्त्वं विद्याणंतो ॥ २०० अ० ॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं ।

उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन् ॥ २०० ॥

आत्मख्यातिः—एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानन् स्वपरभावोपादानापोहननिष्ठाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्याभ्यां संपन्नो भवति ॥ २०० ॥

जीव में लगे हुये हैं— स्थित हैं उनका जो यह उदय है वह औपाधिक है जैसे स्फटिक में लगी हुई अन्य उपाधि के संसर्ग से स्फटिक लाल पीला हो जाता है वैसे ही ये पौद्गलिककर्मों के उदय से हुये भाव औपाधिक हैं । ये भावक्रोध आदि विभाव परिणाभ ही मेरे स्वरूप नहीं है मात्र इतनी ही बात नहीं है किंतु यह शरीर भी मेरा स्वरूप नहीं है यह स्पष्ट है क्योंकि यह अज्ञानी है—जड स्वरूप है और मैं तो अनंतज्ञान आदि गुणस्वरूप हूँ ॥ २०९ ॥

उत्थानिका—अब सम्यग्दृष्टि का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थः—(एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं ज्ञायकस्वभावं जानाति) इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपनी आत्मा को ज्ञायक स्वभाव जानता है । (च तत्त्वं विजानन् उदयं कर्मविपाकं मुंचति) और वास्तविक तत्त्व को जानते हुये उदयस्वरूप कर्म के फल को छोड़ देता है ॥ २०० ॥

आत्मख्यातिः—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य और विशेष रीति से परस्वभावरूप सभी भावों से भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव स्वभाववाले अपनी आत्मा के तत्त्व को—वास्तविकस्वरूप को जानता है । उसी प्रकार से निजतत्त्व को जानते हुये अपने स्वभाव को ग्रहण करना तथा पर के स्वभाव को छोड़ देना ऐसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले अपने वस्तु स्वरूप को प्रसिद्ध करता हुआ—प्रगट करता हुआ कर्मों के उदय के फलस्वरूप से उत्पन्न हुये समस्त भी

(२१०)—यों सम्यग्दृष्टि निजात्मा को ज्ञायक स्वभाव मय जान रहा ।

वह वस्तु तत्त्व के यथारूप को जान रहा अरु मान रहा ॥

इस ज्ञान के प्रतिफल में वह कर्मविपाक आदि भी तज देता ।

तत्त्वों का ज्ञाता हो करके निज सहज रूप को वर लेता ॥ २०० ॥

मंदाक्रान्ताछंद—सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या—

दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरंतु ।

आलंबतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा

आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७ ॥

परभावों को छोड़ देता है और इसी हेतु से यह नियम से ज्ञान और वैराग्य से संपन्न होता है ऐसा समझना ॥ २०० ॥

इसी को कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—‘मैं यह सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बंध नहीं होता है’ ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों का भी उत्कृष्टरीति से अवलंबन लेवें तो भी वे अभी भी पापी ही हैं क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यग्दर्शन से ही रिक्त हैं ॥ १३७ ॥

विशेषार्थ—यहां आचार्य श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि ‘कोई कहे कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ मुझे कर्मबंध नहीं होता है’ यह कहकर वह भले ही महाव्रत, समिति आदि व्रतों का धारक मुनि है तो भी यदि आत्मा और पुद्गल के भेदज्ञान से रहित है तो न वह सम्यग्दृष्टि ही है और न वह बंध से ही रहित है। इससे यह स्पष्ट है कि यह ग्रंथ उन महाव्रत-समिति में तत्पर मुनियों के लिये ही है जो सच्चे भेदज्ञानी होकर सम्यग्दृष्टि बनते हैं, वे ही वीतरागी होकर कर्मबंध से छूट सकते हैं।

यहां समिति सहित मुनि को पापी क्यों कहा ? ऐसे प्रश्न का समाधान यही है कि उनके अहंकार और ममकार भाव हैं तथा सम्यक्त्व नहीं है इसीलिये वे पापी हैं क्योंकि मिथ्यात्व भी पाप ही है।

इन कलशों की टीका करने वाले श्रीशुभचंद्राचार्य ने कहा है कि “ते पापाः पाप-कर्मयुक्ताः । कुतः ? यतः कारणादहंकाराद्यशुभकर्ममयत्वात्” वे पापी हैं पापकर्मों से युक्त हैं क्योंकि वे अहंकार आदि अशुभकर्ममय हैं।

यहां पर यह समझना विशेष है कि जो सरागी मुनि हैं महाव्रत, समिति आदि व्यवहार चारित्र में तत्पर हैं फिर भी ‘मैं सम्यग्दृष्टि हूँ मुझे कदाचित् भी कर्मबंध नहीं होता।’ ऐसा अहंकार करके ऊँचा मुख करते हुये अहंकार से चूर हो रहे हैं उनको ही यहां पापी कहा है।

जो कहता मैं सम्यग्दृष्टी मेरे कर्मों का बंध नहीं।

सम्यक्त्वी सदा अबन्धक है यह मान गर्वयुत मुखाकृती ॥

कितना ही खुश हो वह अपने व्रत समिती का पालन कर ले।

फिर भी पापात्मा कहलाता क्योंकि सम्यक्त्वशून्य वह है ॥ १३७ ॥

पहली बात तो यह है कि सरागसंयमी मुनियों के दसवें गुणस्थान तक अपने-अपने गुणस्थानों के अनुसार कर्मों का बंध हो रहा है। छठे गुणस्थान में त्रिरेसठ प्रकृतियों का बंध^१ हो रहा है ऐसा कर्मकांड का नियम है पुनः यदि अहंकारवश कोई मुनि अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर 'सर्वथा मेरे बंध नहीं है', मान लेवे तो आगम की आज्ञा से विरुद्ध मान्यता होने से वह मिथ्यादृष्टि हो ही गया। क्योंकि वीतराग सम्यग्दृष्टि के गुरु-हर्ष-बारहवें गुणस्थानों में ही बंध का अभाव होता है तब वहां 'मेरे बंध नहीं है' ऐसा कहने व समझने का सवाल ही नहीं उठता है क्योंकि वे निर्विकल्प ध्यान में शुद्धोपयोग परिणामों से उपशम या क्षयक श्रेणी की चरम अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

दूसरी बात यह है कि ऐसे अहंकारी द्रव्यलिङ्गी मुनि को श्रीअमृतचंद्रसूत्र जैसे महान्-आचार्य ही 'पापी' कह सकते हैं। हम और आप जैसे प्राणी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यदि वे महाव्रत समिति आदि का पालन कर रहे हैं तो प्रथम तो उनके प्रति ये द्रव्यलिङ्गी हैं ऐसी पहचान होना संभव नहीं है तथा श्रावकगण तो उन्हें पड़गाहन करके नवधाभक्ति से आहार देते ही देते हैं। द्रव्यलिङ्गी मुनियों को आहार देने वाले मिथ्यादृष्टि श्रावक आते हों ऐसी बात तो है नहीं। कहीं भी आगम में श्रावकाचार आदि में ऐसा उल्लेख नहीं है अतः श्रावकों के लिये तो नग्न दिगंबर मुनि जो कि व्रत समिति आदि का पालन कर रहे हैं वे पूज्य ही हैं।

तीसरी बात यह है कि इसके आगे श्री कुंदकुंददेव ने ही कहा है कि "परमाणुमात्र भी, जिनके रागादि हैं ऐसे मुनि संपूर्ण आगम के ज्ञाता होते हुये आत्मा को नहीं जानते हैं और आत्मा के ज्ञान बिना अनात्मा को भी न जानते हुये वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?" इसकी टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने प्रश्न उठाया है कि यदि जिनके रागादि हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं तो फिर तीर्थंकर कुमार, भरत, सगर, रामचंद्र, पांडव आदि जब गृहस्थावस्था में चतुर्थ-पंचम गुणस्थान में थे तो क्या सम्यग्दृष्टि नहीं थे ? इसके उत्तर में कहा है कि ये सभी सरागसम्यग्दृष्टि थे, इनके पूर्व-पूर्व के गुणस्थान के रागादि भाव नहीं हैं फिर भी उन-उन गुणस्थान की बंध योग्य व उदययोग्य प्रकृतियों के निमित्त से हुये राग-द्वेष का सद्भाव है। इस ग्रंथ में—यहां समयसार में वीतरागसम्यग्दृष्टि का ही प्रधानरूप से ग्रहण है सराग सम्यग्दृष्टि का गौणरूप से ग्रहण है इत्यादि। पूर्वोक्त कलश काव्य का इस गाथा से पूर्व होने से इससे संबंध जोड़ना चाहिये।

१. गोमयसार कर्मकांड, गाथा १०३।

(उत्थानिका) —अथ सम्यग्दृष्टिः स्वस्वभावं जानन् रागादींश्च मुञ्चन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति इति कथयति—

(२१० ज०) एवं सम्माइद्धी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।

उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं विद्याणंतो ॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं ।

उदयं कर्मविपाकं च मुञ्चति तत्त्वं विजानन् ॥ २१० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एवं सम्माइद्धी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीवः आत्मानं जानाति । कथंभूतं ? टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावं । उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं विद्याणंतो उदयं पुनर्मम स्वरूपं न भवति कर्मविपाकोयमिति मत्वा मुञ्चति । किं कुर्वन् सन् ? नित्यानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वं त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा जानन्निति ॥ २१० ॥

चौथी बात यह है कि जो कहते हैं कि 'समिति आदि के पालक मुनि तो पापी हैं किंतु जो अविरती हैं, अणुव्रत-महाव्रत आदि नहीं धारण करते हैं वे पापी नहीं हैं प्रत्युत सम्यग्दृष्टि हैं चूंकि वे आत्मा के ज्ञानी हैं—भेदज्ञानी हैं।' ऐसा कहने वाले लोग संयमद्वेषी हैं, मुनिद्रोही हैं वे स्वयं सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ? अतः मुनियों की परीक्षा या क्षोदक्षेम का अधिकार श्रावकों को नहीं है । उनको 'पापी' आदि कटु शब्दों द्वारा तर्जित करने का अधिकार पूर्वाचार्यों को ही है ।

(उत्थानिका)—अब सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव को जानता हुआ और रागादिभावों को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य से संपन्न होता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं सम्माइद्धी अप्पाणं जाणगसहावं मुणदि) इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपनी आत्मा को ज्ञायक स्वभाव मानता है (तच्चं विद्याणंतो य उदयं कम्मविवागं मुअदि) वास्तविक तत्त्व को जानता हुआ उदयस्वरूप कर्मों के फल को छोड़ देता है ॥ २१० ॥

तात्पर्यवृत्ति—इस पूर्वकथित प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को टंकोत्कीर्ण परमानंद एक ज्ञायक स्वभाव जानता है और पुनः यह कर्मों का विपाक—उदय मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा समझकर उन कर्मों के उदय को छोड़ देता है । क्या करते हुये ? तीन गुप्तिरूप समाधि में स्थित होकर नित्य ही आनन्दमय एकस्वभावरूप परमात्मतत्त्व को जानते हुये ही—ध्यान में लीन होकर उदयरूप फल को छोड़ देता है अर्थात् हर्ष-विषाद नहीं करता है ॥ २१० ॥

भावार्थ—जब यह जीव स्व-पर को जान लेता है तब महामुनि हुआ निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर कर्मों के फल का अनुभव न करते हुये पर से छूट जाता है तभी वह सम्यग्दृष्टि कर्मों से नहीं बंधता है । यह स्थिति सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण होती है ऐसा समझना क्योंकि टीका में 'त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा' पद महत्त्वपूर्ण है ।

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।

णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥ २०१ अ० ॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।

कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ अ० ॥ (युग्मम्)

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।

नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥ २०१ ॥

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।

कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥ २०२ ॥

आत्मख्यातिः—यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशतोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि^१ तथापि^२ ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानं । यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि

उत्थानिका—रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य तु रागादीनां परमाणुमात्रं अपि खलु विद्यते) जिसके रागादि भावों का अणुमात्र भी विद्यमान है (सः तु सर्वागमधरः अपि आत्मानं नापि जानाति) वह भले ही संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता हो फिर भी आत्मा को नहीं जानता है । (च सः आत्मानं अजानन् अनात्मानं अपि अजानन्) और वह आत्मा को नहीं जानता हुआ होने से अनात्मा को भी नहीं जानता है (जीवाजीवौ अजानन् सम्यग्दृष्टिः कथं भवति) वह जीव और अजीव को न जानता हुआ सम्यग्दृष्टि कैसे होता है ?

आत्मख्याति—जिस जीव के अज्ञानमय रागादि भावों का लेशमात्र भी सद्भाव—विद्यमान है भले ही वह श्रुतकेवली सदृश ही क्यों न हो फिर भी ज्ञानमयभावों का अभाव होने से वह

(२११)—जिस प्राणी के रागादि भाव का लेशमात्र भी रहता है ।

वह सर्वागम का ज्ञानी भी आत्मा को नहीं लख सकता है ॥

आगम का ज्ञान मात्र उसका कल्याण नहीं कर सकता है ।

आत्मा में ही रम जाने पर वह वीतराग बन सकता है ॥ २०१ ॥

(२१२)—निज आत्मा को जो नहीं जाने वह पर को नहीं लख सकता है ।

निज पर को जाने बिन सम्यग्दृष्टि कैसे बन सकता है ॥

पर द्रव्य और परभावों से जो भिन्न स्वयं को जान रहा ।

वह ही सच्चा सम्यग्दृष्टी भगवान् स्वयं को ध्याय रहा ॥ २०२ ॥

न जानाति स्वरूपपररूपसत्ताऽसत्ताध्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात् । ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति । यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः ॥ २०१ । २०२ ॥

मंदाक्रान्ताछंद—आसंसारत्वातिपदममी रागिणो नित्यमन्ताः

मुक्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः

शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥ १३८ ॥

आत्मा को नहीं जानता है और जो आत्मा को ही नहीं जानता है वह अनात्मा को—परद्रव्यों को भी नहीं जानता है क्योंकि स्वरूप के अस्तित्व और पररूप के नास्तित्व के द्वारा ही एक वस्तु का निश्चय होता है । इसलिये जो आत्मा-अनात्मा दोनों को नहीं जानता है वह जीव और अजीव को नहीं जानता है और जो जीव-अजीव को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है इसी हेतु से रागी जीव ज्ञान के अभाव से सम्यग्दृष्टि नहीं है ऐसा निश्चित है ॥ २०१—२०२ ॥

भावार्थ—यहां जो 'सर्वांगमधुर' का अर्थ श्री अमृतचन्द्रसूरि ने 'श्रुतकेवली सदृश' किया है उससे यही समझना कि द्रव्यलिङ्गी मुनि दिगंबर मुद्राधारी कोई-कोई ग्यारह अंग के पाठी हो जाते हैं फिर भी वे सम्यग्दृष्टि भावलिङ्गी नहीं हो पाते हैं और ग्यारह अंग-चौदहपूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली होते हैं ये भावलिङ्गी मुनि ही होते हैं । अतः सर्वांगम से ग्यारह अंग तक का ही ज्ञान लेना चाहिये । तथा च—जो राग का अणुमात्र भी न होने से सम्यग्दृष्टि कहा है वे सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में वीतरागी ही होंगे, दसवें तक सरागी मुनि कथमपि नहीं हो सकेंगे । आगे कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—अनादि काल से संसार में पद-पद पर ये रागी जीव सदा ही मोह से मत्त होते हुये जिस पद में—स्थान में सो रहे हैं वह स्थान अपद है—अपद है । हे अंधप्राणियों ! ऐसा तुम समझो । इसलिये हे प्राणियों । तुम लोग इस ओर आवो, आवो, तुम्हारा पद यह है—यह है जहां पर यह चैतन्यधातु शुद्ध है—शुद्ध है वह अपने रस के भार से—स्वभाव से स्थायीभाव को प्राप्त हो रहा है ॥ १३८ ॥

भावार्थ—यहां पर श्रीअमृतचन्द्रसूरि भव्यजीवों को संबोधन करते हुये कटु शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं और कह रहे हैं कि हे अंध प्राणियों ! तुम अस्थान में—पर वस्तु में अपनापन समझकर मोह से बेहोश होकर नींद ले रहे हो । इधर आवो, यह संसार के सभी पद

रागी जन काल अनादी से जिस पद में उसे अपद समझो ।

यह है तेरा स्थान नहीं गुरु जन कह रहे सुनो अंधों ॥

स्वाभाविक रस से व्याप्त शुद्ध चैतन्य धातु स्थाई है ।

उसको ही तुम अपनाओ यदि शुद्धता तुम्हें मन भाई है ॥ १३८ ॥

(उत्थानिका) —तद्यथा, रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति—

(२११ ज०) परमाणुमित्तयंपि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सब्वागमधरोवि ॥

(२१२ ज०) अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।

नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥ २११ ॥

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।

कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥ २१२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—परमाणुमित्तयंपि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये तु स्फुटं णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सब्वागमधरोवि स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात्

तुम्हारे पद नहीं हैं तुम्हारा पद तो शुद्ध है वह चित्चैतन्यस्वरूप है उसे ही तुम समझो और उसी में अनुराग करके तन्मय हो जावो। यहां कटु शब्द 'अंधा' कहने पर भी आचार्यश्री की अत्यर्थ करुणा ही झलकती है क्योंकि जो किसी को दुःख से निकाल कर सुखस्थान में पहुंचाना चाहते हैं वे ही महाकारुणिक भाव से कठोर अनुशासन करते हैं माता के समान। जैसे माता बालक के हित के लिये ही थप्पड़ लगाकर उसे कड़ुवी औषधि पिला देती है या स्कूल भोज देती है उसका अतीव वात्सल्य ही कठोर अनुशासन में कारण है न कि द्वेषभाव। वैसे ही यहां भी समझना।

(उत्थानिका)—रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जस्स तु रागादीणं परमाणुमित्तयंपि य विज्जदे) जिसके रागादि भावों का परमाणुमात्र भी विद्यमान है (सो तु सब्वागमधरोवि अप्पाणयं णवि जाणदि) वह संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता हो तो भी आत्मा को नहीं जानता है। (सो अप्पाणं अयाणंतो चेव अणप्पयं अयाणंतो) वह आत्मा को नहीं जानता हुआ अनात्मा को भी नहीं जानता है (जीवाजीवे अयाणंतो कह सम्मदिट्ठी होदि) और जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता हुआ वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? ॥ २११-२१२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जिनके हृदय में स्पष्टरूप से परमाणुमात्र भी रागादि भाव विद्यमान हैं परमात्म-तत्त्वज्ञान के अभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मा को नहीं जानते हैं—अनुभव

शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मानं न जानाति, नानुभवति । कथंभूतोऽपि ? सर्वागमधरोऽपि सिद्धान्तसिंधुपारगोऽपि । अप्याणमयाणंतो जगत्कर्तृ चेव सौ अयाणंतो स्वसंवेदनज्ञानदलेन सहजानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नं रागादिरूपमनात्मानं चाजानन् कह होदि सम्मदिद्धी जीवाजीवे अयाणंतो स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः ? न कथमपीति । किं च—रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः । तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिनः, तीर्थकरकुमार-भरत-सगर-राम-पांडवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवंति ?, इति । तत्र, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवंति । कथं इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् । पंचमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यानाक्रोधमानमायालोभोदय-जनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते । अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थाना-दुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं ॥ २११-२१२ ॥

नहीं करते हैं। वे भले ही संपूर्ण आगम के धारी हों—सिद्धान्तसमुद्र के पारंगत भी हों तो भी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करते हैं। वे पुरुष स्वसंवेदन ज्ञान के बल से सहज आनंद एकस्वभाव वाली शुद्धात्मा को नहीं जानते हुये और उसकी भावना भी नहीं करते हुये अपनी शुद्धात्मा से भिन्न रागादिभावरूप अनात्मा को भी नहीं जानते हैं तब वे जीव और अजीव के स्वरूप को न जानते हुये कैसे सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं ? अर्थात् किसी भी प्रकार से वे सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न—रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है ऐसा आपने कहा है ? तो पुनः चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती तीर्थकरकुमार, भरत, सगर आदि चक्रवर्ती, रामचंद्र, पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं होंगे ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तेतालीस प्रकृतियों के बंध का अभाव हो जाने से सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं क्योंकि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व इन के उदय से होने वाले पाषाणरेखा आदि के समान रागादि भावों का अभाव है। पुनः पंचमगुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों के उदय से होने वाले भूमिरेखादि के समान रागादिभावों का अभाव हो चुका है। इस प्रकार से पहले कह चुके हैं।

यहां पर इस ग्रंथ में तो पंचमगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्यरूप से ग्रहण किया गया है—

किंतु सराग सम्यग्दृष्टि को गौणरूप से ही ग्रहण किया गया है ऐसा व्याख्यान सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय इस ग्रंथ में सभी जगह तात्पर्यरूप से जान लेना चाहिये ॥ २११-२१२ ॥

विशेषार्थ—यहां पर गाथा में जो 'सव्यागमधरोवि' पद है वह मुनियों के लिये ही है क्योंकि दिगंबर जैनसंप्रदाय के अनुसार श्रावक को अंग-पूर्व का ज्ञान नहीं होता है निस्त्रिंश—दिगंबर मुनि ही अंग-पूर्व को पढ़ने के अधिकारी हैं। प्रथमानुयोग की कथाओं में भी कहीं पर भी ऐसा कथन नहीं आया है कि कोई महापुरुष भी श्रावक अवस्था में आचारांग आदि का ज्ञानी हुआ हो। श्रीधरसेनाचार्य ने दो मुनियों को अपने पूर्व के ज्ञान के कुछ अंश को पढ़ाया था वे ही पुष्पदंत, भूतबली मुनिराज हुये। उनमें से मुनि श्री पुष्पदंत स्वामी ने अपने भानजे जिनपालित को गृह से निकालकर मुनि बनाकर ही उस ज्ञान को सूत्र बनाकर पढ़ाया था जो कि आज 'षट्खंडांगम' नाम से प्रसिद्ध है। अतः यहां पर मुनि का ही कथन है।

दूसरी बात यह है कि श्रीजयसेनाचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती अवती और श्रावक सराग सम्यग्दृष्टि हैं जैसे कि गृहस्थावस्था में तीर्थंकर थे, भरत, सगर, रामचंद्र, पांडव आदि थे। इससे भी स्पष्ट है कि यहां परमाणुमात्र भी राग के अंशवाला सम्यग्दृष्टि नहीं है ऐसा कहने से वह 'वीतरागसम्यग्दृष्टि' नहीं है यही समझना चाहिये। अन्यथा श्रीजयसेनाचार्य के कहे अनुसार अर्थ न करने से तो सभी गृहस्थ, श्रावक और संघ में रहने वाले मुनि भी मिथ्यादृष्टि ही ठहरेंगे। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः सराग और वीतराग की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के दो भेद होते हैं। उन्हें यहां घटित करना ही उचित है। इसलिये आज जो गृहस्थावस्था में अपने को वीतराग सम्यग्दृष्टि मानकर मुनियों को मिथ्यादृष्टि कह देते हैं यह महान् अज्ञानता का ही सूचक है। इसलिये प्रत्येक समयसार प्रेमी को श्रीजयसेनाचार्य की टीका का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

'सर्वागमधरोऽपि' पद से श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने तो 'श्रुतकेवलिकल्पोऽपि' कहा है जिससे ग्यारह अंग का ज्ञान विवक्षित है। आगे इसी ग्रंथ में गाथा २७४ अ०, २१२ ज० की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि "मोक्षमश्रद्धानः सन्नभव्यजीवो यद्यपि एकादशांग-श्रुतअध्ययनं कुर्यात्।" मोक्ष का श्रद्धान न करता हुआ अभव्यजीव यद्यपि ख्याति लाभ पूजा के लिये ग्यारह अंग रूप श्रुत का अध्ययन कर लेवे फिर भी वह उसका अध्ययन मोक्ष को प्राप्त नहीं करा सकता है। इससे अभव्य या मिथ्यादृष्टि मुनि को ग्यारह अंग तक ही ज्ञान हो सकता है नवपूर्व तक भी नहीं, ऐसा समझना।

किन्नाम तत्पदं ? इत्याह—

आदह्नि द्रव्यभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।

थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥ २०३ अ० ॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतं ।

स्थिरमेकगिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥ २०३ ॥

आत्मख्यातिः—इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतस्त्वभावेनोपलभ्यमानाः अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुम्- 'शक्यत्वादपदभूताः । यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानो नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात्' पदभूतः । ततः सर्वनिवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं, परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यं ॥ २०३ ॥

उत्थानिका—वह पद किस नामवाला है ? क्या है ? इसे कहते हैं ।

अन्वयार्थ—(आत्मनि अपदानि द्रव्यभावान् मुक्त्वा) आत्मा में अपदस्वरूप द्रव्यभावरूप सभी भावों को छोड़ कर (नियतं स्थिरं स्वभावेन उपलभ्यमानं तथा इमं एकं भावं गृहाण) निश्चित, स्थिर स्वभाव से प्राप्त होने योग्य उस प्रकार इस एक भाव को ग्रहण करो ॥ २०३ ॥

आत्मख्याति—इस संसार में भगवान् आत्मा में बहुत से द्रव्य भावों के मध्य जो ये आत्मा से भिन्न स्वभाव से प्राप्त होने वाले अनिश्चित अवस्थारूप, अनेक—नानाप्रकार के क्षणिक और व्यभिचारी भाव हैं वे सभी नियम से स्वयं अस्थायीरूप होने से स्थाता—आत्मा में स्थिर रहने के लिये असमर्थ हैं अतः वे अपदभूत हैं—अस्थानस्वरूप हैं । जो यह तत्स्वभाव से उपलब्ध होने योग्य निश्चितपने की अवस्थारूप एक नित्य और अव्यभिचारी—स्वाभाविक भाव है वह एक ही स्वयं स्थायीरूप से स्थिर रहने वाले स्थाता—आत्मा का स्थान होने के लिये समर्थ है अतः वही पदभूत—अपना पद है—स्थान है । इसलिये तुम सभी अस्थायीभावों को छोड़कर स्थायीभावस्वरूप परमार्थरसरूप से अनुभव में आते हुये इस एक ज्ञान का ही आस्वाद लेवो—उसी ज्ञान का ही अनुभव करो ॥ २०३ ॥

(२१३)—आत्मा के अपद द्रव्यभावों को तज निज भाव ग्रहण कर ले ।

निश्चित सुस्थिर वह एक तथा स्वाभाविक भाव प्राप्त कर ले ॥

प्रत्यक्ष रूप अनुभव गोचर चैतन्यमात्र आत्मा भजले ।

हे भव्य ! यही तेरा पद है बस इस पद में ही तू रम ले ॥ २०३ ॥

अनुष्टुप् छन्द—एकमेव हि तत्स्वाद्यं ^१ विपदामपदं पदं ।

अपदान्येवं भासते पदान्यन्यानि यत्पुरः ^२ ॥१३९॥

शार्दूलविक्रीडित—एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्

स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।

आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं ^३

सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकतां ॥ १४० ॥

इसी का ही कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—वह एक ही आस्वादन—अनुभव करने योग्य है, जो कि विपदाओं का अपद—अस्थान है वही एक पद है, उसके सामने तो अन्य सभी पद अपदस्वरूप ही भासित होते हैं ॥ १३९ ॥

भावार्थ—जिस पद के प्राप्त हो जाने पर कोई भी आपदायें स्थान नहीं पा सकती हैं और कोई भी पद भावने नहीं रखते हैं ऐसा वह निज परमात्मस्वरूप शुद्धात्मा का पद ही अनुभव करने योग्य है। उसी के अनुभव से सर्व आपत्तियाँ विलीन हो जाती हैं।

काव्यार्थ—एक ज्ञायक भाव से अतिशय भरित महास्वाद का अनुभव लेता हुआ और द्वंद्वमय—द्वैतमय—बंधमय स्वाद को लेने में असमर्थ हुआ यह आत्मा अपनी आत्मा के अनुभवरूप स्वाद के प्रभाव के आधीन हुआ अपनी वस्तुवृत्ति को—शुद्धात्मा की परिणति को जान लेता है—प्राप्त कर लेता है—अनुभव कर लेता है। तब यह आत्मा विशेष—नानाभेद के उदय को नष्ट करते हुये और सामान्य—अभेद अवस्था को प्रगट करते हुये सकल ज्ञान को एकत्व स्वरूप प्राप्त करा देता है ॥१४०॥

भावार्थ—जब यह आत्मा अनेक भेदरूप क्षायोपशमिक ज्ञानों के भेदों को भुत्नाकर सामान्य का—स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा एक अभेदरूप ज्ञान का अनुभव करता है अपनी आत्मा में

पद एक वही आस्वाद्य जहाँ विपदाओं को पद नहीं मिलता ।

कोई आपद संक्लेश जहाँ किंचित् प्रवेश नहीं कर सकता ॥

उस एक परम पद के समक्ष सारे पद अपद सदृश ही हैं ।

आत्मा जब उसमें रम जाता तब बनता परमात्म ही है ॥ १३९ ॥

यह आत्मा ज्ञायक भाव भरित सामान्यज्ञान जब चखता है ।

मिश्रित कर्मों का आस्वादन लेने में अक्षम बनता है ॥

तब बाह्य दूसरा स्वाद कोई उसको न विवश कर सकता है ।

वह बाहर क्यों आएगा जब अन्तर ज्ञानामृत चखता है ॥ १४० ॥

१. विपदा चानुगतिकदुःखानाम् । २. अपदानि अस्वभावभूतानि चातुर्गतिकपर्याया वा रागद्वेषसुखदुःखावस्था भेदा वा । ३. स्वैर्यादि-भर्मान्वितस्य नैतन्यस्य पुरम्भात् । ४. गौणोक्तवत् ।

(उत्थानिका) —अथ किं तत् परमात्मपदमिति पृच्छति:--

(२१३ ज०) आदहि द्रव्यभावे, अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं ।

थिरमेगमिमं भावं, उपलब्धंतं सहावेण ॥

आत्मनि द्रव्यभावान्य-स्थिराणि मुक्त्वा गृहाण तव नियतं ।

स्थिरमेकमिमं भावं उपलभ्यमानं स्वभावेन ॥ २१३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—आदहि द्रव्यभावे अथिरे मोत्तूण आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्ठन्ति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा गिण्ह हे भव्य गृहाण स्वीकुरु । कं ? कर्मतापत्रं तव णियदं थिरमेगमिमं भावं उपलब्धंतं सहावेण भावं आत्मपदार्थं । कथंभूतं ? तव संबंधि स्वरूपं । नियतं निश्चितं । पुनरपि कथंभूतं ? थिरं स्थिरं, अविनश्वरं । एकं, असहायं । इमं प्रत्यक्षीभूतं । पुनरपि किं विशिष्टं ? उपलभ्यमानमनुभूयमानं । केन कृत्वा ? परमात्मसुखमवित्तिरूपस्वसंवेदनज्ञानस्वभावेनेति ॥ २१३ ॥

ही स्थिर हो जाता है तभी वह सभी ज्ञान के असंख्यात लोक प्रमाण भेदों को समाप्त कर केवलज्ञान स्वरूप एक ज्ञान प्रगट कर लेता है । यह अवस्था शुद्धोपयोगी महामुनि के बारहवें गुणस्थान में आकर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर सर्व ज्ञान को केवलज्ञान बना देती है । इससे पूर्व मात्र भेदज्ञान का अभ्यास, भावना और श्रद्धान करना होता है जो कि आज हम सभी के लिये संभव है ।

उत्थानिका—अब वह परमात्म पद क्या है ? ऐसा शिष्य पृच्छता है—

अन्वयार्थ —(आदहि अथिरे द्रव्यभावे मोत्तूण) आत्मा के अस्थिर द्रव्य भावों को छोड़कर (सहावेण उपलब्धंतं तव णियदं थिरं एगं इमं भावं गिण्ह) स्वभाव से उपलब्ध तुम्हारा जो निश्चित, स्थिर, एक यह भाव है उसे ग्रहण करो ॥ २१३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—इस आधार भूत आत्मा में जो-जो द्रव्यकर्म और भावकर्म स्थित हैं वे सब विनश्वर हैं, ऐसा जानकर हे भव्यात्मन् ! तुम उस भावस्वरूप आत्मपदार्थ को ग्रहण करो । वह तुम्हारा स्वरूप नियत है—निश्चित है, स्थिर—अविनश्वर है, एक—असहाय है, और प्रत्यक्ष गोचर है, वह परमात्मा के सुख संवित्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा उपलब्ध करने योग्य है—अनुभव में आने योग्य है । इसी को तुम ग्रहण करो ॥ २१३ ॥

विशेषार्थ—यहां तक ज्ञान को परमात्मपद से कहा है वह अभेदरूप ज्ञान केवलज्ञान ही हो सकता है वह निर्विकल्प ध्यान के द्वारा प्राप्त किया जाने योग्य है । टीकाकार श्री शुभचंद्राचार्य ने भी कहा है कि “स्वकीयां वस्तुवृत्तिं यथाख्यातचारित्रवृत्तिं जानन्” अपनी वस्तुवृत्ति को—यथाख्यात चारित्र की वृत्ति—प्रवृत्ति को जानने हुये ज्ञान को पूर्ण कर लेते हैं । इन पंक्तियों से भी यह सारा प्रकरण महामुनियों के लिये है ऐसा ही समझना चाहिये । यहां श्री जयसेनाचार्य ने गाथाओं का जो क्रम रखा है उसके अतिरिक्त श्री अमृतचंद्रसूरि की गाथाओं में क्रम का अंतर है । यहां श्री अमृतचंद्रसूरि के आधार से ही गाथायें ली जा रही हैं ।

तथाहि—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।

सो एसो परमडो जं, लहिदुं णिव्वुदि जादि ॥ २०४ अ० ॥

आभिनिबोधिकाश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्वत्त्येकमेव पदं ।

स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥ २०४ ॥

आत्मख्यातिः—आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानं, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः । न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकपदमिह भिदन्ति । किं तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति । तथाहि—यथात्र सवितुर्धनपटलावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिदन्ति । तथाऽऽत्मनः कर्मपटलोदयावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिद्युः । किं तु प्रत्युत तमभिनन्देयुः ।

उत्थानिका—उस एक ज्ञान को ही स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(आभिनिबोधिका-श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तत् एक एव पदं भवति) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँचों भेद हैं वे सब एक ही ज्ञान नाम से कहे जाते हैं (सः एषः परमार्थः) सो यही परमार्थ है (यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति) इसको प्राप्तकर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २०४ ॥

आत्मख्याति—यह आत्मा वास्तव में परमार्थ—परम पदार्थ है वह आत्मा ज्ञान ही है और वह आत्मा एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है और जो यह ज्ञान नाम का एक पद है वह यह प्रत्यक्षगोचर परम पदार्थ ही साक्षात् मोक्ष का उपाय है । जो ये मतिज्ञान आदि भेद हैं वे इस ज्ञान नामा एक पद का भेद नहीं करते हैं किंतु वे भी इसी एक पद का ही अभिनन्दन करते हैं । इसे ही कहते हैं—जैसे यहां मेघपटल से आच्छादित सूर्य के ऊपर से मेघपटल जैसे-जैसे विघटित होता जाता है उसी के अनुसार वह सूर्य प्रगट होता जाता है तब उसके प्रकाश के अतिशय भेद भी उस सूर्य के प्रकाश के स्वभाव को भेदरूप नहीं करते हैं उसी प्रकार से यह आत्मा भी कर्मपटल के उदय से आच्छादित हो रहा है उस कर्मपटल के विघटन होने के अनुसार आत्मा की प्रगटता होती जाती है उस आत्मा में ज्ञान के अतिशय भेद दिखते हैं फिर भी वे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भेदरूप नहीं कर पाते हैं प्रत्युत वे उन ज्ञानभेदों का अभिनन्दन ही करते हैं ।

(२१४)—जो मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल ये पाँच ज्ञान भी हैं ।

इन सभी भेद से युक्त ज्ञान बस एक ज्ञान पद युत ही है ॥

ऐसा वह जो परमार्थ ज्ञान वह मोक्ष प्राप्त करवाता है ।

वास्तव में आत्मा और ज्ञान जब एक रूप बन जाता है ॥ २०४ ॥

ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमात्मन्यं । तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिद्ध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्च्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवन्ते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्वद्धं कर्मोपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ॥ २०४ ॥

इसलिये संपूर्ण भेद को अस्त करने वाले ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन लेना चाहिये, उस के अवलम्बन से ही पद की प्राप्ति होती है, भ्रांति नष्ट हो जाती है, आत्मलाभ होता है, अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है पुनः कर्म मूर्च्छित नहीं होते हैं—कर्मोदय से मोह नहीं होता है, तब राग, द्वेष और मोह उत्पन्न नहीं होते हैं पुनः कर्मों का आस्रव नहीं होता है तब कर्म नहीं बंधते हैं और पहले के बंधे हुये जो कर्म हैं उनका उपभोग होने के बाद वे निर्जीर्ण हो जाते हैं और तब संपूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने से साक्षात् मोक्ष हो जाता है ॥ २०४ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान के पांच भेद हैं उनमें भी प्रत्येक के संख्यात क्या असंख्यात भेद हो जाते हैं। यहां पर तो ज्ञायक भावमात्र एक अद्वैतरूप ज्ञान को विवक्षित किया है। स्वयं आचार्यदेव ने प्रारंभ में गाथा छठी में ही कहा है कि “जो न अप्रमत्त है, न प्रमत्त है ऐसा जो ज्ञायक भाव है वही शुद्ध है।” अर्थात् प्रमत्त-अप्रमत्त शब्द से, गुणस्थान व्यवस्था से परे जो मात्र शुद्धनय से शुद्ध ज्ञायकभाव है वह एक अद्वैत ज्ञानमात्र है। उसे ही आगे कलश काव्य में श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि न च विद्यो याति निक्षेपचक्रम् ।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्, अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

जहां नयों का उदय नहीं होता, प्रमाण भेद-प्रभेदों सहित अस्तंगत हो जाता है और पता नहीं चलता कि निक्षेपों के भेद-प्रभेद कहां चले गये । ऐसे एक शुद्ध आत्मा का अनुभव आने पर एक ज्ञानमात्ररूप से अद्वैत ही रह जाता है—द्वैत प्रतिभासित ही नहीं होता है।

ऐसे इस ज्ञान के मति आदि भेदों को गौण करके जिस समय निर्विकल्प ध्यान में एक मात्र अद्वैतरूप ज्ञान का ही अनुभव आता है तब वह ज्ञान आत्मा के स्वभावरूप रहता है। तभी उस ज्ञानस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से अथवा आत्मस्वभावरूप ज्ञान के अवलम्बन से ही निज पद की—अपने स्वाभाविक पद की प्राप्ति हो जाती है, उसकी प्राप्ति से भ्रांति नष्ट हो जाती है, उस भ्रांति के दूर हो जाते ही आत्मा की उपलब्धि हो जाती है, आत्मा के लाभ से अनात्मरूप सभी परद्रव्यों के परिहार की सिद्धि सुघटित होती है, पुनः कर्म मूर्छा को उत्पन्न नहीं करते हैं, तब राग, द्वेष, मोह उत्पन्न होने का सवाल ही नहीं उठता है, तभी कर्मों का आस्रव नहीं होता

शार्दूलविक्रीडित—अच्छाच्छाः स्वयमुच्छ्रंतंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
 निर्घाताखिलभावमंडलरसप्राग्भारपत्ता इव ।
 'यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोप्यनेकी-भवन्
 व'लगत्यु'त्कलिकाभिरद्भुतनिधिशैतन्यरत्नाकरः ॥ १४१ ॥

है और आस्रव के न होने से बंध भला कैसे होगा ? आगे बंध के न होने से पूर्व में बंधे हुये कर्म अपना-अपना फल देकर या बिना फल दिये भी निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं, इसके बाद संपूर्ण कर्मों के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यहां टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने बहुत ही सुंदर क्रम रखा है। टीका में और कलश में जो साक्षात् पद रखा है वह साक्षात् मोक्ष का कारण बारहवें गुणस्थान में घटता है और साक्षात् ज्ञानस्वरूप मोक्ष चौदहवें गुणस्थान के बाद सिद्ध अवस्था में ही घटता है। आगे कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने से अतिशय मत्त सदृश होते हुये, अतीव स्वच्छ से भी स्वच्छ ये संवेदन के विशेष—ज्ञान की पर्यायें अर्थात् ज्ञान के नाना भेद-प्रभेद अपने आप उछल रहे हैं। जिस आत्मा की ये संवेदन व्यक्तियां हैं—ज्ञान भेद हैं ऐसा वह यह भगवान् आत्मा एक—अखंड होते हुये भी अनेकरूप होता हुआ इन ज्ञानरूप तरंगों के द्वारा शब्दायमान हो रहा है—चंचल हो रहा है—हिलोरें ले रहा है, यह भगवान् आत्मा तरंगों के साथ एकरूप—अभिन्न रस वाला है, अद्भुत निधियों को अपने में भरे हुये है अतः यह भगवान् आत्मा चैतन्यरत्नाकर है—चैतन्यसमुद्र है ॥ १४१ ॥

भावार्थ—जैसे समुद्र रत्नों से भरा रहता है अतः रत्नाकार कहलाता है उसमें निर्मल जल भरा रहता है, निर्मल जल में छोटी-बड़ी तरंगें उठती रहती हैं वे सब एक जलरूप ही रहती हैं। उसी तरह यह आत्मा भी भगवान् है, ज्ञानमयी एक समुद्र है अतः यह एक ही है इसमें अनेक गुणरूपी रत्न भरे हुये हैं। क्षयोपशमजन्य ज्ञान के निमित्त से यह ज्ञान अनेक भेदरूप रहते हुये भी सामान्यरूप से एक ही है फिर भी इसमें जो ज्ञान के नाना भेद हैं वे ही संवेदन व्यक्ति अर्थात् ज्ञान के भेद इस ज्ञान समुद्र में तरंगों के समान हैं अतः ज्ञानमय भगवान् आत्मा एक ही है, उस एक आत्मा को ही अनुभव में लाना चाहिये।

निज संवेदन की स्वच्छ-स्वच्छ पर्यायें जहाँ उछलती हैं।

अर्थों का रस पीने से अतिशय मत्त अवस्था लगती है ॥

वह आत्मा एक अखंड हुआ भगवान् ज्ञान लहरों युत है।

चैतन रत्नाकर वह आत्मा अद्भुत निधियों से संयुत है ॥ १४१ ॥

किंच—

शार्दूलविक्रीडित—क्लिश्यतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यतां च परे^१ महाव्रततपोभारेण भग्नश्चरं ।
साक्षान्मोक्ष इदं^२ निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं^३ ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ॥ १४२ ॥

(उत्थानिका) —अथ नितिश्रुतावधिननःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं तत्समस्तहर्षविषादादिविकल्पजालरहितं परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयति,—

काव्यार्थ—जो कोई पुरुष स्वयं ही दुष्कर से दुष्कर—कठोर से कठोर, मोक्ष के उन्मुख—सन्मुख ऐसे आतापन योग, तपश्चरण आदि क्रियाओं के द्वारा बहुत कुछ क्लेश को प्राप्त करें तो करते रहें और कोई पुरुष महाव्रत, अनशन आदि तप के भार से भग्न होते हुये—कष्ट पाते हुये चिरकाल तक क्लेश प्राप्त करते रहें तो करते रहें किंतु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप यह निरामयपद है, स्वयं संवेद्यमान—अनुभव में आने योग्य है वह ज्ञान ही है क्योंकि इस ज्ञान गुण के बिना किसी भी प्रकार से इस ज्ञान स्वरूप मोक्ष को कोई भी प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं है ॥ १४२ ॥

भावार्थ—कोई महामुनि महाव्रत आदि धारण कर अभ्रावकाश आदि घोर से घोर तपश्चरण करते हैं, यद्यपि ये सब क्रियायें मोक्ष के सन्मुख हैं—मोक्ष के लिये कारण हैं फिर भी वे साधु मात्र क्रियाकांड के बल से ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं। वास्तव में जो ज्ञान—आत्मा के अनुभवस्वरूप जो स्वसंवेदन ज्ञान है उस ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलेगी। अतः ज्ञाननय और क्रियानय अथवा व्यवहारनय और निश्चयनय या व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय इन दोनों का अवलंबन लेकर ही मोक्ष की प्राप्ति को साध्य करना चाहिये। जब तक निश्चयरत्नत्रय प्राप्त न हो सके तब तक व्यवहार रत्नत्रय को अवश्य धारण करना चाहिये।

उत्थानिका—अब कहते हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों के अभेदरूप जो मोक्ष के लिये कारणभूत, परमार्थ नामवाला परमात्मपद है, वह संपूर्ण हर्ष-विषाद आदि विकल्प जाल से रहित है, उसको यह आत्मा परमयोग के अभ्यास से ही अनुभव करता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

दुष्कर तपकर्मों के द्वारा जो स्वयं कष्ट भी महन करें।
कोई महाव्रत तप भार आदि से बहुत काल दुख वहन करें ॥
लेकिन निजसंवेदन स्वरूप पद उन्हें निरामय यदि नहीं है।
वास्तविक ज्ञानगुण विना कभी भी मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है ॥ १४२ ॥

(२१४ ज०) आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं च तद्वत्येकमेव पदं ।

स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥ २१४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञान-
भेदरूपं यत्तन्निश्चयेन, एकमेव पदं परं, किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवन्ति, तथा
मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादिभेदभिन्नं जातं सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि स एष
लोकप्रसिद्धः पंचज्ञानभेदरूपः परमार्थः यं परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थः । एवं
ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिविशेषविवरणरूपेण सूत्रदशकं गतं ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थः—(आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं एक्कमेव पदं होदि) आभिनिबोधिक—
मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञान में पांचों ज्ञान एक ही पद हैं—(सो एसो
परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि) वही यह परमार्थ है उसको प्राप्त करके वह निर्वाण को प्राप्त
कर लेता है ॥ २१४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों से जो भेदरूप
है वह निश्चयनय से एक ही उत्कृष्ट पद है । किंतु जैसे सूर्य के ऊपर से बादल रूप आवरण की
तरतमता के निमित्त से प्रकाश में भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार से मतिज्ञानावरण आदि कर्मों के
भेद के निमित्त से मति, श्रुतज्ञान आदि भेदों से भिन्न-भिन्नरूपता हो रही है फिर भी जो यह लोक
प्रसिद्ध पंचज्ञान से अभेदरूप परमार्थ है उस परमार्थ को प्राप्त कर के यह जीव मोक्ष को प्राप्त
कर लेता है । इस प्रकार ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति के विशेष विवरणरूप से दश गाथा सूत्र
हुये ॥ २१४ ॥

विशेषार्थः—गाथा दस को कहने रूप से जो कहा था वहां से यहां तक सात गाथायें ही हुई
हैं । यथा—१. पुग्गलकम्पो कोहो, २. कह एस तुज्झ, ३. एवं सम्मादिट्ठो, ४. परमाणु मित्तयंपि य,
५. अप्पाणमयाणंतो, ६. आदमिह दव्वभावे, ७. आभिणिसुदोहि.... ।

यह तीन गाथा का अंतर इसलिये पड़ गया है कि यहां मैंने श्रीअमृतचंद्रसूरि की गाथाओं
के क्रम से अनुवाद किया है । अतः इन दोनों टीकाओं में ये गाथायें आगे-पीछे हो रही हैं ।
श्रीजयसेनाचार्य ने यहां दश गाथाओं का क्रम ऐसा रखा है—

ज्ञानगुणेन विहीणा एयं तु पदं बहवोऽपि न लभन्ति ।

तं गिण्ह नियतमेतद् यदि इच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥ २०५ अ० ॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते ।

तद्गृहाण नियतमेतद् यदिच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥ २०५ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलभः । केवलेन ज्ञानेनैव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनाद् ज्ञानस्योपलभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभन्ते । इदमनुपलभमानाश्च न कर्मभिर्विप्रमुच्यन्ते ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टम्भेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलभनीयं ॥ २०५ ॥

१. परमाणुमित्तयं पि य, २. अप्याणमयाणतो, ३. जो वेददि वेदिज्जदि ४. बंधुव-भोगणिमित्तं, ५. मज्झं परिग्गहो जदि, ६. आदम्हि दक्खभावे, ७. को णाम भणिज्ज बुहो, ८. छिज्जदु वा भिज्जदु वा, ९. एदम्हि रदो णिच्चं, १०. आभिणिसुदोहि इत्यादि ।

आगे भी ऐसा अंतर है श्रीजयसेनाचार्य के द्वारा टीका सहित गाथायें आगे-पीछे हैं ।

उत्थानिका—आगे इसी का उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानगुणेन विहीनाः बहवः अपि एतत् तु पदं न लभन्ते) ज्ञानगुण से विहीन बहुत से पुरुष भी इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते हैं । (तद् एतत् नियतं गृहाण) इसलिये तुम इसे ही नियम से ग्रहण करो (यदि कर्मपरिमोक्षं इच्छसि) यदि तुम कर्मों से छूटना चाहते हो ।

आत्मख्याति—संपूर्ण भी कर्मों के द्वारा—क्रियाओं के द्वारा कर्मों में—क्रियाओं में ज्ञान का प्रकाशपना नहीं होता है अतः कर्मों में ज्ञान की उपलब्धि नहीं है । केवल—मात्र ज्ञान के द्वारा ही ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश पाया जाता है अतः ज्ञान में ही ज्ञान की उपलब्धि होती है । इसलिये बहुत से पुरुष भी ज्ञान से शून्य होते हुये बहुत से भी कर्म—क्रियाओं के द्वारा इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते हैं और इस पद को प्राप्त न कर पाते हुये कर्मों से छूट नहीं सकते हैं इसलिये कर्म से छूटने के इच्छुक जनों को केवल—मात्र ज्ञान का ही अवलंबन लेकर निश्चित ही इस एक—अभेद पद को प्राप्त करना चाहिये ॥ २०५ ॥

(२१५)—हे भव्य ! ज्ञानगुण हीन कोई इस पद को प्राप्त न कर सकते ।

तुम उसको निश्चित ग्रहण करो यदि चाहो मुक्ति कर्मों से ॥

इस ज्ञान रहित बहु प्राणीगण कितने ही पुण्य कर्म करते ।

लेकिन शुद्धात्म ध्यान के बिना परमात्म पद को नहीं वरते ॥ २०५ ॥

द्रुतविलंबितछंद—पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।

तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥ १४३ ॥

(भूमिका) —अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यंतं तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगणः तस्य सामान्यविवरणं करोति । तद्यथा—

(उत्थानिका) —अथ मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं शुद्धात्मानुभूतिशून्यं व्रततपश्चरणादिकायक्लेशं कुर्वाणा अपि स्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना न लभंत इति कथयति—

(२१५ ज०) णाण गुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।

तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥

ज्ञानगुणैर्विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते ।

तद्गृहाण सुपदमिदं यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥ २१५ ॥

इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—यह ज्ञानमय पद कर्मों से—क्रियाकांडों से वास्तव में दुःप्राप्य है और सहज ज्ञान की कला के द्वारा वास्तव में सुलभ है, इसलिये निजज्ञान की कला के बल से इस पद का अभ्यास करने के लिये—अनुभव करने के लिये हे जगत् के भव्यजीवों ! सतत प्रयत्न करो ॥ १४३ ॥

भावार्थ—यहां कर्मशब्द से क्रियाकांडरूप चारित्र, बाह्य तपश्चरणा आदि को लेना चाहिये ऐसा श्री शुभचंद्राचार्य ने कलश काव्य की टीका में कहा है । यथा—“कर्मदुरासदं कर्मणा क्रियाकाण्डतपश्चरणादिना दुरासदं दुष्प्राप्यं ।” इस प्रकरण से एकांत से यह नहीं समझना चाहिये कि बाह्य तप और व्यवहार चारित्र अनुपयोगी ही हैं क्योंकि बाह्य तप और व्यवहार चारित्र के बिना निश्चयतप और निश्चय चारित्र असंभव हैं । छठे गुणस्थानवर्ती महामुनि ही सातवें, आठवें आदि गुणस्थानों में आरोहण करके ज्ञानस्वरूप आत्मा का ध्यान करने में समर्थ होते हैं । यहां गाथा में पाठ भेद है । श्री अमृतचंद्रसूरि ने गाथा में ‘तं गिण्ह णिषदमेदं’ पद रखा है और श्रीजयसेनाचार्य ने ‘तं गिण्ह सुपदमेदं’ ऐसा वाक्य लिया है । दोनों आचार्यों ने अपने-अपने पाठ के अनुसार ही अर्थ किया है सो ही देखिये—

भूमिका—इसके आगे आठ गाथापर्यंत उसी परमात्मपद का प्रकाशक जो ज्ञानगुण है उसका सामान्य विवेचन करेंगे—

उत्थानिका—अब प्रतिज्ञान आदि पांच ज्ञान के अभेदरूप, साक्षात् मोक्ष के लिये कारण भूत जो परमात्मपद है । शुद्धात्मा की अनुभूति से शून्य, व्रत तपश्चरणा आदि कायक्लेश को करते हुये भी स्वसंवेदन ज्ञान गुण के बिना वह पद प्राप्त नहीं कर सकते हैं, ऐसा कहते हैं—

यह ज्ञानमयी पद मात्र क्रियाकांडों से प्राप्त न हो सकता ।

यादि सहजज्ञान की कला सीख लें तब वह सार्थक हो सकता ॥

इसलिए निजात्म ज्ञान हेतु तुम सतत प्रयत्न करो जीवों ।

मैं समझाता निज अनुभव से हे आत्ममुखी ज्ञानी जीवों ॥ १४३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति निर्विकारपरमात्मतत्त्वोपलब्धिलक्षण-
ज्ञानगुणेन विहीनाः रहिताः पुरुषाः बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसंवित्तिरहितं दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरणं कुर्वाणा अपि
मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षामोक्षकारणं स्वसंवेद्यं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणमिदं पदं न लभन्ते । तं गिण्ह सुपदमेदं
जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं हे भव्य ! तत्पदं गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति ॥ २१५ ॥

किञ्च—

एदहि रतो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदहि ।

एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ अ० ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।

एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं ॥ २०६ ॥

आत्मख्यातिः—एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि ।
एतावत्येव सत्पाशीः, यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि । एतावदेव सत्यमनुभवनीयं

अन्वयार्थः—(जाणगुणेण विहीणा बहूवि एदं तु पदं ण लहंति) ज्ञानगुण से रहित बहुत भी
पुरुष इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते हैं (जदि कम्मपरिमोक्खं इच्छसि तं एदं सुपदं गिण्ह) यदि
कर्मों से छूटना चाहते हो तो इस एक सुपद को ग्रहण करो ॥ २१५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—निर्विकार परमात्मतत्त्व की उपलब्धि लक्षण जो ज्ञानगुण से रहित बहुत से भी
पुरुष हैं वे 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसे संवेदन से रहित दुर्धर कायक्लेश आदि तपश्चरण कां
करते हुये भी मतिज्ञान आदि पांचों ज्ञानों के अभेदरूप साक्षात् जो मोक्ष का कारण है, स्वयं
अपने द्वारा अनुभव करने योग्य शुद्धात्मा की संवित्तिलक्षण पद है इस पद को वे प्राप्त नहीं कर
पाते हैं । हे भव्य ! यदि तुम कर्म से मुक्त होना चाहते हो तो यह पद ग्रहण करो ॥ २१५ ॥

उत्थानिका—पुनः इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थः—(एतस्मिन् नित्यं रतः भव एतस्मिन् नित्यं संतुष्टः भव) हे भव्य ! इस ज्ञान में
सदाकाल लीन हो, इसी में नित्य ही संतुष्ट हो (एतेन तृप्तः भव तव उत्तमं सौख्यं भविष्यति)
इसी से तृप्त हो, तुझे उत्तम सौख्य प्राप्त हो जावेगा ॥ २०६ ॥

आत्मख्यातिः—इतना मात्र ही यह सत्यस्वरूप आत्मा है कि जितना यह ज्ञान है ऐसा
निश्चय कर हे भव्य ! तुम इस ज्ञान मात्र में ही निरंतर प्रीति को प्राप्त होवो । इतना मात्र ही यह

(२१६)—इस ज्ञान में ही रत हो जाओ संतुष्ट इसी से हो जाओ ।

इसमें ही तृप्त सदा होकर निज में ही सुस्थिर हो जाओ ॥

बस उत्तम सुख तो यह ही है जिसके पश्चात् न दुःख आता ।

ज्ञानात्मा में रम जाने पर जग से न रहा तेरा नाता ॥ २०६ ॥

थावदेव ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि । अथैवं तव तन्नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति । तनु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि मा^१ अन्यान् प्राक्षीः ॥ २०६ ॥

उपजातिछंद—अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेव यस्मात् ।

“सर्वोत्तमसिद्धात्मत्वेन विधत्ते ज्ञानं किमेन्यस्य परिग्रहण ? ॥ १४४ ॥

सत्य कल्याण है कि जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही तुम निरंतर संतोष को प्राप्त होवो । इतने मात्र ही यह पद सत्यस्वरूप अनुभव करने योग्य है कि जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही तुम सतत ही तृप्ति को प्राप्त होवो । इस प्रकार से जब तुम नित्य ही आत्मा में लीन हो जाओगे, आत्मा में संतुष्ट हो जाओगे और आत्मा में ही तृप्त हो जाओगे तब तुम्हें वचन के अगोचर ऐसा सौख्य प्राप्त हो जावेगा । उस सौख्य को उसी क्षण में तुम्हीं स्वयं ही देख लोगे—अनुभव कर लोगे अतः अन्य किसी से मत पूछो । ॥ २०६ ॥

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन हो जाने पर जो आनंद, संतोष और तृप्ति होगी वही सर्वोत्तम सुख को प्राप्त करा देगी । वह आत्मज्ञान निर्विकल्प आत्मध्यान स्वरूप है और उससे होने वाला सुख स्वयं के अनुभव गम्य होगा अतः दूसरे से पूछने से भला क्या लाभ है ?

इसे ही कलशकाव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—यह आत्मा स्वयं अचिन्त्य शक्तिवाला है, देव है, चिन्मात्र चिन्तामणिस्वरूप है जिस हेतु से यह ऐसा है इसीलिये ज्ञानी आत्मा संपूर्ण प्रयोजन को सिद्ध करने वाले ऐसे आत्मस्वरूप से इसको धारण करता है पुनः उस ज्ञानी को अन्य कुछ ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥ १४४ ॥

भावार्थ—इस आत्मा की शक्ति का या गुणों का चिंतन करना अशक्य होने से यह अचिन्त्य शक्तिमान् है, भगवान् है, चैतन्यमात्र से बना हुआ है और चिन्तामणिरत्न के समान चिंतित फल को देने वाला है । इसी से संपूर्ण प्रयोजन सफल हो जाते हैं अतः ज्ञानी आत्मा इस आत्मा की अनुभूति को प्राप्त कर भला अन्य कुछ क्या ग्रहण करना चाहेगा ? अर्थात् उसको अन्य के ग्रहण करने में पूर्ण उदासीनता रहेगी ही रहेगी ।

आत्मा अचिन्त्यशक्ती वाला चिन्मात्र स्वयं चिन्तामणि है ।

उसका असली स्वरूप लखकर ज्ञानी उसमें करता रुचि है ॥

सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्धि हेतु मुनिवर इसमें ही रमते हैं ।

वे बाह्य परिग्रह में कैसे फिर ग्रहण भाव कर सकते हैं ? ॥ १४४ ॥

(उत्थानिका) —अथात्मसुखे संतोषं दर्शयति ।

(२१६ ज०) एदह्नि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्नि ।

एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सुक्खं ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।

एतेन भव तृप्तो ततो भविष्यति उत्तमं सौख्यं ॥ २१६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एदह्नि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्नि एदेण होहि तित्तो हे भव्य ! पंचेन्द्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव, संतुष्टो भव, तृप्तो भव नित्यं सर्वकालं तो होहदि उत्तमं सुक्खं ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति ॥ २१६ ॥

उत्थानिका—अब आत्मसुख में संतोष को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(एदह्नि णिच्चं रदो एदह्नि णिच्चं संतुट्ठो होहि) इस ज्ञान में ही तुम सदा लीन होवो, इस परमार्थ ज्ञान में ही नित्य संतुष्ट होवो (एदेण तित्तो होहि) इससे ही तुम तृप्त होवो (तो उत्तमं सुक्खं होहदि) उससे उत्तम सुख प्राप्त होवेगा ॥ २१६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—हे भव्य ! तुम पंचेन्द्रिय के सुखों को छोड़ करके निर्विकल्प योग—निर्विकल्प ध्यान के बल से स्वाभाविक परमात्मा के सुख में लीन होवो, उसी में संतुष्ट होवो और सदाकाल उसी में तृप्त होवो । इस आत्मसुख के अनुभव से तुम्हें उत्तम, अक्षय, मोक्ष सुख प्राप्त हो जावेगा ॥ २१६ ॥

विशेषार्थ—यहां पर अभेदरूप एक ज्ञानमय आत्मा में रति, संतोष और तृप्ति को करने के लिये कहा है । विचार करके देखा जाय तो यहां 'रति' रुचि, प्रेम से श्रद्धा, प्रतीति आदि पर्यायवाची शब्दों को ग्रहण करके श्रद्धान् अर्थ लेना चाहिये । क्योंकि जहां रति है वहीं श्रद्धा होती है । कहा भी है—

यत्रैवाहितधीः पुंसां श्रद्धा तत्रैव जायते ।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते^१ ॥

जहां पर पुरुष की बुद्धि लगती है—उपयोग लगता है वहीं पर श्रद्धा होती है और जहां पर श्रद्धा होती है वहीं पर मन लीन हो जाता है । पुनः 'संतोष' शब्द से 'अधिगम—ज्ञान' लिया जाना चाहिये । क्योंकि ज्ञान से ही संतोष होता है—सुख होता है । जब ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब संतोष होना स्वाभाविक है । पुनः 'तृप्ति' से चारित्र को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि आत्मस्वरूप ज्ञान में तृप्त होना—लीन होना—अनुभव करना ही निश्चय चारित्र

कुतो ज्ञानी न परं गृह्णातीति चेत्—

को नाम भणिज्ज बुहो परद्रव्यं मम इमं हवदि द्रव्यं ।

अप्याणमप्यणो परिग्रहं तु णियदं विद्याणंतो ॥ २०७ अ० ॥

को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं ।

आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २०७ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः^१ । स तस्य स्वामीति खरतर-

है। इस प्रकार यहां ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा में रति, उसी में संतोष और उसी में तृप्ति के कथन से ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि इस शुद्धज्ञानमय आत्मा का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी के अनुभवरूप चारित्र ऐसे निश्चयरत्नत्रय से—अभेदरत्नत्रय से ही वचन के अगोचर ऐसा अतीन्द्रिय सुख प्राप्त हो जाता है, जिसे यह आत्मा स्वयं ही अनुभव करता है इसलिये जो आत्मा में रत है आत्मा में संतुष्ट है और आत्मा में तृप्त है वे महामुनि निर्विकल्प ध्यान में निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। यह अवस्था बारहवें गुणस्थान में घटित होती है, इसका प्रारंभ छठे गुणस्थानवर्ती भेदरत्नत्रयधारी मुनि ही सातवें, आठवें आदि गुणस्थानों में करते हैं ऐसा समझना।

उत्थानिका—ज्ञानी आत्मा पर को क्यों नहीं ग्रहण करता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कः नाम बुधः भणेत् इदं परद्रव्यं मम द्रव्यं भवति) कौन बुद्धिमान् ऐसा कहेगा ? कि यह पर द्रव्य मेरा द्रव्य है अर्थात् कोई नहीं कहेगा (आत्मानं तु नियतं आत्मनः परिग्रहं विजानन्) ज्ञानी आत्मा को ही नियम से आत्मा का परिग्रह जानता हुआ रहता है ॥ २०७ ॥

आत्मख्याति—जो ज्ञानी है वह जानता है कि जो जिसका अपना भाव है वही उसका स्व—अपना है या अपना धन है और उसी स्वभावरूप द्रव्य का वह स्वामी है इस प्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्व दृष्टि के अवलंबन से अपनी आत्मा को ही नियम से अपनी आत्मा का परिग्रह जानता

(२१७)—है कौन सुधी ऐसा जो पर द्रव्यों को अपना कह सकता ?

जो आत्मा को ही आत्मपरिग्रह मान उसी में रम सकता ॥

पर को अपना कहने वाला ज्ञानी पण्डित नहीं हो सकता ।

शुद्धात्मध्यान में लीन साधु ही पर भावों को खो सकता ॥ २०७ ॥

तत्त्वदृष्ट्यवष्टंभाद् आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति । ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ॥ २०७ ॥

(उत्थानिका) —अथ ज्ञानी परद्रव्यं न गृह्णतीति भेदभावनां प्रतिपादयति;—

(२१७ ज०) को णाम भणिज्ज बुहो परदब्बं मम इदं हवदि दब्बं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं विद्याणंतो ॥

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं ।

आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २१७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—को णाम भणिज्ज बुहो परदब्बं मम इदं हवदि दब्बं परद्रव्यं मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात् ? बुधो ज्ञानी, न कोपि । किं कुर्वन् ? अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं विद्याणंतो चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानमेव, आत्मनः परिग्रहं विजानन् नियतं निश्चितमिति ॥ २१७ ॥

है इसलिये यह मेरा अपना द्रव्य नहीं है और मैं भी इसका स्वामी नहीं हूँ ऐसा समझकर वह ज्ञानी आत्मा परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता है ॥ २०७ ॥

उत्थानिका—ज्ञानी जीव पर द्रव्य को नहीं ग्रहण करता है, इस भेदभावना को प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पाणं तु णियदं अप्पणो परिग्गहं विद्याणंतो) अपनी आत्मा को निश्चित अपना परिग्रह जानता हुआ (को णाम बुहो भणिज्ज इदं परदब्बं मम हवदि) कौन ऐसा बुद्धिमान कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ? अर्थात् कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं कहेगा ॥ २१७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह परद्रव्य मेरा है इस प्रकार से भला स्पष्टतया कौन कहेगा ? जो कोई ज्ञानी आत्मा होगा वह कोई भी ऐसा नहीं कहेगा । क्योंकि वह चिदानन्द एक स्वभाववाली शुद्धात्मा को ही निश्चित रूप से अपनी आत्मा का परिग्रह जानता है ॥ २१७ ॥

भावार्थ—यहां 'स्व' शब्द से अपना अर्थ है तथा 'स्व' का अर्थ धन भी है इसलिये यह अपना है और अपना धन है या अपना असाधारण भाव है । ऐसा समझना चाहिये । जैसे अग्नि की उष्णता उसका स्वभाव है, अपना है और उसी अग्नि का धन है । वैसे ही आत्मा का आत्मा ही स्वभाव है, अपना है, अपना धन है ।

अतोहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।

णादेव अहं जह्सा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८ अ० ॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं ।

ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मात्त्र परिग्रहो मम ॥ २०८ ॥

आत्मख्यातिः—यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णायां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात् । अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्यां । अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव । एवमवशेनापि ममाजीवत्वमाप्नोत । मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी, ततो माभून्ममाजीवत्वं ज्ञातैवाहं भविष्यामि न परद्रव्यं परिगृह्णामि, अयं च मे निश्चयः ॥ २०८ ॥

उत्थानिका—अतः मैं भी उन परद्रव्यों को ग्रहण नहीं करता हूँ—

अन्वयार्थ—(यदि मम परिग्रहः ततः अहं अजीवतां तु गच्छेयं) यदि मेरा परद्रव्य परिग्रह है तब तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँगा (यस्मात् अहं ज्ञाता एव तस्मात् मम परिग्रहः न) जिस हेतु से मैं ज्ञाता ही हूँ उसी हेतु से मेरा कुछ भी परिग्रह नहीं है ।

आत्मख्याति—यदि परद्रव्यस्वरूप अजीव को मैं ग्रहण करूँगा तब तो अवश्य ही वह अजीव द्रव्य स्व—अपना स्वरूप हो जावेगा और मैं भी अवश्य ही उस अजीव द्रव्य का स्वामी हो जाऊँगा किंतु अजीव का जो स्वामी है वह नियम से अजीव ही है इस प्रकार से तो जबरन ही मुझे अजीवपना प्राप्त हो जावेगा । मेरा तो मात्र जो एक ज्ञायक भाव है वही अपना है उसी का मैं स्वामी हूँ इसलिये मेरे अजीवपना न होवे मैं तो ज्ञाता ही होऊँगा—रहूँगा, मैं परद्रव्य को नहीं ग्रहण करूँगा अब यही मेरा निश्चय हो गया है ॥ २०८ ॥

भावार्थ—निश्चयनय की दृष्टि से यह जीवात्मा कभी भी परद्रव्य को न ग्रहण करता है न उस रूप होता है न उसका स्वामी ही बनता है । ज्ञानी महामुनि भी निश्चयनय का अवलंबन लेकर परद्रव्य से अपने को पृथक् निश्चय कर निज शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं । उसके पूर्व चतुर्थ, पंचम, गुणस्थानवर्ती भी श्रद्धान से अपने को ही अपना निश्चित कर पर को पर समझते हैं । अतः परद्रव्यरूप अजीवपने को नहीं प्राप्त करते हैं ।

(२१८)—यदि अन्य परिग्रह मेरा हो तो कैसे जीव कहाऊँगा ।

मैं खुद अजीवपन को पाकर जड़ता को ही पा जाऊँगा ॥

अतएव परिग्रह नहीं मेरा क्योंकि मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ ।

ज्ञायक स्वभाव में ही समकर परद्रव्य ग्रहण नहीं करता हूँ ॥ २०८ ॥

(उत्थानिका) —अथ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यानं मम परिग्रहो न भवतीति पुनरपि भेदज्ञानशक्तिं वैराग्यशक्तिं च प्रकटयति—

(२१८ ज०) मज्झं परिग्रहो यदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज ।

णादेव अहं जह्या तह्या ण परिग्रहो मज्झ ॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽमजीवतां तु गच्छेयं ।

ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥ २१८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मज्झं परिग्रहो यदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्वरागादिकं परद्रव्यं परिग्रहो भवति ततोऽहमजीवत्वं जडत्वं गच्छामि । न चाहं अजीवो भवामि । णादेव अहं जह्या तह्या ण परिग्रहो मज्झ परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्ततः परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थः ॥ २१८ ॥

छिज्जदु वा भिज्जदु वा पिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।

जह्या तह्या गच्छदु तहवि हु ण परिग्रहो मज्झ ॥ २०९ अ० ॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयं ।

यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥ २०९ ॥

उत्थानिका—अब मिथ्यात्व रागादिरूप अपध्यान मेरे परिग्रह नहीं हैं । इस प्रकार से पुनरपि भेदज्ञान की शक्ति को और वैराग्य की शक्ति को प्रगट कर रहे हैं ।

अन्वयार्थ—(जदि मज्झं परिग्रहो तदो अहं अजीविदं तु गच्छेज्ज) यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह है तब तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊंगा (जह्या अहं णादेव तह्या मज्झ परिग्रहो ण) जिस कारण मैं ज्ञाता हूं इसी कारण परिग्रह मेरा नहीं है ॥ २१८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—सहज शुद्ध केवलज्ञान दर्शन स्वभाववाले ऐसे मेरे यदि ये मिथ्यात्व रागादि परद्रव्य परिग्रह होते हैं तब तो मैं अजीवत्व को—जड़पने को प्राप्त हो जाऊंगा किंतु मैं तो अजीव नहीं होता हूं मैं तो परमात्मज्ञानपदरूप ही हूं । जिस हेतु से मैं ऐसा हूं उसी हेतु से ये परद्रव्य मेरे परिग्रह नहीं हैं ऐसा यहां अभिप्राय है ॥ २१८ ॥

उत्थानिका—ज्ञानी क्या विचारता है ?

अन्वयार्थ—(छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा अथवा विप्रलयं यातु) यह परद्रव्य छिद जावे अथवा भिद जावे, अथवा कोई ले जावे या नष्ट हो जावे, जिस किसी तरह से चला जावे (तथापि खलु परिग्रह मम न) फिर भी नियम से यह परिग्रह मेरा नहीं है ॥ २०९ ॥

(२१९)—छिद जावे भिद जावे अथवा कोई भी उसको ले जावे ।

हो नष्ट किसी भी तरह कहीं भी किन्हीं युक्ति से हो जावे ॥

तो भी उन पर द्रव्यों को मैं कथमपि स्वीकार न कर सकता ।

प्रत्येक द्रव्य निज सत्ता तज परद्रव्य-रूप नहिं परिणमता ॥ २०९ ॥

आत्मख्यातिः—छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि । यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी । परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी । अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ॥ २०९ ॥

वसंततिलका—इत्थं परिग्रहभयास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं ।

अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ १४५ ॥

(उत्थानिका) —अथायं च मे निश्चयः देहरागादिपरद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञानं निरूपयति—

(२१९ ज०) छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।

जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां अथवा यातु विप्रलयं ।

यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि न परिग्रहो मम ॥ २१९ ॥

आत्मख्याति—ये शरीर आदि परद्रव्य चाहे छिद जावें या भिद जावें, या कोई इसे ले जावें अथवा ये प्रलय को प्राप्त हो जावें, अथवा जहां कहीं ये चले जावें फिर भी मैं परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता हूँ क्योंकि ये परद्रव्य न मेरे हैं और न मैं इन परद्रव्यों का स्वामी हूँ । यह परद्रव्य ही परद्रव्यों का स्व—अपना है और परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है । मैं ही मेरा स्व—अपना हूँ और मैं ही मेरा स्वामी हूँ ऐसा जानता हूँ ॥ २०९ ॥

इसी को कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—इस प्रकार सामान्यरूप से समस्त ही परिग्रह को छोड़कर के स्व और पर में अविवेक का हेतु ऐसा जो अज्ञान है उसको छोड़ने के लिये इच्छुक होता हुआ यह ज्ञानी पुनः विशेष रीति से उसी परिग्रह का परिहार करने के लिये प्रवृत्त हो रहा है ॥ १४५ ॥

भावार्थ—ज्ञानी महामुनि पहले तो सामान्यरीति से गृह, कुटुंब, धन आदि परिग्रह को छोड़कर मुनि बन जाते हैं पुनः 'यह शरीरादि भी मेरे नहीं हैं' इनसे ममत्व दूर करने के लिये विशेष रीति से स्व-पर का भेदविज्ञान करते हुये पर से निर्मम होकर शुद्धोपयोगी बनने की भावना भाते हुये शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति करने लगते हैं ।

उत्थानिका—अब मेरा यह निश्चय है कि ये शरीर और रागादि परद्रव्य मेरे परिग्रह नहीं हैं, इस प्रकार के भेदविज्ञान का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव विप्पलयं जादु) यह परद्रव्य छिद जावे या भिद जावे या इसे कोई ले जावे अथवा इसका प्रलय हो जावे (जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि परिग्गहो मज्झ ण) या जहां कहीं भी चला जावे फिर भी यह परिग्रह मेरा नहीं है ॥ २१९ ॥

इस तरह सभी परिग्रह को जो सामान्य से छुड़वा भी देता ।

लेकिन अज्ञानभाव निज पर का भेद नहीं होने देता ॥

ज्ञानी मुनि बाह्य परिग्रह तज अज्ञान भाव भी तजते हैं ।

शुद्धात्म भावना के बल पर श्रेणी आरोहण करते हैं ॥ १४५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलथं छिद्यतां वा द्विधा भवतु, भिद्यतां वा छिद्दीभवतु, नीयतां वा केनांचत् अथवा विप्रलथं विनाशं गच्छतु, एवमेव जहा तहा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीरं मम परिग्रहो न भवति । कस्मात् ? इति चेत् टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावोहं, यतः कारणात् । अयं च मे निश्चयः ॥ २१९ ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।

अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥ २१० अ० ॥

अपरिग्गहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं ।

अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१० ॥

आत्मख्यातिः—इच्छा परिग्रहः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानगय एव भावोऽस्ति, ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य

तात्पर्यवृत्ति—यह परद्रव्य छिद जावे—इसके दो टुकड़े हो जावे अथवा यह भिदजावे—इसमें नाना छेद हो जावे अथवा इसे कोई ले जाले, अथवा यह विनाश को प्राप्त हो जावे । इसी प्रकार से यह अन्य जिस-तिस किसी भी कारण से यह कहीं चला जावे फिर भी यह शरीर मेरा परिग्रह नहीं है क्योंकि मैं टंकोत्कीर्ण परमानंद ज्ञायक एक स्वभाववाला हूँ अब यह मेरा निश्चय हो गया है ॥ २१९ ॥

उत्थानिका—इसे ही पुनः कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी अपरिग्रहः अनिच्छः भणितः च धर्मं न इच्छति) ज्ञानी अपरिग्रही और इच्छा रहित कहा गया है अतः वह धर्म को नहीं चाहता है (तेन धर्मस्य अपरिग्रहः तु सः ज्ञायकः भवति) इसलिये वह धर्म का अपरिग्रही है अतः वह ज्ञायक ही होता है ।

आत्मख्याति—इच्छा का नाम परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह भी नहीं है । यह इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और वह अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं है क्योंकि ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही है इसलिये ज्ञानी आत्मा अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से धर्म को नहीं

(२१०)—ज्ञानी विराग सम्यग्दृष्टी ने पूर्ण परिग्रह त्याग दिया ।

मनवचनकाय से परिग्रह की इच्छा का भी परित्याग किया ॥

इस ही कारण उस ज्ञानी के नहीं धर्म परिग्रह की इच्छा ।

बस मात्र धर्म का ज्ञायक जो वह ही जग में ज्ञानी सच्चा ॥ २१० ॥

इच्छाया अभावाद् धर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद् धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१० ॥

(उत्थानिका) —अथ विशेषपरिग्रहत्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुणं विवृणोति—

(२२० ज०) अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।

अपरिग्रहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥

अपरिग्रहोऽणिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं ।

अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२० ॥

तात्पर्यवृत्ति—अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदे धम्मं अपरिग्रहो भणितः । कोसौ ? अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्विच्छा वांछा मोहो नास्ति । तेन कारणेन स्वसंवेदनज्ञानी शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्मं विहाय शुभोपयोगरूपं धर्मं पुण्यं नेच्छति अपरिग्रहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ततः कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् अतन्मयो भवन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ॥ २२० ॥

चाहता है इसलिये ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है । इस ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के होने से ज्ञानी इस धर्म का केवल—मात्र ज्ञायक ही होता है ॥ २१० ॥

उत्थानिका—अब विशेषपरिग्रह के त्यागरूप से उसी ज्ञानगुण का यहाँ वर्णन करते हैं ।

अन्वयार्थ—(णाणी अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो य धम्मं णिच्छदे) ज्ञानी आत्मा अपरिग्रही और इच्छा रहित कहा गया है अतः वह धर्म को नहीं चाहता है (तेण धम्मस्स दु अपरिग्रहो सो जाणगो होदि) इससे वह धर्म का अपरिग्रही है अतः वह ज्ञायक ही है ॥ २२० ॥

तात्पर्यवृत्ति—वह अपरिग्रही है जो इच्छारहित है । उसके परिग्रह नहीं है, जिसके बाह्यद्रव्यों में इच्छा—वांछा—मोह नहीं है । इस कारण से स्वसंवेदनज्ञानी आत्मा शुद्धोपयोगरूप निश्चय धर्म को छोड़कर शुभोपयोगरूप धर्म को—पुण्य को नहीं चाहता है । उसी कारण से यह पुण्यरूप धर्म का अपरिग्रही होते हुये 'यह पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसा जानकर तद्रूप से—उस पुण्यरूप से परिणमन न करते हुये, तन्मय न होते हुये दर्पण में झलकते हुये प्रतिबिम्ब के समान वह ज्ञायक—ज्ञाता ही रहता है ॥ २२० ॥

भावार्थ—जैसे दर्पण में अग्नि के प्रतिबिम्ब के पड़ने पर भी वह जलता नहीं है, धन के झलकने पर भी वह धनी नहीं बनता है—इत्यादि । वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा भी शुद्धोपयोग में स्थित होते हुये शुभोपयोगरूप पुण्य में परिणमन नहीं करता है अतः वह इच्छारूप परिग्रह से रहित होते हुये बाह्य पदार्थों से निर्मम हो जाता है । यह अवस्था छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिये ही संभव है चूँकि वे ही शुद्धोपयोग के अधिकारी हैं ।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।

अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११ अ० ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी न नेच्छत्यधर्मं ।

अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २११ ॥

आत्मख्यातिः—इच्छा परिग्रहः, तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति, इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छया अभावादधर्मं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति, ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् । एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मानोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राण रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि ॥ २११ ॥

उत्थानिका—इसे ही पुनः घटित करते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी अनिच्छः अपरिग्रहः भणितः अधर्मं न इच्छति) ज्ञानी इच्छारहित होने से अपरिग्रही कहा गया है अतः वह अधर्म को नहीं चाहता है । (सः अधर्मस्य अपरिग्रहः तेन ज्ञायकः भवति) वह अधर्म का परिग्रही नहीं है इसी हेतु से वह उसका ज्ञाता होता है ॥ २११ ॥

आत्मख्याति—इच्छा को परिग्रह कहते हैं जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह भी नहीं है । यहां पर इच्छा ही तो अज्ञानमय भाव है और यह अज्ञानमय भाव ज्ञानी आत्मा के नहीं है क्योंकि ज्ञानी के तो ज्ञानमय भाव ही होता है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से अधर्म को नहीं चाहता है इसी हेतु से ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है । ज्ञानी के ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव का सद्भाव होने से वह अधर्म का केवल ज्ञायक ही रहता है । इस प्रकार अधर्मपद के परिवर्तन से राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान कर लेना चाहिये । इस प्रक्रिया से अन्य-अन्य भी विभाव भावों को समझ लेना चाहिये ॥ २११ ॥

(२२१)—उस इच्छा रहित तपोधन ने सम्पूर्ण परिग्रह त्याग दिया ।

उस तत्त्वज्ञानि ने अधर्ममय विषयों का भी परित्याग किया ॥

वह तो बस मात्र अधर्म विषय का ज्ञायक एक स्वभावी है ।

अज्ञानी इनमें रमता है ज्ञानी सबमें समभावी है ॥२११॥

(२२१ ज०) अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदि अहम्मं ।
अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्म ।

अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदि अहम्मं अपरिग्रहो भणितः स कः ? अनिच्छः—तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा कांक्षा नास्ति । तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषय-कषायरूपमधर्मं पापं नेच्छति । अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि तत एव कारणात्—विषय-कषायरूपस्याधर्मस्यापरिग्रहः सन् पापमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति । एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितानंतज्ञानादिगुण-स्वरूपशुद्धात्मनः प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थः—(णाणी अणिच्छो अपरिग्रहो भणितो य अहम्मं णिच्छदि) ज्ञानी इच्छारहित अपरिग्रही कहा गया है अतः यह अधर्म की इच्छा नहीं करता है (अधम्मस्स अपरिग्रहो तेण सो जाणगो होदि) वह अधर्म का अपरिग्रही है इसलिये वह उसका ज्ञाता ही होता है ॥ २२१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो इच्छा रहित है वह अपरिग्रही कहा गया है । उसके परिग्रह भी नहीं है जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा—आकांक्षा नहीं है । इस कारण से तत्त्वज्ञानी विषय-कषायरूप अधर्म—पाप को नहीं चाहता है इसी हेतु से वह विषय-कषायरूप अधर्म का अपरिग्रही होता हुआ 'यह पाप मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसा जानकर तद्रूप से परिणामन न करते हुये दर्पण में पड़ते हुये बिम्ब के समान मात्र वह ज्ञायक ही रहता है । इसी प्रकार अधर्म पद के परिवर्तन से राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सत्रह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । उसी तरह शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित अनंत ज्ञानादि गुणस्वरूप जो शुद्धात्मा है उसके प्रतिपक्षी शेष भी असंख्यात लोकप्रमाण जो विभाव परिणाम स्थान हैं उन्हें छोड़ देना चाहिये ॥ २२१ ॥

भावार्थः—श्री अमृतचंद्रसूरि ने राग द्वेष के बाद मोह पद न लेकर स्पर्शन इंद्रिय तक सोलह सूत्रपद माने हैं एवं श्रीजयसेनाचार्य ने राग, द्वेष, मोह ऐसे तीन पद लेकर स्पर्शन इंद्रिय तक सत्रह सूत्रपद कहे हैं । इतना ही मात्र अंतर है । यह प्रकरण भी छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिए ही समझना ।

(२२२ ज०) धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुब्बेसु ।
संगं च तहा ज्ञेयं देवमणुअत्तिरियणेइयं ॥

धर्मार्थी अधर्मार्थी आकाशं श्रुतमंग-पूर्वेषु ।

संगं च तथा ज्ञेयं देव-मनुष्य-तिर्यग्-नरकादिकम् ॥ २२२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्रही भणितः । कौऽसौ? अनिच्छः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा आकांक्षा नास्ति । तेन कारणेन परमतत्त्वज्ञानी चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं विहाय धर्माधर्माकाशाद्यंगपूर्वगतश्रुत-बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहदेवमनुष्यतिर्यङ्नारकादिविभावपर्यायात्रेच्छति इति ज्ञेयं ज्ञातव्यं । ततः कारणात्तद्विषये निष्परिग्रहो भूत्वा तद्रूपेणापरिणमन् सन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ—(धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं अंगपुब्बेसु सुत्तं) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, अंग-पूर्वों का श्रुत (संगं च तहा देवमणुअत्ति रियणेइयं ज्ञेयं) सर्व परिग्रह और उसी प्रकार देव, मनुष्य, तिर्यच तथा नारकी इन सब पर्यायों को ज्ञानी नहीं चाहता है ॥ २२२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—वह अपरिग्रही कहा गया है जो इच्छा रहित है । उसके परिग्रह नहीं है जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा—आकांक्षा नहीं है । इस कारण से परमतत्त्वज्ञानी चिदानन्द एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा को छोड़कर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, आदि वैसे ही अंग-पूर्वगत श्रुतज्ञान, बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह, देव, मनुष्य, तिर्यच और नारक आदि पर्यायों को इन सब विभाव पर्यायों को नहीं चाहता है ऐसा जानना चाहिये । इस हेतु से उन विषयों में निष्परिग्रही होकर तद्रूप से परिणमन न करते हुये दर्पण में पड़ते हुये प्रतिबिम्ब के समान मात्र ज्ञाता ही होता है ऐसा समझना ॥ २२२ ॥

भावार्थ—ऊपर गाथाओं में धर्म—पुण्य और अधर्म—पाप को लिया जा चुका है अतः यहां धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य संगत हैं चूंकि इस गाथा में ज्ञेय परिग्रह से हटाया गया है । यह सभी प्रकरण पाँच महाव्रत के धारी अपरिग्रही महामुनि के लिये ही हैं ऐसा समझना क्योंकि यहां गृहस्थाश्रम में रहने वाले आरंभी-परिग्रही की बात ही नहीं है वे तो पहले सर्व बाह्यपरिग्रह त्याग करेंगे पश्चात् अन्तरंग परिग्रह से इच्छा छोड़ेंगे ।

(२२२)—ज्ञानी के धर्म अधर्म और आकाश परिग्रह भी नहीं हैं ।

श्रुतज्ञान अंग पूर्व संयुत बाह्याभ्यन्तर परिग्रह नहीं हैं ॥

नहिं देव मनुज तिर्यञ्च और नरकादि परिग्रह भी उसके ।

आत्मा तो ज्ञायक भाव मात्र उसके न परिग्रह कह सकते ॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदे असणं ।

अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१२ अ० ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति अशनं ।

अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१२ ॥

आत्मख्यातिः—इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१२ ॥

ज्ञानी के आहार भी परिग्रह नहीं है—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी अपरिग्रहः अनिच्छः भणितः च अशनं न इच्छति) ज्ञानी इच्छा रहित होने से अपरिग्रही कहा गया है अतः वह भोजन को नहीं चाहता है (सः अशनस्य तु अपरिग्रहः तेन ज्ञायकः भवति) वह भोजन का अपरिग्रही है इसलिये वह ज्ञायक ही रहता है ॥ २१२ ॥

आत्मख्याति—इच्छा परिग्रह है, वह परिग्रह उसके नहीं है जिसके इच्छा नहीं है । यह इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और यह अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं है क्योंकि ज्ञानी के तो ज्ञानमय भाव ही होता है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा का अभाव हो जाने से भोजन को नहीं चाहता है । इसी कारण से ज्ञानी के भोजनरूप परिग्रह नहीं है उसके ज्ञानमय एक ज्ञायक भाव के होने से वह ज्ञानी आत्मा भोजन का मात्र ज्ञायक—ज्ञाता ही रहता है ॥ २१२ ॥

(२२३)—उस आत्मलीन सम्यग्ज्ञानी ने सभी परिग्रह त्याग दिया ।

उस शुद्धात्म ज्ञानी ने भोजन की गृद्धी का त्याग किया ॥

वह तो बस ज्ञानामृत भोजन से तृप्त सदा ही रहता है ।

वह युक्ताहार विहारी मुनि उसका ज्ञायक ही रहता है ॥ २१३ ॥

(२२३ ज०) अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी ।

अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितोऽशनं च नेच्छति ज्ञानी ।

अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः । स कः ? अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा मूर्च्छा ममत्वं नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति । अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति । न च रागरूपेण ग्राहक इति ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थः—(णाणी अणिच्छो अपरिग्रहो भणिदो य असणं णिच्छदे) ज्ञानी इच्छा रहित अपरिग्रही कहा गया है अतः वह भोजन की इच्छा नहीं करता है (असणस्स दु अपरिग्रहो तेण सो जाणगो होदि) वह भोजन का अपरिग्रही है अतः वह ज्ञाता ही होता है ॥ २२३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—वह अपरिग्रही कहा गया है जो इच्छा से रहित है । जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा—मूर्च्छा—ममत्त्व नहीं है उसके परिग्रह नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है वह ज्ञानी के संभव ही नहीं है इसलिये आत्मसुख में तृप्त होकर ज्ञानी आत्मा भोजन के विषय में निष्परिग्रही होता हुआ दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु के समान अशन—भोजन आदि आहाररूप वस्तुओं का वस्तुरूप से ज्ञायक—ज्ञाता ही रहता है उनका रागरूप से ग्रहण करने वाला नहीं होता है, ऐसा समझना ॥ २२३ ॥

भावार्थ—यह विषय भी महामुनियों का ही है वे ही एषणासमिति से आहार करते हुये भी निराहारी माने जा सकते हैं । आगे गाथा में स्वयं श्री जयसेनाचार्य ने खोला है । और इच्छा का अभाव तो पूर्णतया बारहवें गुणस्थान में ही होता है चूंकि वहां पर मोहनीय का सर्वथा अभाव होता है ।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो पाणी य णिच्छदे पाणं ।

अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१३ अ० ॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानं ।

अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१३ ॥

आत्मख्यातिः—इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञान्यज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति । तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायक-भावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१३ ॥

पीने का परिग्रह भी ज्ञानी के नहीं है—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी अनिच्छः अपरिग्रहः भणितः च पानं न इच्छति) ज्ञानी इच्छा रहित होने से अपरिग्रही कहा गया है । अतः वह पीने योग्य वस्तु को नहीं चाहता है (सः पानस्य अपरिग्रहः तु तेन ज्ञायकः भवति) वह पीने रूप वस्तुओं का अपरिग्रही है इसलिये ज्ञायक मात्र होता है ॥ २१३ ॥

आत्मख्याति—इच्छा का नाम परिग्रह है । उसके परिग्रह भी नहीं है जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है । वह अज्ञानमय भाव तो ज्ञानी के नहीं है । ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी के अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से वह पीने योग्य वस्तुओं को नहीं चाहता है अतः ज्ञानी के पीने रूप वस्तुओं का परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायक भाव के सद्भाव से वह केवल—मात्र पानक—ठंडई, जल आदि का ज्ञाता ही रहता है ॥ २१३ ॥

(२२४)—जो इच्छा रहित तपोधन है वह सर्वपरिग्रह मुक्त कहा ।

जल आदिक पीने की इच्छा का उसके नहीं सद्भाव रहा ॥

इस कारण पानक का परिग्रह ज्ञानी के कभी न होता है ॥

उसका बस ज्ञायक ही होकर शुद्धात्म ध्यानी होता है ॥ २१३ ॥

(२२४ ज०) अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी ।
अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितः पानं च नेच्छति ज्ञानी ।

अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२२४॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः । कौसौ ? अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्व्येष्टाङ्गं तृष्णा मोह इच्छा नस्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ततः कारणात् स्वाभाविकपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वा विविधपानकविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव वस्तुनो वस्तुस्वरूपेण ज्ञायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति । तथा चोक्तं—ण वत्ताडसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयइतेजट्ठं । पाणट्ठं संजमट्ठं ज्ञाणट्ठं चेव भुञ्जंति ॥ १ ॥ अक्खामक्खणिमित्तं इसिणो भुञ्जंति पाणधारणणिमित्तं । पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ—(पाणी अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो य पाणं णिच्छदे) ज्ञानी अपरिग्रही इच्छारहित कहा गया है वह पानक की इच्छा नहीं करता है (पाणस्स दु अपरिग्रहो तेण सो जाणगो होदि) वह पानक का अपरिग्रही है अतः वह पानक का ज्ञाता ही होता है ॥ २२४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—वह अपरिग्रही कहलाता है जो इच्छा रहित है । उसके परिग्रह नहीं है जिसके बाह्य पदार्थों में आकांक्षा—तृष्णा—मोह अथवा इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और वह ज्ञानी के संभव नहीं है, इस कारण वह स्वाभाविक परमानन्द सुख में तृप्त होकर नाना प्रकार के पानक—ठण्डई, दूध, जल, मट्ठा आदि पदार्थों के विषय में निष्परिग्रही होता हुआ दर्पण में पड़ते हुये बिम्ब के समान वस्तुओं को वस्तुरूप से जानता ही रहता है किंतु रागरूप परिणामों से उनको ग्रहण नहीं करता है ।

मूलाचार में कहा भी है—

मुनिराज न बल के लिये, न आयु के लिये और न स्वाद के लिए आहार करते हैं वैसे ही न शरीर की पुष्टि के लिये और न तेज के लिए आहार करते हैं । किंतु ज्ञान के लिये, संयम के लिए और ध्यान के लिये ही आहार ही लेते हैं । जिस प्रकार अक्षम्रक्षण—गाड़ी के पहिये के धुरे में ओंगन देकर उसे चलाते हैं वैसे ही ऋषिगण प्राणों के धारण करने के लिए आहार करते हैं । वह प्राणों का धारण धर्म के लिये है और धर्म का आचरण मोक्ष के लिये होता है—इसलिये मुनि आहार लेते हुये भी निराहारी माने जाते हैं ॥२२४॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा २१० से २१३ तक चार गाथाओं में कहा है कि ज्ञानी इच्छारहित होने से अपरिग्रही है वह मात्र धर्म, अधर्म, अशन और पान का ज्ञाता ही रहता है। श्री अमृतचंद्रसूरि ने इन चार गाथाओं की टीका की है। श्री जयसेनाचार्य ने इन्हीं में एक गाथा और ली है उसमें कहा है कि धर्म, अधर्म, आकाश, अंग-पूर्व श्रुत, संग और देवादि पर्यायें जो भी हैं उनमें ज्ञानी इच्छारहित होने से अपरिग्रही है। यहाँ श्री जयसेनाचार्य ने धर्म से पुण्य और अधर्म से पाप को लिया है। मध्य की अधिक वाली गाथा से धर्म, अधर्म, आकाश आदि द्रव्य यहाँ लिये गये हैं। ज्ञानी के इनका विकल्प न होने से वह इन द्रव्यों के परिग्रह से रहित निष्परिग्रही निर्विकल्प ध्यानी होता है।

यहाँ चारों गाथाओं में यह कहा है कि ज्ञानी इच्छारहित है अतः अपरिग्रही है। प्रश्न उठता है कि यह ज्ञानी कौन है ? वास्तव में इस ग्रन्थ की पद्धति के अनुसार यह ज्ञानी सप्तम गुणस्थानवर्ती महामुनि ही हो सकता है। वही इच्छा रहित निर्विकल्प ध्यानी होने से ज्ञानी माना जाता है। यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि उस अवस्था में तो आहार की प्रवृत्ति कैसे घटेगी ? विचार करने से यह प्रतीत होता है कि महामुनि जब तक श्रेणी में आरोहण नहीं करते हैं तब तक वे छोटे से सातवें और सातवें से छोटे गुणस्थान में आरोहण-अवरोहण करते ही रहते हैं। वे मुनि छोटे गुणस्थान में आहार के लिये निकलते हैं। छोटे-सातवें गुणस्थानों का काल मात्र अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त ही माना है। अतः वे मुनि आहार लेते हुये भी गृद्धि से भोजन न करते हुये मात्र स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिये भोजन करते हैं यही कारण है कि वे आहार करते हुये भी इच्छारहित होने से निराहारी कहे जाते हैं। सप्तम गुणस्थान में दो भाग माने गये हैं—सविकल्प और निर्विकल्प अवस्था। आज स्वस्थान अप्रमत्तरूप सविकल्प ध्यान ही होता है सात्विशय अप्रमत्तरूप निर्विकल्प ध्यान संभव नहीं है वह श्रेणी के सन्मुख हुये के ही होता है। अतः महामुनि जो जिनकल्पी हों, गिरि गुफाओं में ध्यान करने में समर्थ हों, परीषह उपसर्गों को सहन करने में सक्षम हों वे इन गाथाओं के अनुसार अनिच्छुक और निष्परिग्रही हैं। हां, कुछ अंश में आज भी इच्छारहित साधु अपरिग्रही हो सकते हैं। किंतु यह अवस्था चतुर्थगुणस्थानवर्ती अव्रती या देशव्रती श्रावकों में संभव नहीं है। वे तो पूर्णरूपेण आरंभ-परिग्रह से सहित हैं। अतः उनमें इन गाथाओं की अवस्था संभव नहीं है। वे पहले तो बाह्य परिग्रह छोड़कर मुनि बनने की इच्छा करें पुनः मुनि बनकर इच्छाओं को भी छोड़ने की इच्छा करें, तभी एक न एक दिन यह अपरिग्रही अवस्था अवश्य प्राप्त हो जावेगी। अतः समयसार पढ़ने का सार यही है कि क्रम-क्रम से त्याग करते हुए अंतरंग से ममत्व छोड़ने का अभ्यास करते रहना चाहिए।

१ एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।

जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४ अ० ॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।

ज्ञायकभावो नियतः निरालंबस्तु सर्वत्र ॥ २१४ ॥

आत्मख्यातिः—एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वं । अथैवमयमशेषभावांतर-परिग्रहशून्यत्वादुद्रांतसमस्तज्ञानः सर्वज्ञाप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियत-टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्वि-ज्ञानघनमात्मानमनुभवति ॥ २१४ ॥

इसी प्रकार अनेक पर जन्य भावों को ज्ञानी नहीं करता है—

अन्वयार्थः—(एवं आदिकान् तु विविधान् सर्वान् भावान् ज्ञानी न इच्छति) इन सभी प्रकार को आदि लेकर नाना प्रकार के सभी भावों को ज्ञानी नहीं चाहता है। (नियतः ज्ञायकभावः तु सर्वत्र निरालंबः) वह निश्चित ही ज्ञायक भाव होने से सर्वत्र अवलंबन रहित रहता है ॥२१४॥

आत्मख्यातिः—इन पूर्वोक्त भावों को आदि में लेकर अन्य भी बहुत प्रकार के जो परद्रव्यों के स्वभाव हैं ज्ञानी उन सभी को ही नहीं चाहता है इसलिये ज्ञानी के संपूर्ण भी परद्रव्यों के भावों का—पर्यायों का परिग्रह नहीं है अतः सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानी आत्मा अत्यंतरूप से निष्परिग्रही है। इस तरह यह संपूर्ण परभावों के परिग्रह से शून्य हो जाने से समस्त भी अज्ञान का वमन करके सर्वत्र ही अत्यंत—पूर्णरूप से अवलंबन रहित होकर प्रतिनियत—निश्चितरूप टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव वाला—मात्र जानने वाला होता हुआ साक्षात् विज्ञान घन स्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है ॥२१४॥

(२२५)—पूर्वोक्त कथित ये विविध भाव ज्ञानी के हुआ न करते हैं ।

सबसे विरक्त होकर वे इनकी इच्छा भी नहीं करते हैं ॥

क्योंकी आत्मा तो निधमरूप से ज्ञायक भाव कहाता है ।

आलम्बन में भी रह करके वह निरालम्ब कहलाता है ॥२१४॥

स्वागता छंद—पूर्ववद्धनिजकर्मविषाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।

तद्वत्त्वथ च रागवियोगान्नमेति न परिग्रहभावं ॥ १४६ ॥

(उत्थानिका) —अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसंहरति—

(२२५ ज०) इच्छादि ए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।

जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ॥

इत्यादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।

ज्ञायकभावो नियतः निरालंबश्च सर्वत्र ॥ २२५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—इच्छादि ए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी इत्यादिकान् पुण्यपापाशनपानादि-
बहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति । अनिच्छन् स कथंभूतो भवति ? जाणगभावो णियदो
णीरालंबो य सव्वत्थ एतेष्वर्थापरमाण्वेतादयैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चितः । पुनश्च कथंभूतो

इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—पूर्व में बंधे हुए अपने कर्मों के उदय के कारण ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो
होता रहे परंतु राग के अभाव से वास्तव में वह उपभोग परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होता
है ॥ १४६ ॥

भावार्थ—पूर्व में बंधे हुए कर्मों के उदय से सुख-दुःख आदि का उपभोग—अनुभव ज्ञानी
को प्राप्त होता है किंतु यदि उसके उन विषयों में रागद्वेष नहीं है तो कर्मों का बंध नहीं होता
है । यहाँ वह बंध सर्वथा नहीं होता ऐसा नहीं समझना प्रत्युत वह अल्प होता है ऐसा समझना ।
यहाँ आहार में—अशन पान का परिग्रह तो मुनियों के लिए ही कहा है । ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब परिग्रह त्याग के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(इच्छादि ए दु विविहे सव्वे भावे य णाणी णिच्छदे) इन सभी प्रकार को आदि
लेकर नाना प्रकार के सभी भावों को ज्ञानी नहीं चाहता है । (सव्वत्थ णियदो णीरालंबो य
जाणगभावो) वह सभी में निश्चित ही निरालंब है अतः ज्ञायकभाव वाला ही रहता है ॥ २२५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—इत्यादि प्रकार से पुण्य, पाप, अशन, पान आदि जो बाह्यभाव हैं इन सभी
भावों को परमात्मतत्त्व का ज्ञानी—महामुनि सभी प्रकार से नहीं चाहता है । इन विभाव भावों
को नहीं चाहते हुये वह ज्ञानी निश्चितरूप से टंकोत्कीर्ण एक परमानंद ज्ञायक स्वभाव वाला ही

ज्ञानी मुनि के यदि पूर्व बद्ध भी कर्म उदय में आते हैं ।

उनका उपभोग करें फिर भी परिग्रह ही नहीं कहलाते हैं ॥

वे रागभाव से रहित वीत-रागी परिणति में रहते हैं ।

इसलिए बंध है अल्प मात्र वे अशन पान तो करते हैं ॥ १४६ ॥

भवति ? जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालम्बोऽपि, अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालम्बन एव तिष्ठतीति भावार्थः ॥ २२५ ॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्छं :

कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५ अ० ॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यं ।

कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२१५ ॥

रहता है। तीनों जगत में तीनों कालों में भी मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुभोदना से बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहरूप चेतन-अचेतन परद्रव्यों में सर्वत्र निरालम्ब होते हुये भी अनंत ज्ञानादिगुणस्वरूप अपने स्वभाव में पूर्णकलश—भरे हुये कलश के समान अवलम्बन सहित ही ठहरता है ऐसा अभिप्राय समझना ॥२२५ ॥

भावार्थ—यहाँ पर श्री जयसेनाचार्य ने पुण्य-पाप और अशन पानादि को ही परिग्रह में लिया है उनकी इच्छा महामुनियों के ही नहीं होती है अतः महामुनि ही निष्परिग्रही कहे जा सकते हैं। श्रावक या अविरती नहीं।

यदि आचार्य देव को श्रावकों की भी विवक्षा होती तो वे धन, मकान, स्त्री पुत्रादि को भी यहाँ ले सकते थे किंतु उनका ग्रहण यहाँ नहीं है अतः मुनियों का ही यह प्रकरण है ऐसा समझना।

यहाँ गाथा में 'एमादिए' एवमादिए पाठ हैं। श्रीजयसेनाचार्य की टीका में 'इच्चादिए दु' पाठ है। अन्य मुद्रित प्रति में 'इच्चादु एदु' पाठ दिखता है।

ज्ञानी के तीन कालगत परिग्रह नहीं है—

अन्वयार्थ—(उत्पन्नोदयभोगः तस्य नित्यं स वियोगबुद्ध्या) उत्पन्न हुये वर्तमान काल के

(२२६)—उत्पन्न हुआ जो उदय भोग ज्ञानी नित भोग करता है।

वह सदा हेयबुद्धी से उस फल रूप वर्तना करता है ॥

आगामी कर्म उदय की वह आकांक्षा कभी न करता है।

इसलिए अतीत अनागत कर्म परिग्रह नहीं वह रखता है ॥२१५ ॥

आत्मख्यातिः—कर्मोदयोपभोगस्तावदतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात् । तत्रातीतस्तावदतीतत्वादेव सन् परिग्रहभावं विन्दति । अनागतस्तु आकांक्षारूपः एव परिग्रहभावं विभृयात् । प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात् । न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टो ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात् । वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात् । ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् । अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो न कांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात् । ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ॥२१५॥

उदय के भोग उस ज्ञानी के हमेशा वियोग बुद्धि होने से वह परिग्रह नहीं है (च अनागतस्य उदयस्य ज्ञानी कांक्षां न करोति) और आगामी काल में होने वाले उदय की ज्ञानी बांछा नहीं करता है ॥ २१५ ॥

आत्मख्याति—कर्मों के उदय से होने वाला उपभोग तीन प्रकार का है—अतीत, वर्तमान और आगामी काल का । उनमें से अतीत का उपभोग तो अतीतपने से ही परिग्रह भाव को धारण करता है । अनागत काल का उपभोग तो आकांक्षा किया गया होने से ही परिग्रह भाव को धारण करता है और वर्तमान काल का उपभोग तो रागबुद्धि से प्रवर्तित हुआ ही परिग्रह भाव को धारण करता है क्योंकि वहाँ राग भाव का सद्भाव है किंतु ज्ञानी के तो वर्तमान में होने वाला कर्मों के उदय का उपभोग रागबुद्धि से होता हुआ नहीं देखा जाता है क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमय भावरूप रागबुद्धि का अभाव है । वियोग बुद्धि से—विरागबुद्धि से या अनासक्ति भाव से ही केवल—मात्र होने वाला वह उपभोग परिग्रह नहीं हो सकता है इसी हेतु से वर्तमान में उत्पन्न हुआ कर्मों के उदय से होने वाला उपभोग ज्ञानी आत्मा के परिग्रह नहीं होता है । अनागत उपभोग भी ज्ञानी के आकांक्षारूप है ही नहीं, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमय भावरूप आकांक्षा का ही अभाव है । इसलिये अनागत भी कर्मों के उदय का उपभोगरूप परिग्रह ज्ञानी के नहीं है ॥२१५॥

भावार्थ—अतीत उपभोग तो बीत चुका है, भविष्यत् के उपभोग में निदान भावना न होने से आकांक्षा नहीं है और वर्तमान में उपभोग में रागभाव नहीं है इसलिये ज्ञानी महामुनि के ये उपभोगरूप परिग्रह नहीं हैं ।

कलश काव्य के टीकाकार श्री शुभचंद्राचार्य ने उपभोग शब्द का अर्थ कर्मों के उदय से होने वाले सुख-दुःख आदि को ही लिया है । इसे ही श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं—

(अस्थानिका) —अथ ज्ञानी वर्तमानभावभोगेषु बांछां न करोतीति कथयति—

(२२६ ज०) —उप्यण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।

कंखामणागदस्स य, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥

उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यं ।

कांक्षामणागतस्थ उदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२२६॥

तात्पर्यवृत्ति—उप्यण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति 'तस्य तस्मिन् भोगविषये षष्ठीसप्तम्योरभेद इति वचनात्' कोसौ निरीहवृत्तिर्भवति ? स्वसंवेदनज्ञानी नित्यं सर्वकालं कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबंधरूपभावभोगोदयस्य कांक्षां न करोति । किं च विशेषः । य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्त-परद्रव्यनिरालंबनो भावः परिणामः स एव स्वसंवेदनज्ञानगुणो भण्यते । तेन ज्ञानगुणावलंबनेन य एव पुरुषः ख्याति-पूजा-लाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावरहितः सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमितैश्च विषयसुखानंदवासनावासितं चित्तं मुक्त्वा शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुखेन वासितं रंजितं मूर्छितं परिणतं तन्मयं तृप्तं रतं संतुष्टं चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमानः—

अस्थानिका—अब ज्ञानी वर्तमान और भावी भोगों में बांछा नहीं करता है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(उप्यण्णोदयभोगे तस्स णिच्चं सो वियोगबुद्धीय) उत्पन्न हुये वर्तमान काल के भोगों में नित्य ही वह वियोग बुद्धि—हेय बुद्धि रखता है । (य णाणी अणागदस्स उदयस्स कंखां ण कुव्वदे) वह ज्ञानी उदय में आने वाले अनागत भोगों की भी आकांक्षा नहीं करता है ॥२२६॥

तात्पर्यवृत्ति—वर्तमान में उत्पन्न हुये कर्मोदय से होने वाले भोगों में वियोगबुद्धि—हेय बुद्धि रहती है । यहाँ 'तस्स' पद के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का अर्थ करना है । उस भोग के विषय में जो नित्य ही निस्पृहवृत्ति रखता है वही ज्ञानी—स्वसंवेदनज्ञानी कहलाता है और यह ज्ञानी—महाभुनि अनागत में निदानबंधरूप भविष्यत् कालीन भोगों के उदय की आकांक्षा नहीं करता है । इसी का विस्तार करते हैं—जो भोग और उपभोग आदि समस्त चेतन-अचेतन परद्रव्य हैं उनमें निरालंबनरूप भाव—परिणाम है वही स्वसंवेदन ज्ञानगुण कहलाता है । उस ज्ञानगुण के अवलंबन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ, भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध आदि विभाव भावों से रहित होते हुये तीनों जगत में और तीनों कालों में भी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से विषयसुखों के आनंद की वासना से वासित चित्त को छोड़कर शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये वीतराग परमानंद सुख से वासित—रंजित—मूर्छित—परिणत—तन्मयरूप—तृप्त—रत—तल्लीन और संतुष्ट चित्त करके रहते हैं वे ही मति, श्रुत,

पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः। यादृशं परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्मपदस्वरूपं मोक्षं लभते। कस्मात् ? इति चेत्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति यतः कारणाद् इति। एवं स्वसंवेदनज्ञानगुणं विना मत्यादिपञ्चज्ञानविकल्परहितमखंडपरमात्मपदं न लभ्यते इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं गतं ॥२२६॥

अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों से अभेदरूप, परमार्थ शब्द से वाच्य, साक्षात् मोक्ष के लिए कारणभूत शुद्धात्मा की संवित्तिरूप—अनुभूतिरूप पद को परमागम भाषा से वीतराग धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानरूप स्वसंवेदन से अनुभव योग्य ऐसे शुद्धात्म पद को परम समरसीभाव से अनुभव करते हैं अन्य कोई ऐसे पद का अनुभव नहीं कर सकते हैं। जो जैसे परमात्मपद का अनुभव करते हैं वे वैसे ही परमात्मपद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा नियम है। इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानगुण के बिना मति आदि पांच ज्ञानों के विकल्प से रहित अखंड परमात्मपद प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस तरह संक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से आठ गाथा सूत्र हुये हैं ॥२२६॥

विशेषार्थ—इस टीका में चार बातें महत्त्वपूर्ण हैं। १. 'ख्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध आदि विभाव भावों से रहित हुये जीव,' ये बातें मुनियों में ही संभव हैं क्योंकि गृहस्थ तो आरंभ-परिग्रह में ही लिप्त हैं। जो पुरुष आरंभ-परिग्रह छोड़ चुके हैं उन्हें इन विभाव भावों को—अंतरंग परिग्रह को छोड़ने के लिए कहा जाता है।

२. शुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतराग परमानंद सुख से वासित—संस्कारित, तृप्त, संतुष्ट आदि महामुनि ही हो सकते हैं गृहस्थ नहीं, वे तो अशुभ भावों से—पंचसूना से, असि, मषि आदि क्रियाओं से मन को कुछ समय के लिये ही दूर कर शुभोपयोग में—जिनपूजा, दान आदि में प्रवृत्ति कर सकते हैं।

३. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों की अभेद अवस्था निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है कि जहां ध्यान, ध्याता और ध्येय का भी विकल्प नहीं है। इसे 'साक्षान्मोक्षकारण' कहा है सो यह बारहवें गुणस्थान के शुक्लध्यान में ही घटित होती है।

४. स्वयं श्री जयसेनाचार्य ने इसे वीतरागधर्म ध्यान और शुक्लध्यान कहा है। यह वीतराग धर्मध्यान धवला टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य के अनुसार और श्रीकुंदकुंददेव के मूलाचार के अनुसार सातवें से दसवें गुणस्थान तक होता है। यथा—

“असंजदसम्पादिष्टि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्रमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्ठिसंजद-सुहुम
सांपराइयखवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो^१ ।”

असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वसंयत, अनिवृत्तिसंयत
और सूक्ष्मसांपराय इन गुणस्थानों में आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशमश्रेणी वालों में
था आठवें, नवमें, दशवें और बारहवें गुणस्थान वाले क्षयक श्रेणी वालों में धर्मध्यान की
प्रवृत्ति होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

मूलाचार में श्रीकुंदकुंददेव ने शुक्लध्यान कहा होता है ? सो ही कहा है—

उवसंतो दु पुहुत्तं ज्ञायदि ज्ञाणं विदक्कवीचारं ।

खीणकसाओ ज्ञायदि एवत्तविदक्कवीचारं ॥ ४०४ ॥

सुहुमकिरियं सजोगी ज्ञायदि ज्ञाणं च तदियसुक्कं तु ।

जं केवली अजोगी ज्ञायदि ज्ञाणं समुच्छिण्णं ॥ ४०५ ॥ (पंचाचाराधिकार)

उपशांतकषाय मुनि पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं।
क्षीणकषाय मुनि एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। सयोग
केवली अर्हत भगवान सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान को ध्याते हैं और अयोग केवली
भगवान समुच्छिन्न नामक चौथे शुक्लध्यान के स्वामी होते हैं।

इन दो गाथाओं से बिल्कुल स्पष्ट है कि ग्यारहवें गुणस्थान के पहले दशवें गुणस्थान
तक धर्मध्यान ही होता है।

श्री जयसेनाचार्य ने अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीण कषाय तक शुद्धोपयोग माना है।^२
जो आचार्य आठवें गुणस्थान से ही शुक्लध्यान मानते हैं उनके अनुसार भी सातवें अप्रमत्त
गुणस्थान में तो शुद्धोपयोग में धर्मध्यान होता ही है वहां का धर्मध्यान भी कथंचित् वीतराग
धर्मध्यान कहा जाता है।

तात्पर्य यही निकलता है कि वह सब प्रकरण छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती पुनियों को ऊपर
उठने के लिये और निर्विकल्प ध्यान में पहुंचने के लिये प्रेरणा देने वाला है।

अब्रती सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावक पहले द्रव्य परिग्रह को छोड़ें तभी निर्विकल्प
ध्यान के पात्र हो सकते हैं, गृहस्थाश्रम में नहीं। वहां तो मात्र भावना ही भा सकते हैं कि “मैं
ऐसी अवस्था कब प्राप्त करूँगा ?” इत्यादि।

१. धवला पुस्तक १३, पृ० ७४

२. प्रवचनसार गाथा ९, तात्पर्यवृत्ति टीका का अंश।

तत्त्वज्ञान-प्रकाशः ॥ १२१६ ॥

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।

तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥२१६ अ० ॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयं ।

तज्ज्ञायकस्तु ज्ञानी, उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥२१६ ॥

आत्मख्याति—ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तृत्पन्नप्रध्वंसित्वादिभावभावानां क्षणिकौ भवतः । तत्र यो भावः कांक्ष्यमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्ष्यमाणो वेद्यो भावो विनश्यति । तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि कांक्ष्यमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते । तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति कस्तं वेदयते ? यदि वेदकभाव-

उत्थानिका—अनागत उदय को ज्ञानी क्यों नहीं चाहता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः वेदयते वेद्यते उभयं समये समये विनश्यति) जो अनुभव करता है और जो अनुभव किया जाता है ये दोनों ही समय-समय में नष्ट हो जाते हैं (ज्ञानी तु तज्ज्ञायकः उभयं अपि कदाचित् न कांक्षति) ज्ञानी तो इन दोनों ही—वेदक और वेद्य भावों का ज्ञाता है वह इन दोनों को कदाचित् भी नहीं चाहता है ॥ २१६ ॥

आत्मख्याति—ज्ञानी आत्मा तो नियम से ध्रुव है अतः वह स्वभावभाव में टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाववाला नित्य है । जो ये वेद्यवेदक भाव हैं—अनुभव करने वाला भाव और अनुभव करने योग्य भाव हैं ये दोनों ही उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले हैं, क्षणिक हैं क्योंकि विभावभाव उत्पन्न-प्रध्वंसी होते ही हैं । इनमें से जो आगामी काल में वांछा करने योग्य, वेद्यभाव का अनुभव करता है वह भाव जब तक होता है तब तक वांछा में आने वाला वेद्यभाव नष्ट हो जाता है और उसके नष्ट हो जाने पर वेदक भाव भला क्या अनुभव करेगा ? यदि भावी वांछा में किये जाने योग्य जो वेद्यभाव है उसके अनंतर होने वाले अन्य भाव का वह अनुभव करता है तब तो उसके होने के पहले ही वह वेदक भाव नष्ट हो जाता है तब भला उस वेद्य भाव का कौन अनुभव करेगा ? यदि आप कहें कि वेदकभाव के अनंतर होने

(२२७)—जो वेद्य और वेदक स्वरूप आत्मा में भाव उपजते हैं ।

वे हैं वैभाविक भाव अतः निज समय समय में नशते हैं ॥

ज्ञानी इन दोनों भावों में ज्ञायक स्वरूप ही रहता है ।

वह नहीं कदाचित् भी दोनों भावों की कांक्षा करता है ॥२१६ ॥

पृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते तदा तद्भावनात्पूर्वं स वेद्यो विनश्यति । किं स वेदयते ? इति कांक्ष्यमाण-
भाववेदनानवस्था । तां च विजानन् ज्ञानी न किञ्चिदेव कांक्षति ॥ २१६ ॥

स्वागताछन्दः—वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्देद्यते न खलु कांक्षितमेव ।

तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७ ॥

(उत्थानिका) —अथ भाविनं भोगं ज्ञानी न कांक्षतीति कथयति—

(२२७ ज०) जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।

तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि ॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयं ।

तद् ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥ २२७ ॥

वाला भाव, जो कि अन्य है वह वेदक भाव उस वेद्यभाव का अनुभव करेगा तब तो उस भाव के होने के पहले ही वह वेद्यभाव नष्ट हो गया पुनः किसका कौन अनुभव करेगा ? इस प्रकार आगामी वांछा में आने योग्य भावों के अनुभव की अनवस्था ही चलती रहेगी । उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी जीव कुछ भी नहीं चाहता है ॥ २१६ ॥

इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—वेद्य-वेदक भावरूप विभाव भावों की अस्थिरता होने से वास्तव में जिसकी आकांक्षा की जाती है उसका वेदन—अनुभव नहीं होता है इसलिये ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता है प्रत्युत सब के प्रति अत्यन्त विरक्तभाव को प्राप्त होता है ॥ १४७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा कुछ भी शुभ-अशुभ की आकांक्षा नहीं करता है क्योंकि वह संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त रहता है । टीकाकार श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि विद्वान् संसार, देह और भोगों से अतिविरक्त होता है सो यह अर्थ महामुनियों में ही घटित होता है ।

उत्थानिका—अब भावी भोगों को ज्ञानी नहीं चाहता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो वेददि वेदिज्जदि उहयं समये समये विणस्सदे) जो अनुभव करता है और जो अनुभव किया जाता है ये दोनों ही समय-समय में नष्ट हो जाते हैं (णाणी दु तं जाणगो उभयंपि कयावि ण कंखदि) ज्ञानी आत्मा तो उन दोनों का ज्ञायक ही है वह दोनों की भी कभी आकांक्षा नहीं करता है ॥ २२७ ॥

जो वेद्य और वेदक विभाव भावों को चंचल जान रहे ।

इच्छित वस्तु नहीं मिलती है अस्थिरता यह पहचान रहे ॥

इसलिए महामुनि विज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करते हैं ।

सबसे विरक्त हो आत्म भाव में ही बस प्रीति रखते हैं ॥ १४७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं योसौ रागादिविकल्पः कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदयः कर्मतापन्नं वेद्यते, तेन रागादिविकल्पेन अनुभूयते । तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समयं समयं प्रति विनश्वरं तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखदि कयावि तदुभयमपि वेद्यवेदकरूपं वर्तमानं भाविनं च विनश्वरं जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकांक्षति न वांछति कदाचिदपि ॥ २२७ ॥

तथाहि—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।

संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७ अ० ॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।

संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१७ ॥

आत्मख्यातिः—इह छल्यध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमित्ताः । यतरे शरीरविषयास्ततरे तूष्पभोगनिमित्ताः । यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेष-

तात्पर्यवृत्तिः—जो यह रागादि विकल्पों का कर्ता आत्मा वेदन करता है—अनुभव करता है और जो साता के उदय से उत्पन्न हुआ अनुभव किया जाता है—उन रागादि विकल्पों से अनुभव में आता है । ये दोनों भी अर्थपर्याय की अपेक्षा से समय-समय के प्रति विनश्वर हैं । इन दोनों को भी—वेद्य भाव और वेदकभाव रूप वर्तमान और भावी को विनश्वर जानते हुये तत्त्वज्ञानी—पुनि इनकी कदाचित् भी आकांक्षा नहीं करते हैं ॥ २२७ ॥

उत्थानिका—इसे ही स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थः—(बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु संसारदेहविषयेषु ज्ञानिनः रागः नैव उत्पद्यते) बंध और उपभोग के निमित्त जो अध्यवसान के उदय हैं और जो संसार-शरीर के विषय हैं उनमें ज्ञानी को राग उत्पन्न ही नहीं होता है ॥ २१७ ॥

आत्मख्याति—इस संसार में निश्चय से अध्यवसान के उदय कितने ही संसार विषयक हैं और कितने ही शरीर विषयक हैं । उनमें से जितने भी संसार विषयक हैं वे सभी बंध के लिये निमित्त हैं और जितने शरीर विषयक हैं वे सभी उपभोग के लिये निमित्त हैं । जितने

(२२८)---जग में जो बन्ध निमित्त और उपभोग निमित्त भाव आते ।

संसार देह के विषयों में अध्यवसानादि उदय आते ॥

ज्ञानी तो उनमें रागभाव उत्पन्न न होने देता है ।

अज्ञानी रागभाव करके निजकर्म बंध कर लेता है ॥२१७ ॥

मोहाद्याः । यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञाभिर्नो नास्ति रागः । नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ॥२१७॥

स्वागताछंद—ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं 'कर्म रागरसरिक्ततयैति ।

रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे 'स्वीकृतैव हि बहिर्लुटतोह ॥१४८॥

स्वागताछंद—ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्थात् सर्वरागरसवर्जनशीलः ।

लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यगतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

बंधनिमित्तक हैं उतने—वे सब राग द्वेष मोह आदि भाव हैं और जितने उपभोग निमित्तक हैं उतने—वे सब सुख-दुःख आदि रूप हैं । इन सभी में भी ज्ञानी जीव के राग नहीं हैं क्यों कि ये नाना प्रकार के द्रव्यों के स्वभाव होने से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाव वाले उस ज्ञानी के इनका निषेध ही है ॥ २१७ ॥

इसे ही कलशकाव्यों द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—जैसे मंजिष्ठ या फिटकरी आदि से जिसे कषायला नहीं किया गया है ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग स्वीकृत नहीं किया जाता है—ऊपर ही लोटता है—वस्त्र में रंग प्रवेश नहीं करता है अर्थात् वह रंग पक्का नहीं हो पाता है । इसी प्रकार ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है अतः उसके कर्म, परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होते हैं—चिपकते नहीं हैं ॥ १४८ ॥

काव्यार्थ—जिस हेतु से ज्ञानी निजरस से ही सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाव वाला है इसी हेतु से वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ होते हुये भी सर्वकर्मों से लिप्त नहीं होता है ॥ १४९ ॥

भावार्थ—यह ज्ञानी कर्मों के उदय से सहित होते हुये भी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों से नहीं बंधता है क्योंकि वह राग, द्वेष और मोह से सर्वथा रहित है । यह अवस्था निर्विकल्प ध्यान में महामुनियों के ही घटित होती है । वास्तव में सर्वराग से रहित होकर सकल कर्मों से नहीं बंधना, यह स्थिति तो बारहवें गुणस्थान की ही है । यह कलश काव्य आगे की गाथाओं की उत्थानिका रूप है—

जैसे मंजीठ से रहित वस्त्र पर रंग प्रवेश नहीं करता ।
ऊपर ही वह रहता है लेकिन पक्का रंग नहीं बढ़ता ॥
वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी जब राग भाव नहीं रखता है ।
वह परिग्रह भाव न प्राप्त करे कर्मों से नहीं चिपकता है ॥ १४८ ॥

जिस हेतु से वह ज्ञानी आत्मा निज रस में ही रमता है ।
सब राग रसों के त्याग रूप स्वाभाविक गुण में रहता है ।
उस हेतु से ही वह कर्मों के बीच पड़ा ज्ञानी आत्मा ।
कर्मों से लिप्त नहीं होता मानो वह सचमुच परमात्मा ॥ १४९ ॥

१. कर्म—विषयोपभोगप्रसङ्गक्रिया, राग आत्मनो रंजकपरिणाम्; स एव रसस्तद्रिक्ततया तदभिन्नतया ।

२. स्वीकृता संयोगपरिणामपरिणता ।

(उत्थानिका) --अथ तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनबंधनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्त्ववेदी न वाञ्छति, इति प्रतिपादयति—

(२२८ ज०) बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स ।

संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।

संसार—देह—विषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२२८॥

तात्पर्यवृत्तिः—बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स णेव उप्पज्जदे रागो स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागाद्युदयरूपेषु, अध्यवसानेषु बंधनिमित्तं भोगनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते रागः । कथंभूतेष्वध्यवसानेषु ? संसारदेहविसएसु निष्प्रयोजनबंधनिमित्तेषु संसारविषयेषु भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा । इदमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्तं स्तोक्रमेव पापं करोत्ययं जीवः । निष्प्रयोजनापध्यानेन बहुतरं करोति शालिमत्स्यवत् । तथा चोक्तमपध्यानलक्षणं—“वधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः” । इति अपध्यानेन कर्म बध्नाति तदप्युक्तमास्ते—

उत्थानिका—निष्प्रयोजन बंध के निमित्त जो अपध्यानरूप भाव हैं उसी प्रकार से जो भी शरीर के विषय में भोगनिमित्तक और रागादि अध्यवसान भाव हैं, यह परमात्मतत्त्ववेदी उन सबको नहीं चाहता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(संसारदेहविसएसु अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स बंधुवभोगणिमित्तं रागो णेव उप्पज्जदे) संसार देह और भोग विषयक अध्यवसान—रागादि के उदय में ज्ञानी जीव के बंध और भोग के निमित्त राग उत्पन्न नहीं होता है ॥ २२८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के रागादि के उदयरूप अध्यवसानभावों के होने पर जो कि बंधनिमित्तक और भोगनिमित्तक हैं उन सबमें राग उत्पन्न ही नहीं होता है ।

प्रश्न—यह अध्यवसान भाव कैसे हैं ?

उत्तर—जो निष्प्रयोजन बंध के लिये निमित्त हैं वे सब संसार के विषयरूप हैं या भोगनिमित्तक हैं या शरीर विषयक हैं । यहां तात्पर्य यह है कि वह जीव किंचित् मात्र भी थोड़े से भोगों के लिये महान् पाप कर लेता है और निष्प्रयोजन अपध्यान के द्वारा बहुत सा पाप बंध कर लेता है जैसे कि तंदुल मत्स्य ।

अपध्यान का लक्षण करते हुये श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है—

अन्य की स्त्री पुत्र आदि के बांधने, मारने, छेदने आदि के भावों से राग से अथवा द्वेष से वह जो भी मन में चिंतन करना है वह सब अपध्यान है ऐसा विशद बुद्धिवाले महामुनियों ने जिन शासन में कहा है । इस प्रकार अपध्यान के द्वारा कर्म बंधते रहते हैं । इसे ही और भी कहा है—

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्वदीयं वेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकारित न किञ्चनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥१॥
दौर्विध्यदग्धमनसोऽतरुपातभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरंगं ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतुस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥२॥
आचारशास्त्रे भणितं—^१कंखदि कलुसिदभूदो दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।

णय भुजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ॥१॥

इति ज्ञात्वा, अपध्यानं त्यक्त्वा च शुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थः ॥२२८॥

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।

णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणायं ॥२१८॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।

लिप्पदि कम्मरणेण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१९ अ० ॥ (युग्मं)

“हे भद्र ! संकल्परूपी कल्पवृक्ष का आश्रय लेकर के तुम्हारा मन इस मनोरथरूपी समुद्र में निमज्जन कर रहा है—डूब रहा है। उससे तुम्हें वास्तव में कुछ भी लाभ नहीं होता है प्रत्युत बहुत से पापों का ही संचय हो जाता है।

हे भद्र ! दुर्भाग्य से मन के दग्ध होने पर खाने पीने आदि के विषय में लालायित होकर तेरा मन दौड़ धूप मचाता फिरता है। यदि उसी प्रकार से तेरा यह मन तेजस्वरूप परमात्मा में स्फुरायमान हो जावे—लगजावे तो फिर उस मन का उत्पन्न होना भला व्यर्थ कैसे हो सकेगा ? अर्थात् फिर तो नियम से तुम्हें परमात्मपद की प्राप्ति हो जावेगी।”

आचार शास्त्र—मूलाचार में भी कहा है—

“इन काम भोगों में मूर्छित हुआ यह जीव कलुषितचित्त होकर अनेक प्रकार की इच्छा करता रहता है। आश्चर्य है कि वह भोगों को नहीं भोगते हुये भी मात्र भावों से ही कर्मों को बांधता रहता है^२।”

इस प्रकार से अपध्यान को जानकर और उसका त्याग करके अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप में स्थित होना चाहिये, ऐसा यहां भाव है ॥ २२८ ॥

आगे इसी अर्थ का व्याख्यान करते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागप्रहायः कर्ममध्यगतः तु रजसा नो लिप्यते) ज्ञानी जीव संपूर्ण द्रव्यों में राग को छोड़ देने वाला है अतः वह कर्म के मध्य होते हुये भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता है (यथा कर्दममध्ये कनकं) जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नहीं

ज्ञानी रागप्रहायः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकं ॥२१८॥

अज्ञानी पुनः रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहं ॥२१९॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमापि कर्दमेन न लिप्यते तदलेपस्वभावत्वात् । तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात् ज्ञान्येव । यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्येत तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्येत सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात् ॥ २१८—२१९ ॥

होता है । (पुनः अज्ञानी सर्वद्रव्येषु रक्तः कर्ममध्यगतः तु कर्मरजसा लिप्यते) पुनः अज्ञानी जीव संपूर्ण द्रव्यों में रागी होता हुआ, कर्म के मध्य होता हुआ कर्मरज से लिप्त हो जाता है (यथा कर्दममध्ये लोहं) जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है ॥२१८-२१९॥

आत्मख्याति—जैसे स्वर्ण कीचड़ में पड़ा हुआ भी कीचड़ से लिप्त नहीं होता है क्योंकि उसका कीचड़ से लिप्त नहीं होने का स्वभाव है । वैसे ही यह ज्ञानी जीव कर्म के मध्य रहते हुये भी कर्म से लिप्त नहीं होता है क्योंकि वह संपूर्ण पर द्रव्यों में किये जाने वाले राग के त्यागरूप स्वभाव वाला होने से उन कर्मों के लेप से लिप्त नहीं होने के स्वभाव वाला है अतएव वह ज्ञानी ही है । जैसे लोहा कीचड़ के मध्य पड़ा हुआ कीचड़ से लिप्त हो जाता है क्योंकि उसका कीचड़ के लेप से लिप्त होने का स्वभाव है । वैसे ही यह अज्ञानी जीव कर्म के मध्य रहता हुआ कर्मों से लिप्त हो जाता है क्योंकि वह सर्व परद्रव्य के प्रति किये गये राग को ग्रहण करने के स्वभाव वाला होने से उस कर्म के लेप से लिप्त होने के स्वभाव से सहित है ॥ २१८-२१९ ॥

भावार्थ—सोना कीचड़ में पड़ा हुआ भी हो किंतु उसमें जंग नहीं लगता है और लोहे में जंग लग जाता है । वैसे ही रागद्वेषादि भावों से रहित हुआ ज्ञानी निर्विकल्प ध्यान में

(२२९)—शुद्धात्म ज्ञानी सब द्रव्यों का राग छोड़कर रहता है ।

वह कर्मों के संग रहकर भी उस रज से लिप्त न रहता है ॥

जैसे कीचड़ में पड़े हुये सोने में जंग न लगता है ।

जंग में रहकर जंग से अलिप्त योगी भी बन्ध न करता है ॥२१८॥

(२३०)—लेकिन अज्ञानी का स्वभाव विपरीत सदा ही रहता है ।

वह सब द्रव्यों का रागी हो पर में ही रमता रहता है ॥

जैसे कीचड़ में पड़े हुए लोहे में जंग लग जाता है ।

वैसे ही अज्ञानी के भी कर्मों का बंधन होता है ॥२१९॥

शार्दूलविक्रीडित—यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैव कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेत् ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् ! भुंक्त्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥ १५० ॥

स्थित होकर कर्मों के उदयरूप उपसर्ग-परीषह आदि को सहन कर के आगामी कर्मों को नहीं बांधता है। इससे विपरीत अज्ञानी जीव—जब तक निर्विकल्प ध्यानी नहीं हुआ है तब तक कर्मों के उदय से रागादि भावों से सहित होकर आगामी कर्मों का बंध करता रहता है।

इसमें चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीव जितने-जितने अंश में रागादि भाव करते हैं उतने-उतने अंश में कर्मों का बंध भी करते हैं।

इसे ही कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—इस लोक में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है उसका वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही होता है। ऐसा वस्तु का स्वभाव वह पर वस्तुओं के द्वारा किसी भी प्रकार से अन्यरूप नहीं किया जा सकता है। इसलिये जो निरंतर ज्ञानरूप परिणमन करता है वह कभी भी अज्ञानरूप नहीं होता। अतः हे ज्ञानी ! हे आत्मन् ! तुम उपभोग सामग्री का अनुभव करो, इस जगत् में पर के अपराध से उत्पन्न होने वाला बंध तुमको नहीं है ॥ १५० ॥

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से कर्म अचेतन हैं—पर हैं, उनका उदय भी जब आता है तब यह आत्मा यदि स्वभाव में स्थित है तब उसके बंध नहीं होता है। चतुर्थ गुणस्थान आदि वाले जीव भी यदि आसक्ति न करके संसार के भोगों का अनुभव करते हैं तो वे भी अल्पबंध करते हैं। आगे निर्विकल्प ध्यानी होकर सर्वथा बंध से छूट जाते हैं। यहां यह कथन दसवें गुणस्थान के ऊपर की अपेक्षा ही है।

जिस वस्तु का जैसा स्वभाव उसको निजवश से ही जानो ।
पर के द्वारा वह वस्तु भाव नहि अन्य रूप होता मानो ॥
निश्चयनय से यह कथन तभी ज्ञानी अज्ञानी नहि बनता ।
हे ज्ञानी ! तुम उपभोग करो तुमको नवकर्म नहीं बंधता ॥ १५० ॥

(भूमिका) —अथानंतरं तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यंतं पुनरपि विशेषव्याख्यानं करोति । तद्यथा—

(उत्थानिका) —ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते, इति प्रतिपादयति—

(२२९ ज०) णाणी रागप्यजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।

णो लिप्यदि कम्मरणं दु कद्दममज्झो जहा कणयं ॥

(२३० ज०) अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।

लिप्यदि कम्मरणं दु कद्दममज्झो जहा लोहं ॥

ज्ञानी रागप्रहायः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

नो लिप्यते कर्मरजसा तु कर्ममध्ये यथा कनकं ॥२२९॥

अज्ञानी पुनः रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

लिप्यते कर्मरजसा तु कर्ममध्ये यथा लोहं ॥२३०॥

तात्पर्यवृत्तिः—हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहितः स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशीलो यतः कारणात् ततः कर्ममध्यगतं कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति । अज्ञानी पुनः स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपंचेन्द्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्तः कांक्षितो मूर्छितो मोहितो भवति यतः कारणात् ततः कर्ममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते इति ॥२२९—२३०॥

जैसा कि श्रीजयसेनाचार्य के शब्दों से स्पष्ट है ।

भूमिका—अब उसी ज्ञान गुण का चौदह गाथा पर्यंत पुनरपि विशेष व्याख्यान करेंगे । उसमें पहले यह कहते हैं कि—

उत्थानिका—ज्ञानी जीव सर्वद्रव्यों में वीतरागी होने से कर्मों से लिप्त नहीं होता है और अज्ञानी जीव सरागी होने से कर्मों से लिप्त हो जाता है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणी सव्वदव्वेसु रागप्यजहो कम्ममज्झगदो दु कम्मरणं णो लिप्यदि) ज्ञानी संपूर्ण द्रव्यों में राग को छोड़ देता है अतः वह कर्म के मध्य रहता हुआ भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता है (जहा कद्दममज्झो कणयं) जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ सोना, (पुण अण्णाणी सव्वदव्वेसु रत्तो कम्ममज्झगदो दु कम्मरणं लिप्यदि) पुनः अज्ञानी जीव संपूर्ण द्रव्यों में रागी होता हुआ कर्म के मध्य में रहता हुआ कर्मरज से लिप्त हो जाता है (जहा कद्दममज्झो लोहं) जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा ॥ २२९-२३० ॥

तात्पर्यवृत्ति—हर्ष-विषाद आदि विकल्परूप उपाधि से रहित हुआ स्वसंवेदन ज्ञानी जीव सर्वद्रव्यों में रागादिभावों के त्यागरूप स्वभाव वाला है इसी हेतु से वह कीचड़ के मध्य पड़े हुये सुवर्ण के समान कर्मरज से लिप्त नहीं होता है । पुनः अज्ञानी स्वसंवेदनज्ञान के अभाव से संपूर्ण

विषयों आदि पर द्रव्यों में रागी हुआ—उनकी आकांक्षा करता हुआ, उनमें मूर्छित हुआ मोहित होता रहता है इसी हेतु से वह कीचड़ में पड़े हुये लोहे के समान कर्मरज से बंध जाता है ऐसा समझना ॥ २२९-२३० ॥

विशेषार्थ—श्री जयसेनाचार्य ने उत्थानिका में ही स्पष्ट कर दिया है कि “ज्ञानी सर्वद्रव्येषु बीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते।” संपूर्ण द्रव्यों में बीतरागी होने से ज्ञानी कर्मों से नहीं बंधता है और सर्वत्र सरागी होने से अज्ञानी बंध जाता है। विचार करना है कि यह अवस्था कहां घटेगी ? यह अवस्था ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती यथाख्यात चारित्रधारी निर्ग्रंथों में ही घटेगी। चूंकि वहीं पर सर्वद्रव्यों में पूर्णतया बीतरागता संभव है और वहीं पर कर्मों के बंध का भी अभाव है। देखिये, इसी समयसार (पूर्वार्ध) में श्री अमृतचंद्रसूरि की पंक्तियां—

“स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्^१।”

यथाख्यात चारित्र की अवस्था के पहले-पहले अवश्य ही राग का सद्भाव होने से वह ज्ञानगुण—क्षायोपशमिक ज्ञान बंध का हेतु ही है।

यहां प्रश्न यह हो सकता है कि क्या दसवें गुणस्थान तक के मुनि अज्ञानी हैं ?

तो उत्तर यही है कि ‘सरागसंयम’ की अपेक्षा से तथा वहां तक कर्मबंध होते रहने से कथंचित् अज्ञानी कहने में कोई बाधा नहीं है। यहां अज्ञानी से मिथ्यादृष्टि की विवक्षा नहीं है प्रत्युत मोह सहित—रागसहित अल्पज्ञान की विवक्षा है। समयसार का ज्ञानी तो निर्विकल्प ध्यानी ही है।

श्रीजयसेनाचार्य ने आगे भी इसी की टीका में कहा है कि “हर्ष-विषाद आदि विकल्पों से रहित स्वसंवेदन ज्ञानी ही सर्वद्रव्यों में राग-द्वेष आदि से रहित हो सकता है अतः वही कर्मों के उदय में साता-असाता के मध्य में रहता हुआ भी नहीं बंधता है।

यह स्थिति सातवें गुणस्थान से—शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प ध्यान से प्रारंभ होकर बारहवें में पूर्ण होती है।

इन सभी प्रकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह निर्जरा महामुनियों के ही होती है चूंकि संवर पूर्वक होने वाली निर्जरा ही निर्जरा कहलाती है। तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में भी श्री

(उत्थानिका) —अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह—

(२३१ ज०) नागफणीए मूलं णाड़णितोएण गळ्भणागेण ।

णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥

नागफण्या मूलं नागिनीतोयेन गर्भनागेन ।

नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रावायुना ॥२३१॥

तात्पर्यवृत्ति—नागफणी नामौषधी तस्या मूलं । नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोयं मूत्रं । गर्भनागं सिंदूरद्रव्यं । नागं सीसकं । अनेक प्रकारेण पुण्यमेतदेव जति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे । कथंभूतः सन् ? भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टान्तिगता यता ॥२३१॥

उमास्वामी आचार्य ने सातवें अध्याय में आस्त्र तत्त्व का एवं आठवें अध्याय में बंध तत्त्व का प्ररूपण करके नवमें अध्याय में संवर-निर्जरा का कथन करते हुये मुनियों के “गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र का वर्णन किया है” । इससे भी यही अर्थ निकलता है कि संवर पूर्वक निर्जरा महामुनियों के ही होती है ।

उत्थानिका—संपूर्ण कर्मों की निर्जरा नहीं होगी तब पुनः मोक्ष कैसे होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(नागफणीए मूलं णाड़णितोयेण गळ्भणागेण णागं भच्छवाएण धम्मंतं सुवण्णं होइ) नागफणी की जड़, हस्तिनी के मूत्र से मर्दित और सिंदूरद्रव्य से सहित नाग—सीसक धातु भस्त्रा—धौंकनी की वायु से धौंकने पर सुवर्ण बन जाता है ॥ २३१ ॥

तात्पर्यवृत्ति—नागफणी नाम की एक औषधि है उसकी जड़, हस्तिनी का मूत्र, गर्भनाग—सिंदूरद्रव्य और नाग—सीसक । इन सर्ववस्तु को सम्मिलित करो । इस प्रकार से पुण्य का उदय होने पर सुवर्ण बन जाता है और यदि पुण्य का अभाव है तो सुवर्ण नहीं बनता है । उसे भस्त्रा के द्वारा धमित करते हुये अग्नि में तपाना चाहिये ॥ २३१ ॥

(२३१)—इक नागफणी का मूल नागिनी^१ जल को युक्त क्रियाओं से ।

सिन्दूर द्रव्य सीसा धातु इनको अग्नी में तपाने से ॥

यदि पुण्य कर्म का उदय हुआ तो स्वर्ण रूप बन जाता है ।

इन सभी द्रव्य के मिलने से स्वर्णत्व अवस्था पाता है ॥

(उत्थानिका) —अथ दार्ष्टान्तमाह—

(२३२ ज०) कम्पं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ ।

सम्पत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥

पार्श्ववर्ति : - २३२वर्ति की दुर्गविभावपरिणाम की व्याख्या

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिका अथ विभावाः ।

सम्यक्त्वदर्शनज्ञानचारित्रं परमौषधमिति विजानीहि ॥२३२॥

तात्पर्यवृत्तिः—द्रव्यकर्म किट्टसंज्ञं भवति रागादिविभावपरिणामाः कालिकासंज्ञा जातव्याः सम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्र्यस्य भेदाभेदरूपं परमौषधं जानीहि इति ॥२३२॥

विशेषार्थ—गुरुमुख से मैंने ऐसा भी सुना है कि "जब पूर्ण योग होता है" यहां वस्तुओं की मात्रायें नहीं बतलाई हैं, योगायोग से जब यथा उचित मात्रायें हो जाती हैं तभी सुवर्ण बन जाता है। यदि वस्तुओं का पूर्णयोग नहीं बन पाया अपूर्ण रह गया तो सुवर्ण नहीं बन पाता है।

इसे ही दार्ष्टान्त से अब दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(अह कम्पं किट्टं रागादी विभाओ कालिया) कर्म तो कीट हैं और रागादि विभाव भाव कालिमा हैं (सम्पत्तणाणचरणं परमोसहं इदि वियाणाहि) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र ये परम औषधि हैं ऐसा जानो ॥ २३२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—द्रव्यकर्म किट्ट नाम वाले हैं रागादिविभावपरिणाम कालिमा नाम से जाने जाते हैं और भेद-अभेदरूप रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये परम औषधि हैं ऐसा तुम समझो ॥ २३२ ॥

(२३२)—संसारी प्राणी के संग में जो द्रव्य कर्म हैं लगे हुए ।

वे तो हैं कीट तथा रागादिक भाव कालिमा कहे गए ॥

सम्यग्दर्शन अह ज्ञान चरण ये तो परमौषधि कहलाते ।

इनके ही बल पर भेद ज्ञान करके अभेदमय बनजाते ॥

(२३३ ज०) ज्ञाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ॥

ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणे भस्त्रा समाख्याते ।

जीवो भवति लोहं धमितव्यं परमयोगिभिः ॥२३३॥

तात्पर्यवृत्तिः—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं ध्यानमग्निर्भवति । द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्यम् । आसन्नभव्यजीवो लोहं भवति । स च भव्यजीवः पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्यौषधध्यानाग्निभ्यां^१ संयोगं कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिभिः धमितव्यो ध्यातव्यः । इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति संदेहो न कर्तव्यो भट्टचार्याकमतानुसारिभिरिति ॥२३३॥

इसे ही घटित करते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञाणं अग्गी हवेइ तवयरणं भत्तली समक्खादो) ध्यान यह अग्नि है द्विविध तपश्चरण यह भस्त्रा कहा गया है (जीवो लोहं हवेइ परमजोईहिं धमियव्वो) जीव लोहा है परमयोगियों को इसे अग्नि में धमित करना चाहिये ॥ २३३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यहां वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान अग्निस्वरूप है, द्वादश प्रकार का तपश्चरण भस्त्रा है—धौंकनी है । आसन्न भव्यजीव लोहा है । वह भव्यजीव पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप औषधि और ध्यानरूपी अग्नि इन दोनों का संयोग करके बारह प्रकार की तपश्चरणरूपी धौंकनी के द्वारा परम योगियों को धमित करना चाहिये—हवा देनी चाहिये—ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार से जैसे सोना बन जाता है वैसे ही मोक्ष हो जाता है इसमें भट्ट और चार्वाक मतानुयायियों को संदेह नहीं करना चाहिये ॥ २३३ ॥

भावार्थ—भाट्टमतानुयायी और चार्वाक मतानुयायी आत्मा की शुद्धि और मुक्ति नहीं मानते हैं उन्हें ही समझाते हुये श्री टीकाकार जयसेनाचार्य ने कहा है कि यह जीव लोहा के सदृश है तपश्चरण रूपी धौंकनी से हवा करते हुये ध्यान अग्नि में तप कर यह जीव सुवर्ण के सदृश शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

(२३३)—सम्यक् समाधिमय ध्यान अग्नि, लोहा आसन्न भव्य माना ।

तपस्वरूप धौंकनी से वायु का योग मिले जब मनमाना ॥

सोना बनने के सदृश ही योगी जब ध्यान लीन होते ।

तब मोक्ष स्वभाव प्रगट करके वैभाविक परिणति को खोते ॥

भुजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दब्बे ।

शंखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काडं ॥२२० अ० ॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दब्बे ।

भुजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१ अ० ॥

भुजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।

शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥२२० ॥

तथा ज्ञानिनोऽपि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।

भुजाभस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुं ॥२२१ ॥

आगे इसे ही दृष्टांत द्वारा समर्थित करते हैं—

अन्वयार्थ—(विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि भुजानस्य अपि) अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भक्षण करते हुये भी (शंखस्य श्वेतभावः कृष्णकः कर्तुं न शक्यते) शंख का सफेदपना काला करना शक्य नहीं है। (तथा विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि भुजानस्य अपि ज्ञानिनः ज्ञानं अज्ञानतां नेतुं न शक्यं) उसी तरह अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगने वाले भी ज्ञानी जीव के ज्ञान को अज्ञानपना करना शक्य नहीं है (यदा सः एव शंखः तर्कं श्वेतस्वभावं प्रहाय) जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभाव को छोड़कर (कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्) कालेपने को प्राप्त हो जावे तब वह शुक्लभाव को छोड़ देगा (तथा ज्ञानी अपि खलु यदा तर्कं ज्ञानस्वभावं प्रहाय) उसी प्रकार ज्ञानी भी जब उस ज्ञानस्वभाव को छोड़कर (अज्ञानेन परिणतः तदा अज्ञानतां गच्छेत्) अज्ञान से परिणत हो जाय तो वह अज्ञानपने को प्राप्त हो जावेगा ॥ २२० से २२३ ॥

(२३४)—ज्यों शंख नामका जीव सचित्ताचित्त मिश्र द्रव्यों को भी ।

भक्षण कर लेता है परन्तु नहीं कृष्णरूप होता तो भी ॥

जब श्वेत शंख को कोई भी नर काला नहीं कर सकता है ।

तब ज्ञानी आत्मा में बोलो अज्ञान कहाँ रह सकता है ॥२२० ॥

(२३५)—ज्ञानी भी विविध प्रकार सचित्ताचित्त मिश्र द्रव्यों का भी ।

उपभोग आदि करते करते तन्मय वह कभी न होता भी ॥

क्योंकी ज्ञानी का ज्ञान कभी अज्ञान नहीं बन सकता है ।

अज्ञानरूप यदि हो जावे तो ज्ञानी नहीं रह सकता है ॥२२१ ॥

जइया स एव शंखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।

गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२ अ० ॥

तह पाणी धि हु जइया पाणसहावं तयं पजहिऊण ।

अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३ अ० ॥

यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तर्कं प्रहाय ।

गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२२२॥

तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तर्कं प्रहाय ।

अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥२२३॥

आत्मख्याति—यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः । तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत परस्य

आत्मख्याति—जैसे शंख परद्रव्य का भक्षण करता है तो भी पर के द्वारा उसका सफेदपना काला करना शक्य नहीं है क्योंकि कोई भी पर, अन्य परस्वरूप के लिये निमित्त नहीं बन सकता है । वैसे ही ज्ञानी जीव परद्रव्य का उपभोग करता है तो भी पर के द्वारा

(२३६)—जब कभी शंख अपने स्वभाव के श्वेतवर्ण को तजता है ।

कालेपन की परिणति में वह वैभाविक परिणति करता है ॥

शुक्लत्व भाव को स्वयं छोड़कर कृष्णरूप बन जाता है ।

परद्रव्यों के निमित्त से भी वह शंख कृष्ण बन जाता है ॥२२२॥

(२३७)—बस इसी तरह से ज्ञानी भी जब निज स्वभाव को तजता है ।

निज आत्मा में नहीं रम करके जब ज्ञानभाव को तजता है ॥

तब ज्ञानभाव अज्ञानरूप परिणमित स्वयं हो जाता है ।

अपनी अज्ञान क्रिया से वह अज्ञान अवस्था पाता है ॥२२३॥

परभावत्त्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः । ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बन्धः । यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमु-
पभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः
स्यात् । तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमेत तदास्य
ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात् । ततो 'ज्ञानिनः स्वापराधनिमित्तो बन्धः ॥ २२० ॥ २२१ ॥ २२२ ॥ २२३ ॥

उसके ज्ञान को अज्ञान करना शक्य नहीं है क्योंकि पर को परस्वरूप करने में निमित्त होना
असंभव है । अर्थात् किसी पर के द्वारा कोई अन्य परवस्तु नहीं बनाई जा सकती है जो के
बीज से धान्य—चावल पैदा नहीं किये जा सकते हैं । इसलिये ज्ञानी जीव के पर के
अपराध के निमित्त से बंध नहीं है ।

पुनः जैसे जब वही शंख परद्रव्य को भक्षण करता हुआ अथवा भक्षण नहीं करता
हुआ सफेदपने को छोड़कर स्वयं ही कालेपने से परिणमन कर जाता है तब उसका वह
सफेदपना स्वयं से किया हुआ कालेरूप हो जावेगा । उसी प्रकार जब वही ज्ञानी जीव
परद्रव्य को भोगते हुये अथवा नहीं भोगते हुये ज्ञान को छोड़कर स्वयं ही अज्ञानभाव से
परिणमन कर जावे तब उसका ज्ञान स्वयं के द्वारा किया हुआ अज्ञान हो जावेगा इसलिये
ज्ञानी जीव के अपने अपराध के निमित्त से बंध होता है ॥ २२० से २२३ ॥

भावार्थ—जैसे शंख सफेद है वह परवस्तुओं को खाते हुये भी काला नहीं होता है ।
हां, जब वह स्वयं काला हो जावे तो परके भक्षण का कोई निमित्त नहीं है । वैसे ही ज्ञानी
आत्मा पर वस्तुओं का उपभोग करते हुये भी अज्ञानी नहीं होता है और जब स्वयं अज्ञान-
रूप से परिणमन करता है तब अज्ञानी हो जाता है तभी उसके कर्मबंध होता रहता है ।

यदि एकांत से यह माना जाय कि परद्रव्यों का निमित्त कुछ करता ही नहीं है तो
फिर कर्मोदय से सहित प्राणी के भी कर्मबंध नहीं हो सकेगा किंतु संसारी जीवों के
कर्मबंध तो होता ही है । हां, ध्यानस्थ महामुनि के ही यह निमित्त अकिंचित्कर है ।
सिद्धशिला पर विश्वसोपचयरूप से नाना कार्मण वर्गणायें स्थित हैं फिर भी वहीं पर

शार्दूलविक्रीडित—ज्ञानिन् ! कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्थाप्युच्यते ।

भुङ्क्ष्ये हंत ! न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ॥

बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते ।

ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्घुवं ॥१५१॥

शार्दूलविक्रीडित—कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत् ।

कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ॥

ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा ।

कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

विराजमान सिद्धों के साथ वे नहीं चिपकती हैं किंतु वहां पर स्थित एकेंद्रिय आदि जीवों के लिये बंध का कारण होती हैं अतः कथंचित्—अपेक्षाकृत ही सब घटित करना चाहिये ।

इसी को काव्यों द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—हे ज्ञानी आत्मन् ! तुम्हें कभी कोई भी कर्म—शुभ-अशुभ लक्षण कार्य—क्रियायें करना उचित नहीं है तथापि यदि तुम यह कहो कि “परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूं” तो तुमसे यह कहना है कि हे ज्ञानिन् ! तुम छोटे रूप से भोगने वाले हो, अरे ! जो तुम्हारा नहीं है उसे तुम भोगते हो यह महाखेद की बात है । यदि तुम यह कहो कि “सिद्धांत में यह कहा है कि पर द्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता है इसलिये भोगता हूं” तो क्या तुम्हें भोगने की इच्छा है ? तुम तो ज्ञानरूप होकर निवास करो अन्यथा यदि भोगने की इच्छा करोगे—अज्ञानरूप से परिणमन करोगे तो तुम नियम से अपने अपराध से बंध को प्राप्त होवोगे ॥ १५१ ॥

हे ज्ञानी संत ! तुम्हें कोई भी कार्य उचित नहीं लगता है ।

फिर भी यदि कहो न कुछ मेरा मैं भोक्ता हूं तो कहना है ॥

जो नहीं तुम्हारा उसे भोग कर क्यों अपराध क्रिया करते ।

उपभोग से बंध न होता है यह सोच बन्ध नित ही करते ॥ १५१ ॥

१. ततो ज्ञानिनो अस्ति बंधस्तदा म्वापराधनिमित्त एवेति भावः । ज्ञानिनः इति शब्दानंतर ‘यदि’ शब्दोऽपि प्राचीनप्रतिषु केषुचिद् वर्तते ।

काव्यार्थ—कर्म ही—क्रियायें ही उसके कर्ता पुरुष को अपने फल के साथ बलपूर्वक नहीं जोड़ती हैं कि 'तुम मेरे फल को भोगो'। प्रत्युत फल की इच्छा करने वाला ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल को पाता है। इसलिये ज्ञानरूप रहते हुये और जिन्होंने कर्म के प्रति राग की रचना दूर कर दी है ऐसे मुनि कर्म के फल के परित्यागरूप ही एक स्वभाववाले होने से कर्म करते हुये भी कर्म से नहीं बंधते हैं॥ १५२॥

भावार्थ—यहां पर जो आसक्ति पूर्वक और बुद्धिपूर्वक पंचेन्द्रियों के विषयों का उपभोग कर रहे हों और यदि वे ऐसा कहते हों कि 'मुझे कर्मबंध नहीं होता है' तो उन्हीं की भर्त्सना करते हुये आचार्यश्री ने समझाया है कि यदि तुम्हें भोगने की इच्छा है तो तुम्हें कर्मबंध हो ही रहा है। हां, यदि तीव्र कर्मोदय उपसर्ग-परीषह आदि आ गये हैं और ज्ञानी वीतरागी है—राग से दूर है वहां द्वेष या वैर की तो बात ही नहीं है तभी वह कर्मों से नहीं बंधता है। यहां १५२ वें कलश काव्य में "मुनि" शब्द आया है उस पर लक्ष्य देना ही चाहिये कि यह प्रकरण महामुनियों के लिये है न कि गृहस्थों के लिये। क्योंकि गृहस्थाश्रम में रहते हुये अविरती श्रावक या देशव्रती श्रावक दोनों ही शुभ क्रिया तो करते ही हैं कदाचित् अशुभक्रियारूप आर्तध्यान तो क्या रौद्रध्यान से भी सहित हो जाते हैं तो भला वे वीतरागी 'अपास्तरागरचनो'—राग से रहित कैसे हो सकते हैं ? और यदि गृहस्थाश्रम में भी वीतरागता संभव हो तो भला दिगंबर संप्रदाय के अनुसार दैगंबरी दीक्षा लेने की आवश्यकता ही क्या है ? अतः महामुनि ही इन गाथाओं के पात्र हैं ऐसा समझना चाहिये।

यहां चार गाथायें हैं अतः अमृतचंद्रसूरि के अनुसार "जह संखो पेगलदो" गाथा नहीं है किंतु श्री जयसेनाचार्य के अनुसार वह गाथा है। ऐसा उन्होंने अपनी टीका में 'सजीवशंख' और 'निर्जीवशंख' कहकर स्पष्ट किया है।

फल की इच्छा से रहित मुनी को कर्म न निज संग जोड़ सकें।

फल की इच्छा से सहित मुनी ही कर्मों का फल भोग सकें॥

ज्ञानी शुक्लध्यानी बनकर जब राग भाव तज देते हैं।

तब कर्मों को करके भी उसका फल नहिं निज में लेते हैं॥ १५२॥

(उत्थानिका) —अथ ज्ञानिनः शंखदृष्टान्तेन बंधाभावं दर्शयति—

(२३४ ज०) भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दब्बे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥

(२३५ ज०) तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दब्बे ।
भुंजंतस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदो णेदुं ॥

(२३६ ज०) जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥

(२३७ ज०) जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।

शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥२३४॥

तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।

भुंजानस्यापि ज्ञानं नापि शक्यते रागतां नेतुं ॥२३५॥

यदा स एव शंखः श्वेतभावं स्वयं प्रहाय ।

गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२३६॥

यदा शंखः पीतलिकः तदा शुक्लत्वं प्रहाय ।

गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२३७॥

अब शंख के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी जीव के बंध का अभाव दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे दब्बे भुंजंतस्सवि) सचित्त, अचित्त और मिश्र विविध प्रकार के द्रव्यों को खाते हुये भी (संखस्स सेदभावो किण्हगो कादुं णवि सक्कदि) शंख का सफेदपना काला करना शक्य नहीं है (तह सच्चित्ताचित्तमिस्सिए विविहे दब्बे भुंजंतस्सवि णाणिस्स दु णाणं रागदो भावं णेदुं णवि सक्कदि) वैसे ही सचित्त, अचित्त और मिश्र नाना द्रव्यों का उपभोग करते हुये भी ज्ञानी के ज्ञान को रागभाव प्राप्त कराना शक्य नहीं है (जइया स एव संखो तयं सेदसहावं पजहिदूण किण्हभावं गच्छेज्ज तइया सुक्कत्तणं पजहे) जब वही शंख उस श्वेतभाव को छोड़कर कृष्णभाव को प्राप्त हो जावे तब वह शुक्लभाव को छोड़ देगा (जह पोग्गलदो संखो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण

(२३८ ज०) तह णाणी विय जइया णाणसहावत्तयं पजहिदूण ।

अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥

तदा ज्ञान्यपि यदि ज्ञानस्वभावं स्वयं प्रहाय ।

अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥२३८॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा सजीवस्य शंखस्य श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं न शक्यते । किं कुर्वाणस्यापि ? भुञ्जानस्यापि । कानि ? कर्मतापन्नानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानं, रागत्वमज्ञानत्वं नेतुं न शक्यते । कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । किं कुर्वाणस्यापि ? भुञ्जानस्यापि । कानि ? स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणि । ततः कारणात् चिरंतनबद्धकर्मनिर्जरेव भवति । नवतरस्य च संवर इति व्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति । यथा यदा स एव पूर्वोक्तः सजीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अंतरंगस्वकीयोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । तथैव च यथा निर्जीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अंतरंगोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुभ्रत्वत्वं त्यजति । इति निर्जीवशंखनिमित्तं द्वितीयान्वयदृष्टान्तगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुटं स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्वं विहाय

किण्वभावं गच्छेज्ज तइया सुक्कत्तणं पजहे) जैसे कोई पौद्गलिक—निर्जीव शंख जब श्वेतपने को छोड़कर कृष्णपने को प्राप्त हो जावे तब वह श्वेतपने को छोड़ देगा (तह णाणी विय जइया णाणसहावत्तणं पजहिदूण अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे) वैसे ज्ञानी जीव भी जब ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञान से परिणत होता है तब वह अज्ञानपने को प्राप्त हो जाता है ॥ २३४ से २३८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जैसे सजीव शंख का श्वेतरंग काला करना शक्य नहीं है भले ही सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे विविध प्रकार की वस्तुओं का भक्षण क्यों न करता हो । वैसे ही ज्ञानी जीव का वीतराग स्वसंवेदन लक्षण भेदज्ञान रागरूप—अज्ञानरूप करना शक्य नहीं है क्योंकि स्वभाव को अन्यथा करना—बदल देना शक्य नहीं है भले ही वह अपने-अपने गुणस्थान की अवस्था के योग्य सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसी विविध प्रकार की वस्तुओं का उपभोग भी क्यों न करता हो । उस ज्ञानी जीव के तो उस कारण से चिरकाल से बंधे हुये कर्मों की निर्जरा ही हो जाती है और नूतन आने वाले कर्मों का संवर हो जाता है । इस प्रकार व्यतिरेकदृष्टान्त से दार्ष्टान्त गाथा पूर्ण हुई । अन्वय और व्यतिरेक शब्दों के द्वारा सर्वत्र विधि और निषेध अर्थ जानना चाहिये ।

जब वही सजीव शंख काले किन्हीं पर द्रव्यों के लेप के बश से अंतरंग के अपने उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेत स्वभावपने को छोड़कर कालेपने को प्राप्त हो जावे तब वह सफेदपने को छोड़ देता है । यह अन्वय दृष्टान्त की गाथा हुई है । उसी प्रकार से जैसे कोई

(२३८)—निर्जीव शंख जब इसी तरह से श्वेतपने को तज देता ।

वह कृष्णरूप में परिणत हो निज को ही कृष्ण बना लेता ॥

परद्रव्य निमित्तों के कारण इतना अधीन हो जाता है ।

खुद छोड़ स्वयं की सत्ता भी निज को पर रूप बनाता है ॥

मिथ्यात्वरागादज्ञानभावेन परिणतो भवति नदा स्वस्वभावच्युतः सन्नजानत्वं गच्छेत् । तस्य संवत्पूर्विका निर्जरा नास्त्येति भावार्थः—इत्यन्वयदार्ष्टान्तागाथा गता ॥२३४॥२३५॥२३६॥२३७॥२३८॥

पुरिसो जह कोवि इह वित्तणिमित्तं तु सेवए राय ।

तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२३४ अ० ॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।

तो सोवि देइ कम्पो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२३५ अ० ॥

पुरुषो यथा कोपेह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं ।

तत्प्रेमोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२३४॥

एवमेव जीवपुरुषः कर्मराजः सेवते सुखनिमित्तं ।

तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२३५॥

निर्जीव शंख किन्ही काले पट्टव्य के लेप के निमित्त से अंतरंग उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ अपने श्वेत स्वभाव को छोड़कर कालेपने को प्राप्त हो जावे तब वह श्वेतपने को छोड़ देता है । इस प्रकार से निर्जीव शंख निमित्तक दूसरी अन्वय दृष्टांत की गाथा हुई । उसी प्रकार से ज्ञानी जीव भी स्पष्टतया अपनी प्रज्ञा के अपराध से वीतराग ज्ञानस्वभाव को छोड़कर जब मिथ्यात्व रागादि अज्ञानभाव से परिणत होता है तब वही अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ अज्ञान भाव को प्राप्त हो जाता है तब उसके संवत्पूर्वक होने वाली निर्जरा नहीं होती है ऐसा यहां भावार्थ समझना । इस प्रकार अन्वय दृष्टांत द्वारा यह दार्ष्टान्त गाथा पूर्ण हुई है ॥ २३४ से २३८ ॥

भावार्थ—यहां मिथ्यात्व रागादिरूप अज्ञान भाव पहले गुणस्थान में होता है और मिथ्यात्व से रहित रागादि भाव—चौथे पांचवें में भी रहता है जो कथंचित् छठे तक है अर्थात् जहां तक बुद्धिपूर्वक रागादिभाव हैं वहां तक कर्मबंध भी है । आगे श्रेणी में भी दशवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक रागादिभाव हैं और अल्पस्थिति, अल्प अनुभाग वाला बंध होता है । इसके बाद ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में सर्वथा राग का अभाव हो जाने से बंध का अभाव हो जाता है ।

(२३९)---जैसे जग में कोई मानव राजा की सेवा करता है ।

अपनी जीविका धलाने को स्वीकार दासता करता है ॥

तब राजा भी निज सेवक को अनुकूल वस्तुएं देता है ।

सेवा के बदले में सेवक निज सेव्य वस्तुएं लेता है ॥२३४॥

(२४०)---ऐसे ही जीवात्मा नामक इक पुरुष कर्मराजा सेता ।

सुख के निमित्त सेवा करने के बदले वह सुख को लेता ॥

वे कर्मराज भी निजसेवक को भोगवस्तुएं देते हैं ।

अपना साम्राज्य दिखा करके सारे जग को छल लेते हैं ॥२३५॥

जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
 तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६ अ० ॥
 एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
 तो सो ण देइ काय्मे वित्तिहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७ अ० ॥ (चतुष्कम्)

यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं ।
 ततोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२६ ॥
 एवमेव सम्यग्दृष्टिर्विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।
 ततश्च ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२७ ॥

आगे इसी अर्थ को पुनः दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—(इह यथा कोऽपि पुरुषः वृत्तिनिमित्तं तु राजानं सेवते) इस संसार में जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिये राजा की सेवा करता है (तत् सोऽपि राजा सुखोत्पादकान् विविधान् भोगान् ददाति) तब वह राजा भी सुख को उत्पन्न करने वाले ऐसे नाना प्रकार के भोगों को उसे देता है। (एवं एव जीवपुरुषः सुखनिमित्तं कर्मरजः सेवते) इसी प्रकार से जीव नामक पुरुष सुख के लिये कर्मरूपी रज का सेवन करता है (तत् तदपि कर्म सुखोत्पादकान् विविधान् भोगान् ददाति) तो वह कर्म भी सुख को उत्पन्न करने वाले ऐसे विविध भोगों को देता है। (पुनः यथा सः एव पुरुषः वृत्तिनिमित्तं राजानं न सेवते) पुनः जैसे वही पुरुष आजीविका के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है (तत् सोऽपि राजा सुखोत्पादकान् विविधान् भोगान् न ददाति) तो फिर वह राजा भी सुख को देने वाले ऐसे

(२४१)—लेकिन जैसे जब वही पुरुष नृप की सेवा नहीं करता है ।
 निज जीवन पालन के निमित्त भूपति का काम न करता है ॥
 तब राजा भी उस मानव को नानाविध वस्तु न देता है ।
 सेवा नहीं करने से सेवक निज भोग्य वस्तु नहीं लेता है ॥२२६ ॥

(२४२)—ऐसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष नहीं कर्मराज को सेता है ।
 विषयों की इच्छा से न कभी वह विषयसुखों को लेता है ॥
 तब कर्मराज भी उसे भला क्यों भोग्य वस्तुएं दे सकते ?
 फल इच्छा विन कर्मों के सेवन से नहीं फल-को ले सकते ॥२२७ ॥

आत्मख्याति—यथा कश्चित्पुरुषः फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति । तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति । यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति । तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यं ॥ २२४ ॥ २२५ ॥ २२६ ॥ २२७ ॥

शार्दूलविक्रीडित—त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमां वयं
किन्त्वम्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वत्कंपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥ १५३ ॥

नाना विध भोगों को नहीं देता है । (एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं कर्मरजः न सेवते) इसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव विषयों के लिये कर्मरूपी रज को नहीं सेवन करता है (तत् तत्कर्म सुखोत्पादकान् विविधान् भोगान् न ददाति) तो पुनः वह कर्म भी सुखों के उत्पादक ऐसे विविध भोगों को नहीं देता है ।

आत्मख्याति—जैसे कोई पुरुष फल के लिये राजा की सेवा करता है तब राजा उसको उसका फल देता है । वैसे ही यह जीव फल के लिये कर्मों का सेवन करता है तब वह कर्म भी उसको फल देता है । पुनः जैसे वही पुरुष फल के लिये राजा की सेवा नहीं करता है तब वह राजा उसको फल भी नहीं देता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव फल के लिये कर्म का सेवन नहीं करता है तब वह कर्म भी उसको फल नहीं देता है ऐसा यहां तात्पर्य है ॥ २२४ से २२७ ॥

इसे ही कलश काव्यों में कहते हैं—

काव्यार्थ—जिसने कर्म का फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम कर नहीं सकते किंतु वहां इतना विशेष है कि उस ज्ञानी को भी किसी कारण से कोई ऐसा कर्म अवशता से आ जाता है । उसके आ जाने पर भी जो अकंप परमज्ञान स्वभाव में स्थित हुआ ज्ञानी कर्म करता है या नहीं, यह कौन जानता है ? ॥ १५३ ॥

तज दिया कर्मफल जिसने उसको कर्ता हम नहीं कह सकते ।

इतना विशेष है उस ज्ञानी में कर्म अवश से रह सकते ॥

वह अवश कर्म आने पर भी निष्कंप परमज्ञानी रहता ।

तब कर्म कर रहा है या नहीं ज्ञानी यह कौन जान सकता ? ॥ १५३ ॥

शार्दूलविक्रीडित—सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
 यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
 सर्वमिव तिर्यर्गनिर्भयतण् शंकां विहाय स्वयं
 जानंतः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

(उत्थानिका) —अथ सरागपरिणामेन बंधः, तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टान्तदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति—

भावार्थ—यहां कर्म शब्द से क्रियाकांड को लिया जाता है अथवा ज्ञानावरण आदि कर्म भी लिये जा सकते हैं। ज्ञानी इन शुभ-अशुभ क्रियारूप कर्मों को नहीं करता है कदाचित् उसके इच्छा के बिना भी कर्मों का उदय आ जाता है तो भी ज्ञानी आत्मा निश्चल निर्विकल्प ध्यान में स्थित रहता है तभी तो वह ज्ञानी इस नाम को सार्थक करता है।

काव्यार्थ—सम्यग्दृष्टि जन ही ऐसा उत्कृष्ट साहस करने के लिये सक्षम होते हैं जब कि ऐसा वज्रपात हो जावे कि जिसके भय से चलायमान होते हुये तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देवें। ऐसा वज्रपात होने पर भी वे सम्यग्दृष्टि ही स्वभाव से निर्भय होने से संपूर्ण भी शंका को छोड़कर स्वयं ही जिसका ज्ञानरूपी शरीर अबध्य है ऐसी अपनी आत्मा को जानते हुये ज्ञान से च्युत नहीं होते हैं। १५४।

भावार्थ—वीतराग सम्यग्दृष्टि महासाधु ही ऐसा साहस कर पाते हैं कि जब वे निर्विकल्प ध्यान में स्थिर होते हैं तब भले ही उनके मस्तक पर भयंकर वज्रपात ही क्यों न हो जावे किंतु वे ध्यान से विचलित नहीं होते हैं। यहां ये सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार चारित्र के बल से ध्यान, तपश्चरण के अनुष्ठान आदि चारित्र सहित निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—अब सराग परिणाम से बंध होता है और वैसे ही वीतराग परिणाम से मोक्ष होता है इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टांत द्वारा समर्थन करते हैं—

यदि ऐसा वज्रपात होवे त्रैलोक्य भी विचलित हो जावे ।
 तब वीतराग सम्यग्दृष्टी ही आत्मध्यान साहस पावे ॥
 ऐसे क्षण में भी वे निर्भय हो सब शंका तज देते ।
 निज ज्ञान शरीर अबध्य जान नहि ज्ञान भाव से च्युत होते ॥ १५४ ॥

अनुवृत्तिः ॥ २३९१ ॥ २३९२ ॥ २३९३ ॥ २३९४ ॥

- (२३९ ज०) पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं ।
तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ।
(२४० ज०) एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सो वि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे ।
(२४१ ज०) जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देदि राया विविहसुहुप्पादगे भोगे ॥
(२४२ ज०) एमेव सम्पदिट्ठी ^१विसयत्तं सेवदे ण कम्मरयं ।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं ।

तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२३९॥

एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं ।

तत्सोऽपि ददाति कर्मराजा विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् ॥२४०॥

यथा पुनः स एव नरो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं ।

तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधसुखोत्पादकान् भोगान् ॥२४१॥

एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।

तस्य ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४२॥

अन्वयार्थ—(इह जह कोवि पुरिसो वित्तिणिमित्तं तु रायं सेवदे) इस लोक में जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिये राजा की सेवा करता है (तो सोवि राया सुहुप्पादे विविहे भोगे देदि) तो वह राजा भी उसे सुखोत्पादक अनेक प्रकार के भोगों को—भोगसामग्री को देता है (एमेव जीवपुरिसो सुहणिमित्तं कम्मरयं सेवदे) इसी प्रकार जीव नामा पुरुष भी सुख के लिये कर्मराजा की सेवा करता है (तो सोवि कम्मरायो सुहुप्पादगे भोगे देदि) तो वह कर्मराजा भी उसे सुखोत्पादक भोगों को देता है (पुण जह सो चेव णरो वित्तिणिमित्तं रायं ण सेवदे) पुनः जैसे वही मनुष्य आजीविका निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है (तो सो राया विविहसुहुप्पादगे भोगे ण देदि) तो वह राजा भी उसे विविध सुखोत्पादक भोगों को नहीं देता है (एमेव सम्पदिट्ठी विसयत्तं कम्मरयं ण सेवदे) ऐसे ही सम्यग्दृष्टी जीव विषयों के लिये कर्मरूपी राजा की सेवा नहीं करता है (तो सो कम्मं सुहुप्पादे विविहे भोगे ण देदि) तो वह कर्मराजा भी सुखोत्पादक विविध भोगों को—भोगसामग्री नहीं देता है ॥ २३९ से २४२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा कश्चित्पुरुषः, वृत्तिनिमित्तं राजानं सेवते ततः सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिजीवविषयेऽन्वयदृष्टान्तगाथा गता । एवमेवाज्ञानी जीवपुरुषः शुद्धात्मोत्थसुखात्प्रच्युतः सन्नुदयागतं कर्मरजः सेवते विषयसुखनिमित्तं ततः सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्म राजा ददाति, कान् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान् शुद्धात्मभावानां विनाशकान् रागादिपरिणामान् इति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाऽकांक्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति सोऽपि पापानुबन्धिपुण्यराजा कालांतरे भोगान् ददाति । तेऽपि निदानबंधेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरंपरां प्रापयन्तीति भावार्थः । एवमज्ञानिजीवं प्रत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं । ततः सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान् ? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीवः पूर्वोपार्जितमुदयागतं कर्मरजः शुद्धात्मभावोत्थवीतरागसुखानंदात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्ध्या न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधविषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान् शुद्धात्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवंचनार्थं

तात्पर्यवृत्ति—जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिये राजा की सेवा करता है तब राजा भी उस अपनी सेवा करने वाले को विविध सुखों के उत्पादक भोगों को देता है । इस प्रकार अज्ञानी जीव के विषय में यह अन्वय दृष्टान्तरूप गाथा हुई है । इसी प्रकार से कोई अज्ञानी जीव—पुरुष शुद्धात्मा से उत्पन्न हुये सुख से च्युत होता हुआ उदय में आये हुये कर्मरूपी रज का सेवन करता है वह विषय सुख के लिये करता है फिर वह भी पूर्व में उपार्जित पुण्यकर्मरूपी राजा विषयसुखों के उत्पादक भोगों की आकांक्षारूप ऐसे सुखों को देता है । वे शुद्ध आत्मा के भावों के विनाशक ऐसे रागादि परिणामों को भी देता है ।

अथवा दूसरा व्याख्यान कहते हैं—कोई जीव नूतन पुण्य कर्म के निमित्त भोगों की आकांक्षारूप निदान से शुभ कर्म के अनुष्ठान को करता है वह भी पापानुबन्धी पुण्यराजा कालांतर में भोगों को देता है । पुनः वे भी निदान बंध से प्राप्त हुये भोग रावण आदि के समान नारकीआदि के दुःखों की परंपरा को प्राप्त करा देते हैं ऐसा भावार्थ हुआ । इस तरह अज्ञानी जीव के बारे में यह अन्वय गाथा हुई है ।

जैसे वही पुरुष जब आजीविका के लिये राजा की सेवा नहीं करता है तब वह राजा भी उसे विविध सुखों को उत्पन्न करने वाले ऐसे भोगों को नहीं देता है । इस प्रकार ज्ञानी जीव के विषय में यह व्यतिरेक दृष्टान्त की गाथा हुई है । उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग सुख आनंद से च्युत होकर विषय सुख के लिये पूर्व में उपार्जित उदय में आये हुये कर्मरूपी रज को उपादेय बुद्धि से सेवन नहीं करता है तब वह भी कर्म उसको विविध सुखों के उत्पादक भोगों की आकांक्षारूप शुद्धात्मा की भावना के विनाशक

यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते । तदपि पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्म भवांतरे तीर्थकर-चक्रवर्ती-बलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञान-वासनाबलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान् ददाति, भरतेश्वरादीनामिव । इति संज्ञानिजीवं प्रति व्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता । एवं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञान-भेदरूपं परमार्थशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादान-कारणं पूर्वं यद्व्याख्यानं परमात्मपदं, तत्पदं येन निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन बिना न लभ्यते तस्यैव भेद-विज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि ॥ २३९ ॥ २४० ॥ २४१- ॥ २४२ ॥

परमार्थशब्द-वाच्यं साक्षात् मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादान-कारणं पूर्वं यद्व्याख्यानं परमात्मपदं, तत्पदं येन निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन बिना न लभ्यते तस्यैव भेद-विज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि ॥ २३९ ॥ २४० ॥ २४१- ॥ २४२ ॥

ऐसे रागादि परिणामों को नहीं देता है । अथवा दूसरा व्याख्यान ऐसा है—कोई सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि का अभाव होने से अशक्यानुष्ठान रूप से विषय कषायों से बचने के लिये यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजा आदि शुभ कार्यों के अनुष्ठान को करता है फिर भी वह भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध पूर्वक उन पुण्यकर्मों के अनुष्ठान को नहीं करता है तो वह भी पुण्यानुबन्धी नाम का पुण्यकर्म भवांतर में तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के अभ्युदयरूप से उदय में आता है । फिर भी वह पुण्यकर्म पूर्वभव में भावित भेदविज्ञान के संस्कार के बल से शुद्धात्मा की भावना के विनाशक विषय सुखों के उत्पादक ऐसे भागों की आकांक्षा के निदानरूप रागादि परिणामों को नहीं देता है भरतेश्वर आदि के समान । इस प्रकार संज्ञानी जीव के धारे में यह व्यतिरेकरूप से दार्ष्टान्तरूप गाथा हुई है ।

इस प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों के अभेदरूप परमार्थ शब्द से वाच्य, साक्षात् मोक्ष के लिये कारणभूत, शुद्धात्मा की संवित्तिलक्षण जो स्वसंवेदन से अनुभव में आने योग्य, परमात्मपद है जिसका कि पहले व्याख्यान किया जा चुका है ऐसा वह पद संवरपूर्वक निर्जरा का उपादानकारण है । वह पद जिस निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण भेद विज्ञान गुण के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता है उसी ही भेदविज्ञान गुण का पुनरपि विशेष व्याख्यान काने रूप से यहां चौदह गाथा सूत्र हुये हैं ॥ २३९ से २४२ ॥

विशेषार्थ—यहां पर उदाहरण में यह कहा है कि जैसे कोई पुरुष धन के लिये राजा की सेवा करता है तो राजा उसे धन देता है और यदि कोई पुरुष धन के लिये राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा भी उसे कुछ नहीं देता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव यदि फल के लिये कर्म करता है तो फल पाता है और यदि फल की इच्छा नहीं है तो फल नहीं पाता है । इसे ही श्री जयसेनाचार्य ने पहले अज्ञानी जीव में घटाया है फिर ज्ञानी जीव में । कोई अज्ञानी जीव शुद्धोपयोग में स्थित नहीं है वह उदय में आये हुये सातादि के निमित्त से प्राप्त सुखों का

उपभोग कर रहा है, उस समय उसके हर्षविषादादि—रागादि परिणाम हो रहे हैं, उनसे आगे के लिये पुनः कर्मबंध हो रहा है। अथवा कोई अज्ञानी जीव पुण्यक्रियाओं को करते हुये निदान कर लेता है कि मुझे आगे राज्यवैभव आदि मिले जैसा कि नारायण-प्रतिनारायण आदि पूर्व भव में मुनिपद में भोगों की आकांक्षा से निदान करके स्वर्ग में जाकर पुनः रायण आदि हुये थे। ये पुण्यक्रियायें निदान बंध आदि रूप होने से पापानुबंधी पुण्य कहलाती हैं क्योंकि इनके फल स्वरूप सुख वैभव को प्राप्तकर प्रायः लोग उन वैभवों को छोड़ नहीं पाते हैं अतः राज्य भोगों में ही मरकर नरकादि में चले जाते हैं इसीलिये इसे पाप का बंध कराने वाला होने से पापानुबंधी पुण्य कहा है। पुनः ज्ञानी जीव के बारे में कहते हैं कि जैसे कोई सम्यग्दृष्टि जीव साता आदि कर्म का उदय आने पर शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सुखरूपी आनंद है उससे च्युत नहीं होता है तो वह पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के उदय में आकर भी हर्ष—रागादि भावों के न होने से आगे के लिये कर्मबंध नहीं कराता है। अथवा कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष निर्विकल्प ध्यान में स्थित नहीं हो पाता है तो वह विषय-कषायों से बचने के लिये व्रत, शील, दान, पूजा आदि शुभक्रियाओं को करता है तो भी उसको आगे भोगों की आकांक्षा नहीं है—निदानबंध नहीं कर रहा है अतः उसकी वे क्रियायें स्वर्ग के सुखों को देकर आगे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के अभ्युदय को देती हैं। वहां पर इन महान पद में भी वे आसक्त होकर उससे चिपके नहीं रहते हैं प्रत्युत पूर्वभव में जो भेदज्ञान का अभ्यास किया था उन संस्कारों के निमित्त से वे पुनः दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष को या कदाचित् संसार शेष है तो स्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं। इनमें भरतेश्वर, रामचंद्र, बलदेव आदि के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। यह भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध से रहित जो इनका पुण्य है वह पुण्यानुबंधीपुण्य कहलाता है। जो भी मनुष्य आज पुण्यकर्म करके आगे अभ्युदय सुख प्राप्त कर पुनः सम्यग्दर्शन पूर्वक धर्मक्रियाओं में तत्पर रहकर आगे स्वर्ग आदि प्राप्त करते हैं उनका पुण्य पुण्यानुबंधीपुण्य समझना चाहिये। यहां दो प्रकार के पुण्यरूपी राजा समझना—एक तो पूर्वोपार्जित उदय में आया हुआ पुण्य—जिसे प्राप्तकर भी जो आत्मतत्त्व में स्थिर हैं उन्हें वह रागादि भावों का जनक न होने से आगे के लिये कर्मबंध नहीं कराता है। और दूसरा पुण्य कर्म रूपी राजा वह भी निदान बंध सहित न होने से और सम्यग्दर्शन सहित होने से परंपरा से मोक्ष का कारण होता है।

अब यहां चर्चा का विषय यह है कि श्री जयसेनाचार्य की पंक्ति के अनुसार 'व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं' से छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों की क्रियायें लेना या चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकों में भी घटाना ?

मुनियों में व्रत-शील तो हैं ही, जिनेन्द्र देव की वंदना करना भी पूजा है तथा उपदेश देना आदि ज्ञानदान, जीवों की दया पालना आदि अभयदान, रोगी मुनियों की औषधि करना, वैयावृत्ति करना आदि औषधिदान और आगंतुक साधु या संघस्था साधुओं की भी आवश्यकतानुसार श्रावकों द्वारा आहार की व्यवस्था कराना आहार दान है। यह सभी मुनियों के लिये शक्य है। मूलाचार में मुनियों के वंदना नामक आवश्यक में पूजाकर्म आया है। यथा—

किदियम् चिदियम् पूजाकम् च विणयकम् वा ।

कादव्यं केण कस्स व कथं व कहिं व कदिखुत्तो ॥ ५७८ ॥

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये वंदना के एकार्थवाची नाम हैं। किसको, किसकी, किस प्रकार से, किस समय और कितनी बार वंदना करना चाहिये ? आगे इन्हीं का विस्तार है इत्यादि। अतः यह प्रकरण तो खास करके मुनियों के लिये ही है ऐसा समझना। दूसरी बात यह है कि श्री अमृतचंद्रसूरि ने जो इन गाथाओं की उत्थानिका में कलश काव्य दिया है और यहां १५३-१५४ का कलश काव्य रखा है उसके भाव को भी समझना आवश्यक है।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि “अपास्तरागरचनः मुनिः कर्मणा न बध्यते” जिसने राग की रचना को समाप्त कर दिया है ऐसा मुनि कर्मों से नहीं बंधता है अतः जब स्वयं सूरिवर्य ‘मुनि’ शब्द को १५२ वें कलश में कह रहे हैं तब पुनः इन गाथाओं की टीका में गृहस्थ को कैसे लिया जा सकता है ? श्रीशुभचंद्राचार्य ने इस कलश की टीका में कहा है कि “तत्फलपरित्यागैकशीलः मुनिः” तेषां कर्मणां फलमनुभवस्तस्य परित्यागे एकमद्वितीयं शीलं स्वभावो यस्य स रागद्वेषमोहाभावात् मुनिः ज्ञानवान् यतिः।” उन कर्मों के फल का अनुभव करने के त्याग में अद्वितीय है स्वभाव जिनका, ऐसे वे ज्ञानी यति राग द्वेष मोह का अभाव होने से कर्मों से नहीं बंधते हैं।

इस कथन से स्पष्ट है कि यहां समयसार में सर्वत्र छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों का ही विषय है। आगे भी इन चारों की टीका के काव्य में श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं कि—

“अकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितः” निश्चल परम ज्ञान स्वभाव में महामुनि ही स्थित होते हैं। वास्तव में आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तो तीर्थंकर, प्रकृति आदि कर्मप्रकृतियों

का बंध होता रहता है। आगे पुनः काव्य १५४ में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि का ही ऐसा कोई एक महान साहस है कि तीसरे में सातभयंकर शोभकारी वज्रपात होने पर भी वे अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होते हैं। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने अगली गाथा की उत्थानिका में लिया है कि—“सम्यग्दृष्टि घोर उपसर्ग के आने पर भी सातभय से रहित होते हैं अतः वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।” यहां “घोर उपसर्ग” मुनियों के ही आ सकता है श्रावकों के नहीं। अथवा सेठ सुदर्शन, राजपुत्र वारिषेण आदि के भी उपसर्ग माना जा सकता है।

कोई कहे कि १५२ वें काव्य में आये “मुनि” शब्द को निश्चयनय की अपेक्षा से चौथे में घटाना चाहिये। यह बात तो बिल्कुल असंगत है। वास्तव में चतुर्थगुणस्थानवर्ती क्या मिथ्यादृष्टी भी निश्चयनय से सिद्ध भगवान है। मुनि अवस्था तो व्यवहारनय से ही होती है। अथवा गौणरूप में गृहस्थ में भी ये पंक्ति घटाई जा सकती हैं। टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने “अथवा द्वितीयव्याख्यान” स्वयं ऐसा वाक्य रखा है। कि कोई ‘सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि के अभाव से अशक्यानुष्ठान रूप में विषयकषायों से बचने के लिये व्रत, शील, दान, पूजा आदि शुभकर्म का अनुष्ठान करता है।’ “इन दान-पूजादि” पद से कथंचित् चतुर्थगुणस्थान, पंचमगुणस्थान के गृहस्थ के लिये भी कहा जा सकता है किंतु वह गौण रूप से ही है क्योंकि यह ग्रंथ व्यवहार चारित्र में निष्णात महामुनियों के लिये ही है। बात यह है कि निदानबंधादि से रहित सम्यग्दृष्टि अवती का पुण्य भी परंपरा से मोक्ष का कारण है ऐसा निश्चित है।

फिर भी यहां प्रत्येक प्रसंगों में श्रीजयसेनाचार्य की यह पंक्ति भी ध्यान में रखनी चाहिये। “अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।” (गाथा २०१-२०२ अ०, २११, २१२ ज० की टीका में) —

इस समयसार ग्रंथ में पंचमगुणस्थान से ऊपर वाले गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्यरूप से ग्रहण है, सरागसम्यग्दृष्टियों का गौणरूप से ग्रहण है ऐसा व्याख्यान सर्वत्र सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय अभिप्रायरूप में समझना चाहिये।

आगे स्वयं श्री कुंदकुंददेव निश्चयनय की मुख्यता से सम्यग्दृष्टि का लक्षण और उसके आठों अंगों का लक्षण करेंगे।

सम्पद्दिष्टी जीवा निःशंका होंति निःशंका तेण ।

सप्तभयविप्रमुक्ता जहा तद्वा दु निःशंका ॥ २२८ अ० ॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निःशंका भवन्ति निर्भयास्तेन ।

सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निःशंकाः ॥ २२८ ॥

आत्मख्यातिः—येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः संतः, अत्यंत कर्मनिरपेक्षतया वर्तते तेन नूनमेते अत्यंतनिःशंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यन्ते ॥ २२८ ॥

उत्थानिका—इसी अर्थ को गाथा से कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्यग्दृष्टयः जीवाः निःशंकाः भवन्ति) सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं (तेन निर्भयाः यस्मात् सप्तभयविप्रमुक्ताः तस्मात् तु निःशंकाः) इसीलिये निर्भय होते हैं क्योंकि वे सात प्रकार के भय से विमुक्त हैं इसी कारण से निःशंक हैं ॥ २२८ ॥

आत्मख्याति—जिस हेतु से नित्य ही ये सम्यग्दृष्टि जीव सकल कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित होते हुये अत्यंतरूप से कर्मों से निरपेक्ष होकर रहते हैं इसी हेतु से ये निश्चित ही अत्यंत निःशंकरूप उत्कट परिणाम होते हुये अत्यंत निर्भय हैं ऐसा संभावित किया जाता है ॥ २२८ ॥

भावार्थ—यहां शंका शब्द से आचार्य देव ने 'भय' अर्थ किया है अन्यत्र रत्नकरंडश्रावकाचार आदि में संदेह अर्थ किया है। जिनेन्द्रदेव के वचनों में शंका—संदेह न करना सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दृष्टि संदेहरहित होने पर ही शंका—सात भयों से रहित हो सकता है। अतः यह लक्षण भी उस संदेहरहित लक्षण को व्याप्त करके ही है अतः इसमें अव्याप्ति दोष नहीं समझना चाहिये। यहां शंकारहित महामुनियों के लिये सात भयों से रहित होने का उपदेश है।

(२४३)—निःशंक कहे सम्यग्दृष्टी अतएव सदा निर्भय रहते।

मरणादि रूप सातों प्रकार के भय से भी विरहित रहते ॥

निःशंक अवस्था का ऐसा ही अर्थ बताया जाता है।

पांडववत् निश्चल रहते वे उपसर्ग, भले ही आता है ॥ २२८ ॥

शार्दूलविक्रीडित—लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो^१ विविक्तात्मनः

चिल्लोकं^२ स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ।

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धीः कुतो

निश्शंकं सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५५ ॥

अब इन सातभयों से रहित सम्यग्दृष्टि है ऐसा सात काव्यों द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—जो यह पर से भिन्न आत्मा का चैतन्यस्वरूप लोक है, वह शाश्वत है, एक है, सब जीवों को प्रगट है, उसको यह ज्ञानी आत्मा ही स्वयमेव एकाकी हुआ केवल—मात्र अवलोकन करता है। ज्ञानी सोचता है कि हे आत्मन् ! यह चैतन्यस्वरूप लोक ही तुम्हारा है और इससे भिन्न जो अन्य लोक है वह अपर लोक है तुम्हारा नहीं है। इस प्रकार चिंतन करते हुये उस ज्ञानी के इस लोक और परलोक का भय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं होता है। इसलिये ज्ञानी सदा निःशंक होता हुआ अपने सहज ज्ञान का ही अनुभव करता है ॥ १५५ ॥

भावार्थ—जो यह चराचर स्वरूप लोक दिख रहा है अथवा जो लोक में निवास करने वाले जीव हैं या जो यह तीन लोक है उसे ही इहलोक कहते हैं। उससे जो अपर है—भिन्न है या परभव है वह परलोक है। सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी जीव इस लोक और परलोक के भयों से रहित रहता है क्योंकि वह अपनी आत्मा को इनसे भिन्न ही समझता है। वास्तव में ज्ञानी का चिच्चैतन्य स्वरूप लोक ही अपना है और यह संसार आदि इहलोक-परलोक अपने से—शुद्धात्मा के स्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं अतः वह सहज अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है। यद्यपि यहां वीतराग सम्यग्दृष्टि की चर्चा है फिर भी सरागसम्यग्दृष्टि भी यह जानता है कि जो कुछ पूर्व में कर्म संचित किये हैं उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा अतः उसे उस लोक का कोई भय नहीं है और सम्यग्दृष्टि मनुष्य नियम से देवगति ही प्राप्त करेगा अथवा उत्तम संहननादि हैं तो मोक्ष भी जा सकता है अतः उसे परलोक का भी भय—चिंता नहीं रहती है।

आत्मा जो पर से भिन्न लोक शाश्वत है एक निराला है।

ज्ञानी आत्मा ही मात्र उसे अवलोकन करने वाला है ॥

चैतन्यलोक तेरा व अन्य पर जान उसे भय कैसे है ?

ज्ञानी मुनि हो निश्शंक सदा निज ज्ञान में ही रत रहते हैं ॥ १५५ ॥

१. सकल काल व्यक्त, प्रकट, सकलव्यक्त इत्यर्थः। २. एषोऽयं लोकः केवलमयं विचिल्लोकं लोकयतीत्यर्थः।

शार्दूलविक्रीडित—एवंकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
 निर्भेदोदित-वेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
 नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
 निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विदति ॥ १५६ ॥

काव्यार्थ—अनाकुल—आकुलतारहित ज्ञानी पुरुषों को एक अचल ज्ञान ही अनुभव में आता है अतः यह एक ही वेदना—ज्ञान का वेदन—अनुभव ज्ञानी के है। वह अभेदरूप से वर्तन करते हुये वेद्य और वेदक के बल से ही होती है अर्थात् आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है इन दोनों में भेद के प्रतिभासित न होने से ज्ञानी मात्र एक ज्ञान का ही अनुभव करता है इसलिये ज्ञानीजीव के अन्य किसी निमित्त से आने वाली और कोई वेदना ही नहीं होती है पुनः उसे वेदना का—शरीर जन्य कष्टों का भय कहां से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है इसलिये वह ज्ञानी सदा निःशंक—निर्भय हुआ स्वयं ही अपने ज्ञान का अनुभव करता है ॥ १५६ ॥

भावार्थ—श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि 'न मे व्याधिः कुतो व्यथा।' जब मेरी आत्मा को व्याधि ही नहीं है तो भला व्यथा—पीड़ा, वेदना कैसे होगी ? शुद्धनय से यह आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। यहाँ आचार्यदेव ने उस ज्ञानमात्र के अनुभव को ही 'वेदना' कहा है क्योंकि विद् धातु का अर्थ वेदन करना—अनुभव करना लिया गया है। अतः शुद्धोपयोगी मुनि मात्र अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करते हैं तब उनके यह वेदनाजन्य भय नहीं रहता है।

आकुलताविरहित ज्ञानी मुनि इक अचल ज्ञान वेदन करता ।
 आत्मा वेदक है ज्ञान वेद्य इसका भी भेद नहीं करता ॥
 ज्ञानी आत्मा को भय कैसा ? जब अन्य कोई वेदन नहीं है ।
 निज ज्ञान का अनुभव मात्र करे जब हुआ पूर्ण निःशंक हि है ॥ १५६ ॥

शार्दूलविक्रीडित—यत्सत्ताशमुपैति तत्र नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
 ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल तत्स्वातं किमस्यापरैः ।
 अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो
 निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५७ ॥

शार्दूलविक्रीडित—एवं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यच्-
 छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
 अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो
 निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५८ ॥

काव्यार्थ—जो सत् है वह नष्ट नहीं होता है ऐसी वस्तुस्थिति नियम से स्पष्ट है। यह ज्ञान भी स्वयं ही सत् स्वरूप है इसलिये नष्ट नहीं हो सकता है पुनः पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा ? अतः यह ज्ञान अरक्षित है ही नहीं अर्थात् यह अपना ज्ञान स्वयं अपने द्वारा ही रक्षित है। इस प्रकार से जानने वाले ज्ञानी को अरक्षा का भय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता क्योंकि वह तो स्वयं सतत निःशंक हुआ अपने सहज—स्वाभाविक ज्ञान का अनुभव करता है ॥ १५७ ॥

भावार्थ—ज्ञान स्वयं आत्मा का ही स्वरूप है ज्ञानमय आत्मा की अरक्षा का प्रसंग ही नहीं है। शुद्धोपयोगी मुनि शुद्धस्वरूप आत्मा में तन्मय होकर उसी का अनुभव करते हैं पुनः उन्हें अपनी अरक्षा का भय नहीं होता है क्योंकि यह आत्मा सदा नित्य है कभी इसका विनाश हो ही नहीं सकता।

काव्यार्थ—वास्तव में वस्तु का अपना रूप ही—स्वरूप ही परम गुप्ति है क्योंकि अपने स्वरूप में अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता है और अकृत—अकृत्रिम—स्वाभाविक जो ज्ञान

जो सत् है उसका नाश नहीं ऐसी वस्तुस्थिति कही ।
 फिर ज्ञान का भी रक्षण कैसा ? उसकी स्थिति सत् रूप रही ।
 यह ज्ञान सदा रक्षित ही है अतएव अरक्षाभय कैसा ?
 ज्ञानी निःशंक हुआ विचरे स्वाभाविक ज्ञान हुआ ऐसा ॥ १५७ ॥
 आत्मा का अपना जो स्वरूप वह स्वयं परम गुप्तीय है ।
 उसमें पर का नाहो हो प्रवेश वह ज्ञानस्वरूपी निर्भय है ॥
 स्वयमेव गुप्ति से रक्षित है तब उसे अगुप्तीभय कैसा ?
 निःशंक सतत हो वह ज्ञानी विचरे उसका फल है वैसा ॥ १५८ ॥

शार्दूलविक्रीडित—प्राणोच्छेदमुदाहरति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
 ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित् ।
 तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तन्मीः कुतो ज्ञानिनो
 निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५९ ॥

है वही पुरुष-आत्मा का स्वरूप है इसलिये ज्ञान ही आत्मा की परमगुप्ति है। अतः आत्मा की किंचित् मात्र अगुप्तिता है ही नहीं पुनः ज्ञानी को अगुप्ति का भय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है यही कारण है कि वह सदा निःशंक होता हुआ अपने सहज ज्ञान का अनुभव करता है ॥ १५८ ॥

भावार्थ—आत्मा का अपना जो ज्ञानस्वरूप है वह स्वयं परम गुप्ति स्वरूप है वह आत्मा में किसी का प्रवेश नहीं होने देता। उस ज्ञान स्वरूप आत्मा के अनुभव करने वाले मुनि को कभी भी अगुप्ति का भय नहीं रहता है।

काव्यार्थ—प्राणों के विनाश को लोग मरण कहते हैं। निश्चय से आत्मा का प्राण तो ज्ञान ही है। वह ज्ञान शाश्वत है उसका कदाचित् भी नाश होता नहीं अतः आत्मा का मरण किसी भी कारण से हो ही नहीं सकता। पुनः ज्ञानी आत्मा को भला मरण का भय कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होता है इसलिये वह ज्ञानी निःशंक हुआ सदा ही स्वयं अपने सहज ज्ञान का अनुभव करता रहता है ॥ १५९ ॥

काव्यार्थ—यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनंत है, अचल है। वह ज्ञान जब तक है तब तक सदा ही वही है उसमें दूसरे का उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञान में 'आकस्मिक' कुछ भी नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को आकस्मिक भय कहां से हो

प्राणों का नाश मरण होता आत्मा का निश्चय प्राण ज्ञान।

वह ज्ञान सदा शाश्वत है फिर उसका न कभी होगा प्रहाण ॥

ज्ञानी आत्मा को मरण नहीं तब मरण का भय कैसे होगा ?

सहजात्म ज्ञानका अनुभव कर ज्ञानी निःशंक स्वयं होगा ॥ १५९ ॥

शार्दूलविक्रीडित—एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
 यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
 तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
 निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विदति ॥ १६० ॥

मंदाक्रान्ता—टंकोत्कीर्ण-स्व^१ रसनिचित-ज्ञानसर्वस्वभाजः
 सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं ध्वंति लक्ष्माणि कर्म ।
 तत्तस्यास्मिन्पुनरपि भनावकर्मणो नास्ति बंधः
 पूर्वोपातं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ १६१ ॥

सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। इसी हेतु से वह ज्ञानी आत्मा स्वयं निःशंक हुआ हमेशा सहज ज्ञान का अनुभव करता है ॥ १६० ॥

काव्यार्थ—टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगने वाले सम्यग्दृष्टि के जो निःशंकित आदि चिन्ह हैं वे समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं इसलिये कर्म का उदय होने पर भी सम्यग्दृष्टि को पुनः कर्म का बंध किञ्चित् मात्र भी नहीं होता है तथा जो पूर्व में बंधे हुये कर्म हैं उसका उदय आने पर भोगते हुये उन कर्मों की निर्जरा ही हो जाती है ॥ १६१ ॥

यह ज्ञान अनादि अनन्त अचल है स्वतः सिद्ध इक रूप कहा ।
 जब तक वह ज्ञान है तब तक सदा, वही है दुतिय न उदय रहा ॥
 इस ज्ञान में अतः न आकस्मिक कुछ होता तब भय कहाँ रहे ।
 ज्ञानी आत्मा निःशंक हुआ ज्ञानामृत अनुभव किया करे ॥ १६० ॥

टंकोत्कीर्ण निज रस पूरित सर्वस्व ज्ञान जो भोग रहा ।
 वह सम्यग्दृष्टी निःशंकित चिह्नों से कर्म को छोड़ रहा ॥
 उदयागत कर्म अतः उसमें नवकर्म नहीं बंधने देते ।
 पूर्व संचित कर्मों का फल चख उनको शीघ्र झड़ा देते ॥ १६१ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि आठ अंग और संवेग, निर्वेद, निंदा गद्गल, उपशम, भक्ति, वात्सल्य तथा अनुकंपा ये आठ चिन्ह या गुण प्रगट हो जाते हैं। वे ही सम्यग्दृष्टि महामुनि वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर जब शब्द आत्मा के ध्यान में निमग्न हो जाते हैं तब ये ग्याहरवें-बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर यथाख्यात चारित्रधारी बन जाते हैं तभी उनके किंचित् मात्र भी बंध नहीं होता है क्योंकि यहां कलश काव्य में "मनाक् कर्मणो नास्ति बंधः" वाक्य है उससे यही अर्थ ध्वनित होता है। पुनः पूर्वबद्ध कर्म उदय में आकर फल देकर झड़ जाते हैं, यही उनकी निर्जरा मानी जाती है। अतः यह स्थिति चौथे, पाँचवें गुणस्थान में तो असंभव ही है। आगे छठे, सातवें, आठवें, नवमें और दसवें गुणस्थान में भी नहीं घटती है ऐसा समझना चाहिये।

यहां पूर्व में जो सात भय ज्ञानी के नहीं माने हैं वे सराग सम्यग्दृष्टि के भी नहीं होते हैं उनका स्पष्टीकरण—

इहलोक भय—इस लोक में—इस भव में भी कैसे सुखी रहूँ ? कोई चोर, लुटेरे, डाकू या शत्रु मुझे मार न देवें, मेरी संपत्ति न हड़प लेवें, राजा के लोग कब कुछ छापा आदि न डाल देवें। इत्यादि प्रकार से इस लोक के बारे में हमेशा चिंतित—भयभीत रहना इहलोकभय है। व्यवहार सम्यग्दृष्टि भी भय नहीं करता है क्योंकि जो मैंने पूर्व में कर्म बांधे होंगे वे अवश्य उदय में आकर फल देंगे अतः भयभीत होने से क्या ? यह आत्मा तो अजर-अमर नित्य है ज्ञान स्वरूप है इत्यादि।

परलोकभय—अगले भव का नाम परलोक है, पता नहीं मैं मरकर किस गति में जाऊंगा ? क्या करूँ ? कैसे करूँ ? जन्मांतर में माता के गर्भ में रहना कितना दुःखप्रद है ? इत्यादि चिंता करते रहना परलोकभय है। सरागसम्यग्दृष्टि भी यह जानता है। अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि नियम से देव गति को ही प्राप्त करेगा अतः समाधिपूर्वक मरण की भावना भाता है किंतु परलोक से भयभीत नहीं होता है।

वेदनाभय—शरीर में नाना प्रकार के रोगों से व्याकुल होकर चिंता करना, यह रोग नहीं मिटेगा तो क्या होगा ? इसकी वेदना कैसे सहन करूँ ? आदि। सम्यग्दृष्टि सोचता है यह वेदना रोग के निमित्त से शरीर में है आत्मा में नहीं है। वेदना से शरीर में कष्ट होगा न कि आत्मा में, अतः वह वेदना न सह सकने से आकुल-व्याकुल भले ही हो जाये किंतु वह मिथ्यादृष्टि के समान भयभीत नहीं होता है।

अरक्षाभय—संसार में कौन रक्षा करेगा ? ऐसा भय सरागसम्यग्दृष्टि भी नहीं करता क्योंकि जिनेन्द्रदेव की शरण और धर्म ही मेरा रक्षक है अतः वह अरक्षा का भय नहीं करता है।

अगुप्तभय—लोक में दुर्ग, कोट, खाई आदि से राजालोग अपने देश, नगर, आदि को गुप्त रखते थे जिसमें शत्रुओं का प्रवेश कठिन था। मेरे लिये कोई गुप्त स्थान नहीं है मेरी कैसे सुरक्षा रहेगी ? सरागसम्यग्दृष्टि भी नहीं सोचता है वह सोचता है कि यदि पुण्यकर्म का उदय है तो जंगल में भी कोई कष्ट नहीं दे सकता और यदि पाप का उदय आ जाता है तो कोट के भीतर छिपकर भी बैठने से संकट आ जाते हैं अतः धर्म को करते हुये वह आत्मस्वरूप का विचार करता रहता है अतः उसे अगुप्ति भय नहीं है।

मरणभय—पांच इंद्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा से प्राणी इनके रहने तक जीता है और इनके नष्ट होने पर मर जाता है। यह मरण आत्मा को नहीं है, मात्र शरीर को ही है अतः सरागसम्यग्दृष्टि भी 'मरने से न डर कर मरना तो पड़ेगा ही, ऐसा सोचकर—वह मरने की चिंता नहीं करता है।

आकस्मिकभय—अकस्मात् कोई संकट का आ जाना आकास्मिक भय है। सम्यग्दृष्टि यही सोचता है कि कर्म के उदय से कभी कोई अकस्मात् भय आ भी जाय तो वह शरीर, धन, कुटुंब आदि के आश्रित ही तो है। अतः वह आत्मा के स्वरूप का चिंतन करते हुये भय से भयभीत नहीं होता है।

बात यह है कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती राजा श्रेणिक जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी मरने के भय से कारागृह में आकुल हो उठे। उनका पुत्र कुणिक उन्हें कारावास में डालकर दुःख दे रहा था। अंत में माता से प्रबोध को प्राप्त कर एक दिन वह अपने आप पिता के बंधन खोलने आ रहा था। राजा श्रेणिक एक दम धबरा कर उठे उनका शिर टकरा गया और प्राणांत हो गया। इस उदाहरण से ये मरण भय आदि सम्यग्दृष्टि में भी देखे जाते हैं किंतु मिथ्यादृष्टि के समान सम्यग्दृष्टि अपनी आत्मा का विघात नहीं मानता है वह कर्मोदय के दुःख को नहीं सह सकने से धबरा भी जाता है फिर भी मिथ्यादृष्टि की मान्यता व श्रद्धान में तथा सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में बहुत बड़ा अंतर है।

यहां समयसार में तो निर्विकल्पध्यानी महामुनि के ही इन सातों भयों का निषेध किया है। यद्यपि भयनामक मोहनीय कर्म के नोकषाय की व्युच्छिन्ति आठवें गुणस्थान में होती है वहां तक भयकर्म का उदय है फिर भी वह उदय सातवें-आठवें गुणस्थान में ध्यान में स्थित मुनि के कार्य नहीं कर पाता है ऐसा समझना।

(भूमिका) --इत ऊर्ध्वं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनं गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति ।

(उत्थानिका) —तत्र तावत् प्रथमगाथायां निजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ताः संतः सम्यग्दृष्टयो घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभवस्वरूपं स्वस्वभावं न त्यजन्तीति कथयति—

(२४३ ज०) सम्पादिद्वी जीवा निस्संका होंति णिब्भया तेण ।

सत्तभयविप्पमुक्का जह्या तह्या दु निस्संका ॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवन्ति निर्भयास्तेन ।

सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंका ॥ २४३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—सम्पादिद्वी जीवा निस्संका होंति सम्यग्दृष्टयो जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोष- परमात्मापराधनं कुर्वाणाः संतो निश्शंका भवन्ति यस्मात्कारणात् । णिब्भया तेण तेन कारणेन निर्भया भवन्ति सत्तभयविप्पमुक्का जह्या यस्मादेव कारणात् इहलोक-परलोक-अत्राण-अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितसप्तभय- विप्रमुक्ता भवन्ति तह्या दु निस्संका तस्मादेव कारणात् घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेऽपि निश्शंकाः शुद्धात्मस्वरूपे निष्कंपाः संतः शुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागसुखानन्दतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न प्रच्यवन्ते पाण्डवादिवत् ॥ २४३ ॥

(भूमिका)—इसके आगे निःशंक आदि आठ गुणों के कथनरूप से नवगाथा पर्यंत व्याख्यान करेंगे ।

उत्थानिका—उनमें से प्रथमगाथा में निज परमात्म पदार्थ की भावना से उत्पन्न सुखामृतरस के आस्वाद से तृप्त हुये सम्यग्दृष्ट जीव घोर उपसर्ग के आने पर भी सात भय से रहित होने से निर्विकार स्वानुभवस्वरूप अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्पादिद्वी जीवा निस्संका होंति तेण णिब्भया) सम्यग्दृष्ट जीव निःशंक होते हैं इसलिये वे निर्भय रहते हैं (जह्या सत्तभयविप्पमुक्का तह्या दु निस्संका) जिस हेतु से वे सात भयों से रहित होते हैं उसी हेतु से वे निःशंक होते हैं ॥ २४३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो सम्यग्दृष्ट जीव हैं वे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाली जो निर्दोष परमात्मा है उसकी आराधना करते हुये जिस हेतु से निःशंक होते हैं उसी हेतु से वे निर्भय होते हैं और इसी हेतु से ही वे इहलोक, परलोक, अत्राण, (अरक्षा) अगुप्ति, मरण, वेदना, और आकस्मिक इन नाम वाले सात प्रकार के भय से रहित होते हैं इसलिये वे घोर परीषह और उपसर्गों के आने पर भी निःशंक—निर्भय हुये अपने शुद्धात्मस्वरूप में निष्कंप होते हैं पुनः वे शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये वीतराग सुखरूपी आनंद से तृप्त होते रहते हैं इसलिये वे परमात्मा के स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं पाण्डव आदि महामुनियों के समान, यहां ऐसा समझना ॥ २४३ ॥

जो चत्तारिवि पाए छिददि ते कम्पबन्धमोहकरे ।

सो णिस्संको चेदा सम्पादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२९ अ० ॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबन्धमोहकरान् ।

स निःशङ्कश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २२९ ॥

आत्मख्याति—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबन्धशङ्काकरमिथ्यात्वादिभावाभावाविशङ्कः ततोऽस्य शङ्काकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरेव ॥ २२९ ॥

भावार्थ—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव ये पांचों पांडव दिगंबर मुनि बनकर तपश्चर्या करते हुए शत्रुंजय पर्वत पर पहुँचकर ध्यान में विराजमान थे। दुर्योधन के हितैषी 'कुर्युधर' नाम के कोई पुरुष ने वहाँ आकर उन मुनियों पर उपसर्ग किया। लोहे के मुकुट, कड़े आदि तपा-तपाकर उनको पहनाने लगे। अत्यन्त धीर-वीर उपसर्ग सहन कर निर्विकल्प ध्यान में लीन हो गये। तीन पांडव तो क्षपक श्रेणी में चढ़कर घाति-अघाति कर्मों का नाश कर केवली होकर मुक्तिपद को प्राप्त हो गये, किंतु नकुल, सहदेव उपशम श्रेणी में चढ़ गये थे वहाँ शुक्लध्यान में लीन हुये ये दोनों भी मुनि ग्यारहवें गुणस्थान में मरण को प्राप्तकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिद्र हो गये। इस प्रकार यहां पांडव आदिक्त कहने से यही समझना चाहिये कि ऐसे निर्विकल्प शुक्लध्यानी महामुनि ही घोर उपसर्ग और परीषहों के आने पर चलायमान न होते हुये निर्भय—निःशङ्क रहते हैं। उतनी आत्मविशुद्धि आज असंभव है। अतः आज सराग सम्यग्दृष्टि इन भयों से भयभीत न होने की भावना भाते हैं यही शक्य है यह भावना ही आगे भव में ऐसी उत्कृष्ट निर्भय एवं निष्कम्प अवस्था प्राप्त कराने में समर्थ होवेगी।

उत्थानिका—अब निःशङ्कित अंग का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः तान् कर्मबन्धमोहकरान् चतुरः अपि पादान् छिनत्ति) जो उन मिथ्यात्व आदि कर्मबन्ध के कारण मोह के करने वाले ऐसे चारों भी पादों को काट डालता है (सः चेतयिता निःशङ्कः सम्यग्दृष्टिः ज्ञातव्यः) वह आत्मा निःशङ्क सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना चाहिये।

आत्मख्याति—जिस हेतु से वह सम्यग्दृष्टि है, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से कर्मबन्ध के कारण शङ्का को करने वाले ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों

(२४४)—मिथ्यात्व तथा अविरति कषाय अरु योग चार ये मुख्य कहे।

इन चारों पायों को एवं जो मोह कर्म को नष्ट करे ॥

वह चेतयिता ही निःशङ्कित सम्यग्दृष्टी कहलाता है।

वह आत्मविषय में शङ्काकृत नहीं बन्ध कभी कर पाता है ॥ २२९ ॥

भावों का अभाव कर देने से निःशंक है उसी हेतु से इसके शंका के द्वारा होने वाला बंध नहीं है किंतु निर्जरा ही है ॥ २२९ ॥

विशेषार्थ—यहां निःशंकित अंग के लक्षणों में आचार्यदेव ने 'चार पायों को छेद डालना—काट डालना निःशंकित अंग है' ऐसा कहा है। टीकाकार ने मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग इन्हीं को चार पाये कहा है। इन का अभाव किस क्रम से होता है सो ही समझना चाहिये। प्रथम, द्वितीय, तृतीय गुणस्थान तक मिथ्यात्व है इसका अभाव करके यह जीव चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि होता है। छठे गुणस्थान में महाव्रती होकर अविरत नाम के दूसरे पाये को काट डालता है। आगे कषाय नाम का पाया दसवें गुणस्थान तक है उसे काटकर यह जीव बारहवें में पहुँचकर इन तीन पायों से रहित हो जाता है तब भले ही योग नाम का चौथा पाया मौजूद है किंतु वह कुछ बिगाड़ नहीं कर पाता है उसके निमित्त से वहां मात्र एक सातावेदनीय का बंध होता है जो कि एक समय की स्थितिवाला होने से ना के बराबर है।

अतः यहां श्री अमृतचंद्रसूरि ने वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही लिया है। इनका यह विशेषण महत्त्वपूर्ण है कि 'टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन' टांकी से उकेरे हुये के समान अविनाशी ऐसा एक जो ज्ञायक भाव है जो कि शुद्ध है, रागादि विकार भावों से रहित है ऐसे एक ज्ञातामात्र परिणामवाले सम्यग्दृष्टि, वीतरागसम्यग्दृष्टि ही हो सकते हैं ये क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती भहामुनि ही वीतरागी होते हैं। यहां आठों अंगों के लक्षण वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के ही घटित होते हैं। जैसा कि श्रीजयसेनाचार्य ने इस गाथा की उत्थानिका में ही खोल दिया है। "अथानंतरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निःशंकाद्यष्टगुणाः नवतरबंधं निवारयन्ति ततः कारणाद् बंधो नास्ति किंतु संवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति।" इसके बाद वीतराग सम्यग्दृष्टि के निःशंक आदि आठ गुण नवीन-नवीन बंध का निवारण करते हैं इसी कारण से उसके बंध नहीं होता है किंतु संवर पूर्वक निर्जरा ही होती है ऐसी प्रतिपादन करते हैं।

हां, सराग सम्यग्दृष्टि के भी ये आठों अंग होते हैं किंतु उनके मात्र मिथ्यात्व पाये का अभाव होने से अथवा पंचमगुणस्थानवर्ती के मात्र एक त्रसहिसारूप अवयव का अभाव होने से अथवा छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के अविरति के भी न रहने से उन-उन गुणस्थान के योग्य कर्मबंध होता भी है फिर भी मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में बंधने वाली प्रकृतियों की

(उत्थानिका) —अथानंतरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निःशंकाद्यष्टगुणाः नवतरबंधं निवारयन्ति ततः कारणाद्वंधो नास्ति किं तु संवरपूर्विका निर्जरेव भवतीति प्रतिपादयति—

व्युच्छिति हो जाने से उतना-उतना ही संवर होता है तथा असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा भी होती है। उन सरागसम्यग्दृष्टि की यहां गौणता ही है।

दूसरी बात यह है कि इस अंग में आचार्यदेव ने व्यवहार निःशंकित अंग में प्रसिद्ध अंजनचोर के दृष्टांत को लेने का संकेत दिया है जैसे अंजनचोर ने निःशंकित अंग का पालन करते हुये एकदम से छींके की डोरियों को काट डाला था ऐसे ही निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय निःशंकित अंग के प्रभाव से चार पायों को काट डालता है इत्यादि।

यहां गाथा का अन्वयार्थ करते समय पहले सम्यग्दृष्टि पद रखकर पुनः अंगसहित का पद रखना चाहिये क्योंकि सम्यग्दृष्टि आधार है उसके आश्रित ही निःशंक आदि गुण आधेयरूप से रहते हैं। अतः 'यः चेतयित्वा कर्मबंधमोहकरान् तान् चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति सः सम्यग्दृष्टिः निःशंकः ज्ञातव्यः' जो आत्मा कर्मबंध मोह के करने वाले उन मिथ्यात्व आदि चारों पायों को काट डालता है वह सम्यग्दृष्टि निःशंकित गुणवाला है ऐसा जानना चाहिये।

कोई विद्वान ऐसा अर्थ करते हैं कि 'यः ... पादान् निःशंकः छिनत्ति सः सम्यग्दृष्टिः ज्ञातव्यः' जो आत्मा उन चार पायों को निःशंक हुआ काट डालता है वह निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। इससे यह अर्थ हो जाता है कि ये गुण होने से ही सम्यग्दृष्टि होता है अन्यथा नहीं किंतु सम्यग्दृष्टि के ये गुण होते हैं ऐसा अर्थ अच्छा प्रतीत होता है। टीकाकार श्री अमृतचंदसूरि ने भी पहले ही 'सम्यग्दृष्टि' पद आठों अंगों के वर्णन में प्रथम ही रखा है अनंतर निःशंक आदि गुण रखे हैं। यही पद्धति श्रीजयसेनाचार्य ने भी अपनायी है, इसीलिये टीकाकारों के अभिप्राय के अनुसार ही गाथा का अन्वयार्थ करने से परंपरागत अर्थ होता है। अन्यथा खींचातानी होकर अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है, ऐसा न हो जावे इस हेतु से टीकाकारों के अभिप्राय अनुसार अर्थ करना चाहिये। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं—

उत्थानिका—अब इसके बाद वीतराग सम्यग्दृष्टि के निःशंकादि आठ गुण होते हैं वे नूतन बंध का निवारण कर देते हैं इसीलिये उसके बंध नहीं हैं किंतु संवरपूर्वक होने वाली निर्जरा ही होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

(२४४ ज०) जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्पादिट्ठी मुणेदव्वो ॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्ममोहबाधकरान् ।

स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्जातव्यः ॥ २४४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे यः कर्ता मिथ्यात्वविरतिकषाययोग-
लक्षणान् संसारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान्
अव्याबाधसुखादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा बाधाकरांस्तान् आगमप्रसिद्धांश्चतुरः पादान् शुद्धात्मभावना-
विषये निश्शंको भूत्वा स्वसंवेदनज्ञानखड्गेन छिनत्ति सो णिस्संको चेदा सम्पादिट्ठी मुणेदव्वो स चेतयिता
आत्मा सम्यग्दृष्टिर्निश्शंको मंतव्यः तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शंकाकृतो नास्ति बन्धः, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो
निश्चितं निर्जरैव भवति ॥ २४४ ॥

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेषु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्पादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३० अ० ॥

यस्तु न करोति कंक्षां कर्मफलेषु तथा धर्मधर्मेषु ।

स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्जातव्यः ॥ २३० ॥

अन्वयार्थः—(जो कम्ममोहबाधकरे ते चत्तारि वि पाए छिंददि) जो आत्मा कर्म और मोह से
बाधा को करने वाले उन मिथ्यात्व आदि चारों पायों को भी छेद डालता है (सो चेदा सम्पादिट्ठी
णिस्संको मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि आत्मा निःशंकित है ऐसा जानना चाहिये ॥ २४४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन लक्षण वाले जो चार पाये हैं वे
संसारवृक्ष के मूल हैं—जड़ हैं, ये निष्कर्म आत्मतत्त्व से विलक्षण होने से कर्मों के करने वाले हैं,
निर्मोह जो आत्मद्रव्य है उससे पृथग्भूत होने से मोह को करने वाले हैं और अव्याबाध जो
सुखादिगुण रूप परमात्मा नाम का पदार्थ है उससे भिन्न होने से बाधा को करने वाले हैं ऐसे ये
चार पाये आगम में प्रसिद्ध हैं। जो कर्ता आत्मा शुद्धात्मा के विषय में निःशंक होकर इन
मिथ्यात्व आदि चारों पायों को स्वसंवेदनज्ञानरूपी खड्ग से काट डालता है वह चेतयिता—आत्मा
सम्यग्दृष्टि निःशंक है ऐसा मानना चाहिये। उसके शुद्धात्मा की भावना के विषय में शंका से
किये जाने वाला बन्ध नहीं होता है प्रत्युत निश्चित ही पूर्व में बंधे हुये कर्मों की निर्जरा ही हो जाती
है ऐसा समझना ॥ २४४ ॥

(२४५)—जो प्राणी कर्मों के फल की इच्छा न कदाचित् करता है ।

वह सभी तरह के धर्मों में वांछा न कदापी करता है ॥

बस वही जीव निःकांक्षित सम्यग्दृष्टी पद को पाता है ।

उसके वांछा से जनित कर्म का बन्ध नहीं हो पाता है ॥ २३० ॥

आत्मख्याति—यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षस्ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २३० ॥

(२४५ ज०) जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तहय सव्वधम्मेषु ।

सो णिवकंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥

यो न करोति तु कांक्षां कर्मफले तथा च सर्वधर्मेषु ।

स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तहय सव्वधम्मेषु यः कर्ता शुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्द-सुखे तृप्तो भूत्वा कांक्षां वांछां न करोति । केषु ? पंचेन्द्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु अथवा इहलोकपरलोकाकांक्षा समस्तपरसमय-प्रणीतकुधर्मेषु च । सो णिवकंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिः संसारसुखे निष्कांक्षितो मन्तव्यः । तस्य विषयसुखकांक्षाकृतो नास्ति बंधः किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥ २४५ ॥

उत्थानिका—अब निःकांक्षित गुण को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः तु कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु कांक्षां न करोति) जो कर्मों के फलों में और सर्वधर्मों में वांछा को नहीं करता है (सः चेतयिता सम्यग्दृष्टिः निष्कांक्षः ज्ञातव्यः) वह आत्मा सम्यग्दृष्टि निःकांक्षितगुण वाला है ऐसा जानना चाहिये ॥ २३० ॥

आत्मख्याति—जो सम्यग्दृष्टि है वह टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से संपूर्ण भी कर्मफलों में और सर्व वस्तुओं के धर्मों में आकांक्षा का अभाव होने से निष्कांक्ष है इसीलिये इसके आकांक्षा से किया गया बंध नहीं होता किंतु कर्मों की निर्जरा ही होती है ऐसा समझना ॥ २३० ॥

उत्थानिका—इसे ही श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो कम्मफले तहय सव्वधम्मेषु कंखं दु ण करेदि) जो कर्म के फलों में वैसे ही सर्वधर्मों में कांक्षा को नहीं करता है (सो सम्मादिट्ठी चेदा णिवकंखो मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि चेतन आत्मा निःकांक्षित है ऐसा मानना चाहिये ॥ २४५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो कर्ता आत्मा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये परमानन्दसुख में तृप्त होकर वांछा नहीं करता है । किन्तु ? पंचेन्द्रियों के विषयभूत कर्मों के फलों में और उसी प्रकार से समस्त वस्तुओं के धर्मों में—संपूर्ण वस्तु के स्वभावों में अथवा विषयसुखों के कारणभूत ऐसे नाना प्रकार के पुण्यरूप धर्मों में अथवा इहलोक, परलोक की आकांक्षा तथा संपूर्ण पर संप्रदायों में प्रणीत कुधर्मों में वांछा नहीं करता है । वह चेतयिता—अनुभव करने वाला सम्यग्दृष्टि आत्मा संसारसुख में निष्कांक्षित है—इच्छारहित है ऐसा मानना चाहिये । उस आत्मा के विषयसुखों की आकांक्षा—इच्छा से होने वाला बंध नहीं है प्रत्युत पूर्वसंचित जो कर्म थे उनकी निर्जरा ही होती है ऐसा नियम है ॥ २४५ ॥

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।

सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३१ अ० ॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां ।

स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३१ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साऽ-
भावान्निर्विचिकित्सः ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बन्धः किंतु निर्जरैव ॥ २३१ ॥

(२४६ ज०) जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।

सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां ।

स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४६ ॥

उत्थानिका—निर्विचिकित्सागुण को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः चेतयिता सर्वेषां एव धर्माणां जुगुप्सां न करोति) जो आत्मा संपूर्ण ही धर्मों में ग्लानि नहीं करता है (सः खलु सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः ज्ञातव्यः) वह नियम से सम्यग्दृष्टि आत्मा निर्विचिकित्सा गुणवाला है ऐसा जानना चाहिये ।

आत्मख्याति—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावरूप होने से संपूर्ण भी वस्तु के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है अतः वह निर्विचिकित्सक है इसीलिये इसके विचिकित्सा से होने वाला बन्ध नहीं होता है किंतु निर्जरा ही होती है ॥ २३१ ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि मुनि वस्तु के धर्म जो क्षुधा, तृषा आदि हैं और मल आदि जो मलिन वस्तुयें हैं उन सब में अरुचि—ग्लानि नहीं करता है । जुगुप्सा कर्म का उदय आने पर विकार को प्राप्त न होकर सभी वस्तुओं में और भावों में समभाव रखता है वही निर्विचिकित्सा गुण का धारक होता है तब इसके जुगुप्सा के निमित्त से होने वाला कर्म बन्ध भला कैसे हो सकता है ? प्रत्युत कर्म उदय में आकर झड़ जाते हैं तो निर्जरा ही होती है । इसे ही श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं ।

उत्थानिका—निर्विचिकित्सा गुण क्या है ?

अन्वयार्थ—(जो चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं दुगुंछं ण करेदि) जो आत्मा सभी धर्मों में ग्लानि को नहीं करता है (सो सम्मादिट्ठी खलु णिव्विदिगिच्छो मुणेदव्वो) सो सम्यग्दृष्टि निश्चित ही निर्विचिकित्सक है ऐसा जानना चाहिये ॥ २४६ ॥

(२४६)—जो प्राणी सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्लानि न करता है ।

विचिकित्सा दोष रहित होकर वह सम्यग्दृष्टी बनता है ॥

उसके परवस्तु द्वेष निमित्तक बन्ध न होने पाता है ।

पूर्वोपाजित कर्मों को वह निर्जोर्ण सदा करवाता है ॥ २३१ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सख्येसिमेव धम्माणं यञ्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावना-
बलेन जुगुप्सां निंदां दोषं द्वेषं विचिकित्सात्र करोति, केषां संबंधित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां,
दुर्गन्धादिविषये वा सो खलु णिव्विदिग्गिञ्छो सम्पादिट्ठी मुणेदव्वो स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः खलु स्फुटं
मंतव्वो ज्ञातव्यः तस्य च परद्रव्यद्वेषनिमित्तो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरेव भवति ॥ २४६ ॥

जो हवइ असम्पूढो चेदा सहिद्धि^१ सख्यभावेसु ।

सो खलु अमूढदिट्ठी सम्पादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सदृष्टिः सर्वभावेषु ।

स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३२ ॥

आत्मख्याति—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढ-
दृष्टिः ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरेव ॥ २३२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्व की भावना के बल से जुगुप्सा—निंदा—
दोष—द्वेष या विचिकित्सा को—ग्लानि को नहीं करता है। किनमें ? सभी वस्तुओं के धर्मों
में—स्वभावों में अथवा दुर्गन्ध आदि में ग्लानि नहीं करता है वह सम्यग्दृष्टि निर्विचिकित्सा
गुण का धारी है ऐसा स्पष्ट जानना चाहिये उसके परद्रव्य में द्वेष के निमित्त से होने वाला
कर्मबंध नहीं होता है किंतु पूर्व में संचित हुये कर्मों की निर्जरा ही हो जाती है ऐसा
समझना ॥ २४६ ॥

उत्थानिका—अब अमूढदृष्टि अंग को कहते हैं।

अन्वयार्थ—(यः चेतयिता सर्वभावेषु सदृष्टिः असंमूढः भवति) जो आत्मा सर्व भावों
में यथार्थदृष्टि रखता हुआ मूढ नहीं होता है (सः खलु सम्यग्दृष्टिः अमूढदृष्टिः ज्ञातव्यः) वह
सम्यग्दृष्टि नियम से अमूढदृष्टि है ऐसा जानना चाहिये ॥ २३२ ॥

आत्मख्याति—जिस कारण से सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से
संपूर्ण भी भावों में मोह नहीं करने से अमूढदृष्टि है इसी कारण से उसके मूढदृष्टि से—
मूर्खता पूर्ण श्रद्धान से किया गया बंध नहीं होता है किंतु निर्जरा ही होती है ॥ २३२ ॥

(२४७)—जो चेतन आत्मा सब भावों में मूढ कभी नहीं होता है ।

सब कर्मोदय भावों के प्रति भी सम्मोहित नहीं होता है ।

वह अंग अमूढदृष्टि का पालक सम्यग्दृष्टि कहा जाता ।

निश्चय से यह सम्यग्दृष्टि ही समयसारमय बन जाता ॥ २३२ ॥

(२४७ ज०) जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्पादिट्ठी मुणेदव्वो ॥

यो भवति असंमूढचेतयिता सर्वेषु कर्मभावेषु ।

स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनाबलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे बहिर्विषये सर्वथाऽसंमूढो भवति सो खलु अमूढदिट्ठी सम्पादिट्ठी मुणेदव्वो स खलु स्फुटं सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य च बहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बंधः परसमयमूढताकृतो वा, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरेव भवति ॥ २४७ ॥

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।

सो उवगूहणकारी सम्पादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३३ अ० ॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणां ।

स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३३ ॥

उत्थानिका—इसे ही श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु असंमूढो हवदि) जो आत्मा सर्व ही कर्म के भावों में मूढ नहीं होता है । (सो सम्पादिट्ठी खलु अमूढदिट्ठी मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि निश्चित ही अमूढदृष्टि है ऐसा मानना चाहिये ॥ २४७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो चेतयिता आत्मा अपनी शुद्धात्मा में श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में अनुचरण—स्थिरतारूप निश्चयरत्नत्रय लक्षण भावना के बल से शुभ और अशुभ कर्मों से होने वाले परिणामरूप बाह्यविषयों में सर्वथा मूर्खता रहित रहता है वही सम्यग्दृष्टि स्पष्टतया अमूढदृष्टि अंगवाला है ऐसा जानना चाहिये उसके बाह्यविषयों में मूढता से होने वाला अथवा परसमय में मूढताकृत बंध नहीं होता है प्रत्युत निश्चित ही पूर्व में बंधे हुये कर्मों की निर्जरा हो जाती है ऐसा समझना ॥ २४७ ॥

उत्थानिका—अब उपगूहण गुण को कहते हैं ।

अन्वयार्थ—(यः सिद्धभक्तियुक्तः तु सर्वधर्माणां उपगूहनकः) जो सिद्धों की भक्ति से युक्त है—और अन्य वस्तु के सर्व धर्मों का गोपन करने वाला है (सः सम्यग्दृष्टिः उपगूहनकारी ज्ञातव्यः) वह सम्यग्दृष्टि उपगूहनकारी है ऐसा जानना चाहिये ॥ २३३ ॥

(२४८)—सिद्धों की भक्ति सहित ज्ञानी सब धर्मों का उपगूहक है ।

इसलिए उसी सम्यग्दृष्टि के हुआ अंग उपगूहन है ॥

वह दोष प्रगट करने स्वरूप कर्मों का बन्धन न करता है ।

प्रत्युत पूर्वोपार्जित कर्मों की सतत निर्जरा करता है ॥ २३३ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः ततोऽस्य जीवस्य शक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव ॥ २३३ ॥

(२४८ ज०) जो सिद्धभक्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।

सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥

यः सिद्धभक्ति युक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणां ।

स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४८ ॥

आत्मख्याति—जिस हेतु से सम्यग्दृष्टि टांकी से उकेरे हुये एक ज्ञायक भावमय होने से अपनी आत्मा की समस्त शक्तियों को वृद्धिगत करने से उपबृंहक है अतः इस जीव के शक्ति की दुर्बलता से किया गया बन्ध नहीं होता है किंतु निर्जरा ही होती है ॥ २३३ ॥

भावार्थ—यहां पर गाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने उपगूहन गुण नाम रखा है और सर्वधर्मों का उपगूहक कहा है यहां आचार्यदेव पूर्णरूप से आत्मा की एक ज्ञायक भावमात्र अभेद अवस्था में पहुंचाने का प्रयास कर रहे हैं इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने मिथ्यात्व रागादि विभाव भावरूप धर्मों को ढकने रूप अर्थ लिया है। किंतु यहां अमृतचंद्रसूरि ने उपगूहन का अर्थ जो ढकने रूप है उसे न करके उपबृंहण—बढ़ाने रूप अर्थ किया है कि जो अपनी आत्मा के अनंतगुणों को या अपनी अनंत शक्तियों को बढ़ाता है वह उपबृंहक है। इन्होंने अपने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में भी इस अंग के लक्षण में दोनों अर्थ लिये हैं। यथा—

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।

परदोषनिगूहनमपि विश्लेषमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २६ ॥

हमेशा मार्दव, आर्जव आदि गुणों की भावना के द्वारा अपनी आत्मा के धर्म को वृद्धिगत करना चाहिये और उपबृंहण गुण के लिये पर के दोषों को भी ढकना चाहिये।

किंतु यहां पर इन्होंने एक ही अर्थ लिया है क्योंकि यह आध्यत्मिक ग्रंथ है इसमें आत्मा के अनंतगुणों को बढ़ाने की ही चर्चा की है।

उत्थानिका—इसे ही श्री जयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो सिद्धभक्तिजुत्तो सव्वधम्माणं दु उवगूहणगो) जो सिद्धों की भक्ति से युक्त हुआ सर्वधर्मों का उपगूहन करने वाला है (सो सम्मादिट्ठी उवगूहणगारी मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि उपगूहन अंग का धारक है ऐसा जानना चाहिये ॥ २४८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो सिद्धभक्तिजुतो उवगूहणगो दु सव्वधम्पाणं शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्ति-
युक्तः मिथ्यात्वगगादिविभावधारणापगूहकः प्रच्छादको विनाशकः । सो उवगूहणगारी सम्पादिट्ठी मुणेदब्बो स
सम्यग्दृष्टिः उपगूहनवारी भवन्त्यो जानन्त्यः । तस्य चानुपगूहनकृती नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणा निश्चितं
निर्जरेव भवति ॥ २४८ ॥

उम्मागं गच्छतं सर्गपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।

सो ठिदिकरणाजुतो सम्पादिट्ठी मुणेयब्बो ॥ २३४ अ० ॥

उन्मार्गं गच्छतं स्वकमपि मार्गं स्थापयति यश्चेतयिता ।

स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३४ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गं एव
स्थितिकरणात् स्थितिकारी ततोऽस्य मार्गच्यवनकृती नास्ति बंधः किं तु निर्जरेव ॥ २३४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—शुद्धात्मा की भावनारूप जो पारमार्थिक सिद्ध भक्ति है उससे जो
सहित है और मिथ्यात्व गगादि विभाव भावरूप धर्मों का उपगूहक है—प्रच्छादक है—
विनाशक है वह सम्यग्दृष्टि उपगूहन करने वाला है ऐसा मानना चाहिये । इसके अनुपगूहन से
होने वाला कर्मबंध नहीं है प्रत्युत पूर्वसंचित कर्मों की निश्चित ही निर्जग हो जाती है ऐसा
समझना ॥ २४८ ॥

उत्थानिका—स्थितिकरण अंग का कहने है—

अन्वयार्थ (यः उन्मार्गं गच्छतं स्वकं अपि मार्गं स्थापयति) जो उन्मार्ग में जाते हुये
अपने को भी मार्ग में स्थापित करता है (सः सम्यग्दृष्टिः चेतयिता स्थितिकरणयुक्तः ज्ञातव्यः)
वह सम्यग्दृष्टि आत्मा स्थितिकरण से सहित है ऐसा जानना चाहिये ।

आत्मख्याति—जिस कारण से सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने से
मोक्षमार्ग से च्युत हुई अपनी आत्मा को मार्ग में—मोक्षमार्ग में ही स्थित कर देता है अतः
वह स्थितिकरण करने से स्थितिकारी है इसी कारण से उसके मार्ग से च्युत होने रूप से
बंध नहीं होता है किंतु निर्जग ही होती है ॥ २३४ ॥

(२४९)—जो जीव स्वयं को उन्मार्ग से जाते समय बचाता है :

पर को व निजात्मा को भी जिनमार्ग की राह दिखाता है ॥

वह स्थितिकरण अंग का धारी सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है ।

उसके न कर्म का बन्ध किन्तु निर्जग कहे जिनवाणी है ॥ २३४ ॥

(२४९ ज०) उम्मगं गच्छंतं सिवमगे जो ठवेदि अप्पाणं ।

सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥

उम्मार्गं गच्छंतं शिवमार्गे यः स्थापयत्यात्मानं ।

स स्थितिकरणेन युक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २४९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—उम्मगं गच्छंतं सिवमगे जो ठवेदि अप्पाणं यः कर्ता मिथ्यात्वरगादिरूपमुम्मार्गं गच्छंतं संतमात्मानं परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो स सम्यग्दृष्टिः स्थितिकरणयुक्तो मन्तव्यो जातव्यः । तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बन्धः किं तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥ २४९ ॥

उत्थानिका—इसे ही श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो उम्मगं गच्छंतं अप्पाणं सिवमगे ठवेदि) जो उम्मार्ग में जाते हुये आत्मा को शिवमार्ग में स्थापित कर देता है (सो सम्मादिट्ठी ठिदिकरणेण जुदो मुणेदब्बो) वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण से सहित है ऐसा जानना चाहिये ॥ २४९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो कर्ता आत्मा मिथ्यात्व रगादिरूप उम्मार्ग में जाते हुये आत्मा को परमयोग के अभ्यास के बल से शिवमार्ग में—अपनी शुद्ध आत्मा की भावनारूप निश्चयमोक्षमार्ग में निश्चल स्थापित करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण से युक्त है ऐसा जानना चाहिये । उसके अस्थितिकरण से होने वाला कर्मबन्ध नहीं होता है प्रत्युत पूर्वबद्ध कर्मों की निश्चित ही निर्जरा हो जाती है ऐसा समझना ॥ २४९ ॥

भावार्थ—यहां समयसार में निश्चयनय की अपेक्षा से कथन है । अन्यग्रंथों में अन्य को दर्शन और चारित्र से च्युत होने पर मोक्षमार्ग में स्थिर करना यह व्यवहार प्रधान स्थितिकरण अंग का लक्षण है । किंतु यहां निश्चयनय से कहा है कि जो आत्मा अपने को निश्चयस्वरूप में स्थिर करता है वह निश्चय स्थितिकरण है (यहां गाथा में पाठ भेद है—श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि उम्मगं गच्छंतं सगंपि मगे ठवेदि जो चेदा, सो ठिदिकरणजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो । किंतु जयसेनाचार्य ने ऐसा कहा है—उम्मगं गच्छंतं सिवमगे जो ठवेदि अप्पाणं । सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि ।

सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३५ अ० ॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।

स वात्सल्यभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३५ ॥

आत्मख्याति—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरेव ॥ २३५ ॥

उत्थानिका—अब वात्सल्य अंग को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः मोक्षमार्गे त्रयाणां साधूनां वत्सलत्वं करोति) जो मोक्षमार्ग में तीन प्रकार के साधुओं के प्रति वात्सल्य करता है (सः सम्यग्दृष्टिः वात्सल्यभावयुतः ज्ञातव्यः) वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्यभाव से युक्त है ऐसा जानना चाहिये ॥ २३५ ॥

आत्मख्याति—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि करके—अभेदरत्नत्रयरूप परिणत होकर सम्यक् प्रकार से देखता है—अपने रत्नत्रय में प्रेमभाव करता है वह मार्ग—मोक्षमार्ग में वात्सल्य को करने वाला है इसीलिये उसके मार्ग को प्राप्त न करने रूप से होने वाला कर्म बन्ध नहीं होता है किंतु निर्जरा ही होती है ॥ २३५ ॥

भावार्थ—'तिण्हं साहूण' का अर्थ मैंने तीन प्रकार के साधु किया है। यहां आत्मख्याति में श्री अमृतचंद्रसूरि ने मात्र अभेद रत्नत्रय किया है। श्री जयसेनाचार्य ने साधू का साधक अर्थ करके रत्नत्रय का विशेषण किया है पुनः अथवा कहकर त्रिविध साधुओं को भी लिया है। सो ही आगे देखिये—

(२५०)—जो सभी मुक्ति पथिकों के प्रति वात्सल्यभाव नित रखता है ।

आचार्य साधु पाठक तीनों की निश्चय भक्ति करता है ॥

वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य अंग पालन करता ।

वात्सल्य रहित नहीं बन्ध उसे अतएव निर्जरी ही करता ॥ २३५ ॥

(२५० ज०) जां कुणादि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गमि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।

सः वात्सल्यभावयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २५० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो कुणादि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गमि यः कर्ता मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्व भक्तिं करोति, केषां ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां, कथंभूतानां ? साधूनां मोक्षमार्गे साधकानां अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूनां सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो स सम्यग्दृष्टिः वात्सल्यभावयुक्तो मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बन्धः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥ २५० ॥

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयब्बो ॥ २३६अ० ॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता ।

स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३६ ॥

उत्थानिका—श्री जयसेनाचार्य इसे कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो तिण्हे साधूण मोक्खमग्गमि वच्छलत्तं कुणादि) जो तीन प्रकार के साधुओं सहित मोक्षमार्ग में वात्सल्य करता है (सो सम्मादिट्ठी वच्छलभावजुदो मुणेदब्बो) वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्यभाव से सहित है ऐसा जानना चाहिये ॥ २५० ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो कर्ता आत्मा मोक्षमार्ग में स्थित होकर अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में—मोक्षमार्ग में साधक—रत्नत्रय में या व्यवहार से रत्नत्रय के आधारभूत मुनियों में वत्सलभाव को—भक्ति को करता है वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्य भावना से युक्त है ऐसा मानना चाहिये । उसके अवात्सल्य भावना से होने वाला कर्म बंध नहीं होता है प्रत्युत पूर्व में बंधे हुये ऐसे कर्मों की निर्जरा ही हो जाती है ॥ २५० ॥

भावार्थ—जो अपनी आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में प्रीति करता है और इनके आधारभूत आचार्य, उपाध्याय, साधु में प्रीति करता है वही वात्सल्य अंग का धारी है । इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के वात्सल्यगुण को कहा है ।

(२५१)—आत्मानुभूति में रत प्राणी जब विद्यारथ पर चढ़ता है ।

मनरूपी रथ के पथ पर चल निज शुद्धात्म में रमता है ॥

वह ज्ञानी मुनि जिनज्ञान प्रभावक सम्यग्दृष्टि कहा जाता ।

समभाव सारथी ध्यान खड्ग से वह स्वराज को पा जाता ॥ २३६ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः ततोस्य ज्ञानप्रभावनाऽप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २३६ ॥

उत्थानिका—अब प्रभावना गुण को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः चेतयिता विद्यार्थं आरूढः मनोरथपथेषु भ्रमति) जो आत्मा विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मनोरथ के मार्ग में भ्रमण करता है (सः सम्यग्दृष्टिः जिनज्ञानप्रभावी ज्ञातव्यः) वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला है ऐसा जानना चाहिये ॥ २३६ ॥

आत्मख्याति—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से समस्तशक्ति के प्रबोध से ज्ञान का प्रभाव फैलाता है वह प्रभावना को करने वाला है इसी कारण उसके ज्ञान की प्रभावना के हास करने रूप बंध नहीं होता है किंतु निर्जरा ही होती है। अर्थात् अप्रभावना के नहीं करने रूप बंध नहीं होता प्रत्युत कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥ २३६ ॥

विशेषार्थ—यहां प्रभावना अंग में विद्यार्थ में बैठकर मनरूपी रथ को मार्ग में घुमाने को जो कहा है वह जिनज्ञान की प्रभावना करने वाला है। इससे व्यवहारनय की अपेक्षा से वज्रकुमार मुनिराज की कथा का भी संकेत मिल जाता है। मथुरा के राजा पूतिगंध के दो रानियां थीं। उर्विला और बुद्धदासी। उर्विला रानी सम्यग्दृष्टि थी और बुद्धदासी बौद्धधर्मी। हमेशा रानी उर्विला आष्टाह्निक पर्व में रथयात्रा निकालकर धर्मप्रभावना करती थी। एक बार बुद्धदासी ने राजा से कहकर यह स्वीकृति ले ली कि पहले मेरे बुद्ध भगवान का रथ निकलेगा फिर जैन का। तब उर्विला रानी ने चारों प्रकार का आहार त्याग दिया और वन में क्षत्रियगुफा में विराजमान सोमदत्त मुनिराज तथा वज्रकुमार मुनिराज के पास पहुंचकर प्रार्थना करने लगी—भगवन् ! धर्म की रक्षा कीजिये। मुनिराज ने उसे आश्वासन दिया और उसी समय दर्शन के लिये आये हुये दिवाकरदेव नाम के विद्याधर को प्रेरणा दी। तब गुरु की आज्ञा से उन विद्याधरों ने रानी उर्विला के रथ में अरहंत भगवान की प्रतिमा विराजमान करके आकाश मार्ग से खूब प्रभावना के साथ रथ निकाला। इस अतिशय को देखकर राजा पूतिगंध, बुद्धदासी आदि सभी जैन बन गये। इस प्रकार श्री वज्रकुमार मुनि ने उर्विला रानी के जैनरथ को शहर में भ्रमण कराकर धर्म की प्रभावना की थी। यही यहां गाथा में रथ के भ्रमण कराने का भाव है।

दूसरी बात यह है कि यहां आठों अंगों के लक्षण में निश्चयनय की प्रधानता है। प्रत्येक अंग के स्वरूप में श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि "सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन" सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने से शंका, कांक्षा आदि नहीं करता है इत्यादि। इससे यह स्पष्ट है कि यहां वीतराग सम्यग्दृष्टि जो कि मात्र ज्ञायक भाव ही एक आत्म स्वरूप वाला है वह सर्व विकल्पों से रहित निर्विकल्प है। यहां छठी गाथा में आया हुआ ज्ञायकभाव ही विवक्षित है। ये सभी अंग—गुण निश्चयसम्यग्दृष्टि के होते हैं ऐसा श्री जयसेनाचार्य ने भी अपनी टीका में कहा है। पुनः उन गुणों के अभाव में होने वाला कर्मबंध भी नहीं है। यह बंध भी दसवें

मंदाक्रान्ताछन्द—रन्ध्रं बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः,
 प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
 सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं,
 ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥ १६२ ॥

इति निर्जरा निष्क्रान्ता ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जरा प्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

गुणस्थान तक होता है, आगे यथाख्यात चारित्र हो जाने पर बंध का अभाव हो जाता है। जैसा कि पूर्व में श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है—

“ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः ... स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यं-
 भाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।” सर्वत्र बंध के अभाव में यह पंक्ति ध्यान में रखना चाहिये। अब इस निर्जरा अधिकार को पूर्ण करते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—इस प्रकार नूतन होने वाले बंध को रोकते हुये और स्वयं अपने आठ अंगों से सहित होते हुये निर्जरा के वृद्धिगत होने से वे पूर्व में बंधे हुये कर्मों का क्षय कर देते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं अति रस से आदि, मध्य और अंत से रहित ज्ञानरूप होकर आकाश के विस्तार रूपी रंगभूमि में अवगाहन करके नृत्य करते हैं—अर्थात् ज्ञान के साथ तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १६२ ॥

भावार्थ—यहां श्री शुभचंद्राचार्य ने कलश काव्य की टीका में सम्यग्दृष्टि शब्द से आत्मा के श्रद्धानस्वरूप सम्यक्त्व से परिणत हुये मुनि को लिया है। मुनिराज ज्ञानमय होकर हर्ष से आत्मा से उत्पन्न हुये आनंद से विभोर हो जाते हैं यही नृत्य करना है क्योंकि मुनि कभी नृत्य नहीं करते हैं। दूसरी बात यह है कि यह निर्विकल्प ध्यानरूप परिणति में बंध के निरोधरूप संवर और निर्जरा का विषय है। टीकाकार ने असंख्यात गुणश्रेणी रूप निर्जरा भी मानी है ऐसी ध्यानावस्था को प्राप्त हुये महामुनि ही इस निर्जरा के अधिकारी हैं ऐसा समझना क्योंकि ‘निजैः’ पद से भी टीकाकार ने “निश्चयसम्यक्त्व-संबंधनीयैः”—निश्चयसम्यक्त्व से संबंधित ही आठ अंगों को लिया है। इस प्रकार निर्जरा तत्त्व इस रंगभूमि से निकल गया।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित “समयसार” प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा रचित इस “ज्ञानज्योति” भाषा टीका में यह ‘निर्जरा’ को प्ररूपित करने वाला छठा अधिकार पूर्ण हुआ।

नव बंध रोक इस तरह से वे अष्टांग दृष्टि जब पा जाते ।
 निर्जरा की वृष्टि होने से तब पूर्वकर्म क्षय कर पड़ते ॥
 ऐसे सद्दृष्टि जीव स्वयं अति रस से आदि मध्यान्त रहित ।
 विस्तृत नभरूपी रंग भूमि में नृत्य को ही ज्ञानभरित ॥ १६२ ॥

(२५१ ज०) विज्जारहमारूढो मनोरथरसु हणदि जो चेदा ।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥

विद्यारथमारूढः मनोरथरसान् हन्ति यश्चेतयिता ।

स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २५१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—विज्जारहमारूढो मनोरथरसु हणदि जो चेदा यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपविद्यारथमारूढः सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारदुःखकारणान् शत्रून् मनोरथरसान् वेगांश्चित्तकल्लोलान् स्वस्वभावसारथिबलेन दृढतरध्यानखड्गेन हन्ति । सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति बन्धः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ।

एवं संवरपूर्विकाया भावनिर्जसया उपादानकारणभूतानां शुद्धात्मभावनारूपाणां शुद्धनयमाश्रित्य निःशंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं । इदं तु निःशंकाद्यष्टगुणव्याख्यानं निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यातं । निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहारत्नत्रयेऽपि स्थितस्य ससागसम्यग्दृष्टेरप्यंजनचौरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन

उत्थानिका—श्री जयसेनाचार्य प्रभावना अंग को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो चेदा विज्जारहमारूढो मनोरथरसु हणदि) जो आत्मा विद्यारथ पर बैठकर मनोरथरूपी वेगों को नष्ट कर देता है (सो सम्मादिट्ठी जिणणाणपहावी मुणेदब्बो) वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला है ऐसा जानना चाहिये ॥ २५१ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो चेतयिता—अनुभव करने वाला आत्मा अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि स्वरूप विद्यारथ में बैठकर ख्याति, पूजा, लाभ, भोगों की आकांक्षारूप निदान बन्ध आदि विभाव परिणामरूप को जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव स्वरूप पांच प्रकार संसार के दुःखों के लिये कारणभूत शत्रु हैं ऐसे जो मनोरथ रूपी वेग को—चित्तरूपी कल्लोलों को अपने स्वभावरूपी सारथी के बल से सहित होकर दृढतर ध्यानरूपी खड्ग से मार देता है—नष्ट कर देता है । वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला है ऐसा जानना चाहिये । उसके अप्रभावना से किया हुआ कर्मबन्ध नहीं है प्रत्युत पूर्व में संचित—बांधे हुये कर्मों की निश्चित ही निर्जरा हो जाती है ।

इस प्रकार से संवरपूर्वक होने वाली भाव निर्जरा के लिये जो उपादान कारणभूत हैं, ऐसे शुद्धात्मा की भावनारूप निःशंक आदि आठ गुण हैं । यहां निश्चयनय का आश्रय लेकर उन आठ गुणों के व्याख्यान की मुख्यता से नव गाथायें हुई हैं । यह निःशंक आदि आठ गुणों का व्याख्यान तो यहां पर निश्चयनय की मुख्यता से कहा गया है । निश्चयरत्नत्रय का

यथासंभवं योजनीयं । निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानं ? इति चेन्नैवं । अग्निसुवर्ण-पाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति । तथा चोक्तं—

“जइ जिणसमइ पडंजह ता मा व्यवहारणिच्छए मुचह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तत्त्वं” इति । किं च—संवरपूर्विका पूर्वनिर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति, स च निश्चयरत्नत्रयलाभो, वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यभिरालंबने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिर्तीव दुर्लभः । कस्मात् ? इति चेद्

साधक जो व्यवहार रत्नत्रय है उस व्यवहार रत्नत्रय में भी स्थित हुये जो सराग सम्यग्दृष्टि है उनके लिये भी अंजन चोर आदि की कथारूप से व्यवहारनय की अपेक्षा से व्याख्यान घटित करना चाहिये ।

प्रश्न—निश्चयनय का व्याख्यान करके पुनरपि आपने व्यवहारनय का व्याख्यान किस लिये किया है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अग्नि और सुवर्ण पाषाण के समान निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर में साध्य-साधक भाव दिखलाने के लिये ही ऐसा व्याख्यान किया है । अर्थात् जैसे अग्नि साधक है उसके द्वारा तपकर ही सुवर्ण पाषाण शुद्ध सुवर्ण बन जाता है वैसे ही व्यवहारनय के आश्रित आठ अंग आदि के पालन करने से ही निश्चयनय से साध्य—आत्मतत्त्व की सिद्धि हो जाती है वह आत्मारूप ज्ञान क्षयोपशम से क्षायिक बनकर शुद्ध बुद्ध एक केवलज्ञान बन जाता है । कहा भी है—

यदि जिनेन्द्र देव के आगम को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों में मोह को प्राप्त मत होवो । क्योंकि एक के बिना—व्यवहारनय के बिना तीर्थ का नाश हो जावेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जावेगा । ऐसा कथन है । दूसरी बात यह है कि पहले जो संवरपूर्वक निर्जरा कही गई है वह निर्जरा सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी के अनुष्ठानरूप चारित्र में मुख्यरूप से निश्चय रत्नत्रय के होने पर ही होती है और वह निश्चयरत्नत्रय का लाभ शुभ-अशुभ बाह्य द्रव्यों के अवलंबन से रहित, वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप निर्विकल्प समाधि के होने पर ही होता है तथा वह निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान अतीव दुर्लभ है ।

प्रश्न—क्यों ?

एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेंद्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेंद्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धान-
संयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परम्परादुर्लभानि यतः । तदपि कस्मात् ?
तत्प्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वात् इति
दुर्लभपरंपरां ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो यः कर्तव्यः । तदप्युक्तं—

“इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं ।”
इति ।

उत्तर—क्योंकि, एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय, पंचेंद्रिय, सैनी, पर्याप्तक, मनुष्य, उत्तमदेश, उत्तम कुल, रूप, इंद्रियों की पटुता—पूर्णता, निर्व्याधि शरीर, आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सद्धर्म का सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, श्रद्धान करना, संयम धारण करना, विषयसुखों से दूर होना, क्रोधादि कषायों को छोड़ना, तप की भावना करना और समाधिमरण प्राप्त करना ये सब परंपरा से दुर्लभ हैं । अर्थात् एकेंद्रिय पर्याय से दो इंद्रिय आदि पर्याय प्राप्त करना दुर्लभ है, विकलत्रय से पंचेंद्रिय होना, मन सहित होना पुनः पर्याप्तक होना, पर्याप्तक होकर भी मनुष्य हो जाना आदि क्रम-क्रम से बहुत ही दुर्लभ हैं ।

प्रश्न—ऐसा भी क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि उनके प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व, विषय, कषाय, ख्याति, पूजा, लाभ, भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध आदि विभाव परिणामों की प्रबलता होने से ही ये उपर्युक्त अवस्थाएं दुर्लभ हैं ऐसा समझना । इस प्रकार से दुर्लभ परंपरा को जानकर सर्व तात्पर्य से समाधि में—निर्विकल्प ध्यान में प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

इसके बारे में भी कहा है—

इस तरह अति दुर्लभरूप बोधि को—रत्नत्रय को प्राप्त करके यदि प्रमादी हो जावे तो वह बेचारा मनुष्य इस संसाररूपी भयंकर वन में चिरकाल तक भ्रमण करता रहेगा ।

भावार्थ—यहां श्री अमृतचंद्रसूरि ने गाथा के प्रथम-द्वितीय चरण को ऐसे लिया है कि—‘विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।’ किंतु श्री जयसेनाचार्य ने ऐसा लिया है—‘विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ।’

दोनों आचार्यों ने अपने-अपने पाठ के अनुसार ही टीका की है यह ध्यान में रखना चाहिये ।

तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवत् शांतरसरूपेण निर्जरा निष्क्रान्ता ॥ २५१ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ गाथाचतुष्टयं पीठिकारूपेण, गाथापंचकं ज्ञानवैराग्यशक्त्योः सामान्यविवरणरूपेण गाथादशकं, तयोरेव विशेषविवरणरूपेण, गाथाष्टकं ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथाचतुर्दश तस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गाथानवकं निःशंकाद्यष्टगुणकथनरूपेण चेति समुदायेन पंचाशद्गाथाभिः षड्भिरंतराधिकारैः सप्तमो निर्जराधिकारः समाप्तः ॥७॥

यहां इस प्रकार ऐसा वर्णन होने पर शृंगार रहित पात्र के समान शांतरस रूप से निर्जरा निकल गई ॥ २५१ ॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्यकृत समयसार की व्याख्यारूप शुद्धात्मानुभूतिलक्षण तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में पीठिकारूप से चार गाथायें हैं, ज्ञान और वैराग्य शक्ति के सामान्यविवरणरूप से पांच गाथायें हैं, इन्हीं ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति के ही विशेष विवरण रूप से दश गाथायें हैं, ज्ञानगुण के सामान्यविवरणरूप से आठ गाथायें हैं। उसी ज्ञानगुण के विशेष विवरणरूप से चौदह गाथायें हैं और निःशंकित आदि आठ गुणों के कथनरूप से नौ गाथायें हैं इस प्रकार समुदाय से पचास गाथाओं द्वारा छह अंतराधिकारों से यह सातवां निर्जरा अधिकार समाप्त हुआ।

विशेष—श्री अमृतचंद्रसूरि ने 'जीवाजीवाधिकार' एक माना है, अतः उनके अनुसार यह छठा अधिकार है और श्री जयसेनाचार्य ने जीवाधिकार-अजीवाधिकार अलग-अलग रखे हैं, अतः उनके अनुसार यह सातवां अधिकार है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में

श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत

तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत इस "ज्ञानज्योति"

नामा भाषा टीका में निर्जरा तत्त्व को

प्ररूपित करने वाला यह

छठा (सातवां) अधिकार

पूर्ण हुआ।

निर्जरा तत्त्व का सार—

निर्जरा अधिकार के प्रवेश में ही श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि संवर के होने पर पूर्वबद्ध कर्मों को जलाते हुये निर्जरा वृद्धिगत होती है तब “ज्ञानज्योति” प्रगट हो जाती है। श्री जयसेनाचार्य भूमिका में ही कहते हैं कि जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप है, शुद्धोपयोग लक्षणवाली है और संवर पूर्वक होती है ऐसी निर्जरा प्रवेश कर रही है। प्रारंभ में श्री कुंदकुंददेव कहते हैं कि “सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रियों द्वारा जो कुछ भी चेतन-अचेतन वस्तु का उपभोग करता है वह सब निर्जरा के लिये होता है।” इस अर्थ को आजकल कुछ विद्वान् अविरत सम्यग्दृष्टि में घटित करने का प्रयास करते हैं किंतु टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने “स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात्” वह इंद्रियों द्वारा उपभोग रागादि भावों के अभाव में सम्यग्दृष्टि के निर्जरा के निमित्त ही होता है। यहाँ रागादि का अभाव तो चौथे, पांचवें, छठे गुणस्थान में कैसे घटेगा ? इसे ही श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि “अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं”। आगे स्वयं ग्रंथकार श्री कुंदकुंददेव ने ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का अच्छा वर्णन किया है। ज्ञानशक्ति में विष का उपभोग करते हुये कुशल वैद्य का उदाहरण दिया है और वैराग्यशक्ति में अरुचि से औषधिरूप में मिश्र कर मद्य पीने वाले का उदाहरण दिया है। श्री अमृतचंद्रसूरि ने कलश काव्य में कहा है कि “सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः”। सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है। श्री जयसेनाचार्य स्थल-स्थल पर कहते हैं कि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव ही यहां विवक्षित हैं।

गाथा २०१-२०२ अ० (२११-२१२ ज०) में कहते हैं कि जिसके परमाणुमात्र भी रागादि भाव हैं वह सर्व आगम का धारी होकर भी आत्मा को नहीं जानता है अतः वह सम्यग्दृष्टि कैसे होगा ? इसकी टीका में श्री जयसेनाचार्य ने प्रश्न उठा दिया है कि—“यदि रागी सम्यग्दृष्टि नहीं है तो चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती, तीर्थकरकुमार, भरत, सगर, राम, पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं माने जा सकते ? तब पुनः आचार्य ने उत्तर दिया है कि वे सभी मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा तैतालिस प्रकृतियों के बंध का अभाव हो जाने से सराग सम्यग्दृष्टि हैं”।

पुनरपि कहा है कि “अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।”

इस ग्रंथ में तो पांचवें गुणस्थान से ऊपर-ऊपर के गुणस्थान वाले वीतरासम्यग्दृष्टि-मुनियों का मुख्यरूप से ग्रहण है, सरागसम्यग्दृष्टि जीवों का तो गौणरूप से ग्रहण है। ऐसा कथन सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र तात्पर्यवृत्ति से जान लेना चाहिये।

आगे गाथा २०४ अ० (२१४ ज०) में कहा है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांचों के भेदों से रहित अभेदरूप जो एक पर है वही परमार्थ है। यहां प्रकारांतर से वह एक पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान में ही घटता है कि जिसे श्रीअमृतचंद्रसूरि ने पहले ही कहा है—

“उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि न च विद्यो याति निक्षेपचक्रम्।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥”

यही बात यहां टीका में कहते हैं कि आत्मा से कर्मपटल के दूर होते ही ज्ञान के भेद नहीं दिखते हैं। “इस अभेदरूप ज्ञान के अवलंबन से पद की प्राप्ति होती है, तब भ्रांति दूर हो जाती है, पुनः आत्मा का लाभ होता है, अनात्मा का परिहार होता है और तब कर्म मोह को प्राप्त नहीं होते हैं, न राग द्वेष मोह उत्पन्न होते हैं, न पुनः कर्म आते हैं, न पुनः कर्म बंधते हैं, पहले बंधे हुये कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब संपूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने से साक्षात् मोक्ष हो जाता है।”

यहां जो क्रम बताया है वह निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि “सर्वविकल्परहित योग के अभ्यास से ही आत्मा ऐसे परमार्थरूप अभेद—एक परमात्मपद का अनुभव करता है।”

कलशकाव्य १४५ में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—

“पहले संपूर्ण परिग्रह को सामान्य से छोड़कर पुनः स्व-पर के अभेद में एक कारण ऐसे अज्ञान को छोड़ने की इच्छा करते हुये अब विशेष रीति से उन्हीं को भिन्न-भिन्नरूप से छोड़ने के लिये प्रवृत्त होता है” ॥ १४५ ॥ यह अवस्था सर्वथा मुनि के लिये ही है वे ही पहले धन, मकान, कुटुंब, वस्त्र आदि परिग्रह छोड़कर दिगंबर मुनि बनते हैं पुनः विशेषरीति से अज्ञान को दूर करने के लिये भावना भाते हैं। इस प्रकार यहां गाथा २०७ से २१४ तक हैं। श्री जयसेनाचार्य के अनुसार ये गाथायें न० २१७ से २२५ तक हैं। इनमें धर्म, अधर्म, अशन, पान आदि को लिया है। महामुनि आहार करते हुये भी गृद्धि से न करके मात्र संयमसाधना हेतु करते हैं अतः वे छ्यालीस दोष, बत्तीस अंतराय टालकर निःस्पृहवृत्ति से आहार करते हुये भी निराहारी कहलाते हैं। यही बात कहते हुये श्रीजयसेनाचार्य ने अपनी टीका में—“ण बलाउसाहणद्वं—” इत्यादि मूलाचार की दो गाथायें उद्धृत की हैं।

आगे गाथा २१५ अ० (२२६ ज०) की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि "ये जो मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवणस्तत्ता की अभेदतप अवस्था है वह "परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं" परमागम की भाषा से वीतराग धर्मध्यानरूप है और शुक्लध्यानरूप है। अब आप विचार कीजिये कि यह अवस्था महामुनियों के निर्विकल्प ध्यान में ही घटित होगी।

और तो क्या इस ग्रंथ के प्रणेता श्री कुंदकुंददेव भी इस अभेद की भावना ही भाते थे। वे भी इस शुक्लध्यान में नहीं पहुंचे थे क्योंकि पंचमकाल में उत्तम संहनन के अभाव में वीतराग धर्मध्यान व शुक्लध्यान संभव ही नहीं है। यह वीतरागधर्मध्यान सातवें गुणस्थान के दूसरे पाये से ही माना जा सकता है।

जगह-जगह कलश काव्यों में श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी "मुनि" शब्द रखा है। यथा-

ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा।

कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥ १५२ ॥

अर्थात् जो राग से रहित हैं ऐसे मुनि क्रिया करते हुये भी उसके फल की इच्छा न करते हुये कर्मों से नहीं बंधते हैं।

कलशकाव्य १५४ वें में कहा है कि तीन लोक को भी चलायमान कर देने वाले ऐसे वज्र के पड़ने पर भी जो अपने ज्ञानस्वरूप से व्युत्त नहीं होते हैं। सम्यग्दृष्टि ही ऐसा साहस कर सकते हैं। यहाँ भी वीतरागसम्यग्दृष्टि शुक्लध्यानी महामुनियों की ही बात है कि जो पांडव आदि के सदृश उपसर्गों में भी ध्यान से चलायमान नहीं हुये थे।

आचार्य श्रीकुंदकुंददेव ने निश्चयनय की प्रधानता से इस अधिकार में गाथा २२८ से २३६ अ० (२४३ से २५१ ज०) तक आठों अंगों का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी अपनी टीका में कहा है कि इन अंगों के धारी महापुरुषों के कर्मबंध नहीं होता है प्रत्युत निर्जरा ही होती है। श्रीजयसेनाचार्य ने इन आठों अंगों का वर्णन करके ऐसा स्पष्ट कह दिया है कि यहाँ निश्चयनय की प्रधानता से इन अंगों का कथन किया गया है कि जो मुनि व्यवहार रत्नत्रय में स्थित हैं, सरागसम्यग्दृष्टि हैं उन्हें व्यवहार नय की अपेक्षा से अंजनचोर आदि की कथाओं के द्वारा भी इन अंगों को घटित करना चाहिये। पुनः प्रश्न उठता है कि—

"निश्चय का व्याख्यान करके पुनः व्यवहार का व्याख्यान क्यों ? इस पर उत्तर दिया है कि-अग्नि और स्वर्णपाषाण के समान निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर में साध्य-साधक भाव दिखलाने के लिये कहा है।" वास्तव में अग्नि में तपकर ही कनक पाषाण शुद्ध कनक बन जाता है। वैसे ही व्यवहाररत्नत्रय में व व्यवहार तपश्चरण में तपकर ही यह आत्मा निश्चयरूप आत्मपद को प्राप्त कर लेता है। "

इस निर्जरा अधिकार को पढ़कर कोई अव्रती ऐसा कह देते हैं कि हमारे गृहस्थाश्रम के पंचेन्द्रियों के विषयभोग भी कर्मनिर्जरा के लिये कारण हैं हिंसा आदि पांच पापों से होने वाली क्रियायें भी यदि कर्तृत्व भाव से रहित हैं तो वे कर्मनिर्जरा के लिये ही कारण हैं। वास्तव में यह कहना या सोचना केवल अपनी आत्मा की वंचना के लिये ही है। टीकाकार ने तो जगह-जगह यह बात कही है कि "निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात्।" निर्विकल्प ध्यानरूप भेदज्ञान और विषय कषाय की प्रवृत्ति ये दोनों एकसाथ नहीं रह सकते हैं यहाँ "एकसाथ" का यह अर्थ है कि जिस जीव में विषय कषाय है ऐसे अव्रती और श्रावक को निर्विकल्पध्यान नहीं होता है, विषयकषायों के त्यागी मुनियों को ही निर्विकल्पध्यान सातवें गुणस्थान में होता है, ऐसा समझना।

अतः निःस्पृह हुये मुनि जो आहार-विहार आदि चर्यायें व आवश्यक क्रियायें करते हैं, मूलाधार के अनुसार निर्दोष चर्या पालते हैं और ध्येय में शुद्धात्मतत्त्व को रखकर सतत उसकी भावना करते रहते हैं वे ही सावधानचर्या वाले मुनि संचित हुये कर्मों के उदय के बाद कर्मों की निर्जरा करते हैं। उनके आगे के लिये नवीन कर्मों का बंध तो होता है किंतु अल्प स्थितिअनुभाग वाला होता है। तब भला अव्रती के संवरपूर्वक निर्जरा कैसे हो जावेगी ? उसके तो कर्मों का जो उदय आता है वह फल देकर झड़ जाता है यह निर्जरा तो होती ही है किंतु आगे के लिये भी कर्म बंधते रहते हैं अतः यह निर्जरा गजस्नान सदृश होने से यहाँ विवक्षित नहीं है। बल्कि—

"संवरपूर्विका पूर्वनिर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति, स च निश्चयरत्नत्रयलाभो वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालंबने निर्विकल्पसमाधिौ सति भवति।"

जो संवरपूर्वक निर्जरा पहले कही गई है वह सम्यग्दृष्टि जीव के मुख्यरूप से शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रय के होने पर ही होती है और उस निश्चयरत्नत्रय का लाभ वीतराग धर्मध्यान, शुक्लध्यानरूप, निर्विकल्पसमाधि में ही होता है यह निर्विकल्प समाधि शुभ-अशुभ बाह्य द्रव्यों के अवलंबन से रहित ही है। ऐसा समझना।

अथवा यों समझिये कि सम्यग्दृष्टि अवती और देशवती के दान—पूजादि आवश्यक क्रिया करते समय आगे आने वाले अशुभकर्म रुक जाते हैं अतः अशुभ कर्मों का संवर हो जाता है। पुण्यकर्मों का बंध हो जाता है और पूर्व में संचित अशुभ कर्मों की असंख्यातगुणश्रेणी रूप से निर्जरा भी हो जाती है। यही स्थिति आज के मुनियों की भी है। हां, श्रावकों की अपेक्षा परिणामों की निर्पलता विशेष होने से पुण्यबंध, अशुभकर्मों की निर्जरा व अशुभ कर्मों का संवर अधिक-अधिक ही होता है। आज के मुनि भी पुण्य और पाप इन दोनों का संवर नहीं कर सकते हैं इसीलिये तो आज साक्षात् मोक्ष नहीं है।

निष्कर्ष यही है कि इस समयसार ग्रंथराज को पढ़कर अध्यात्म भावना को भाते हुये अपने गुणस्थान के अनुसार आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हुये निर्दोष चारित्र्य पालन करने की भावना रखना चाहिये। प्रमादी होकर अपनी आत्मा की वंचना नहीं करना चाहिये। तभी हम और आप एक न एक दिन इस निर्जरा तत्त्व के अधिकारी बन जावेंगे। इस अधिकार की एक गाथा को अपने हृदय पटल में अंकित कर लेना चाहिये।

(२४४)—जो चत्तारिवि पाए छिददि ते कम्मबंधमोहकरे।

सो णिस्संको चेदा सम्पादिद्वी मुणेयव्वो ॥ २२९ ॥

जो आत्मा कर्म बंध के कारण, मोह को करने वाले ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों पादों को निःशंक हुआ काट डालता है वह आत्मा निःशंकित अंग का धारी सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना चाहिये। इस गाथा के चिंतवन के साथ-साथ व्यवहार सम्यग्दृष्टि ऐसे अंजनचोर की कथा का भी चिंतवन करते रहना चाहिये। इस प्रकार यह निर्जरातत्त्व के अधिकार का सार कहा गया है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदादाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में

श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत

तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत इस "ज्ञानज्योति"

नामा भाषा टीका में निर्जरा तत्त्व को

प्ररूपित करने वाला यह

छठा (सातवाँ) अधिकार

पूर्ण हुआ।

(७) अथ बंधाधिकारः

अथ प्रविशति बंधः ।

शार्दूलविक्रीडित—रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडतं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १६३ ॥

अब बंध तत्त्व प्रवेश करता है—

जिस प्रकार रंगभूमि में कोई स्वांग धरकर प्रवेश करता है उसी प्रकार इस संसाररूपी रंगभूमि में बंधतत्त्व स्वांग धरकर प्रवेश करता है—

अब प्रथम ही बंध को दूर करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है उसी अर्थ को सूचित करते हुये पंगल काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—जो बंध राग के उद्गाररूपी महारस—मदिरा से समस्त जगत् को प्रमत्त करके—मत्तवाला करके रसभार से—राग के रसरूप मद से अतिशयरूप से महानृत्य के द्वारा नाच रहा था, ऐसे बंध को उड़ाता हुआ—दूर करता हुआ ज्ञान उदय को प्राप्त हो रहा है। यह ज्ञान आनंदरूपी अमृत का नित्य ही भोजन करने वाला है अपनी जाननेरूप क्रियामय सहज अवस्था को प्रगटरूप से नृत्य करा रहा है, धीर है, उदार है, महान विस्तारवाला है, निश्चल है, अनाकुल है, उपाधि रहित है अर्थात् परिग्रह आदि से रहित है ऐसा ज्ञान प्रगट हो रहा है। १६३।

शंभुछंद—जो बन्ध राग उद्गार महारस से सारा जग मत्त करे :

मदरस का भार भरे जग में क्रीड़ा पूर्वक वह नृत्य करे ॥

वह बन्ध दूर कर ज्ञान उदय स्वात्मा को तर्पित करता है ।

निरुपाधि अनाकुल निश्चल धीरोदारसुज्ञान प्रगटता है ॥ १६३ ॥

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्पि ।
 ठाणम्पि ठाड़ूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २३७ अ० ॥
 छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २३८ अ० ॥
 उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
 णिच्छयदो चित्तिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९ अ० ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
 स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥ २३७ ॥
 छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
 सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥ २३८ ॥
 उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
 निश्चयतश्चित्यतां किप्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबंधः ॥ २३९ ॥

सौख्येन छन्दः-(२५२)-जैसे कोई पुरुष तेल से निज शरीर अवलिप्त करे ।

पुनः धूलिसंयुत प्रदेश को जा करके संस्पर्श करे ॥

नाना शस्त्रों के माध्यम से वह व्यायाम किया करता ।

धूली को अपने शरीर में वह स्थान दिया करता ॥ २३७ ॥

(२५३)-ताड़ बांस कदली वृक्षों का छेदनभेदन भी करता ।

वह व्यायामी पुरुष वहाँ शारीरिक वेष्टा ही करता ॥

वृक्षों के आश्रित जीवों का भी उपघात किया करता ।

वह सजीव निर्जीव द्रव्य का घात स्वयं करता रहता ॥ २३८ ॥

(२५४)-इस प्रकार नाना कार्यों द्वारा उपघात हुआ जो भी ।

धूलि धूसरित मलिन रूप को प्राप्त किया करता वो ही ॥

घात और उपघात से जो धूली शरीर में लगती है ।

सोचो उस मानव के धूली किस हेतु से लगती है ॥ २३९ ॥

जो सो दु णेहभावो तह्यि णरे तेण तस्स रयबन्धो ।

णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० अ० ॥

एवं मिच्छादिद्वी वट्ठन्तो बहुविहासु चिट्ठासु ।

रायाई उवओगे कुव्वन्तो लिप्पइ रयेण ॥ २४१ अ० ॥ (पंचकम्)

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्ने तेन तस्य रजोबन्धः ।

निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४० ॥

एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।

रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २४१ ॥

उत्थानिवर्धन—अथ बन्ध—स्वस्वबन्धः कहते हुये स्वस्वबन्धम उसके कारणों को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः तु रेणाबहुले स्थाने स्थित्वा च शस्त्रैः व्यायामं करोति) जैसे कोई पुरुष तेल की मालिश करके बहुत धूलिसे सहित स्थान में स्थित होकर शस्त्रों से—मुद्गर आदि से व्यायाम करता है (तालीतलकदलीवंशपिंडीः छिनत्ति भिनत्ति तथा च सचित्ताचित्तानां द्रव्याणां उपघातं करोति) वहां वह ताड़वृक्ष, केले के वृक्ष तथा बांस के झुंड इत्यादि को छेदता है, भेदता है और सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है। इस प्रकार (नानाविधैः करणैः उपघातं कुर्वन्तः तस्य खलु निश्चयतः चिन्त्यतां रजोबन्धः तु किंप्रत्ययिकः ?) नाना प्रकार के कारणों से उपघात करने वाले उस पुरुष के निश्चय से चितवन करो कि भला धूलि के चिपकने रूप बन्ध किस कारण से हुआ है ? (तस्मिन् नरे यः तु स्नेहभावः तेन तस्य स रजोबन्धः निश्चयतः विज्ञेयं शेषाभिः कायचेष्टाभिः न) उस मनुष्य में जो वह तेल की मालिश से चिकनापन है उसी निमित्त से उसके वह धूलि का चिपकना हुआ है

(२५५)—मुनो प्रश्न का उत्तर यह आगम की भाषा मान रहा ।

तेल लगे नर के इस कारण से कर्मों का बन्ध कहा ॥

निश्चय ही उस रजोबन्ध में तेल निमित्त हुआ करता ।

मात्र काय की चेष्टा से नहि धूल धूसरित रह सकता ॥ २४० ॥

(२५६)—ऐसे ही जब मिथ्यादृष्टी विविध क्रियाएं करता है ।

वत विरहित नाना प्रकार शारीरिक चेष्टा करता है ॥

वह रागादिक परिणामों से कर्मधूलि से लिपता है ।

रागद्वेष नहि होवे यदि तो बन्ध नहीं हो सकता है ॥ २४१ ॥

आत्मख्यातिः—इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते । तस्य कतमो बन्धहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभिव्यक्तानामपि स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात् । न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभिव्यक्तानामपि (स्नेहानभ्यक्तानामपि) तस्मिन्तत्प्रसंगात् । ततो न्यायबलेनैतददायात् यतस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यनकरणं न बन्धहेतुः । एवं मिथ्यादृष्टिरात्मानं रागादीन् कुर्वाणः स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्

ऐसा नियम से जानना चाहिये अन्य शेष शारीरिक क्रियाओं ये वह धूलि नहीं चिपकी है । (एवं मिथ्यादृष्टिः बहुविधासु चेष्टासु वर्तमानः उपयोगे रागादीन् कुर्वाणः रजसा लिप्यते) इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव बहुत प्रकार की क्रियाओं में वर्तन करता हुआ और अपने उपयोग में रागादि भावों को करता हुआ कर्मरूप रज से लिप्त हो जाता है—बन्ध जाता है ॥ २३७ से २४१ ॥

आत्मख्याति—यहां संसार में जैसे कोई पुरुष तेल को लगाकर स्वभाव से ही जहां धूलिबहुत है ऐसी भूमि में स्थित होकर शस्त्र-मुद्गर आदि से व्यायाम क्रिया को करता हुआ अनेक प्रकार के करण—उपकरणों से सचित्त-अचित्त वस्तुओं को नष्ट करता हुआ धूलि से बंध जाता है—लिप्त हो जाता है उसके लिये धूलि से बन्ध—लिप्त होने के कारण इनमें से कौन है ? स्वभाव से ही बहुत धूलि से सहित जो भूमि है वह बन्ध का हेतु नहीं है नहीं तो जिन्होंने तेल की मालिश नहीं की है और वहां पर स्थित हैं ऐसे जनों के भी उस धूलि के चिपकने का प्रसंग आ जावेगा । शस्त्रों से व्यायाम क्रिया करना भी धूलिबन्ध का हेतु नहीं है, नहीं तो जिन्होंने तेल मालिश नहीं की है उन्हें भी व्यायाम से धूलि चिपकने का प्रसंग आ जावेगा । अनेक प्रकार की करण—क्रियायें भी धूलिबन्ध का कारण नहीं हैं, नहीं तो, तेल की मालिश नहीं करने वालों के भी उन नाना प्रकार की क्रियाओं द्वारा धूलि का चिपकना हो जावेगा । सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात करना भी धूलि बन्ध में कारण नहीं है अन्यथा तेल की मालिश नहीं करने वालों के भी उस उपघात से धूलिबन्ध हो जावेगा, इसलिये न्याय के बल से यह बात सिद्ध हुई कि जो उस पुरुष में तेल की मालिश से शरीर में चिकनापन है वही धूलि के चिपकने में कारण है ।

इसी प्रकार से मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्मा में रागादि भाव को करते हुये स्वभाव से ही कर्म के योग्य पुद्गलवर्गणाओं से बहुल—भरे हुये लोक में काय, वचन और मन की क्रियाओं को करते हुये अनेक प्रकार के करणों—क्रियाओं से सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करते हुये कर्मरूपी रज से बन्ध जाता है । उसके लिये इन सभी कारणों में से बन्ध का हेतु—कारण कौन सा है ? स्वभाव से ही कर्म योग्य पुद्गल से भरा हुआ यह लोक तो बन्ध

कर्मरजसा बध्यते । तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानि-
नामपि तत्प्रसंगात् । न सचित्तचित्तवस्तूपघातः समितितत्परणामपि तत्प्रसंगात् । ततो न्यायबलेनैतदेवायातं
यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ॥ २३७ । २३८ । २३९ । २४० । २४१ ॥

पृथ्वीश्च न कर्मवद्गुणं जगत्र चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्गुणः ॥ १६४ ॥

का हेतु है नहीं, अन्यथा लोक में स्थित—लोक के अग्रभाग पर स्थित उन सिद्धों के भी कर्मबंध का प्रसंग आ जावेगा । काय, वचन, और मन का कर्म—परिस्पंदन भी कर्म बंध में हेतु नहीं है, अन्यथा यथाख्यातचारित्र को प्राप्त हुये मुनियों में—ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्तियों में भी कर्मबंध का प्रसंग आ जावेगा । अनेक प्रकार की क्रियायें भी कर्म बंध के लिये हेतु नहीं हैं, अन्यथा केवलज्ञानी अर्हतों के भी कर्मबंध का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि केवली भगवान के भी उठना, बैठना, चलना, उपदेश करना आदि क्रियायें पाई जाती हैं । ऐसे ही सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात होना भी कर्मबंध में हेतु नहीं है, अन्यथा समिति में तत्पर हुये मुनियों के भी कर्मबंध का प्रसंग आ जावेगा, इसलिये न्याय के बल से यह सिद्ध हुआ कि जो उपयोग में रागादि भावों का करना है वही कर्मबंध का हेतु है ॥ २३७ से २४१ ॥

इसी को पुष्ट करते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यह कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ संसार मनुष्यों के लिये कर्मबंध का हेतु नहीं है, न चलन स्वरूप—मन वचन काय के परिस्पंदनरूप कर्म ही कर्मबंध का कारण है, न अनेक प्रकार की क्रियायें—चेष्टायें ही कर्मबंध की कारण हैं और न चेतन-अचेतन का घात ही बंध का कारण है । तो क्या है ? जब यह आत्मा का उपयोग रागादि भावों के साथ एकपने के उपयोग की भूमि को प्राप्त हो जाता है तब वह रागादि सहित उपयोग ही केवल—मात्र मनुष्यों के लिये बंध का हेतु है ऐसा समझना । १६४ ।

यह कर्मभरित संसार सभी के लिए बंध का हेतु नहीं ।

चलनात्मक क्रिया तथा चेतन व अचेतन घात न हेतु कभी ॥

यह आत्मा जब रागादि संग उपयोग की भूमि प्राप्त करे ।

तब ही केवल यह मानव बन्ध के हेतु भाव को प्राप्त करे ॥ १६४ ॥

(भूमिका) —अथ प्रविशति बंधः । तत्र जह णाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथाभादि कृत्वा पाठक्रमेण पदपंचाशद्गाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति । तासु पदपंचाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतस्तावद् बंधस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथादशकं । तदनंतरं निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य लक्षणकथनरूपेण जो मण्णादि हिंसामि इत्यादि गाथासप्तकं । ततः परं बहिरंगद्रव्यहिंसा भवतु मा भवतु निश्चयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति प्रतिपादनरूपेण जो मरदि इत्यादि गाथाषट्कं । अधानंतरं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं यद् भेदविज्ञानं तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यानमुख्यत्वेन एवमलिए इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वयं । तदनंतरं तस्यैव भावपुण्यपापरूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभबंधकारणभूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन वत्थुं पडुच्च इत्यादि गाथात्रयोदश । एवं समुदायेन पंचदश । तदनंतरं निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत इति कथनरूपेण व्यवहारणओ इत्यादि सूत्रषट्कं । अतः परं रागद्वेषरहितज्ञानिनां प्रासुकान्नपानाद्याहारो बंधकारणं न भवति इति पिंडशुद्धिव्याख्यानरूपेण आधाकम्पादीया इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं क्रोधादिकषायाः कर्मबंधनिमित्तं भवन्ति तेषां च चेतनाचेतनबाह्यद्रव्यं निमित्तं भवतीति प्रतिपादनरूपेण जह फलिहमणि विसुद्धो इत्यादि सूत्रपंचकं । तदनंतरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च

अब इसे ही श्रीजयसेनाचार्य अपने सरल शब्दों में कहेंगे उसी के लिये पहले इस बंधाधिकार की भूमिका कह रहे हैं --

भूमिका—अब बंध प्रवेश करता है । उसमें 'जह णाम कोवि पुरिसो' इत्यादि गाथा को आदि में लेकर पाठ के क्रम से छप्पन गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । उन छप्पन गाथाओं के मध्य पहले बंध स्वरूप के सूचना की मुख्यता से दश गाथायें कहेंगे । इसके बाद निश्चय से हिंसा और अहिंसारूप व्रत-अव्रत इन दोनों के लक्षण के कथन की मुख्यता से 'जो मण्णादि हिंसामि' इत्यादि सात गाथायें कहेंगे । पुनः बहिरंग द्रव्यहिंसा होवे या न होवे किंतु निश्चय से हिंसा का अध्यवसाय—परिणाम ही हिंसा है ऐसे प्रतिपादनरूप से 'जो मरदि' इत्यादिरूप से छह गाथायें कहेंगे । इसके अनंतर निश्चयरत्नत्रयलक्षण जो भेदविज्ञान है उससे विलक्षण जो व्रत-अव्रत हैं उनके व्याख्यान की मुख्यता से 'एवमलिए' इत्यादि सूत्ररूप दो गाथायें कहेंगे । इसके बाद शुभ-अशुभ बंध के लिये कारणभूत उसी भावपुण्य और भावपापरूप व्रत-अव्रत के परिणाम के व्याख्यान की मुख्यता से 'वत्थुं पडुच्च' इत्यादि तेरह गाथायें हैं ऐसी समुदाय से पंद्रह गाथायें हैं । इसके बाद निश्चय में स्थित होने पर व्यवहार का निषेध किया जाता है इस कथनरूप से 'व्यवहारणओ' इत्यादि छह सूत्र हैं । इससे आगे राग-द्वेष से रहित ज्ञानी मुनियों के लिए प्रासुक अन्न-पान आदि आहार बंध का कारण नहीं होता है इस तरह पिंडशुद्धि के व्याख्यान रूप से 'आधा कम्पादीया' इत्यादि चार गाथासूत्र कहेंगे । अनंतर क्रोधादिकषायें कर्मबंध के लिए निमित्त होती हैं और उन कषायों के लिए चेतन-अचेतन बाह्यद्रव्य निमित्त होते हैं इस प्रकार प्रतिपादन के रूप से 'जह फलिहमणि विसुद्धो' इत्यादि पांच गाथासूत्र कहेंगे । इसके अनंतर अप्रतिक्रमण और

बंधकारणं भवति न पुनः शुद्धात्मेति व्याख्यानमुख्यत्वेन अप्पडिकमणं इत्यादि गाथात्रयं चेति समुदायेन षट्पञ्चाशद्गाथाभिरष्टांतराधिकारैः बंधाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—

(उत्थानिका) — बहिरात्मजीवसंबन्धिनो बंधकारणभूतस्य श्रृङ्गारसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रतिशतः सतः शांतरसपरिणतं वीतरागसम्यक्त्वाधिनाभूतं भेदज्ञानं प्रतिषेधं करोतीति उपदिशति—

(२५२ ज०) जह णाम कोवि पुरुसो, णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्पि ।

ठाणम्पि ठाड़दूण य, करेदि सत्थेहि वायामं ॥

(२५३ ज०) छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकदलिबंसपिंडीओ ।

सच्चिताचित्ताणं, करेदि दव्वाणमुवघादं ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः, स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।

स्थाने स्थित्वा च करोति, शस्त्रैर्व्यायामं ॥ २५२ ॥

छिन्दति भिन्दति च तथा, तालीतलकदलीबंसपिंडीः ।

सचित्ताचित्तानां, करोति द्रव्याणामुपघातं ॥ २५३ ॥

अप्रत्याख्यान बंध के कारण हैं न कि शुद्धात्मा, इस व्याख्यान की मुख्यता से 'अप्पडिकमणं' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे । इस प्रकार समुदायरूप से छप्पन गाथाओं द्वारा आठ अंतराधिकारों से इस बंध अधिकार की समुदाय पातनिका कही गई है ।

उत्थानिका—अब बहिरात्मा जीव से संबंधित बंध के लिये कारण भूत, श्रृंगार सहित पात्र के स्थानीय—सदृश जो ऐसा मिथ्याज्ञान है वह नाटकरूप से—नाटक भूमि में प्रवेश कर रहा था तब शांतरस से परिणत, वीतराग सम्यक्त्व से अविनाभूत ऐसा भेदज्ञान उसका प्रतिषेध करता है, इस प्रकार यहां उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(जह णाम कोवि पुरुसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्पि ठाणम्पि) जैसे कोई पुरुष तेल मर्दन करके बहुत धूलीवाले स्थान में (ठाड़दूण य सत्थेहि वायामं करेदि) स्थित होकर हथियारों—मुद्गर आदि से व्यायाम करता है (तालीतल-कदलिबंसपिंडीओ छिंददि य भिंददि) ताड़वृक्ष, केले के वृक्ष और बांसों के झुंडों को छेदता-भेदता है (तहा सच्चिताचित्ताणं दव्वाणं उवघादं करेदि) इस तरह सचित्त, अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है (णाणाविहेहि करणेहि उवघादं कुब्बंतस्स तस्स) नाना प्रकार के करण—उपकरणों से उपघात करते हुये उसके बारे में (णिच्छयदो दु चित्तिज्ज) निश्चय से विचार कीजिये (तस्स रयबंधो दु किंपच्चयगो) कि उसको धूली का चिपकना किस निमित्त से हुआ है ?

(२५४ ज०) उवघादं कुब्बंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चित्तिज्ज दु, किं पच्चयगो दु तस्स रयबंधो ॥

(२५५ ज०) जो सो दु णेहभावो, तहिं णरे तेण रयबन्धो ।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥

(२५६ ज०) एवं मिच्छादिट्ठी, वट्ठन्तो बहुविहासु चेट्ठासु ।
रागादी उवओगे, कुब्बंतो लिप्पदि रयेण ॥ (पंचकम्)

उपघातं कुर्वन्तस्स नानाविधैः करणैः ।

निश्चयतश्चित्यतां तु किं प्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबंधः ॥ २५४ ॥

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्ने तेन तस्य रजोबंधः ।

निश्चयतो विज्ञेयं, न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २५५ ॥

एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।

रागादीनुपयोगे, कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २५६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह णाम कोवि पुरुस्सो इत्यादि व्याख्यानं क्रियते—यथानाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोति इति प्रथमगाथा गता । छिनन्ति भिनन्ति च तथा । कान् ? तालतमालकदलीवृंशाशोकसंज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्संबन्धिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता । उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चित्यतां विचार्यतां

(तहिं णरे जो सो दु णेहभावो तेण तस्स रयबंधो) उस मनुष्य में जो वह तेल की चिकनाई है उसी से उसको धूली चिपकी है (णिच्छयदो विण्णेयं सेसाहिं कायचेट्ठाहिं ण) निश्चय से ऐसा जानना चाहिये, नकि शेष काय की चेष्टाओं द्वारा (एवं मिच्छादिट्ठी बहुविहासु चेट्ठासु वट्ठन्तो) इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार की क्रियाओं में वर्तन करता हुआ (उवओगे रागादी कुब्बंतो रयेण लिप्पदि) उपयोग में रागादिभावों को करता हुआ कर्मरज से लिप्त हो जाता है ॥ २५२ से २५६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—‘जह णाम कोवि पुरुस्सो’ इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान करते हैं, जैसे स्पष्टतया कोई पुरुष तेल की मालिश करके चिकने शरीर सहित हुआ धूलि से भरे हुये स्थान में स्थित होकर शस्त्रों से व्यायाम का अभ्यास करता है—श्रम करता है । यह पहली गाथा हुई । तथा तालवृक्ष, तमालवृक्ष, केले के वृक्ष, बांस के वृक्ष और अशोक के वृक्ष विशेषों को छेदता-भेदता है उनसे संबंधित सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है । यह दूसरी गाथा हुई । नाना प्रकार के वैशाखस्थान—आसन आदि क्रिया विशेषों से उन सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात करने —

किं प्रत्ययकः किंनिमित्तकः ? तस्य रजोबंधः ? इतिपूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं । अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्ने स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगरूपः^१ तेन तस्य रजोबंध इति निश्चयनो निश्चयः यः कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिरित्युत्तरगाथा । एव सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टान्तो गतः । अथ दार्ष्टान्तमाह—एवं मिच्छादिद्वि वदन्तो बहुविहासु चेष्टासु एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन मिथ्यादृष्टिर्जीवः विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्तमानः रागादी उवओगे कुर्वन्तो लिप्यदि रयेण शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरगाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाणः सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थः । एवं यथा तैलप्रक्षितस्य रजोबंधो भवति तथा मिथ्यात्वरगादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबंधो भवति इति बंधकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपंचकं गतं ॥ २५२ से २५६ ॥

उस जीव के निश्चय से विचार कीजिये, उस पुरुष के जो धूलि का चिपकना हो रहा है वह किस निमित्तक है ? इस तरह पूर्व पक्षरूप से तीन गाथायें हुईं । अब इसका उत्तर देते हैं—

उस मनुष्य में जो वह स्नेहभाव है—जो तेल की मालिश से हुई चिकनाई है उस चिक्कणपने से ही उस मनुष्य के वह धूलि का बंध हुआ है न कि शेष शरीर आदि की व्यापार रूप चेष्टाओं से, ऐसा निश्चय से जानना चाहिये । यह उत्तर देने रूप चौथी गाथा हुई । इस प्रकार चार गाथा सूत्रों द्वारा प्रश्नोत्तर रूप से यह दृष्टान्त हुआ है अब दार्ष्टान्त को कहते हैं—

इस पूर्वोक्त दृष्टान्त के द्वारा मिथ्यादृष्टि जीव विविध प्रकार की शरीर, वचन, मन के व्यापाररूप क्रियाओं में वर्तन करता हुआ शुद्धात्मारूप जो शुद्ध जीव तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में अनुचरणरूप—स्थिरतारूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय निश्चयरत्नत्रय के अभाव में मिथ्यात्व, रागादि उपयोगमय परिणामों को करता हुआ कर्मरूपीरज से लिप्त हो जाता है—कर्मों से बंध जाता है ऐसा अर्थ हुआ । इस प्रकार यहां ऐसा समझना कि जैसे तेल की मालिश किये हुये पुरुष के धूलि का बंध—चिपकना होता है वैसे ही मिथ्यात्व-रागादि से परिणत हुये जीव के कर्मों का बंध होता है । इस प्रकार बंध के कारणभूत तात्पर्य के कथनरूप से पांच सूत्र गाथायें हुईं ॥ २५२ से २५६ ॥

विशेषार्थ—स्नेह का अर्थ है तेल—चिक्कणपना यह जैसे तेल के मालिश से हुआ शरीर में चिकनाई के लिये आता है वैसे ही स्नेह का दूसरा अर्थ है प्रेम—रागभाव । यह दार्ष्टान्त में जीव के लिये आता है जब तक यह जीव रागादि चिक्कण भावों से सहित है तब तक कर्मों का बंध होता ही रहता है । यहां यह विशेष समझना कि जब तक यह जीव मिथ्यादृष्टि है तब तक मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी कषाय आदि अन्य रागादिभावों का चिक्कणपना है और जब यह जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों से होने वाला रागभाव है

वहां चतुर्थ-पंचम, छठे आदि गुणस्थानों में यथायोग्य गोम्पटसार कर्मकांड में कथित प्रकृतियों का बंध होता रहता है। आगे वीतराग सम्यग्दृष्टि के ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानों में सर्वथा मोहनीयजन्य रागभाव रूप चिकनाई का अभाव हो जाने से कर्मरज के बंध का भी सर्वथा अभाव हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने तो बहुत ही सुंदर पंक्तियां रखी हैं। यह तीनों लोक कर्मणवर्गणारूप—जो कि कर्मरूप परिणत होने के लिये उम्मीदवार हैं ऐसी विश्वसोपचय कर्मणवर्गणाओं से ठसाठस भरा हुआ है। प्रत्येक आत्म प्रदेशों पर अनंतानंत विश्वसोपचय वर्गणायें स्थित हो रही हैं फिर भी जीव के भाव जब मिथ्यात्व रागद्वेषादि कषायों से परिणत होते हैं तभी वे विश्वसोपचय परमाणु आत्मा के साथ कर्मरूप से बंध जाते हैं और रागादि के अभाव में कर्मरूप से नहीं बंधते हैं इसमें सिद्ध भगवान को लिया है चूंकि वे भी लोकाकाश में ही विराजमान हैं वहां भी कर्मणवर्गणायें भरी हुई हैं वहां वातवलयों के आश्रित बादरकाय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक आदि जीवों के बंधती हैं, अनंतसूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के भी बंधती रहती हैं। मन-वचन काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन मात्र कर्मबंध माना जाय तो ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हत भगवान इन तीनों के यथाख्यात चरित्र प्रगट हो चुका है उनके भी कर्म बंध होना चाहिये था किंतु उनके तो बंध है नहीं क्योंकि उनके राग के लिये कारण ऐसे मोहनीय कर्म का अभाव है अतः इनके तीनों योगों से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पंदन तो है किंतु रागभाव के न होने से कर्मबंध नहीं है केवली भगवान के भी श्रीविहार में चलना, समवसरण में विराजना—बैठना, दिव्यध्वनिरूप वचनों का बोलना आदि क्रियायें हैं फिर भी रागभाव के अभाव में उनके बंध नहीं है। ऐसे ही समितियों के पालन में सावधान हुये मुनियों के विहार में कदाचित् सचित्त कोई जीव या अचित्त आदि वस्तु का घात हो भी जावे फिर भी ईर्यापथ से चलते हुये मुनि के कर्मबंध नहीं माना है एषणासमिति से छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतरायों को टाल कर आहार लेने वालों के भी बंध नहीं माना है अतः राग द्वेष भाव से सचित्तादि वस्तुओं के घात से ही बंध होता है जो कि प्रमत्तभाव तक संभव ही है। ईर्यासमिति आदि श्रावकों में नहीं मानी हैं अतः यहां मुनियों का ही प्रकरण है। वास्तव में यह समयसार ग्रंथ मूलाचार के आधार से अपनी उत्तमचर्या पालने वाले महामुनियों के लिये ही समझना चाहिये। वे ही ध्यान में अपने उपयोग से रागादि भावों को दूर करने में सक्षम हो सकते हैं ऐसा समझना।

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वहि अवणिये संते ।

रेणुबहुलम्पि ठाणे करेदि सत्थेहि वायामं ॥ २४२ अ० ॥

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।

सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुपघायं ॥ २४३ अ० ॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।

रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥ २४२ ॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।

सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥ २४३ ॥

उत्थानिक) - आगे सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता है, इसे ही कहते हैं ।

अन्वयार्थ—(यथा पुनः स च एव नरः सर्वस्मिन् स्नेहे अपनीते) जैसे पुनः वही पुनश्च संपूर्ण स्नेह—चिकनाई को दूर करके (रेणुबहुले स्थाने शस्त्रैः व्यायामं करोति) धूलि से भरे स्थान में शस्त्रों से व्यायाम करता है (तालीतलकदलीवंशपिंडीः छिनत्ति च भिनत्ति) ताल, तमाल, केले के वृक्ष और बांसों के झुंड को छेदता है, भेदता है (तथा सचित्ताचित्तानां द्रव्याणां उपघातं करोति) तथा सचित्त और अचित्त वस्तुओं का उपघात करता है (नानाविधैः करणैः उपघातं कुर्वतः तस्य) नाना प्रकार की क्रियाओं से उपघात करते हुये उस मनुष्य के (निश्चयतः चिन्त्यतां किंप्रत्ययिकः रजोबन्धः न) निश्चय से विचार कीजिये कि किस निमित्त से उसे धूलि का बंध नहीं हुआ है (तस्मिन् नरे यः सः अस्नेहभावः तेन तस्य अरजोबन्धः शेषाभिः कायचेष्टाभिः न निश्चयतः विज्ञेयं) उस मनुष्य में जो यह तेल की मालिश के द्वारा हुई चिकनाई नहीं है इसी से उसके शेष शरीर की क्रियाओं द्वारा भी धूलिबंध नहीं है ऐसा निश्चय से जानना चाहिये । (एवं सम्यग्दृष्टिः

(२५७) - जैसे जब वही पुरुष समस्त तैलादि पदार्थ अलग करके ।

धूल भरि क्षिति में करता व्यायाम शस्त्र को लेकर के ॥

नाना शस्त्रों के माध्यम से कितना ही श्रम करता है ।

तो भी वह अपने शरीर में रजोबन्ध नहीं करता है ॥ २४२ ॥

(२५८) - ताड़ बांस कदली वृक्षों का छेदन भेदन भी करता ।

वह व्यायामी पुरुष वहां शारीरिक चेष्टा ही करता ॥

वृक्षों के आश्रित जीवों का भी उपघात किया करता ।

वह सर्जाव निर्जीव द्रव्य का घात स्वयं करता रहता ॥ २४३ ॥

उवघायं कुर्वन्तस्स तस्स पाणाविहेहिं करणेहिं ।

णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबन्धो ॥ २४४ अ० ॥

जो सो अणेहभावो तहिं णरे तेण तस्सऽरयबन्धो ।

णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५ अ० ॥

एवं सम्पादिट्ठी वट्ठतो बहुविहेसु जोगेसु ।

अकरन्तो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥ २४६ अ० ॥ (पंचकम्)

उपघातं कुर्वन्तस्तस्य नानाविधैः करणैः

निश्चयतश्चित्यतां किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ॥ २४४ ॥

यः सोऽस्नेहभावस्तस्मिन्ने तेन तस्यारजोबन्धः ।

निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४५ ॥

एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।

अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥ २४६ ॥

बहुविधेषु योगेषु वर्तमानः उपयोगे रागादीन् अकुर्वन् रजसा न लिप्यते) इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकार के योगों में वर्तन करता हुआ भी उपयोग में रागादि भावों को नहीं करते हुये कर्मरज से नहीं बंधता है ॥ २४२ से २४६ ॥

(२५९)—इस प्रकार नाना कार्यो द्वारा उपघात हुआ जो भी ।

धूलिधूसरित मलिन रूप को नहीं प्राप्त करता तो भी ।

घात और उपघात से भी जब धूल ग्रहण नहीं करता है ।

तब सोचो किस हेतु से वह रजोबन्ध नहीं करता है ॥ २४४ ॥

(२६०)—सुनो प्रश्न का उत्तर यह श्रीकुन्दकुन्द आचार्य कहें ।

जब शरीर में तेल नहीं तो धूल कहो क्यों जोव गहे ॥

निश्चित ही बिन तेल निमित्त के रजोबन्ध बाह कर सकता ।

मात्र काय की चेष्टा से नहीं धूल धूसरित हो सकता ॥ २४५ ॥

(२६१)—ऐसे ही सम्यग्दृष्टी भी विविध क्रियाएं करता है ।

वत संयुत नाना प्रकार शारीरिक चेष्टा करता है ॥

रागादिक परिणाम बिना नहीं कर्मधूलि से लिपता है ।

बिना रागद्वेषादिक के वह बन्ध नहीं कर सकता है ॥ २४६ ॥

आत्मख्याति—यथा स एव पुरुषः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलाया भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुवांगरतैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा न बध्यते स्नेहाभ्यंगस्य बन्धहेतोरभावात् । तथा सम्यग्दृष्टिः आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन् तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः तैरेवानेकप्रकारकरणैः, तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते रागयोगस्य बन्धहेतोरभावात् ॥ २४२ । २४३ । २४४ । २४५ । २४६ ॥

शार्दूलविक्रीडित—लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपेत्यमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥ १६५ ॥

आत्मख्याति—जैसे वही पुरुष सपूर्ण तेल के दूर कर देने पर—तेल की मालिश को धो डालने पर अथवा तेल मालिश को नहीं करके उस धूलि सहित स्थान में ही—स्वभाव से ही धूलि बहुल भूमि में वही शस्त्रों से व्यायाम क्रिया करता हुआ उन्हीं अनेक प्रकार की चेष्टाओं के द्वारा उन्हीं सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ भी धूलि से नहीं बंधता है क्योंकि उसके तेल की मालिश से हुई चिकनाईरूप बन्ध हेतु का अभाव है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा में रागादि भावों को नहीं करता हुआ स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलवर्गणाओं से भरे हुये इसी लोक में उन्हीं काय, वचन, और मन के परिस्पंदनरूप कर्म को करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार की चेष्टाओं द्वारा, उन्हीं सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूपी रज से नहीं बंधता है—लिप्त नहीं होता है क्योंकि जो बन्ध का हेतु ऐसा राग का योग है उसका उस मुनि के अभाव है ॥ २४२ से २४६ ॥

इसे ही कलश काव्यों द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—यह लोक कर्मों से तत्—व्याप्त है तो रहे, ये परिस्पंदस्वरूप योग है वह भी रहे, इस आत्मा में जो ये करण हैं—क्रियाएं हैं वे भी रहें और चेतन-अचेतन का घात भी हो तो होता रहे, फिर भी अहो ! आश्चर्य है कि यह सम्यग्दृष्टि आत्मा राग-द्वेष आदि को अपने उपयोग भूमि में नहीं लाता हुआ केवल—मात्र एक ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ उपर्युक्त कारणों में से किसी भी कारण से निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है । १६५ ।

भावार्थ—बन्ध के लिये कारण भूत कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणायें हैं, यह लोक उन से ठसाठस भरा हुआ है, तीनों योगों से होने वाला आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन है, पंचेंद्रियों के विषयरूप प्रवृत्तियां हैं और चेतन या अचेतन वस्तुओं का घात करना है । ये चारों कारण प्रायः छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों तक रहते ही हैं किंतु यदि वे राग, द्वेष, मोह से रहित मात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं तब उनके बन्ध नहीं होता है । यहां भी गुणस्थानों के योग्य बन्ध दसवें तक अल्पस्थिति-अनुभाग वाला होता रहता है आगे यथाख्यात चारित्र में ही पूर्णतया नहीं होता है ऐसा समझना ।

यह लोक कर्म से व्याप्त रहे ये परिस्पंद भय योग रहें ।

आत्मा में करण रहें चेतन व अचेतन घात भी होते रहें ॥

फिर भी यह आत्मा राग द्वेष को निज उपयोग में नहीं लाता ।

आश्चर्य अहो ! इक ज्ञान रूप परिणत हो बन्ध न कर पाता ॥ १६५ ॥

पृथ्वीछंद—तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६ ॥

वसंततिलकाछंद—जानाति यः स न करोति करोति यस्तु जानात्यर्थं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृष्टः स नियतं स हि (च) बंधहेतुः ॥ १६७ ॥

काव्यार्थ—फिर भी—रागादि भावों को ही बंध का कारण जहन लेने पर भी ज्ञानीजनों को निरर्गल प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है, क्योंकि वह निरर्गल—स्वच्छंद प्रवृत्ति ही बंध का स्थान है—कारण है। ज्ञानीजनों के इच्छा रहित कर्म—कार्य होता है वह बंध का कारण नहीं कहा है, क्योंकि जानता भी है और कर्म—क्रिया को करता भी है ये दोनों क्रियायें क्या परस्पर में विरुद्ध नहीं हैं ? अर्थात् विरुद्ध ही हैं। १६६ ।

भावार्थ—यहां ऐसी गाथायें पढ़कर यदि कोई मुनि या निश्चयाभासी श्रावक 'रागादिभावों से ही बंध होता है और मैं इन रागादिभावों का कर्ता नहीं हूं।' यदि ऐसा मानकर स्वच्छंद आहार, विहार, निहार आदि में प्रवृत्ति करता रहे तो यहां श्रीअमृतचंद्रसूरि का कहना है कि भाई ! वह स्वच्छंदप्रवृत्ति ही तो बंध के लिये कारण है। अतः यह ज्ञानरूप अवस्था ध्यान में ही घटित होती है कि जहां बुद्धिपूर्वक सामायिक, स्तुति, वंदना आदि क्रियाओं का भी अभाव हो जाता है। अन्यथा—जहाँ तक क्रियायें होती रहती हैं वहां तक 'जानना' यह ज्ञान का कार्य कैसे घटेगा ? श्रीअमृतचंद्रसूरि तो इन 'करोति और जानाति' क्रियाओं का एक साथ रहना स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

काव्यार्थ—जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। करना तो वास्तव में कर्म का राग है और राग को तो अज्ञानमय अध्यवसाय—परिणाम कहा है जो कि मिथ्यादृष्टि के होता है वह नियम से बंध का हेतु है। १६७ ।

भावार्थ—यहां कर्ता और ज्ञाता को भिन्न-भिन्न सिद्ध किया है अतः यहां पर रागादि भावरूप कर्तापने का निषेध समझना चाहिये। 'मैं अन्य को जीवित रखता हूं, मारता हूं' इत्यादि भावरूप जो अहंकारमय रागभाव है वह अज्ञानमय है वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है। यह कलश काव्य आगे गाथाओं की भूमिका या उत्थानिकारूप है।

फिर भी ज्ञानी को योग्य नहीं है प्रवृत्ति निरर्गल करने की।
कर्मों का बन्ध कराती है क्योंकि वह वृत्ति निरर्गल ही ॥
ज्ञानी के इच्छा रहित कर्म नहीं बन्ध का कारण बन पाता।
क्योंकि जानाति करोति क्रिया दोनों में विरोधीपन आता ॥ १६६ ॥
जो जान रहा वह करता नहीं जो करता वह नहीं जान रहा।
करना तो सचमुच कर्मराग कहलाता ज्ञानी मान रहा ॥
फिर राग को तो अज्ञानमयी परिणाम कहा है जिनवर ने।
वह निश्चित बन्ध का हेतु है होता है मिथ्यात्वी जन में ॥ १६७ ॥

(उत्थानिका) —अथ गाथापंच केन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावं दर्शयति—

(२५७ ज०) जह पुण सो चेव णरो, णेहे सव्वहि अवणिये संते ।

रेणु बहुलम्पि ठाणे, करेदि सत्थेहिं वायामं ॥

(२५८ ज०) छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकदलिवंसपिण्डीओ ।

सच्चित्ताचित्ताणं, करेदि दव्वाणमुवघादं ॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।

रेणुबहुले स्थाने, करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥ २५७ ॥

हिनन्ति भिनन्ति न हन्ति, तालीतलकदलीवंशपिण्डीः ।

सचित्ताचित्तानां, करोति द्रव्याणामुपघातं ॥ २५८ ॥

उत्थानिका—अब पांच गाथाओं द्वारा वीतरागसम्यग्दृष्टि के बंध का अभाव दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह पुण सो चेव णरो सव्वहि णेहे अवणिये संते) जैसे पुनः वही मनुष्य संपूर्ण चिकनाई को दूर करके (रेणुबहुलम्पि ठाणे सत्थेहिं वायामं करेदि) बहुत धूलीवाले स्थान में शस्त्रों से व्यायाम करता है (तालीतलकदलिवंसपिण्डीओ छिंददि य भिंददि) तालवृक्ष, कदली वृक्ष, बांस के झुंडों का छेदन-भेदन करता है (तहा सच्चित्ताचित्ताणं दव्वाणं उवघादं करेदि) उनसे सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है (णाणाविहेहिं करणेहिं उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णिच्छयदो चित्तिज्ज हु) नाना प्रकार के करणों से उपघात करते हुये उस पुरुष के बारे में निश्चय से विचार कीजिये (किपच्चयगो तस्स ण रयबंधो) किस निमित्त से उसे धूलिबंध नहीं हुआ है (तहिं णरे जो सो दु णेहभावो तेण तस्स रयबंधो ण सेसाहिं कायचेद्धाहिं णिच्छयदो विण्णेयं) उस मनुष्य में जो वह चिकनाई है उससे ही उसके धूलि का चिपकना हुआ है न कि शेष काय की चेष्टाओं द्वारा, निश्चय से ऐसा जानना चाहिये ।

(एवं सम्पादिट्ठी बहुविहेसु जोगेसु वडुंतो उवओगे रागादी अकरंतो) इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव बहुत प्रकार योगों में वर्तन करता हुआ भी उपयोग में रागादि भावों को न करता हुआ (रयेण णेव बज्झदि) कर्मरज से नहीं बंधता है ॥ २५७ से २६१ ॥

(२५९ ज०) उपघातं कुर्वन्तस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।

णिच्छयदो चित्तिज्ज हु, किंपच्चयगो ण तस्स रयबन्धो ॥

(२६० ज०) जो एते दु पोहभावे, तस्मिं णरे तेण तस्स रयबन्धो ।

णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥

(२६१ ज०) एवं सम्पादिट्ठी वट्ठतो बहुविहेसु जोगेसु ।

अकरन्तो उवओगे, रागादी णेव बज्झदि रयेण ॥ (पंचकम्)

उपघातं कुर्वन्तस्तस्य नानाविधैः करणैः ।

निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययिको न तस्य रजोबन्धः ॥ २५९ ॥

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्ने तेन तस्य रजोबन्धः ।

निश्चयतो विज्ञेयं, न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २६० ॥

एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।

अकुर्वन्नुपयोगे, रागादीन् नैव बध्यते रजसा ॥ २६१ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा स एव पूर्वोक्तो नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोतीति प्रथमगाथा गता । छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंश-पिंडीसंज्ञान् वृक्षविशेषान् । तत्संबन्धिसचित्तचित्द्रव्याणामुपघातं व करोति इति द्वितीयगाथा गता । उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैः, निश्चयतश्चित्यतां विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबन्धो न भवति । एवं प्रश्नरूपेण गाथात्रयं गतं । अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्ने स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगरूपः तेन स तस्य रजोबन्धः, इति निश्चयतो विज्ञेयं । न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिः, तदभावात् तस्य बन्धो

तात्पर्यवृत्ति—जैसे वही पूर्वोक्त मनुष्य जब अपने शरीर से सारी तेल की चिकनाई को दूर कर देता है तब धूलि से भरे हुये स्थान में स्थित होकर शस्त्रों से व्यायाम का अभ्यास—श्रम करता है । यह पहली गाथा हुई है । वह ताल, तमाल, केले, बांस के बीड़े आदि वृक्ष विशेषों को छेदता-भेदता है—काट डालता है या तोड़ डालता है, उन वृक्ष से संबंधित सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात कर देता है । यह दूसरी गाथा हुई । नाना प्रकार के वैशाखस्थान^१ आदि करण—क्रियाविशेषों से जीव-अजीव का उपघात करते हुये उस मनुष्य के किन कारणों से धूलिबन्ध हुआ है ऐसा निश्चय से चिंतन कीजिये—विचार कीजिये ? इस तरह प्रश्न रूप से तीन गाथायें हुईं । अब इसका उत्तर देते हैं—उस मनुष्य में जो पूर्व में कथित तेल के मालिशरूप स्नेहभाव—चिकनाई है उससे ही वह धूलि उसके शरीर में चिपक गई है ऐसा निश्चय से जानना चाहिये । शेष अन्य शरीर

नास्तीत्यभिप्रायः, इत्युत्तरगाथा गता । एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टान्तो गतः । अथ दार्ष्टान्तमाह,—एवं सम्पादिद्वी वद्धतो बहुविहेसु जोगेसु एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन सम्यग्दृष्टिर्जीवः विविधयोगेषु नानाप्रकारमनोवचनकाय-व्यापारेषु वर्तमानः । अकरंतो उवओगे रागादी निर्मलात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणां सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाणः सन् णेव ब्रज्जदि स्येण कर्मरजसा न बध्यते । एवं तैलघ्नक्षणाभावे यथा रजोबंधो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टिर्जीवस्य रागाद्यभावाद् बंधो न भवति, इति बंधाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापंचकं गतं । किं च यथात्र पातनिकायां भणितं, संज्ञानिजीवस्य शांतरसे स्वामित्वमज्ञानिनस्तु शृङ्गाराद्यष्टरसानां स्वामित्वं, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसानां स्वामित्वं ज्ञातव्यं । इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थलं गतं ॥ २५७ से २६१ ॥

आदि के व्यापाररूप क्रियाओं के द्वारा उसके धूलिवंध नहीं हुआ है क्योंकि उसके चिकनाई का अभाव होने से बंध—धूलि का लगना नहीं हुआ है यहां ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार चार गाथा सूत्रों द्वारा प्रश्नोत्तर रूप से यह दृष्टान्त हुआ । अथ दार्ष्टान्त कहते हैं—

इसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टान्त के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव विविध योगों में—नाना प्रकार के मन वचन काय के व्यापारों में प्रवृत्त हो रहा है । निर्मल आत्मतत्त्व का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी के अनुष्ठानरूप चारित्र ऐसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के सद्भाव से रागादिरूप उपयोग को—विभाव परिणामों को न करते हुये कर्मरूपी रज से नहीं बंधता है । इस तरह जैसे तेल मालिश के अभाव में धूलि का चिपकना नहीं होता है वैसे ही वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिभावों का अभाव होने से बंध नहीं होता है । इस प्रकार बंध के अभाव का जो कारण है उसके तात्पर्य के कथन रूप से पांच गाथायें हुई हैं ।

दूसरी बात यह है कि यहां जैसे पातनिका में कहा है कि संज्ञानी जीव शांतरस का स्वामी है और अज्ञानी जीव तो शृंगार आदि आठों रसों का स्वामी है । वैसे ही यहां अध्यात्म के विषय में नाटक के प्रारंभ के प्रकरण में नव रसों के स्वामी जानना चाहिये । इस तरह दस गाथासूत्रों के समुदाय से पहला स्थल पूर्ण हुआ ॥ २५७ से २६१ ॥

विशेषार्थ—यहां बंध के हेतु रागादिभाव हैं यह सिद्ध किया गया है । ये रागादि भाव किनके नहीं हैं और किनके हैं ? इसी पर कुछ विचार करना है । श्री अमृतचंद्रसूरि ने टीका में स्पष्ट कहा है कि “न सचित्तचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात् ।” सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात भी बंध का हेतु नहीं है अन्यथा समिति में तत्पर हुये मुनियों के भी बंध का प्रसंग आ जावेगा ।

इस वाक्य से यह निश्चित हो जाता है कि ईर्यासमिति से चलते हुये मुनि के पैर के नीचे अकस्मात् कोई जंतु उड़ता हुआ आकर दब कर मर जाये तो भी उनके हिंसा का दोष

नहीं लगता है क्योंकि ये ईर्यापथ से सावधान होते हुये चल रहे थे। “इसलिये न्याय के बल से यह सिद्ध हुआ कि उपयोग में जो रागादि का करना है वही बंध का हेतु है।”

इस कथन से यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण ही क्या, यह पूरा ग्रंथ ही मुनियों के लिये है।

यहां कोई कहे कि आचार्य ने उदाहरण में तालवृक्ष, कदलीवृक्ष आदि तोड़ने काटने से होने वाला संचित-अचित्त द्रव्य का उपघात लिया है और वह घात तो अवती के ही संभव है। सो पहली बात यह है कि उदाहरण सर्वदेश लागू नहीं होता है एक देश लागू होता है। ‘चन्द्रमुखी कन्या’ कहने से चन्द्रभा के समान उसका मुख सुंदर है न कि बिल्कुल सफेद, व आंख, नाक, कान आदि से रहित। वैसे ही यहां ताड़वृक्ष आदि को काटना आदि, ध्यायाम करने वाले के पक्ष में ही लेना है। यदि अवती में लेना होता तो श्री अमृतचंद्रसूरि भी कह सकते थे कि “संचित-अचित्त वस्तु का उपघात भी बंध में हेतु नहीं है, अन्यथा तालवृक्ष आदि को काटने वाले असंयमी के ही कर्मबंध का प्रसंग आ जावेगा। तथैव पंचसूना में प्रवृत्त हुये गृहस्थ को भी अथवा अनर्थदंड करने वाले, वृक्षादि काटने वाले के ही कर्म बंध का प्रसंग आ जायेगा।”

किंतु आचार्यश्री ने ऐसा नहीं कहा है क्योंकि असंयमी और देशव्रती गृहस्थ के तो पंचसूना आदि से कर्मबंध हो ही रहा है। तभी तो श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है कि—

गृहकर्मणापि निश्चितं, कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।

अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥ [रत्नकरण्डश्रावकाचार]

गृह के कार्यों से संचित हुये पाप कर्म को गृहत्यागी अतिथि—मुनियों की पूजा—आहार दान आदि भक्ति धो डालती है जैसे कि रक्त से भीगे हुये वस्त्र को जल धो देता है। क्योंकि कहा भी है—

“खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुंभः प्रमार्जनी, पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति” कूटना, पीसना, अग्नि जलाना, जल भरना और झाड़ू लगाना ये पांच सूना—आरंभ के कार्य गृहस्थ के होते हैं इसीलिये वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः यह निश्चित समझना कि उपर्युक्त सब प्रकरण मुनियों का ही है।

आजकल कुछ विद्वान “यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः।” का ऐसा अर्थ करते हैं कि उपयोग में रागादि का करना वही बंध का हेतु है। इससे विपरीत “मैं इन रागादिभावों का कर्ता नहीं हूँ, मैं इनका स्वामी नहीं हूँ, ये रागादि भाव होते हैं तो होते रहें मैं तो इनका ज्ञाता-दृष्टा मात्र हूँ।” बस ! ऐसा कहने से बंध नहीं होता है।

यह तो कथन मात्र आत्मवंचना ही है। इस उपर्युक्त पंक्ति का ऐसा अर्थ करना संगत है कि “उपयोग में रागादि भावों को करना, लाना, रागादि भावों से परिणत होना ही बंध का हेतु है।” इससे विपरीत “उपयोग में रागादि भावों को न करना, न लाना, रागादि भाव रूप परिणत

न होना, रागादिभावों को न करना ही बंध के अभाव का हेतु है।" यह वीतराग अवस्था छठे गुणस्थान में सुख-दुःख आदि में परम समता भाव से प्रारंभ होकर निर्विकल्प ध्यान में घटती है। और आगे जाकर क्षीणकषाय गुणस्थान में पूर्णरूप से घटती है वहीं यह जीव सर्वथा अबंधक होता है।

यह मान्यता संगत इसलिये है कि श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है कि यथाख्यात चारित्र के पहले-पहले दसवें गुणस्थान तक राग का अवश्य ही सद्भाव होने से वहां तक बंध अवश्यंभावी है।

दूसरी बात यह है कि यहां श्री जयसेनाचार्य ने प्रारंभ में उत्थानिका में ही कहा है कि "अथ गाथापंचकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्वंधाभावं दर्शयति।" आगे टीका में भी कहा है कि "निश्चयरत्नत्रय के सद्भाव से रागादि परिणामों को न करते हुये वह कर्मरज से नहीं बंधता है। अतः वीतराग सम्यग्दृष्टि के रागादि भावों का अभाव होने से कर्मबंध नहीं होता है।

यहां एक प्रश्न यह भी उठता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि के "सचित्ताचित्त वस्तु का उपघात कैसे संभव है ?"

उसका समाधान यह है कि मुनियों के छठे-सातवें गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त ही है अतः वे छठे से सातवें में, सातवें से छठे में आते-जाते रहते हैं। वहां पर दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करते हैं। उसमें श्री गौतमस्वामी ने कहा है कि ". अण्णहा उस्सासिण्ण वा णिस्सासिण्ण वा उम्मिस्सिण्ण वा, णिम्मिस्सिण्ण वा खासिण्ण वा छिक्किण्ण वा जंभाइण्ण वा, सुहुमेहिं अंगचलाचलेहिं, दिट्ठि चलाचलेहिं, एदेहिं सब्बेहिं असमाहिं पत्तेहिं आयारेहिं जाव अरहंताणं ।" अन्य प्रकार से उच्छ्वास के द्वारा या निश्वास के द्वारा, उन्मेष के द्वारा—पलक खोलने के द्वारा या निर्मेष—पलक झपकने के द्वारा, या खांसने से या छींकने से या जंभाई लेने से या सूक्ष्म अंगों को चल-अचल करने से या आंख को चलाचल करने से, इन सभी प्रकार के असमाधि को प्राप्त व्यापार—क्रियाओं से—प्रवृत्तियों से जो दोष लगे हैं—उनके विनाशार्थ आदि।

इस प्रकरण से यह समझना चाहिये कि सूक्ष्म अंगों का चलाचल होना, आंख का चलाचल होना आदि से भी तथा स्वासोच्छ्वास के लेने आदि से भी कुछ सूक्ष्म अचाक्षुष जीवों का घात होता ही रहता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि के वही सचित्ताचित्त उपघात विवक्षित होना चाहिये।

क्योंकि राग, द्वेष, हर्ष, हास्य, विनोद व कुतूहल आदि भावों के बिना भला केले के वृक्ष आदि का काटना कौन करेगा ? अतः यह वृक्ष आदि का घात मात्र उदाहरण तक ही लेना चाहिये। यह दृष्टान्त है दार्ष्टान्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये। और इसके समझते समय श्री अमृतचंद्रसूरि की उस पंक्ति को 'समिपितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्' हमेशा ध्यान में रखना चाहिये।

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ अ० ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२४७॥

आत्मख्यातिः—परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ॥ २४७ ॥

(उत्थानिका) —अथ वीतरागस्वभावं मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीवलक्षणं । तद्विपरीतं संज्ञानि-
लक्षणमिति प्रज्ञापयति,—

(२६२ ज०) जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।

स मूढोऽज्ञानी, ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२६२॥

उत्थानिका—अब मिथ्यादृष्टि के आशय को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः मन्यते हिनस्मि च परैः सत्त्वैः हिंस्ये) जो ऐसा मानता है कि मैं पर को मारता हूँ और पर जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ (सः मूढः अज्ञानी ज्ञानी तु अतः विपरीतः) वह मूढ़ है अज्ञानी है और ज्ञानी तो इससे विपरीत है ॥ २४७ ॥

आत्मख्याति—मैं परजीवों को मारता हूँ और पर जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ यह ऐसा जो अध्यवसाय/परिणाम है वह निश्चित ही अज्ञान है और यह परिणाम जिसके है वह अज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि है । जिसके ऐसा भाव नहीं है वह ज्ञानी होने से सम्यग्दृष्टि है ॥ २४७ ॥

उत्थानिका—अब वीतरागस्वरूप अपने स्वभाव को छोड़कर हिंस्य-हिंसक भाव से परिणमन करना अज्ञानी जीव का लक्षण है और इससे विपरीत संज्ञानी जीव का लक्षण है, ऐसा प्रज्ञापित करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो मण्णदि हिंसामि य परेहिं सत्तेहिं हिंसिज्जामि य) जो ऐसा मानता है कि मैं हिंसा करता हूँ और अन्य जीवों के द्वारा मारा जाता हूँ (सो मूढो अण्णाणी एत्तो दु विवरीदो णाणी) वह मूढ़ है अज्ञानी है और ज्ञानी तो इससे विपरीत है ॥२६२॥

(२६२)—पर जीवों का वध करता मैं ऐसा जो मानव मान रहा ।

पर से मेरा वध होता है ऐसा अज्ञानी जान रहा ॥

जिनके ऐसे परिणाम हुए वह मोही आत्मा कहलाता ।

इससे विपरीत भाव वाला ज्ञानी शुद्धात्मा कहलाता ॥ २४७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णणी यो मन्यते जीवानहं हिनस्मि परैः सत्त्वैरहं हिंस्ये इति च योसौ परिणामः स निश्चितमज्ञानः स एव बंधहेतुः स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी। णणी एतो दु विवरीदो एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःख-शत्रुमित्रनिंदाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने रतः स ज्ञानीत्यर्थः ॥२६२॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानं ? इति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।

आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसि ॥२४८ अ० ॥

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ॥२४८॥

तात्पर्यवृत्ति—जो ऐसा मानता है कि 'मैं जीवों को मारता हूँ—हिंसा करता हूँ और अन्य जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ।' इस प्रकार जो यह परिणाम है वह निश्चित ही अज्ञान है और वही बंध का हेतु है। वह परिणाम जिसके है वह अज्ञानी है। इस परिणाम से भिन्न जो जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र और निन्दा-प्रशंसा इत्यादि विकल्पों के विषय में राग द्वेष रहित है, शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए परमानन्द सुख के आस्वादन में लीन है अथवा भेदज्ञान में रत है वह ज्ञानी है। यहां ऐसा अर्थ समझना ॥२६२॥

विशेषार्थ—यह हिंस्य-हिंसक भाव से रहित अवस्था निर्विकल्प ध्यान में ही सम्भव है। हां, श्रद्धाज्ञान तो चतुर्थ गुणस्थान से ही शुरू हो जाता है अतः सम्यग्दृष्टि जीव किसी के मारने-जिलाने आदि के अहंकार को नहीं करता है और दूसरों से अपना विघात या बिगाड़ देखकर भी उसके प्रति बदला लेने का भाव नहीं करता है। कर्मों का उदय समझकर शान्ति रखता है और निश्चयनय से यह आत्मा शरीर व संसार से ही रहित है पुनः मारने-जिलाने की बात ही कहां है ऐसा समझता है। फिर भी सविकल्प अवस्था में अपने गुणस्थानों के योग्य हिंसा, झूठ आदि पापों का त्याग करके अहिंसा, सत्य आदि व्रतों को धारण करता है। जो अवती है उसकी तो यहां चर्चा ही नहीं है यहां तो मुनियों के लिए ही उपदेश है।

उत्थानिका—यह अध्यवसाय/परिणाम अज्ञान क्यों है ? सो ही कहते हैं—

(२६३)—अपनी आयु के क्षय से ही सब जीव मरण को करते हैं।

ऐसे जिनवर के वचन भला मिथ्या कैसे हो सकते हैं ? ॥

तुम आयुर्कर्म नहीं हर सकते तब पर का मरण किया कैसे।

अज्ञानभाव के कारण कर्मबन्ध को स्वयं किया वैसे ॥२४८॥

‘आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरं हि पण्णत्तं ।

आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहि ॥२४९ अ० ॥ (युग्मम्)

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥२४९ ॥

आत्मख्यातिः—मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् स्वायुः-
कर्म व नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य मरणं
कुर्यात् । ततो हि नस्मि हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥२४८ ॥२४९ ॥

(उत्थानिका) —अथ कथमध्यवसायः पुनरज्ञानं ? इति चेत्—

(२६३ ज०) आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरं हि पण्णत्तं ।

आउं ण हरेसि तुमं, कह ते मरणं कदं तेसिं ॥

आयुः क्षयेण मरणं, जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

आयुर्न हरसि त्वं, कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ॥२६३ ॥

अन्वयार्थ—(आयुःक्षयेण जीवानां मरणं जिनवरैः प्रज्ञप्तं) आयु के क्षय से जीवों का मरण
होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (आयुः त्वं न हरसि कथं त्वया तेषां मरणं कृतं) तुम आयु का
हरण करते नहीं अतः कैसे तुमने उन जीवों का मरण किया ? (आयुःक्षयेण जीवानां मरणं
जिनवरैः प्रज्ञप्तं) आयु के क्षय से जीवों का मरण होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (तव आयुः
ते न हरंति) तुम्हारी आयु वे अन्य हरण करते नहीं हैं पुनः (तैः कथं मरणं कृतं) उन जीवों ने
कैसे तुम्हारा मरण किया ? ॥ २४८-२४९ ॥

आत्मख्याति—जीवों का मरण नियम से उनकी अपनी आयु के क्षय से ही होता है क्योंकि आयु
के क्षय के अभाव में मरण को कराना अशक्य है । अन्य किसी का भी अपना आयु कर्म अन्य किसी
के द्वारा हरा नहीं जा सकता है वह तो अपने उपभोग से ही क्षय होती है । इसलिए किसी भी प्रकार से
अन्य कोई व्यक्ति अन्य किसी को पार नहीं सकता है अतः मैं किसी को मारता हूँ और कोई मुझे मारता
है इस प्रकार का आशय निश्चित ही अज्ञान है ॥२४८-२४९ ॥

उत्थानिका—यह हिंस्य-हिंसक का अभिप्राय अज्ञान कैसे है ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आउक्खयेण जीवाणं मरणं जिणवरं हि पण्णत्तं) आयु के क्षय से जीवों का
मरण होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है (तुमं आउं ण हरेसि ते मरणं तेसिं कह कदं) तुम
आयु का हरण नहीं कर सकते हो पुनः उन जीवों का मरण तुमने कैसे किया ? ॥२६३ ॥

जीवों का मरण आयु क्षय से होता यह जिनवरदेव कहा ।

सो मैं परजीवों से मारा जाता हूँ यह अज्ञान महा ॥

परजीव तेरे आयुर्कर्मों का हरण नहीं कर सकते हैं ।

फिर उनके द्वारा मरण तेरा जानी कैसे कह सकते हैं ॥२४९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं । आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं तेषामायुःकर्म च न हरसि त्वं तस्यायुषः स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथं ते त्वया तेषां मरणं कृतमिति ॥२६३॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवों का मरण आयु के क्षय से ही होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है और उन किन्हीं भी जीवों का आयु कर्म तुम हर नहीं सकते क्योंकि उनकी आयु अपने-अपने उपभोग से ही समाप्त होती है तो फिर भत्ता तुमने उनका मरण कैसे किया ? ॥२६३॥

विशेषार्थः—यहां पर कर्म सिद्धांत की प्रमुखता है । यहां जो आयु के क्षय से मरण माना है उसमें उदय और उदीरणा दोनों को लेना चाहिये । क्योंकि शास्त्रों में अकालमरण का भी वर्णन है । यथा—

विसवेदणरत्तक्खय-भयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।

अहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जदे आऊं ॥२५॥

विषभक्षण से, वेदना के निमित्त से, रक्त के निकल जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय हो जाता है । अर्थात् आयु की उदीरणा होकर अकाल में मरण हो जाता है इसलिए सर्वथा आयु पूरी होने से ही जीव मरते हैं ऐसा एकांत नहीं ग्रहण करना चाहिये क्योंकि यह गाथा भी श्रीकुंदकुंददेव ने ही अपने भावपाहुड़ ग्रंथ में लिखी है ।

यहाँ पर २४९ वीं गाथा की टीका श्री जयसेनाचार्यकृत नहीं है अतः उन्हें यह गाथा नहीं प्राप्त हुई थी ऐसा समझना । अगली २५० वीं गाथा भी श्री जयसेनाचार्यकृत टीका में नहीं है ।

यहाँ पर जो यह कह रहे हैं कि 'मैं किसी को मारता हूँ' या 'कोई मुझे मारता है' यह अभिप्राय अज्ञान है और इस तरह के भावों को करने वाला पुरुष भी मिथ्यादृष्टि है । यहां से गाथा २४७ से २५१ तक अमृतचंद्र सूरि के अनुसार गाथायें हैं और २६२ से २७१ तक श्री जयसेनाचार्य के अनुसार गाथायें हैं । इनका शब्दशः अर्थ करने से कुछ विद्वान् 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धांत को ही मिथ्यात्व कह देते हैं । वास्तव में इन गाथाओं को पढ़ते समय आगे-पीछे का सन्दर्भ अवश्य जोड़ना चाहिए क्योंकि ये गाथाएं तो सूत्ररूप होती हैं । देखो, श्री उपास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र है 'न देवाः'^१ ॥५१॥ इसका अर्थ बड़े से बड़ा वैय्याकरण यही करेगा कि 'देव नहीं हैं' किन्तु वहां पहले सूत्र से संबंध जोड़कर ही अर्थ करना संगत होता

है। इससे पहले सूत्र है—'नारकरांम्पूर्छिनो नपुंसकानि' ॥५०॥ नारकी और संमूर्छन से जन्म लेने वाले जीव नपुंसक ही होते हैं पुनः देव नपुंसक नहीं होते हैं ऐसे ही यहां समझना। पूर्व में गाथाओं की टीका में स्वयं श्री अमृतचन्द्रसूरि ने ऐसा कहा है कि समिति में तत्पर हुए आदि के सचित्ताचित्त के घात से भी बंध नहीं होता है क्योंकि बंध का कारण वहां राग का सद्भाव है इसलिए वीतरागी के कर्म बंध नहीं होता है यह सिद्ध किया है। अतः यहाँ भी वीतरागी के ही ये मारने आदि के आगे कही जाने वाली गाथाओं से तो जिलाने, सुखी-दुःखी करने आदि के भाव होते ही नहीं हैं यदि होते भी हैं तो वे महापुनि ऐसा चिंतन करते हैं कि इन्हीं जीवों के या मेरे पुण्यपापोदय से ऐसा जीना-मरना, सुखी-दुःखी करना या होना होता है वास्तव में मैं तो निमित्तमात्र हूँ इत्यादि। यह बात आगे गाथा १५१ अ०, (१६४ ज०) में श्रीजयसेनाचार्य ने स्पष्ट की है।

पहली बात तो यह है कि यहाँ पर मारने-जिलाने, सुखी-दुःखी करने या स्वयं दूसरों द्वारा मरने-जीने तथा सुखी-दुःखी होने का एकांत छुड़ाकर कर्म सिद्धांत का विचार करना बताया है। यदि एकांत से कोई कर्मसिद्धांत को न मानकर पर का कर्ता-हर्ता मानता रहे तो मिथ्यात्व होगा ही। देखो, मैनासुंदरी ने भी तो कर्मसिद्धांत पर दृढ़ रहकर पिता के कोप का भाजन बनकर भी कुष्ठी पति के साथ ब्याही जाने पर भी अपनी दृढ़ता नहीं छोड़ी थी।

दूसरी बात यह है कि आगे चलकर स्वयं श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि पर जीवों को दुःखी करने और मारने के भाव से हिंसा नाम का पाप होता है अतः उससे पाप बंध होता है और सुखी करने, जिलाने के भाव अहिंसा हैं उनसे पुण्य बंध होता है। वे गाथायें ये हैं—

(२७२) दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥

(२७३) मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥

पुनः गाथा २६२ अ० में कहते हैं कि जीवों को मारो या मत मारो किन्तु मारने के भावों से कर्मबंध होता है ऐसा यह निश्चयनय का कथन है। पुनः गाथा २६३-२६४ अ०, २७५-२७६ ज० में कहा है कि— इसी प्रकार से झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह में जो परिणाम हैं उनसे पाप बंध होता है और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के परिणामों से पुण्य बंध होता है।

आगे कलशकाव्य १७२ में श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—

मोहैककंदोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१७२॥

मोह के निमित्त से होने वाला यह अध्यवसाय जिनके नहीं है वे यति ही हैं। आगे चलकर श्री कुंदकुंददेव ने स्वयं कह दिया है कि—

(१८७) एदाणि पन्थि जेसि अज्झवसण्णाणि एवमादीणि ।

ते असुहेण सुहेण व कम्मेण 'मुणी' ण लिप्पंति ॥१७०॥

ये हिंसा-अहिंसा आदि के अध्यवसाय—परिणाम जिनके नहीं हैं ऐसे मुनि ही शुभ अथवा अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं।

यह शुभ-अशुभ दोनों कर्मों के बंध से रहित अवस्था बारहवें गुणस्थान में ही महामुनियों के होती है।

उसके पहले मुनिराज पांच पापों को छोड़कर पापबंध से छूटते हैं किंतु जिलाने—दया पालने व सुखी करने आदि के भावरूप पांच महाव्रतों से पुण्य का बंध अवश्य करते हैं फिर भी उनके प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है। जैसा कि कहा है—

घटियाजलं व कम्पे अणुसमयमसंखगुणियसेदीए ।

णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पाव' ॥६०॥

जब महाव्रती मुनियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र के जल के समान असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पापबंध कैसे सम्भव है ? अर्थात् कथमपि उनके पापबंध नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अहंकार भाव मिथ्यात्व है' उसको छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनि पापों से रहित होकर महाव्रती बनकर पुण्य का संचय करते हुए परंपरा से पुण्य-पाप से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। अतः इस समयसार के स्वाध्याय में पूर्वापर संबंध जोड़कर पढ़ाने वाले ऐसे नयविज्ञ गुरुओं के मुख से अर्थ समझना चाहिये। अन्यथा यही समयसार शास्त्र निश्चयाभासी एकांती जनों के लिए शस्त्र बनकर उनके लिए स्व-पर घाती बन जाता है। अतः शास्त्र को शस्त्र न बनाकर भगवान की वाणी का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। वास्तव में यह शास्त्र महामुनियों के लिए ही है। कहीं पर भी किसी गाथा में भी श्री कुंदकुंददेव ने गृहस्थ पद का प्रयोग नहीं किया है और न श्री अमृतचन्द्रसूरि ने ही गृहस्थ पद रखा है प्रत्युत दोनों आचार्यों ने जगह-जगह पर 'मुनि, यति, संयत' पदों का ही प्रयोग किया है। अतः छोटे गुणस्थानवर्ती मुनि से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि तक के विषय का, बल्कि प्रमुखता से शुद्धोपयोग में तत्पर होने का ही इसमें उपदेश है।

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्ता ? इति चेत्—

१जो मण्णटि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० अ० ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरैः सत्त्वैः ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५० ॥

आत्मख्यातिः—परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वान् सम्यग्दृष्टिः ॥ २५० ॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् ?—

उत्थानिका—मरण के अभिप्राय को तो अज्ञान कहा है, इससे विपरीत जीने-जिलाने के अध्यवसाय—परिणाम की क्या बात है ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः मन्यते जीवयामि च परैः सत्त्वैः च जीव्ये) जो ऐसा मानता है कि मैं दूसरों को जिलाता हूँ और दूसरे जीवों के द्वारा मैं जीवित रखा जाता हूँ (सः मूढः अज्ञानी ज्ञानी अतः तु विपरीतः) वह मूर्ख है अज्ञानी है और ज्ञानी तो इससे विपरीत है ॥ २५० ॥

आत्मख्याति—मैं परजीवों को जिलाता हूँ और परजीव मुझे जीवित रखते हैं यह जो अध्यवसाय—परिणाम है वह निश्चित ही अज्ञान है और यह अज्ञान जिसके है वह अज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि है । यह अज्ञान जिसके नहीं है वह ज्ञानी होने से सम्यग्दृष्टि है ॥ २५० ॥

उत्थानिका—यह अध्यवसाय अज्ञान क्यों है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं ।

पर को मैं जीवित रखता हूँ ऐसा अज्ञानी जान रहा ।

पर जीव मुझे जीवित रखते ऐसा जो प्राणी मान रहा ॥

जिनके ऐसे परिणाम हुए वह मोही आत्मा कहलाता ।

इससे विपरीत भाव वाला ज्ञानी शुद्धात्मा बन जाता ॥ २५० ॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सच्चण्हू ।

आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसि ॥ २५१ अ० ॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सच्चण्हू ।

आउं च ण दिति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहि ॥ २५२ अ० ॥ (युग्मम्)

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणति सर्वज्ञाः ।

आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥ २५१ ॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणति सर्वज्ञाः ।

आयुश्च न ददाति तुभ्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥ २५२ ॥

आत्मख्याति—जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् । आयुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात् । अतो जीवयामि जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥ २५१ । २५२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवः आयुः उदयेन जीवति एवं सर्वज्ञाः भणंति) यह जीव आयु कर्म के उदय से जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं । (च त्वं आयुर्न ददासि कथं त्वया तेषां जीवितं कृतं) और तुम आयु देते नहीं हो पुनः कैसे तुमने उनको जीवित रखा ? (जीवः आयुरुदयेन जीवति एवं सर्वज्ञाः भणंति) जीव आयु कर्म के उदय से जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं (च आयुः तुभ्यं न ददाति कथं नु ते तैः जीवितं कृतं) और आयु वे तुम्हें देते नहीं हैं पुनः कैसे उन्होंने तुम्हें जीवन दिया ? ॥ २५१-२५२ ॥

आत्मख्याति—नियम से जीवों का जीवित रहना तो उनके अपने-अपने आयु कर्म के उदय से ही है, उस आयु कर्म के अभाव में तो किसी के उस जीवन का रखना अशक्य ही है और आयु कर्म अन्य किसी के द्वारा अन्य किसी को दिया नहीं जा सकता क्योंकि आयु तो अपने परिणाम से ही उपार्जित की गई है इसलिये किसी भी प्रकार से अन्य कोई अन्य किसी को जीवित नहीं रख सकता है । अतः 'मैं जिलाता हूँ और मैं अन्य के द्वारा जीवित रखा जाता हूँ' यह अभिप्राय नियम से अज्ञान ही है ।

विशेष—यहां २५२ वीं गाथा की टीका श्री जयसेनाचार्यकृत नहीं है अतः उनकी गाथाओं में यह सम्मिलित नहीं है ऐसा समझना ।

(२६४)—निज आयु उदय के ही बल पर सब प्राणी जीवित रहते हैं ।

ऐसे जिनवर के वचन भला मिथ्या कैसे हो सकते हैं ? ॥

तुम पर को आयु न दे सकते तो जीवित कैसे कर सकते ।

अज्ञान भाव के कारण ही तुम अहंकार करते रहते ॥ २५१ ॥

जीना तो आयु उदय से हो ऐसी जिनवर की वाणी है ।

मैं पर जीवों को जिला रहा यह भाव करे अज्ञानी है ॥

पर जीव तेरी बांधी आयु को बढ़ा कभी नहीं सकते हैं ।

फिर उनसे जीवितपना तेरा ज्ञानी कैसे कह सकते हैं ॥ २५२ ॥

(२६४ ज०) आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं, कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥

आयुरुदयेन जीवति, जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।

आयुश्च न ददासि त्वं, कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥ २६४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः । आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं आयुःकर्म च न ददासि त्वं तेषां जीवानां तस्यायुषः स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतं ? न कथमपि । किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसंवित्तिलक्षणत्रिगुणत्रिगुप्तसमाधौ स्थातव्यं तावत् । तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन अस्य मरणं करोमि, अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जातः इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः ॥ २६४ ॥

उत्थानिका—इसे ही श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवो आउउदयेण जीवदि एवं सव्वण्हू भणंति) जीव अपनी आयु के उदय से जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं (आउं ण देसि तुमं च तए तेसिं जीविदं कहं कदं) तुम आयु किसी को देते नहीं हो पुनः तुमने उन जीवों को जीवित कैसे किया ? ॥ २६४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह जीव आयु के उदय से जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं और तुम उन जीवों को आयु कर्म दे नहीं सकते हो क्योंकि वह आयु अपने-अपने शुभ-अशुभ परिणाम से ही उपार्जित की जाती है पुनः तुमने किसी को जीवित कैसे किया ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं किया ।

यहां विशेष बात यह है कि ज्ञानी पुरुष—मुनि को तो स्वसंवेदनलक्षण तीन गुणों से सहित—निश्चयरत्नत्रय से परिणत ऐसी तीन गुप्तिरूप समाधि में स्थित होना चाहिये और यदि उस निर्विकल्प ध्यान में न स्थित हो पावे तो अशक्य अनुष्ठान रूप से—प्रमाद से 'मैं इसका मरण करता हूँ—मैं इसको मारता हूँ, मैं इसको जिलाता हूँ' इत्यादि प्रकार से जब विकल्प होते हैं तब ज्ञानी पुरुष मन में ऐसा चिंतन करे कि इस जीव के शुभ अथवा अशुभ कर्मों का उदय होने पर जीवन या मरण हुआ है मैं तो इसमें निमित्तमात्र ही हो गया हूँ ऐसा मानकर मन में राग-द्वेष रूप अहंकार नहीं करना चाहिये यहां ऐसा अभिप्राय समझना ॥ २६४ ॥

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एवैव गतिः—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।

सो मूढो अप्पणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३ अ० ॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५३ ॥

विशेषार्थ—यहां श्री अमृतचंद्रसूरि की दो गाथायें हैं और श्री जयसेनाचार्य की टीका में एक ही ऊपर की गाथा है नीचे की नहीं है। यह गाथाओं का अंतर इन दोनों आचार्यों द्वारा की गई टीकाओं में प्रत्येक पंथ में है। यह क्यों है ? इसका उत्तर हम और आप के पास आज नहीं है। जो भी हो अपने लिये दोनों ही आचार्य प्रमाण हैं अतः इस विषय में अधिक विकल्प करने से कोई लाभ नहीं है ऐसी मेरी मान्यता है। यहां गाथा में जो भी जीवनदान देने की—अहिंसा व्रत को पालने की बात है वह निषिद्ध नहीं की गई है प्रत्युत अहंकार भाव को छुड़ाकर निर्विकल्प ध्यान में ले जाने के लिये ही आचार्यदेव का यह प्रयास है ऐसा समझना चाहिये। इन गाथाओं को पढ़कर 'अपने रक्षक जनों का उपकार न मानना' ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिये। प्रत्युत हमने जिनकी रक्षा की है उन पर एहसान नहीं थोपना चाहिये। यह व्यक्ति अपने पुण्योदय से ही जीवित बच गया है मैं तो इसमें निमित्तमात्र हूं ऐसा सोचकर उससे प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखना चाहिये।

श्री विष्णुकुमार महामुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा के लिये मुनिपद छोड़कर वामन वेष धारण करके उपसर्ग निवारण किया था आज भी उनके गुणों का गान किया जाता है और उनके श्री चरणों की पूजा की जाती है अतः सर्वथा एकांत नहीं लेना चाहिये।

उत्थानिका—दुःख और सुख को करने के अभिप्राय की भी यही गति है अर्थात् दूसरों को दुःखी-सुखी करने का भाव भी अज्ञान है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः मन्यते तु इति आत्मना सत्त्वान् दुःखितसुखितान् करोमि) जो ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा अन्य जीवों को दुःखी और सुखी करता हूं (सः मूढः अज्ञानी ज्ञानी तु अतः विपरीतः) वह मोही है, अज्ञानी है और ज्ञानी तो इससे विपरीत है ॥ २५३ ॥

(२६५)—मैं पर को सुखी दुःखी करता जो जीव मानता है ऐसा।

पर जीव मुझे सुख दुःख देते जो अध्यवसाय करे ऐसा ॥

वह मूढात्मा अज्ञानपने से मिथ्यादृष्टी कहलाता।

ज्ञानी इससे विपरीत भावकर सम्यग्दृष्टी कहलाता ॥ २५३ ॥

आत्मख्यातिः—परजीवानहं दुःखितान् सुखिताश्च करोमि । परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेहं इत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वान् सम्यग्दृष्टिः ॥ २५३ ॥

(उत्थानिका) —अथ दुःखसुखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति;—

(२६५ ज०) जो अप्पणो दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।

सो मूढो अप्पणाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

य आत्मनो तु मन्यते, दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

स मूढोऽज्ञानो ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २६५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो अप्पणो दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति यः कर्ता आत्मनः संबंधत्वेन मन्यते । किं ? दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं । सो मूढो अप्पणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानः स एव बंधकारणं स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा एतस्माद्विपरीतः परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति ॥ २६५ ॥

आत्मख्याति—परजीवों को मैं दुःखी या सुखी करता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं दुःखी या सुखी किया जाता हूँ ऐसा जो अभिप्राय है वह निश्चित ही अज्ञान है । वह अज्ञान जिसके है वह अज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि है और वह जिसके नहीं है वह ज्ञानी होने से सम्यग्दृष्टि है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब दुःख और सुख भी निश्चय से अपने कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(जो मण्णदि दु अप्पणो सत्तेति दुक्खिदसुहिदे करेमि) जो मानता है कि मैं अपने से अन्य जीवों को दुःखी और सुखी करता हूँ (सो मूढो अप्पणाणी) वह मूढ़ है, अज्ञानी है (णाणी एत्तो दु विवरीदो) और ज्ञानी इससे विपरीत है । ॥ २६५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो कर्ता आत्मा अपने संबंध में ऐसा मानता है कि 'मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ।' यहां जो 'अहं' यह परिणाम है वह निश्चित ही अज्ञान है और वही बंध का कारण है । वह परिणाम जिसके है वह अज्ञानी है—बहिरात्मा है । इससे विपरीत जो मुनि परमोपेक्षा नाम के संयम की भावना से परिणत ऐसे अभेदरत्नत्रय लक्षण भेदज्ञान में स्थित हैं वे ज्ञानी हैं ऐसा समझना ॥ २६५ ॥

विशेषार्थ—यह परमोपेक्षा नाम का संयम ही सामायिक चारित्र कहलाता है इसे ही निर्विकल्प ध्यान कहते हैं, यही निश्चयरत्नत्रय है और यही अभेदरत्नत्रय है। यह सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है और नवमें गुणस्थान तक माना जाता है। यहां ऐसे निर्विकल्प ध्यानी मुनि को ही ज्ञानी कहा है। इससे अतिरिक्त इन पर को सुखी-दुःखी करने के तथा परके द्वारा अपने को सुखी-दुःखी होना मानने के 'अहंकार भाव' को मिथ्यात्व कहकर उसके कर्ता को बहिरात्मा और अज्ञानी कह दिया है।

इस समयसार में महामुनि को संबोधित करते हुये आचार्यदेव उसे ध्यान में स्थिर रहने की बात करते हैं और उससे विपरीत को एकदम पहला गुणस्थानवर्ती कह देते हैं। बीच के चतुर्थ और पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकों पर इनकी दृष्टि नहीं रहती है। सो यहां ऐसा घटाना चाहिये कि—

निजार्जितं कर्म विहाय देहि नो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन ।

विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुंच शेमुषीम् ॥

जीवों के अपने द्वारा उपार्जित कर्मों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति किसी को भी कुछ भी—सुख या दुःख नहीं दे सकता है इस प्रकार से सावधानचित्त होकर विचार करते हुये 'अन्य कोई सुख-दुःख देता है' हे आत्मन् ! तुम ऐसी बुद्धि को छोड़ दो। इस पद्य में कहे अनुसार कर्मसिद्धांत पर अटल विश्वास रखने वाले सम्यग्दृष्टि अव्रती या श्रावक बहिरात्मा नहीं हैं प्रत्युत जघन्य और मध्यम अंतरात्मा हैं। पुनः वे भी निश्चय नय से तत्त्व चिंतन करते हुये सामायिक के समय ऐसी भावना भाते हैं कि 'मुनि बनकर निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर मैं भी ऐसी निश्चयरत्नत्रयरूप समाधि को कब प्राप्त करूंगा ?' ऐसी भावना भाते हुये मिथ्यात्वजन्य अहंकार भाव से दूर रहते हैं ऐसा यहां अभिप्राय लेना चाहिये। मैनासुंदरी के पिता राजा पुहुपाल का अहंकार मिथ्यात्वजन्य था तथा जीवंधर कुमार के द्वारा दिये गये महामंत्र ने श्वान को यक्षेन्द्र बना दिया और उसने देव होकर जीवन भर जीवंधर स्वामी का उपकार किया तब वह कृतज्ञ कहलाया अतः उपकार को सर्वथा नहीं मानना भी कृतघ्नता नाम से महादोष है इसलिये सर्वथा एकांत नहीं पकड़ना चाहिये। यहां गाथा में 'अप्पणा' के स्थान में श्री जयसेनाचार्य ने 'अप्पणो' पाठ माना है।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

कम्पोदण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥ २५४ अ० ॥

कम्पोदण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण दिति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ अ० ॥

कम्पोदण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण दिति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ अ० ॥ (त्रिकलम्)

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।

कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्तैः ॥ २५४ ॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।

कर्म च न ददति तव कृतोसि कथं दुःखितस्तैः ॥ २५५ ॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।

कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥ २५६ ॥

उत्थानिका—यह अध्यवसाय/भाव अज्ञान क्यों हैं ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यदि सर्वे जीवाः कर्मोदयेन दुःखितसुखिताः भवन्ति) यदि सभी जीव कर्मों के उदय से दुःखी या सुखी होते हैं (च त्वं कर्म न ददासि) और तुम कर्म देते नहीं हो (कथं ते दुःखितसुखिताः कृताः) पुनः तुमने उन्हें कैसे दुःखी या सुखी किया ? (यदि सर्वे जीवाः कर्मोदयेन दुःखितसुखिताः भवन्ति) यदि सभी जीव कर्मों के उदय से दुःखी-सुखी होते हैं (च कर्म तव न ददति) और वे कोई तुम्हें कर्म देते नहीं हैं (कथं तैः दुःखितः कृतः असि) तो पुनः कैसे उनके द्वारा तुम

(२६६)—सब अपने अपने कर्म उदय से ही सुख दुःख को पाते हैं ।

अपने सुख दुःख फल के कारण वे सुखी दुःखी कहलाते हैं ॥

कर्मों का यह सिद्धान्त अटल तू कर्म उन्हें नहीं दे सकता ।

तो हे भाई ! तू उन जीवों को सुखी दुःखी कैसे करता ॥ २५४ ॥

(२६७)—सब जीव स्वयं के कर्मोदय से सुखी दुःखी होते रहते ।

वे जीव तुझे कर्मों के देने में सक्षम नहीं हो सकते ॥

तो उनके द्वारा तू कैसे दुःखरूप अवस्था पा सकता ।

व्यवहार भले कह दे ऐसा पर निश्चयनय नहीं कह सकता ॥ २५५ ॥

(२६८)—जब निज कर्मोदय से ही सब जीवों को सुख दुःख मिलता है ।

वे तुझको कर्म न दे सकते यह ही निष्कर्ष निकलता है ॥

तो उनके द्वारा तू अपने को कैसे सुखी बना सकता ।

अपनी आत्मा का सच्चा सुख शुद्धात्म ध्यानी पा सकता ॥ २५६ ॥

आत्मख्यातिः—सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात् । स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैवोपाज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात् । अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखितदुःखितश्च क्रिये चेत्यध्यवसायो धुत्रमज्ञानं ॥ २५४ । २५५ । २५६ ॥

वसंततिलका—सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यं ।

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यं ॥ १६८ ॥

वसंततिलका—अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यति ये मरणजीवितदुःखसौख्यं ।

कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ १६९ ॥

दुःखी किये गये हो ? (यदि सर्वे जीवाः कर्मोदयेन दुःखितसुखिताः भवन्ति) यदि सभी जीव कर्मों के उदय से दुःखी और सुखी होते हैं । (च कर्म तव न ददति कथं तैः त्वं सुखितः कृतः) और वे तुम्हें कर्म देते नहीं हैं पुनः कैसे उन्होंने तुम्हें सुखी किया ? ॥ २५४—२५५—२५६ ॥

आत्मख्याति—सुख और दुःख ये दोनों नियम से जीवों के अपने-अपने कर्मों के उदय से ही होते हैं । उन कर्म के उदय के अज्ञान में उन दोनों का होना असंभव है । अपना कर्म तो अन्य को अन्य के द्वारा देना शक्य नहीं है क्योंकि वह तो अपने परिणामों से ही उपार्जित किया जाता है, इसलिये किसी भी प्रकार से अन्य जीव अन्य किसी जीव को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता है । अतः 'मैं सुखी या दुःखी करता हूँ, और मैं अन्य किसी के द्वारा सुखी या दुःखी किया जाता हूँ' इस प्रकार का अभिप्राय नियम से अज्ञान है ॥ २५४ से २५६ ॥

इसे ही कलशकाव्यों से कहते हैं—

काव्यार्थ—इस संसार में हमेशा सभी जीवों को जो मरण-जीवन और दुःख-सुख होते हैं वे अपने-अपने कर्मों के उदय से ही होते हैं यह निश्चित है । यह अज्ञान ही है कि जो अन्य कोई पुरुष किसी का मरण-जीवन या दुःख-सुख का करता है । १६८ ।

काव्यार्थ—इस अज्ञान को प्राप्तकर जो मनुष्य पर जीवों से पर के मरण-जीवन, दुःख-सुख को देखते हैं—विश्वास करते हैं वे अहंकार के रस से कर्मों को करने के इच्छुक होते हुये मिथ्यादृष्टि हैं और निश्चित ही अपनी आत्मा का घात करने वाले हैं । १६९ ।

भावार्थ—जो यह अहंकार भाव है वह मिथ्यात्वरूप है यह अहंकारभाव जब तक दूर नहीं होता है तब तक राग द्वेष पैदा होते रहते हैं । इससे यह जीव अपने भाव प्राणों का घात करते हुये आत्मघाती कहलाता है । कहा भी है—

इस जग में सदा सभी जीवों का जनम मरण जो चलता है ।

उनके सुख दुःख में उनका निश्चित कर्म उदय ही रहता है ॥

जो पर के जनम मरण सुख दुःख में निज को कर्ता कहते हैं ।

वे अज्ञानी कहलाते हैं मिथ्यात्व भाव में रहते हैं ॥ १६८ ॥

ऐसे अज्ञान को प्राप्त मनुज पर से पर का सुख दुःख देखे ।

विश्वास करें पर जनम मरण में अभिमानी होते रहते ॥

कर्मों को करने के इच्छुक वे मिथ्यादृष्टि कहे जाते ।

निज आत्मा के घाती निश्चित वे शुद्ध अवस्था नहीं पाते ॥ १६९ ॥

(उत्थानिका) —अथ परस्य सुख-दुःखं करोमीत्यध्यवसायकः कथमज्ञानी जातः ? इति चेत्—

(२६६ ज०) कम्मणिमित्तं सव्वे, दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सत्ता ।

कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते ॥

(२६७ ज०) कम्मणिमित्तं सव्वे, दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सत्ता ।

कम्मं च ण देसि तुमं, कह तं सुहिदो कदो तेसिं ॥

(२६८ ज०) कम्मोदयेण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण देसि तुमं, कह तं दुहिदो कदो तेसिं ॥

कर्मनिमित्तं सर्वे, दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सत्त्वाः ।

कर्म च न ददासि त्वं, दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥ २६६ ॥

कर्मनिमित्तं सर्वे, दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सत्त्वाः ।

कर्म च न ददासि त्वं, कथं सुखितः कृतस्तैः ॥ २६७ ॥

कर्मोदयेन जीवा, दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।

कर्म च न ददासि त्वं, कथं त्वं दुःखितः कृतस्तैः ॥ २६८ ॥

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

राग, द्वेष, मोह, भावों का उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है और इनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है ऐसा जिनागम का सार है। अतः यह अहिंसाभाव निर्विकल्पध्यानी मुनि के ही होता है उसके पहले रागद्वेषादि भावों के होते रहने से आत्मा का घात होता रहता है। इसी से यह आत्मघाती कहलाता है। यहां भी गुणस्थानों की अपेक्षा से जैसे-जैसे रागादि भावों का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे ही आत्मा का घात कम होते-होते जब पूर्णतया रागादि का अभाव हो जाता है तब यह पूर्णतया आत्मा का हितंकर होकर पूर्ण सुखी हो जाता है।

उत्थानिका—मैं पर को सुखी-दुःखी करता हूं यह भाव करने वाला अज्ञानी कैसे हुआ ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जदि सव्वे सत्ता कम्मणिमित्तं दुक्खिदसुहिदा हवन्ति) यदि सभी प्राणी कर्मों के निमित्त से दुःखी और सुखी होते हैं (च तुमं कम्मं ण देसि) और तुम कर्मों को देते नहीं हो (कहं ते दुक्खिदसुहिदा कदा) पुनः तुमने दुःखी-सुखी कैसे किया ? (जदि सव्वे सत्ता कम्मणिमित्तं दुक्खिदसुहिदा हवन्ति) यदि सभी प्राणी कर्मों के निमित्त से दुःखी या सुखी होते हैं (च तुमं कम्मं ण देसि) और तुम कर्मों को देते नहीं हो (तेहिं तं कह सुहिदो कदो) पुनः तुमने

तात्पर्यवृत्तिः—कम्पणिमित्तं सख्ये दुःखिदसुहिदा हवन्ति यदि सत्ता यदि चेत् कर्मोदयनिमित्तं सर्वे सत्त्वा जीवाः सुखितदुःखिता भवन्ति ? कम्पं च ण देसि तुमं दुःखिदसुहिदा कहं कदा ते तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं कथं ते जीवास्त्वया सुखितदुःखिताः कृताः न कथमपि ? कम्पणिमित्तं सख्ये दुःखिदसुहिदा हवन्ति यदि सत्ता यदि चेत्कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवाः सुखितदुःखिता भवन्ति कम्पं च ण देसि तुमं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं सुखीकृतस्तैः ? न कथमपि । कम्पोदयेण जीवा दुःखिदसुहिदा हवन्ति यदि सख्ये यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति कम्पं च ण देसि तुमं कहं तं दुहिदो कदो तेहिं तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं दुःखीकृतस्तैः ? न कथमपि । किं च तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् 'अन्यस्मै परजीवाय सुखदुःखे ददामि', इति विकल्पं न करोति । यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदुःखं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति—अस्य जीवस्यांतरंगपुण्यपापोदयो जातः अहं पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविषादपरिणामेन गर्वं न करोति इति । एवं परजीवानां जीवितमरणं सुखदुःखं करोमीति व्याख्यानमुख्यतया गाथासप्तकेन द्वितीयस्थलं गतं ॥ २६६ से २६८ ॥

उन्हें सुखी कैसे किया ? (जदि सख्ये जीवा कम्पोदयेण दुःखिदसुहिदा हवन्ति) यदि सभी जीव कर्मों के उदय से दुःखी या सुखी होते हैं (च तुमं कम्पं ण देसि) और तुम कर्मों को तो देते नहीं हो (तेहिं तं कहं दुहिदो कदो) पुनः उन्होंने तुम्हें दुःखी कैसे किया ? अर्थात् कर्म के निमित्त से तुम्हें सुख-दुःख होता है अतः तुम्हें कोई भी सुखी-दुःखी नहीं कर सकता है ॥ २६६ से २६८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यदि कर्मोदय के निमित्त से सभी जीव सुखी अथवा दुःखी होते हैं तब शुभ-अशुभ कर्म तो तुम देते नहीं हो पुनः तुमने उन जीवों को सुखी या दुःखी कैसे किया ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं किया है । यदि कर्मों के निमित्त से सभी जीव सुखी-दुःखी होते हैं और शुभ-अशुभ कर्म तुम उन किन्हीं जीवों को देते नहीं हो तो पुनः उन जीवों ने भी तुम्हें कैसे सुखी किया ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं किया । यदि कर्मों के उदय से सभी जीव सुखी-दुःखी होते हैं तब तो तुम शुभ-अशुभ कर्म किन्हीं जीवों को दे नहीं सकते हो पुनः अन्य किन्हीं के द्वारा तुम दुःखी कैसे किये जा सकते हो ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं । यहां विशेष बात यह है कि तत्त्वज्ञानी जीव 'अन्य किन्हीं भी जीवों को मैं सुख या दुःख देता हूं', ऐसा विकल्प नहीं करता है । जब पुनः निर्विकल्प समाधि के अभाव में प्रमाद से 'मैं सुखी-दुःखी करता हूं' ऐसा विकल्प होता है तब वह मन में ऐसा चिंतवन करता है कि 'इस जीव के अंतरंग में पुण्य अथवा पाप का उदय हो गया मैं तो उस सुख या दुःख में निमित्तमात्र ही हूं', ऐसा मानकर वह तत्त्वज्ञानी मन में हर्ष-विषाद परिणाम करके गर्व नहीं करता है ऐसा यहां समझना । इस प्रकार से 'मैं पर जीवों के जीवन-मरण या सुख-दुःख को करता हूं' इस व्याख्यान की मुख्यता से सात गाथाओं द्वारा यह दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥ २६६ से २६८ ॥

विशेषार्थ—यहां कर्तापने के अहंकार भाव को छुड़ाने के लिये यह उपर्युक्त उपदेश है किंतु इससे सर्वथा एकांत नहीं लेना चाहिये। जब कोई अपने उपकारी का उपकार भूल जाता है, कर्तव्य से पराङ्मुख हो जाता है तब उसका भान कराने के लिये ऐसा कहना भी पड़ता है अन्यथा व्यवहार ही नहीं चल सकता है। उदाहरण के लिये जब श्री रामचंद्र ने वनवास में सुग्रीव को मित्र बनाया उसके ऊपर आये संकट को दूर करने के लिये सुग्रीव वेषधारी साहसगति विद्याधर को भार दिया तब सुग्रीव को श्रीराम की सीता का पता लगाना आवश्यक था किंतु सुग्रीव ने प्रमाद कर दिया। कई दिनों बाद श्रीराम को सीता के वियोग से अतीव दुःखी देख लक्ष्मण ने सुग्रीव के यहां पहुंच कर क्रोध में गर्जना की—

“अरे पापी ! जब कि महापुरुष श्रीराम स्त्री के दुःख में निमग्न हैं, तब रे दुर्बुद्धे ! तू अपनी स्त्री सुतारा के साथ सुख में क्यों मग्न हो रहा है ? अरे दुष्ट ! मैं तुझ भोगासक्त को अभी वहीं पहुंचाये देता हूँ कि जहां श्रीराम ने तेरी आकृति धारण करने वाले ऐसे कृत्रिम सुग्रीव को पहुंचाया है।” इत्यादि प्रकार से क्रोध करते हुये लक्ष्मण को नमस्कार कर शीघ्र ही सुग्रीव ने क्षमायाचना की और पुनः सीता की खोज करने के लिये यत्र-तत्र विद्याधरों को भेज दिया, इत्यादि।

ऐसे दूसरा उदाहरण है—जब लव-कुश के युद्ध के बाद पिता-पुत्र का मिलन हो गया तब सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि श्रीरामचंद्र से आज्ञा लेकर पुंडरीकपुर से सीता को ले आये। सीता सभा में प्रवेश कर श्रीराम के समीप पहुंची कि रामचंद्र ने उद्देग में आकर कहा—

“सीते ! दूर हटो, मैं तुम्हें देखने के लिये समर्थ नहीं हूँ....इत्यादि।” जो सीता वन में निकाली जाने के बाद जंगल के नाना कष्टों को भोगने के बाद भी यही कह रही थी कि श्रीरामचंद्र का कुछ भी दोष नहीं है मेरे पूर्वकृत पाप कर्मों का ही यह फल है....इत्यादि। वही सीता इस समय आवेश में आकर बोलती है—

“हे राघव ! तुम्हारे समान कोई भी निष्ठुर नहीं है। जैसे साधारण मनुष्य उत्तम विद्या का तिरस्कार कर देता है वैसे ही तुम मेरा तिरस्कार कर रहे हो। हे कुटिलहृदय ! दोहला के बहाने वन में मुझ गर्भिणी को छुड़वाना क्या तुम्हें उचित था ? यदि मैं कुमरणा को प्राप्त हो जाती तो भला तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता ? यदि मेरे ऊपर आपका किंचित् भी

सद्भाव था तो आपने मुझे आर्यिकाओं की वसतिका के पास क्यों नहीं छोड़वाया था ? यथार्थ में अनाथ, अबधु, दरिद्र और अत्यंत दुःखी मनुष्यों के लिये यह जिनशासन ही परम शरण है।”

इतना सब सुनकर श्री रामचंद्र ने शांति से कहा—

“हे देवि ! मैं तुम्हारे निर्दोष शील को अच्छी तरह जानता हूँ फिर भी लोकापवाद से ही मैंने ऐसा किया था सो अब तुम प्रजा को विश्वास दिलाओ”। अनंतर अग्निपरीक्षा का निर्णय लिया गया। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि कर्तव्य का भान कराने वाली सीता मिथ्यादृष्टि नहीं हो गई थीं।

ऐसे ही श्री विष्णुकुमार महामुनि का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

“विक्रियाऋद्धि का निश्चय कर श्रीविष्णुकुमार महामुनि हस्तिनापुर आये और पहले राजा पद्म के पास जाकर बोले—हे पद्मराज ! राज्य पाते ही तुमने यह क्या कार्य प्रारंभ कर दिया ? ऐसा कार्य तो इस अपने कुरुवंश में आज तक कभी भी नहीं हुआ है इत्यादि।” पुनः जब पद्मराजा ने अपनी असमर्थता बतलाते हुये कहा कि—“प्रभो ! बलिमंत्री ने सात दिन के लिये राज्य को ले लिया है अतः उस दुष्ट को समझाने में आप ही समर्थ हैं।” तब महामुनि ने उस बलि से तीन पैर मात्र पृथ्वी को मांगकर अपनी विक्रिया से एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा तथा तीसरा पैर ऊपर उठाया किंतु उसे रखने की जगह न मिलने से उस क्षण सारा आकाश और भूमंडल क्षुब्ध हो उठा। देवों ने आकर बलि मंत्री को बांधकर मुनियों का उपसर्ग दूर किया और विष्णुकुमार मुनि से क्षमा याचना कर उनके श्रीचरणों की पूजा की इत्यादि।”

श्री महामुनि विष्णुकुमार ने परम कारुणिक भाव से सात सौ मुनियों की रक्षा की थी। उस समय उन्होंने अपनी ऋद्धि का भी प्रयोग किया था। किंतु ये बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि नहीं हुये थे प्रत्युत परम वात्सल्य गुण के धारी भावलिङ्गी मुनि ही थे।

अतः जिलाने का अहंकार गलत है किंतु जीवनदान देना ही तो अहिंसाव्रत है। इससे पुण्यबंध तो होता ही है परंपरा से मोक्ष भी होता है ऐसा समझना।

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सब्बो ।

तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७ अ० ॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।

तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८ अ० ॥ (युगलम्)

यो प्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।

तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५७ ॥

यो न प्रियते न च दुःखितः सोपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।

तस्मात्तु मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५८ ॥

आत्मख्यातिः—यो हि प्रियते जीवति वा दुःखितो भवति सुखितो भवति च स खलु कर्मोदयेनैव तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्^१ । ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ॥ २५७ । २५८ ॥

उत्थानिका—आगे इसी अर्थ को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः प्रियते च यः दुःखितः जायते सः सर्वः कर्मोदयेन) जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मों के उदय से ही होता है (तस्मात् तु मारितः च दुःखितः इति ते खलु मिथ्या न) अतः मैंने मारा और मैंने दुःखी किया ऐसा तुम्हारा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? (यः न प्रियते च न दुःखितः च सोऽपि कर्मोदयेन च एव खलु) जो न मरता है और न दुःखी होता है वह भी कर्मोदय से ही है (तस्मात् न मारितः च न दुःखित इति खलु मिथ्या न) अतः उसे मैंने नहीं मारा और न दुःखी किया इस प्रकार से क्या यह मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मिथ्या ही है ॥ २५७-२५८ ॥

आत्मख्याति—जो नियम से मरता है अथवा जीवित रहता है, दुःखी होता है या सुखी होता है वह वास्तव में कर्मों के उदय से ही होता है। उस कर्म के उदय के अभाव में उसका वैसा होना अशक्य है। इसलिये मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया और इसे सुखी किया इस प्रकार देखते हुये—श्रद्धान करते हुये जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ २५७-२५८ ॥

(२६९)—इस जग में जो प्राणी मरते या दुखी कभी भी होते हैं ।

निज कर्मोदय के कारण ही वे मोहनीद में सोते हैं ॥

इस कारण मारा गया दुःखी वह किया गया मेरे द्वारा ।

ऐसा कहना मिथ्या ही है इसलिए मिले नहि शिवद्वारा ॥ २५७ ॥

(२७०)—जो जीव नहीं मरते न दुखी होते वह भी कर्मोदय से ।

संसारचक्र में परिवर्तन करते हैं निज कर्मोदय से ॥

इस कारण मारा नहीं दुःखी नहीं किया गया ऐसा कहना ।

मिथ्या ही है अतएव कर्मबन्धन को पड़ता है सहना ॥ २५८ ॥

अनुष्टुप्—मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।

य एवाध्यवसायोय-मज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥ १७० ॥

(उत्थानिका) —अथ परो जनः परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदुःखं करोतीति योसौ मन्यते स बहिरात्मेति प्रतिपादयति,—

(२६९ ज०) जो मरदि जो य दुहिदो, जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।

तह्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥

(२७० ज०) जो ण मरदि ण य दुहिदो, सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो ।

तह्हा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ (युगलम्)

छाया—यो प्रियते यश्च दुःखितो, जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।

तस्मात्तु मारितस्ते, दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २६९ ॥

यो न प्रियते न च दुःखितः, सोऽपि च कर्मोदयेन खलु जीवः ।

तस्मात्तु मारितस्ते, दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २७० ॥

इसे ही कलश काव्य से कहते हैं—

काव्यार्थ—मिथ्यादृष्टिजीव का जो यह अध्यवसाय है सो यह प्रत्यक्ष में अज्ञानरूप ही देखा जाता है । सो ही बंध का हेतु है क्योंकि वह विपरीत है । १७० ।

अब आप श्रीजयसेनाचार्य के सरलशब्दों में देखिये ।

उत्थानिका—अन्य जन अन्य जीवों का निश्चय से जीवन-मरण, सुख-दुःख करते हैं ऐसा जो मानता है वह बहिरात्मा है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो मरदि य जो दुहिदो जायदि सो सव्वो कम्मोदयेण) जो मरता है और जो दुःखी होता है वह स्वयं के कर्मों के उदय से ही होता है (तह्हा दु मारिदो दुहाविदो दे चेदि ण मिच्छा) इसलिये मैंने मारा या मैंने दुःखी किया ऐसा तुम्हारा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? (जो ण मरदि य ण दुहिदो य सोवि जीवो खलु कम्मोदयेण) जो न मरता है और न दुःखी होता है वह जीव भी कर्मों के उदय से ही ऐसा है) तह्हा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिये उसे मैंने नहीं मारा और न दुःखी किया, इस प्रकार का अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मिथ्या ही है ॥ २६९-२७० ॥

इस मिथ्यादृष्टि पुरुष का जो यह अध्यवसाय दिखा करता ।

वह बन्ध का कारण है निश्चित विपरीत स्वभाव बना रहता ॥

पर को मारा या दुःखी किया अथवा पर को सुख पहुँचाया ।

यह भाव तुम्हारा मिथ्या है यह तथ्य गुरु ने समझाया ॥ १७० ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्पोदयेण सो सज्जो यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते तथा तु म्रिदिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा तस्मात्कारणात् मया मारितो दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोयं न खलु मिथ्या ? किंतु मिथ्यैव । जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्पोदयेण खलु जीवो यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति । कोऽसौ ? जीवः खलु स्फुटं स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव तथा ण मारितो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा तस्मात् कारणात् न मारितो मया न दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोयं न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव । अनेनापध्यानेन स्वस्वभावाच्च्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थः ॥ २६९।२७० ॥

एसा दु जा मई दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।

एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥ २५९ अ० ॥

एसा तु या गतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

एसा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २५९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब ही कर्मों के उदय से ही होता है । इस कारण से 'मैंने इसको मारा है और दुःखी किया है' इस प्रकार का जो तुम्हारा अभिप्राय है क्या यह मिथ्या नहीं है ? किंतु मिथ्या ही है । जो जीव न मरता है और न दुःखी होता है वह सभी कर्मों के उदय से है । इस कारण से 'न मेरे द्वारा वह मारा गया है और न दुःखी किया गया है' इस प्रकार का जो तुम्हारा अभिप्राय है क्या वह मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मिथ्या ही है । इस प्रकार के अपध्यान द्वारा अपने स्वभाव से च्युत होकर यह जीव कर्मों को ही बांधता रहता है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥ २६९—२७० ॥

विशेषार्थ—इस तरह मैंने मारा या दुःखी किया अथवा मैंने नहीं मारा—हिंसा नहीं की जीवित रखा और दुःखी नहीं किया—क्लेश नहीं पहुंचाया । ये हिंसा और अहिंसारूप दोनों प्रकार के भाव विकल्परूप हैं । ये निर्विकल्पध्यानी मुनि के नहीं होते हैं अतः वे विकल्प से परे हुये महासाधु ही कर्मों का बंध नहीं करते हैं । हां, जो सम्यग्दृष्टि चतुर्थ, पंचम या छठे गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वोदय से हुये 'अहंकार' भावरूप परिणामों को छोड़कर कर्मसिद्धांत पर दृढ़ श्रद्धा कर लेते हैं तब वे अपने-अपने गुणस्थान के योग्य कर्मप्रकृतियों के बंध का अभाव करते रहते हैं अतः वे बहिरात्मा नहीं होते हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—यही भाव शुभ-अशुभ बंध का कारण है ऐसा कहते हैं—

(२७१)—यदि तेरी मति ऐसी है मैं जीवों को सुखी दुखी करता ।

इस मोहितमति के द्वारा तू शुभ अशुभ बन्ध करता रहता ॥

ऐसा जो अध्यवसाय भाव मिथ्यादृष्टी के होता है ।

इससे वह प्राणी वीतराग सम्यग्दृष्टी नहीं होता है ॥ २५९ ॥

आत्मख्यातिः—परजीवानहं हिनस्मि न हिनस्मि दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽ-
ध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः ॥ २५९ ॥

(उत्थानिका) —अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्बन्धकारणं भवतीति कथयतिः—

(२७१ ज०) **एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।**

एसा दे मूढमदी, सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥

एसा तु या मतिस्ते, दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

एसा ते मूढमतिः, शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २७१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एसा दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति एसा या मतिस्ते तव दुःखितसुखितान्
करोम्यहं सत्त्वान् एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं सैषा भवदीया मतिः हे मूढमते ! स्वस्वभावच्युतस्य
शुभाशुभं कर्म बध्नाति न किमन्यत्कार्षमस्ति इति ॥ २७१ ॥

अन्वयार्थः—(ते एसा तु या मतिः इति सत्त्वान् दुःखितसुखितान् करोमि) तुम्हारी जो यह
बुद्धि है कि मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ (एसा ते मूढमतिः शुभाशुभं कर्म बध्नाति) यह
तुम्हारी मूढबुद्धि शुभ-अशुभ कर्म को बांधती है ।

आत्मख्यातिः—पर जीवों को मैं मारता हूँ या नहीं मारता हूँ दुःखी करता हूँ या सुखी करता
हूँ इस प्रकार का जो यह अज्ञानमय परिणाम है वही भाव मिथ्यादृष्टि के स्वयं रागादिरूप होने से
उस मिथ्यादृष्टि के लिये शुभ और अशुभ कर्म बंध का हेतु है ॥ २५९ ॥

उत्थानिका—पूर्व में दो गाथाओं में कहा गया वही मिथ्याज्ञानमय भाव मिथ्यादृष्टि के बंध
का कारण है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थः—(दे एसा दु जा मदी सत्तेति दुक्खिदसुहिदे करेमि) तुम्हारी जो यह बुद्धि है कि
मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ (एसा दे मूढमदी सुहासुहं कम्मं बंधदे) यह तुम्हारी मूढ बुद्धि
शुभ-अशुभ कर्म को बांधती है ॥ २७१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो यह तुम्हारी बुद्धि है कि मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ। हे
मूढमते ! ऐसी जो तुम्हारी मति है वह अपने स्वभाव से च्युत हुये तुम्हारे शुभ और अशुभ कर्मों
का बंध कराती है । उसका अन्य कुछ भी कार्य नहीं है ऐसा समझना ॥ २७१ ॥

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति—

दुःखिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६० अ० ॥

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६१ अ० ॥ (युग्मम्)

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६० ॥

मारयामि जीवयामि च सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६१ ॥

उत्थानिका—यह अज्ञान परिणाम बंध का हेतु है ऐसा निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—(ते यदेवं अध्यवसितं सत्त्वान् दुःखितसुखितान् करोमि) तेरा यह अभिप्राय है कि मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ (तत् पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति) वह ही अभिप्राय पाप का बंधक है अथवा पुण्य का बंध करने वाला है। (सत्त्वान् च मारयामि जीवयामि ते तदेवं अध्यवसितं) मैं जीवों को मारता हूँ और जिलाता/जीवित रखता हूँ यह जो तेरा अभिप्राय है (तत् पापबंधकं वा पुण्यस्य बंधकं वा भवति) वह पाप का बंध करने वाला या पुण्य का बंध करने वाला ही होता है ॥ २६०-२६१ ॥

(२७२)—मैं पर को दुखी सुखी करता ऐसा जो अध्यवसाय तेरा ।

पापों का बन्ध किया करता यदि दुःख देने का भाव तेरा ।

यदि सुखी किसी को करने का तेरा परिणाम हुआ करता ।

तो पुण्य कर्म का बन्धक बन रागी ही सदा बना रहता ॥ २६० ॥

(२७३)—मारूँ या जीवन देऊँ ये जब भाव तेरे हो जाते हैं ।

तो पाप पुण्य के योग्य कर्म भी स्वयं बंध हो जाते हैं ॥

सविकल्प अवस्था में ही अज्ञानी इन भावों को करता ।

अविकल्प अवस्था में ज्ञानी शुद्धात्म भावना में रमता ॥ २६१ ॥

आत्मखुशालिः—य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोध्यवसायः स एव बंधहेतुः इत्यवधारणीयं न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वादबंधस्य तद्धेतुत्वंतरमन्वेष्टव्यं । एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि, मारयामि इति, सुखयामि, जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात् ॥ २६० ॥ २६१ ॥

आत्मखुशालिः—जो यह मिथ्यादृष्टि का अज्ञान से उत्पन्न हुआ रागमय परिणाम है वही बंध का हेतु है ऐसा निश्चय करना चाहिये । पुण्य और पाप के भेद से बंध दो भेद रूप है अतः उन दोनों के कारण भिन्न-भिन्न नहीं समझना चाहिये । इस एक ही परिणाम से दुःखी करता हूं, मारता हूं तथा सुखी करता हूं और जिलाता हूं इस प्रकार दो तरह के शुभ-अशुभ अहंकार भावरूप रस के अतिशयभार से दोनों ही पुण्य और पाप के बंध में हेतु अविरोधरूप से हैं ॥ २६०-२६१ ॥

विशेषार्थः—रागमय विभाव परिणाम की अपेक्षा कर्मबंध का कारण एक है क्योंकि मैं मारता हूं, दुःखी करता हूं या सुखी करता हूं, जिलाता हूं, ये दोनों प्रकार के भाव निश्चयनय की अपेक्षा से विभावरूप ही हैं ।

यहां श्री अमृतचन्द्रसूरि ने टीका में मात्र रागभाव ही लिया है फिर भी दुःखी करना और मारने के भाव द्वेष से ही होते हैं । श्रीशुभचंद्राचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहा है—

यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।

उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रमत्यधिकं मनः ॥

जहां राग पैर रखता है वहां द्वेष आता ही आता है और इन दोनों का अबलंबन लेकर यह मन अधिक विकृत होता है या अधिक पराक्रम दिखाने लगता है ।

स्वस्वभाव में स्थित होने से आत्मा के जो शुद्ध परिणाम होते हैं उनसे ही कर्म बंध का संवर होता है फिर भी व्यवहारनय की अपेक्षा से मारने व दुःखी करने के भाव अशुभ हैं उनसे पाप बंध होता है और जिलाने/बचाने तथा सुखी करने के भाव शुभ हैं उनसे पुण्यबंध होता है ऐसा गाथा में बिल्कुल स्पष्ट श्री कुंदकुंददेव ने ही स्वयं कहा है । अब यहां सोचना यह है कि जब तक हमें शुद्धोपयोग रूप स्वभाव भाव की प्राप्ति नहीं होती है तब तक मारने और दुःखी करने के अशुभ भावों को तो सर्वथा छोड़ ही देना उचित है और दया के तथा सुखी करनेरूप उपकार के भाव बनाना श्रेयस्कर है । ये शुभ भाव ही आगे शुद्धभाव की प्राप्ति के लिये कारण बनते हैं । हां, शुभभावों का भी 'मैंने तुझे जिलाया और मैंने तुझे सुखी किया', यह अहंकार भाव छोड़ देना चाहिये । अपने को निमित्तमात्र मानकर वैराग्य भाव की वृद्धि करते रहना चाहिये । भला कौन ऐसा बुद्धिमान है जो श्रीकुंदकुंददेव की इन गाथाओं को पढ़कर पुण्य को छोड़कर पाप में प्रवृत्ति करना चाहेगा ? अतः प्रारंभ की 'जो मण्णादि हिंसामि' इत्यादि २४७ से २६१ अ० गाथा तक संदर्भ जोड़ना चाहिये ।

(उत्थानिका) —अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव बंधहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं दृढयति—

(२७२ ज०) दुःखिदसुहिदे सत्ते, करेमि जं एवमज्झवसिदं ते^१ ।

तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥

(२७३ ज०) मारेमि जीवावेमि य, सत्ते जं एव मज्झवसिदं ते^२ ।

तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ युग्मम् ॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा, पुण्यस्य च बंधकं भवति ॥२७२॥

मारयामि जीवयामि च, सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा, पुण्यस्य च बंधकं भवति ॥२७३॥

तात्पर्यवृत्तिः—दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं कर्ता यदेवमध्यवसितं रागाद्यध्यवसानं ते तव शुद्धात्मभावनाच्युतस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा बंधकारणं भवति न चान्यत् किमपि दुःखादिकं कर्तुमायाति । कस्मात् ? इति चेत्, तस्य सुखदुःखपरिणामस्य लीखस्य स्वोपाजितशुभशुभकर्माधीनत्वात् इति । मारयामि जीवयामि सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा तदेव बंधकं भवति न चान्यत् किमपि कर्तुमायाति । कस्मात् ? इति चेत्, तस्य परजीवस्य जीवितमरणादेः स्वोपाजितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ॥ २७२, २७३ ॥

श्रीजयसेनाचार्य के शब्दों में देखिये—

उत्थानिका—अब निश्चयनय से रागादि परिणाम ही बंध के कारण होते हैं। ऐसे प्रतिपादनरूप से उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—(दे जं एवमज्झवसिदं सत्ते दुःखिदसुहिदे करेमि) तुम्हारा जो यह अभिप्राय है कि मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ (तं पावबंधगं वा य पुण्णस्स बंधगं होदि) वह अभिप्राय पाप का बंध कराने वाला है या पुण्य का बंध कराने वाला ही होता है। (दे जं एवमज्झवसिदं सत्ते मारेमि य जीवावेमि) जो तुम्हारा यह अभिप्राय है कि मैं जीवों को मारता हूँ या जीवित रखता हूँ (तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि) इससे पापबंध या पुण्यबंध ही होता है ॥ २७२-२७३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—मैं जीवों को दुःखी और सुखी करता हूँ जो यह तुम्हारा अभिप्राय है वह शुद्धात्मा की भावना से च्युत हुये ऐसे तुम्हारे पाप अथवा पुण्य बंध का कारण होता है इससे भिन्न अन्य कोई भी दुःख आदि को करने के लिये नहीं आता है क्योंकि ये जो सुख-दुःख परिणाम हैं वे इस जीव के अपने द्वारा ही उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के आधीन हैं। इसी प्रकार से मैं जीवों को मारता हूँ या जिलाता हूँ ये जो तुम्हारे भाव हैं वे भी शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान

वं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायात—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।

एसो बंधसमासो जीवाणं निश्चयणयस्स ॥ २६२ ॥

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।

एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥ २६२ ॥

और अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रय से शून्य होने पर ही तुम्हारे पाप अथवा पुण्य के बंधक होते हैं ये इन पाप-पुण्य से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं करते हैं । क्योंकि परजीवों का जीवित रहना, मरना आदि उनके अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के ही आधीन हैं ऐसा समझना ॥ २७२-२७३ ॥

भावार्थ—यहां कर्मसिद्धांत से विचार किया गया है कि जो कुछ भी हमें सुख या दुःख हो रहा है वह स्वयं पूर्व में हमारे द्वारा संचित किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से ही हो रहा है अन्य व्यक्ति या वस्तु तो निमित्तमात्र हैं । ऐसे ही अन्य किसी को जो कुछ भी सुख या दुःख अथवा जीवन या मरण हो रहा है वह सब उसके अपने द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के निमित्त से ही हो रहा है उसमें भी मैं निमित्तमात्र हूं । अतः 'अहंभाव' को छोड़कर कर्म सिद्धांत का चिंतन करना चाहिये । पुनः आगे निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर इन विकल्पों से दूर होकर पुण्य-पाप दोनों का संवर करना चाहिये । यह अवस्था तो महापुनियों की चतुर्थकाल में ही संभव है अतः आज चतुर्थ, पंचम, छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के लिये तो पापबंध के कारण ऐसे हिंसा परिणाम को छोड़कर पुण्यबंध के लिये कारण और परंपरा से मोक्ष के लिये कारण ऐसे शुभभावमय अहिंसाधर्म को प्रीति पूर्वक धारण करना चाहिये । अहंकार भाव तो त्याज्य ही है अतः उससे भी दूर रहना चाहिये । अब नय की अपेक्षा घटित करते हुये स्वयं श्रीकुंदकुंददेव कह रहे हैं ।

उत्थानिका—जो यह हिंसा का परिणाम है वही हिंसा है यह बात घटित हो गई ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सत्त्वान् मारयतु वा मा मारयतु अध्यवसितेन बंधः) जीवों को मारो अथवा मत मारो, परिणाम से बंध होता है (निश्चयनयस्य जीवानां एषः बंधसमासः) निश्चयनय की अपेक्षा से जीवों का यह बंध का कथन संक्षेप से है ॥ २६२ ॥

(२७४)—जीवों को मारो अथवा मत मारो यह निज की परिणति है ।

मन के परिणामों के बल पर कर्मों की स्थिति पड़ती है ॥

निश्चयनय के मत में तो जीवों का ऐसा ही विवरण है ।

परभाव ग्रहण करने वाला व्यवहार न्याश्रित प्रकरण है ॥ २६२ ॥

आत्मख्यातिः—परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद् भवतु, कदाचिन्मा भवतु । य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य (व्यपरोपणस्य) परेण कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २६२ ॥

(उत्थानिका) —अथैवं निश्चयनयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं विचार्यमाणं—

(२७४ ज०) अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि ।

एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥

अध्यवसितेन बंधः, सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।

एष बंधसमासो, जीवानां निश्चयनयस्य ॥ २७४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि अध्यवसितेन परिणामेन बंधो भवति, सत्त्वान् मारय मा वा मारय एसो बंधसमासो एष प्रत्यक्षीभूतो बंधसमासः बंधसंक्षेपः । तद्विपरीतेन निरुपाधिचिदानंदैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमासः । केषां ? जीवाणं णिच्छयणयस्स जीवानां निश्चयनयस्येति । एवं जीवितमरणसुखदुःखानि परेषां करोमीत्यध्यवसाय एव बंधकारणं, प्राणव्यपरोपणादिव्यापारो भवतु मा भवतु । एवं सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यानं त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थलं गतं ॥ २७४ ॥

आत्मख्याति—परजीवों के अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के निमित्त से प्राणों का वियोग कदाचित् हो या न हो किंतु जो यह 'मैं मारता हूं।' ऐसा जो अहंकार के रस से भरित हिंसा का भाव है निश्चय से वही भाव उस जीव के बंध का हेतु है क्योंकि निश्चयनय से परभावरूप जो प्राणों का वियोग करना है वह पर के द्वारा करना अशक्य है ॥ २६२ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार निश्चयनय से जो यह हिंसा का अभिप्राय है वही हिंसा है विचार करने पर यह बात सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि) भावों से ही बंध होता है जीवों को मारो या मत मारो) (णिच्छयणयस्स जीवाणं एसो बंधसमासः) निश्चयनय से जीवों का यह बंध का संक्षिप्त कथन है ॥ २७४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवों को मारो या मत मारो, परिणाम से ही बंध होता है यह प्रत्यक्षरूप से बंध का संक्षिप्त कथन है इससे विपरीत उपाधिरहित चिदानंद एक लक्षण निर्विकल्प समाधि से मोक्ष होता है ऐसा यह मोक्ष का संक्षिप्त कथन है । अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा से जीवों के बंध-मोक्ष का यह संक्षेप से कथन है । इस तरह 'परजीवों के जीवन-मरण और सुख-दुःख को मैं करता हूं' ऐसे परिणाम ही बंध के कारण हैं परजीवों के प्राणों का घात आदि होवे या न होवे । यह सब जानकर रागादि भावरूप अपध्यानों का त्याग कर देना चाहिये । इस व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथासूत्रों द्वारा यह तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥ २७४ ॥

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बन्धहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबन्धचरे^१ परिग्रहे चेव ।

कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥ २६३ अ० ॥

तहवि य सच्चं दत्ते बन्धे अपरिग्रहत्तणं चेव ।

कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ २६४ अ० ॥ (युग्मम्)

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं यत्नेन तु बध्यते पापं ॥ २६३ ॥

तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं यत्नेन तु बध्यते पुण्यं ॥ २६४ ॥

भावार्थ—निश्चयनय से यहां अशुद्धनिश्चयनय लेना चाहिये । इस निश्चयनय की अपेक्षा से यदि किसी ने किसी को मारने का भाव किया और उसे मारने के लिये प्रयास भी किया किंतु यदि उसके पुण्य कर्म का और आयु का उदय विशेष है तो वह नहीं मरा फिर भी उस जीव के मारने के परिणाम से जीव के कर्मों का बंध तो हो ही गया ऐसे ही यदि कोई मुनि सर्व रागादिभावों को छोड़कर निर्विकल्प ध्यान में स्थित हो गये तो वे कर्मबंध से रहित मुक्त हो जाते हैं । यह बंध-मोक्ष का संक्षिप्त कथनरूप सार है ।

उत्थानिका—यह परिणाम ही पाप और पुण्य के बंध का हेतु है ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं अलीके अदत्ते अब्रह्मचर्ये चैव परिग्रहे यत् अध्यवसानं क्रियते) इसी प्रकार से असत्य बोलने में, चोरी करने में, कुशील सेवन में और परिग्रह में जो परिणाम किये जाते हैं । (तेन तु पापं बध्यते) उनसे तो पापकर्म बंध जाता है (तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि चैव अपरिग्रहे यत् अध्यवसानं क्रियते तेन तु पुण्यं बध्यते) उसी प्रकार से सत्य में, अचौर्य में, ब्रह्मचर्य में और अपरिग्रह में जो परिणाम किये जाते हैं उनसे तो पुण्य बंधता है ॥ २६३-२६४ ॥

(२७५)—ऐसे ही झूठ बोलने में चोरी आदिक में भी जानो ।

अब्रह्मचर्य व परिग्रह में कर्ता के भाव प्रमुख मानो ॥

यह अध्यवसान भाव ही तो पापों का बन्ध कराता है ।

इनसे छुटते ही शुद्धात्म ज्ञानी का पद पा जाता है ॥ २६३ ॥

(२७६)—यू ही जो सत्य अचौर्य अपरिग्रह ब्रह्मचर्य पालन करता ।

इन सभी व्रतों के पालन का शुभ भाव हृदय में है धरता ॥

व्रत पालन के परिणामों से ही पुण्यबन्ध हो जाता है ।

निश्चय नय तक पहुंचाने में यह कारण भी हो जाता है ॥ २६४ ॥

आत्मरुद्धातिः—एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः। यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मपरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतुः ॥ २६३ । २६४ ॥

आत्मरुद्धातिः—इस प्रकार अज्ञान से जैसे हिंसा में जो यह अध्यवसाय—परिणाम किया जाता है वैसे ही झूठ बोलना, चोरी करना, कुशीलपेदन करना और परिग्रह संचय करना इन चार पापों में जो परिणाम होते हैं वे सभी केवल पाप बन्ध के ही हेतु हैं। जैसे अहिंसा में जो परिणाम किये जाते हैं वैसे ही सत्य बोलना, दी हुई वस्तु ग्रहण करना, ब्रह्मचर्य पालना और परिग्रह का त्याग करना इन चार व्रतों में जो भाव होते हैं वे सभी केवल पुण्यबन्ध के ही हेतु हैं ॥ २६३-२६४ ॥

विशेषार्थः—इन दो गाथाओं में तो श्रीकुन्दकुन्ददेव ने बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप हैं। इन पापों के करने से सर्वथा पाप बन्ध ही है। इनसे विपरीत इन पांचों पापों के त्याग से हुये जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच व्रत हैं उन्हें ही महाव्रत कहते हैं, इनसे पुण्यबन्ध ही होता है। यहां पर परिग्रह परिमाणवत् न होने से ये पांच महाव्रत रूप ही यहां विवक्षित हैं जो कि मुनियों के ही होते हैं। आगे यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन पांच व्रतों को धारण करके ही मुनि बनते हैं और मुनि बनकर ही निश्चयव्रतरूप ध्यान अवस्था में पहुंच कर सर्वनयों से, सर्वविकल्पों से परे होकर कर्मबन्ध से छूट सकते हैं। बिना पांच पापों को छोड़े और बिना पांच महाव्रतों को ग्रहण किये आज तक न कोई शुक्लध्यानी—आत्मध्यानी हुये हैं और न होवेंगे ही। अतः यहां पाठकों को स्वयं निर्णय करना चाहिये कि हम पाप बन्ध के हेतु ऐसे हिंसादि को करें या पुण्यबन्ध के हेतु तथा परंपरा से मोक्ष के लिये हेतु ऐसे अहिंसा—जीवदया आदि को करें। यह बात ध्यान में रखना कि इन दोनों के मध्य की कोई तीसरी अवस्था बीच की है ही नहीं। हां, इन व्रतों के आगे निर्विकल्प ध्यानरूप तीसरी अवस्था होती है जो कि इन महाव्रतों के धारण किये बिना सर्वथा ही असंभव है। तीर्थंकरों ने भी महाव्रत धारण कर ही आत्मध्यान करके आत्मसिद्धि पाई है, बिना मुनि बने तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं हुए हैं। अतः पांच पाप के त्याग रूप पांच व्रतों का महत्त्व स्पष्ट ही है।

गाथा २६०-२६१ की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि "मैं दुःखी करता हूं, मार डालता हूं या मैं सुखी करता हूं, जीवनदान देता हूं" इस तरह दोनों प्रकार के भाव शुभ और अशुभ अहंकार रस से परिपूर्ण होने से ये दोनों ही पुण्य और पाप बन्ध के हेतु हैं। यहां इन २६३-२६४ गाथाओं में कहा है कि इसी प्रकार से झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से पापबन्ध होता है और सत्य आदि से पुण्य बन्ध। यहां यह बात ध्यान में देने योग्य है कि जैसे हिंसा और अहिंसा में अहंकार भाव प्रमुख होने से मिथ्यादृष्टि कहा है वैसे ही यहां भी समझना। 'मैंने ही इस जीव को मार डाला या मैंने ही इसे बचा लिया—जीवन दान दिया।' मैं न होता तो यह मरता भी नहीं या मैं न जिलाता तो यह बचता भी नहीं, मैं ही इसका मरण या जीवन का कर्ता हूं। ऐसा उपादानरूप से ही मानकर अपने को अन्य जीवों के जीवन-मरण में निमित्तिमात्र नहीं मानने

से मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसी तरह से झूठ आदि शेष चार पापों के बारे में व सत्य आदि व्रतों के बारे में भी समझना चाहिये।

जब जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब वस्तु स्थिति का विचार करने से और कर्मसिद्धांत को समझने से वह 'अहंकार' भाव नहीं रखता है। अतः उसके द्वारा ग्रहण किये गये पांचों व्रत महाव्रत कहलाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्यग्दृष्टि इन पांचों पापों को करता ही नहीं है। यदि कोई कहे कि अविरत सम्यग्दृष्टि को तो इन पापों का त्याग नहीं है अतः करता है किंतु ऐसी बात नहीं है। गोम्मटसार जीवकांड में लिखा है कि—

णो इन्द्रिणु विरदो णो जीवे थावरे तसे चापि।

जो सहहृदि जिणुत्तं सम्पाइही अविरदो सो॥

जो इंद्रिय विषयों से विरत नहीं है और त्रस-स्थावर हिंसा से भी विरत नहीं है तथा जिनैन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्वों का श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है। यहां गाथा में जो 'चावि' पद है उसका टीकाकार ने ऐसा अर्थ किया है कि वह त्रस-स्थावर हिंसा से विरत न होकर भी अनर्गल प्रवृत्ति नहीं करता है। इससे ऐसा अर्थ हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि इन पांचों पापों का त्याग न करते हुये भी इनको करता नहीं है क्योंकि वह पापभीरु है, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता है।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे कि शास्त्रों में मनुष्यों के तो क्या तिर्यचों के भी उदाहरण नहीं हैं कि जो सम्यग्दृष्टि बनकर भी मांसाहारी रहे हों। सिंह ने सम्यग्दर्शन ग्रहणकर अणुव्रत ले लिये और मांसाहार का त्याग कर सल्लेखना ग्रहण कर ली थी जो कि आगे दसवें भव में भगवान महावीर बना है इत्यादि। अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हिंसादि पापों में प्रवृत्ति नहीं करता है मांस, अण्डे न खाता है न उनका व्यापार आदि ही करता है इत्यादि।

श्रावकदेशव्रती पांचों पापों का एकदेश त्याग कर अणुव्रती बन जाता है और श्रावकों की षट् आवश्यक क्रियाओं को करते हुये पापों का क्षालन करता रहता है और महाव्रती मुनि तो इन व्रतों से पुण्यास्त्रव-पुण्यबंध करते हुये भी असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा करते हुये कुछ ही भवों में—परंपरा से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। आगे आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने ही गाथा २७० में कहा है कि—

'जिनके ये हिंसा-अहिंसा, असत्य-सत्य आदि परिणाम नहीं हैं ऐसे मुनि ही अशुभ-शुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं।'

यह अवस्था बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणकयायी मुनि के ही होती है। फिर भी जैसे आम के वृक्ष में बौर/मंजरी और आम के न होते हुये भी उसे आम का ही वृक्ष कहते हैं क्योंकि आम के पुष्प/मंजरी और आम फल आवेंगे तो उसी वृक्ष में आवेंगे। ऐसे ही यह वीतराग अवस्था पुण्य-पाप से रहित शुद्ध अवस्था यद्यपि छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि के नहीं है फिर भी होगी तो इन्हीं के होगी, वस्त्रधारी के नहीं इसलिये भले ही छठे-सातवें गुणस्थान में मुनि के पुण्यबंध हो रहा है फिर भी पुण्य-पाप का अभाव इन महाव्रतों से ही होगा. इनके बिना नहीं होगा ऐसा अकाद्य नियम है।

(उत्थानिका) —अथ हिंसाध्यवसानं पूर्वमुक्तं तावत् इत्यानी पुनः असत्याद्यवसाध्याध्यवसानैः पापं सत्याद्यध्यवसानैश्च पुण्यबंधो भवतीत्याख्यातिः—

(२७५ ज०) एवमलिये अदत्ते, अबंभचरे परिग्गहे चेव ।

कीरदि अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झदे पावं ॥

(२७६ ज०) तह य अचोज्जे सच्चे, बंधे अपरिग्गहत्तणे चेव ।

कीरदि अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥ (युग्मम्)

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं, यत्नेन तु बध्यते पापं ॥ २७५ ॥

तथा चाचौर्ये सत्ये, ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं, यत्नेन तु बध्यते पुण्यं ॥ २७६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एवमसत्ये चौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता । यश्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति वृत्ताव्रतविषये पुण्यपापबंधरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वयं गतं ॥ २७५-२७६ ॥

उत्थानिका—हिंसा के परिणाम को पहले कह दिया था अब पुनः असत्य आदि अव्रत के परिणामों से पाप एवं सत्य आदि व्रतों के परिणामों से पुण्यबंध होता है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थः—(एवमलिये अदत्ते अबंभचरे चेव परिग्गहे जं अज्झवसाणं कीरदि) इसी प्रकार से झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन और परिग्रह में जो भाव किये जाते हैं (तेण दु पावं बंधदे) उनसे तो पापकर्म ही बंधता है (तह य अचोज्जे सच्चे बंधे चेव अपरिग्गहत्तणे जं अज्झवसाणं कीरदि) उसी प्रकार से अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहत्व में जो भाव किये जाते हैं (तेण दु पुण्णं बज्झदे) उनसे तो पुण्य का बंध होता है । ॥ २७५-२७६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—इसी प्रकार से असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के जो परिणाम किये जाते हैं उनसे पापकर्म बंधता है । यह पहली गाथा का अर्थ हुआ और जो सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के परिणाम किये जाते हैं उनसे पुण्य बंधता है । इस तरह व्रत और अव्रत के विषय में पुण्य बंध और पाप बंध के रूप से सूत्ररूप दो गाथायें हुई । ॥ २७५-२७६ ॥

भावार्थ—जब तक अहिंसा, सत्य आदि व्रत लेकर व्रती नहीं बनेंगे तब तक अव्रती को पांच पाप के निमित्त से होने वाला बंध होता ही रहेगा । अतः यदि पाप बंध से और उसके फल स्वरूप नरक-निगोद आदि से भय है तो व्रती बनना चाहिये । यदि महाव्रती नहीं बन सकें तो कम से कम अणुव्रती अवश्य बनना चाहिये । पुण्यबंध से डरकर पाप बंध में लगे रहना यह

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बंधहेतुरिति शक्यं—

वस्तुं पडुच्च जं पुन अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।

ण य वस्तुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५ अ० ॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां ।

न च वस्तुतरस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥ २६५ ॥

बुद्धिमत्ता नहीं है प्रत्युत आत्मवंचना ही है। कुछ लोग "व्रतों में अतिचार अनाचार आदि लग जाते हैं" इस भय से व्रत नहीं लेते हैं तो भाई ! वास्तव में व्रतों को न धारण करना भी तो अनाचार ही है। कहा भी है—"एक्के भावे अणाचारे—

"आचारो हि विरतिः तदभावोऽनाचारः सर्वेषां हि चातुर्गतिकप्राणिनां स्वभावतः साधारणोऽनाचारः—लक्षणः एको भावो भवति" ।" विरति का नाम आचार है—व्रतों का न लेना अनाचार है। यह चारों गति के सभी प्राणियों में स्वभाव से ही साधारणरूप अनाचार विद्यमान है ऐसा समझना। इस कथन से—व्रतों को खंडित कर देना या व्रतों को न ग्रहण करना ये दोनों ही अनाचार हैं। अतः यदि व्रतों में कदाचित् दोष लग भी जाये तो गुरु से प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लेनी चाहिये। यही मोक्षमार्ग है अव्रती मोक्षमार्गी नहीं है। यदि माता बालक को गिरने के डर से खड़ा ही न होने दे तो भला वह बालक खड़ा होना और चलना कैसे सीखेगा ? संसारी प्राणी भी बालक के समान हैं। गुरुवर्य उन्हें चारित्र्य धारण करना अर्थात् मोक्षमार्ग में खड़ा होना चलना ही सिखाते हैं ऐसा समझकर व्रतों को यथाशक्ति धारण करते हुये व्रती और महाव्रती की भक्ति करना चाहिये।

उत्थानिका—दूसरी कोई बाह्य वस्तु बंध का कारण है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यत् पुनः जीवानां अध्यवसानं तु वस्तु प्रतीत्य भवति) जो पुनः जीवों के परिणाम हैं वे तो वस्तु का अवलंबन लेकर होते हैं (च वस्तुतः तु बंधः न अध्यवसानेन बंधः अस्ति) अतः वस्तु से बंध नहीं होता है किंतु परिणामों से बंध होता है ॥ २६५ ॥

(२७७)—पर वस्तु के अवलंबन से जो भाव जीव के होते हैं।

उनको ही अध्यवसान कहा वे बंध हेतु ही होते हैं ॥

सद्भाव वस्तु का होने से परिणाम रागमय बनते हैं।

परिणामों से ही बन्ध अतः मुनि बाह्यवस्तुएं तजते हैं ॥ २६५ ॥

आत्मख्यातिः - अध्यवसानमेव बंधहेतुर्न तु बाह्यवस्तु तस्य बंधहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः । अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं । न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते । यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा यथा वीरसूतस्याश्रयभूतस्य मद्भावे वीरसूनुं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा बंध्यासूतस्याश्रयभूतस्यामद्भावेऽपि बंध्यासूतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत । न च जायते । ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति प्रतिनियमः । तत एव बाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात् । न च बंधहेतुहेतुत्वं मन्यपि बाह्यं वस्तु बंधहेतुः स्याद् ईर्यासमिति- परिणतयतीन्द्रपदव्यापाधमानवेगापतत्कालचोदित-

आत्मख्याति - परिणाम ही बंध के हेतु हैं न कि बाह्य वस्तुएं क्योंकि बंध के लिए हेतु—कारण जो परिणाम हैं उस परिणाम के लिए वह वस्तु हेतुरूप से प्रसिद्ध है । अर्थात् बाह्य वस्तु के निमित्त से राग द्वेष आदि भाव होते हैं और भावों से ही बंध होता है अतः वस्तु बंध के कारण का कारण है बंध का कारण नहीं है ।

प्रश्न—तो फिर बाह्य वस्तु का निषेध किसलिए किया जाता है ?

उत्तर- रागादि परिणामों के प्रतिषेध के लिये ही बाह्य वस्तु का प्रतिषेध करते हैं क्योंकि रागादि विभावभावों के लिये बाह्यवस्तु आश्रयभूत है । बाह्यवस्तुओं का आश्रय लिये बिना परिणाम रागादिस्वरूप को प्राप्त ही नहीं करते हैं । यदि बाह्य वस्तु के आश्रय बिना भी रागादि परिणाम हो जावे तब तो जैसे वीरप्रसविनी माता के पुत्र का आश्रय होने पर 'वीरप्रसू' के पुत्र को मैं मारता हूं ऐसा अभिप्राय होता है वैसे ही बंध्यापुत्र रूप आश्रयभूत पुत्र के नहीं होने पर भी 'मैं बंध्या के पुत्र को मारता हूं' ऐसा परिणाम भी हो जावेगा किंतु ऐसा तो होता नहीं है इसलिये आश्रय के बिना निराश्रित कोई भी रागादिरूप विभाव परिणाम नहीं हो सकते हैं ऐसा निश्चित नियम है । इसलिये परिणामों के लिये आश्रयभूत ऐसी बाह्य वस्तुओं का अत्यंत प्रतिषेध किया जाता है क्योंकि कारणों के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है । अर्थात् बाह्य धन, कुटुंब आदि कारण सामग्री के त्याग से ही उस जन्य मोह, राग, द्वेष छूटते हैं ।

बंध के हेतुभूत—कारण जो रागादि परिणाम हैं उनके लिये हेतु—कारण होने पर भी बाह्य वस्तुयें बंध के लिये कारण नहीं हैं क्योंकि जैसे ईर्यासमिति से चलते हुए महामुनि के पैर के नीचे वेग से—तीव्रगति से आया हुआ कोई काल से प्रेरित हुआ जंतु मर गया तो भी उन्हें हिंसा का दोष नहीं है कारण कि वे ईर्यापथ पूर्वक सावधानी से चल रहे थे वैसे ही बाह्य वस्तुयें बंध के कारण का कारण हैं तो भी बंध के लिये कारण न होने से बंध का हेतु अनेकांतिक

कुलिंगवद् बाह्यवस्तुनो बंधहेतुहेतोरप्यबंधहेतुत्वेन बंधहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात् । अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बंधहेतुः । अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बंधहेतुः ॥ २६५ ॥

है—व्यभिचारी है इसलिये बाह्यवस्तु जीव का तद्भाव न होने से बंध के लिये कारण नहीं है, रागादिभाव ही जीव का तद्भाव—अपना भाव होने से वही बंध का हेतु है ॥ २६५ ॥

विशेषार्थ—यहां पर आचार्यदेव ने हिंसा आदि परिणाम अर्थात् राग-द्वेष आदि परिणामों को ही बंध का कारण सिद्ध किया है और यह स्पष्ट किया है कि बाह्य वस्तुयें बंध के लिये कारण नहीं हैं। पुनः यह प्रश्न होना साहजिक है कि फिर आपने बाह्य वस्तुयें—धन, मकान, स्त्री, पुत्र, वस्त्र आदि का त्याग कराकर दिगंबर मुनि क्यों बनाया ? उत्तर स्पष्ट है कि बाह्यवस्तुयें ही तो राग-द्वेष की जननी हैं। बाह्य वस्तुओं के आश्रय के बिना भला ये राग-द्वेष परिणाम कैसे होंगे ? इसलिये इन रागादि परिणामों के लिये आश्रयस्वरूप ऐसी इन बाह्य वस्तुओं का 'अत्यंत' अतिशयरूप से—पूर्णतया प्रतिषेध किया गया है क्योंकि आज तक किसी ने परिग्रह सहित—वस्त्र आदि सहित होते हुये मुक्ति नहीं प्राप्त की है।

तात्पर्य यही है कि बाह्य वस्तुओं से रागादि भाव होते हैं और रागादिभावों से कर्मबंध होता है अतः ये वस्तुयें हेतु का हेतु हैं—बंध के कारण का कारण हैं, साक्षात् कारण नहीं हैं। इसी साक्षात् कारण का निषेध करते हुये कहा है कि—'जैसे कोई महामुनि ईर्यापथ से चल रहे हैं उनके पैर के नीचे अकस्मात् आकर कोई उड़ता हुआ पतंगा, कीट या चींटी आदि जंतु मर गया तो भी उनके हिंसा का पाप नहीं लगता है अन्यथा जीवों से भरे हुये इस लोक में मुनिगण कर्मों से कैसे छूट सकेंगे ? अतः बाह्य वस्तु को बंध का हेतु मानने में यह हेतु व्यभिचार दोष से दूषित होने से अनैकांतिक हेत्वाभास हो जाता है। बाह्य वस्तुयें जीव के भाव न होने से उपादान रूप नहीं हैं वे तो निमित्तमात्र हैं। जीव के रागादिभाव ही जीव में पैदा हुये हैं अतः वे ही कर्मबंध के कारण हैं।

यहां यह बात विशेष ज्ञानव्य है कि टीकाकार ने यहां उदाहरण में 'ईर्यासमितिपरिणत-यतीन्द्र' पद रक्खा है अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि महामुनि ही इस ग्रंथ के अधिकारी हैं उन्हीं के लिये यह समयसार ग्रंथ है न कि श्रावकों के लिये या अवतीजनों के लिये। यही कारण है कि आज अनधिकारी चेष्टा होने से यह महान् शास्त्र उन अवतियों के लिये शस्त्र जैसा घातक बन रहा है। बहुत से लोग निश्चयाभासी बन रहे हैं और मुनियों को द्रव्यलिंगी, मिथ्यादृष्टी आदि कहकर दुर्गति का मार्ग खुला कर रहे हैं। यदि श्रावक श्रावकाचार पढ़ें और उनके अनुकूल प्रवृत्ति करें तो ये मतभेद—विसंवाद ही न बढ़ने पावें। अतः 'श्री अमृतचंद्रसूरि की इन पंक्तियों को बार-बार पढ़ना चाहिये।

(उत्थानिका) —अतः परमिदमेव सूत्रद्वयं परिणाममुख्यत्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति । तद्यथा, बाह्यं वस्तु रागादिपरिणामकारणं परिणामस्तु बंधोऽप्यश्रित्यावेदयति--

(२७७ ज०) वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।

ण हि वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां ।

न हि वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोऽस्ति ॥ २७७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं बाह्यवस्तु चेतनाचेतनं पंचेन्द्रियविषयभूतं प्रतीत्य आश्रित्य जीवानां तत्प्रसिद्धं रागाद्यध्यवसानं भवति ण हि वत्थुदो दु बंधो न हि वस्तुनः सकाशाद्बंधो भवति । तर्हि केन बंधः ? अज्झवसाणेण बंधोति वीतरागपरमात्मतत्त्वभिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन बंधो भवति । वस्तुनः सकाशाद्बंधो कथं न भवतीति चेत् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात् । तथाहि—बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बंधो भवतीति अन्वयो नास्ति, तदभावे बंधो न भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति । तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुत्यागः ? इति चेत्, रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थं । अथमत्र भावार्थः । बाह्ये

उत्थानिका—अब इन्हीं दो गाथासूत्रों को परिणाम की मुख्यता से तेरह गाथाओं द्वारा विस्तृत वर्णन करते हैं । उन्हीं में से 'बाह्य वस्तुयें रागादि परिणामों का कारण हैं और परिणाम बंध का कारण है', ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जं जीवाणं अज्झवसाणं पुण तु वत्थुं पडुच्च होदि) जो जीवों के भाव हैं वे पुनः वस्तु का अवलंबन लेकर होते हैं (हि वत्थुदो दु बंधो ण) अतः वस्तु से तो बंध नहीं होता है (अज्झवसाणेण बंधोत्थि) किंतु भावों से ही बंध होता है । ॥ २७७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—पंचेन्द्रियों के विषयभूत, चेतन-अचेतन बाह्य वस्तुओं का आश्रय लेकर जीवों के वे प्रसिद्ध रागादि परिणाम होते हैं । वस्तु के सानिध्य मात्र से बंध नहीं होता है ।

प्रश्न—तो फिर किससे बंध होता है ?

उत्तर—वीतराग परमात्मतत्त्व से भिन्न जो रागादि परिणाम हैं उनसे बंध होता है ।

प्रश्न—वस्तु से बंध क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—वस्तु को बंध में हेतु मानने से अन्वय और व्यतिरेक से व्यभिचार दोष आता है । उसे ही स्पष्ट करते हैं—'बाह्य वस्तु के होने पर नियम से बंध होता है' ऐसा अन्वय नहीं है और 'बाह्य वस्तु के न होने पर बंध नहीं होता है' ऐसा व्यतिरेक भी नहीं है ।

प्रश्न—तो पुनः बाह्य वस्तुओं का त्याग किसलिये कराया जाता है ?

इत्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मागाचरणादस्ति चाचारित्रं । ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामेवैतानि न विद्यन्ते त एव मुनिकुञ्जराः । केचन सदहेतुकज्ञप्त्यैकक्रियं सदहेतुकज्ञायकैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानन्तः सम्यक्पश्यन्तोऽनुचरन्तश्च स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा खलु न लिप्येरन् ॥ २७० ॥

जाता है' इत्यादि रूप से अध्यवसान है वह भी आत्मा और ज्ञेयपदार्थों में भेदज्ञान के न होने से अज्ञानरूप ही है। इसे ही कहते हैं—यह आत्मा ज्ञानमय होने से सत् रूप है—सदा विद्यमान है—नित्य है, अहेतुक है—किसी से कभी उत्पन्न नहीं होता है और एकज्ञानरूप ही है—ज्ञायकमात्रस्वभाववाला है और ये धर्मादि-द्रव्य ज्ञेयरूप हैं इन दोनों का विशेष/भेदज्ञान न होने से अर्थात् इन दोनों का अन्तर न समझने से इन सबसे भिन्न आत्मा का ज्ञान न होने से ही यह ज्ञेयपदार्थों के जानने रूप जो अध्यवसान है वह अज्ञान है। इन ज्ञेयपदार्थों से भिन्न आत्मा का अदर्शन—श्रद्धान न होने से यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का आचरण न होने से वह अध्यवसान अचारित्र है। इसलिये ये संपूर्ण भी अध्यवसान—विभाव परिणाम बंध के लिये कारण ही हैं। जिनके ये अध्यवसान नहीं हैं वे ही मुनियों में श्रेष्ठ मुनिकुंजर—महामुनि हैं।

जो कोई मुनि सत् अहेतुक जाननेरूप एक क्रियावाली, सत् अहेतुक ज्ञायकमात्र एकभाववाली और सत् अहेतुक एक ज्ञान रूपवाली ऐसी विविक्त—परद्रव्यों से भिन्न आत्मा को जानते हुये सम्यक् प्रकार से ऐसी आत्मा का श्रद्धान करते हुये और ऐसी विविक्त आत्मा में ही अनुचरण/आचरण करते हुये स्वच्छ, स्वच्छंद—स्वतंत्ररूप से उदय को प्राप्त ऐसी अमंद—उत्कृष्ट अंतरंग में प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप हो जाते हैं। उनके अत्यंतरूप से—पूर्णरूप से अज्ञान, मिथ्यात्व और असंयमरूप अध्यवसान का अभाव हो जाता है अतः वे नियम से शुभ और अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं ऐसा समझना ॥ २७० ॥

भावार्थ—यहां पर मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र को अध्यवसानभाव कहकर उनसे छुड़ाकर निश्चयरूप सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र में लगाया है। यहां जो टीका में 'अदर्शन' शब्द है, उसका नहीं देखना अर्थ नहीं लेना है तथा जो 'पश्यन्तः' शब्द है उसका देखना अर्थ नहीं लेना है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में 'दृशिर्' धातु का अर्थ श्रद्धान माना गया है। जैसा कि कहा है—“दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते ? धातूनामनेकार्थत्वाद-

आत्मख्यातिः—परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि विमोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्तिमात्रत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थयैव ॥ २६६ ॥

(उत्थानिका) — एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं दर्शयति;—

(२७८ ज०) दुःखिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधामि तह विमोचेमि ।

जा एसा तुज्झ मदी, णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥

दुःखितसुखितान् जीवान्, करोमि बंधयामि तथा विमोचयामि ।

या एषा तव मतिः, निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥ २७८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—दुःखिदसुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बंधयामि, तथा विमोचयामि जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा या एषा तव मतिः सा निरर्थिका निष्प्रयोजना हु स्फुटं । दे अहो ततः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति । कस्मात् ? इति चेत्, भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वकीयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बंधो मोक्षाभावश्चेति ॥ २७८ ॥

आत्मख्याति—मैं परजीवों को दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, इत्यादि अथवा मैं परजीवों को कर्मबंध से बंधन युक्त करता हूं या कर्मों से छुड़ाता हूं इत्यादि रूप से जो यह अध्यवसान—रगादिपरिणाम हैं वे सभी मिथ्यारूप होने से केवल आत्मा के अनर्थ के लिये ही हैं क्योंकि परभाव का पर में व्यापार न होने से वह अपनी अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है जैसे आकाश पुष्प को मैं तोड़ता हूं यह परिणाम मिथ्या है वैसे ही वह परिणाम भी मिथ्या ही है ॥ २६६ ॥

उत्थानिका—इस तरह बंध के हेतुरूप से निश्चित किये गये रगादि परिणाम अपनी अर्थक्रिया को नहीं कर सकने से मिथ्यात्व हैं—असत्य हैं ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवे दुःखिदसुहिदे करेमि बंधामि तह विमोचेमि) मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूं कर्मों से बंधाता हूं या छुड़ाता हूं (जा एसा तुज्झ मदी सा हु दे णिरत्थया मिच्छा) जो यह तुम्हारी बुद्धि है वह निघम से निरर्थक है, झूठी है ॥ २७८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूं, बंध कराता हूं तथा कर्मों से छुड़ाता हूं जो यह तुम्हारी बुद्धि है वह निरर्थक है—निष्प्रयोजनीभूत है ऐसा स्पष्ट है । अहो भव्य ! जिस कारण वह व्यर्थ है उसी कारण से यह बुद्धि मिथ्या है—असत्य है क्योंकि आप के रगादि परिणाम के होने पर भी परजीवों के साता या असाता का उदय न होने से सुख या दुःख का अभाव है । तथा अपने में अशुद्ध और शुद्ध परिणामों का अभाव होने से बंध और मोक्ष का अभाव है ऐसा समझना ॥ २७८ ॥

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ? इति चेत्—

अज्झवसाणाणिमित्तं जीवा बज्झन्ति कम्मणा जदि हि ।

मुच्चन्ति मोक्खमार्गे ठिदा य ता किं करोसि^१ तुमं ॥ २६७ अ० ॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि ।

मुच्यन्ते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वं ॥ २६७ ॥

आत्मख्यातिः—यत्कल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बन्धनं मोचनं जीवानां । जीवस्तु अस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यन्ते न मुच्यन्ते । सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यन्ते मुच्यन्ते च, ततः^२ परत्राकिंचित्करत्वात्त्रेद- मध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ततश्च मिथ्यैवेति भावः ॥ २६७ ॥

उत्थानिका—ये रागादि परिणाम अपनी अर्थक्रिया को करने वाले क्यों नहीं हैं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यदि हि अध्यवसान निमित्तं जीवाः कर्मणा बध्यन्ते) यदि रागादि भावों के निमित्त से जीव कर्मों से बंधते हैं (च मोक्षमार्गे स्थिताः मुच्यन्ते तत् किं त्वं करोषि) और मोक्षमार्ग में स्थित हुये जीव कर्मों से छूटते हैं तब तुमने क्या किया ? ॥ २६७ ॥

आत्मख्याति—जो मैं किसी को कर्मों से बांधता हूँ और छुड़ाता हूँ इस प्रकार के अध्यवसान—रागादि भाव हैं । इन विभाव भावों की अपनी अर्थक्रिया यही है कि जीवों में कर्मों से बंध कराना और जीवों को कर्मों से छुड़ाना । जीव तो इन आपके अपने अध्यवसाय के सद्भाव में भी अपने सराग-वीतराग रूप परिणामों के अभाव से न कर्मों से बंधते हैं न छूटते ही हैं तथा अपने सराग और वीतराग परिणाम के होने से तुम्हारे उन अध्यवसाय के अभाव में भी वे कर्मों से बंधते हैं और छूटते हैं । जिस हेतु से परके भावरूप अध्यवसाय पर में अकिंचित्कर होने से अर्थक्रियाकारी नहीं हैं । इसलिये वे मिथ्या ही हैं ऐसा अभिप्राय समझना ॥ २६७ ॥

(२७०)—यदि सचमुच जीव स्वयं परिणामों से कर्मों का बंध करें ।

कर्मों से स्वयं छूट करके शिवमारग में जाकर ठहरें ॥

तब ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था में तू क्या कर सकता है प्राणी ?

किंचित् निमित्त बनने से ही तू कर्ता बनता अज्ञानी ॥ २६७ ॥

अनुष्टुप्—अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः ।

तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मा करोति यत् ॥ १७१ ॥

(उत्थानिका) —अयं वास्मत्प्रव्यवसानं स्वार्थीक्रिययाकर्तारं न भवतीति चेत्—

(२७९ ज०) अज्झवसाणणिमित्तं, जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे, ठिदा य ते किं करोसि तुमं ॥

अध्यवसाननिमित्तं, जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि ।

मुच्यन्ते मोक्षमार्गे, स्थिताश्च तर्हि किं करोषि त्वं ॥ २७९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वरगादिस्वकीया-
ध्यवसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणा बध्यन्ते इति चेत् मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते
शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयस्वरूपलक्षणे मोक्षमार्गं स्थिताः पुनर्मुच्यन्ते यदि चेत्ते जीवाः किं करोसि

भावार्थ—मैं ही किसी को कर्मों से बंधाता हूँ या कर्मों से छुड़ाता हूँ । मैं किसी को मारता हूँ या जिलाता हूँ । अथवा मैं किसी को सुखी करता हूँ या दुःखी करता हूँ । ऐसे जो ये भाव हैं वे ही अध्यवसान भाव हैं । ये भाव पर को कर्मों से बांधने या छुड़ाने में कार्यकारी नहीं हैं—सफल नहीं हैं प्रत्युत निष्फल हैं—निरर्थक हैं । यदि किसी जीव के सराग परिणाम हैं तो वह कर्मों से बंधता रहता है यदि उसके वीतराग परिणाम हैं तो मुक्त हो जाता है । अतः पर के प्रति कुछ भी करने का अभिप्राय रूप जो 'अहंभाव' है वह मिथ्या ही है ।

इसे ही कहते हैं—

काव्यार्थ—इस निष्फल अध्यवसान भाव के द्वारा मोहित हुआ आत्मा, ऐसा कुछ नहीं है कि जिस रूप अपने को न करता हो । १७१ ।

उत्थानिका—किस हेतु से ये अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया को करने वाले नहीं हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जदि हि जीवा अज्झवसाणणिमित्तं कम्मणा बज्झंति) यदि नियम से जीव भावों के निमित्त से ही कर्मों से बंधते हैं (य मोक्खमग्गे ठिदा मुच्चंति) और मोक्षमार्ग में स्थित हुये छूटते हैं (ते तुमं किं करोसि) तब तो तुम क्या करते हो ? अर्थात् तुम कुछ नहीं कर सकते हो ॥ २७९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—मिथ्यात्व रागादिरूप अपने अध्यवसान—परिणाम को निमित्त करके ये जीव निश्चय से कर्मों से बंधते हैं और कोई महापुरुष शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसका ज्ञान और

इस निष्फल अध्यवसान भाव से प्राणी क्या नाहि करता है ।

इस मद से मोहित आत्मा पर भावों में नित ही रमता है ॥

जग में कुछ कार्य नहीं ऐसा जिस रूप न निज को करता है ।

बस एक विलक्षण निज स्वभाव उसमें न कभी वह रमता है ॥ १७१ ॥

तुमं तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् ! न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति ॥ २७९ ॥
(उत्थानिका) —अथ दुःखिता जीवाः स्वकीयपापोदयेन भवन्ति न च भवदीयपरिणामेनेति—

(२८० ज०) कायेण दुःखवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।

सव्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

कायेन दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मति करोषि ।

सर्वापि एषा मिथ्या, दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ २८० ॥

उसी में आचरणमय चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय रक्षणवाले मोक्षमार्ग में स्थित होकर पुनः कर्मों से छूट जाते हैं यदि ऐसा कहो तो पुनः हे दुरात्मन् ! तुमने क्या किया ? अर्थात् कुछ भी नहीं किया । तुम्हारे अध्यवसान—भाव तो कुछ भी अर्थक्रियाकारी नहीं हुये ॥ २७९ ॥

भावार्थ—यहां पर को मारने-जिलाने, सुखी-दुःखी करने या कर्म बंध कराने-छुड़ाने के भावों का नाम ही अध्यवसान है । ये भाव हम दूसरों के प्रति करते हैं किंतु इन भावों से न वह मरता है, न जीता है, न सुखी-दुःखी होता है और न कर्मों से बंधता या छूटता ही है । बल्कि अपने-अपने कर्मों के अनुसार मरता-जीता है इत्यादि । यही कारण है कि उसके अपने सराग-वीतराग परिणाम ही बंध-मोक्ष के लिये कारण हैं अतएव यह तुम्हारे अध्यवसान—भाव निरर्थक ही हैं केवल तुम्हारे लिये ही कर्मबंध के कारण हैं अतः अहंकारभाव और पर के कर्तृत्वभाव को छोड़कर पर के भविष्य को, सुख-दुःख को उन्हीं के कर्मों के ऊपर छोड़कर शुद्धनय से अपने को शुद्ध समझते हुये व्यवहार-निश्चयरत्नत्रय को ग्रहण कर अपने को संसार से छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

उत्थानिका—अब जो जीव दुःखी हैं वे अपने पाप के उदय से होते हैं न कि आपके परिणामों से, इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कायेण सत्ते दुःखवेमिय एवं तु जं मदि कुणसि) मैं काय से जीवों को दुःखी करता हूं इस प्रकार जो तुम बुद्धि करते हो (जदि सत्ता कम्मेण दुहिदा सव्वावि एस मिच्छा) यदि वे जीव अपने कर्मों से दुःखी किये गये हैं तो तुम्हारी सभी यह बुद्धि मिथ्या है । (वाचाए सत्ते दुःखवेमिय एवं तु जं मदि कुणसि) मैं वचन से जीवों को दुःखी करता हूं इस प्रकार जो तुम बुद्धि करते हो (जदि सत्ता कम्मेण दुहिदा सव्वावि एस मिच्छा) यदि कर्म के उदय से वे जीव दुःखी होते हैं तो तुम्हारी सभी यह बुद्धि मिथ्या है । (मणसाए सत्ते दुःखवेमिय एवं तु जं मदि

(२८०)—मैं निजशरीर से परजीवों को दुःख पहुंचाता रहता हूं ।

निज अशुभकाय की चेष्टा से मैं सबको वश में रखता हूं ॥

यह तेरी मति मिथ्या ही है तू पर का कुछ नहीं कर सकता ।

जो जीव दुःखी होते हैं उनका कर्म निमित्त बना करता ॥

- (२८१ ज०) वाचाए दुःखवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।
सत्त्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
- (२८२ ज०) मणसाए दुःखवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
- (२८३ ज०) सच्छेण दुःखवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
- वाचा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या, दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ २८१ ॥
- मनसा दुःखयामि सत्त्वान् , एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या, दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ २८२ ॥
- शस्त्रेण दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि जीवाः ॥ २८३ ॥

कुणसि) मैं मन से जीवों को दुःखी करता हूँ ऐसी जो तुम बुद्धि करते हो (जदि सत्ता कम्मेण दुहिदा सव्वावि एस मिच्छा) यदि वे जीव कर्मों से दुःखी होते हैं तो तुम्हारी यह सभी बुद्धि मिथ्या है । (सच्छेण सत्ते दुःखवेमिय एवं तु जं मदि कुणसि) शस्त्र से मैं जीवों को मारता हूँ इस प्रकार जो तुम बुद्धि करते हो (जदि सत्ता कम्मेण दुहिदा सव्वावि एस मिच्छा) यदि वे जीव कर्मों से दुःखी होते हैं तो तुम्हारी यह सभी बुद्धि मिथ्या है ॥ २८० से २८३ ॥

(२८१)—मैं निजवचनों से परजीवों को दुःख पहुँचाता रहता हूँ ।

निज वचनचतुरता से सबको संतप्त किया मैं करता हूँ ॥

यह भी तेरी मति मिथ्या है तू पर का क्या कर सकता है ? ।

दुख पाने वाले जीवों का निज कर्मोदय ही रहता है ॥

(२८२)—मैं मेरे मन से परजीवों को दुःख पहुँचाता रहता हूँ ।

निज मानस चिन्तन से पर को सन्तापित करता रहता हूँ ॥

यह तेरा चिन्तन मिथ्या है तू पर का क्या कर सकता है ? ।

क्योंकी दुःखप्राप्त जीव का तो निजकर्मोदय ही रहता है ॥

(२८३)—मैं शस्त्रों के द्वारा परजीवों को दुःख देता रहता हूँ ।

घातक शस्त्रों को दिखा दिखा मैं सबको पीड़ित करता हूँ ॥

यह तेरी मति मिथ्या ही है तू पर का क्या कर सकता है ?

निज पापोदय के कारण ही प्राणी जग में दुःख सहता है ॥

तात्पर्यवृत्तिः—कायेण इत्यादि स्वकीयपापमोदयेन जीवाः दुःखिताः भवन्ति यदि चेत् ? तेषां जीवानां स्वकीयपापकर्मोदयाभावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतोः मनोवचनकार्यैः शस्त्रैश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् ! त्वदीया मतिमिथ्या । परं किं तु स्वस्वभावच्युतो भूत्वा त्वं पापमेव बध्नासि इति ॥ २८०-२८१-२८२-२८३ ॥

(उत्थानिका) —अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवन्तीति कथयति—

(२८४ ज०) कायेण च वाया वा, मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति ।

एवंपि हवदि मिच्छा, सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

कायेन च वाचा वा, मनसा सुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

एवमपि भवति मिथ्या, सुखिनः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ २८४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—‘कायेण’ इत्यादि गाथाओं में कहा है कि यदि अपने-अपने पाप कर्मों के उदय से जीव दुःखी होते हैं और यदि उन जीवों के अपने-अपने पाप कर्मों के उदय का अभाव है तो पुनः आप कुछ भी नहीं कर सकते हो। इसी हेतु से ‘मन, वचन, काय से और शस्त्रों से मैं जीवों को दुःख देता हूँ’ हे दुरात्मन् ! इस प्रकार से जो तुम्हारी मति है वह मिथ्या है—निरर्थक है, बल्कि तुम अपने स्वभाव से च्युत होकर पाप का ही बंध करते रहते हो यहां ऐसा अभिप्राय है ॥ २८० से २८३ ॥

उत्थानिका—जीव सुखी भी अपने कर्म के उदय होने पर ही होते हैं ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कायेण च वाया वा, मणेण सत्तेति सुहिदे करेमि) काय से वचन से अथवा मन से मैं जीवों को सुखी करता हूँ (जदि सत्ता कम्मेण सुहिदा एवंपि मिच्छा हवदि) यदि वे जीव कर्मों से सुखी हुये हैं तो यह भी तुम्हारी मति मिथ्या ही होती है ॥ २८४ ॥

(२८४)—वैसे ही यदि जग के प्राणी इन्द्रिय भोगों से सुखी दिखें ।

निजकर्मोदय से प्राप्त सुखों में तेरा मिथ्या मान दिखे ॥

मन वच काया से पर को सुख देने का भ्रम तू करता है ।

यह भी तेरी मति मिथ्या है तू पर का वया कर सकता है ॥

तात्पर्यवृत्ति—स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवन्ति । न च त्वदीयपरिणामेन, तर्हि मनोवचनकार्यैर्जीवान् सुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या । एव तवाध्यवसानं स्वार्थकं न भवति । परं किं तु निरुपरागपरमचिज्ज्योतिःस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वमश्रद्धानः, तथैवाजानन् अभावयंश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव बध्नाति इत्यर्थः ॥ २८४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यदि अपने-अपने कर्मों के उदय से जीव सुखी होते हैं न कि तुम्हारे भावों से, तब तो मन, वचन और काय से मैं जीवों को सुख देता हूँ इस प्रकार की आपकी बुद्धि मिथ्या है । इस तरह का तुम्हारा अध्यवसान—पर के दुःखी-सुखी करने का अभिप्राय अपने कार्य को करने में सफल नहीं होता है प्रत्युत रागरहित, परम, चैतन्यज्योति स्वभाव में अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान न करते हुये, उस शुद्ध आत्मा को न जानते हुये और उसी आत्मतत्त्व की भावना न करते हुये—उसमें स्थिर न होते हुये तुम्हारे उन शुभ परिणामों से पुण्य कर्म का ही बंध हो जाता है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥ २८४ ॥

विशेषार्थ—यहां पर यह विशेष समझना है कि किसी को मन, वचन, काय से दुःखी करने से या शस्त्रादि से पीड़ा पहुंचाने से पाप कर्म का बंध होता है तथा किसी को मन, वचन, काय से सुख पहुंचाने से पुण्य कर्म का बंध होता है । वह अन्य व्यक्ति दुःखी या सुखी न भी हो अथवा तुम्हारे निमित्त से दुःखी-सुखी होता है तो भी उसमें उसके पाप या पुण्य का उदय ही मुख्य कारण है आप तो निमित्त कारण मात्र हैं । अतः 'मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया', यह अहंकार भाव नहीं रखना चाहिये । दूसरी बात यह है कि यदि आप दयाप्रवृत्ति से अन्य शिष्यादि का उपकार करते हो और अभी शुद्ध आत्मतत्त्व में लीन होकर निश्चयधर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को नहीं कर सकते हो तब तक तो अशुभक्रियारूप मन वचन काय के व्यापार को—दूसरों को दुःखी करने रूप मन के भाव, वचन और कायप्रवृत्ति को तो सर्वथा ही छोड़ देना चाहिये, जिससे पापकर्मों के बंध से तो बचे रहोगे क्योंकि पुण्यबंध तो परंपरा से मोक्ष का कारण है और संसार में भी दीर्घायु, उत्तम कुल, नाना वैभव, स्वर्गसुख आदि को देने वाला है । इससे विपरीत पापकर्म का बंध तो नरक-निगोद में, तिर्यचगति में नाना दुःख देने वाला है । यदि कदाचित् पाप के बंध से एकेंद्रिय आदि पर्यायों में चले गये तो वहां पर मोक्षमार्ग का उपदेश भी असंभव है, साक्षात् भगवान् भी उन जीवों को नहीं संबोध सकते हैं । अतः पापकर्म के बंध से हमेशा डरना चाहिये और अहंकार भाव छोड़कर जीवदया, परोपकार आदि में प्रवृत्त रहना चाहिये ।

सर्व्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणोरयिए ।

देवमणुये य सर्व्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८ अ० ॥

धम्मधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।

सर्व्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाअ ॥ २६९ अ० ॥ (युगलम्)

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्मैरयिकान् ।

देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ॥ २६८ ॥

धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।

सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ॥ २६९ ॥

आत्मख्यातिः—यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकम् इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगाध्यवसानेन तिर्यचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन

उत्थानिका—आगे इसे ही गाथा में स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवः अध्यवसानेन तिर्यङ्मैरयिकान् सर्वान् च देवमनुजान् सर्वान् करोति) यह जीव अध्यवसान भावों से सभी तिर्यच, नारक, देव और मनुष्य इन सभी पर्यायों को अपनी करता है (च नैकविधं पुण्यं पापं तथा च धर्मा धर्म जीवाजीवौ अलोकलोकं च जीवः अध्यवसानेन सर्वान् आत्मानं करोति) और अनेक प्रकार के पुण्य-पाप तथा धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, अलोकाकाश और लोकाकाश इन सभी को यह जीव अध्यवसान से अपने आत्मस्वरूप कर लेता है ॥ २६८—२६९ ॥

आत्मख्याति—जैसे यह आत्मा पूर्वकथित क्रिया से गर्भित हिंसा के अध्यवसान से—परिणाम से अपनी आत्मा को हिंसक करता है और इतर—हिंसा से अतिरिक्त—अहिंसारूप अध्यवसानों से अहिंसक करता है वैसे ही उदय में आये हुये नारक के अध्यवसान से आत्मा को नारकी करता है, उदय में आये हुये तिर्यच गति नाम कर्म के अध्यवसान से आत्मा को तिर्यच,

(२८५)—निज अध्यवसानों से प्राणी जग में सब कुछ करता रहता ।

पशु नारक देव मनुज नानाविध पुण्यपाप करता रहता ॥

उदयागत कर्म अवस्था में निज को तन्मय अनुभव करता ।

परमार्थ रूप का ज्ञान नहीं अतएव उन्हें अपना कहता ॥ २६८ ॥

(२८६)—ऐसे ही धर्म अधर्म जीव पुद्गल को भी निज मान रहा ।

त्रैलोक अलोकाकाश सभी परद्रव्यों में अज्ञान कहा ॥

निज अध्यवसान भाव से सबको आत्मरूप ही कहता है ।

सबकी स्वतन्त्र सत्ता न समझ ममकार भाव ही करता है ॥ २६९ ॥

पापमात्मानं कुर्यात् । तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसायेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात् ॥ २६८ ॥ २६९ ॥

इन्द्रवज्रा—विश्वादिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वं ।

मोहैककंदोध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥

उदय में आये मनुष्यगतिरूप अध्यवसान से आत्मा को मनुष्य और उदय में आये हुये देवगति नाम कर्म के अध्यवसान से अपनी आत्मा को देवरूप करता है । उदय में आते हुये सुख आदि कारक पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप और उदय में आते हुये दुःख आदि पाप के अध्यवसान से अपनी आत्मा को पापरूप कर लेता है । उसी प्रकार से जानने में आ रहे धर्मद्रव्य के अध्यवसान से आत्मा को धर्मद्रवरूप, जानने में आ रहे अधर्म द्रव्य के अध्यवसान से अपने को अधर्मद्रवरूप, जानने में आ रहे अपने से भिन्न जीवद्रव्य के अध्यवसान से अपने को अन्य जीवद्रवरूप कर लेता है, जानने में आ रहे पुद्गलद्रव्य के अध्यवसान से अपने को पुद्गल द्रवरूप करता है, जानने में आते हुये लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाश एवं जानने में आये हुये अलोकाकाश के अध्यवसान से अपनी आत्मा को अलोकाकाशरूप कर लेता है ॥ २६८-२६९ ॥

भावार्थ—यह आत्मा अपनी आत्मा को हिंसा आदि भावों से उसी रूप बना लेता है । नरकगति आदि के उदय से हुये नारक भाव आदि रूप ही बना हुआ है । इसी प्रकार धर्मद्रव्य आदि को जानते हुये तद्रूप से परिणत होने से उन्हीं-उन्हीं रूप बन जाता है । इस विषय को पहले कहा जा चुका है कि धर्म को जानने के भाव से परिणत आत्मा के उपयोग में धर्मद्रव्य विद्यमान है अतः आत्मा को उसीरूप मान लिया गया है । कोई भी मनुष्य इन धर्मादि द्रवरूप अपने को नहीं समझता है । इसे ही श्री जयसेनाचार्य ने अपनी टीका में खुलासा किया है ।

इसी को कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—यह आत्मा अखिल विश्वरूप/परद्रव्यों से भिन्न है तो भी जिसके प्रभाव से यह अपनी आत्मा को विश्वरूप—अखिल पर द्रवरूप कर लेता है । इसमें मोह ही है एक मूल कारण जिसमें ऐसा अध्यवसाय ही यह एक कारण है । यह अध्यवसाय जिन के नहीं है वे यतिराज ही हैं । १७२ ।

भावार्थ—इन परद्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा को समझकर पुनः निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर एकस्वरूप को ध्याने वाले महामुनि ही इन अध्यवसायरूप विभावभावों से दूर हो पाते हैं ऐसा यहां अभिप्राय है । कलशकाव्य में 'यतयस्त एव' कहने से यह अध्यवसाय से रहित अवस्था श्रावकों के लिये संभव नहीं है ।

आत्मा सम्पूर्ण विश्वरूपी पर द्रव्यों से है भिन्न कहा ।

तो भी जिसके प्रभाव से निज को पर स्वरूप मय मान रहा ॥

वह मोह ही मूल हेतु जिसमें ऐसा जो अध्यवसाय भाव ।

जिनके यह अध्यवसाय नहीं है यति हो पाने परमभाव ॥ १७२ ॥

(उत्थानिका) —अथ 'स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहितः सन्नयं जीवः समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति;—

(२८५ ज०) सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।

देवमणुवेपि सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं ॥

(२८६ ज०) धम्माधम्मं च तहा, जीवाजीवे अलोगलोगं च ।

सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्मैरयिकान् ।

देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ॥ २८५ ॥

धर्माधर्मे च तथा, जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।

सर्वान् करोति जीवः, अध्यवसानेन आत्मानं ॥ २८६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मानं करोति आत्मनः संबन्धात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्टः सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनितविभावपरिणामान् आत्मनि योजयतीत्यर्थः । धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान्

उत्थानिका—अपने स्वभाव से प्रतिपक्षभूत ऐसे रागादि अध्यवसान से मोहित हुआ यह जीव संपूर्ण भी परद्रव्यों को अपनी आत्मा में जोड़ लेता है ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थः—(जीवो अज्झवसाणेण सव्वे तिरियणेरयिए सव्वे देवमणुवेपि च णेयविहं पुण्णं पावं करेदि) यह जीव परिणामों से सभी तिर्यचों, नारकियों को व सभी देवों और मनुष्यों/पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को करता है (तहा जीवो अज्झवसाणेण धम्माधम्मं च जीवाजीवे च अलोगलोगं अप्पाणं सव्वे करेदि) उसी प्रकार यह जीव अपने भावों द्वारा ही धर्म-अधर्म को, जीव-अजीव को और लोक-अलोक को इन सभी को अपनी आत्मारूप कर लेता है ॥ २८५-२८६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह जीव उदयागत नरकगति आदि कर्मों के वश से नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव, पाप और पुण्यरूप कर्मजनितभावों को आत्मस्वरूप कर लेता है—अपनी आत्मा से संबंधित कर लेता है । निर्विकार परमात्मतत्त्व से भ्रष्ट हुआ—च्युत हुआ अथवा रहित हुआ 'मैं नारकी हूँ' इत्यादि रूप से उदय में आते हुये कर्म से उत्पन्न हुये विभाव परिणामों को अपनी आत्मा में जोड़ लेता है ऐसा अर्थ हुआ । अर्थात् अपनी आत्मा को उन नारकी, मनुष्य आदि रूप हूँ ऐसा ही अपने को मान लेता है । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, अजीव, लोकाकाश और अलोकाकाश

अध्यवसानेन तत्परिच्छित्तविकल्पेनात्मानं करोति, आत्मनः संबन्धात् करोतीत्यभिप्रायः। किं च, यथा घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये धर्मोऽयमित्यादि योऽसौ परिच्छित्तिरूपो विकल्पः सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्भण्यते। कथं ? इति चेत्, धर्मास्तिकायादिविषयत्वात्। स्वस्वभावच्युतो भूत्वा यदा धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पं करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ॥ २८५-२८६ ॥

इन ज्ञेयपदार्थों को अध्यवमान से—उन द्रव्यों के जानने रूप विकल्प से अपनी आत्मा को उन-उनरूप कर लेता है—अपनी आत्मा से संबंधित कर लेता है ऐसा अभिप्राय हुआ। विशेष यह है कि जैसे घट के आकार से परिणत हुआ ज्ञान उपचार से 'घट है' ऐसा कह दिया जाता है वैसे ही धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों के विषय में 'यह धर्मद्रव्य है' इत्यादि प्रकार से जो यह जानने रूप विकल्प है वही उपचार से धर्मास्तिकाय आदि कहा जाता है।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—इसलिये कि वह ज्ञान धर्मास्तिकाय आदि को विषय करने वाला है। जब यह जीव अपने स्वभाव से च्युत होकर 'यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा विकल्प करता है तब उस विकल्प के करने पर 'धर्मास्तिकाय आदिरूप से अपने को किया है' ऐसा उपचार से कहा जाता है ॥ २८५-२८६ ॥

भावार्थ—'यह धर्मद्रव्य है, यह अधर्मद्रव्य है, यह आकाशद्रव्य है,' इत्यादि प्रकार से जो आत्मा का ज्ञान परिणत होता है वह ज्ञान ही तदाकार हो जाने से—आत्मा से अभिन्न होने से आत्मा को उसरूप ही बना लेता है। इसलिये यहां पररूप से आत्मा को परिणत होने से ऐसा कह दिया है कि यह आत्मा उन अखिल परद्रव्यों को अपने रूप कर लेता है। यद्यपि सर्वज्ञदेव के ज्ञान में भी यह धर्मद्रव्य आदि अखिल लोकालोक झलक रहा है। लेकिन उनका उपयोग मोहकर्म के संपर्क से रहित होने से रागद्वेषरूप तो क्या 'यह धर्मद्रव्य है, यह अधर्मद्रव्य है' इत्यादि विकल्परूप भी परिणत नहीं होता है अतः उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने विश्व को अपने रूप कर लिया है। ऐसे ही निर्विकल्पध्यान में स्थित महामुनि भी उपर्युक्त विकल्पों से परे हैं तभी उनके पुण्य-पाप का संवर होकर कर्मों का बंध समाप्त हो जाता है। उससे पहले चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान तक इन विकल्पों के रहने से कर्मबंध होता ही रहता है। इनमें भी जब तक 'मैं नारकी, मनुष्य आदि रूप हूं' ऐसा विकल्प है तब तक तो यह जीव बहिरात्मा ही है। किंतु ये धर्मद्रव्य आदि हैं ऐसा ज्ञान तो सम्यग्दृष्टि के भी होता है। वह सविकल्प अवस्था में पुण्यबंध का कारण है ऐसा समझना। जब तक निर्विकल्प ध्यान की प्राप्ति न हो सके तब तक इन पांच अस्तिकाय, छहद्रव्य आदि के चिंतन में द्वादशांगरूप, श्रुत के अध्ययन में उपयोग को लगाना ही श्रेयस्कर है। पुण्यबंध से डर कर पापबंध में आ जाना कथमपि उचित नहीं है।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।

ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्यंति ॥ २७० अ० ॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।

तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥ २७० ॥

आत्मख्यातिः—एतानि किल यानि त्रिविधा^१-न्यध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्मबन्धनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथाहि, यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तदज्ञानमयत्वेन आत्मनः सदहेतुकज्ञात्येकक्रियस्य रागद्वेषविषाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माऽज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्माऽदर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत

उत्थानिका—इसे ही श्रीकुंदकुंददेव स्वयं गाथा द्वारा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एतानि अध्यवसानानि एवमादीनि येषां न संति) ये पूर्वोक्त अध्यवसाय और इसी प्रकार के अन्य भी परिणाम जिनके नहीं हैं (ते मुनयः अशुभेन वा शुभेन कर्मणा न लिप्यंते) वे मुनिराज अशुभकर्म अथवा शुभकर्म से लिप्त नहीं होते हैं ॥ २७० ॥

आत्मख्याति—ये पूर्वोक्त जो तीन प्रकार के अध्यवसान हैं वे संपूर्ण भी शुभ और अशुभ कर्मबन्ध के निमित्त ही हैं क्योंकि ये स्वयं अज्ञान आदि रूप ही हैं अर्थात् पूर्वकथित अध्यवसान—विभाव परिणाम तीन प्रकार के हैं । अज्ञान, मिथ्यात्व और अविरति । इसे ही कहते हैं—‘मैं मारता हूं,’ इत्यादि प्रकार से जो यह अध्यवसान है वह अज्ञान से हुआ है अतः वह अज्ञान ही है क्योंकि यह आत्मा तो ज्ञानमय होने से सत् रूप है, अहेतुक है और जाननेरूप ही एक ज्ञप्ति क्रियावाला है और जो मारने आदि रूप क्रियायें हैं वे रागद्वेष के उदयरूप ही हैं अतः इन—आत्मा और मारनेरूप क्रिया का भेदज्ञान न होने से इनसे भिन्नस्वरूप आत्मा का ज्ञान न होने से यह परिणाम अज्ञानरूप ही है । वैसे ही इन अध्यवसानों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान न होने से वह परिणाम मिथ्यादर्शनरूप है और भिन्न आत्मा के अनाचरण से—उसमें स्थिरतारूप आचरण के न होने से वह अध्यवसान अचारित्ररूप है । पुनः जो ‘यह धर्मद्रव्य जाना

(१८७)—ये पूर्व कथित परिणाम तथा इस तरह अन्य भी और कहे ।

जो अध्यवसान विभाव भाव जिन मुनिवर के वे कुछ नहीं हैं ॥

वे मुनिवर अशुभ तथा शुभ कर्मों से नहीं लिप्त हुआ करते ।

जो निज स्वरूप में रहते हैं वे पर में नहीं रमा करते ॥ २७० ॥

इत्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेभात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । ततो बन्धनिमित्ताभ्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामेवैतानि न विद्यन्ते त एव मुनिकुञ्जराः । केचन सदहेतुकज्ञानैकक्रियं सदहेतुकज्ञानैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानन्तः सम्यक्पश्यन्तोऽनुचरन्तश्च स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा खलु न लिप्येरन् ॥ २७० ॥

जाता है' इत्यादि रूप से अध्यवसान है वह भी आत्मा और ज्ञेयपदार्थों में भेदज्ञान के न होने से अज्ञानरूप ही है। इसे ही कहते हैं—यह आत्मा ज्ञानमय होने से सत् रूप है—सदा विद्यमान है—नित्य है, अहेतुक है—किसी से कभी उत्पन्न नहीं होता है और एकज्ञानरूप ही है—ज्ञायकमात्रस्वभाववाला है और ये धर्मादि द्रव्य ज्ञेयरूप हैं इन दोनों का विशेष/भेदज्ञान न होने से अर्थात् इन दोनों का अन्तर न समझने से इन सबसे भिन्न आत्मा का ज्ञान न होने से ही यह ज्ञेयपदार्थों के जानने रूप जो अध्यवसान है वह अज्ञान है। इन ज्ञेयपदार्थों से भिन्न आत्मा का अदर्शन—श्रद्धान न होने से यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का आचरण न होने से वह अध्यवसान अचारित्र है। इसलिये ये संपूर्ण भी अध्यवसान—विभाव परिणाम बंध के लिये कारण ही हैं। जिनके ये अध्यवसान नहीं हैं वे ही मुनियों में श्रेष्ठ मुनिकुंजर—महामुनि हैं।

जो कोई मुनि सत् अहेतुक जाननेरूप एक क्रियावाली, सत् अहेतुक ज्ञायकमात्र एकभाववाली और सत् अहेतुक एक ज्ञान रूपवाली ऐसी विविक्त—परद्रव्यों से भिन्न आत्मा को जानते हुये सम्यक् प्रकार से ऐसी आत्मा का श्रद्धान करते हुये और ऐसी विविक्त आत्मा में ही अनुचरण/आचरण करते हुये स्वच्छ, स्वच्छंद—स्वतंत्ररूप से उदय को प्राप्त ऐसी अमंद—उत्कृष्ट अंतरंग में प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप हो जाते हैं। उनके अत्यंतरूप से—पूर्णरूप से अज्ञान, मिथ्यात्व और असंयमरूप अध्यवसान का अभाव हो जाता है अतः वे नियम से शुभ और अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं ऐसा समझना ॥ २७० ॥

भावार्थ—यहां पर मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र को अध्यवसानभाव कहकर उनसे छुड़ाकर निश्चयरूप सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र में लगाया है। यहां जो टीका में 'अदर्शन' शब्द है, उसका नहीं देखना अर्थ नहीं लेना है तथा जो 'पश्यन्तः' शब्द है उसका देखना अर्थ नहीं लेना है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में 'दृशिर्' धातु का अर्थ श्रद्धान माना गया है। जैसा कि कहा है—“दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते ? धातूनामनेकार्थत्वाद-

दोषः । प्रसिद्धार्थत्यागः कुतः इति चेन्मोक्षमार्गप्रकरणात् । तत्त्वार्थश्रद्धानं ह्यात्मपरिणामो मोक्षसाधनं युज्यते, भव्यजीवविषयत्वात् । आलोकस्तु चक्षुरादिनिमित्तः सर्वसंसारिजीवसाधारणत्वात् मोक्षमार्गो युक्तः ।”

“दृशिर् धातु से दर्शन शब्द बना है जिसका अर्थ है देखना । अतः यहां ‘दर्शन’ शब्द से श्रद्धान अर्थ का बोध नहीं हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं अतः यहां ‘दृशि’ धातु का श्रद्धान अर्थ लेने में कोई दोष नहीं है । पुनः प्रश्न होता है कि—प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ क्यों लेना ? उसका उत्तर है कि—यहां मोक्षमार्ग का प्रकरण है अतः अप्रसिद्ध अर्थ भी लेने में बाधा नहीं है । तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना यह आत्मा का परिणाम है और वही मोक्ष का कारण युक्त है क्योंकि वह श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही भव्यजीवों का विषय है । आलोक—देखना अर्थ तो चक्षु आदि इंद्रियों के निमित्त से होता है । सर्वसंसारी जीवों में साधारण होने से वह देखना अर्थ यहां मोक्षमार्ग में युक्त नहीं है ।” इसलिये देखना अर्थ नहीं लेना चाहिये ।

यहां अध्यवसानों से भिन्न ऐसी विविक्त आत्मा को तीन तरह से माना है और प्रत्येक में तीन-तीन विशेषण दिये हैं । यथा सत् अहेतुक ज्ञप्ति एक क्रियारूप, सत् अहेतुक ज्ञायक एक भावरूप और सत् अहेतुक एक ज्ञानरूप । इनमें भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अपेक्षा किंचित् अंतर है तो भी निश्चयनय की अपेक्षा से वह ज्ञायक एक भाव ही शुद्धात्मस्वरूप है ।

यहां निश्चयरत्नत्रयधारी वीतरागी मुनि को आचार्यश्री ने ‘मुनिकुंजर’ कहा है क्योंकि वे ही शुभ-अशुभ कर्मों के बंध से छूट सकते हैं । छोटे गुणस्थानवर्ती सरागी मुनि नहीं । अतः श्रावकों का तो यहां विषय ही नहीं है ।

आचार्य श्री अमृतचंद्रसूरि ने यहां अध्यवसान के दो भेद दिखलाये हैं—‘हिनस्मि’ ऐसी क्रियाओं से सहित हिंसा आदि अध्यवसान और दूसरा लिया है ‘धर्मो ज्ञायते’ इत्यादि रूप से धर्मादि द्रव्यों का—ज्ञेयपदार्थों का अध्यवसान । आगे चलकर इसी टीका में कहा है कि जो कोई ‘सत् अहेतुक ज्ञप्ति एक क्रियारूप’ ‘सत् अहेतुक ज्ञायक एक भावरूप’ और ‘सत् अहेतुक एक ज्ञानरूप,’ ऐसी अपनी शुद्ध आत्मा को जानते हैं, श्रद्धान करते हैं तथा उसी में आचरण करते हैं वे ही मुनिपुंगव शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं ।

इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने घटित करते हुये ‘अध्यवसान’ के तीन भेद कर दिये हैं । ‘मैं जीवों को ‘हिनस्मि’—मारता हूँ’ इत्यादि हिंसा अध्यवसान है, ‘मैं नारकी हूँ’ इत्यादि कर्मोदय अध्यवसान है और ‘यह धर्मास्तिकाय है’ इत्यादि ज्ञेयपदार्थ अध्यवसान है ।

(उत्थानिका) —अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परद्रव्ये योजयति स मोहो येषां नास्ति न एव तपोधना इति प्रकाशयति;—

(२८७ ज०) एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।

ते असुहेण सुहेण य, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥

एतानि न सन्ति येषां-मध्यवसानान्येवमादीनि ।

तेऽशुभेन शुभेन वा, कर्मणा मुनयो न लिप्यन्ते ॥ २८७ ॥

ऊपर में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने जो आत्मा के तीन विशेषण दिये हैं उनसे ऐसा झलकता है कि वहां 'आत्मख्याति' में भी 'मैं नारकी हूं' इत्यादि कर्मोदय अध्यवसान भी होना चाहिये। हो सकता है कि यह पंक्ति कहीं लिपि-प्रतिलिपि आदि की परंपरा होने में किन्हीं विद्वानों से छूट गई हो।

वहां प्रथम विशेषण है 'सत् अहेतुक ज्ञप्तिक्रियारूप' यह आत्मा सत् है—अस्तिरूप है—विद्यमान है। अहेतुक है—किन्हीं भी कारणों से उत्पन्न नहीं हुआ है अतः अनादिनिधन है। ज्ञप्ति एक क्रियारूप है—मात्र जानने की क्रियारूप ही है। आत्मा का यह विशेषण हिंसा, झूठ, चोरी आदि क्रियाओं का निषेध करता है।

दूसरा विशेषण है 'सत् अहेतुक ज्ञायक एक भाव' अस्ति, अकारणक, और ज्ञायक एक भाव कहने से यह आत्मा 'मैं नारकी हूं, मनुष्य हूं' इत्यादि कर्मोदय से हुये अध्यवसानों से रहित आत्मा को ज्ञातामात्र सिद्ध करता है।

तीसरा विशेषण है 'सत् अहेतुक ज्ञानैकमात्र' आत्मा अस्तिरूप है, किन्हीं कारणों से हुआ नहीं है और मात्र एक ज्ञान रूप है। इस विशेषण से 'धर्मास्तिकाय' आदि पदार्थ ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञानमात्र है इन ज्ञेयपदार्थों के संबंध से रहित आत्मा मात्र एक ज्ञानरूप ही है। इस तरह ज्ञान-ज्ञेय संबंध का निषेध करते हुये यह विशेषण आत्मा को ज्ञेयपदार्थ के अध्यवसान से रहित सिद्ध करता है। ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—अब निश्चय से परद्रव्य से भिन्न भी यह आत्मा जिस मोह के प्रभाव से अपनी आत्मा को परद्रव्य में लगाता है वह मोह जिनके नहीं है वे ही तपोधन हैं, ऐसा प्रकाशित करते हैं—

अन्वयार्थ—(एदाणि अज्झवसाणाणि एवमादीणि जेसिं णत्थि) ये उपर्युक्त परिणाम और इसी प्रकार के परिणाम जिनके नहीं हैं (ते मुणी असुहेण य सुहेण कम्मेण ण लिप्पंति) वे मुनि अशुभ और शुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं ॥ २८७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एदाणि णत्थि जेसि अज्झवसाणाणि एवमादीणि एताण्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभाध्यवसानानि कर्मबंधनिमित्तभूतानि न संति येषां ते असुहेण सुहेण य कम्मेण पुणी ण लिप्पंति त एव मुनीश्वराः शुभाशुभकर्मणा न लिप्पंते । किं च विस्तरः—शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रय-लक्षणं भेदविज्ञानं यदा न भवति तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं नारकोहमित्यादि कर्मोदयाध्यवसानं, धर्मास्तिकायोयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मनः सकाशाद्धिन्नं न जानातीति । तदजानन् हिंसा-ध्यवसानविकल्पेन सहात्मानमभेदेन श्रद्धधाति जानाति अनुसरति च, ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री भवति । ततः कर्मबन्धः स्यात् । यदा पुनः पूर्वोक्तभेदविज्ञानं भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री भवति ततः कर्मबंधो न भवतीति भावार्थः ॥ २८७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—पूर्वोक्त प्रकार के अध्यवसान और इनसे अतिरिक्त भी शुभ-अशुभ रूप जो अध्यवसान हैं वे सब कर्मबंध के लिये कारण हैं । वे जिनके नहीं हैं वे ही मुनीश्वर शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं । इसी का विस्तार करते हैं—अपनी शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में स्थिरतारूप चारित्र ऐसा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप भेदविज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक यह जीव 'मैं जीवों को मारता हूं' इत्यादि प्रकार से हिंसा के अध्यवसान को, 'मैं नारकी हूं' इत्यादि प्रकार से कर्मों के उदय से हुये अध्यवसान को और 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादिरूप से ज्ञेय पदार्थों के अध्यवसान को निर्विकल्पशुद्ध आत्मा से भिन्न—पृथक्स्वरूप नहीं जानता है । इन अध्यवसानों से भिन्न अपनी आत्मा को न जानता हुआ वह जीव हिंसा अध्यवसान के विकल्प के साथ अपनी आत्मा को अभिन्न रूप से श्रद्धान कर लेता है, इनसे अभिन्न ही अपनी आत्मा को जानता है और पुनः उसी रूप आचरण करता है इसलिये यह मिथ्यादृष्टि होता है, मिथ्याज्ञानी होता है और मिथ्याचारित्री होता है और तब इन तीनों से उसके कर्मों का बंध होता है । पुनः जब इसके पूर्वकथित प्रकार से भेदविज्ञान हो जाता है तब यह सम्यग्दृष्टि हो जाता है, सम्यग्ज्ञानी हो जाता है और सम्यक्चारित्री हो जाता है तब उसके कर्मबंध नहीं होता है ऐसा समझना ॥ २८७ ॥

भावार्थ—यहां व्यवहाररत्नत्रय से साध्य ऐसे निश्चयरत्नत्रय की चर्चा है उसी के प्रगट हो जाने पर यह आत्मा कर्मों के बंध से छूट जाता है । जैसा कि स्वयं श्री जयसेनाचार्य ने यहां कहा है कि 'निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानं' अतः जहां-जहां कर्मों से लिप्त नहीं होने की बात आती है वहां-वहां यह निश्चयरत्नत्रय रूप भेदविज्ञान ही विवक्षित है । यह भेदविज्ञान बारहवें गुणस्थान में ही घटता है । इसके पूर्व सातवें से प्रारंभ होता है । यह निश्चयरत्नत्रय चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में नहीं होता है ऐसा निश्चय है ।

(उत्थानिका) — कियंतं कालं परभावनात्मनि योजयतीति चेत्—

(२८८ ज०) जा संकल्पवियप्पो, ता कम्मं कुण्णदि असुहसुहजणयं ।

अप्पसरूवा रिद्धी, जाव ण हियए परिप्फुरदि ॥

यावत्संकल्पविकल्पौ, तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकं ।

आत्मस्वरूपा ऋद्धिः, यावत् न हृदये परिस्फुरति ॥ २८८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेतिरूपं संकल्पं करोति अभ्यंतरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनंतज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थंभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति, तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः ॥ २८८ ॥

उत्थानिका—यह जीव कितने काल तक पर भावों को अपने में लगाता है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यावत् संकल्पविकल्पौ तावत् अशुभशुभजनकं कर्म करोति) जब तक संकल्प-विकल्प होते हैं तब तक अशुभ-शुभ को उत्पन्न करने वाले ऐसे कर्मों को करता है (यावत् आत्मस्वरूपा ऋद्धिः हृदये न परिस्फुरति) कि जब तक आत्म-स्वरूप ऋद्धि हृदय में स्फुरायमान नहीं होती है ॥ २८८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जब तक यह जीव बाह्य पदार्थों में—देह, पुत्र, स्त्री आदि में 'यह मेरा है' इसरूप संकल्प को करता है और अभ्यंतर में हर्ष-विषादरूप विकल्प को करता है तब तक यह अनंतज्ञान आदि की समृद्धिरूप आत्मा को हृदय में नहीं जानता है और जब तक इस प्रकार की आत्मा हृदय में स्फुरायमान नहीं होती है तब तक यह शुभ-अशुभ के जनक ऐसे कर्मों को करता रहता है । ऐसा यहां अभिप्राय है ॥ २८८ ॥

(२८८)—जब तक यह आत्मा बाह्य वस्तुओं में संकल्प विकल्प करे ।

तब तक ही वह प्राणी निज में शुभ अशुभ कर्म का बंध करे ॥

तब तक अनन्तज्ञानादिरूप ऋद्धी जो आत्मा की मानी ।

निज में प्रस्फुरित नहीं होवे ऐसा कहते हैं मुनिज्ञानी ॥

किमेतदध्यवसानं नामेति चेद्—

बुद्धी व्यवसायोऽपि च अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।

एक्कट्ठमेव सत्त्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ अ० ॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं ।

एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २७१ ॥

आत्मख्यातिः—स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्वसितिमात्रमध्यवसानं । तदेव च बोधनमात्रत्वादबुद्धिः । व्यवसानमात्रत्वाद् व्यवसायः । मननमात्रत्वान्मतिः । विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं । चेतनमात्रत्वाच्चित्तं । चित्तो भवनमात्रत्वाद् भावः । चित्तः परिणमनमात्रत्वात् परिणामः ॥ २७१ ॥

उत्थानिका—यह अध्यवसान किन-किन नामवाले हैं ? उसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बुद्धिः व्यवसायः अपि च अध्यवसानं च मतिः विज्ञानं चित्तं भावः च परिणामः सर्वं एकार्थं एव) बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थवाची नाम हैं ॥ २७१ ॥

आत्मख्याति—स्व और पर का विवेक न होने पर जीव का जो निश्चयमात्र होता है उसी का नाम अध्यवसान है । वही बोधनमात्र होने से बुद्धि कहलाता है, निश्चय कराने मात्र होने से व्यवसाय है, जानने मात्र होने से मति है, विज्ञप्ति मात्र होने से विज्ञान है, चेतनमात्र—अनुभव करने मात्र होने से चित्त है, चेतन का होने मात्र से भाव है और चेतन के परिणमन मात्र होने से परिणाम कहलाता है ॥ २७१ ॥

भावार्थ—जो ये बुद्धि आदि आठ नाम कहे हैं वे सभी चेतन आत्मा के परिणाम हैं । जब तक स्व और पर का भेदज्ञान नहीं होता है तब तक अपने और पर में जो एकत्व रूप अभिप्राय है उसके ही बुद्धि, अध्यवसान आदि नाम कहे गये हैं ऐसा समझना ।

(२८९)—व्यवसाय बुद्धि अथवा जो अध्यवसान नाम से कहलाता ।

विज्ञान चित्त परिणाम भाव मति नामों से जाना जाता ॥

इन सबका अर्थ एक ही है एकार्थवाचि ये कहलाते ।

परिणमनशील परिणामों में ही सभी भाव ये बन जाते ॥ २७१ ॥

शार्दूलविक्रीडित—सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रभ्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नाति संतो धृतिं ॥ १७३ ॥

(उत्थानिका) —अथाध्यवसानस्य नाममालामाहः—

(२८९ ज०) बुद्धी व्यवसाओवि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।
इक्कट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो ॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च, अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं ।

एकार्थमेव सव्वं, चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २८९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—बोधनं बुद्धिः, व्यवसनं व्यवसायः, अध्यवसनमध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चित्तं चित्तं, भवनं भावः, परिणमनं परिणामः, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः—किं तु

काव्यार्थ—सभी विषयों में जो अध्यवसान हैं वे संपूर्ण ही अध्यवसान त्याग करने योग्य हैं ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसलिये ऐसा हम मानते हैं कि समस्त व्यवहार ही छोड़ा गया है क्योंकि वह पर के आश्रित है। तब पुनः ये महापुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कंप रूप से स्वीकार करके शुद्धज्ञानघन निज महिमा में स्थिरता को धारण क्यों नहीं करते हैं ? अर्थात् सत्पुरुषों को निश्चयनय के अवलंबन से अपनी ज्ञानमयी आत्मा में ही स्थिर होना चाहिये। यह कलशकाव्य अगली गाथा की उत्थानिका रूप है ॥ १७३ ॥

उत्थानिका—अब अध्यवसान की नाममाला को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बुद्धी व्यवसाओवि य अज्झवसाणं य मदी विण्णाणं चित्तं भावो य परिणामो सव्वं इक्कट्ठमेव) बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब पर्यायवाची नाम हैं ॥ २८९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—बोधन—ज्ञाननामात्र सो बुद्धि है, व्यवसाय—ज्ञानने के लिये व्यापार करना व्यवसाय है, समझ लेना अध्यवसाय है, मनन करना—विचार करना मति है, जिसके द्वारा जाना जाता है वह विज्ञान है, चिंतन करना—स्मरण करना चित्त है, चेतना का होना सो भाव है

सर्वत्र जो अध्यवसान कहे वे सभी त्याज्य जिनवर ने कहा ।

हम माने सब व्यवहार हेय है क्योंकि पराश्रित वही रहा ॥

तब सम्यक् निश्चय को निष्कंप रूप में क्यों नहीं स्वीकरो ?

वे महापुरुष निज ज्ञानमयी आत्मा में फिर क्यों नहीं बसते ? ॥ १७३ ॥

सर्वोऽपि समभिरूढनयापेक्षयाऽध्यवसानार्थ एव । कथं ? इति चेत् यथेन्द्रः शक्रः पुरंदर इति । एवं व्रतैः पुण्यं, अव्रतैः पापमिति कथनेन सूत्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातं तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्यं वस्तु रागाद्यध्यवसानकारणं रागाद्यध्यवसानं तु बंधकारणमिति कथनमुख्यत्वेन त्रयोदश गाथा गताः, इति समुदायेन पंचदशसूत्रैश्चतुर्थस्थलं समाप्तं ॥ २८९ ॥

अथवा वस्तु का अस्तित्वरूप से होना—रहना सो ही भाव है और चेतना का परिणामन करना सो परिणाम है इस प्रकार से इनमें शब्द भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं है किंतु ये सभी समभिरूढनय की अपेक्षा से एक अध्यवसान अर्थ के वाचक ही हैं । जैसे कि इंद्र, शक्र और पुरंदर ये तीनों शब्द एक इंद्र के ही वाचक हैं ।

इस तरह व्रतों से पुण्य होता है और अव्रतों से पाप होता है इस कथन रूप से दो गाथासूत्र पहले ही कह चुके थे उन्हीं दोनों सूत्रों का विशेष विवरण करने के लिये यहां यह कहा है कि बाह्य वस्तुयें रागादि अध्यवसान—परिणामों के लिये कारण हैं और रागादि परिणाम तो बंध के लिये कारण हैं । इस तरह के कथन की मुख्यता से तेरह गाथायें पूर्ण हुई हैं । इस प्रकार समुदाय रूप से पंद्रह गाथाओं द्वारा यह चौथा स्थल समाप्त हुआ ॥ २८९ ॥

विशेषार्थ—इस बंध अधिकार में आचार्यदेव यह बता चुके हैं कि 'मैं मारता हूं या मैं जिलाता हूं, मैं झूठ बोलता हूं या मैं सत्य बोलता हूं' इत्यादि प्रकार से शुभ और अशुभ दोनों तरह के परिणाम बंध के लिये कारण हैं । यद्यपि निश्चयनय से आत्मा के बंध है ही नहीं फिर भी एकदेश निश्चयनय से या अशुद्ध निश्चय नय से कर्मबंध है और उस बंध के दो भेद हैं—पुण्य और पाप । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाप हैं, पाप बंध के लिये ही कारण हैं तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच व्रत या महाव्रत हैं ये पुण्यबंध के लिये कारण हैं । अब यहां अपने को क्या करना चाहिये ?

श्री कुंदकुंददेव ने ही स्वयं मोक्षपाहुड़ में कहा है—

वरवयतवेहि सगो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहि ।

छाया तवट्टियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥

इसे ही श्री पूज्यपादस्वामी ने भी अपने इष्टोपदेश में सरल शब्दों में कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं ।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥

अर्थ—व्रतों को धारण कर देवगति प्राप्त कर लेना अच्छा है किंतु अव्रतों से युक्त हुये नरकगति में जाकर नारकी होना अच्छा नहीं है । देखो, कोई दो पुरुष किसी की प्रतीक्षा में थे उनमें

एवं व्यवहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।

णिच्छयणयासिद्धा पुण मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥ २७२ ॥

एवं व्यवहारणयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।

निश्चयनयाश्रिताः पुनः पुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणं ॥ २७२ ॥

से एक तो छाया में बैठ गया और दूसरा—घाम में—धूप में खड़ा रहा, तो जैसे इन दोनों में महान् अंतर है ऐसे ही मोक्ष की प्रतीक्षा में स्वर्ग और नरक में रहने वालों में महान् अंतर है ।

अतः जब तक पुण्य-पाप से परे शुद्धोपयोगमयी तीसरी अवस्था प्राप्त न हो सके तब तक हमें व्रतों में रहना ही अच्छा है । दूसरी बात यह भी है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य परंपरा से मोक्ष का ही कारण है—संसार का कारण नहीं है । भावसंग्रह ग्रंथ में श्री देवसेनाचार्य ने कहा है—

सम्माइट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकाणं णियमः ॥ ४०७ ॥

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है । प्रत्युत—

तद्वा सम्माइट्ठी, पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवइ ॥ ४२४ ॥

इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष के लिये कारण होता है ऐसा समझना चाहिये ।

अतः जब तक महाव्रत ग्रहण न कर सकें तब तक इन पाँचों पापों का एकदेश त्याग कर अणुव्रती अवश्य बन जाना चाहिये, अव्रती कतई नहीं रहना चाहिये यही समयसार पढ़ने का सार है ।

उत्थानिका—अब निश्चयनय द्वारा व्यवहारणय निषिद्ध है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं व्यवहारणयः निश्चयनयेन प्रतिषिद्धः जानीहि) इस पूर्वोक्त रीति से व्यवहारणय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध है ऐसा तुम जानो (पुनः निश्चयनयाश्रिताः पुनयः निर्वाणं प्राप्नुवन्ति) क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ २७२ ॥

(२९०)—इस तरह पूर्व में जो व्यवहारणयाश्रित वर्णन आया है ।

निश्चय नय के द्वारा आगम में उसे निषिद्ध बताया है ॥

पहले व्यवहार नयाश्रय से जो तत्त्वज्ञान कर लेते हैं ।

निश्चय नय के आश्रित वे मुनि निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं ॥ २७२ ॥

आत्मख्यातिः—आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्त-
मध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्।
प्रतिषेध्य एवं चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकतिनामुच्यमानेनाभव्ये-
नाप्याश्रीयमाणत्वाच्च ॥ २७२ ॥

आत्मख्याति—निश्चयनय आत्मा के आश्रित है और व्यवहारनय पर के आश्रित है। इसलिये यहां पर के आश्रित संपूर्ण नी अध्यवसान मुमुक्षु—मुनियों के लिये बंध के हेतु हैं इस कारण से इन अध्यवसानों का निषेध करते हुये निश्चयनय ने व्यवहारनय का ही निषेध कर दिया है ऐसा समझना। क्योंकि वह व्यवहारनय भी तो पराश्रित है अतः इन पराश्रित अध्यवसान और व्यवहारनय में कोई अंतर नहीं है। इसीलिये यह व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है क्योंकि आत्मा के आश्रित जो निश्चयनय है उसका जो आश्रय लेने वाले हैं वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और पर के आश्रित जो व्यवहारनय है उसका एकांत से नियम से मुक्ति को नहीं प्राप्त करने वाले ऐसे अभव्य भी आश्रय लेते हैं ॥ २७२ ॥

विशेषार्थ—आत्मा में पर के निमित्त जो भी भाव होते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं। इनसे भिन्न आत्मा से उत्पन्न हुये शुद्धभाव आत्माश्रित हैं वे निश्चयनय के विषय हैं। महामुनि निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय लेकर ही कर्मों से मुक्त होते हैं। उस शुद्धोपयोग में व्यवहारनय स्वतः छूट जाता है अतः वह हेय है। दूसरी बात यह है कि अभव्यजीव जो कभी भी मुक्ति नहीं प्राप्त करेंगे वे भी तो व्यवहारनय का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करके—मुनि बनकर नवग्रैवेयक तक भी चले जाते हैं किंतु मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते। इसलिये भी व्यवहारनय छोड़ने योग्य है। यहां 'मुमुक्षु' शब्द का प्रयोग श्री अमृतचंद्रसूरि ने महामुनियों के लिये ही किया है। बख्शारी श्रावकों में इस शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। श्री समंतभद्र स्वामी ने भी कहा है—

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीं।

मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

भगवान् आदिनाथ ने समुद्र रूपी वस्त्र को पहने हुये ऐसी पृथ्वीरूपी सती स्त्री को छोड़कर दीक्षा लेली। ये प्रभु मुमुक्षु थे—मोक्ष को प्राप्त करने के इच्छुक थे अथवा कर्मों से छूटने के इच्छुक थे, इक्ष्वाकुवंश के आदि पुरुष थे, आत्मवान्—जितेंद्रिय थे, सहिष्णु थे और अच्युत—कभी च्युत न होने वाले—पुनः कभी जन्म को नहीं ग्रहण करने वाले थे।

(उत्थानिका) —अतः परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति:—

(२९० ज०) एवं व्यवहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।

णिच्छयणयसल्लीणा, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥

एवं व्यवहारनयः, प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।

निश्चयनय-संलीना, मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणं ॥ २९० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एवं व्यवहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषिद्ध इति जानीहि । केन कर्तृभूतेन ? शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन । कस्मात् ? णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं निश्चयनयमालीना आश्रिताः स्थिताः संतो मुनयो निर्वाणं लभन्ते यतः कारणादिति । किं च यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थः । निष्प्रयोजनः ? इति चेत्, कर्मभिरमुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वात् ॥ २९० ॥

उत्थानिका—इसके बाद अभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चयनय से यह विकल्पात्मक व्यवहारनय बाधित किया जाता है । इस कथन की मुख्यता से छहगाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं व्यवहारणओ णिच्छयणयेण पडिसिद्धो जाण) इस पूर्वोक्त रीति से व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो (णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो णिव्वाणं पावंति) क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण ही निर्वाण प्राप्त करते हैं । ॥ २९० ॥

तात्पर्यवृत्ति—पूर्वकथित प्रकार से परद्रव्य के आश्रित होने से व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ऐसा तुम जानो । किसके द्वारा ? शुद्धात्म द्रव्य का आश्रय लेने वाले ऐसे निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध है क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले—उसमें स्थित हुये मुनिराज ही निर्वाण प्राप्त करते हैं । इसे ही कहते हैं—यद्यपि प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा से प्रारंभ के अवसर में सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से यह व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है फिर भी विशुद्धज्ञान दर्शन स्वरूप शुद्धात्मा में स्थित हुये मुनियों के लिये निष्प्रयोजनीभूत है ऐसा अभिप्राय है ।

प्रश्न—यह व्यवहारनय निष्प्रयोजन क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि जो कर्मों से नहीं छूट सकते हैं ऐसे अभव्यों के द्वारा भी उसका आश्रय लिया जाता है । इसलिये यह मोक्षरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाला न होने से ही निष्प्रयोजन है ॥ २९० ॥

कथमभव्येनाश्रीयते व्यवहारनयः ? इति चेत्—

व्रतसमिदीगुत्तीओ शीलतवं जिणवरेशि पण्णत्तं ।

कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥ २७३अ० ॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २७३ ॥

आत्मख्यातिः—शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपञ्चसमितिपरिकलितमहिंसादिपञ्चमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्र्यमभव्योऽपि कुर्यात् तथापि स निश्चारित्र्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्र्यहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात् ॥ २७३ ॥

भावार्थः—यह व्यवहारनय साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा में स्थित हुये मुनि कर्मों का नाश कर केवली होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस दृष्टि से यह व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध किया गया है। फिर भी निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का ध्यान कराने के लिये यह साधन है इस व्यवहारनय के विषयभूत व्यवहारचारित्र्य के बिना आज तक कोई मोक्ष नहीं गये हैं अतः परंपरा से यह मोक्ष का कारण होने से सर्वथा प्रतिषिद्ध नहीं है। हां, इसके होने पर निश्चयरत्नत्रय हो न भी हो किंतु निश्चयरत्नत्रय होगा तो व्यवहार रत्नत्रय से ही होगा जैसे कि फल के लिये फूल कारण हैं किंतु फूल से फल होवे न भी होवे इत्यादि इसलिये यहां एकांत नहीं लेना चाहिये।

उत्थानिका—अभव्यजीव के द्वारा व्यवहारनय का आश्रय कैसे लिया जाता है ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थः—(जिनवरैः प्रज्ञप्तं व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपः कुर्वन् अपि) जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित ऐसे व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप को करते हुये भी (अभव्यः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः तु) अभव्यजीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है ॥ २७३ ॥

आत्मख्याति—शील और तप से परिपूर्ण तीन गुप्ति, पांच समितियों से सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रत, इस व्यवहार चारित्र्य को अभव्य भी पालता है फिर भी वह चारित्र्य से रहित अचारित्र्यी, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि वह निश्चयचारित्र्य के लिये कारणभूत ऐसे ज्ञान और श्रद्धान से शून्य है ॥ २७३ ॥

(२९१)—श्री जिनवर ने जो आगम में व्रत समिति गुप्तियाँ बतलाईं ।

तप तथा शील की सतत भावनाएं अभव्य ने भी भाईं ॥

इन सबको धारण करके भी वह भव्य नहीं बन सकता है ।

वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टी नहिं भेद ज्ञान कर सकता है ॥ २७३ ॥

(२९१ ज०) वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ ॥

वतसमितिगुप्तयः, शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

कुर्वन्नप्यभव्यो अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः ॥ २९१ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं वतसमितिगुप्तिशीलतपश्चरणादिकं जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ मंदमिथ्यात्वमंदकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति । कस्मात् ? इति चेत्, मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात् इति ॥ २९१ ॥

उत्थानिका—इसे ही श्री जयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जिणवरेहि पण्णत्तं वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं कुव्वंतो वि) जिनवरों द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप को करते हुये भी (अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ) अभव्य जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है ॥ २९१ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो पांचव्रत, पांचसमिति, तीन गुप्ति, शील और तपश्चरण आदि हैं उनका कथन श्रीजिनेन्द्रदेव ने किया है । अभव्यजीव अपने मंदमिथ्यात्व और मंद कषायों का उदय होने पर इन व्रतादि को धारण करते हुये भी अज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि है । क्यों ? क्योंकि उसके मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय नहीं होने से शुद्धात्मा के उपादेयरूप श्रद्धान का अभाव है ॥ २९१ ॥

विशेषार्थ—इस गाथा को पढ़कर ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये कि व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप इनका पालन करने वाले मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी हैं क्योंकि पहली बात तो यह है कि इनको पालन करने का आदेश श्री जिनेन्द्रदेव ने दिया है । दूसरी बात यह है कि आज तक जितने महापुरुष मोक्ष गये हैं, वे सभी इन व्रतादिकों का पालन करके ही मोक्ष गये हैं इनके बिना नहीं गये हैं और तीसरी बात यह है कि ऋषभदेव आदि तीर्थकरों ने भी इनका पालन किया है, जैनेश्वरी दीक्षा ली है, केशलोच किया है और तपश्चरण भी किया है । श्रीकुंदकुंददेव ने भी कहा है—

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेवि तवयरणं ।

णारुण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥

तीर्थकरों की धुवसिद्धि है—नियम से उसी भव से मोक्ष जायेंगे तथा दीक्षा लेते ही मनःपर्ययसहित चारज्ञान के धारी हो जाते हैं फिर भी वे तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकरके ज्ञान से सहित होते हुये भी नियम से तुम्हें तपश्चरण करना चाहिये । देखो, भगवान् ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक तपश्चरण किया था और भगवान् महावीर ने बारह वर्ष तक किया था । इसलिये

व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप इनको आदर पूर्वक ग्रहण करना चाहिये और इनके धारण करने वालों के प्रति भी महान आदरभाव रखना चाहिये।

कोई कहे कि अभव्य तो इनको धारण करते हुये भी अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि ही रहता है यही कारण है इस व्यवहारन्याश्रित चारित्र का ऊपर की गाथा में निश्चयनय ने प्रतिषेध कर दिया है। सो बात यह है कि इस व्यवहारचारित्र के आश्रय से ही मुनि कहलाते हैं तभी वे निश्चयनय के आश्रित शुद्धात्मा में लीन हो सकते हैं अतः महल की छत पर पहुंचने के लिये सीढ़ी के समान यह व्यवहारचारित्र उपादेय है पुनः छत पर पहुंच जाने पर सीढ़ी स्वयमेव छूट जाती है। हां, यदि ऊपर से पुनः नीचे उतरना हो तो सीढ़ी की फिर भी आवश्यकता रहती ही है वैसे ही मुनि सातवें गुणस्थान से छठे में उतरते हैं, तब व्यवहार चारित्री होते हैं और छठे से सातवें में चढ़ते हैं तब निश्चय चारित्री होते हैं। ये छठे-सातवें गुणस्थान अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त काल के ही हैं अतः वे अपने जीवन में असंख्यातों बार इन दोनों गुणस्थानों में चढ़ते-उतरते रहते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि अभव्य मुनि का चारित्र भी निंदनीय नहीं है क्योंकि वह भी तो निर्दोष चारित्र और ग्यारह अंगों तक ज्ञान प्राप्त कर समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथों को भी पढ़ता है 'आत्मा भिन्न है—शरीर भिन्न है' ऐसा प्रतिपादन करके हजारों शिष्यों को मोक्षमार्गी बना देता है फिर भी उसके श्रद्धान नहीं है, कहां और क्या कमी है ? उसे हम और आप जैसे साधारण व्यक्ति जान नहीं सकते हैं यह विषय सर्वज्ञगम्य ही है तभी तो वह मुनि नवग्रैवेयक तक जा सकता है—अन्यथा इतने ऊँचे अहमिद्र पद को भला वह कैसे प्राप्त करेगा ? ऐसा होने पर भी संघों में यह अभव्य है या द्रव्यलिंगी मुनि ? ऐसा भेद नहीं देखा जा सकता है। क्या उन अभव्य या द्रव्यलिंगी मुनियों को आहार देने के लिये छांट-छांट कर—ढूँढ़-ढूँढ़ कर मिथ्यादृष्टि श्रावक बुलाये जाते थे ? आखिर संघ में मुनिगण वंदना-प्रतिवंदना भी तो करते ही थे जैसे पुष्पडाल मुनि द्रव्यलिंगी थे तो भी उनको आहार देने वाले, नमस्कार करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावक थे। अतः किन्हीं मुनि को अभव्य या द्रव्यलिंगी कहकर उनका अपमान करना चारित्र का अपमान है क्योंकि उनका भी चारित्र पूज्य है, वह नवग्रैवेयक तक ले जाने का कारण है।

कोई कहे 'ज्ञान बिना करनी दुःखदायी' सो यहां यह पंक्ति लागू नहीं होगी। इसे तो वहां लगाना चाहिये जहां करनी—क्रियायें उल्टी-सुल्टी हों जैसे किसी ने दिनभर तो उपवास रखा और कंदमूल आदि अभक्ष्य भक्षण करते हुये रात में पारणा कर लिया। लोक उदाहरण प्रसिद्ध है—एक वैद्य ने कहा कि—भाई 'दवाई हिला कर पिलाना' वे महानुभाव घर आये और रोगी को हिला-हिलाकर दवाई पिलाने लगे, बेचारा अति कमजोर रोगी और अधिक अस्वस्थ हो गया। सो यहां दवाई हिलाने की बात थी, न कि रोगी को हिलाने की इत्यादि।

निष्कर्ष यह निकला कि यह महाव्रत आदि व्यवहार चारित्र भव्य तो धारण करते ही हैं तथा अभव्य भी धारण कर सकते हैं इसलिये इसी से साक्षात् मोक्ष मत मानो, इसको साधन मानकर इससे साध्य—निश्चयचारित्र की भावना भावो, इसी में अटके मत रहो। इसी तक कर्तव्य

तस्यैकादशांगज्ञानमस्ति ? इति चेत्—

मोक्षं असद्वहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।

पाठो ण करेदि गुणं असद्वहंतस्स णाणं तु ॥ २७४ अ० ॥

मोक्षमश्रद्धानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।

पाठो न करोति गुणमश्रद्धानस्य ज्ञानं तु ॥ २७४ ॥

आत्मख्यातिः—मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धते शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् ततो ज्ञानमपि नासीं श्रद्धते, ज्ञानमश्रद्धानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावात् ज्ञानी स्यात् स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्धानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत ततस्तस्य तद्गुणाभावः, ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः ॥ २७४ ॥

की 'इतिश्री' मत समझो। जब तक तुम मुनि नहीं बने हो, मुनिव्रत धारण करने की भावना करते रहो और यदि मुनि हो तो निश्चयचारित्र को प्राप्त करने की भावना भाते रहना ही श्रेयस्कर है।

उत्थानिका—उस अभव्य के ग्यारह अंग का तो ज्ञान है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः अभव्यसत्त्वः मोक्षं अश्रद्धानः तु अधीयीत) जो अभव्यजीव है वह मोक्ष का श्रद्धान नहीं करता हुआ अध्ययन करता है (ज्ञानं तु अश्रद्धानस्य पाठः गुणं न करोति) इसलिये ज्ञान का श्रद्धान नहीं करने वाले जीवको उसका पढ़ना गुणकारी नहीं होता है ॥ २७४ ॥

आत्मख्याति—अभव्यजीव वास्तव में मोक्ष का श्रद्धान नहीं करता है, क्योंकि वह शुद्धज्ञानमय ऐसी आत्मा के ज्ञान से शून्य है इसलिये वह ज्ञान का भी श्रद्धान नहीं करता है और ज्ञान का श्रद्धान नहीं करने से वह आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत का अध्ययन करते हुये भी शास्त्र के अध्ययन का जो गुण—फल है उसको न प्राप्त कर सकने से वह ज्ञानी नहीं हो सकता है। श्रुत के अध्ययन का गुण—फल तो यह है कि जो अन्य द्रव्यों से भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा है उसका ज्ञान हो। सो उस भिन्न वस्तुभूत—वास्तविक ज्ञान का—ज्ञानस्वरूप आत्मा का श्रद्धान न करते हुये उस अभव्य जीव को श्रुत के अध्ययन से वह आत्मज्ञान प्राप्त होना शक्य नहीं है अतः उसके उस श्रुत के अध्ययन के फल का अभाव है इसीलिये वह ज्ञान और श्रद्धान के अभाव से अज्ञानी ही है ऐसा नियम सिद्ध हो गया ॥ २७४ ॥

(२९२)—जो मोक्षतत्त्व की श्रद्धा नहीं करता अभव्य कहलाता है।

वह शास्त्रों को पढ़कर भी सम्यग्ज्ञानी नहीं बन पाता है ॥

बिना ज्ञानभाव की श्रद्धा के शास्त्रों का पठन न गुण करता।

एकादशांग ज्ञानी अभव्य मुक्तीलक्ष्मी को नहीं वरता ॥ २७४ ॥

(उत्थानिका) —अथ तस्यैकादशांगश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी ? इति चेत्—

(२९२ ज०) मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज ।

पाठो ण करेदि गुणं, असद्दहंतस्स णाणं तु ॥

मोक्षमश्रद्धधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।

पाठो न करोति गुणमश्रद्धधानस्य ज्ञानं तु ॥ २९२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज मोक्षमश्रद्धधानः सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशांगश्रुताध्ययनं कुर्यात् पाठो ण करेदि गुणं तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति । किं कुर्वतस्तस्य ? असद्दहंतस्स णाणं तु अश्रद्धधतोऽरोचमानस्य । किं ? ज्ञानं । कोऽर्थः ? शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्यं गम्यं शुद्धात्मस्वरूपमिति । कस्मान्न श्रद्धते ? दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् । तदपि कस्मात् ? अभव्यत्वादिति भावार्थः ॥ २९२ ॥

उत्थानिका—जिस अभव्य के ग्यारह अंगों का श्रुत का ज्ञान है, पुनः वह अज्ञानी कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु अभवियसत्तो मोक्खं असद्दहंतो अधीयेज्ज) जो अभव्यजीव मोक्ष का श्रद्धान न करता हुआ अध्ययन करता है (णाणं तु असद्दहंतस्स पाठो गुणं ण करेदि) उस ज्ञान का श्रद्धा नहीं करने वाले जीव को उसका अध्ययन करना लाभकारी नहीं होता है ॥ २९२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—मोक्ष का श्रद्धान नहीं करता हुआ वह अभव्य जीव यद्यपि ख्याति, पूजा और लाभ के लिये एकादश अंग तक भी श्रुत का अध्ययन कर लेता है तो भी उसका वह शास्त्रों का पढ़ना शुद्ध आत्मा के जाननेरूप—अनुभवरूप गुण को नहीं करता क्योंकि उसको ज्ञान का श्रद्धान नहीं है—रुचि नहीं है । वह ज्ञान क्या है ? शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसके अनुष्ठान रूप चारित्र इन तीनों की एकरूपतारूप निर्विकल्प समाधि के द्वारा प्राप्त होने योग्य—जानने योग्य जो शुद्धात्मा का स्वरूप है यहां वही 'ज्ञान' शब्द से विवक्षित है ।

प्रश्न—वह अभव्यजीव इस ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा का श्रद्धान क्यों नहीं करता है ?

उत्तर—क्योंकि उसके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम और क्षय का अभाव है ।

प्रश्न—ऐसा भी क्यों ?

उत्तर—क्योंकि वह अभव्य है, इसलिये उसके मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम आदि होना संभव ही नहीं है । यदि हो जावे तो पुनः वह अभव्य नहीं रहेगा, भव्य हो जावेगा । किंतु अभव्य का भव्य होना तीनकाल में भी संभव नहीं है ऐसा समझना ॥ २९२ ॥

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्—

सहृदि य इतिषदि च, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।

धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५ ॥

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।

धर्म भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ॥ २७५ ॥

भावार्थ—अभव्यजीव कदाचित् पिथ्यात्व और कषायों के मंद उदय से मुनि बन जाता है, वह निर्दोष चारित्र पालते हुये गुरु के सानिध्य में रहकर आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन भी कर लेता है। आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है ऐसा कहते हुये अच्छा से अच्छा उपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाकर संसार से तार देता है किंतु उसमें श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की जो कमी है वह न स्वयं समझ पाता है और न हम और आप ही समझ सकते हैं। यही कारण है कि वह मोक्ष का पात्र नहीं है। उसके व्यवहाररत्नत्रय भी नहीं है यद्यपि ऊपर से दिख रहा है लेकिन वास्तव में सच्चा रत्नत्रय नहीं है। यहां यह बात ध्यान में रखना कि अभव्यजीव को मुनि बनने पर ही अंगों का ज्ञान होता है मुनि के बिना श्रावक को या गृहस्थ अवती को अंगरूप श्रुत पढ़ने का अधिकार नहीं है। दूसरी बात यह है कि अभव्यमुनि को ग्यारह अंग तक ही ज्ञान हो सकता है। पूर्वो का ज्ञान नहीं होता है। जो कोई रुद्रों को दशपूर्व तक ज्ञान सुनकर अभव्य को दशपूर्व तक ज्ञान मानते हैं वह गलत है क्योंकि रुद्र अभव्य नहीं हैं भव्य हैं ऐसा नियम है वे भ्रष्ट होकर दुर्गति में जाकर भी आगे भवों में नियम से मोक्ष जावेंगे ऐसा कथन आया है।

उत्थानिका--उस अभव्य के धर्म का श्रद्धान तो है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सः धर्मं श्रद्धधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनः च स्पृशति) वह अभव्यजीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसकी प्रतीति करता है, रुचि करता है और उसका स्पर्श भी करता है (भोगनिमित्तं न तु कर्मक्षयनिमित्तं) वह सब संसार के भोग के लिये करता है न कि कर्मक्षय के लिये ॥ २७५ ॥

(२९३)—जग में अभव्य यदि कभी धर्म की श्रद्धा रुचि करता भी है।

कभी धर्म प्रेम से जिनशासन में उसका मन झुकता भी है ॥

सांसारिक भोगों के निमित्त ही उसको धर्म सुहाता है।

नहि कर्मनाश के हेतु कभी शुद्धात्मध्यान कर पाता है ॥ २७५ ॥

आत्मख्यातिः—अभव्यो हि नित्यकर्मकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धते नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात् । ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धते । भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धते । तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्वकंदेन पुनः कदाचनापि विमुच्यते, ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ॥ २७५ ॥

(उत्थानिका) —अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्,—

(२९३ ज०) सहहृदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि ।

धम्मं भोगणिमित्तं, ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥

श्रद्धधाति च प्रत्येति च, रोचवति च तथा पुनरपि स्पृशति ।

धर्मं भोगनिमित्तं, न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ॥ २९३ ॥

आत्मख्यातिः—अभव्य जीव हमेशा ही कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनारूप वस्तु का श्रद्धान करता है किंतु नित्य ज्ञानचेतनामात्र जो आत्मद्रव्य है उसका श्रद्धान नहीं करता है क्योंकि वह नित्य ही भेदविज्ञान के अयोग्य है । इसलिये वह कर्मों से मुक्त होने के लिये कारण ऐसे ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म का श्रद्धान नहीं करता है प्रत्युत भोगों के लिये कारण शुभक्रियामात्र ऐसे अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है इसलिये यह असत्यार्थ धर्म के श्रद्धान, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन के द्वारा नवमें ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त कर लेता है किंतु वह कदाचित् भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता है । इस हेतु से इसके सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से श्रद्धान—सम्यग्दर्शन भी नहीं है और ऐसा होने पर तो निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का प्रतिषेध करना युक्त ही है ॥ २७५ ॥

उत्थानिका—उस अभव्य के पुण्यरूप धर्म आदि का श्रद्धान तो है ऐसा कहने पर समाधान करते हैं—

अन्वयार्थः—(सो धम्मं सहहृदि य पत्तेदि य रोचेदि य पुणोवि फासेदि) वह अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसकी प्रतीति करता है, रुचि करता है और उसका स्पर्श भी करता है (भोगणिमित्तं ण हु कम्मक्खयणिमित्तं) वह सब भोग के लिये करता है न कि कर्मक्षय के लिये करता है । ॥ २९३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—सहृदि य श्रद्धते च पतेदि य ज्ञानरूपेण प्रत्यति च प्रतीति परिच्छिन्ति करोति रोचेदि य विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च तह पुणोवि फासेदि तथा पुनः स्पृशति य अनुष्ठानरूपेण । कं ? धम्मं भोगणिमित्तं अहमिद्रादिपदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकांक्षारूपेण पुण्यरूपं धर्मं ण हु सो कम्मवडुयणिमित्तं नच कर्मक्षयनिमित्तं शुद्धात्मासंविस्तिनक्षणं निश्चयधर्मास्मिति ॥ २९३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह अभव्य जीव अहमिद्र आदि पदवी के लिये कारण होने से ऐसे पुण्यरूप धर्म का भोग की आकांक्षा रूप से श्रद्धा करता है, ज्ञानरूप से उस धर्म को जानता है—प्रतीति करता है और विशेष श्रद्धान रूप से उसी पर रुचि रखता है तथा उसी धर्म के अनुष्ठान रूप से उसी का स्पर्श करता है। किंतु यह अभव्य होने से कर्मों के क्षय के निमित्त ऐसे शुद्धात्मा के अनुभव लक्षण वाले निश्चयधर्म को नहीं प्राप्त कर पाता है, ऐसा समझना ॥२९३॥

विशेषार्थ—यहां टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि ने असत्यार्थ धर्म के श्रद्धान आदि से नवमें ग्रैवेयक तक जाना माना है। यह दिगंबर मुनियों के लिये ही संभव है क्योंकि निर्वस्त्र मुनि हुये बिना सोलहवें स्वर्ग के ऊपर जाना असंभव है। अतः यह ग्रंथ और इसका सारा प्रकरण मुनियों के लिये ही है। यहां जो अभव्य की बात है उससे यह समझते हुये देरी नहीं लगती है कि अभव्यमुनि ही ग्यारह अंगों को पढ़कर व घोर तपश्चरण करके नवमें ग्रैवेयक तक जा सकते हैं शिथिलाचारी मुनि इतने ऊपर तक नहीं जा सकते हैं। इन्हीं प्रकरणों को पढ़कर शायद पं० दौलतराम जी ने यह पद्य बनाया होगा—

कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरे जे ।

ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति ते सहज टरे ते ॥

मुनिवत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो ।

पै निज आतम-ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥

जहां तक अनंतबार ग्रैवेयक जाने की बात है वह अभव्य मुनियों के लिये ही घटित होगी जो कि इस समयसार ग्रंथ की इन गाथा व टीकाओं से संदर्भित है। तथा जो यहां ज्ञानी और अज्ञानी की बात है वह भी मुनियों की अपेक्षा से ही है क्योंकि 'ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति ते' शब्द तीनगुप्ति के धारक मुनियों के लिये ही है तीन गुप्तियां भला

गृहस्थ श्रावक व अव्रती के कहां संभव हैं ? यह प्रकरण भी जिस गाथा के आधार से लिया गया है उसे देखिये—

जं अण्णणी कम्मं, खवेइ भवसयसहस्स कोडीहिं ।

तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेतेणं ॥ ३८ ॥

अज्ञानी जीव जितने कर्मों को लाखों-करोड़ों भवों द्वारा नष्ट करता है, ज्ञानी मुनि तीन गुणियों से गुप्त—सहित होकर उतने कर्मों को उच्छ्वास मात्र में क्षपित कर देते हैं।

इस गाथा को पढ़कर और उपर्युक्त समयसार में अभव्यमुनि की बात पढ़कर आजकल के विद्वानों को उन छहढाला की पंक्तियों का अर्थ आजकल के सभी मुनियों में नहीं घटाना चाहिये। आज तो उत्तम संहनन के अभाव में कोई भी मुनि न तो नवग्रैवेयक में ही जा सकते हैं और न ही वे तीनगुणियों के शरी ही हो सकते हैं। फिर भी आज के मुनियों में से भी कोई-कोई मुनि इंद्रपद व लौकांतिकदेव के पद को अवश्य प्राप्त कर सकते हैं तथा आत्मतत्त्व के ज्ञानी व ध्यानी भी हो सकते हैं। श्रीकुंदकुंददेव की ही गाथायें हैं—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेई साहुस्स ।

तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णणी ॥

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्ञायेहि लहइ इंदत्तं ।

लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदि जंति ॥

इस भरतक्षेत्र में, दुःषमकाल में साधुओं के धर्मध्यान होता है वे आत्मस्वभाव में स्थित होकर धर्मध्यान करते हैं। जो ऐसा नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं। आज भी मन वचन काय की शुद्धि से सहित मुनि आत्मा का ध्यान करके इंद्र और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं पुनः वहां से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं। अतः समयसार की इन गाथाओं को आज के सभी मुनियों पर लगाकर उन्हें द्रव्यलिङ्गी, अभव्य मानकर उनकी भक्ति का निषेध करना मिथ्यात्व है, महापाप है ऐसा समझना।

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

आचारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।

छज्जीवणिकं च तथा भणइ चरित्तं तु व्यवहारो ॥ २७६ ॥

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।

आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥ (द्युगलम्)

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं ।

षट्जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २७६ ॥

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च ।

आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरो योगः ॥ २७७ ॥

उत्थानिका—व्यवहारनय प्रतिषिद्ध होने योग्य और निश्चयनय प्रतिषेधक है ये दोनों नय ऐसे कैसे हैं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आचारादि ज्ञानं च जीवादि दर्शनं विज्ञेयं च षट्जीवनिकां तथा चारित्रं तु व्यवहारः भणति) आचारांग आदि शास्त्र ही ज्ञान है, जीवादि पदार्थ ही सम्यग्दर्शन हैं और छह जीवकायों का समूह ही चारित्र है ऐसा तो व्यवहारनय कहता है। (खलु मम आत्मा ज्ञानं मे आत्मा दर्शनं चारित्रं च) निश्चय से मेरा आत्मा ज्ञान है, मेरा आत्मा सम्यग्दर्शन और चारित्र है (मे आत्मा प्रत्याख्यानं संवरः योगः) मेरा आत्मा प्रत्याख्यान है, संवर है और योग है—यह निश्चयनय कहता है ॥ २७६-२७७ ॥

(२९४)—आचारांगादिक शास्त्रों का पढ़ना ही ज्ञान कहाता है ।

जीवादि पदार्थों की श्रद्धा करना दर्शन कहलाता है ॥

षट्जीवनिकायों की रक्षा चारित्र व्यवहार कहा जाता ।

वैरागी मुनियों के द्वारा यह रत्नत्रय पाला जाता ॥ २७६ ॥

(२९५)—पर निश्चयनय से तो मेरा आत्मा ही ज्ञान कहाता है ।

आत्मा ही दर्शन है मेरा आत्मा चारित्र कहाता है ॥

आत्मा ही प्रत्याख्यान तथा आत्मा ही संवर कहलाता ।

आत्मा ही योग समाधिरूप योगी उस आत्मा को ध्याता ॥ २७७ ॥

आत्मरक्षातिः—आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वात् ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायरक्षाचारित्रस्याश्रयत्वात् चारित्रं, इति व्यवहारः। शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाद् ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद् व्यवहारनयः प्रातिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात् तत्प्रतिषेधकः। तथाहि—नाचारादिशब्दश्रुतं एकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। न जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयाः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्। न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयस्तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्। शुद्धात्मैव दर्शनस्याश्रयः जीवादिपदार्थ-सद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्। शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः षड्जीवनिकाय-सद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात् ॥ २७६-२७७ ॥

आत्मरक्षाति—आचारांग आदि अंग-पूर्व जो शब्दश्रुत है—द्रव्यश्रुत है, वह ज्ञान का आश्रय होने से वही ज्ञान है, जीवादि नवपदार्थ हैं श्रद्धान का आश्रय होने से वे ही सम्यग्दर्शन हैं और छहजीवनिकायों की जो रक्षा है, चारित्र का आश्रय होने से वही चारित्र है, यह व्यवहार है अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग है। शुद्ध आत्मा है अतः वही ज्ञान का आश्रय होने से ज्ञान है, शुद्ध आत्मा ही श्रद्धान का आश्रय होने से सम्यग्दर्शन है और शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय होने से चारित्र है, यह निश्चयनय है अथवा निश्चय मोक्षमार्ग है। यहां जो आचारांग आदि द्रव्यश्रुत हैं वे ज्ञान के आश्रय हैं इसका अनेकांत है—व्यभिचार है इसीलिये यह व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। निश्चयनय तो शुद्धात्मा के आश्रित है अतः उसका ज्ञानादि के आश्रय के साथ एकांत—अव्यभिचार है इसी कारण वह प्रतिषेध करने वाला है। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

जो आचारांग आदि द्रव्यश्रुत हैं वे एकांत से —सर्वथा ज्ञान के आश्रयभूत हों ऐसा नहीं है क्योंकि उन आचारांग आदि ज्ञान के सद्भाव में भी अभव्यजीवों के शुद्धात्मा का अभाव होने से सत्यार्थभूत ज्ञान का अभाव है। जीवादि नव पदार्थ सम्यग्दर्शन के आश्रय नहीं हैं क्योंकि उन पदार्थों के होने पर भी अभव्यजीवों के शुद्धात्मा का अभाव होने से श्रद्धान का अभाव है। छहजीवनिकायों की रक्षा चारित्रका आश्रय नहीं है क्योंकि इस चारित्र के सद्भाव में भी अभव्यजीवों के शुद्धात्मा का अभाव होने से चारित्र का अभाव है। वास्तव में शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है क्योंकि आचारांग आदि शब्दरूप द्रव्य श्रुत का सद्भाव हो या सद्भाव न हो किंतु शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है, जीवादि पदार्थों का सद्भाव हो या सद्भाव न हो किंतु शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही

उपजाति छन्द—रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।

आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुज्ञाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४ ॥

श्रद्धान का सद्भाव होता है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है क्योंकि छह जीवनिकाय की रक्षा का सद्भाव हो या सद्भाव न भी हो फिर भी शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है ॥ २७६-२७७ ॥

भावार्थ—यहां पर यह बतलाया है कि जीवचरि पदार्थों का श्रद्धान, आचारांग आदि का ज्ञान और छहजीव निकायों की रक्षा करना यह व्यवहार रत्नत्रय है यह अभव्य मुनियों के भी संभव है अतः यह अनैकांतिक यानी व्यभिचारी हेतु होने से मोक्ष की प्राप्ति के लिये हेत्वाभास है—कारणाभास है किंतु शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र यह निश्चय रत्नत्रय है यह हो जावे तो मोक्ष निश्चित ही है इसीलिये यह निश्चयरत्नत्रय मोक्ष के लिये हेतु है—कारण है। यहां जो अंतिम पंक्ति में यह कहा है कि जीवों की रक्षा का सद्भाव हो या असद्भाव, उससे अविरतरूप हिंसा का सद्भाव नहीं समझना प्रत्युत वह प्रथम भूमिका रूप है द्वितीय भूमिका अहिंसा रूप है और तृतीय भूमिका हिंसा-अहिंसा से परे शुद्धात्मा के ध्यानरूप है। उसकी यहां विवक्षा है क्योंकि निश्चयरत्नत्रय उन्हीं महामुनि के होगा जिनके व्यवहाररत्नत्रय पूर्णतया निर्दोष है। व्यवहार रत्नत्रय हो तो निश्चयरत्नत्रय प्रगट हो, नहीं भी हो किंतु निश्चय रत्नत्रय जिनके होगा उनके व्यवहाररत्नत्रय होगा ही होगा क्योंकि जैसे फूल के बिना फल असंभव है, कुंभार व चाक आदि के बिना घड़ा बनना असंभव है वैसे ही व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय का होना असंभव है। अन्यथा तीर्थंकर आदि महापुरुष दीक्षा लेकर केशलोच क्यों करते ? हजारों वर्ष तपश्चरण क्यों करते ? अतः व्यवहाररत्नत्रय को भी उपादेय मानकर ग्रहण करना चाहिये। आगे उसे साधन मानकर निश्चयरत्नत्रय को साध्य करके उसके द्वारा साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करना चाहिये। आगे कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यहां प्रश्न होता है कि जो रागादिभाव हैं वे बंध के ही कारण हैं वे शुद्ध चिन्मात्र आत्मा के तेज से भिन्न हैं। वहां पर उनके होने में आत्मा निमित्त कारण है या कोई अन्य कारण है ? ऐसा पूछने पर ही आचार्यदेव पुनः कहते हैं। १७४ ।

यह काव्य आगे की गाथाओं के लिये उत्थानिकारूप है। अब यहां श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में टीका करते हैं—

रागादि भाव जो हैं वे बंध के ही कारण हैं बतलाया ।

वे शुद्ध चिदात्मा के प्रकाश से सदा भिन्न हैं समझाया ॥

उन भावों के होने पर आत्मा निमित्त कारण है या नहीं ?

यहां प्रश्न हो रहा है मानो क्या अन्य भी हैं कारण कोई ? ॥ १७४ ॥

(उत्थानिका) —अथ कीदृशौ तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

(२९४ ज०) आचारादी णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।

छज्जीवाणं रक्खा, भणति चरित्तं तु व्यवहारो ॥

(२९५ ज०) आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥ (युगलम्) ॥

आचारादि ज्ञानं, जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं ।

षट् जीवानां रक्षा, भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २९४ ॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।

आत्मा प्रत्याख्याने, आत्मा मे संवरे योगे ॥ २९५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—आचारादी णाणं आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशांगशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति । जीवादी दंसणं च विण्णेयं जीवादिनवपदार्थः श्रद्धानविषयः सम्यक्त्वाश्रयत्वा-
निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति । छज्जीवाणं रक्खा भणति चरित्तं तु व्यवहारो षट्जीवनिकायरक्षा
चारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति । एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गः प्रोक्त इति । आदा खु

उत्थानिका—वे व्यवहार और निश्चयनय प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक कैसे हैं ? ऐसा पूछने पर आर्चायदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आचारादी णाणं च जीवादी दंसणं) आचारांग आदि ही ज्ञान है, जीवादिपदार्थ ही दर्शन है (छज्जीवाणं रक्खा तु चरित्तं भणति व्यवहारो) और छह काय के जीवों की रक्षा यह चारित्र है यह व्यवहार रत्नत्रय है ।

(खु आदा मज्झ णाणे) निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है (मे आदा दंसणे य चरित्ते) मेरा आत्मा ही दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है (आदा पच्चक्खाणे मे आदा संवरे जोगे) आत्मा ही प्रत्याख्यान है मेरा आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है ॥ २९४-२९५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्यारह अंगरूप जो शब्द शास्त्र है वह ज्ञान का आश्रय होने से—ज्ञान का कारण होने से व्यवहार से ज्ञान होता है । जीवादि नवपदार्थ श्रद्धान के विषय हैं वे सम्यक्त्व का आश्रय होने से और निमित्त होने से व्यवहारनय से सम्यक्त्व हैं । छहजीवनिकायों की रक्षा करना—दया पालना, यह चारित्र का आश्रय है और हेतु है अतः व्यवहार से यह चारित्र है । इस तरह पर के आश्रित होने से यह व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है ।

मज्झ णाणे स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वात्निमित्तत्वात्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति । आदा मे दंसणे शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणत्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनं भवति चरित्ते य शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति आदा पच्चक्खन्नाणे शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्य प्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति । आदा मे संवरे शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिवत्तेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसंवरस्याश्रयत्वात्निश्चयेन संवरो भवति जोगे शुद्धात्मा शुभाशुभचिंतानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगो भवतीति । शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः । एवं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितं । तत्र निश्चयः प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति । कस्मादिति चेत्, निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति, व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च । कथं भवति न भवति ? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्सकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति । यदि पुनः सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो न भवति । तदपि कस्मात् ? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न

अपनी शुद्धात्मा ज्ञान का आश्रय है और निमित्त है अतः निश्चयनय से वही आत्मा सम्यग्ज्ञान है । शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है और कारण है अतः निश्चयनय से वही सम्यग्दर्शन है । शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय है और हेतु है अतः निश्चयनय से आत्मा ही सम्यक्चारित्र है । शुद्धात्मा ही रागादि के परिहार लक्षण प्रत्याख्यान का आश्रय है और हेतु है अतः निश्चयनय से वही प्रत्याख्यान है । शुद्धात्मा ही स्वरूप की उपलब्धि के बल से हर्ष-विषाद आदि के निरोध लक्षण संवर का आश्रय है अतः निश्चय से वही आत्मा संवर है । शुद्धात्मा ही शुभ-अशुभ चिंता के निरोध लक्षण परमध्यान शब्द से वाच्य ऐसे योग का आश्रय है और हेतु है अतः वही आत्मा परमयोग है । इस प्रकार शुद्धात्मा के आश्रित होने से यह निश्चय मोक्षमार्ग जानना चाहिये । इस तरह व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप कहा गया है । उन दोनों में निश्चयमोक्षमार्ग प्रतिषेध करने वाला है और व्यवहार मोक्षमार्ग प्रतिषिद्ध होने योग्य है ।

प्रश्न—ऐसा क्यों है ?

उत्तर—ऐसा इसलिये है कि निश्चय मोक्षमार्ग में स्थित हुये जीवों को नियम से मोक्ष होता है और व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित हुये जीवों को मोक्ष होता है नहीं भी होता है ।

प्रश्न—व्यवहार मोक्षमार्गों जीवों को मोक्ष होता है और नहीं भी होता है ऐसा क्यों ?

उत्तर—यदि ये व्यवहार मोक्षमार्ग में लगे हुये जीव मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जाने से अपनी शुद्ध आत्मा को उपादेय मानकर वर्तन करते हैं तब मोक्ष होता है । यदि पुनः कोई मुनि इन सात प्रकृतियों के उपशम आदि के अभाव में शुद्धात्मा को उपादेय करके नहीं रहते हैं तब मोक्ष नहीं होता है ।

श्रद्धते यतः कारणात् । यस्तु तादृशमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति । यस्य पुनः पूर्वोक्तशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयं नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं मिथ्यादृष्टिरसौ । तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिमत्तप्रकृत्युपशमादिकं कदाचिदपि न संभवति इति भावार्थः । किं च, निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः, किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः । एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट्सूत्रैः पञ्चमं स्थलं गतं ॥ २९४-२९५ ॥

प्रश्न—ऐसा भी क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि इन सात प्रकृतियों के उपशम आदि के अभाव में अनन्तज्ञान आदि गुणस्वरूप आत्मा को उपादेय मानकर वे नहीं रहते हैं और न वे श्रद्धान ही करते हैं यही कारण है कि उनको मोक्ष नहीं होना है और जो वैसी अपनी शुद्ध आत्मा को उपादेय करके श्रद्धान करता है उनके सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय है तो वह भव्य है पुनः जिसके पूर्वोक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप उपादेय नहीं है उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय भी नहीं हो सकता है यही कारण है कि वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिये । इस हेतु से अभव्य जीव के मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम आदि होना किसी काल में भी संभव नहीं है ऐसा अभिप्राय समझना ।

दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होकर व्यवहार छोड़ने योग्य है बल्कि उस तीन गुप्तिरूप ध्यान अवस्था में व्यवहार स्वयं ही नहीं रहता है अर्थात् स्वयं छूट जाता है ऐसा तात्पर्य—अर्थ है । इस तरह निश्चयनय से व्यवहार प्रतिषिद्ध है इस कथनरूप से छह सूत्रों द्वारा पांचवां स्थल पूर्ण हुआ ॥ २९४-२९५ ॥

विशेषार्थ—यहां पर आचार्य श्रीकुंदकुन्ददेव ने गाथा में आचार आदि द्रव्यश्रुत को ही ज्ञान कहा है, जीवादिपदार्थों को सम्यग्दर्शन कहा है और छहजीव निकाय को ही चारित्र कहा है । टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी ऐसा कहा है कि ये आचारादि शब्दरूप जो द्रव्यश्रुत—शास्त्र हैं वे ज्ञान का आश्रय होने से ज्ञान हैं, जीवादि नवपदार्थ ही सम्यक्त्व का आश्रय होने से सम्यक्त्व हैं, यहां दर्शन शब्द श्रद्धान अर्थ में होने से सम्यक्त्व का वाचक है ऐसा समझना तथा छहजीव समूह की रक्षा, चारित्र का आश्रय होने से चारित्र है । यहां भी गाथा में रक्षा शब्द न होने पर भी अध्याहार से लिया है यह टीकाकारों का कार्य है कि प्रकरण से शब्दों का अध्याहार कर लेना ।

इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि "ये आचारांग आदि श्रुतज्ञान के आश्रय हैं और ज्ञान के लिये कारण भी हैं अतः ये व्यवहार से ज्ञान कहलाते हैं ऐसे ही जीवादि पदार्थ श्रद्धान के विषय हैं अतः सम्यक्त्व के आश्रय हैं और सम्यक्त्व के लिये निमित्त भी हैं अतः व्यवहार से सम्यक्त्व कहे गये हैं इसी प्रकार छहजीवनिकायों की रक्षा चारित्र का आश्रय है और हेतु भी है इसीलिये व्यवहार से उसे चारित्र कहते हैं। अब विचार करके देखा जावे तो श्रीजयसेनाचार्य ने श्रीअमृतचन्द्रसूरि की टीका का भावार्थ ही किया है। वहां आचार्य श्री ने एक बार ही कह दिया है कि 'इति व्यवहारः' यह व्यवहार है। यहां इन तात्पर्यवृत्तिकार ने तीनों स्थान में 'व्यवहारेण' शब्द का प्रयोग कर दिया है। यहां पर कारण में कार्य का उपचार करने से ही शास्त्र को, तत्त्व को और जीवसमूह को ज्ञान दर्शन चारित्र कह दिया है जैसे कि 'अन्नं वै प्राणाः' कहने से अन्न प्राण के लिये कारण होने से कारण में ही प्राणरूप कार्य का उपचार कर दिया जाता है वैसे ही यहां समझना । यहां यह कोई नई बात नहीं है सर्वप्रथम ही श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।

आसवसंवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्पत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थ से—निश्चयनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नवपदार्थ ही सम्यक्त्व हैं। वहां पर भी उभय टीकाकारों ने यही खुलासा किया है कि ये नवपदार्थ सम्यक्त्व के विषय हैं और कारण हैं अतः अभेद उपचार से—कारण-कार्य में अभेद करके ही इन्हें सम्यक्त्व कह दिया गया है इत्यादि।

यहां गाथा में पाठ भेद समझना—श्री अमृतचंद्रसूरि ने २७६ वीं गाथा के तृतीय चरण में 'छज्जीवणिकं च तहा' पाठ माना है और श्री जयसेनाचार्य ने 'छज्जीवाणं रक्खा' पाठ माना है ऐसा समझना।

यहां पर आचार्यदेव ने यह भी सिद्ध किया है कि 'व्यवहारमोक्षमार्ग' अभव्य जीवों में भी पाया जाता है अतः वह निश्चय मोक्षमार्ग के द्वारा निषिद्ध है। यह अपेक्षाकृत कथन है अतः सर्वथा एकांत नहीं लेना चाहिये। प्रवचनसार में कहा है कि सरागचारित्र, अपहतसंयम, शुभोपयोग, अपवादमार्ग और व्यवहारचारित्र ये पर्यायवाची नाम हैं। तथा वीतरागचारित्र, उपेक्षा संयम, शुद्धोपयोग, उत्सर्गमार्ग और निश्चयचारित्र ये पर्यायवाची नाम हैं। सिद्धांत की भाषा में देखो तो सरागचारित्र दशवें गुणस्थान तक है और वीतराग चारित्र ग्यारहवें-बारहवें में है। अध्यात्म की अपेक्षा से भी यह सरागसंयम छठे गुणस्थान में है कथंचित् सातवें के भी

प्रथम पाये में है। इसके बाद सातवें गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त नामक द्वितीय पाये से दोतराग चारित्र है। ऐसे ही सराग सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और वह दर्शनमोहनीय आदि सात प्रकृतियों के उपशम या क्षयोपशम से होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वहां उन प्रसंगों में जो व्यवहार मोक्षमार्ग है वह छोटे गुणस्थान में है तथा जो निश्चयमोक्षमार्ग है वह सातवें से विवक्षित है। ऐसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन भी चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें तक माना जाता है। इस दृष्टि से यहां जो यह अभव्यजीव में होने वाला व्यवहार मोक्षमार्ग है वह व्यवहाराभास है न कि वास्ताविक। फिर भी आचार्यदेव ने जो ऐसा कहा है वह यही है कि सम्यक्त्व सहित व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय से सापेक्ष है और सम्यक्त्व रहित व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग से निरपेक्ष है—एकांतमात्र है। अतः अभव्य के व्यवहार मोक्षमार्ग होते हुये भी गुणस्थान एक पहला मिथ्यात्व ही है क्योंकि उनका गुणस्थान कभी बदल ही नहीं सकता है। यहां जो इस व्यवहार मोक्षमार्ग को अभव्य में मानकर उसे नवग्रैवेयक तक जाने की बात कही है, वह 'अभव्यसेन' मुनि के सदृश नहीं होगी क्योंकि निर्दोष चारित्र के बिना इतने ऊपर गमन संभव नहीं है। उस अभव्य की पहचान हम और आप नहीं कर सकते हैं किंतु अभव्यसेन मुनि अभव्य है ऐसा निश्चय क्षुल्लक ने ही कर लिया था। यथा—

विजयार्थपर्वत की दक्षिणश्रेणी में एक मेघकूट नगर है वहां के चन्द्रप्रभ नाम के राजा विद्याधर ने श्रीगुप्ताचार्य महामुनि से क्षुल्लक दीक्षा ले ली चूंकि वे आकाशगामी विद्या नहीं छोड़ पाये थे। वे एक बार दक्षिण मथुरा से उत्तर मथुरा की ओर यात्रा हेतु निकले तब उनके गुरु ने 'सुव्रत' मुनि को नमोस्तु और रेवतीरानी को आशीर्वाद कहलाया। क्षुल्लक ने वहां एक भव्यसेन मुनि की परीक्षा करना चाहा, वे मुनि ग्यारह अंग के ज्ञाता थे। जब भव्यसेन मुनि शौच के लिये जाने लगे तब क्षुल्लक ने मार्ग में विद्या के बल से हरे-हरे अंकुर घास पैदा कर दिये तथा मुनि के कमंडलु का जल भी सुखा दिया। मुनि ने सोचा शास्त्र में तो हरित घास में एकेंद्रिय जीव माने हैं अप्रासुक नदी का जल मुनि को नहीं लेना चाहिये फिर भी वे हरित घास पर चले गये और अकस्मात् कमंडलु में जल नहीं दिखने से पास के सरोवर के जल से शुद्धि कर ली। इस भ्रष्टचर्या को देखकर क्षुल्लक चंद्रप्रभ ने उन मुनि का नाम अभव्यसेन रख दिया। यह हीन चारित्रधारी मुनि नवग्रैवेयक तक जावे ऐसा समझ में नहीं आता है, अतः आजकल के मुनियों के व्यवहाररत्नत्रय को अभव्य का व्यवहाररत्नत्रय मान कर उन मुनियों को मिथ्यादृष्टि कहकर उनकी अवहेलना, निंदा नहीं करना चाहिये।

जह फलिहमणी शुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।

रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दब्बेहिं ॥ २७८ ॥

एवं णाणी शुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।

राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥ (युगलम्)

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।

रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २७८ ॥

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।

रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९ ॥

उत्थानिका—रागादि के होने में आत्मा कारण है या अन्य कोई ? इसे ही दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

स्फटिकमणिः - स्फटिकमणि शुद्ध स्वयं रंगमय नहि रंगती ॥

अन्वयार्थ—(यथा स्फटिकमणिः शुद्धः स्वयं रागाद्यैः न परिणमते) जैसे स्फटिकमणि शुद्ध है वह स्वयं लालिमा आदि से परिणमन नहीं करती है (तु सः अन्यैः रक्तादिभिः द्रव्यैः रज्यते) किंतु वह अन्य लाल आदि वस्तुओं से रंजित हो जाती है—लाल आदि रंगों की दिखने लगती है (एवं ज्ञानी शुद्धः स्वयं रागाद्यैः न परिणमते) इसी तरह ज्ञानी जीव शुद्ध है

(२९६)—जैसे स्फटिकमणी जो कि स्वयमेव शुद्ध निर्मल रहती ।

वह रंग संग के बिना कभी स्वयमेव रंगमय नहि रंगती ॥

बाहर की रंग उपाधी से वह स्वयं लाल हो जाती है ।

पर द्रव्यों के संबंधों से वैभाविक परिणति आती है ॥ २७८ ॥

(२९७)—ऐसे ही ज्ञानी आत्मा भी स्वाभाविक शुद्ध कहा जाता ।

लेकिन रागादिक भावों से वह पर स्वभावमय बन जाता ॥

कर्मोदय से होने वाले रागादि दोष जो आते हैं ।

वे ही आत्मा के शुद्ध भाव को भी अशुद्ध कर जाते हैं ॥ २७९ ॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते । तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्येत, इति तावद्वस्तुस्वभावः ॥ २७८-२७९ ॥

वह स्वयं—आप रागादिभावों से परिणमन नहीं करता है (तु सः अन्यैः रागादिभिः दौषैः रज्यते) किंतु वह अन्य रागादि दोषों के निमित्त से रागी आदि हो जाता है ॥ २७८-२७९ ॥

आत्मख्यातिः—जैसे वास्तव में केवल—अकेला स्फटिक पाषाण यद्यपि परिणमन स्वभाववाला है फिर भी वह अपना शुद्धस्वभाव होने से लालिमा आदि वस्तुओं के निमित्त का अभाव होने से वह आप स्वयं लाल-पीले आदि रंगरूप से परिणमन नहीं करता है किंतु स्वयं लालिमा आदि भावों को प्राप्त ऐसे पर वस्तुओं के द्वारा ही जो कि स्फटिक में लालिमा आदि रंग के लिये कारण हैं उन पर वस्तुओं के निमित्त से अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर—अपने सफेद स्वच्छ स्वभाव को छोड़कर ही लालरंग आदि रूप से परिणमन कर जाता है वैसे ही केवल—अकेला यह आत्मा परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अपने में शुद्धस्वभाव वाला है अतः रागादिभावों के लिये निमित्त कारणों का अभाव होने से वह रागादिभावों से स्वयं—आप ही परिणमन नहीं करता है किंतु जीव में रागादि के लिये निमित्त-भूत रागादि भावों को प्राप्त ऐसे पर द्रव्यों के द्वारा ही अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ ही रागादिभावों से परिणमन कर जाता है इस प्रकार का ही वस्तुस्वभाव है ॥ २७८-२७९ ॥

भावार्थ—जैसे स्फटिकपत्थर स्वयं स्वच्छ है अन्य रंगीन वस्तुओं के संपर्क से ही रंगीन होता है । उसी प्रकार यह आत्मा केवल अकेला शुद्ध हुआ कभी रागादिभावों से परिणत नहीं होता है बल्कि परद्रव्यों का अर्थात् पुद्गलकर्मों का उदय पाकर रागादि भावों से परिणत हो जाता है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह जीव पहले स्फटिक जैसा शुद्ध था बाद में पौद्गलिक कर्मों के संयोग से अशुद्ध हुआ । बल्कि यह जीव अनादि से अशुद्ध ही था और है, जब शुद्ध—अकेला हो जायेगा तो पुनः कर्मोदय से अशुद्ध होगा ही नहीं । यहां ऐसा समझना कि अशुद्ध को शुद्ध करने के लिये शुद्धात्मा के ध्यान में तन्मय होने का उपदेश है ।

उपजाति—न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मनो याति यथार्ककांतः ।

तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

अनुष्टुप्—इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।

रागादीनात्मनः कुर्यान्नातो भवति करकः ॥ १७६ ॥

अब काव्य को कहते हैं—

काव्यार्थ—जैसे सूर्यकांतमणि—स्फटिकमणि स्वयं लाल आदि रंग से परिणत नहीं होती है किंतु परवस्तु का निमित्त पाकर ही लाल आदि परिणत होती है वैसे ही आत्मा अपने आपको स्वयं रागादि भावरूप नहीं करता है। उस के रागादिरूप परिणामों के लिये निमित्त पर वस्तु का संसर्ग ही है। ऐसा यह वस्तु का स्वभाव सदा उदयरूप है। १७५ ।

भावार्थ—यह आत्मा स्वयं ही राग द्वेष मोह का उपादान कारण नहीं है बल्कि परवस्तु—पौद्गलिक कर्मों का उदय होने से ही रागादि भाव से परिणत होता है। वास्तव में वस्तु स्वभाव तो यही है। यहां परद्रव्य का संबंध तो संसारी जीव के अनादि से ही है अतः उसे छोड़कर शुद्धात्मा में लीन होकर ही रागादि भावों से बचा जा सकता है। यहां कलश काव्य के टीकाकार श्री शुभचंद्राचार्य ने अर्ककांतमणि का अर्थ स्फटिकमणि किया है जैसा कि गाथा और टीका में है।

“अर्कः स्फटिकसूर्ययोः इत्यमरः” इस कोष की पंक्ति के अनुसार अर्क का अर्थ स्फटिक और सूर्य दोनों ही होते हैं फिर भी टीका के अनुसार ही यहां अर्थ किया गया है।

काव्यार्थ—इस प्रकार ज्ञानी आत्मा अपने वस्तु स्वभाव को जानता है इसलिये वह रागादि भावों को अपनेरूप नहीं करता है अतः वह कर्मों का कर्ता नहीं होता है। १७६ ।

भावार्थ—यहां ज्ञानी शब्द से निर्विकल्प ध्यान में परिणत आत्मा ही विवक्षित है वे ही रागादिभावों से परिणत नहीं होते हैं अतः उनके ही कर्मों का बंध नहीं होता है।

स्फटिक मणि ज्यों स्वयं विविध रंगों से परिणत नहीं होती ।

परवस्तु निमित्तों को पाकर ही उन स्वरूप परिणत होती ॥

वैसे ही आत्मा स्वयं भाव रागादि रूप नहीं करता है ।

उसमें निमित्त परसंग ही है यह वस्तु स्वभाव प्रकटता है ॥ १७५ ॥

इस तरह परम ज्ञानी आत्मा निज वस्तु स्वभाव को जान रहा ।

रागादि भाव को इसीलिए वह निज स्वरूप नहीं मान रहा ॥

बस इसीलिए वह ज्ञानी कर्मों का कर्ता नहीं बनता है ।

वह निर्विकल्प शुक्लध्यानी निज आत्मा में ही रमता है ॥ १७६ ॥

(उत्थानिका) —अथ रागादयः किल कर्मबंधकारणं भणितः, तेषां पुनः किं कारणं ? इति पृष्ठे प्रत्युत्तरमाहः—

(२९६ ज०) जह फलियमणिविसुद्धो, ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।

राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रत्तादियेहिं दब्बेहिं ॥

(२९७ ज०) एवं णाणी सुद्धो, ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।

राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रागादीहिं दोसेहिं ॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धो, न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।

रज्यतेऽन्यैस्तु, स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २९६ ॥

एवं ज्ञानी शुद्धो, न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।

रज्यतेऽन्यैस्तु, स रागादिभिर्दोषैः ॥ २९७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा स्फटिकमणिर्विशुद्धो बहिरुपाधिं विना स्वयं रागादिभावेन न परिणमति पश्चात् स एव रज्यते, कैः ? जपापुष्पादिबहिर्भूतान्यद्रव्यैरिति दृष्टान्तो गतः । एवमनेन दृष्टान्तेन ज्ञानी शुद्धो भवन् स्वयं निरुपाधिचिच्चमत्कारस्वभावेन कृत्वा जपापुष्पस्थानीयकर्मोदयरूपपरोपाधिं विना रागादिविभावैर्न परिणमति पश्चात्सहजस्वच्छभावच्युतः सन् स एव रज्यते । कैः ? अन्यैः कर्मोदयनिमित्तै रागादिदोषैः परिणमैरिति, तेन ज्ञायते, कर्मोदयजनिता रागादयो न तु ज्ञानीजीवजनिता इति दार्ष्टान्तो गतः ॥ २९६-२९७ ॥

अब श्रीजयसेनाचार्य के अभिप्राय को देखिये ।

(उत्थानिका)—ये रागादि भाव नियम से बंध के कारण कहे गये हैं पुनः इनके लिये क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते हुये कहते हैं—

अन्ययार्थ—(जह फलियमणिविसुद्धो सयं रागादीहिं ण परिणमदि) जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है वह स्वयं लालिमा आदि से परिणमन नहीं करता है (दु सो अण्णेहिं रत्तादियेहिं दब्बेहिं राइज्जदि) किंतु वह अन्य लाल आदि वस्तुओं से रंजायमान—रंगीन हो जाती है (एवं णाणी सुद्धो सयं रागमादीहिं ण परिणमदि) इसी प्रकार ज्ञानी जीव शुद्ध है वह स्वयं राग आदि भावों से परिणमन नहीं करता है (दु सो अण्णेहिं रागादीहिं दोसेहिं राइज्जदि) किंतु वह अन्य राग-द्वेष आदि दोषों से राग आदि रूप परिणत हो जाता है ॥ २९६-२९७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है—स्वच्छ है, बाह्य उपाधि के बिना स्वयं लालिमा आदि रंगों से परिणत नहीं होता है पश्चात् वही स्फटिकमणि जपापुष्प आदि बाह्यपदार्थों के संपर्क से लाल आदि रंगों से परिणत हो जाता है—रंगीन दिखायी देने लगता है । यह दृष्टान्त हुआ, इसी से घटित करते हैं कि ज्ञानी आत्मा शुद्ध हुआ स्वयं उपाधिरहित चैतन्यचमत्कार स्वभावी है अतः वह जपापुष्प के समान ऐसे कर्मोदय रूप पर की उपाधि के बिना रागादि विभाव भावों से परिणमन नहीं करता है अनंतर अपने सहज स्वच्छ भाव से च्युत हुआ ही वह कर्मोदय के निमित्त से हुये रागादिदोषरूप परिणामों से रागादिरूप से रंजायमान हो जाता है । इससे यह जाना जाता है कि ये रागादि भाव कर्मों के उदय से उत्पन्न हुये हैं किंतु ज्ञानीजीव से उत्पन्न नहीं हुये हैं अर्थात्

ण य रागदोषमोहं कुर्व्वदि णाणी कषायभावं वा ।

सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥ २८० अ० ॥

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।

अन्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ॥ २८० ॥

आत्मख्यातिः—यश्चोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततश्चोक्तकीर्णकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तृवेति नियमः ॥ २८० ॥

पार्श्ववार्तिकः—अस्वभाव्यं न कुर्व्वदिहात्मनो न कुर्व्वदिहात्मनो

ये रागादिभाव ज्ञानी के नहीं होते हैं अज्ञानी जीव के ही होते हैं। इस तरह से दार्ष्टान्तिक कथन हुआ ॥ २९६-२९७ ॥

भावार्थ—यहां कहा है कि जीव स्वयं शुद्ध था उसके कर्मों के उदयरूप उपाधि के न होने से वह रागी द्वेषी नहीं होता था पश्चात् जब वह अपने शुद्ध स्वभाव से छूट गया तब कर्मोदय की उपाधि से रागी-द्वेषी आदि बन गया। सो यहां शुद्धनय से जीव सदा शुद्ध ही है, अशुद्धनय से कर्मोदय से रागी-द्वेषी हो रहा है ऐसा अर्थ समझना। क्योंकि कर्मोदयरूप उपाधि तो अनादिकाल से जीव के साथ है जब यह स्वस्थ-शुद्ध भाव से परिणत होता है तभी कर्मोदय की उपाधि से—रागादि भाव रूप से परिणत नहीं होता है, ध्यानस्थ भगवान् पार्श्वनाथ व पांडव आदि महापुनियों के समान, ऐसा समझना चाहिये।

ज्ञानी इन भावों का कर्ता नहीं है, ऐसा पुनः कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी स्वयं आत्मनः रागद्वेषमोहं वा कषायभावं अपि न करोति) यह ज्ञानी आत्मा स्वयं अपने में राग द्वेष मोह को तथा कषाय भावों को भी नहीं करता है (तेन सः तेषां भावानां कारकः न) इसलिये वह उन भावों का करने वाला नहीं है ॥ २८० ॥

आत्मख्याति—जैसा वस्तु का स्वभाव कहा गया है वैसे ही जानता हुआ यह ज्ञानी जीव अपने शुद्धस्वभाव से च्युत ही नहीं होता है अतः वह राग द्वेष मोह आदि भावों से न स्वयं परिणत होता है और न पर के द्वारा भी रागादिभावरूप परिणत किया जाता है। इसी हेतु से चोक्तकीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला ज्ञानी आत्मा राग, द्वेष, मोह आदि भावों का अकर्ता ही रहता है ऐसा नियम है ॥ २८० ॥

(२९८)—ज्ञानी अपने में रागद्वेष मोहादि भाव नहीं करता है।

वह स्वयं निजात्मा में कषाय का भाव न किंचित् करता है ॥

इस कारण वह ज्ञानी उन भावों का कर्ता नहीं कहलाता।

शुद्धात्म ध्यान में रह मुनि ही इस शुद्ध अवस्था को पाता ॥ २८० ॥

अनुष्टुप्—इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।

रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥

(उत्थानिका) —एवं चिदानंदैकलक्षणं स्वस्वभावं जानन् ज्ञानी रागादीन् करोति ततो नवतररागाद्युत्पत्तिकारण-
भूतकर्मणां कर्ता न भवतीति कथयति;—

(२९८ ज०) ण वि रागदोसमोहं कुब्बदि णाणी कसायभावं वा ।

स्वयमप्पणो ण सो, तेण कारगो तेसि भावाणं ॥

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।

स्वयमेवात्मनो न स, तेन कारकस्तेषां भावानां ॥ २९८ ॥

अज्ञानी इससे विपरीत हुआ कर्मों का कर्ता है, ऐसा कलश काव्य से कहते हैं—

काव्यार्थ—अज्ञानी जीव इसप्रकार के वस्तु स्वभाव को नहीं जानता है इसलिये वह अपने में रागादिभाव को करता है अतः वह इन भावकर्मों का कर्ता ही होता है । १७७ ।

भावार्थ—वस्तुस्वभाव को नहीं समझता हुआ अज्ञानी जीव रागद्वेष आदि को करते हुये इनका कर्ता माना गया है । यहां वस्तु स्वभाव को नहीं जानने के कारण उसका पहला गुणस्थान में होती है । आगे वस्तुस्वभाव को जानते हुये व श्रद्धान करते हुये भी जब तक यह रागादि भाव करता रहता है तब तक कर्ता कहलाता है । यह अवस्था चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक भी है—आगे कथंचित् अबुद्धिपूर्वक दसवें गुणस्थान तक भी है । इससे परे रागादि के न होने से यह ज्ञानी उत्तम अंतरात्मा हुआ शेष घातिया कर्मों को भी नष्ट कर तेरहवें गुणस्थान में पूर्णज्ञानी बन जाता है ।

(उत्थानिका)—इस तरह चिदानंद एक लक्षण वाले अपने स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादिभाव नहीं करता है अतः वह नये-नये रागादि भावों के उत्पन्न होने में कारणभूत ऐसे कर्मों को नहीं करता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणी सयं अप्पणो रागदोसमोहं वा कसायभावं ण वि कुब्बदि) ज्ञानी आत्मा स्वयं अपने में राग द्वेष मोह को तथा कषायभाव को नहीं करता है (तेण सो तेसि भावाणं कारगो ण) इसलिये वह उन भावों का कर्ता नहीं होता है ॥ २९८ ॥

अज्ञानी प्राणी इस प्रकार का वस्तु स्वभाव नहीं जाने ।

इसलिए निजात्मा में रागादिक पर भावों को ही माने ।

बस इसीलिए इन सभी भावकर्मों का कर्ता बनता है ।

वह मिथ्यादृष्टि अवस्था में नहि आत्म ज्ञान पा सकता है ॥ १७७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—णवि रागदोसमोहं कुर्वदि णाणी कसायभावं वा ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोषरहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभावं वा । कथं न करोति ? स्वयं स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारणं बिना । कस्य संबंधित्वेन ? अण्णो आत्मनः ण सो तेण कारणे तेसिं भावाणं तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादिभावानां कर्ता न भवतीति ॥ २९८ ॥

रायहि य दोसहि य कसायकम्पेसु चेव जे भावा ।

तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥ २८९अ० ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।

तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ २८९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—रागादि दोषों से रहित जो शुद्धात्मा का स्वभाव है उससे भिन्न रागद्वेष मोह को अथवा क्रोध आदि कषाय भावों को यह ज्ञानी जीव नहीं करता है । क्यों ? क्योंकि वह स्वयं शुद्धात्म भाव से परिणत है, कर्मों के उदयरूप सहकारी कारण उसकी आत्मा से संबंधित नहीं हैं इस कारण से ही वह तत्त्वज्ञानी उन रागादि भावों का कर्ता नहीं होता है ॥ २९८ ॥

भावार्थ—कर्मों का उदय आवे और उसरूप रागादि भाव या हर्षविषाद आदि भाव न होवें ऐसा संभव नहीं है । अतः कर्मों का उदय रागादि भावों के लिये सहकारी कारण है । हां, जिस समय महामुनि निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते हैं उस समय कर्मों का उदय आकर उपसर्ग आदि रूप से फल भी देता है परंतु जिनकल्पी उत्तम संहननधारी महासाधु अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं तभी उनके रागादिभाव या क्रोधादिभाव नहीं होते हैं वे ही ज्ञानीमुनि यहां विवक्षित हैं । यदि अंशात्मकरूप से घटाना है तो गुणस्थानों की अपेक्षा से उस-उस कषायजन्य रागादि का अकर्ता समझना चाहिये ।

अज्ञानी रागादिभावों का कर्ता होता है—

अन्वयार्थ—(रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः) राग, द्वेष और कषायभावों के होने पर जो भाव होते हैं (तैः तु परिणममानः पुनरपि रागादीन् बध्नाति) उनसे परिणमन करता हुआ जीव पुनः भी रागादि को बांध लेता है ॥ २८९ ॥

(२९९)—जब उसी जीव के रागद्वेष कर्मादि उदय में आते हैं ।

क्रोधादि कषाय भाव आने पर अपना रंग दिखाते हैं ॥

इन उदयागत भावों से जब तक वह तन्मय होता रहता ।

तन्मय परिणति से ही आत्मा रागादि बन्ध करता रहता ॥ २८९ ॥

आत्मख्यातिः—यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव । ततः कर्मविपाकप्रभवैरागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥२८१॥

उत्थानिका—अज्ञानी जीवः शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति ततः स भाविरागादिजनकनवतरकर्मणां कर्ता भवतीत्युपदिशति—

(२९९ ज०) रागहि य दोसहि य, कसायकम्पेसु चेव जे भावा ।

तेहिं दु परिणममाणो, रागादी बंधदि पुणोवि ॥

रागे च द्वेषे च, कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।

तैस्तु परिणममानो, रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ २९९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—रागहि य दोसहि य कसायकम्पेसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्वभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावाः परिणामा भवन्ति । तेहिं दु परिणममाणो रागादी

आत्मख्याति—वस्तु का स्वभाव जैसा कहा गया है वैसा न जानता हुआ यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से इस संसार में अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत ही है—रहित ही है । इस कारण कर्मों के उदय से होने वाले ऐसे राग, द्वेष, मोह आदि भावों से परिणत होता हुआ यह अज्ञानी जीव राग, द्वेष, मोह आदि भावों का कर्ता होता हुआ कर्मों से बंधा ही है ऐसा प्रतिनियम है ॥ २८१ ॥

भावार्थ—यहां पर श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि 'अज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव ।' यह अज्ञानी आत्मा शुद्ध स्वभाव से जब से संसार में है तब से च्युत ही है—अनादिकाल से इस संसार में अपने शुद्ध स्वभाव से रहित ही रहा है । ऐसा नहीं है कि कभी यह शुद्ध था पुनः अशुद्ध हुआ । बल्कि एक बार यह जीव जब शुद्ध हो जाता है तब पुनः अशुद्ध नहीं होता है ऐसा समझना ।

(उत्थानिका)—यह अज्ञानी जीव शुद्ध स्वभाव वाली अपनी आत्मा को नहीं जानता हुआ रागादि भाव करता है उससे वह भविष्य में रागादि भावों को उत्पन्न करने वाले ऐसे नवीन-नवीन कर्मों का कर्ता हो जाता है, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(रागहि य दोसहि य कसायकम्पेसु चेव जे भावा) राग, द्वेष और कषाय भावों के होने पर जो भाव होते हैं (तेहिं दु परिणममाणो पुणोवि रागादी बंधदि) उनसे परिणमन करता हुआ यह जीव फिर से भी रागादि को बांध लेता है ॥ २९९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—राग, द्वेष और कषायरूप द्रव्यकर्मों का उदय आने पर यह जीव अपने स्वभाव से च्युत हो जाता है तब उन कर्मोदय के निमित्त से जीव में जो रागादिभाव—परिणाम

बन्धदि पुणोवि तैः कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति ॥ २९९ ॥

ततः स्थितमेतत्—

रायहि य दोसहि य कसायकम्पेसु चैव जे भावा ।

तेहि दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥ २८२ अ० ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।

तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ २८२ ॥

आत्मख्यातिः—य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बन्धहेतुरिति ॥ २८२ ॥

होते हैं उन परिणामों के होने से 'मैं रागादिरूप हूँ' अभेदरूप से इस प्रकार के 'अहं प्रत्यय' को करके उन रागादिभावरूप ही परिणामन करता हुआ यह जीव पुनरपि आगामी काल में रागादि भावों को उत्पन्न करने वाले ऐसे द्रव्यकर्मों को बांध लेता है। इसी हेतु से यह अज्ञानी जीव उन रागादि भावों का कर्ता होता है, यहां ऐसा अभिप्राय है ॥ २९९ ॥

उत्थानिका—इस हेतु से जो बात सिद्ध हुई, उसे कहते हैं—

अन्वयार्थ—(रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः) राग, द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर जो भाव होते हैं (तैः तु परिणममानः चेतयिता रागादीन् बध्नाति) उन भावों से परिणत हुआ आत्मा रागादि कर्म को बांध लेता है ॥ २८२ ॥

आत्मख्याति—जो ये अज्ञानी जीव के पुद्गलकर्म के निमित्त से हुये राग, द्वेष, मोह आदि परिणाम हैं वे ही परिणाम पुनः राग, द्वेष, मोह आदि परिणामों के लिये निमित्त ऐसे पुद्गलकर्म के बन्ध में हेतु होते हैं ॥ २८२ ॥

(३००)—रागद्वेषादि कषायरूप जब कर्म उदय में आते हैं।

उन भावों से ही आत्मा के परिणाम विकृत हो जाते हैं ॥

रागादि भाव ये मेरे हैं ऐसा वह जब तक कहता है।

तब तक रागादिक कर्मों को वह स्वयं बांधता रहता है ॥ २८२ ॥

उत्थानिका—तमेवार्थं दृढयति—

(३०० ज०) रागहि य दोसहि य, कसायकम्पेसु चैव जे भावा ।
ते मम दु परिणमंतो, रागादी बंधदे चेदा ॥

रागे च द्वेषे च, कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।

तन्मम तु परिणममानो, रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ ३०० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—पूर्वगाथायामहं रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तं । अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो रागः इति संबंधेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेषः ? किं च विस्तरः—यत्र मोहरागद्वेषा व्याख्यायन्ते तत्र मोहशब्देन दर्शनमोहः मिथ्यात्वादिवजनक इति ज्ञातव्यं, रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकचारित्रमोहो ज्ञातव्यः । अत्राह शिष्यः—मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिवजनको दर्शनमोहो भवतु दोषो नास्ति रागद्वेषशब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते ? इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—कषायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषांगौ द्वेषोत्पादकत्वात्,

उत्थानिका—इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—(रागहि य दोसहि य कसायकम्पेसु चैव जे भावा) राग, द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर जो भाव होते हैं (ते मम दु परिणमंतो चेदा रागादी बंधदे) ये मेरे हैं । इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि कर्मों का बंध कर लेता है ॥ ३०० ॥

तात्पर्यवृत्ति—पूर्वगाथा में कहा है कि 'मैं रागादि भाव हूँ' इस प्रकार के अभेद से परिणमन करता हुआ यह जीव उन रागादिभावों के उत्पादक नवीन-नवीन द्रव्यकर्मों को बांध लेता है । पुनः इस गाथा में यह कह रहे हैं कि यह जीव शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से 'यह राग मेरा है' इस प्रकार संबंधरूप भाव से परिणमन करता हुआ उन्हीं नवीन-नवीन द्रव्य कर्मों को बांध लेता है । बस इन दो गाथाओं में अहंकार और ममकार का ही अंतर है ।

अब इसे विस्तार से कहते हैं—जहां-जहां भी मोह, राग और द्वेष ये तीनों कहे जाते हैं वहां-वहां मोह शब्द से मिथ्यात्व आदि को उत्पन्न करने वाला ऐसा जो दर्शन मोहनीय कर्म है उसको जानना चाहिये और राग-द्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पादक ऐसे चारित्र मोहनीय को लेना चाहिये ।

प्रश्न—मोह शब्द से मिथ्यात्व आदि का जनक दर्शनमोह होवे कोई दोष नहीं है किंतु राग-द्वेष शब्द से चारित्रमोह कैसे लिया जाता है ?

उत्तर—इसका उत्तर यह है कि 'कषायवेदनीय' नाम से जो चारित्र मोहनीय कर्म है उसमें से क्रोध और मान ये दो कषायें तो द्वेष की अंग हैं क्योंकि वे द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं तथा माया और लोभ ये कषायें राग की अंग हैं क्योंकि ये राग को पैदा करने वाली हैं । ऐसे

मायालोभौ रागांगौ रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसंज्ञाचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुत्रपुंसकवेदत्रयहास्यरतयः पंचनोकषायाः रागांगा रागोत्पादकत्वात्, अरतिशोकभयजुगुप्सासंज्ञाश्चत्वारो द्वेषांगा द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते रागद्वेषशब्देन पुनश्चास्त्रिमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं । एवं कर्मबंधकारणं रागादयः रागादीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो, न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापंचकं गतं ॥ ३०० ॥

कथमात्मा रागादीनामकारकः ? इति चेत्—

अप्रतिक्रमणं द्विविधं अपच्यक्खाणं तथैव विज्ञेयं ।

एणुवएसेण य अकारओ वर्णिणओ चेया ॥ २८३ अ० ॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं ।

एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८३ ॥

ही नोकषाय वेदनीय नाम का जो चारित्र मोहनीय कर्म है उसमें से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये तीन वेद तथा हास्य और रति ये पांच नोकषायें राग का अंग हैं क्योंकि ये राग को उत्पन्न करने वाली हैं और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चार नोकषायें द्वेष का अंग हैं क्योंकि ये द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं । इस प्रकार के अभिप्राय से मोहशब्द से दर्शनमोह नाम का मिथ्यात्व कहा जाता है पुनः राग-द्वेष शब्द से चारित्रमोह लिया जाता है । सभी जगह ऐसा ही समझना चाहिये । इस तरह कर्मबंध के कारण रागादि भाव हैं, और रागादिभावों के लिये नियम से कर्मों का उदय कारण है न कि ज्ञानी जीव, ऐसा समझना । यहां इस व्याख्यान की मुख्यता से सातवें स्थल में पांच गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥ ३०० ॥

उत्थानिका—यह आत्मा रागादि भावों का अकर्ता कैसे है ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अप्रतिक्रमणं द्विविधं तथैव अप्रत्याख्यानं विज्ञेयं) अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है वैसे ही अप्रत्याख्यान दो प्रकार का जानना चाहिये । (एतेन उपदेशेन च चेतयिता अकारकः वर्णितः) इस उपदेश से यह आत्मा अकर्ता कहा गया है । (अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्वये भावे तथा अप्रत्याख्यानं) अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है द्रव्य और भाव की अपेक्षा से । अप्रत्याख्यान भी वैसे ही द्रव्य भाव से दो प्रकार का है (एतेन उपदेशेन च चेतयिता अकारकः

(३०१)—अप्रतिक्रमण दो भेद रूप बतलाया है जिनशासन में ।

अप्रत्याख्यान भाव भी दो ही कहे गए परमागम में ॥

इस प्रवचन से यह सिद्ध हुआ आत्मा तो कुछ नहीं करता है ।

वह दोनों कार्यों से विरहित कर्मों का हुआ अकर्ता है ॥ २८३ ॥

अपडिक्कमणं दुविहं दब्बे भावे तहा अपच्चक्खाणं ।

एणुवएसेण य अकारओ वणिणओ चेया ॥ २८४ अ० ॥

जावं अपडिक्कमणं अपच्चक्खाणं च दब्बभावाणं ।

कुब्बइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायब्बो ॥ २८५ अ० ॥ (त्रिकलम्)

अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानं ।

एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८४ ॥

यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।

करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ २८५ ॥

आत्मख्यातिः—आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विविधोपदेशान्यथानुपपत्तेः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं

वर्णितः) इस उपदेश से यह आत्मा अकर्ता कहा गया है । (यावत् आत्मा द्रव्यभावयोः अप्रतिक्रमणं च अप्रत्याख्यानं करोति) जब तक यह आत्मा द्रव्य और भाव में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है (तावत् सः कर्ता भवति ज्ञातव्यः) तब तक वह आत्मा कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ २८३ से २८५ ॥

आत्मख्याति—यह आत्मा आत्मा के द्वारा स्वयं रागादि भावों का करने वाला ही नहीं है क्योंकि अन्यथा—आत्मा को अकारक न मानने से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इन दोनों के दो-दो प्रकार का कथन बन नहीं सकता । जो यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य और भाव में निमित्त और नैमित्तिकभाव को प्रसिद्ध करता हुआ आत्मा के अकर्तापने को बता रहा है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य

(३०२)—यह अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान द्विविध जो बतलाया ।

उन द्रव्य भाव दोनों को अज्ञानी करता है बतलाया ॥

लेकिन शुद्धात्मध्यान युत मुनि कर्मों के कर्ता नहीं होते ।

इस परमागम के प्रवचन से वे निर्विकल्प ध्यानी होते ॥ २८४ ॥

(३०३)—जब तक यह प्राणी द्रव्यभाव-मय प्रत्याख्यान नहीं करता ।

जब तक यह प्राणी द्रव्यभाव-मय अप्रतिक्रमण किया करता ॥

तब तक वह परमसमाधि न पाने से अज्ञानी रहता है ।

कर्मों का कर्ता बनने से वह बंध किया ही करता है ॥ २८५ ॥

नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् । तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसज्येच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथासति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात् । यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च । यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ॥ २८३ । २८४ । २८५ ॥

निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा नहीं स्वीकार करें तब तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनों में कर्ता के निमित्तपने का उपदेश है वह अनर्थक हो जावेगा। यदि उसको व्यर्थ मान लेवें तब तो एक आत्मा के ही रागादि भावों का निमित्त होने की आपत्ति आ जावेगी पुनः उस आत्मा के नित्य ही रागादिभावों के करते रहने का प्रसंग आ जाने से मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा। इस कारण से परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों के लिये निमित्त होने चाहिये और ऐसा मानने पर—परद्रव्य को ही निमित्त मानने पर तो यह आत्मा रागादिभावों का अकर्ता ही है। फिर भी यह आत्मा जब तक रागादि के लिये निमित्तभूत ऐसे द्रव्यों का प्रतिक्रमण नहीं करता है और प्रत्याख्यान भी नहीं करता है तब तक वह उस निमित्त से होने वाले नैमित्तिकभूत रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण नहीं करता है और न प्रत्याख्यान ही करता है और जब तक इन रागादिभावों का प्रतिक्रमण नहीं करता है, न प्रत्याख्यान करता है तब तक यह उन रागादिभावों का कर्ता ही होता है। जिस काल में ही यह उन विभावभावों के लिये निमित्त ऐसे द्रव्यों का प्रतिक्रमण करता है और प्रत्याख्यान करता है उसी समय उन नैमित्तिक रागादिभावों का प्रतिक्रमण करता है और प्रत्याख्यान करता है। जब भावों का प्रतिक्रमण करता है और प्रत्याख्यान करता है तब साक्षात् अकर्ता ही हो जाता है ॥ २८३-२८४-२८५ ॥

भावार्थ—व्रतों में लगे हुये दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है और आगामी काल में दोषों को नहीं लगने देना प्रत्याख्यान है। इनसे विपरीत दोषों को नहीं छोड़ना अप्रतिक्रमण है और आगे के होने वाले दोषों का भी त्याग नहीं करना अप्रत्याख्यान है। प्रारंभिक अवस्था में ये अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दोष रूप हैं और प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान अट्टाईस मूलगुणों के अंतर्गत होने से गुणरूप हैं। इसके आगे उन्हीं मुनियों के सातवें-आठवें आदि गुणस्थानों में निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान माना है जो कि निर्विकल्प ध्यानरूप होता है उसे भी अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान कहते हैं वह महाध्यानी मुनियों के लिये ही शक्य है। वह तो महागुण रूप है ऐसा वर्णन श्रीअमृतचंद्रसूरि आगे गाथा ३०६-३०७ अ०, ३२५-३२६ ज० की टीका में कहेंगे। यहां पर तो पूर्व में हुये रागादिभावों का छोड़ना प्रतिक्रमण और आगे के होने वाले भावों का छोड़ना प्रत्याख्यान कहा है। उनमें भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा इन दोनों के दो-दो भेद कर दिये हैं। परद्रव्य ही रागादिभावों के लिये कारण है अतः पहले परद्रव्यों को छोड़ना यह द्रव्य प्रतिक्रमण है पुनः उसी द्रव्य प्रतिक्रमण करने वाले के ही रागादि भावों के

उत्थानिका—अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्ठे प्रत्युत्तरमाह—

(३०१ ज०) अपडिक्कमणं दुविहं, अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।

एदेणुवदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा ॥

(३०२ ज०) अपडिक्कमणं दुविहं, दब्बे भावे अपच्चक्खाणं पि ।

एदेणुवदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा ॥

(३०३ ज०) जाव ण पच्चक्खाणं, अपडिक्कमणं तु दब्बभावाणं ।

कुव्वदि आदा तावदु, कत्ता सो होदि णादब्बो ॥

अप्रतिक्रमणं द्विविध—मप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं ।

एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ ३०१ ॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधं, द्रव्ये भावे अप्रत्याख्यानं अपि ।

एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ ३०२ ॥

यावन्न प्रत्याख्यानमप्रतिक्रमणं तु द्रव्यभावयोः ।

करोत्यात्मा तावत्तु, कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ ३०३ ॥

अभाव से भाव प्रतिक्रमण होता है । जब तक द्रव्यप्रतिक्रमण, द्रव्य प्रत्याख्यान नहीं होगा तब तक वह जीव रागादिभावों का कर्ता बना रहेगा और रागादिभावों के होने से द्रव्यकर्मों का भी कर्ता होता ही रहेगा । अतः द्रव्यप्रतिक्रमण-द्रव्यप्रत्याख्यानपूर्वक, भाव प्रतिक्रमण-भाव प्रत्याख्यान करके कर्मों के बंध को समाप्त करना चाहिये ।

इसे ही श्रीजयसेनाचार्य अपने सरल शब्दों में कहते हैं ।

(उत्थानिका)—सम्यग्ज्ञानी जीव रागादिभावों का अकर्ता कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(अपडिक्कमणं दुविहं तहेव अपच्चक्खाणं विण्णेयं) अप्रतिक्रमण दो भेदरूप है वैसे ही अप्रत्याख्यान भी दो भेदरूप जानना चाहिये (एदेणुवदेसेण दु चेदा अकारगो वणिणदो) इसी उपदेश से यह आत्मा अकर्ता कहा गया है (अपडिक्कमणं दब्बे भावे दुविहं अपच्चक्खाणं पि) अप्रतिक्रमण द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार का है अप्रत्याख्यान भी वैसे ही दो प्रकार का है (एदेणुवदेसेण दु चेदा अकारगो वणिणदो) इसी उपदेश से आत्मा अकर्ता कहा गया है (जाव आदा दब्बभावाणं पच्चक्खाणं ण कुव्वदि अपडिक्कमणं च) जब तक यह आत्मा द्रव्य और भावों का प्रत्याख्यान नहीं करता है और प्रतिक्रमण नहीं करता है (ताव दु सो कत्ता होदि णादब्बं) तब तक ही वह कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिए ॥ ३०१ से ३०३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपडिव्यक्रमणं दुविहं अपच्चक्खजाणं तहेव विण्णेयं पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं, भाविरागादिविषयाकांक्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं एदेणुवदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते । किं ज्ञायते ? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेन च रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति । अपडिव्यक्रमणं दुविहं दब्बे भावे अपच्चक्खजाणंपि द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति एदेणुवदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा तदेव बन्धकारणमित्युपदेश आगमः तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते ? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणतः शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीवः स कर्मणां कारकः । तद्विपरीतो ज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति । तमेवार्थं दृढयति—जाव ण पच्चक्खजाणं यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति अपडिव्यक्रमणं तु दब्बभावाणं कुब्बदि यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति आदा तावदु कत्ता

तात्पर्यवृत्तिः—पूर्व में अनुभूत विषयों के अनुभव से हुये रागादिभावों का स्मरणरूप जो परिणाम है वह अप्रतिक्रमण है उसके दो भेद हैं । ऐसे ही भावीकाल में रागादिभावों से विषयों की आकांक्षारूप जो परिणाम है वह अप्रत्याख्यान है उसके भी दो भेद हैं । यह परमागम का उपदेश है । इस उपदेश से यह जाना जाता है कि यह चेतनस्वरूप आत्मा इन दो प्रकार के अप्रतिक्रमण से और दो प्रकार के अप्रत्याख्यान से रहित होने से कर्मों का अकर्ता ही होता है अर्थात् निश्चयनय से यह शुद्धात्मा इन द्विविध अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान से रहित ही है अतः कर्मों का अकर्ता ही है । द्रव्य और भावरूप से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो-दो भेदरूप हैं अर्थात् द्रव्य अप्रतिक्रमण, भाव अप्रतिक्रमण ऐसे दो भेद हुये पुनः द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान ये दो प्रकार के अप्रत्याख्यान हैं । ये चारों ही बन्ध के कारण हैं यह उपदेश है—आगम है । इस उपदेश से यह जाना जाता है कि द्रव्य और भावरूप अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान से परिणत हुआ यह आत्मा शुद्ध आत्मा की भावना से च्युत हुआ—रहित हुआ अज्ञानी है वही आत्मा कर्मों का कर्ता होता है । इससे विपरीत हुआ ज्ञानी आत्मा कर्मों का अकर्ता है ऐसा समझना ।

अब इसी अर्थ को दृढ़ करते हुये कहते हैं—जितने काल तक इस जीव के यह द्रव्य भावरूप निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणवाला प्रत्याख्यान नहीं है और जितने काल तक यह जीव द्रव्य-भावरूप अप्रतिक्रमण को करता है अर्थात् उसके द्रव्य-भावरूप प्रतिक्रमण नहीं हैं तब तक परम समाधि—निर्विकल्पध्यान का अभाव होने से यह जीव अज्ञानी है अतः वह कर्मों का कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिये ।

सो होदि णादव्यो तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः । किं अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तुं न च ज्ञानी जीवः । यदि जीवः कर्ता भवति ? तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव । कस्मात् ? इति चेत्, जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति । अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न सर्वदैव । तेन किं सिद्धं ? यदा स्वस्थभावच्युतः सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानभ्यां परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति । स्वस्थभावे पुनरकारकः इति भावार्थः । एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं न च ज्ञानी जीवः इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टम-स्फले गाथात्रयं गतं । अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बंधो धरितः स च हेयस्याशेषस्य नरकादिदुःखस्य कारणत्वाद्देयः । तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोहं, उदासीनोहं, निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप-निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः

बात यह है कि अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान कर्मों के कर्ता हैं न कि ज्ञानी जीव । यदि जीव कर्मों का कर्ता है ऐसा एकांत से मानलो तब तो वह सदाकाल कर्ता ही बना रहेगा । क्यों ? क्योंकि जीव तो सदाकाल ही विद्यमान रहता है । पुनः अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान तो अनित्य हैं, ये रागादि विकल्परूप हैं, ये दोनों ही स्वस्थभाव से च्युत हुये जीवों के ही होते हैं न कि सदा काल । इससे यह सिद्ध हुआ कि जब यह जीव अपने स्वस्थ भाव से च्युत हुआ अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इन दोनों से परिणमन करता है—इन अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान को करता है तब वह कर्मों का कर्ता होता है । पुनः जब वह ज्ञानी आत्मा स्वस्थ भाव में स्थित रहता है तब कर्मों का अकर्ता होता है ऐसा अभिप्राय हुआ । इस प्रकार से अज्ञानी जीव की परिणतिरूप अप्रतिक्रमण और ऐसे ही अज्ञानी जीव की परिणतिरूप अप्रत्याख्यान ये ही बंध के लिये कारण होते हैं न कि ज्ञानी जीव । इस व्याख्यान की मुख्यता से आठवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।

यहां पर यह कहते हैं कि निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यान से रहित जीवों के जो यह बंध कहा गया है वह हेयरूप अशेष नरक आदि दुःखों का कारण होने से हेय है । उस बंध का विनाश करने के लिये विशेष भावना को कहते हैं—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद एक स्वभावी हूं, मैं निर्विकल्प हूं, मैं उदासीन हूं, मैं निरंजनस्वरूप निज शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयमय निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुख की अनुभूतिमात्र लक्षण वाले स्वसंवेदनज्ञान से संवेद्य

प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पञ्चेन्द्रियविषयव्यापार-मनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-रूपनिदानमायामिथ्याशक्त्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः । शून्योऽहं जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमर्तैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरंतरं भावना कर्तव्या ॥३०१॥ ३०२॥ ३०३॥

तुं—गम्य हूं, प्राप्त होने योग्य हूं, मैं स्वसंवेदन ज्ञान से भरित अवस्थास्वरूप हूं, मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पञ्चेन्द्रियों के विषय व्यापार, मन वचन काय के व्यापार, भाव कर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने और अनुभव किये सभी विषयों से रहित हूं, भोगों की आकांक्षारूप निदान, माया, मिथ्या इन शक्तियों से रहित हूं, इसी प्रकार के सर्व विभाव परिणामों से रहित हूं। तीनों जगत में और तीनों कालों में मैं मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से शुद्ध निश्चयनय से इन विभाव भावों से शून्य हूं। उसी प्रकार से सभी जीव भी निश्चयनय से इन विभाव भावों से शून्य हैं। इस तरह निरंतर भावना करते रहना चाहिये ॥ ३०१-३०२-३०३ ॥

भावार्थ—पहले आचार्य श्री ने ऐसा कहा है कि अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान परिणाम ही कर्मों के कर्ता हैं ज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं है। ऐसे ही पहले भी कहा है कि जीव के योग और उपयोग कर्मों के कर्ता हैं जीव नहीं है। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो यह कथन पद्धति है। जीव को छोड़कर अन्य कहीं न तो अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान ही हैं और न ही जीव को छोड़कर योग-उपयोग ही कहीं पर रहते हैं अतः इन अप्रतिक्रमण आदि से परिणत आत्मा ही बंध का कर्ता हो जाता है। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने कहा भी है कि—जब यह आत्मा शुद्ध स्वस्थ भाव से च्युत होकर—निर्विकल्प ध्यान में स्थित न होकर अप्रतिक्रमण भाव से परिणत हो जाता है तब वही कर्मों का कर्ता होता है ऐसा समझना। इन गाथाओं से स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मुनियों के लिये ही है क्योंकि प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये दो आवश्यक मुनियों के ही मूलगुणों में आते हैं श्रावकों की आवश्यक क्रियायें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान में प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं हैं।

यहां श्रीजयसेनाचार्य ने आठवां स्थल कहा है आगे छठा स्थल आयेगा। सो यहां श्रीअमृतचंद्रसूरि के आधार से गाथायें रखी हैं अतः यह अक्रम हो गया है परिशिष्ट में श्रीजयसेनाचार्य के आधार से गाथायें दी गई हैं वहां से उनका क्रम समझ लेना चाहिये।

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकम्पाईया पुद्गलद्रव्यस्य जे इमे दोसा ।

कह ते कुव्वइ णाणी परद्रव्यगुणा उ जे णिच्चं ॥ २८६ अ० ॥

आधाकम्पं उद्देशियं च पुद्गलमयं इमं द्रव्यं ।

कह तं मम होइ कथं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥ २८७ अ० ॥ (युग्मम्)

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।

कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणस्तु ये नित्यं ॥ २८६ ॥

अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं ।

कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥ २८७ ॥

आत्मख्यातिः—यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्यक्षज्ञानो नैमित्तिकभूतं

उत्थानिका—द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिक भाव है इसे उदाहरण से कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुद्गलद्रव्यस्य अधःकर्माद्याः ये इमे दोषाः) पुद्गलद्रव्य के अधःकर्म आदि जो ये आहार संबंधी दोष हैं (ज्ञानी तान् कथं करोति) ज्ञानी मुनि उन दोषों को कैसे करता है ? (तु ये नित्यं परद्रव्यगुणाः) क्योंकि ये नित्य ही परद्रव्य के गुण हैं। (इदं अधःकर्म उद्देशिकं च पुद्गलमयं द्रव्यं) ये जो अधःकर्म और औद्देशिक दोष हैं वे पुद्गलमय द्रव्य हैं (तत् मम कथं भवति) वे मेरे कैसे हो सकते हैं ? (यत् नित्यं अचेतनं उक्तं) क्योंकि वे नित्य ही अचेतन कहे गये हैं ॥ २८६-२८७ ॥

आत्मख्याति—जैसे अधःकर्मदोष से बने हुये और उद्देश दोष से बने हुये जो आहार आदि पुद्गलद्रव्य हैं वे भावों के लिये निमित्त कारण हैं जो मुनि इन निमित्त भूत पुद्गलद्रव्य का

(३०४)—आहार क्रिया में अधःकर्म आदिक जो दोष बताए हैं ।

वे शुद्धात्मा से पृथग्भूत पुद्गल के गुण कहलाए हैं ॥

निश्चयज्ञानी मुनिवर केवल निज आत्मा में ही रमते हैं ।

तो अधःकर्म आदिक दूषण उनके कैसे लग सकते हैं ॥ २८६ ॥

(३०५)—आहारक्रिया में अधःकर्म आदिक जो दोष बताए हैं ।

वे शुद्धात्मा से सदा पृथक् पुद्गल के गुण कहलाए हैं ॥

निश्चयज्ञानी मुनिवर केवल निज आत्मा में ही रमते हैं ।

तो निज अहार के बनने में कैसे अनुमोदन करते हैं ॥ २८७ ॥

बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे । यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषात्र नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात् । ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं, नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे । एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

त्याग नहीं करता है वह उस निमित्त से होने वाले नैमित्तिकरूप, बंध के साधन ऐसे भावों का प्रत्याख्यान नहीं करता है । उसी प्रकार संपूर्ण भी परद्रव्य का त्याग नहीं करता हुआ, उस निमित्त से हुये भावों का भी प्रत्याख्यान नहीं करता है । जैसे अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा नहीं करता है क्योंकि ये परद्रव्य के परिणाम होने से आत्मा के कार्य नहीं हैं ।

वैसे ही अधःकर्म और औद्देशिक ये दोष पुद्गल कर्म हैं—पौद्गलिक भोजन के आश्रित होने से मेरे कार्य नहीं हैं क्योंकि नित्य ही अचेतन होने से इनमें मेरे कार्यपने का अभाव है ।

ऐसा जानकर मुनि तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान—त्याग करता हुआ नैमित्तिकभूत हुये भाव जो कि बंध के साधन हैं उनका प्रत्याख्यान कर देता है—छोड़ देता है । वैसे ही वह मुनि संपूर्ण भी परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ उन निमित्तक भावों का प्रत्याख्यान कर देता है । इस प्रकार से द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिक भाव सिद्ध ही है ॥ २८६-२८७ ॥

भावार्थ—मुनियों की एषणासमिति में अधःकर्म एक महादोष माना गया है और उद्देश आदि छियालीस दोष माने हैं । जो मुनि उन दोषों को छोड़कर आहार लेते हैं उनके ही एषणासमिति निर्दोष होती है । इससे विपरीत जो मुनि अधःकर्म आदि से बने हुये सदोष आहार को ले लेते हैं उनके वह दोष होने से कर्मों का बंध होता ही है । यहां इसे आचार्य ने उदाहरण में रखा है और कहते हैं कि जो मुनि संपूर्ण ही परद्रव्यों का त्याग कर देते हैं उनके उन परद्रव्य निमित्तक भावों के न होने से कर्मबंध नहीं होता है । द्रव्य/परवस्तुयें जो पास में विद्यमान रहें और उस जन्य भाव न हों ऐसा संभव नहीं है । यहां द्रव्य और भाव में वह निमित्त-नैमित्तिक संबंध दिखलाया है । यही कारण है कि दिगंबर जैनाचार्य पहले परवस्तु का त्याग कराते हैं फिर वे पर वस्तु के त्यागी रागादि भावों से छूटकर कर्मों के बंध से छूटते हैं ।

यहां यह भी विशेष ज्ञातव्य है कि यह समयसार ग्रंथ मूलाचार के अनुसार क्रियाओं में निष्णात साधु के लिये ही है । पुनः श्रावक और अश्वती इसके पात्र भला कैसे हो सकते हैं ? उन्हें तो पहले मुनि बनने की भावना भानी चाहिये तथा मुनियों के प्रति आदर भाव होना चाहिये ।

अब निमित्त के त्याग की प्रेरणा देते हुये आचार्यदेव कलश काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित—

इत्यालोच्य विवेच्य तत्कल परद्रव्यं समग्रं खलात्, तन्मूलं बहुभावसंततीमिमामुद्धर्तुं कामः मयं ।

आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णकसंविद्युतं, येनान्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मानं मूर्जति ॥ १७८ ॥

मंदाक्रांता छंद—रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुय ।

ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्तद्वद्यद्वयमरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७९ ॥

इति बंधो भिक्कांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्याती बंध—

प्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

काव्यार्थ—इस प्रकार परद्रव्य और अपने भाव में निमित्त-नैमित्तिक संबंध को समझकर परद्रव्य मूलक बहुत से भावों की संतान परंपरा को जड़मूल से उखाड़ने का इच्छुक—मुनि उन समस्त परद्रव्यों को बलपूर्वक अपने से भिन्न करके—छोड़ करके अतिशयभार से धागवाही पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपनी आत्मा को प्राप्त कर लेता है। तब जिसने बंध को मूल से निर्मूल कर दिया है ऐसा यह भगवान् आत्मा अपने में ही स्फुरायमान हो जाता है। १७८ ।

काव्यार्थ—बंध के कारणभूत ऐसे रागादि के उदय को निर्दयतापूर्वक विदारण करती हुई और उस रागादि के कार्यरूप विविध प्रकार के बंध को भी अब तत्क्षण ही दूर करके यह ज्ञानज्योति प्रगट होती है। इसने अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट कर दिया है और अच्छी तरह से ऐसी सज्ज हुई है—प्रगट हुई है कि अब उसके विस्तार को अन्य कोई भी आवृत नहीं कर सकता है—ढक् नहीं सकता है। १७९ ।

परद्रव्य और निजभावों में सम्बन्ध समझ पर द्रव्यों को ।

बहुभाव संतती को जड़ से उन्मूलन का इच्छुक मुनि ही ॥

बलपूर्वक सब पर द्रव्यों को निज से कर भिन्न बने ज्ञानी ।

निर्मूल बंध को कर समूल भगवान् आत्ममय हो भ्यानी ॥ १७८ ॥

ऐसे रागादि उदय को निर्दयता से विदारण करती है ।

नाना प्रकार के बन्ध हटा शुभ ज्ञान की ज्योति प्रगटती है ॥

अज्ञान तिमिर कर नष्ट स्वयं वह ऐसी सज्जित हो चमके ।

उसके विस्तार को अन्य कोई भी कर्म कभी नहीं ढक् सकते ॥ १७९ ॥

उत्थानिका—अथाहारविषये सरसविरसमानापमानादिचिन्तारूपरगद्वेषकरणाभावादाहारग्रहणकृतो ज्ञानिनां बन्धो नास्ति, इति कथयति—

(३०४ ज०) आधाकम्पादीया, पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।

कह ते कुव्वदि णाणी, परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥

अधःकर्माद्याः, पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।

कथं तान् करोति ज्ञानी, परद्रव्यगुणाः खलु ये नित्यं ॥ ३०४ ॥

भावार्थ—संपूर्ण रागादि विभाव भावों को दूर करके ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों के बंध को भी नष्ट कर ज्ञानज्योति उत्पन्न हो जाती है फिर यह कर्मों से नहीं ढकती है। यह ज्योति पहले भेदविज्ञान रूप से प्रगट होकर निर्विकल्प ध्यान में स्थिर होती है पुनः केवलज्ञान को प्रगट कर देती है।

अब बन्धतत्त्व इस रंगभूमि से निकल गया अर्थात् रंगभूमि में अपना स्वांग रचकर बंध ने प्रवेश किया था, जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई तब बंध अपना स्वांग छोड़कर निकल गया।

इस प्रकार श्रीमत् 'अमृतचंद्रसूरि' विरचित आत्मख्याति नाम की इस समयसार की व्याख्या में बंध को प्ररूपित करने वाला यह सातवां अंक पूर्ण हुआ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में

श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका के रहस्य को

प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमति

द्वारा रचित इस "ज्ञानज्योति" भाषा टीका

में यह बंध को प्ररूपित करने वाला

सातवां अधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब यहां आहार के विषय में सरस, नीरस और मान-अपमान आदि चिन्तारूप राग-द्वेष के नहीं करने से ज्ञानी मुनियों के आहार ग्रहण करने पर भी बंध नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुग्गलदव्वस्स आधाकम्पादीया जे इमे दोसा) पुद्गलद्रव्य के अधःकर्म आदि जो ये—आहार के दोष हैं (णाणी ते कह कुव्वदि) ज्ञानी/मुनि उन्हें कैसे कर सकता है ? (दु जे णिच्चं परदव्वगुणा) क्योंकि ये नित्य ही परद्रव्य के गुण हैं। ॥ ३०४ ॥

॥ ३०४ ॥ अथःकर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यानं करोति—अधःकर्माद्या

तात्पर्यवृत्तिः—स्वयं पकेनोत्पन्न आहार अधःकर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यानं करोति—अधःकर्माद्या ये इमे दोषाः, कथंभूताः ? शुद्धात्मनः सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणाः । पुनरपि कथंभूताः ? तस्यैवाहारपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपाः तात्रिष्ठयेन कथं करोतीति ज्ञानीति प्रथमगाथार्थः ॥ ३०४ ॥

(३०५ ज०) आधाकम्पादीया, पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।

कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा ॥

अधःकर्माद्या, पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।

कथमनुमन्यते, अन्येन क्रियमाणा परस्य गुणाः ॥ ३०५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अनुमोदयति वा कथमिति द्वितीयगाथार्थः । परेण गृहस्थेन क्रियमाणान्, न कथमपि । कस्मात् ? निर्विकल्पसमाधौ सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् इत्यधःकर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयं गतं ॥ ३०५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—स्वयं पका कर बनाया हुआ आहार—भोजन 'अधःकर्म' शब्द से कहा जाता है । उस अधःकर्म आदि का व्याख्यान करते हैं—अधःकर्म आदि जो ये दोष हैं ये शुद्धात्मा से अतिरिक्त जो पर हैं उससे अभिन्न हैं—परद्रव्यमय आहाररूप पुद्गलद्रव्य के गुण हैं, ये उस आहाररूप पुद्गल के पकने-पकाने आदि की क्रियारूप हैं । निश्चय से यह ज्ञानी आत्मा इन अधःकर्म आदि दोषों को कैसे करता है ? अर्थात् नहीं करता है । यह प्रथम गाथा का अर्थ हुआ ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थः—(आधाकम्पादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा) अधःकर्म आदि जो हैं ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं (अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा कहं अणुमण्णदि) अन्य के द्वारा किये गये ये पर/पुद्गलद्रव्य के गुण हैं ये द्वारा उनकी अनुमोदना कैसे की जा सकती है ? ॥ ३०५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—पर—गृहस्थ के द्वारा किये गये जो ये अधःकर्म आदि दोष हैं उनका यह ज्ञानी आत्मा अनुमोदन कैसे करना है ? अर्थात् नहीं करता है क्योंकि निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर (उन मुनि के) आहार के विषय में मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना का अभाव है अतः उस निर्विकल्पध्यानी महामुनि के ये अधःकर्म आदि दोष नहीं हो सकते हैं । यहां पर ज्ञानी अधःकर्मादि की अनुमोदना भी नहीं करता है । यह द्वितीय गाथा का अर्थ हुआ । इस तरह अधःकर्म के व्याख्यान रूप से दो गाथायें हुई हैं ॥ ३०५ ॥

उत्थानिका—आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमध्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते, तेनौपदेशिकेन सह तदेवाधःकर्म पुनरपि गाथाद्वयेन कथ्यते—

(३०६ ज०) आधाकम्पं उद्देशियं च, पोग्गलमयं इमं द्रव्यं ।

कह तं मम होदि कदं, जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥

(३०७ ज०) आधाकम्पं उद्देशियं च, पोग्गलमयं इमं द्रव्यं ।

कह तं मम कारविदं, जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥

अधःकर्म्मौपदेशिकं च, पुद्गलमयमेतद् द्रव्यं ।

कथं तन्मम भवति कृतं, यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥ ३०६ ॥

अधःकर्म्मौपदेशिकं च, पुद्गलमयमेतद् द्रव्यं । ३०७ ॥

कथं तन्मम कारितं, यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥

उत्थानिका—आहार ग्रहण से पहले उस पात्र—मुनि के निमित्त से जो कुछ भी भोजन-पान आदि बनाया जाता है वह औपदेशिक कहलाता है उस औपदेशिक के साथ उसी अधःकर्म का पुनरपि दो गाथाओं द्वारा कथन करते हैं—

अन्वयार्थ—(आधाकम्पं उद्देशियं च इमं पोग्गलमयं द्रव्यं) अधःकर्म और उद्देश्य से हुये जो दोष हैं वे पुद्गलमयी द्रव्य हैं (तं मम कदं कह होदि) वे मेरे किये कैसे हो सकते हैं ? (जं णिच्चं अचेदणं वुत्तं) क्योंकि वे नित्य ही अचेतन कहे गये हैं । (आधाकम्पं उद्देशियं च इमं पोग्गलमयं द्रव्यं) अधःकर्म और औद्देशिक जो दोष हैं वे पुद्गलमय द्रव्य हैं । (तं मम कारविदं कह जं णिच्चं अचेदणं वुत्तं) वे मेरे द्वारा कराये हुये कैसे हो सकते हैं ? वे तो नित्य ही अचेतन कहे गये हैं ॥ ३०६—३०७ ॥

(३०६)—जब अधःकर्म औद्देशिकादि दूषण सारे पुद्गलमय हैं ।

वे आत्मद्रव्य से पृथक् सदा होने से कहे अचेतन हैं ॥

तब मेरे द्वारा किये गये वे दोष भला कैसे होंगे ?

मैं चिच्चैतन्य स्वरूपी हूँ ये भाव मेरे कैसे होंगे ?

(३०७)—जब अधःकर्म औद्देशिकादि दूषण सारे पुद्गलमय हैं ।

वे आत्मद्रव्य से पृथक् सदा होने से कहे अचेतन हैं ॥

तब मेरे द्वारा कराए भी दोष भला कैसे होंगे ?

मैं चिच्चैतन्यस्वरूपी हूँ ये दोष मेरे कैसे होंगे ॥ २८९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यदिदमाहारकपुद्गलद्रव्यमधःकर्मरूपमौपदेशिकं च चेतनशुद्धात्मद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवा-
चेतनं भणितं तत्कथं भया कृतं भवति कारितं वा कथं भवति ? न कथमपि । कस्माद्धेतोः ?
निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् । इत्यौपदेशिकव्याख्यान-
मुख्यत्वेन च गाथाद्वयं गतं । अयमत्राभिप्रायः । पश्चात्पूर्वं संप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकाय-
कृतकारितानुमतरूपैर्नवभिर्विकल्पैः शुद्धास्तेषां परकृताहारादिविषये बंधो नास्ति । यदि पुनः परकीयपरिणामेन बंधो
भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाणं नास्ति । तथा चोक्तं ।

नवकोटिकम्मसुद्धो पच्छा पुरतो य संपदियकाले ।

परसुहं दुक्खणिमित्तं बज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं ॥

एवं ज्ञानियामाहारग्रहणकृतो बंधो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थलं गतं ॥ ३०६-३०७ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां सम्यक्सारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण जह

तात्पर्यवृत्ति—अधःकर्म और औपदेशिकरूप जो भोजन है वह पुद्गलमय द्रव्य है वह
चेतनमय शुद्ध आत्मद्रव्य से पृथक् होने से नित्य ही अचेतन कहा गया है वह मेरे द्वारा कैसे
किया गया है ? अथवा मेरे द्वारा कैसे कराया गया है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से न किया
गया है न कराया ही गया है क्योंकि निश्चयरत्नत्रय लक्षण भेदज्ञान के होने पर आहार के
विषय में मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना का अभाव है । इस प्रकार औपदेशिक
दोष के व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथायें हुई हैं ।

यहां अभिप्राय यह है कि आहार लेने के पहले, या पीछे अथवा उसी काल में योग्य
आहार आदि के विषय में जो मुनि मन वचन काय को कृत कारित अनुमोदना से गुणित इन
नव कोटि से/नव भेदों से शुद्ध रहते हैं उनको पर के द्वारा बनाये हुये आहार आदि के विषय
में बंध नहीं होता है । यदि पुनः दूसरों के परिणामों से बंध होने लगे तब तो किसी काल में भी
निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । कहा भी है—पूर्व में, पश्चात् में या वर्तमान में मन वचन
काय आदि से/नवकोटिरूप क्रियाओं से शुद्ध मुनि यदि पर के सुख-दुःख के निमित्त से बंधते
हैं तो पुनः उनको निर्वाण ही नहीं हो सकता है ।

इस हेतु से ज्ञानी मुनियों के आहार ग्रहण से होने वाला बंध नहीं होता है । इस तरह
के व्याख्यान की मुख्यता से सूत्रचतुष्टय के द्वारा यह छठा स्थल समाप्त हुआ ॥ ३०६-३०७ ॥

इस प्रकार 'श्रीजयसेनाचार्यकृत' शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवाली 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की इस

णाम कोवि पुरिसो इत्यादि मिथ्यादृष्टिसदृष्टित्याख्यानरूपेण गाथादशकं, निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं, अव्रतव्रतानि पापपुण्यबंधकारणानीत्यादिकथनेन गाथापंचदश, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिंडशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टभिरंतसधिकारैः अष्टमो बंधाधिकारः समाप्तः ॥ ८ ॥

समयसार की व्याख्या में 'जह णाम कोवि पुरिसो' इत्यादि प्रकार से मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के व्याख्यानरूप से दश गाथायें हैं, निश्चय हिंसा के कथनरूप से सात गाथायें हैं, निश्चय से रागादि विकल्प ही हिंसा है इस कथनरूप से छह गाथायें हैं, अव्रत पापबंध के कारण हैं एवं व्रत पुण्य बंध के कारण हैं इत्यादि कथनरूप से पंद्रह गाथायें हैं, निश्चयनय में स्थित होने पर व्यवहारनय त्याज्य है इस कथन की मुख्यता से छह गाथायें हैं, पिंडशुद्धि के कथन की प्रधानता से चार गाथायें हैं, निश्चयनय से रागादिभाव कर्मों के उदय से होते हैं इस कथन की मुख्यता से पांच गाथायें हैं पुनः निश्चयनय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ये बंध के कारण हैं इस प्रतिपादनरूप से तीन गाथायें हैं इस प्रकार समुदाय से छप्पन गाथाओं द्वारा आठ अंतराधिकारों से यह आठवां बंध अधिकार पूर्ण हुआ।

सूचना—श्री अमृतचंद्रसूरि ने "जीवाजीवाधिकार" एक माना है, अतः उनके अनुसार यह सातवां अधिकार है और श्रीजयसेनाचार्य ने जीवाधिकार -अजीवाधिकार अलग-अलग रखे हैं, अतः उनके अनुसार यह आठवां अधिकार है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत

आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को

प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्थिका ज्ञानमती कृत इस "ज्ञानज्योति"

नामा भाषा टीका में बंध को प्ररूपित करने

वाला यह सातवां/आठवां

अधिकार पूर्ण

हुआ।

बंध तत्त्व का सार

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्मा में राग आदि भावों को करता हुआ स्वभाव से ही कर्म के योग्य जो पुद्गल उनसे भरे हुए लोक में मन वचन काय की क्रिया को करता हुआ अनेक प्रकार के कारणों द्वारा वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रज से बंधता है। वहाँ विचार किया जाये कि बंध का कारण क्या है ? प्रथम तो कर्म योग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक बंध का कारण नहीं है यदि उनसे बंध हो तो लोक में सिद्धों को भी बंध का प्रसंग आयेगा। कायादि की क्रिया को बंध का कारण माना जाय तब तो मन वचन काय की क्रिया वाले यथाख्यात संयमियों में—ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती के भी बंध का प्रसंग आ जायेगा। अनेक प्रकार के कारण (क्रियायें—उठना, बैठना, श्रीविहार करना आदि) यदि बंध के कारण हों तो केवलियों के भी बंध का प्रसंग आ जायेगा और यदि वस्तुओं का उपघात बंध का कारण हो तो समिति में तत्पर साधु यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं कदाचित् उस समय भी उनसे सचित्तादि वस्तुओं का—किसी जीव का उपघात हो जाता है पुनः उनके भी कर्म का बंध होने लगेगा। इसलिये न्याय के बल से यह सिद्ध हुआ कि उपयोग में रागादि का करना बंध का कारण है। जैसे कि तेल का मर्दन कर कोई पुरुष रज से सहित स्थान में व्यायाम करते हुये धूलि से लिप्त हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि प्राणी राग, द्वेष, मोह के द्वारा कर्मों से बंध जाते हैं।

जैसे फिर वही मनुष्य तैलादि चिकनी वस्तु को दूर कर बहुत धूलिवाले स्थान में शस्त्रों के अभ्यास द्वारा व्यायाम करता है फिर भी उसके धूलि नहीं चिपकती है उसी प्रकार से वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि का अभाव होने से कर्मों का बंध नहीं होता है।

प्रश्न यह होता है कि जिसके रागादि नहीं हैं वह कुछ भी करे तो भी बंध नहीं होगा ?

इसका उत्तर यही है कि यद्यपि यहां लोक आदि कारणों से बंध नहीं कहा और रागादि से बंध कहा है तो भी ज्ञानियों को निर्भय होकर स्वच्छंद प्रवर्तन करना योग्य नहीं है क्योंकि निर्गल प्रवृत्ति करना ही बंध का स्थान है। ज्ञानियों के बिना वांछा के कार्य होता है वह बंध का कारण नहीं कहा, क्योंकि जानता भी हो और करता भी हो ये दोनों क्रियाएं परस्पर में निश्चय से विरुद्ध हैं। अर्थात् यहां "ज्ञानी" शब्द से निर्विकल्प समाधि में स्थित महामुनियों को लेना क्योंकि वहां बुद्धि पूर्वक क्रिया नहीं होती है।

कहा भी है—जो जानता है वह कर्ता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। जो करना है वह निश्चय से कर्मरूप राग है जो राग है उसे मुनिजन अज्ञानमय परिणाम कहते हैं। यही परिणाम निश्चय से बंध का कारण है।

प्रश्न यह उठता है क्या अहिंसा आदि की भावना से भी कर्म बंध होता है ?

उसका उत्तर तो यही है कि मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं ऐसा आशय अज्ञान है और इस आशय से सहित जीव मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि प्रत्येक जीवों का आयु

के क्षय से ही मरण होता है। तथा जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवों को जीवित करता हूँ और अन्य जीव मुझे जीवित करते हैं वह मूढ़ है अज्ञानी है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत है अर्थात् यहां जो यह कथन है वह नयविवक्षा से है जो मुनिराज राग-द्वेष रहित शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमानन्द सुखास्वादरूप परमोपेक्षा संयम की भावना से परिणत अभेद रत्नत्रय में स्थित है—निर्विकल्परूप त्रिगुप्तसमाधि में लीन हैं उस समय जो ये हिंसा-अहिंसा के विकल्परूप भाव हैं वे नहीं होते हैं, उसी समय वह निश्चय सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी कहा जाता है, यहां व्यवहार नय को गौण करके निश्चयनय की प्रधानता करके यह कथन किया है। आगे भगवान् श्रीकुन्दकुन्ददेव स्वयं उस बात को स्पष्ट करते हैं। यथा—

(२७३) मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।

तं पावबन्धगं वा पुण्णस्स व बन्धगं होदि ॥२६१॥

मैं किसी को मारता हूँ या जीवित करता हूँ इस प्रकार के जो अभिप्राय हैं वे शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रय से शून्य हैं अतः उन अभिप्रायों से क्रमशः पाप अथवा पुण्य का ही बंध होता है और कुछ भी नहीं होता है क्योंकि जीवन-मरण आदि उन-उन जीवों के द्वारा उपार्जित कर्मों के उदय के आधीन हैं। दूसरी बात यह भी है कि अध्यवसान मात्र से—परिणाम से बंध हो जाता है जीव मरे अथवा न मरे। उसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणामों से पाप का बंध होता है। "सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप परिणामों से पुण्य का बंध होता है।"

टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं—“एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयते-अध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च तिधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतुः” पूर्व कथित रीति से अज्ञान से हिंसा में अध्यवसाय के समान असत्य, अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह में जो अध्यवसाय किया जाता है वह सभी केवल पाप बंध का ही कारण है। तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है, उसी तरह सत्यव्रत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इनमें भी अध्यवसाय (परिणाम) किया जाता है वह सभी पुण्यबंध का ही कारण है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि किसी पर दया करके बचाऊँ यह दयाभाव भी हिंसा के समान ही है।

उन कहने वालों को श्रीकुन्दकुन्ददेव की इन गाथाओं पर और श्रीअमृतचंद्र सूरि की टीका पर ध्यान देना चाहिये।

१. (२७४) एवमल्लिये अटते अबन्धवेरे परिगहे चेव ।

कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥ २६३ ॥

(२७६) तहवि य सज्जे दत्ते वंघे अपरिगहत्तणे चेव ।

कीरइ अज्झवसाणं वं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ २६४ ॥

यद्यपि किसी को जीवित रखने या मारने में या सुखी-दुखी करने के भावों से पुण्य या पाप का बंध होता है, फिर भी यदि कोई अहंकार भाव से यही मानता रहे कि मैंने ही ऐसा किया तो वहां पर मिथ्यात्व हो जाता है। क्योंकि पर के सुख-दुःखादि में उनका-उनका पुण्य-पाप कर्म का उदय ही खास कारण है अन्य जीव तो उसमें निमित्त मात्र पड़ जाते हैं। अतः अहंकार से कर्तृत्व बुद्धि को नहीं करना चाहिये। यहां इस कथन का यह अभिप्राय है और वास्तव में तो यह कथन वीतरागी सम्यग्दृष्टि निश्चयनय का अवलंबन लेने वाले ध्यान में स्थित साधुओं के लिये ही है जो कि शुभ-अशुभ क्रियाओं से हटकर पुण्य-पाप इन दोनों का संवर करते हुए शुद्धोपयोग में स्थिर रहकर आत्मा का आनन्द ले रहे हैं। इस बात को स्वयं भगवान् कुंदकुंददेव कह रहे हैं—

“उपर्युक्त प्रकार के परिणाम जिनके नहीं होते हैं वे मुनिराज अशुभ अथवा शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।” देखिये ! श्रीअमृतमन्त्रगूरि की अमृतवाणी—“ततो बन्धनिमित्तान्येवेतानि समस्तान्यध्यवसानानि। येषामेवेतानि न विद्यन्ते त एव मुनिकुंजराः।” अतः ये सभी परिणाम बंध के निमित्त हैं। जिनके ये अध्यवसान—परिणाम विद्यमान नहीं हैं वे ही मुनियों में प्रधान मुनिकुंजर कहलाते हैं। वे ही शुभ-अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं।

इस कथन से यह समझना चाहिये कि जो “मैं किसी को मारता हूँ या किसी की दया करता हूँ।” ये परिणाम सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं, ऐसा एकांत नहीं है। यह कथन मात्र महामुनियों के लिये ही है न कि सामान्य अव्रती श्रावकों के लिये, जैसा कि आजकल कुछ लोग समयसार की गाथा नं० २४७ से २६६ अ०, २६२ से २७८ ज०, तक के अर्थ का अनर्थ करके इस बात का प्रचार कर रहे हैं कि “जीओ और जीने दो” यह सिद्धांत ही मिथ्यात्व है उन्हें उसी समयसार ग्रन्थ की गाथा २७० और उसकी टीका का अच्छी तरह से मनन करना चाहिये। आगे और भी देखिये—

एवं व्यवहारणो, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।

णिच्छयणयासिद्धा पुण, मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥१॥

पूर्व कथित परिणामों का कथन करने वाला व्यवहार नय है, वह निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध है। पुनः निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। सबसे पहले यहां यह समझना चाहिये कि मुनिगण ही निश्चयनय का आश्रय ले सकते हैं, श्रावकगण या अव्रतीजन नहीं ले सकते हैं। टीकाकार श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं कि—“परद्रव्य का आश्रय लेने वाला व्यवहारनय, शुद्ध आत्मद्रव्य का आश्रय लेने वाले निश्चय नय के द्वारा प्रतिषिद्ध किया गया है। क्योंकि निश्चयनय में स्थित मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यद्यपि

प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा प्रारम्भ के प्रस्ताव में सविकल्प अवस्था में निश्चयनय का साधक होने से व्यवहार नय प्रयोजनीभूत है। फिर भी रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय शुद्धात्मा में स्थित हुये मुनियों के लिये वह निष्प्रयोजन है। अर्थात् छोटे गुण-स्थान तक व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है, ऐसा अभिप्राय है।"

यहां प्रारंभिक अवस्थारूप सविकल्प अवस्था छोटे गुणस्थानवर्ती मुनियों की ही लेना चाहिये क्योंकि सातवें गुणस्थान से ही निर्विकल्प अवस्था शुरू होती है।

व्यवहाररत्नत्रय अभव्य की अपेक्षा कथंचित् हेय भी है किंतु भव्य की अपेक्षा उपादेय है।

व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप ये व्यवहार चारित्र हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है, 'इनको पालन करता हुआ भी अभव्य-जीव, अज्ञानी मिथ्यात्मी ही है। अर्थात् अभव्य जीव के कभी भी सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता है फिर भी वे मंद मिथ्यात्व और मंद कषाय के उदय से चारित्र को धारण कर लेते हैं तथापि वे अज्ञानी और मिथ्यात्मी ही हैं।

प्रश्न—जब अभव्य जीव भी चारित्र का पालन करते हुये ग्यारह अंग तक ज्ञानी हो जाते हैं पुनः वे अज्ञानी कैसे कहे गये हैं ?

उत्तर—मोक्खं असद्वहंतो अभवियसत्तो तु जो अधीएज्ज।

पाठो ण करेदि गुणं, असद्वहंतस्स णाणं तु ॥२७४ अ०, २९२ ज० ॥

अभव्य जीव शास्त्रों का अध्ययन भी करते हैं परन्तु मोक्ष तत्त्व का श्रद्धान नहीं करते अतः ज्ञान का श्रद्धान न करने वाले उन अभव्यों का शास्त्र पढ़ना लाभ नहीं करता अर्थात् 'अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो सकती है इस प्रकार का जिनको श्रद्धान नहीं है' वे ख्याति, पूजा आदि के निमित्त ग्यारह अंग का अध्ययन भी कर लेवें तो भी उनका वह शास्त्रों का पढ़ना शुद्धात्मा के परिज्ञानरूप गुण को करने वाला नहीं हो सकता है क्योंकि उनके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का होना अशक्य है इसका भी कारण यह है कि वे अभव्य हैं।

यहां यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि श्रावकों में ऐलक, क्षुल्लक को भी अंग और पूर्व पढ़ने का अधिकार नहीं है। हां, आर्यिकायें उपचार से महाव्रती हैं अतः उनको ग्यारह अंग तक का ज्ञान संभव है। कहा भी है—

“एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।” आर्यिका सुलोचना ग्यारह अंगों की पाठी हुई थीं। यह एक बात हुई।

अब दूसरी बात यह है कि यदि कोई दिगंबर मुनि हैं वे द्रव्यलिङ्गी हैं भावलिङ्गी नहीं हैं अर्थात् छठे-सातवें गुणस्थान के उनके भाव—परिणाम नहीं हैं तो उन्हें ग्यारह अंगों तक का ही ज्ञान हो सकता है पूर्वों का नहीं। ऐसे ही अभव्य मुनि को भी ग्यारह अंगों तक का ही ज्ञान हो सकता है। आजकल कोई विद्वान् नवपूर्वों का भी ज्ञान अभव्यों में मान लेते हैं सो उन्हें इन पंक्तियों से ही समाधान कर लेना चाहिये। यथा—“आचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि।” वे भावलिङ्गी मुनि होकर ही नव पूर्व पढ़कर दशवां विद्यानुवादपूर्व पढ़ते हैं पुनः विद्या के लोभ में आकर पश्चात् स्थिर हो जाते हैं वे “भिन्नदशपूर्वी” कहलाते हैं और जो चारित्र से च्युत हो जाते हैं, मिथ्यात्व में आकर दिगंबर मुद्रा को ही छोड़ देते हैं वे तो दुर्गति के भाजन हो जाते हैं फिर भी वे भव्य ही हैं कालांतर में मोक्ष प्राप्त करते ही हैं।

यह अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसे प्रतीति में लाता है, उसमें रुचि रखता है एवं उसे धारण भी करता है, सो वह कर्मों को नष्ट करने के लिये नहीं किन्तु भोगों को प्राप्त करने के लिये ही करता है।

इस व्यवहार रत्नत्रय को अभव्य जीव भी मुनि बनकर धारण कर लेते हैं इसीलिये यह हेय है, किन्तु निश्चय रत्नत्रय भव्य जीव के ही होता है, निश्चय रत्नत्रय वाले नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं इसीलिये वह उपादेय है। इस पर भी यह निश्चित समझना चाहिये कि व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय हो ही नहीं सकता है अतः कथंचित् व्यवहार रत्नत्रय भी उपादेयभूत है। कहा भी है—

निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होने पर व्यवहार त्याज्य है, मतलब उस त्रिगुण अवस्था में व्यवहार स्वयमेव नहीं रहता है।^१ यहां यह तात्पर्य समझना। अर्थात् निश्चयरूप ध्यानावस्था में व्यवहार स्वयं ही छूट जाता है, रहता ही नहीं है।

भव्यजीव चिदानन्दैकलक्षण स्व स्वभाव को जानता हुआ मोह, राग, द्वेष आदि भावों को नहीं करता है इसलिये नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है।

प्रश्न—मोह, राग, द्वेष से सभी कषायों का ग्रहण कैसे होगा ?

उत्तर—यहां मोह शब्द से दर्शन मोह लेना और राग द्वेष शब्द से चारित्र मोह को ग्रहण करना। इसी चारित्र मोह में क्रोध, मान, कषायें द्वेष रूप हैं क्योंकि वे द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं और माया, लोभ राग के अंग हैं क्योंकि ये राग को उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसे ही नव नोकषायों में स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, हास्य और रति ये पांच रागरूप हैं क्योंकि ये

१. गाथा २७४, श्रीअमृतचंद्रसूरि की आत्मख्याति टीका

२. टीका श्री जयसेनावार्य की, गाथा २७७ अ०, २९५ उ०.

रागोत्पादक हैं तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चार द्वेषरूप हैं क्योंकि ये द्वेषोत्पादक हैं। ये रागादि भाव कर्मबंध के कारण हैं और रागादि परिणामों के लिये निश्चय से कर्म का उदय कारण है। ज्ञानी जीव कर्म बंध में कारण नहीं है।

प्रश्न—बंध के नाश के लिये क्या भावना करना ?

उत्तर—भेदाभेद रत्नत्रय को धारण करने वाले साधुओं को बंध का अभाव करने के लिये निम्न प्रकार भावना करना चाहिये।

“सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, इत्यादि”

गाथा २८३-२८४-२८५ अ०, ३०१-३०२-३०३ ज० में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान को कर्मबंध कराने वाला कहा है और ज्ञानी आत्मा को कर्मों का अकारक कहा है। यहां आचार्यदेव कहते हैं कि—जब तक ये मुनिराज द्रव्य और भावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं करते हैं तब तक ये कर्मों के कर्ता होते ही हैं।

पुनः आगे कहते हैं—अधःकर्म और औद्देशिक ये आहार के दोष हैं। जब मुनिराज निर्विकल्प ध्यान में स्थित हो जाते हैं तब ये दोष उन्हें लगते ही नहीं हैं, इत्यादि।

इन प्रकरणों से यह बहुत स्पष्ट है कि बंध तत्त्व के ज्ञाता महामुनि ही पहले मूलाचार के आधार से प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानरूप आवश्यक क्रियाओं में निष्णात हो जाते हैं और आहार के भी अधःकर्म महादोष तथा उद्देश आदि छ्यालीस दोष व बत्तीस अंतरायों को टालकर शुद्ध प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं वे ही महासाधु निश्चयनय का अवलंबन लेकर आत्मा का ध्यान करते हुये शुद्धोपयोगी बन जाते हैं तभी वे इस समयसार के अनुसार कर्मबंधों से छूटकर मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। अतः यह ग्रंथराज महामुनियों के लिये ही है न कि अव्रती या देशव्रती श्रावकों के लिये। इसलिये इस अधिकार की कम से कम यह गाथा प्रतिदिन अवश्य पढ़नी चाहिये—

एदाणि णत्थि जेसि अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।

ते असुहेण सुहेण व कम्मेण भुणी ण लिप्पंति ॥२७० अ० ॥

इति श्रीमद्भगवत्कुन्दकुंदाचार्य विरचित “समयसार प्राभृत” ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत

आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को

प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत इस

“ज्ञानज्योति” नामा भाषा टीका में बंध को प्ररूपित

करने वाला यह सातवां (आठवां)

अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ मोक्षाधिकारः ॥ ८ ॥

अथ प्रविशति मोक्षः ।

शिखरिणी छन्द—द्विधाकृत्य प्रज्ञाककचदलनादबंधपुरुषौ, नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलभैकनियतं ।

इदानीमुन्मज्जत् सहजपरमानंदसरसं, परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयहि चिरकालपडिवद्धो ।

तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८ अ० ॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः ।

तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥२८८॥

अब यहां रंगभूमि में मोक्षतत्त्व प्रवेश करता है ।

प्रथम ही इस मोक्ष अधिकार के प्रारंभ में ज्ञान की महिमारूप मंगल काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—बंध कथन के अनंतर यह पूर्णज्ञान प्रगट होता हुआ प्रज्ञारूपी करोट को चलाकर बंध और आत्मा को दो करके—अलग-अलग करके निश्चित एक स्वभाव को प्राप्त ऐसे पुरुष—आत्मा को साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ विजयशील हो रहा है । यह ज्ञान इस समय अपने सहज परमानंद से सरस है, उत्कृष्ट है और सकल कार्य को पूर्ण करके कृतकृत्य होता हुआ जयवंत हो रहा है ॥१८०॥

जो बंध के स्वरूप को जानकर मात्र संतुष्ट हो रहे हैं वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा नाम कश्चित् पुरुषः बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः) अहो ! जैसे कोई पुरुष बंधन में बहुत काल से बंधा हुआ है (तस्य तीव्रमंदस्वभावं च कालं विजानाति) उस बंधन के तीव्र

(३०८)—जैसे कोई पुरुष बंधन में बंधा है,

चिरकाल से स्वयं दुःख उठा रहा है ॥

बंधन के तीव्र या मन्द स्वभाव को भी,

वह बन्धकाल को भी खुद जानता है ॥ २८८ ॥

प्रज्ञा करोट को चला बन्ध एवं आत्मा को भिन्न करें ।

निज एक स्वभाव को प्राप्त पुरुष साक्षात् मोक्षपुर में पहुँचें ॥

निज सहजानन्द सरस उत्तम वह ज्ञान सदा जयशील रहे ।

सब कार्य पूर्ण करके कृतकृत्य परम आत्मा बन वीर रहे ॥ १८० ॥

जइ णवि कुणइ छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।

कालेण उ बहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९ अ० ॥

इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं ।

जाणंतोवि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९० अ० ॥ (त्रिकलम्)

यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन् ।

कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षं ॥२८९ ॥

इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागं ।

जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥२९० ॥

आत्मख्यातिः—आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः । बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके तदसत् . न कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रवत् । एतेन कर्मबंधप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्र-संतुष्टा उत्थाप्यन्ते ॥२८८ ॥२८९ ॥२९० ॥

मंद स्वभाव को और काल को जानता है (यदि छेदं नापि करोति तेन बंधनवशः सन् न मुच्यते) यदि वह बंधन का छेदन नहीं करता है तो उस बंधन के वश हुआ छूट नहीं सकता है (सः नरः बहुकेन अपि कालेन तु विमोक्षं न प्राप्नोति) तो वह मनुष्य बहुत काल घें भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है । (इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृति एवं अनुभागं जानन् अपि न मुच्यते च यदि सः शुद्धः मुच्यते एव) इसी प्रकार कर्मबंध के प्रदेश, स्थिति, प्रकृति एवं अनुभाग को जानता हुआ भी छूट नहीं सकता है और यदि वह शुद्ध है तो मुक्त हो ही जाता है ॥ २८८ से २९० ॥

आत्मख्याति—आत्मा और बंध को दो कर देना—पृथक्-पृथक् कर देना मोक्ष है । इस मोक्ष के विषय में कोई ऐसा कहते हैं कि बंध के स्वरूप को जान लेना मात्र ही मोक्ष का हेतु है, सो उनका यह कथन असत्य है । कर्म से बंधे हुए पुरुष के बंध स्वरूप को जान लेना मात्र ही मोक्ष का हेतु नहीं है क्योंकि वह जानलेना मात्र अहेतु है जैसे कि बेड़ी आदि से बंधा हुआ

(३०९)—फिर भी न बन्ध को यदि वह छेदता है,
तो कर्मबन्ध से कैसे छूट सकता ।
पुरुषार्थ बिन समय कितना ही गंवा ले,
पर मोक्षप्राप्ति में सक्षम हो न सकता ॥ २८९ ॥

(३१०)—प्रकृती प्रदेश स्थिति अनुभाग आदी,
कर्मों के भेद भी जान न छूटता है ।
रागादि भाव तजकर यदि शुद्ध होता,
मानव वही तब कर्म से छूटता है ॥ २९० ॥

(शुक्तिः) —तत्रैवं सति अवराहीयशुद्धात्मनः सम्पन्नात्पृथग्भूत्वा शृङ्गारस्थानीयबंधो निष्क्रान्तः । अथ प्रविशति मोक्षः—

जह णाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथामादि कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्यंतं मोक्षपदार्थव्याख्यानं करोति—तत्रादौ मोक्षपदार्थस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तकं, तदनंतरं मोक्षकारणभूतभेदविज्ञानसंक्षेपसूचनार्थं बंधाणं च सहावं इत्यादि सूत्रचतुष्टयं, अतः परं तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थं पण्णाए घेतव्वो इत्यादि सूत्रपंचकं, तदनंतरं वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिकं विषकुंभः सरागचारित्रस्यामृतकुंभ इति युक्तिसूचनमुख्यत्वेन तेयादी अवराहे इत्यादि सूत्रषट्कं कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभिः स्थलचतुष्टये मोक्षाधिकारं समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका) —तद्यथा-विशिष्टभेदज्ञानावष्टंभेन बंधात्मनोः पृथक्करणं मोक्ष इति प्रतिपादयति—

(३०८ ज०) जह णाम कोवि पुरिसो, बंधणियहि चिरकालपडिबद्धो ।

तिव्वं मंदसहावं, कालं च वियाणदे तस्स ॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो, बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः ।

तीव्रं मंदस्वभावं, कालं च विजानाति तस्य ॥३०८॥

पुरुष अपने बेड़ी के बंधन को मात्र जान रहा है तो वह बेड़ी से छूट नहीं जायेगा । इस कथन से कर्म बंध के विस्तार की रचना के जानने मात्र से ही जो संतुष्ट हो रहे हैं उनका यहां खंडन किया गया है ऐसा समझना ॥२८८-२८९-२९०॥

श्रीजयसेनाचार्य कृत भूमिका—

यहां इस प्रकरण में पात्र के स्थानीय जो शुद्धात्मा है उससे पृथक् होकर शृंगार के स्थानीय—सदृश जो बंध है वह रंगभूमि से निकल गया । अब मोक्ष प्रवेश करता है—उसमें 'जह णाम कोवि पुरिसो' इत्यादि गाथा को आदि में लेकर यथाक्रम से बाईस गाथा पर्यंत मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान करते हैं । इन गाथाओं में पहले मोक्षपदार्थ के संक्षेप व्याख्यानरूप से सात गाथायें हैं, अनंतर मोक्ष के कारणभूत भेदविज्ञान को संक्षेप से सूचित करने हेतु 'बंधाणं च सहावं' इत्यादि चार गाथायें हैं, इसके बाद उसी भेदज्ञान का विशेष विवरण करने के लिये 'पण्णाए घेतव्वो' इत्यादि पाँच गाथायें हैं, इसके अनंतर वीतरागचारित्रसहित द्रव्यप्रतिक्रमण आदि विषकुंभ हैं, सरागचारित्रसहित मुनि के लिये ये ही अमृतकुंभ हैं इस प्रकार युक्ति पूर्वक सूचित करने की मुख्यता से 'तेयादी अवराहे' इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं । इस प्रकार से बाईस गाथाओं द्वारा चार स्थलों से इस मोक्षाधिकार में यह समुदाय पातनिका कही गई है ।

उत्थानिका—विशिष्ट भेदज्ञान के अवलंबन से बंध और आत्मा को पृथक्-पृथक् कर देना मोक्ष है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जह णाम कोवि पुरिसो बंधणियहि चिरकालपडिबद्धो) अहो ! जैसे कोई पुरुष बंधन में बहुत काल से बंधा हुआ है (तस्स तिव्वं मंदसहावं च कालं वियाणदे) उस बंधन

(३०९ ज०) यदि णवि कुव्वदि छेदं, ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण ।
कालेण बहुएणवि, ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥

(३१० ज०) इय कम्मबंधणाणं, पदेसपयडिड्ढिदीयअणुभागं ।
जाणंतोवि ण मुंचदि, मुंचदि सव्वे यदि विसुद्धो ॥

यदि नापि करोति छेदं, न मुच्यते तेन कर्मबंधेन ।

कालेन बहुकेनापि, न स नरः प्राप्नोति विमोक्षं ॥३०९॥

इति कर्मबंधनानां, प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागं ।

जानन्नपि न मुंचति, मुंचति सर्वान् यदि विशुद्धः ॥३१०॥

तात्पर्यवृत्तिः—‘जह णाम’ इत्यादि । यथा कश्चित्पुरुषः बंधनके चिरकालप्रवृत्तिरिति तस्य बंधस्य तीव्रमंदस्वभावं जानाति दिवसभासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता । जानन्नपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबंधविशेषेणामुच्यमानः सन् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टान्तो गतः । अथ इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिड्ढिदीय अणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि एवं ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न-कर्मबंधनानां प्रदेशं प्रकृतिस्थिती, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुच्यते । मुंचदि सव्वे यदि विसुद्धो यदा मिथ्यात्वरागादिरहितो भवति तदाऽनंतज्ञानादिगुणात्मकपरमात्मस्वरूपे स्थितः

के तीव्र-मंद स्वभाव को और काल को जानता है । (जदि छेदं णवि कुव्वदि तेण कम्मबंधेण ण मुंचदि) यदि वह बंधन का छेदन नहीं करता है तो उस कर्म बंध से छूट नहीं सकता है (सो णरो कालेण बहुएणवि विमोक्खं ण पावदि) वह मनुष्य बहुत भी काल में मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है (इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिड्ढिदीय अणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि) इसी प्रकार कर्म बंध के प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानते हुये भी वह मुक्त नहीं हो सकता है (जदि विसुद्धो सव्वे मुंचदि) यदि वह शुद्ध होता है तो सभी-कर्मों को छोड़ देता है—मुक्त हो जाता है ॥ ३०८ से ३१० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—‘जह णाम’ इत्यादि । जैसे कोई पुरुष बंधन में चिरकाल से बंधा हुआ रह रहा है उस बंधन के तीव्र-मंद स्वभाव को और दिवस, मास आदि समय को भी जानता है । यह प्रथम गाथा हुई । यदि वह जानते हुये भी बंध का छेद नहीं करता है, बेड़ी आदि को नहीं खोलता है तब वह मुक्त नहीं हो पाता है । उस कर्मबंध विशेष से नहीं छूटता हुआ वह पुरुष बहुत काल में भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता है । इस तरह दो गाथाओं द्वारा यह दृष्टान्त हुआ । इसी प्रकार ज्ञानावरण आदि मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतियों के भेद से भिन्न कर्मरूपी बंधन के प्रदेश को, प्रकृति को, स्थिति को और अनुभाग को जानते हुये भी वह जीव कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता है । किन्तु जब मिथ्यात्व, रागादि से रहित हो जाता है तब अनंतज्ञान आदि गुणरूप—परमात्म-स्वरूप में स्थित होते हुए सर्वकर्म बंधों को छोड़ देता है । अथवा पाठांतर

सर्वान्कर्मबंधान् मुंचति । अथवा पाठांतरं मुंचति सव्वे जदि स बंधे मुच्यते कर्मणा यदि किं, सिस्सति छिनत्ति । कान् ? सर्वबंधान् । अनेन व्याख्यानानेन ये प्रकृत्यादिबंधपरिज्ञानमात्रेण संतुष्टास्ते प्रतिबोध्यन्ते । कथं ? इति चेत्, बंधपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपलब्धिरूपवीतरागचारित्ररहितानां स्वर्गादिसुखनिमित्तभूतः पुण्यबंधो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टान्तिकाया गता । एतेन व्याख्यानानेन कर्मबंधप्रपंचरचनाविषये चिन्तामात्रपरिज्ञानेन संतुष्टा निराक्रियन्ते ॥ ३०८ । ३०९ । ३१० ॥

यह है कि 'मुंचति सव्वे जदि स बंधे' यदि वह सर्वबंधन-कर्मबंधन को काट डालता है तब वह कर्मों से छूट जाता है । यहां इस व्याख्यान से जो पुरुष प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकार के बंध के जाननेमात्र से संतुष्ट हैं वे प्रतिबोधित किये गये हैं ।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—क्योंकि अपने स्वरूप की उपलब्धिरूप जो वीतराग चारित्र है उससे रहित पुरुषों को बंध के परिज्ञानमात्र से स्वर्ग आदि सुख के निमित्तभूत ऐसा पुण्यबंध तो होता है किंतु मोक्ष नहीं होता है । इस तरह यह दार्ष्टान्तिकाया हुई । इस कथन से कर्मबंध के विस्तार की रचना के विषय में चिन्तन करना मात्र जो ज्ञान है उतने मात्र से ही संतुष्ट हुये जनों का निराकरण किया गया है ॥ ३०८-३०९-३१० ॥

विशेषार्थ—अपने स्वरूप की उपलब्धि—प्राप्तिरूप जो वीतरागचारित्र है यह बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण होता है और सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग से यह प्रारंभ होता है । इससे पहले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि और सातवें गुणस्थान के प्रथम भाग वाले स्वस्थानअप्रमत्त मुनि के सराग चारित्र ही होता है यह अध्यात्मभाषा है । सिद्धान्त की भाषा में तो दसवें गुणस्थान तक भी सराग चारित्र ही है । ये सरागचारित्र वाले मुनि 'कर्मप्रवाद' पूर्व के भी ज्ञाता हो सकते हैं । आज पंचमकाल में दिगंबर संप्रदाय में अंग-पूर्व ज्ञान नहीं है तो भी आज गोम्पटसार कर्मकांड और महाबंध आदि को जानने वाले मुनि सरागचर्या वाले हैं । ऐसे मुनि वीतरागचारित्ररूप श्रेण्यारोहण के बिना स्वर्ग ही जाते हैं । हां, ये परंपरा से मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं क्योंकि इनके सरागचारित्र है । अतः यहां यह बंध का ज्ञान मिथ्यादृष्टि के ही होता है सम्यग्दृष्टि के नहीं, ऐसा एकांत नहीं लेना चाहिए ।

दूसरी बात यह है कि जो प्रकृति और पुरुष के बंध को जान लेते हैं वे उस मात्र—भेद ज्ञान से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं, ऐसी एकांत मान्यता सांख्यों की है । मुख्यरूप से यहां उनका ही खंडन किया गया है । इसके साथ जो निश्चयाभासी एकांतवादी हैं व्यवहार चारित्र—सरागचारित्र को सर्वथा हेय मानकर उसे ग्रहण ही नहीं करते हैं मात्र आत्मा को शुद्ध मानकर अपने को वीतरागचारित्री समझकर वीतरागचारित्र के और मोक्ष प्राप्ति के स्वप्न देखते रहते हैं उनका भी यहां खंडन समझना चाहिये ।

जह बंधे चिंततो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।

तह बंधे चिंततो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१ अ० ॥

यथा बंधान् चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं ।

तथा बंधांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं ॥२९१ ॥

आत्मख्यातिः—बंधचिन्ताप्रबंधो मोक्षहेतुरित्यन्ये तदप्यसत्, न कर्मबद्धस्य बंधचिन्ताप्रबंधो मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधचिन्ताप्रबंधवत् । एतेन कर्मबंधविषयचिन्ताप्रबंधात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यन्ते ॥२९१ ॥

बंध की चिन्ता करने से बंध नहीं छूटेगा, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा बंधनबद्धः बंधान् चिंतयन् विमोक्षं न प्राप्नोति) जैसे बंधन से बंधा पुरुष बंधन का चिंतवन करता हुआ छुटकारा को प्राप्त नहीं कर सकता है (तथा जीवः अपि बंधान् चिंतयन् विमोक्षं न प्राप्नोति) वैसे ही यह जीव भी बंधों का चिंतवन करता हुआ मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ २९१ ॥

आत्मख्याति—बंध की चिन्ता करना ही मोक्ष का कारण है ऐसा कोई अन्यमती कहते हैं वह भी ठीक नहीं है। कर्म से बंधे हुये पुरुष के बंध की चिन्ता करना मोक्ष का हेतु नहीं है क्योंकि वह अहेतु है बेड़ी से बंधे हुये के बंध की चिन्ता के समान। इस कथन से कर्मबंध के विषय में चिन्ता के प्रबंधरूप होने से विशुद्ध धर्मध्यान में जिनकी बुद्धि अंधी है उन्हें समझाया गया है ॥ २९१ ॥

भावार्थ—कर्मबंध का चिंतवन यद्यपि धर्मध्यान है फिर भी वह शुभोपयोग होने से मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान ही है अतः एकांत से ऐसी मान्यता का निषेध है। परंपरा से तो यह विपाकविचय धर्मध्यानरूप कर्मबंध का चिंतवन भी उपादेय है, शुद्धोपयोग के लिये कारण है।

(३११)—ज्यों बंध में बंधा कोई जीव चाहे,

बंधन विचार केवल नहि मुक्ति देता ।

त्यों जीव भी कर्म बन्धन के विषय में,

चिन्तन ही मात्र से वह नहि मोक्ष लेता ॥ २९१ ॥

(३११ ज०) जह बंधे चिंततो, बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे चिंततो, जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥

यथा बंधं चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं ।

तथा बंधं चिंतयन्, जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं ॥३११॥

तात्पर्यवृत्ति—जह बंधे चिंततो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं यथा कश्चित्पुरुषो बंधनबद्धो बंधं चिंतयमानो मोक्षं न लभते तह बंधं चिंततो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधांश्चिंतयमानः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणं मोक्षं न लभते । किं च समस्तशुभाशुभ-बहिर्द्रव्यालंबनरहितचिदानंदैकशुद्धात्मावलंबनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरहितो जीवः, बंधप्रपंचरचनाचितारूप-सरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारणपुण्यबंधं लभते न च मोक्षमिति भावार्थः ॥३११॥

इसे ही श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जह बंधनबद्धो बंधे चिंततो विमोक्खं ण पावदि) जैसे बंधन से बंधा हुआ मनुष्य बंधन का विचार मात्र करता हुआ मुक्त नहीं हो सकता है (तह जीवोवि बंधे चिंततो विमोक्खं ण पावदि) वैसे ही जीव भी कर्मबंध के विषय में चिंतन करता हुआ मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ ३११ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे कोई पुरुष बंधन से—बेड़ी से बंधा हुआ है पुनः उसी बंधन का ही चिंतन कर रहा है तो वह बंधन से छूट नहीं सकता है । वैसे ही जीव भी प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध और प्रदेशबंध इन चार प्रकार के बंधों का चिंतन करता हुआ अपने शुद्ध आत्मा की प्राप्तिलक्षण जो मोक्ष है उसे नहीं प्राप्त कर पाता है । विशेष यह है कि संपूर्ण शुभ-अशुभ बाह्य द्रव्यों के अवलंबन से रहित, चिदानंद एक शुद्धात्मा के अवलंबनस्वरूप वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान से रहित हुआ यह जीव बंध के विस्तार की रचना के चिंतन स्वरूप सरागधर्मध्यानमय शुभोपयोग से स्वर्ग आदि सुख के कारणभूत ऐसे पुण्यबंध को प्राप्त कर लेता है किंतु मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है ऐसा भावार्थ समझना ॥ ३११ ॥

भावार्थ—यहां श्रीजयसेनाचार्य का कहना है कि वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुद्धोपयोग में होता है । यह सातवें गुणस्थान का धर्मध्यान है अथवा धवला तथा मूलाचार के आधार से दसवें गुणस्थान तक भी धर्मध्यान माना है वही वीतराग धर्मध्यान है । इससे अतिरिक्त कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय, सत्ता आदि का विस्तार से चिंतन करना सराग धर्मध्यान है इसके फल से साक्षात् तो पुण्यबंध ही होता है किंतु परंपरा से ये मोक्ष के लिये कारण हैं ऐसा समझना ।

कस्तर्हि मोक्षहेतुः ? इति चेत्—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।

तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२ अ० ॥

यथा बंधांश्छित्त्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं ।

तथा बंधांश्छित्त्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं ॥२९२ ॥

आत्मख्यातिः—कर्मबद्धस्य^१ बंधच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधच्छेदवत् । एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे व्यापार्यते ॥२९२ ॥

उत्थानिका—तो फिर मोक्ष का हेतु क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा बंधनबद्धः तु बंधान् छित्त्वा विमोक्षं प्राप्नोति) जैसे बंधन से बंधा हुआ कोई बंधन को काटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है—छूट जाता है (तथा च जीवः बंधान् छित्त्वा विमोक्षं प्राप्नोति) वैसे ही यह जीव भी कर्मबंध को काटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २९२ ॥

आत्मख्याति—कर्म से बंधे हुये पुरुष का बंध का छेदन करना मोक्ष का कारण है क्योंकि यह कारणस्वरूप है जैसे बेड़ी आदि से बंधे हुये के बेड़ी आदि बंधन का काटना । यहां इस कथन से पूर्व में कहे गये दोनों प्रकार के पुरुषों को आत्मा और बंध को अलग-अलग करने में प्रेरित किया गया है । तात्पर्य यह है कि एक तो बंध का स्वरूप जानने वाला/ज्ञानमात्र से मुक्ति मानने वाला था और दूसरा बंध की चिंता करने वाला था । इन दोनों के लिये यह कहा गया है कि आत्मा और कर्म बंध को अलग-अलग करने का पुरुषार्थ करो तभी दोनों को पृथक्-पृथक् कर सकते हो ज्ञानमात्र से था चिंतन मात्र से नहीं, ऐसा यहां अभिप्राय है ॥ २९२ ॥

(३१२)—जैसे बंधा पुरुष बन्धन को छुड़ाकर,

बन्धन से शीघ्र मुक्ती को प्राप्त करता ।

वैसे हि कर्मबन्धन को छेद करके,

मानव भी शीघ्र शिवपद को प्राप्त करता ॥ २९२ ॥

(उत्थानिका) —अथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

(३१२ ज०) जह बंधे मुत्तूण य, बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे मुत्तूण य, जीवो संपावदि विमोक्खं ॥

यथा बंधश्छित्त्वा च, बंधबद्धश्च प्राप्नोति विमोक्षं ।

तथा बंधश्छित्त्वा च, जीवः प्राप्नोति विमोक्षं ॥३१२॥

तात्पर्यवृत्तिः—जह बंधे मुत्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं तह बंधे मुत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं यथा बंधनबद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबंधं श्रृंखलाबंधं काष्ठनिगलबंधं वा कमपि बंधं छित्त्वा कमपि भित्त्वा कमपि मुक्त्वा स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्व-संवेदनज्ञानयुद्धेन [ज्ञानायुधेन] बंधं छित्त्वा द्विधा कृत्वा, भित्त्वा विदार्य, मुक्त्वा छोटयित्वा च निजशुद्धात्मोपलब्धस्वरूपं मोक्षं प्राप्नोतीति । अत्राह शिष्यः—प्राभृतग्रंथे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तत्र घटते । कस्मात् ? इति चेत् तदुच्यते—सत्तावलोकनरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पं भण्यते परंतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं

उत्थानिका—पुनः मोक्ष का हेतु क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जह बंधनबद्धो य बंधे मुत्तूण विमोक्खं य पावदि) जैसे बंधन से बंधा हुआ मनुष्य बंधन को काटकर मुक्ति—छुटकारा पा लेता है (तह जीवो बंधे मुत्तूण य विमोक्खं संपावदि) वैसे यह जीव भी कर्म बंध से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ३१२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे बंधन से बंधा हुआ कोई पुरुष रस्सी के बंध को, सांकल के बंधन को या काठ, बेड़ी आदि के बंधन को, कोई भी बंधन क्यों न हो उन बंधनों में से किसी को तो छेद कर, भेदकर अर्थात् रस्सी के बंधन को काटकर, सांकल के बंधन को तोड़कर और काठ की बेड़ी आदि के बंधन से छूटकर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से मुक्त हो जाता है । वैसे ही जीव भी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूपी आयुध से—शस्त्र से बंध को छेदकर—दो करके, भेदकर—विदारण करके, छूट करके या अपने को कर्मबंध से छुड़ा करके अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ऐसा समझना ।

शंका—प्राभृतग्रंथ में जो निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है वह नहीं घटता है क्योंकि सत्तावलोकनरूप जो चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन हैं वे जैसे जैनमत में निर्विकल्प कहे गये

भवत्येवं न किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारः—कथंचित्सविकल्पमपि च कथंचिन्निर्विकल्पं च । तद्यथा—यथा विषयानंदरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । यत एवेहापूर्वस्वसंवित्याकारांतर्मुख्यप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धं इदं निर्विकल्पसविकल्पस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति स चाध्यात्मशास्त्रत्वात् कृतः । एवं मोक्षपदार्थसंक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतं ॥३१२॥

हैं वैसे ही बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प कहा है परंतु उनके यहां वह निर्विकल्पज्ञान भी विकल्प को उत्पन्न करने वाला माना है किंतु जैनमत में तो निर्विकल्प को विकल्प का उत्पादक नहीं माना है किंतु ज्ञान को तो स्वरूप से ही सविकल्पक माना है और उसी प्रकार से ज्ञान को स्वपर प्रकाशक भी माना है ।

समाधान—हमारे यहां जैनमत में ज्ञान को कथंचित् सविकल्प माना है और कथंचित् निर्विकल्प भी माना है । उसे ही स्पष्ट करते हैं—जो विषयों के आनंदरूप सराग स्वसंवेदन ज्ञान है वह सराग अनुभूति के विकल्परूप से सविकल्प होते हुये भी शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों के सद्भाव के होने पर भी उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है इस कारण वह निर्विकल्प भी कहलाता है फिर भी अपने शुद्ध आत्मा की संवित्ति—अनुभूतिरूप वीतराग स्वसंवेदनज्ञान भी अपनी अनुभूति के आकार से एक विकल्प होते हुये भी बाह्य विषयों में अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों के सद्भाव होने पर भी उनकी मुख्यता नहीं है इस कारण वह निर्विकल्प भी कहलाता है । जिस हेतु से इच्छापूर्वक स्वसंवित्ति आकार का अंतरंग में मुख्य प्रतिभास है फिर भी बाह्य विषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं उसी कारण से यह ज्ञान स्वपर प्रकाशक सिद्ध है । यह ज्ञान निर्विकल्प और सविकल्प है तथा स्वपर प्रकाशक है इस तरह का व्याख्यान यहां यदि आगम, अध्यात्म और न्याय ग्रंथ के अनुसार विशेषरूप से किया जावे तो महान् विस्तार हो जावेगा किंतु यहां अध्यात्म शास्त्र होने से वह विस्तार कथन नहीं किया जा रहा है । उन उन ग्रंथों से समझ लेना चाहिये । इस तरह मोक्षपदार्थ को संक्षेप से सूचित करने के लिये इस प्रथम स्थल में सात गाथायें हुई हैं ॥ ३१२ ॥

विशेषार्थ—यहां अभी पांच गाथायें हुई हैं किंतु श्रीजयसेनाचार्य ने कहा कि इस प्रथमस्थल में सात गाथायें हुई हैं सो कैसे ? समझ में नहीं आया। अथवा टीका के आधार से दो गाथायें संभव हैं। यथा—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥

जह बंधे भित्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे भित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥

इस अध्यात्म ग्रंथ में बहुत बार ऐसा आता है कि ज्ञानी जीव वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से बंध को काट डालता है। इस पर जैनाचार्यों ने तो सत्तावलोकनमात्र चक्षुदर्शन आदि को निर्विकल्प माना है और ज्ञान को सविकल्प माना है, किंतु बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प माना है तब वहां जैनाचार्यों ने उनका खंडन किया है पुनः यहां अध्यात्म ग्रंथ में ज्ञान को निर्विकल्प कैसे कह दिया ? इस शंका का समाधान करते हुये श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि यहां ज्ञान को कथंचित् सविकल्पक भी माना है और कथंचित् निर्विकल्पक भी माना है सरागस्वसंवेदन ज्ञान विषयों के आनंद के समय सराग अनुभव के विकल्परूप सविकल्प है फिर भी अन्य सूक्ष्म विकल्प उसमें बिना इच्छा के पुनः होते हुये भी वे गौण हैं अतः वह ज्ञान निर्विकल्प भी है। पुनः स्वशुद्धात्मा के अनुभवरूप जो वीतराग स्वसंवेदनज्ञान है वह अपने अनुभव के आकाररूप एक विकल्प से विकल्पसहित है तो भी बिना इच्छा के बाह्य विषयों के सूक्ष्म विकल्प वहां रहते हुये भी उनकी मुख्यता न होने से वह ज्ञान निर्विकल्प भी कहलाता है, और इच्छापूर्वक अपने अनुभव का आकार यहां मुख्य है तथा बाह्य विषयों में बिना इच्छा के सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं अतः यह वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान स्वपर प्रकाशक सिद्ध है।

पुनः आचार्य ने कहा कि आगम, अध्यात्म और तर्क के अनुसार ज्ञान का महान विस्तार किया गया है किंतु यह अध्यात्म ग्रंथ है अतः हम यहां नहीं कहेंगे। इसी का नाममात्र दिग्दर्शन यहां कराते हैं—

न्यायग्रंथ में कहा है कि—प्रत्येक वस्तु के सत्तामात्र को अवलोकन करने वाला दर्शन है, और 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'। इस सूत्र के अनुसार 'स्व तथा अपूर्व पदार्थ

को—अपूर्व-अपूर्व पर पदार्थ को निश्चय कराने वाला ज्ञान है वही प्रमाण है। इस व्याख्या के अनुसार दर्शन निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है। धवलाटीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने कहा है कि—“स्वस्माद् भिन्नवस्तु परिच्छेदकं ज्ञानम् स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्” अपने से भिन्न वस्तु को जानने वाला ज्ञान है और अपने से अभिन्न वस्तु को जाननेवाला दर्शन है। अर्थात् पर वस्तुओं को जानने वाला ज्ञान है और आत्मा को जानने वाला दर्शन है। और भी कहा है—“अनंतत्रिकालगोचरबाह्योऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं, स्वात्मनि त्रिकालगोचरे प्रवृत्तं केवलदर्शनम्”।

अनंत, त्रिकालगोचर बाह्यपदार्थों में प्रवृत्त होने वाला केवल ज्ञान है और तीनों कालों में विषयभूत ऐसी अपनी आत्मा में प्रवृत्त होने वाला केवलदर्शन है।

तात्पर्य यही रहा कि सभी न्यायग्रंथों में स्वपर के सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है और स्वपर के विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है। आगम ग्रंथ में—धवला आदि में आत्मा को ग्रहण करने वाला दर्शन है और पर को ग्रहण करने वाला ज्ञान है ऐसा माना है। पुनः बृहद्द्रव्यसंग्रह में टीकाकार ने दोनों को अपेक्षाकृत सिद्ध किया है। लघीयस्वयी की टीका में भी दोनों मान्यताओं को अपेक्षाकृत सिद्ध किया है। अतः इनमें पूर्वापर विरोध दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

इस विषय को मैंने नियमसार प्राभृत की “स्याद्वादचंद्रिका टीका” में बारहवें अधिकार में लिया है।

नियमसार ग्रंथ में अध्यात्म भाषा में नयों की अपेक्षा से ज्ञान और दर्शन का लक्षण श्रीकुंदकुंददेव ने अलग ही किया है—

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तह्मा ।

अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तह्मा ॥ १६४ ॥

णाणं अप्पयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तह्मा ।

अप्पा अप्पयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तह्मा ॥ १६५ ॥

व्यवहारनय से ज्ञान पर प्रकाशी है, इस कारण दर्शन पर प्रकाशी है। व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है, अतः दर्शन भी परप्रकाशक है। निश्चयनय से ज्ञान आत्मप्रकाशी है,

अतः दर्शन भी आत्मप्रकाशी है। निश्चयनय से आत्मा आत्मप्रकाशक है अतः दर्शन भी आत्मप्रकाशक है, ऐसा समझना। अभिप्राय यही है कि ज्ञान, दर्शन और आत्मा ये तीनों ही कथंचित् एक हैं—अभेदनय से एक ही हैं। व्यवहारनय पराश्रित है अतः ये तीनों ही व्यवहारनय से पर को ग्रहण करने वाले हैं और निश्चय स्वाश्रित है इस कारण निश्चयनय की अपेक्षा से ये तीनों स्वात्मा को ही ग्रहण करने वाले हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि—

आगम के अनुसार दर्शन स्वात्मा को ग्रहण करने वाला है और ज्ञान पर वस्तुओं को जानने वाला है।

अध्यात्म के अनुसार व्यवहारनय से ज्ञान और दर्शन दोनों ही पर को जानते हैं और निश्चयनय से ये दोनों अपनी आत्मा को ही जानते हैं।

तर्क—न्यायशास्त्र के अनुसार दर्शन स्व-पर के सामान्य धर्म को—सत्तामात्र को जानता है—अवलोकन करता है और ज्ञान स्व-पर के विशेष धर्म को जानता है।

अपेक्षाकृत इन तीनों प्रकार की मान्यताओं में कोई दोष नहीं आता है क्योंकि जैनधर्म में स्याद्वाद सिद्धांत की ऐसी ही महिमा है। इसे अच्छी तरह से गुरुमुख से समझना चाहिये। यहां अध्यात्म ग्रंथ में ज्ञान के सराग स्वसंवेदन और वीतराग स्वसंवेदन ऐसे दो भेद किये हैं। तथा वीतराग स्वसंवेदन को निर्विकल्प कहा है क्योंकि वह निश्चल ध्यान में लीन होने पर ही होता है अतः बाह्यवस्तुओं के विकल्प से रहित हो जाने से निर्विकल्प कहलाता है। यह वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग धर्मध्यान में और शुक्लध्यान में ही होता है ऐसा कहा गया है। यथा—“समस्तशुभाशुभवहिर्द्रव्यावलंबनरहितचिदानंदैकशुद्धात्मावलंबनस्वरूपवीतरागधर्मध्यान-शुक्लध्यानरहितोजीवः, बंधप्रपंचरचनार्चितारूपसरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारण-पुण्यबंधं लभते न च मोक्षमिति”।

समस्त शुभ-अशुभ बाह्यद्रव्यों के अवलंबन से रहित चिदानंद एक शुद्धात्मा के अवलंबनस्वरूप वीतराग धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान होता है, उस ध्यान से रहित हुआ यह जीव बंध के विस्तार के चितवनरूप सरागधर्मध्यान नाम के शुभोपयोग से सहित होता हुआ स्वर्गादिसुख के लिये कारण ऐसे पुण्य बंध को कर लेता है किंतु इस सरागधर्मध्यान से—शुभोपयोग से मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाता है ऐसा समझना।

किमयमेव मोक्षहेतुः ? इति चेत्—

बंधाणं च सहावं विद्याणिओ अप्पणो सहावं च ।

बंधेषु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥ २९३ अ० ॥

बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।

बंधेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ २९३ ॥

आत्मख्यातिः—य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बंधानां च स्वभावं विज्ञाय बंधेभ्यो विरमति स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात् । एतेनात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ॥ २९३ ॥

उत्थानिका—कर्मबंध का छेदन करना ही मोक्ष का कारण है ऐसा कहा था, पुनः अब प्रश्न होता है कि 'क्या यही मोक्ष का हेतु है ?' इस पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बंधानां च स्वभावं च आत्मनः स्वभावं विज्ञाय यः बंधेषु विरज्यते) बंधों का स्वभाव और आत्मा का स्वभाव इन दोनों के स्वभाव को जानकर जो कर्मबंधों से विरक्त होता है (सः कर्मविमोक्षणं करोति) वह कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २९३ ॥

आत्मख्याति—जो पुरुष निर्विकार चैतन्य चमत्कारमात्र अपनी आत्मा के स्वभाव को और आत्मा में विकार को करने वाले ऐसे कर्मों के बंध के स्वभाव को जानकर कर्मबंधों से विरक्त हो जाता है—दूर हो जाता है वही सर्व कर्मों का मोक्ष—पृथक्करण कर देता है । इस कथन से आत्मा और बंध का अलग-अलग कर देना मोक्ष का हेतु है यह नियम सिद्ध हो जाता है ॥ २९३ ॥

भावार्थ—'बंध से विरक्त होना' इस पद से मन से विरक्त होना ऐसा अर्थमात्र नहीं लेना चाहिये किंतु मन से, वचन से और काय से भी इन बंध से पृथक् हो जाना—दूर हो जाना, बंध को नष्ट कर देना ऐसा अर्थ विवक्षित है क्योंकि यहां बंध से विरक्त होते ही मोक्ष मानी है । एक विरक्ति चतुर्थ गुणस्थान में होती है दूसरी छठे गुणस्थान में होती है जहां सर्वपरिग्रह छोड़कर बंध से विरक्त होकर दैगंबरी दीक्षा ली जाती है । तीसरी विरक्ति दशवें गुणस्थान में होती है यहां मोहनीय कर्म के बंध का अभाव होने से सर्वकर्मों के बंध रुक जाते हैं मात्र सात्तावेदनीय बंधती रहती है जो एक समय मात्र की होने से विवक्षित नहीं है । आगे चौदहवें

(३१३)—जो जीव बन्ध के स्वाभाविक धरम को,

चैतन्य आत्म के स्वाभाविक धरम को ।

वह कर्म बन्ध से शीघ्र विरक्त होता,

निज कर्म काट शिव पद को प्राप्त होता ॥ २९३ ॥

(उत्थानिका) —अथ किमयमेव मोक्षमार्गः ? इति चेत्—

(३१३ ज०) बंधाणं च सहावं, वियाणिदुं अप्पणो सहावं च ।

बंधेषु जो ण रज्जदि, सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥

बंधानां च स्वभावं, विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।

बंधेषु यो न रज्यते, स कर्मविमोक्षणं करोति ॥३१३॥

तात्पर्यवृत्तिः—बंधाणं च सहावं वियाणिदुं भावबंधानां मिथ्यात्वरगादीनां स्वभावं ज्ञात्वा । कथं ज्ञात्वा ? मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीनां च स्वभावः पंचेन्द्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति । न केवलं बंधस्वभावं ज्ञात्वा अप्पणो सहावं च अनंतज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावं च ज्ञात्वा बंधेषु जो ण रज्जदि द्रव्यबंधहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरगादिभावबंधेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते सो कम्मविमोक्खणं कुणदि स कर्मविमोक्षणं करोति ॥३१३॥

गुणस्थान में इसका भी अभाव हो जाता है । यहां विरक्त होने पद से महामुनियों के बारहवें गुणस्थान की विरक्ति ही ली जा सकती है और पूर्णतया तो चौदहवें गुणस्थान में बंध से विरक्त होने पर मोक्ष होना सुघटित होता है ।

अब देखिये श्रीजयसेनाचार्य क्या कहते हैं ।

उत्थानिका—क्या यही मोक्षमार्ग है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बंधाणं च सहावं च अप्पणो सहावं वियाणिदुं) कर्मबंधों का स्वभाव और आत्मा का स्वभाव जानकर (जो बंधेषु ण रज्जदि) जो कर्म बंधों में रागी नहीं होता है (सो कम्मविमोक्खणं कुणदि) वह कर्मों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ३१३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—मिथ्यात्व-रागादि भावबंध के स्वभाव को जानकर । कैसे जानकर ? हेय और उपादेय तत्त्व के विषय में विपरीत अभिप्राय कराना मिथ्यात्व का स्वभाव है अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय जानना ही मिथ्यात्व का स्वभाव है और पंचेन्द्रियों के विषयों में इष्ट-अनिष्ट परिणाम होना यह रागादि का स्वभाव कहलाता है । इस तरह केवल मात्र बंध के स्वभाव को जाने ऐसी बात नहीं है बल्कि शुद्धात्मा के अनंतज्ञानादिरूप स्वभाव को भी जानकर जो मुनि निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान के बल से द्रव्यबंध के लिये हेतुभूत ऐसे मिथ्यात्व रागादिभाव बंधों में रंजायमान नहीं होते हैं वे ही कर्मों से छूट जाते हैं ऐसा यहां अभिप्राय है ॥ ३१३ ॥

भावार्थ—यह निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान तक रहता है । अतः यह प्रकरण भी महामुनियों के लिये ही है ऐसा स्पष्ट कथन है ।

केनात्मबंधौ द्विधा क्रियेते ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तद्वा छिज्जन्ति सलक्षणाभ्यां णियएहि ।

पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४ अ० ॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।

प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥ २९४ ॥

आत्मख्यातिः—आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणं । तथा हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमापद्येते^१ ततः प्रज्ञयैवात्मबंधयोर्द्विधाकरणं । ननु कथमात्मबंधौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतक-

उत्थानिका—आत्मा और बंध इन दोनों को पृथक्-पृथक् कैसे करना ? इसे ही दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवः च बंधः नियताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां प्रज्ञाछेदकेन तथा छिद्येते) जीव और बंध निश्चितरूप से अपने-अपने लक्षण के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी से उस तरह छेदन कर दिये जावें (तु छिन्नौ नानात्वं आपन्नौ) कि वे छेदे हुये भिन्न-भिन्न हो जावें ॥ २९४ ॥

आत्मख्याति—आत्मा और बंध को पृथक्-पृथक् करने के कार्य में करने वाला कर्ता आत्मा है । उसके करण का विचार करने पर तो निश्चय से स्वतः—आत्मा से भिन्न करण असंभव है अतः भगवती प्रज्ञा ही छेदनस्वरूप करण है । उस प्रज्ञा से ही भेद को प्राप्त हुये वे आत्मा और बंध दोनों अलग-अलग अवस्था को अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं इसलिये प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा और बंध को अलग-अलग करना होता है ।

प्रश्न—ये आत्मा और बंध दोनों ही चेत्य-चेतक भाव से अत्यंत निकटता के कारण एकरूप जैसे ही दिख रहे हैं आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है, सो ये दोनों तो एक रूप हुये ही अनुभव में आ रहे हैं । इनमें भेदविज्ञान का अभाव होने से एक चेतक—आत्मा के समान व्यवहार में आने वाले इन दोनों को प्रज्ञा के द्वारा भिन्न-भिन्न करना भला कैसे शक्य हो सकता है ?

(२९४)—आत्मा व बन्ध दोनों बिल्कुल अलग हैं,

पर दिख रहे जगत में ये एक संग हैं ।

अतएव बुद्धि-छेनी से उन द्वयों को,

ऐसे पृथक् करो वे फिर एक नहीं हों ॥ २९४ ॥

वद्व्यवहिमाणी प्रज्ञया छेतुं शक्येते ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मांतःसंधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि । आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयं तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्, सभस्त-सहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत् । बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणं । न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां विभ्राणाः प्रतिभासंते नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावन्त एव रागादयः प्रतिभाति । रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात् । यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव नैकद्रव्यत्वात्, चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव चेतकतामेव प्रथयेन्न पुन रागादीनां, एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादि-

उत्तर—आत्मा और बंध इन दोनों का निश्चित जो अपना-अपना लक्षण है । वह स्वलक्षण की जो सूक्ष्म अंतर्गत संधि है, उस संधि में इस पक्ष छैनी को सावधानी से चलाने से दोनों को अलग-अलग करना शक्य है ऐसा हम समझते हैं । आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है क्योंकि वह लक्षण समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है—जीव से भिन्न अन्य समस्त द्रव्यों में नहीं पाया जाता है । यह लक्षण प्रवर्तन करता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त करके प्रवर्तित होता है और निवृत्त/दूर होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण कर निवृत्त—अलग होता है वह-वह संपूर्ण भी सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायों का समूह ही आत्मा है ऐसा लक्षित करना चाहिये क्योंकि वह आत्मा उस एक चैतन्य लक्षण से लक्ष्य होता है अर्थात् जो सहवर्ती पर्यायें हैं वे गुण हैं और क्रमवर्ती पर्यायें पर्याय हैं । यह चैतन्य लक्षण समस्त गुण-पर्यायों में व्यापक है अतः समस्त गुण-पर्यायों के समूह का नाम ही आत्मा है । यह चैतन्य समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती अनंत पर्यायों के साथ अविनाभावी है उनके बिना नहीं रह सकता है अतः चैतन्यमात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिये । बंध का स्वलक्षण तो रागादि हैं वे आत्मद्रव्य से असाधारण हैं । वे रागादिभाव आत्मद्रव्य के साथ साधारणपने को धारण करते हुये प्रतिभासित नहीं होते हैं क्योंकि ये नित्य ही चैतन्यचमत्कार से भिन्नरूप ही प्रतिभासित हो रहे हैं । जितने रूप में समस्त अपनी पर्यायों में व्याप्त हुआ चैतन्य प्रतिभासित होता है उतने रूप में ही रागादिक प्रतिभासित नहीं होते हैं । रागादि के बिना भी चैतन्य के अपने स्वरूप का लाभ होना संभव है । जो रागादि परिणामों का चैतन्य के साथ ही उत्पन्न होना दिख रहा है वह इन दोनों में चेत्य-चेतक भाव—ज्ञेय-ज्ञायक भाव की निकटता से ही दिख रहा है न कि एक द्रव्य होने से । वहां जो अनुभव में आते हुये रागादिभाव हैं वे आत्मा के चेतकता—ज्ञायकभाव को प्रसिद्ध कर रहे हैं न कि रागादिपने को, जैसे कि प्रकाशित होते हुये घटादि पदार्थ प्रदीप के प्रकाशकपने को ही प्रसिद्ध करते हैं । ऐसा होने पर भी आत्मा और बंध इन दोनों में अत्यंत

रस्त्येकत्वव्यामोहः स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ॥२९४॥

स्वधरा छंद—प्रज्ञा छैनी शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः

सूक्ष्मेऽतःसंधिवंधे निपतति प्रसादात्मकर्मोभयस्य ।

आत्मानं मग्नमतः स्थिरविशदलसद्दाम्नि चैतन्यपूरे

बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ १८१ ॥

निकटता होने से भेद की संभावना का अभाव है इसीलिये इन दोनों में जो एकत्व का व्यामोह है—एकपने की कल्पना है वह अनादिकाल से ही है। यह एकत्व का व्यामोह प्रज्ञा के द्वारा ही भेदा जाता है ॥ २९४ ॥

भावार्थ—आत्मा चिच्चैतन्यस्वरूप है और बंध पौद्गलिक हैं इन दोनों के लक्षण को अच्छी तरह समझकर दृढ़ श्रद्धान करके इस भेद-विज्ञान के द्वारा ही दोनों को अलग-अलग किया जा सकता है। यह श्रद्धान तो चतुर्थगुणस्थान से शुरू हो गया है पुनः चारित्र ग्रहण करना ही छैनी को चलाना है। कोई मनुष्य अलग-अलग हुये और कील आदि से जुड़े हुये दो लकड़ी के टुकड़ों के जोड़ को समझ लेवे और आरा भी हाथ में ले लेवे किन्तु बैठा ही रहे। यदि आरे से लकड़ी को चीरे नहीं तो भला उसे कैसे अलग कर सकता है। वैसे ही यह भेदविज्ञान एक छैनी या आरे के समान पैना शस्त्र है, चारित्र को धारण करना ही इसका प्रयोग करना है। इसमें बहुत सावधानी व तन्मयता की आवश्यकता है। सो यही एकाग्र चित्तानिरोधरूप निर्विकल्प ध्यान है। सरागचारित्र के बाद निश्चयरत्नत्रयरूप वीतरागचारित्र में स्थित होकर ही यह भेदविज्ञानरूपी आरा काम करता है तभी यह मोहनीयकर्म आदि घातिया कर्मों को नष्ट कर आत्मा को प्राप्त कर लेता है पुनः चौदहवें गुणस्थान के अंत में सर्वथा भावबंध-द्रव्यबंध से छूटकर—सर्वथा कर्मों से पृथक् होकर शुद्ध सिद्ध भगवान् आत्मा सिद्धालय में विराजमान हो जाता है। बंध से अलग होने के बाद यह आत्मा फिर यहां संसार में नहीं रहता है। अब इसे ही कलश काव्य में कहते हैं।

काव्यार्थ—यह प्रज्ञारूपी छैनी अति तीक्ष्ण है सावधान हुये—प्रमादरहित निपुण पुरुषों के द्वारा जिस किसी प्रकार से—प्रयत्नपूर्वक चलाई जाती है। तब यह आत्मा और कर्म इन दोनों के सूक्ष्म अंतरंग संधि के बंध में जाकर शीघ्रतया पड़ती है। वह अंतरंग में स्थिर और निर्मलतया देदीप्यमान ऐसे तेज पुंजमय चैतन्य के प्रवाह में आत्मा को डुबोती हुई और बंध को अज्ञानभाव में नियंत्रित करती हुई इसतरह से आत्मा और बंध को सब तरफ से भिन्न-भिन्न कर देती है ॥ १८१ ॥

इस प्रज्ञा छैनी को यत्नों से निपुण मुनी ही चलाते हैं।

तब कर्म और आत्मा के अन्दर भी भेदन कर जाते हैं ॥

आत्मा को अन्तर्मग्न करा स्थिर निर्मल शुभ धाम में हो।

चैतन्य पूर्ण अज्ञानचूर्ण कर भिन्न भिन्न बन तिष्ठे ही ॥१८१॥

(उत्थानिका) —अथ केन कृत्वात्मबंधो द्विधा भवति ? इति चेत्—

(३१४ ज०) जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।

पण्णाछेदणएण दु, छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥

जीवो बंधश्च तथा, छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।

प्रज्ञाछेदनकेन तु, छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥ ३१४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं यथा जीवस्तथा बंधश्चैतौ द्वौ छिद्येते पृथक् क्रियेते । काभ्यां कृत्वा ? स्वलक्षणरूपाभ्यां निजकाभ्यां पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा प्रज्ञाछेदनैकलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नौ संतौ नानात्वमापन्नौ इति । तथाहि—जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं ग्रण्यते, बंधस्य लक्षणं मिथ्यात्वरगादिकं, ताभ्यां पृथक् कृतौ । केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञैव छेद्येव छुरिका तथा एवेत्यर्थः । छिन्नौ संतौ नानात्वमापन्नौ ॥ ३१४ ॥

भावार्थ—यहां मुनियों के लिये दो विशेषण हैं सावधान और निपुण । 'निपुण' शब्द से बुद्धिमान भेदविज्ञानी साधु विवक्षित हैं और 'सावधान' शब्द से एकाग्रचित्त वाले शुक्लध्यानी होना चाहिये । यथा—“सावधानै—रेकाग्रचित्तैः” ऐसा कलश के टीकाकार श्रीशुभचंद्राचार्य ने कहा है । एकाग्रध्यान में भेदज्ञान रूपी छैनी के द्वारा बंध को काटकर आत्मा एक अकेली बंध से रहित हो जाती है । यहां जो 'प्रज्ञा' है वह भेदविज्ञान नाम वाला शुक्लध्यान ही विवक्षित है ऐसा समझना चाहिये ।

उत्थानिका—आत्मा और बंध किस प्रकार से दो होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवो य बंधो णियएहिं सलक्खणेहिं पण्णाछेदणएण तहा छिज्जंति) जीव और बंध निश्चितरूप अपने-अपने लक्षणों के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी से उस तरह छेदन कर दिये जावें (दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा) कि वे छिन्न हुये पृथक्-पृथक् हो जावें ॥ ३१४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—अपने-अपने स्वलक्षण के द्वारा जैसे जीव को अलग करना है वैसे ही बंध को भी अर्थात् इन दोनों को ही पृथक्-पृथक् करना चाहिये । प्रज्ञा छेदन नामक एक लक्षणवाले भेदज्ञान के द्वारा ये दोनों भिन्न होकर नानापने को प्राप्त हो जावें—सर्वथा अलग-अलग हो जावें ऐसा भेदन करना चाहिये । उसे ही कहते हैं—जीव का लक्षण शुद्धचैतन्य है और बंध का लक्षण मिथ्यात्व, रागादि है । करणभूत इस प्रज्ञाछैनी के द्वारा इन दोनों को पृथक्-पृथक् करना है । यहां पर शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण—शुद्धोपयोग लक्षण भेदज्ञान रूपी प्रज्ञा ही छैनी—छुरी है । उस शुद्धोपयोगमय भेदज्ञानरूपी छुरी के द्वारा ही इन आत्मा और बंध को भेदन कर, अलग-अलग—नानारूप कर देना चाहिये । ऐसा अभिप्राय है ॥ ३१४ ॥

आत्मबंधौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यं ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं गियएहिं ।

बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥ २९५ अ० ॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।

बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥ २९५ ॥

आत्मख्यातिः—आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ, ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः ॥ २९५ ॥

(उत्थानिका) —आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे किं साध्यं ? इति चेत्—

(३१५ ज०) जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं गियएहिं ।

बंधो छेदेदव्वो, सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥

जीवो बंधश्च तथा, छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।

बंधश्छेत्तव्यः, शुद्धः आत्मा गृहीतव्यः ॥ ३१५ ॥

उत्थानिका—आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करके क्या करना चाहिये ? उसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवः च बंधः नियताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां तथा छिद्येते) जीव और बंध को निश्चित अपने-अपने लक्षण के द्वारा उस तरह भेदन करना चाहिए कि (बंधः छेत्तव्यः च शुद्धः आत्मा गृहीतव्यः) बंध को अपने से भिन्न कर देना चाहिये और शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ २९५ ॥

आत्मख्याति—आत्मा और बंध इन दोनों को पहले तो निश्चितरूप अपने-अपने लक्षण के विज्ञान के द्वारा सर्वथा ही भिन्न-भिन्न कर देना चाहिये । अनंतर रागादि लक्षणवाले समस्त ही बंध को तो छोड़ देना चाहिये और उपयोगलक्षण वाली अपनी शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ २९५ ॥

उत्थानिका—आत्मा और बंध को अलग-अलग कर देने पर क्या साध्य होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवो य बंधो गियएहिं सलक्खणेहिं तहा छिज्जंति) जीव और बंध इनको नियत अपने-अपने लक्षण के द्वारा उसी प्रकार से अलग-अलग करना चाहिये (बंधो छेदेदव्वो य सुद्धो अप्पा घेत्तव्वो) पुनः बंध को भिन्न कर देना चाहिये और शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ ३१५ ॥

(३१५)—तुम जीव बन्ध इन दोनों को नियम से,

निज निज स्वरूप से ऐसे भिन्न करना ।

स्वयमेव बन्ध छिद करके भिन्न होवे,

तब बन्ध त्याग कर आत्मस्वरूप भजना ॥ २९५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं गियएहिं जीवबंधौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां छिद्येते पूर्ववत् । ततश्छेदानंतरं किं साध्यं ? बंधो छेदेद्व्यो विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुत्तरणरूपनिश्चयरत्नत्रयस्वरूप भेदज्ञानकुरित्वा मिथ्यात्वरागादिरूपो बंधश्छेत्तव्यः शुद्धात्मनः सकाशात्पृथक्कर्तव्यः । सुद्धो अप्पा य धेतव्यो वीतरागसहजपरमानंदलक्षणः सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्रायः ॥ ३१५ ॥

एतदेव किलात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बन्धत्यागेन शुद्धात्मोपादानं—

कह सो धिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ धिप्पए अप्पा ।

जह पण्णाइ विहतो तह पण्णाएव धित्तव्वो ॥ २९६ अ० ॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।

यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीव और बंध ये दोनों पूर्वोक्त अपने-अपने स्वलक्षण से भिन्न-भिन्न कर दिये जाते हैं ।

प्रश्न—पहले दोनों के भिन्न हो जाने पर क्या साध्य होता है ?

उत्तर—जब विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले परमात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में आचरणरूप चारित्र ऐसा जो निश्चयरत्नत्रय स्वरूप भेदज्ञान है वही हुई छुरी, उस निश्चयरत्नत्रयरूपी छुरी के द्वारा मिथ्यात्व रागादिरूप बंध का भेदन करना चाहिये अर्थात् अपनी शुद्ध आत्मा से इन्हें पृथक् करना चाहिये । पुनः सुखसमरसी भाव से वीतराग सहज परमानंद लक्षण वाली अपनी शुद्धात्मा को ग्रहण कर लेना चाहिये । यहां दोनों को अलग-अलग करने से यही साध्य है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥ ३१५ ॥

उत्थानिका—आत्मा और बंध को अलग-अलग करने का प्रयोजन तो यही है कि बंध के त्याग से शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सः आत्मा कथं गृह्यते) वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय ? (प्रज्ञया तु सः आत्मा गृह्यते) प्रज्ञा के द्वारा ही उस आत्मा को ग्रहण करना है (यथा प्रज्ञया विभक्तः तथा प्रज्ञया एव गृहीतव्यः) जैसे प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को बंध से अलग किया है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ॥ २९६ ॥

(३१६)—कैसे ग्रहण किया जाता आत्मा को,

उत्तर मिला कि प्रज्ञा से ग्रहण कर लो ।

प्रज्ञा से बंध से जैसे भिन्न करते,

वैसे उसी से ग्रहण के योग्य कर लो ॥ २९६ ॥

आत्मख्याति—ननु केन शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६ ॥

(उत्थानिका) —इदमेवात्मबंधयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यदबंधपरिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति—

(३१६ ज०) कह सो धिप्पदि अप्पा, पण्णाए सो दु धिप्पदे अप्पा ।

जह पण्णाए विभत्तो, तह पण्णाएव धित्तव्वो ॥

कथं स गृह्यते आत्मा, प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।

यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ ३१६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—कह सो धिप्पदि अप्पा कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिविषयो न भवत्यमूर्तत्वात्', इति प्रश्नः ? पण्णाए सो दु धिप्पदे अप्पा प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तरं। कथं ? इति चेत् जह पण्णाए विभत्तो यथा पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्तः रागादिभ्यः पृथक्कृतः तह पण्णाएव धित्तव्वो तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।

आत्मख्याति—प्रश्न यह होता है कि इस शुद्ध आत्मा को कैसे ग्रहण करना ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि बुद्धि के द्वारा ही इस शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिये। यह शुद्ध आत्मा स्वयं जैसे आत्मा को कर्मबंध से प्रज्ञा के द्वारा अलग करता है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा स्वयं आत्मा को ग्रहण करता है इस तरह दोनों जगह आत्मा को बंध से अलग करने में और ग्रहण करने में बुद्धि ही एक करण—साधकतम है इसलिये जैसे बुद्धि से आत्मा को विभक्त किया है वैसे ही बुद्धि से उसे ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ २९६ ॥

उत्थानिका—आत्मा और बंध को पृथक् करने में यही प्रयोजन है कि बंध को छोड़कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेना, यही उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(सो अप्पा कह धिप्पदि) उस आत्मा को कैसे ग्रहण करें ? (पण्णाए सो दु अप्पा धिप्पदे) प्रज्ञा के द्वारा ही वह आत्मा ग्रहण की जाती है (जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाएव धित्तव्वो) जैसे प्रज्ञा से आत्मा को भिन्न किया है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा ही उसे ग्रहण करना चाहिये ॥ ३१६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—प्रश्न—इस आत्मा को कैसे ग्रहण करना यह चक्षु का विषय तो है नहीं क्योंकि यह अमूर्तिक है ?

उत्तर—प्रज्ञा—भेदज्ञान के द्वारा ही इसे ग्रहण किया जाता है। जैसे पूर्वगाथा में कहा है कि प्रज्ञा के द्वारा इसे विभक्त करना—रागादि से पृथक् करना, उसी प्रकार से प्रज्ञा के द्वारा ही इसे ग्रहण कर लेना चाहिये। पुनः प्रश्न होता है कि—

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः शुद्धस्यात्मनः स्वयभात्मानं गृह्णतोऽपि विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ ३१६ ॥

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्यः ? इति चेत्—

पण्णाए धित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९७ अ० ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९७ ॥

आत्मख्यातिः—यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं । ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवहियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य

प्रश्न—इस शुद्ध आत्मा को कैसे ग्रहण करना ?

उत्तर—प्रज्ञा के द्वारा ही इस शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये । इस शुद्ध आत्मा के लिये स्वयं अपनी शुद्धात्मा को ग्रहण करने में और बंध से भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण है इसलिये जैसे भेदज्ञान से आत्मा को पर से भिन्न किया है वैसे ही भेदज्ञान से ही आत्मा को ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ ३१६ ॥

भावार्थ—वास्तव में अपनी आत्मा अपने ही पास है उसे ग्रहण क्या करना ? मात्र बुद्धि से—भेदविज्ञान से आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न समझकर निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर शुद्धात्मा का ध्यान करना उसी का अवलंबन लेना यही ग्रहण करना है । हां, पूर्णरूप से आत्मा को बंध से पृथक् करना दसवें गुणस्थान के ऊपर या चौदहवें गुणस्थान के बाद सिद्ध अवस्था में होता है वहीं यह आत्मा शुद्ध-बुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाती है किंतु यहां प्रज्ञा से ग्रहण करने का अभिप्राय तो भेदविज्ञान से श्रद्धान, ज्ञान करके उसमें स्थिर होने का ही है ।

उत्थानिका—इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः चेतयिता निश्चयतः सः तु अहं प्रज्ञया गृहीतव्यः) जो यह चेतन आत्मा है निश्चय से मैं वही हूं इस प्रकार बुद्धि से ग्रहण करना चाहिये । (ये अवशेषाः भावा ते मम पराः इति ज्ञातव्याः) जो अवशेष भाव हैं वे मुझ से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ २९७ ॥

आत्मख्याति—निश्चित स्वलक्षण का अवलंबन लेने वाली बुद्धि से भिन्न किया गया जो यह चेतनस्वरूप आत्मा है, वही यह मैं हूं और जो ये अन्यद्रव्य के अपने-अपने लक्षण से लक्षित व्यवहार में कहे गये अवशेष भाव हैं, वे सभी भाव चेतनस्वरूप व्यापक आत्मा को व्याप्त न करते हुये मुझ से अत्यंत भिन्न हैं । अतः मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझ से ही अपने में ही अपने को ही ग्रहण करता हूं । जो मैं ग्रहण करता हूं वह आत्मा की ही चेतनरूप एक क्रिया

(३१७)—चेतनस्वरूप आत्मा मैं हूं नियम से,
प्रज्ञा विशेष से उसको ग्रहण कर लो ।

अवशेष भाव जो भी हैं वे नियम से,

मुझसे सदा पृथक् हैं यह मान लो तुम ॥ २९७ ॥

व्याप्यत्वमनायातोऽत्यंतं मतो भिन्नाः । ततोऽहमेव पर्येव मह्यमेव भूत एव मय्येव मामेव गृह्णामि । यत्किंल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये । अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये । किंतु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि ॥ २९७ ॥

शार्दूलविक्रीडित—भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलान्देतुं हि यच्छक्यते ।

चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ।

भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।

भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥ १८२ ॥

है, उस चेतनाक्रिया से ही मैं आत्मा का ही अनुभव करता हूँ, अनुभव करता हुआ ही अनुभव करता हूँ, अनुभव करते हुये के द्वारा ही अनुभव करता हूँ, अनुभव करते हुये के लिये ही अनुभव करता हूँ, अनुभव करते हुये से ही अनुभव करता हूँ, अनुभव करते हुये में ही अनुभव करता हूँ और अनुभव करते हुये का ही अनुभव करता हूँ । अथवा अनुभव नहीं करता हूँ, अनुभव करते हुये अनुभव नहीं करता हूँ, अनुभव करते हुये के द्वारा अनुभव नहीं करता हूँ, अनुभव करते हुये के लिये अनुभव नहीं करता हूँ, अनुभव करते हुये से अनुभव नहीं करता हूँ, अनुभव करते हुये में अनुभव नहीं करता हूँ और अनुभव करते हुये का अनुभव नहीं करता हूँ, प्रत्युत 'मैं सर्वविशुद्ध चिन्मात्र-चैतन्यमात्र भाव ही हूँ' ॥ २९७ ॥

भावार्थ—यहां भेदविज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को पर से भिन्न समझकर उस भेदविज्ञान के द्वारा अपने को ग्रहण करना है । सो ग्रहण करना क्या ? अपनी आत्मा तो अपने पास ही है जो कि 'अहं'— मैं इस शब्द से जानी जाती है । परको अपने से भिन्न करना ही महत्त्वपूर्ण है सो पहले तो श्रद्धान से भिन्न किया जाता है पुनः चारित्र के बल से निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर उपयोग से भिन्न किया जाता है, बाद में कर्मों के नाश होने पर वे सब परभाव स्वयं ही भिन्न हो जाते हैं । उसी क्रम में यहां 'मैं चेतनारूप—अनुभव करने रूप क्रिया के द्वारा स्वयं अपनी आत्मा का अनुभव करता हूँ । इस प्रकार से षट्कारक दिखाये गये हैं पुनः निर्विकल्प अवस्था में—शुक्लध्यानमें पहुंचने पर 'मैं अपनी आत्मा का अनुभव करता हूँ' यह विकल्प समाप्त हो जाने से अनुभव करने में षट्कारक व्यवस्था समाप्त करायी गई है । केवल मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही हूँ ऐसा कहा गया है ।

अब कलशकाव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—जो कुछ भी भेदा जा सकता है—भिन्न किया जा सकता है उन सबको स्वलक्षण के बल से भिन्न करके चिन्मुद्रा से अंकित विभाग से रहित महिमा वाला मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही हूँ ।

जो भिन्न किया जा सकता उनको लक्षण बल से भिन्न करूँ ।

चिन्मुद्रा से अंकित विभाग से रहित शुद्ध मैं खुद विचरूँ ॥

यदि कारक अथवा धर्मों के या गुणों के भेद हों होने दो ।

पर परमशुद्ध विभु ऐसे चेतन भाव में कोई भेद न हो ॥ १८२ ॥

(उत्थानिका) — कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

(३१७ ज०) पण्णाए घेतव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परित्त णादव्वा ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो, यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावाः, ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ ३१७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः अवशेषा ये भावास्ते मम परे इति ज्ञातव्याः । यो हि निश्चयतः स्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अन्ये स्वलक्षणलक्ष्या व्यवहियमाणा भावास्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायातोऽत्यंतं मत्तो भिन्नास्ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि, यत् किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये । अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये, किं तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि । "भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्धेतुं हि यच्छक्यते,

यदि कारक के अथवा धर्मों के या गुणों के भेद हों तो भले ही हों किंतु शुद्ध विभु ऐसे चैतन्य भाव में तो कोई भेद नहीं है ॥ १८२ ॥

भावार्थ—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण ये छह कारक हैं । आत्मा के अस्तित्व, वस्तुत्व आदि धर्म हैं और मति, श्रुत आदि ज्ञान अथवा अनंतज्ञान दर्शन आदि गुण हैं । ये आत्मा में भेद को करते हैं तो करते रहें किंतु आत्मा तो अभेद—अद्वैतरूप एक ही है । पहले अपनी आत्मा को पर से भिन्न करके पुनः अपने में अपने द्वारा आदि भी जो षट्कारक होते हैं, अनंत धर्म और गुण होते हैं । उन सबको भी गौण करके निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर एक चिन्मात्र आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये ।

अब श्रीजयसेनाचार्य के सरल शब्दों में पढ़िये—

उत्थानिका—आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो चेदा णिच्छयदो सो दु अहं) जो चेतनस्वरूप आत्मा है निश्चय से वही मैं हूं (पण्णाए घेतव्वो) ऐसा प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना चाहिये (जे अवसेसा भावा) जो अवशेष भाव हैं (ते मज्झ परित्त णादव्वा) वे सब मुझ से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—निश्चय से अपने-अपने लक्षण का अवलंबन लेने वाली प्रज्ञा के द्वारा विभक्त हुआ—भिन्न किया गया—पहचाना गया जो यह चैतन्यस्वरूप आत्मा है 'सो ही मैं हूं' और जो ये अपने-अपने लक्षण से जाने गये, कहे गये—व्यवहार में आते हुये अन्य शेष भाव हैं वे सभी चैतन्यपने को प्राप्त और व्यापक में व्याप्यपने को नहीं प्राप्त होते हुये—चेतन आत्मा को न व्याप्त करते हुये मुझसे अत्यंत भिन्न हैं । इसलिये मैं ही, अपने ही द्वारा, अपने ही लिये, अपने ही से, अपने ही में, अपने को ही ग्रहण करता हूं । जो कुछ मैं ग्रहण करता हूं वह आत्मा की एक चेतना रूप ही क्रिया है । मैं चेतनारूप क्रिया को ही चेतता हूं—अनुभव करता हूं, चेतता हुआ ही चेतता हूं, चेतते हुये के द्वारा ही चेतता हूं, चेतते हुये के लिये ही चेतता हूं, चेतते हुये से ही चेतता हूं, चेतते हुये में ही चेतता हूं, और चेतते हुये को ही चेतता हूं । अथवा मैं नहीं चेतता हूं,

चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं । भिद्यते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि, भिद्यतां न भिदारित काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति" ॥ ३१७ ॥

पण्णाए धित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥ २९८ अ० ॥

पण्णाए धित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ २९९ अ० ॥ (युग्मम्)

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९८ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९९ ॥

चेतता हुआ नहीं चेतता हूं, चेतते हुये के द्वारा नहीं चेतता हूं, चेतते हुये के लिये नहीं चेतता हूं, चेतते हुये से नहीं चेतता हूं, चेतते हुये में नहीं चेतता हूं और चेतते हुये को नहीं चेतता हूं किंतु मैं सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव ही हूं । इसे ही काव्य में कहते हैं—

ज्ञानी जीव चितवन करता है कि जिनको भिन्न किया जा सकता है उन सर्व पर भावों को उनके अपने-अपने लक्षण के बल से पृथक् करके चैतन्य चिह्न से चिह्नित, विभाग रहित, महिभावान् मैं तो शुद्ध चैतन्य मात्र ही हूं, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारक भेद, सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के भेद यदि किये जाते हैं तो किये जावें किंतु उन सब में व्यापक होकर रहने वाले भावस्वरूप परमशुद्ध चैतन्य प्रभु में उनसे कोई भेद नहीं है वह तो अभेदरूप—अद्वैतरूप एक ही है ॥ ३१७ ॥

दर्शन-ज्ञान स्वरूप आत्मा का कैसे अनुभव करना ? सो ही बताते हैं—

अन्वयार्थ—(यः द्रष्टा सः अहं तु निश्चयतः प्रज्ञया गृहीतव्यः) जो देखने वाला है निश्चय से मैं वही हूं ऐसा बुद्धि से ग्रहण करना चाहिये (अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः) अवशेष जो भाव हैं वे सभी मुझ से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये । (यः ज्ञाता निश्चयतः तु सः अहं प्रज्ञया गृहीतव्यः) जो जानने वाला है निश्चय से सो ही मैं हूं ऐसा बुद्धि से ग्रहण करना चाहिये ।

(३१८)—यह बात बुद्धि से अंगीकार करना,
द्रष्टा स्वभाव वाला मैं हूं नियम से ।
अवशेष भाव जो भी हैं इस जगत में,
मुझसे सदा पृथक् हैं यह मान लो तुम ॥ २९८ ॥

(३१९)—तुम भेदज्ञान से यह स्वीकार करना,
ज्ञाता स्वभाव जिसका वह मैं नियम से ।
अवशेष भाव जितने भी हैं जगत में,
मेरे नहीं वे सदा मुझसे पृथक् हैं ॥ २९९ ॥

आत्मख्याति—चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि । किंतु सर्वविशुद्धो दृढमात्रो भावोऽस्मि । अपि च—ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि । अथवा—न जानामि, न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि न जानंतं जानामि । किंतु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः

(अवशेषा ये भावः ते मम पराः इति ज्ञातव्याः) अवशेष जो भाव हैं वे मुझ से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ २९८-२९९ ॥

आत्मख्याति—चेतना दर्शन और ज्ञान इन दो विकल्पों का उलंघन नहीं करती है अतः चेतयिता गुण के समान ही दृष्टापना और ज्ञातापना ये दोनों भी आत्मा के स्वलक्षण ही हैं । इसलिये मैं द्रष्टास्वरूप—देखने वाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ और जो कुछ ग्रहण करता हूँ वह देखता ही हूँ, मैं देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुये के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुये के लिये ही देखता हूँ, देखते हुये से ही देखता हूँ, देखते हुये में ही देखता हूँ और देखते हुये को ही देखता हूँ—अथवा मैं नहीं देखता हूँ, मैं देखता हुआ नहीं देखता हूँ, मैं देखते हुये के द्वारा नहीं देखता हूँ, मैं देखते हुये के लिये नहीं देखता हूँ, मैं देखते हुये से नहीं देखता हूँ, मैं देखते हुये में नहीं देखता हूँ और मैं देखते हुये को नहीं देखता हूँ किंतु मैं सर्वविशुद्ध दर्शन मात्र भावस्वरूप ही हूँ । इसी प्रकार से मैं ज्ञातास्वरूप आत्मा को जानता हूँ, मैं जो कुछ ग्रहण करता हूँ उसको जानता ही हूँ । मैं जानते हुये ही जानता हूँ, जानते हुये के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुये के लिये ही जानता हूँ, जानते हुये से ही जानता हूँ, जानते हुये में ही जानता हूँ और जानते हुये को ही जानता हूँ । अथवा मैं नहीं जानता हूँ, जानते हुये नहीं जानता हूँ, जानते हुये के द्वारा नहीं जानता हूँ, जानते हुये के लिये नहीं जानता हूँ, जानते हुये से नहीं जानता हूँ, जानते हुये में नहीं जानता हूँ और जानते हुये को नहीं जानता हूँ किंतु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्तिक्रिया—जानने रूप क्रियामात्र भावस्वरूप ही हूँ ।

प्रश्न—यह चेतना दर्शन-ज्ञान विकल्पों का उलंघन क्यों नहीं करती है कि जिससे चेतनस्वरूप आत्मा दृष्टा और ज्ञाता हो सके ?

उत्तर—यह चेतना प्रतिभासरूप है, और संपूर्ण ही वस्तुयें सामान्य-विशेषरूप हैं अतः वह चेतना दो रूप का उलंघन नहीं करती है । जो ये उस चेतना के दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं इसलिये वह चेतना उन दो रूपों का उलंघन नहीं करती है । यदि वह इन दो रूप का उलंघन कर

सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रान्तत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयादर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगन्तव्या ॥ २९८ । २९९ ॥

शार्दूलविक्रीडित छंद—अद्वैतापि हि चेतना जगति चेददृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥ १८३ ॥

इन्द्रवज्रा छंद—एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषां ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ १८४ ॥

देवे तो वह सामान्य और विशेष इन दो धर्मों का उलंघन कर देने से चेतना ही नहीं हो सकेगी । पुनः उस चेतना के अभाव में दो दोष आरेंगे—एक तो अपने स्वगुण का उच्छेद हो जाने से चेतन आत्मा अचेतन हो जावेगा और दूसरा यह कि व्यापक के अभाव में व्याप्य जो चेतन है उसका अभाव हो जावेगा । अतः इन दोषों के भय से चेतना को दर्शन-ज्ञान स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिये ॥ २९८-२९९ ॥

इसे ही कलशकाव्यों द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—जगत् में वह चेतना अद्वैतरूप है—यात्र प्रतिभासरूप है फिर भी यदि यह—एकांत से अपने देखने और जानने रूप दोस्वरूप को छोड़ देवे तो पुनः यह सामान्य और विशेषरूप से रहित होने से अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी । अपने अस्तित्व के छोड़ देने पर तो चेतन को जड़रूपता आ जायेगी तब तो व्यापक-चेतना के बिना व्याप्य जो आत्मा है वह भी अंत को प्राप्त हो जावेगा, इसलिये यह चेतना नियम से देखने-जानने रूप ही है—दर्शनज्ञान इन दोरूप ही है ॥ १८३ ॥

काव्यार्थ—चैतन्य आत्मा का तो एक चिन्मय भाव ही है और जो अन्य भाव हैं वे नियम से अन्य वस्तुओं के ही हैं । इसलिये एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, शेष अन्य सभी भाव सब प्रकार से छोड़ने योग्य ही हैं—हेय ही हैं, ऐसा समझना ॥ १८४ ॥

जग में चेतन अद्वैतरूप दिखता फिर भी है द्वैत रूप ।
निज दर्शन ज्ञान उभय तज दे तो तज देगा अस्तित्व रूप ॥
अस्तित्व त्याग में जुड़ता है व्यापक चेतन बिन व्याप्यात्मा ।
उसका भि अन्त हो अतः नियत दृग् ज्ञान रूप चेतन आत्मा ॥ १८३ ॥

इस शुद्ध चिदात्मा का तो एक चिन्मय स्वभाव कहलाता है ।
परभाव नियम से पर के हैं उनमें वह कभी न जाता है ॥
इसलिए एक चिन्मय स्वभाव ही ग्रहण योग्य है अन्य नहीं ।
सब अन्य भाव तो सब प्रकार से हेय कहे चैतन्य नहीं ॥ १८४ ॥

(३१८ ज०) पण्णाए धित्तव्वो, जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥

(३१९ ज०) पण्णाए धित्तव्वो, जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ युग्मं ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो, यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ ३१८ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो, यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ ३१९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमेव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यन्तमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि,

भावार्थ—प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष ये दो धर्म पाये जाते हैं अतः उनको ग्रहण करने के लिये चेतन लक्षण आत्मा में दर्शन और ज्ञान ये दो गुण होते हैं । कहा भी है—‘उपयोगो लक्षणम् । स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः’ । जीव का लक्षण उपयोग है, उसके दो भेद हैं—ज्ञान-दर्शन । ज्ञान के आठ भेद हैं और दर्शन के चार भेद हैं इत्यादि ।

उसी चैतन्य के द्रष्टापन और ज्ञातापन ये दो धर्म हैं उनकी अपेक्षा से कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दट्ठा तु णिच्छयदो सो अहं पण्णाए धित्तव्वो) जो द्रष्टा आत्मा है निश्चय से मैं वही हूं ऐसा भेदविज्ञान से ग्रहण करना चाहिये (अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा) अवशेष जो भाव हैं वे मेरे से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये । (जो णादा णिच्छयदो अहं सो तु पण्णाए धित्तव्वो) जो ज्ञाता आत्मा है निश्चय से मैं वही हूं ऐसा प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिये (अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा) अवशेष जो भाव हैं वे मेरे से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१८-३१९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो चेतना है वह दर्शन-ज्ञान इन दो विकल्परूप होती है, इन दोनों को छोड़कर चेतना पृथक् नहीं होती, इसलिये चेतयितापन के समान ही द्रष्टापन और ज्ञातापन ये आत्मा के स्वलक्षण ही हैं । अतः मैं आत्मा को देखने वाला रूप में ग्रहण करता हूं । जो यहां मैं ग्रहण करता हूं, इसका अर्थ यह है कि मैं देखता ही हूं, देखता हुआ ही देखता हूं, देखते हुये के द्वारा ही देखता हूं, देखने वाले के लिये ही देखता हूं, देखने वाले से ही देखता हूं,

न पश्यंतं पश्यामि । किं तु सर्वविशुद्धो दुःखमात्रो भावोऽस्मि । अपि च ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि । अथवा न जानामि, न जानन् जानामि, न जानतैव जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि । किं तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वाद् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रान्तत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयादर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या ।

देखने वाले में ही देखता हूं, देखने वाले को ही देखता हूं । अथवा यों कहो कि मैं देखता नहीं हूं, देखता हुआ नहीं देखता हूं, देखते हुये के द्वारा नहीं देखता हूं, देखते हुये के लिये नहीं देखता हूं, देखते हुये से नहीं देखता हूं, देखते हुये में नहीं देखता हूं और देखते हुये को नहीं देखता हूं किंतु मैं तो सर्वप्रकार से विशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूं । उसी प्रकार से मैं आत्मा को ज्ञातारूप से ग्रहण करता हूं, यहां ग्रहण करता हूं अर्थात् जानता हूं । जानता हुआ ही जानता हूं, जानते हुये के द्वारा ही जानता हूं, जानते हुये के लिये ही जानता हूं, जानते हुये से ही जानता हूं, जानते हुये में ही जानता हूं और जानते हुये को ही जानता हूं । अथवा मैं नहीं जानता हूं, जानता हुआ नहीं जानता हूं, जानते हुये के द्वारा नहीं जानता हूं, जानते हुये के लिये नहीं जानता हूं, जानते हुये से नहीं जानता हूं, जानते हुये में नहीं जानता हूं और जानते हुये को नहीं जानता हूं किंतु सब तरफ से मैं विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव ही हूं ।

प्रश्न—यह चेतना दर्शन और ज्ञान इन दोनों भेदों को छोड़कर क्यों नहीं रहती ? कि जिससे यह चेतयिता आत्मा ही द्रष्टा और ज्ञाता दोनों रूप हो जाता है जैसा कि आपका कहना है ?

उत्तर—बात यह है कि यह चेतना प्रतिभास स्वरूप है अर्थात् पदार्थों के स्वरूप को अपने में झलकाने वाली है । और जितने भी पदार्थ हैं वे सभी सामान्य-विशेषरूप होने से अपने दोरूप का उलंघन नहीं करते हैं अतः चेतना भी द्विरूपपने को नहीं छोड़ती है । इस प्रकार उस चेतना के दोरूप हैं उन्हीं का नाम दर्शन और ज्ञान है इसलिये वह इन्हें नहीं छोड़ती है । यदि वह चेतना इन्हें छोड़ दे तो सामान्य और विशेष से रहित हो जाने के कारण वह चेतना ही नहीं रहेगी । ऐसी दशा में दो दोष उत्पन्न होंगे—एक तो यह कि चेतन का अपना गुण जो

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्, तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चित्तोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ।

एकश्चित्तश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषां ।

ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥

निश्चयतः अवशेषा ये रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानन्दैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्याः ।

अत्राह शिष्यः—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदो न स्तः, एकैव चेतना ततो ज्ञाता द्रष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति ?
अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—सामान्यग्राहकं दर्शनं, विशेषग्राहकं ज्ञानं । सामान्यविशेषात्मकं च वस्तु ।
सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभावः स्यात् । चेतनाया अभावे सति आत्मनो जडत्वं, चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति । न चात्मनो जडत्वं दृश्यते, न चाभावः ? प्रत्यक्षविरोधात् । ततः स्थितं
यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्रायः ॥ ३१८-३१९ ॥

चेतना है वह नहीं रहेगा तब तो चेतन अचेतन हो जावेगा, और दूसरा दोष यह आवेगा कि व्यापक चेतनत्व के नहीं रहने पर फिर चेतन भी नहीं रहेगा उसका अभाव हो जावेगा । अतः इन दोनों दोषों से बचने के लिये ज्ञानदर्शनस्वरूप ही चेतना को स्वीकार करना चाहिये ।

इस जगत् में निश्चय से यह चेतना अद्वैत है—अखंड रहने वाली है, फिर भी वह ज्ञान-दर्शनरूप को छोड़ दे तो सामान्य और विशेष के अभाव से वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी । पुनः उसके अस्तित्व के न रहने पर चेतन को जड़पना आ जायेगा । अथवा व्याप्य स्वरूप आत्मा अपनी व्यापक चेतना के बिना अन्त को—अभाव को ही प्राप्त हो जायेगा । इसलिये चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप ही है । तो पुनः क्या करना ? सो ही कहते हैं—

चैतन्य का तो एक चिन्मय भाव ही है । जो दूसरे भाव हैं वे सब स्पष्टतया पर के ही भाव हैं । अतः एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो भी पर भाव हैं वे सभी छोड़ने योग्य हैं ।

निश्चय से अवशेष जो भी रागादिभाव हैं वे विभाव परिणाम हैं वे सभी भाव चिदानन्द एक स्वभाव वाली ऐसी जो मेरी आत्मा है उससे पर हैं—भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ।

प्रश्न—चेतना के दर्शन और ज्ञान ये दो भेद नहीं हैं, चेतना तो एक ही है अतः ज्ञाता और द्रष्टा ये दो प्रकार उसके कैसे घटेंगे ?

उत्तर—इसका समाधान यह है कि सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है और विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है । अतः चेतना के सामान्यविशेषात्मकपने का अभाव मानने पर तो उस चेतना का ही अभाव हो जायेगा । पुनः

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे ।

मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३०० अ० ॥

को नाम भणेद् बुधो ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।

ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं ॥ ३०० ॥

चेतना के अभाव में आत्मा जड़ हो जायेगी, अथवा चेतना लक्षण विशेष गुण का अभाव हो जाने पर आत्मा का ही अभाव हो जावेगा। किंतु आत्मा के जड़पना देखा नहीं जाता है और न आत्मा का अभाव ही देखा जाता है क्योंकि इस में तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि चेतना यद्यपि अभेदनय से एकरूप है फिर भी सामान्य और विशेषरूप विषय के भेद से दर्शन ज्ञानरूप है—इन दो भेदरूप हैं यहां ऐसा अभिप्राय समझना ॥ ३१८-३१९ ॥

भावार्थ—यहां ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा में षट्कारक से भेद दिखाकर पुनः निर्विकल्प ध्यान में षट्कारकों में अभेद दिखाया है। जिसका अर्थ यह है कि 'पश्यन्नपि न पश्यामि', जानन्नपि न जानामि। 'देखते हुये भी मैं नहीं देखता हूं और जानते हुये भी मैं नहीं जानता हूं।' श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति ।

स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥

बोलते हुये भी जो नहीं बोलता है और चलते हुये भी नहीं चलता है ऐसा आत्मा जब आत्म तत्त्व में स्थिर हो जाता है तब देखते हुये नहीं देखता है। निर्विकल्पध्यान में आत्मा के द्रष्टापन और ज्ञातापन विद्यमान हैं फिर भी वह आत्मा एकाग्र ध्यान में लीन होकर बाहर का कुछ भी न देखता है और न जानता ही है ऐसा समझना।

पर को अपना भला कौन कहेगा ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वान् भावान् परकीयान् ज्ञात्वा च आत्मानं शुद्धं जानन् को नाम बुधः भणेत् मम इदं इति वचनं) सभी भावों को परकीय जानकर और अपनी आत्मा को शुद्ध जानते हुये कौन बुद्धिमान् ऐसा कहेगा कि यह मेरे हैं ? अर्थात् कोई ज्ञानी ऐसा नहीं कहेगा ॥ ३०० ॥

(३२०)—हैं कौन विज्ञ जो चेतन भाव तजकर,

निज आत्म और शुद्धात्म भाव लखकर ।

इनके सिवाय पर के पर भाव को भी,

अपने कहे नहिं कभी उसके हुए भी ॥ ३०० ॥

आत्मख्यातिः—यो हि परात्मनोर्नियतलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सवनिव भावान् परकीयान् जानाति । एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसंबंधस्यासंभवात् । अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः ॥ ३०० ॥

शार्दूलविक्रीडित—सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं । एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणाः तेऽहं नास्ति यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥ १८५ ॥

अनुष्टुप् छंद—परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् । बध्येनाङ्गराष्ट्रे न स्वद्रव्ये संवृते मुनिः ॥ १८६ ॥

आत्मख्याति—जो पुरुष पर और आत्मा के नियत अपने-अपने लक्षण के विभाग में पड़ने वाली प्रज्ञा से ज्ञानी होता है वह निश्चित ही एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है और शेष सभी भावों को पर के जानता है । पुनः इस तरह जानते हुये वह पर भावों को 'ये मेरे हैं' ऐसा कैसे कहेगा ? क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से अपना और अपने स्वामी के संबंध का अभाव है अर्थात् पर में 'यह मैं हूं या मैं इसका हूं' ऐसा स्व और स्वामी का संबंध शक्य नहीं है । इसलिये सर्वथा चैतन्यभाव को ही ग्रहण करना चाहिये तथा शेष सभी ही भाव छोड़ देना चाहिये । यहां यही सिद्धांत है ॥ ३०० ॥

इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—उदार—उज्ज्वल चित्त और उत्कृष्ट चारित्र वाले मोक्षार्थी मुनियों को यही सिद्धांत सेवन करना चाहिये—अपनाना चाहिये कि 'मैं सदा ही शुद्ध, चिन्मय, एक परम ज्योति ही हूं' और जो ये भिन्न लक्षणवाले नाना भाव प्रगट हो रहे हैं 'वे मैं नहीं हूं' क्योंकि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य हैं ॥ १८५ ॥

काव्यार्थ—जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह कर्मों से बंधता है क्योंकि वह अपराधी है किंतु स्वद्रव्य में संवृत हुये यति—महामुनि नहीं बंधते हैं क्योंकि वे परद्रव्य के ग्रहण करने रूप अपराध से रहित हैं अतः अनपराधी हैं ॥ १८६ ॥

मैं सदा शुद्ध चिन्मय स्वरूप एक परमज्योति परमात्मा हूं ।
नाना परभाव प्रगट जो हैं वे मैं नहीं हूं मैं स्वात्मा हूं ॥
मोक्षार्थी मुनियों को ऐसा सिद्धांत मानना हितकर है ।
बाकी पर को परद्रव्य मानना उस ज्ञानी को शुभकर है ॥ १८५ ॥
परद्रव्य ग्रहण करने वाला कर्मों से नित बंधता रहता ।
वह अपराधी है क्योंकि वह निज शुद्ध द्रव्य में नहीं रमता ॥
लेकिन निज द्रव्य में संवृत यति उन कर्मों से नहीं बंधते हैं ।
परद्रव्य ग्रहण अपराध से वे सर्वदा दूर ही रहते हैं ॥ १८६ ॥

(उत्थानिका) —अथ शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव भावः न च रागादय इत्याख्यातिः—

(३२० ज०) को णाम भणिज्ज बुहो, णादुं सव्वे परोदये भावे ।

मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥

को नाम भणेद् बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परोदयान् भावान् ।

ममेदमिति वचनं, जानन्नात्मानं शुद्धं ॥ ३२० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—को णाम भणिज्ज बुहो को ब्रूयाद् बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि । किं ब्रूयात् । मज्झमिणंति य वयणं ममेति वचनं किं कृत्वा ? पूर्व णादुं निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा । कान् ? सव्वे परोदये भावे सर्वान् मिथ्यात्वरगादिभावान् विभावपरिणामान् । कथंभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मनः सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान् । किं कुर्वन् सन् ? जाणंतो अप्पयं सुद्धं जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन् कं ? आत्मानं । कथंभूतं ? शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । केन कृत्वा

भावार्थ—यहां पर श्री अमृतचंद्रसूरि ने स्पष्ट कह दिया है कि यति अपने आत्मस्वरूप में स्थित होते हैं अतः वे परद्रव्य को व परभावों को न ग्रहण करते हुये—रागादिभावों से न परिणत होते हुये कर्मों से नहीं बंधते हैं । इनसे अतिरिक्त जब तक परभावों से परिणत होते रहते हैं—रागादि विभाव भावों से नहीं छूट पाते हैं तब तक मुनियों के कर्मबंध होता ही रहता है । चारित्रसार में जो श्रेणी आरोहण कर रहे हैं उन्हें यति कहा है । यहां यह यति का ध्यान ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान का ही लेना है क्योंकि वहीं पर ही मोहनीय कर्म के अभाव से रागादिभावों के न होने से कर्मबंध नहीं होता है उससे पहले छठे-सातवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनियों के भी बंध होता रहता है ऐसा समझना चाहिये अतः जो चतुर्थ, पंचम गुणस्थान में भी अनपराधी व बंधरहित होना चाहते हैं वे अपनी आत्मा की वंचना ही कर लेते हैं । यहां 'संवृतो यतिः' पद तीन गुप्ति से सहित मुनि के लिये ही आया है । श्री शुभचंद्राचार्य ने कलशकाव्य की टीका में 'यतिः' पाठ लिया है । यहां मुनिः पाठ है । यह पाठ-भेद समझना ।

उत्थानिका—शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मा का शुद्धचिद्रूप ही एक भाव है न कि रागादिभाव, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सव्वे परोदये भावे णादुं अप्पयं सुद्धं जाणंतो) सभी पर—कर्मों के उदयरूप भावों को जानकर आत्मा को शुद्ध जानता हुआ (को णाम बुहो मज्झं इणं ति य वयणं भणिज्ज) कौन ऐसा बुद्धिमान है कि यह मेरा है ऐसे वचन कहेगा ? अर्थात् कोई नहीं कहेगा ॥ ३२० ॥

तात्पर्यवृत्ति—कौन बुद्धिमान—ज्ञानी या विवेकी ऐसा कहेगा ? अहो ! कोई भी ऐसा नहीं कहेगा कि 'ये परद्रव्य मेरे हैं' जिसने पहले निर्मल आत्मा की अनुभूतिलक्षण भेदज्ञान से ऐसा जान लिया है कि ये मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम पर के उदय से हुये हैं—शुद्धात्मा से भिन्न ऐसे कर्मों के उदय से ही उत्पन्न हुये हैं । पुनः जो परमसमरसी भाव के द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव कर रहे हैं । शुद्धात्मा से परिणत जो अभेदरत्नत्रय है वही हुआ भेदविज्ञान, उस भेदविज्ञान के द्वारा—निर्विकल्प ध्यान के द्वारा जो अपनी आत्मा को शुद्ध—भावकर्म, द्रव्यकर्म

जानन् २ शुद्धात्मभावनापरिणतभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेनेति । एवं विशेषभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपंचकं गतं ॥ ३२० ॥

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ संकिदो भमई ।

मा वज्जेज्जं केणवि चोरोत्ति जणम्मि वियरंतो ॥ ३०१ अ० ॥

जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि ।

णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥ ३०२ अ० ॥

एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया ।

जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥ ३०३ ॥ त्रिकलं ॥

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स तु शंकितो भ्रमति ।

मा बध्यं केनापि जौर इति जने विचरन् ॥ ३०१ ॥

यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति ।

नापि तस्य बद्धं यत् चिन्तोत्पद्यते कदाचित् ॥ ३०२ ॥

एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेत्यिता ।

यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥ ३०३ ॥

और नोकर्म से रहित अनुभव कर रहे हैं ऐसे ज्ञानी महामुनि कभी भी परभावों को अपना नहीं कहते हैं ऐसा अभिप्राय है । इस तरह विशेष भेद भावना के व्याख्यान की मुख्यता से इस तृतीय स्थल में ये पांचगाथा सूत्र हुये हैं ॥ ३२० ॥

(३२१)—जो जीव चोरी प्रभृति अपराध करता,
शंकित हुआ वह पुरुष जग में विचरता ।
वह सोचता मैं कभी पकड़ा न जाऊँ ।
अपराध चूँकि मन में उसके खटकता ॥ ३०१ ॥

(३२२)—पर जीव जो कभी नहीं अपराध करता,
वह जीव पूर्ण जनपद में भ्रमण करता ।
चिन्ता न रहती उसे निज बंध की भी,
निःशंक रहता निरपराधी कहीं भी ॥ ३०२ ॥

(३२३)—अपराध से सहित यदि मैं भी रहूँगा,
तो कर्मबन्ध से निश्चित ही बंधूँगा ।
यदि मैं पुनः निरपराधि नहीं बंधूँगा,
होकर निश्चय ज्ञानी पद को लहूँगा ॥ ३०३ ॥

आत्मख्यातिः—यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बन्धशंका संभवति । यस्तु [शुद्धः सन्] तं न करोति तस्य सा न संभवति । तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बन्धशंका संभवति यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवति, इति नियमः । अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ॥ ३०१ । ३०२ । ३०३ ॥

भावार्थ—यहां श्रीजयसेनाचार्य ने उन्हें ही ज्ञानी-बुद्धिमान कहा है कि जो महामुनि छठे गुणस्थान के भेदरत्नत्रय को ग्रहण कर आगे शुद्धोपयोग में पहुँचकर अभेदरत्नत्रय से परिणत हो चुके हैं वे ही मुनि परभावों से छूटकर निर्विकल्प शुक्लध्यानी होते हैं पुनः वे ही कर्मबन्ध से बचते हैं । यह अवस्था सातवें से प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है ऐसा समझना चाहिये ।

आगे अपराधी-अनपराधी को दृष्टांत द्वारा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः स्तेयादीन् अपराधान् करोति सः तु शंकितः भ्रमति) जो चोरी आदि अपराधों को करता है वह तो संदिग्ध हुआ घूमता है कि (जने विचरन् चौरः इति केन अपि न बध्ये) लोक में विचरते हुये 'मैं चोर हूँ, ऐसा किसी को मालूम हो जाने पर मैं किसी के द्वारा बांधा न जाऊँ । (यः अपराधान् न करोति) जो अपराधों को नहीं करता है (सः निःशंकः तु जनपदे भ्रमति) वह निर्भीक हुआ देश में भ्रमण करता रहता है (तस्य यत् बद्धं चिंता कदाचित् अपि न उत्पद्यते) उसको बंधने की जो चिंता है वह कदाचित् भी उत्पन्न नहीं होती है । (एवं अहं सापराधः अस्मि तु बध्ये चेतयिता शंकितः) इसी तरह मैं अपराधसहित हूँ तो बांधा जाऊँगा, आत्मा ऐसा शंकित-भयभीत रहता है (यदि निरपराधः अहं न बध्ये पुनः निःशंकः) यदि मैं निरपराधी हूँ तो नहीं बांधा जाऊँगा, पुनः ऐसा निर्भीक रहता है ।

आत्मख्याति—जैसे यहां लोक में जो पर के द्रव्य-वस्तु के ग्रहण करनेरूप अपराध को करता है उसी के बंधने की आशंका संभव है किंतु जो परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध को नहीं करता है उसके वह आशंका भी संभव नहीं है । वैसे ही यहां जो आत्मा भी अशुद्ध हुआ परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध को करता है उसी के कर्मबन्ध की आशंका-भीति संभव है किंतु जो शुद्ध हुआ आत्मा परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध को नहीं करता है उसके वह बन्ध की शंका संभव नहीं है ऐसा नियम है । इसलिये सर्वथा-सब प्रकार से संपूर्ण परकीय भावों का परिहार करके शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराध अवस्था होती है ॥ ३०१-३०२-३०३ ॥

(उत्थानिका) —अथ मिथ्यात्वादिपरभावस्वीकारेण बध्यते वीतरागपरमचैतन्यलक्षणस्वस्वभावस्वीकारेण मुच्यते जीव इति प्रकाशयति—

(३२१ ज०) तेयादी अवराहे, कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि ।

मा बज्झेहं केणवि, चोरोत्ति जणहि विचरंतो^१ ॥

(३२२ ज०) जो ण कुणदि अवराहे, सो णिस्संको दु जणवदे भमदि ।

ण वि तस्स बज्झिदुं जे, चिंता उप्पज्जदि कयावि ॥

(३२३ ज०) एवं हि सावराहो, बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।

जो पुण णिरवराहो, णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥ त्रिकलम् ॥

स्तेयादीनपराधान्, करोति यः स शंकितो भवति ।

मा बध्ये केनापि, चौर इति जने विचरन् ॥ ३२१ ॥

यो न करोत्यपराधान्, स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति ।

नापि तस्य बद्धुं अहो, चितोत्पद्यते कदाचित् ॥ ३२२ ॥

एवं हि सापराधो, बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयित्वा ।

यदि पुनर्निरपराधो, निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥ ३२३ ॥

उत्थानिका—मिथ्यात्व रागादि परभावों को स्वीकार करने से यह जीव बंधता है और वीतराग परमचैतन्यलक्षण अपने स्वभाव को स्वीकार करने से मुक्त हो जाता है, ऐसा प्रकाशित करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो तेयादी अवराहे कुव्वदि सो ससंकिदो होदि) जो चोरी आदि अपराधों को करता है वह भयसहित रहता है (जणहि विचरंतो चोरोत्ति केणवि मा बज्झेहं) जनों में विचरण करता हुआ 'यह चोर है' इस प्रकार किसी के द्वारा मैं बांध न लिया जाऊं (जो अवराहे ण कुणदि सो णिस्संको दु जणवदे भमदि) जो अपराध नहीं करता है वह निर्भय हुआ लोक में भ्रमण करता है । (तस्स जे बज्झिदुं चिंता कयावि णवि उप्पज्जदि) उसको जो बंधने की चिंता है वह कभी भी उत्पन्न नहीं होती है । (एवं हि अहं सावराहो बज्झामि तु चेदा संकिदो) इस प्रकार से 'मैं अपराध सहित हुआ बंधूंगा' आत्मा ऐसा भयभीत रहता है (जो पुण णिरवराहो णिस्संको अहं ण बज्झामि) जो पुनः निरपराधी है वह निर्भय रहता है कि मैं नहीं बंधूंगा ॥ ३२१ से ३२३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—तेराही अवराहे कुब्बदि जो सो ससंकितो होदि यः स्तेयपरदाराद्यपराधान् करोति स पुरुषः संशंकितो भवति । केन रूपेण ? मा बज्जोहं केणवि चोरोत्ति जणहि विचरंतो जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना । किं कृत्वा ? चौर इति मत्वा । इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता । जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि यः स्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निशंको जनपदे लोके भ्रमति । णवि तस्स बज्जिदं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि तस्य चिंता नोपद्यते कदाचिदपि जे अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चिंता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चौर इति मत्वा । एवं व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता । एवं हि सावराहो बज्जामि अहं तु संकिदो चेदा यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्थभावच्युतः सन् सापराधो भवति^१ सापराधोऽत्र शंकितो भवति । केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मतापत्रो ज्ञानावरणादिकर्मणा । ततः कर्मबंधभीतः प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणरूपं दंडं ददाति जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्जामि यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्त-विभावपरिणामरहितो भूत्वा निशङ्को भवति । केन रूपेण ? इति चेत्-रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदंडं विनाप्यनंतज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्ध्यति इत्यन्वयव्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता ॥ ३२१-३२२-३२३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो चोरी, परस्त्री गमन आदि अपराधों को करता है वह पुरुष शंका से सहित रहता है । सभी जनों में घूमता हुआ ऐसा सोचता रहता है कि कहीं मैं 'यह चोर है' ऐसा जानकर किन्हीं कोतवाल आदि के द्वारा पकड़ न लिया जाऊं । यह अन्वयदृष्टांत की गाथा हुई । पुनः जो चोरी, परस्त्रीसेवन आदि अपराध नहीं करता है वह सभी देशों में सर्वत्र निःशंक हुआ—निर्भीक हुआ भ्रमण करता है उसको कभी भी यह चिंता उत्पन्न नहीं होती है कि 'यह चोर है' ऐसा समझकर मैं किसी के द्वारा बांध लिया जाऊँगा क्योंकि वह निरपराधी है । इस प्रकार यह व्यतिरेकदृष्टांत की गाथा हुई । इसी प्रकार से यहां अब दार्ष्टांत दिखलाते हैं—जो रागादि परद्रव्य को ग्रहण करता है—परभाव को स्वीकार करता है वह अपने स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ अपराधी होता है यहां वह अपराधी होने से शंकित रहता है कि 'मैं ज्ञानावरण आदि कर्मों से बंधूंगा' । इस कारण से कर्मबंध से भयभीत हुआ प्रायश्चित्त-प्रतिक्रमणरूप दंड ग्रहण करता है । पुनः जो निरपराधी रहता है वह तो देखे हुये, सुने हुये और अनुभव में आये हुये ऐसे भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध आदि समस्त विभाव परिणामों से रहित होता हुआ निशंक रहता है क्योंकि वह रागादि अपराधों से रहित है अतः 'मैं किन्हीं भी कर्मों से नहीं बंधूंगा' इस तरह वह प्रतिक्रमण आदि दंड के बिना भी अनंतज्ञान आदिरूप निर्दोष परमात्मा की भावना से ही शुद्ध हो जाता है । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकरूप से दार्ष्टांत को सूचित करने वाली यह गाथा हुई ॥ ३२१-३२२-३२३ ॥

विशेषार्थः—शुद्धोपयोगी मुनि ही निरपराधी होते हैं क्योंकि श्री अमृतचंद्रसूरि के कहे अनुसार 'सर्वथा संपूर्ण परकीय भावों से रहित शुद्ध आत्मा का ग्रहण' निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है । इससे पहले प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण करने ही होते हैं । व्रतों में लगे हुये दोषों को दूर करने के लिये प्रायश्चित्त होता है और व्रतों में लगे हुये अतिचारों को दूर करने के लिये

को हि नामायमपराधः ?—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयद्वं ।

अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अपराधो ॥ ३०४ अ० ॥

जो^१ पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।

आराहणए^२ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥ ३०५ अ० ॥ (युग्मम्)

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थं ।

अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥ ३०४ ॥

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति ।

आराधनया नित्यं वर्तते, अहमिति जानन् ॥ ३०५ ॥

श्रीगौतमस्वामी के मुख से निर्गत प्रतिक्रमण पाठ को पढ़ना—विधिवत् प्रतिक्रमण करना ही प्रतिक्रमण है यह अट्ठाईस मूलगुणों में एक मूलगुण है। ये क्रियायें छोड़ी नहीं जाती हैं किंतु निर्विकल्प ध्यान में लीन होने पर स्वयं ही छूट जाती हैं अथवा ध्यान में ही निश्चय प्रायश्चित्त और निश्चयप्रतिक्रमण होते हैं ऐसा नियमसार में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने ही कहा है। इसी अधिकार में आगे स्वयं ही आचार्यदेव कह रहे हैं।

उत्थानिका—यह अपराध क्या है ? इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(संसिद्धिराधसिद्धं साधितं च आराधितं एकार्थं) संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। (यः चेतयिता खलु अपगतराधः सः अपराधः भवति) जो आत्मा राध से रहित है वह अपराधी है (पुनः यः चेतयिता निरपराधः सः तु निःशंकितः भवति) पुनः जो आत्मा निरपराधी है वह निःशंक रहता है। (अहं इति जानन् नित्यं आराधनया वर्तते) वह अपने को 'मैं' इस प्रकार जानता हुआ नित्य ही आराधना से वर्तन करता है ॥ ३०४-३०५ ॥

(३२४)—संसिद्धि सिद्धि साधित आराधितादी,

हैं राध के हि सारे पर्यायवाची ।

शुद्धात्मराधन रहित जो आत्मा है,

अपराध से सहित वह बहिरातमा है ॥ ३०४ ॥

जो जीव हो निरपराधी आत्मज्ञानी,

शंकारहित हो भ्रमे सहजात्मध्यानी ।

शुद्धात्मरूप निज को पहचान करके,

आत्मानुराधन करें मुनिराज ज्ञानी ॥ ३०५ ॥

आत्मख्यातिः—परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः । अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधस्तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद् बंधशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात् । यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावादबंधशंकाया असंभवे सति, उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात् ।

मालिनी छंद—अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः, स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥ १८७ ॥

आत्मख्याति—परद्रव्यों का परिहार करके शुद्ध आत्मा की जो सिद्धि है या साधन है उसी का नाम राध है । जिस चेतन आत्मा के यह राध अपगत—दूर हो गया है—नहीं है वह अपराध या अपराधी है । अथवा ऐसा अर्थ करना कि जिस भाव का राध—सिद्धि या साधन निकल गया—दूरवर्ती है वही भाव अपराध है, जो आत्मा उस अपराध के साथ रहता है वह सापराध—अपराध सहित है । वही तो परद्रव्यों के ग्रहण करने के सद्भाव से शुद्धात्मा की सिद्धि नहीं कर पाता है अतः उसी के बंध की शंका संभव होती है इस कारण वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक ही है—आराधक नहीं हो सकता है । किंतु जो निरपराधी है वह संपूर्ण परद्रव्यों का परिहार करके शुद्धात्मा की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है अतः उसके बंध की शंका असंभव ही है, इसकारण 'उपयोग ही एक लक्षण स्वरूप शुद्ध आत्मा ही एक मैं हूँ' ऐसा निश्चय करते हुये नित्य ही शुद्धात्मा की सिद्धि स्वरूप आराधना से वर्तन करता है अतः वह आत्मा आराधक ही है ऐसा समझना ।

इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—जो अपराध सहित है वह हमेशा अनंत कर्मों से बंधता है और निरपराध आत्मा कदाचित् भी बंध का स्पर्श ही नहीं करता है । वह आत्मा स्वयं अपने को अशुद्ध ही सेवन करता हुआ—मानता हुआ सापराध—अपराधी होता है और अच्छी तरह से शुद्धात्मा का सेवन करने वाला—शुद्धोपयोगी मुनि निरपराधी होता है ॥ १८७ ॥

अपराध सहित प्राणी अनन्त कर्मों से नित प्रति बंधता है ।

अपराध रहित आत्मा न कभी स्पर्श बंधका करता है ॥

निज को अशुद्ध सेवन करने वाला अपराधी होता है ।

शुद्धात्मा का सेवी साधु ही निरपराधी होता है ॥ १८७ ॥

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा सापराधस्याप्रतिक्रमणा-
देस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात् । उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—

अपडिक्रमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।

अणियत्ती य अणिदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥ १ ॥

पडिक्रमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।

णिदा गरुहा सोही अट्टविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥ ३०४-३०५ ॥

भावार्थ—यहां 'भजन्' क्रिया का अर्थ है कि अशुद्धरूप ही आत्मा का अनुभव करता हुआ—प्राप्त करता हुआ—उपासित करता हुआ—आराधित करता हुआ या भोगता हुआ आत्मा अपराधी है । जब तक आत्मा में रागादि विभावभाव होते रहते हैं तब तक अपराधी है पुनः जब मोहकर्म के अभाव से रागादिभाव समाप्त हो जाते हैं तभी वह निरपराधी हो जाता है । पूर्णतया रागादि का अभाव दसवें गुणस्थान के बाद होता है अतः वहीं पर शुद्धोपयोगी महामुनि पूर्णतया निरपराधी हैं । इससे पहले श्रेणी आरोहण में बुद्धि पूर्वक रागादि भावों के न होने से वह उसी रूप में शुद्धोपयोगी होने से निरपराधी कहा जा सकता है ।

यहां छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपराधी हैं तभी तो उन्हें प्रतिक्रमण नित्य करने का विधान है ऐसा समझना ।

प्रश्न—इस शुद्धात्मा की उपासना के प्रयास से क्या लाभ है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं से ही यह आत्मा निरपराधी हो जाता है । अपराधी आत्मा यदि प्रतिक्रमण आदि नहीं करता है तो उसके ये अप्रतिक्रमण आदि उस अपराध को दूर नहीं कर सकने से वे विषकुम्भरूप हैं और प्रतिक्रमण आदि क्रियायें अपराध को नष्ट कर देने से अमृतकुम्भ हैं । व्यवहार के प्रतिपादक ऐसे आचारसूत्र ग्रंथ में कहा भी है—

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अर्निदा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठों ही विषकुम्भ हैं तथा प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निदा, गर्हा और शुद्धि ये आठ अमृतकुम्भ हैं ॥ ३०४-३०५ ॥

भावार्थ—प्रतिक्रमण आदि के न करने से दोषों का क्षालन नहीं होता है अतः छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के लिये इनके न करने से व्रतहानि होती है यही कारण है कि ये विषकुम्भ कहे गये हैं । इनसे विपरीत व्रतों में दोष लगने से ये प्रतिक्रमण आदि करते रहने से दोषों का क्षालन हो जाता है इसी हेतु से ये अमृतकुम्भ हैं । अमृत के समान लाभकारी हैं—परंपरा से शुद्धात्मा के साधक हैं । आगे स्वयं श्रीअमृतचंद्रसूरि टीका में खुलासा करेंगे । यह प्रश्न अगली गाथाओं के लिये उत्थानिका स्वरूप है ।

(उत्थानिका) —अथ को हि नामायमपराधः ? इति पृच्छति,—

(३२४ ज०) संसिद्धिराधसिद्धी, साधिदमाराधितं च एयद्वो ।

अवगदराधो जो खलु, चेदा सो होदि अवराहो ॥

संसिद्धिराधसिद्धं, साधितमाराधितं चैकार्थं ।

अपगतराधो यः खलु, चेतयिता स भवत्यपराधः ॥ ३२४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधितं च एयद्वो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषय-
कषायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्मा राधनं सेवनं राध इत्युच्यते संसिद्धिः
सिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि । अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि
अवराहो अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्मा राधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवाभेदेन भवत्यपराधः । अथवा
अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्मा राधः शुद्धात्मा राधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः सहापराधेन
वर्तते यः स सापराधः, चेतयितात्मा तद्विपरीतः त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति । अथ हे भगवन् ! किमनेन
शुद्धात्मा राधना प्रयासेन ? यतः प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात् ? इति चेत्, सापराध-
स्याप्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विषकुंभत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेना-

उत्थानिका—यह अपराध क्या है ? शिष्य ऐसा पूछता है—

अन्वयार्थ—(संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधितं च एयद्वो) संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित
और आराधित ये पर्यायवाची शब्द हैं (जो चेदा खलु अवगदराधो सो अवराहो होदि) जो आत्मा
नियम से राध से रहित है वह अपराधी होता है ॥ ३२४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—तीनों कालों में होने वाले ऐसे समस्त मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि विभाव
परिणामों से रहित होकर निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में स्थित होकर जो निज शुद्ध आत्मा की
आराधना करना—सेवन करना है वह 'राध' इस नाम से कहा जाता है । यहां संसिद्धि, सिद्धि,
साधित और आराधित ये चारों ही इस 'राध' शब्द के पर्यायवाची नाम हैं । दूर हो गयी है—नष्ट
हो गयी है राध—शुद्धात्मा की आराधना जिस पुरुष के, वह पुरुष ही अभेदनय से अपराध
कहलाता है । अथवा अपगत—नष्ट हो गयी है शुद्धात्मा की आराध—शुद्धात्मा की आराधना जिस
रागादि विभाव परिणाम के, वह परिणाम ही अपराध है । उस अपराध के साथ जो रहता है वह
आत्मा सापराध है । किंतु इससे विपरीत जो चेतन आत्मा तीन गुप्तिरूप समाधि में स्थित है वह
निरपराधी है ऐसा समझना ।

प्रश्न—हे भगवन् ! इस शुद्धात्मा की आराधना के प्रयास से क्या लाभ है ? क्योंकि
प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठान से ही यह आत्मा निरपराधी हो जाता है । जो अपराधी है उसके
अप्रतिक्रमण आदि से—प्रतिक्रमण आदि नहीं करने से दोष शब्द वाच्य जो अपराध हैं उनका
विनाश नहीं होता है अतः ये अप्रतिक्रमण आदि उसके लिये विषकुंभ हैं । तथा उस अपराधी
आत्मा के प्रतिक्रमण आदि क्रियायें दोष शब्द से वाच्य जो अपराध हैं उसको नष्ट करने वाली हैं

मृतकुंभत्वात् इति । तथा चोक्तं चिरंतनप्रायश्चित्तग्रंथे—

“अपडिक्कमणं अपडिसरणं अपडिहारो अधारणा चेव ।

अणियत्तीय अणिंदा अगुरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय ।

णिंदा गुरुहा सोही अट्टविहो अमयकुंभो दु ॥२॥” ३२४ ॥

इसलिये वे अमृतकुंभ हैं । इसी प्रकार से प्राचीन प्रायश्चित्त ग्रंथ में कहा भी है—

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठ प्रकार के विषकुंभ हैं तथा प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार ही अमृतकुंभ हैं ॥ ३२४ ॥

विशेषार्थ—यहां स्वयं श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—“प्रथम तो अज्ञानी जनों में होने वाले साधारण ‘अप्रतिक्रमण’ आदि वे तो स्वयं ही अपराध रूप होने से ‘विष कुंभ’ ही हैं उनके विचार करने की तो यहां बात ही नहीं है और द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि हैं वे संपूर्ण अपराध को दूर करने में समर्थ होने से ‘अमृत कुंभ’ ही हैं फिर भी प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण आदि से विलक्षण जो तीसरी भूमिरूप अप्रतिक्रमण है जो कि शुद्धात्मा की सिद्धिरूप है । इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने निश्चय प्रतिक्रमण नाम दिया है । इसी निश्चय प्रतिक्रमण का वर्णन नियमसार में व्यवहार चारित्र के अनंतर किया है । यहां पर मूलाचार में श्रीकुंदकुंददेव ने ही मुनियों के मूलगुणों में प्रतिक्रमण को एक मूलगुण कहकर उसके वर्णन में मुनियों के लिये क्या कहा है ? सो ही दृष्टव्य है—

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं ।

सो कम्मणिज्जराए विउलाए वड्डे साधू ॥ ६२७ ॥

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिभस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ६२८ ॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।

तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ६२९ ॥

इरियागोयर-सुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु ।

पुरिमचरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥ ६३० ॥

मज्झिमया दिट्ठबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य ।

तह्मा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥ ६३१ ॥

पुरिम-चरमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य ।

तो सव्व-पडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ॥ ६३२ ॥

अर्थ—भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिये सूत्र को पढ़ता है वह साधु उस विपुल कर्म निर्जरा में प्रवृत्त होता है।

प्रथम और अन्तिम जिनवरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है तथा अपराध होने पर मध्यम जिनवरों का प्रतिक्रमण करना धर्म है।

जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी को अतीचार होवें, मध्यम जिनवरों के काल में उसका ही प्रतिक्रमण करना होता है।

ईर्यापथ सम्बन्धी, आहार सम्बन्धी, स्वप्न आदि सम्बन्धी सभी दोष करें या न करें किन्तु पूर्व और चरम अर्थात् अंतिम तीर्थकरों के काल में सभी साधु सभी दोषों का नियम से प्रतिक्रमण करते हैं।

मध्य तीर्थकरों के शिष्य दृढ़बुद्धिवाले, एकाग्र मन सहित और मूढ़मन रहित होते हैं। इसलिए जिस दोष का आचरण करते हैं उसकी गह्रा करके ही शुद्ध हो जाते हैं।

पूर्व और चरम के अर्थात् आद्यन्त तीर्थकर के शिष्य तो जिस हेतु से चलचित्त और मूढ़मन वाले होते हैं इसलिए उनके सर्वप्रतिक्रमण है, इसमें अंधलक घोटक उदाहरण समझना।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आजकल के मुनि अंतिम तीर्थकर की परंपरा में हैं अतः उन्हें सर्व प्रतिक्रमण करना ही चाहिये।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अपने नियमसार ग्रंथ में निश्चय प्रतिक्रमण का लक्षण लिखते हुये कहा है—

मोक्षूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।

अप्याणं जो ज्ञायदि तस्स दु होदि ति पडिकमणं ॥ ८३ ॥

जो मुनि वचनरचना को छोड़कर और रागादिभाव से रहित होकर आत्मा का ध्यान करते हैं उन्हीं के यह निश्चय प्रतिक्रमण होता है। वहां ग्रंथ में गाथा ७७ से लेकर गाथा ९४ तक निश्चयप्रतिक्रमण नाम के पांचवें अधिकार में विस्तार से निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा है। वहां भी गाथा ९३ में कहा है कि—

‘ध्यान में लीन हुये संपूर्ण दोषों का परित्याग कर देते हैं इसलिये ध्यान ही सर्वातिचार का प्रतिक्रमण है।’ पुनः अंत में कहा है कि—“प्रतिक्रमण नाम के सूत्र में प्रतिक्रमण का जैसा वर्णन किया है। जो मुनि वैसा ही जानकर उसको भाते रहते हैं उनके उस काल में प्रतिक्रमण होता है।” इससे प्रतिक्रमण सूत्रों को पढ़कर प्रतिक्रमण करना होता है ऐसा अर्थ हो जाता है।

इन सब प्रकरणों से यह सिद्ध हुआ कि आजकल के मुनियों को ‘दैवसिक’, ‘रात्रिक’, ‘पाक्षिक’ आदि प्रतिक्रमण यथासमय करना ही चाहिये और निश्चय प्रतिक्रमण की भावना भाना चाहिये और हो सके तो अधिक समय तक ध्यान का अभ्यास करते हुये निश्चय प्रतिक्रमण का अवलंबन लेना चाहिये। क्योंकि सामायिक का समय जघन्य से दो घड़ी—४८ मिनट है, मध्यम

अत्रोच्यते—

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।

निंदा गरहा सोही अट्टविहो होइ विषकुंभो ॥ ३०६ अ० ॥

अप्रतिक्रमणं अप्रतिसरणं अपरिहारो अधारणा चेव ।

अणियत्ती य अनिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥ ३०७ अ० ॥ (युग्मम्)

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।

निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः ॥ ३०६ ॥

अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।

अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥ ३०७ ॥

से चार घड़ी है और उत्कृष्ट से छह घड़ी है । तीनों कालों में छह-छह घड़ी सामायिक में ध्यान का अभ्यास करना—निश्चय प्रतिक्रमण का अभ्यास करना चाहिये । यदि उससे भी अधिक ध्यान कर सकते हैं तब स्वयं ही दैवसिक आदि प्रतिक्रमण गौण हो जावेंगे । किंतु अन्य कार्य व्यासंग से प्रतिक्रमण छोड़कर आत्मवंचना नहीं करनी चाहिये । क्योंकि यह प्रतिक्रमण अट्टाईस मूलगुणों में एक मूलगुण है ।

उत्थानिका—इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिः निंदा गर्हा च शुद्धिः अष्टविधः विषकुंभः भवति) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुंभ हैं । (चैव अप्रतिक्रमणं अप्रतिसरणं अपरिहारः अधारणा अनिवृत्तिः अनिंदा अगर्हा च अशुद्धिः अमृतकुंभः) तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और शुद्धि नहीं करना ये आठ अमृतकुंभ हैं ।

(३२५)—प्रतिक्रमण प्रतिसरण अरु परिहार आदी,

निवृत्ति निंदा व गर्हा शुद्धि आदी ।

ज्ञानी समाधि युत मुनि के धारणा युत,

आठों प्रकार ये हैं विषकुंभ जैसे ॥ ३०६ ॥

(३२६)—अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अधारणा जो,

अनिवृत्ति अरु अपरिहार अशुद्धि हैं जो ।

निन्दारहित अरु अगर्हा आठ ये हैं,

गतराग योगि को अमृतकुम्भ ये हैं ॥ ३०७ ॥

आत्मख्यातिः—यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुम्भ एव किं तस्य विचारेण । यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाऽप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विषक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात् । अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि, अमृतकुम्भत्वं साधयति । तथैव च निरपराधो भवति चेतयिता । तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव । अतस्तृतीयभूमिर्नैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते, तत्प्राप्त्यर्थं एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः, ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुञ्चति अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतदुष्करं किमपि कारयति ।

वक्ष्यते चात्रैव—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।

ततो णियत्तए अप्पयं तु जो सो षडिकम्मणं । इत्यादि । ३०६-३०७ ॥

आत्मख्यातिः—प्रथम तो जो अज्ञानी जनों में पाये जाने वाले ऐसे साधारण अप्रतिक्रमण आदि हैं वे शुद्धात्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाले होने से—वहां शुद्धात्मा की सिद्धि न होने से वे स्वयं ही अपराध स्वरूप हैं अतः वे तो विषकुम्भ हैं ही हैं उनके बारे में विचार करने की तो यहां बात ही नहीं है । किंतु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि क्रियायें हैं वे संपूर्ण अपराधरूप विषदोष को दूर करने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ हैं तो भी प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण आदि से विलक्षण अप्रतिक्रमण आदिरूप—निश्चय प्रतिक्रमण आदि रूप जो तीसरी भूमि है उसको न देखते हुये—न प्राप्त करते हुये ऐसे मुनि के ये अपने कार्य को करने में असमर्थ होने से—शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप कार्य को न कर सकने से और उससे विषक्ष—पुण्यबंध रूप कार्य को करने वाले होने से ये विषकुम्भ ही हैं । क्योंकि अप्रतिक्रमण आदिरूप जो तीसरी भूमि है वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धि रूप होने से—शुद्धोपयोग रूप होने से सर्वअपराधरूपी विष दोषों का जड़मूल से नाश करने वाली है अतः वह तृतीय भूमि साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है । यहां इस प्रकार के कथन से आचार्यदेव व्यवहारनव से द्रव्यप्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को भी अमृतकुम्भ सिद्ध कर रहे हैं । बात यह है कि उस शुद्धात्मा की सिद्धिरूप—शुद्धोपयोगरूप तीसरी भूमि से ही वह आत्मा निरपराधी होता है । क्योंकि उस शुद्धोपयोग के अभाव में ये द्रव्य प्रतिक्रमण आदि क्रियायें भी अपराध ही हैं इसलिये तीसरी भूमि से ही निरपराधपना है यह बात सिद्ध हो जाती है और उस तृतीय भूमि की प्राप्ति के लिये ही ये द्रव्यप्रतिक्रमण आदि क्रियायें हैं अतः ऐसा मत मान लेना कि ये अध्यात्म शास्त्र प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को छुड़ाते हैं । किंतु ये द्रव्यप्रतिक्रमण आदि से आत्मा को छुड़ाते नहीं हैं प्रत्युत इनसे भिन्न अन्य भी प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण आदि के अगोचर ऐसी अप्रतिक्रमण आदिरूप—निश्चय प्रतिक्रमण आदि रूप जो कोई अवस्था है जो कि शुद्धात्मा की सिद्धि स्वरूप है और अति दुष्कर है—अति कठिन है ऐसी ही कोई एक अवस्था विशेष को ये अध्यात्मग्रंथ प्राप्त कराते हैं ।

(अज्ञात छंद) — अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां । प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनं ।

आत्मन्येवालानितं

चित्तमासंपूर्णविज्ञानधनोपलब्धे ॥ १८८ ॥

वसंततिलका—यत्र प्रतिक्रमणमेव विष प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधाकुटः स्यात् ।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥

इसी समयसार ग्रंथ में आगे गाथा ३८३ में स्वयं श्रीकुंदकुंददेव ने ही कहा है—

जो पूर्व में किये गये—बांधे गये अनेक विस्तार विशेष सहित शुभ-अशुभ कर्म हैं उन कर्मों से जो आत्मा को निवृत्त—दूर करता है वही आत्मा प्रतिक्रमण है । यह निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप है, इत्यादि ॥ ३०६-३०७ ॥

इसे ही कलशकाव्यों से और अधिक स्पष्ट करते हैं—

काव्यार्थ—इसलिये सुख से बैठे हुये जो प्रमादी जन हैं वे नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् जो निश्चयनय का आलंबन लेकर प्रमादी होकर क्रियाओं को छोड़ देते हैं उन्हें प्रताड़ना दी है । चपलता को निर्मूल करके, आलंबन छोड़कर परिपूर्ण रूप से विज्ञानधन आत्मा की उपलब्धि हो जाने से जिन्होंने अपने चित्त को आत्मा में ही स्थिर कर लिया है उनके लिये ही यह कथन है । १८८ ।

भावार्थ—जो शरीर को कष्ट न देकर अध्यात्म का सहारा लेकर प्रमादी बन जाते हैं वे 'इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः' नीति के अनुसार अध्यात्म स्वरूप शुद्धात्मा को तो प्राप्त नहीं कर पाते हैं और क्रियाकांड को छोड़कर पुण्य से भी वंचित रह जाते हैं । इससे भिन्न आत्मा में ही मन स्थिर करने वाले ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं ।

काव्यार्थ—जहां पर प्रतिक्रमण को ही विष कह दिया है वहां पर अप्रतिक्रमण ही अमृतकुंभ है । अतः मनुष्य नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है ? १८९ ।

भावार्थ—श्रीशुभचंद्राचार्य ने टीका में 'सुधाकुटः स्यात्' पद रखकर वैसा ही अर्थ किया है—कुट का अर्थ घट होता है । कहीं पर 'सुधा कुतः स्यात्' ऐसा पाठ भी मिलता है । उसका ऐसा अर्थ करना चाहिये—जहां प्रतिक्रमण ही विष कहा गया है वहां अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है ? अतः मुनिजन नीचे-नीचे गिरते हुये प्रमाद क्यों करते हैं ? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ते हैं ? अर्थात् प्रमाद को छोड़कर ऊपर-ऊपर चढ़ना चाहिये ।

सुखिया जीवन से युक्त प्रमादी साधु नष्ट हो जाते हैं ।

निर्मूल चपलता को करने वाले निज में खो जाते हैं ॥

आलंबन पर का छोड़ पूर्ण विज्ञान धनात्मा को ध्याके ।

निज मन को आत्मा में स्थिर करते आत्मोपलब्धि पाके ॥ १८८ ॥

प्रतिक्रमण जहाँ विष ही माना अप्रतिक्रमण अमृतघट है ।

तब अधोपतन कर साधु प्रमादी क्यों बनता विष का घट है ? ॥

क्यों निष्प्रमाद मय भावों से ऊपर-ऊपर नहीं चढ़ता है ? ।

प्रतिक्रमण करे सविकल्प मुनी शुक्लध्यानी नहीं करता है ॥ १८९ ॥

पृथ्वी छंद—प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः कषायभरणीरवादलसता प्रमादो यतः ।

अतः स्वरसनिभीर नियमतः स्वभावे भवन्मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥१९०॥

शार्दूलविक्रीडित—त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं

स्वे द्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।

बंधध्वंसमुपेत्यनित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छेच्छलच्—

चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥

काव्यार्थ—जो प्रमाद से सहित आलसी है वह शुद्धभाव वाला कैसे हो सकता है ? क्योंकि कषाय के भार की गुरुता से आलस्य का होना ही प्रमाद है । इसलिये अपने स्वात्मरस से अतिशय भरित अपने स्वभाव में नियंत्रित—निश्चल होते हुये मुनि ही परमशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं और वे शीघ्र ही कर्मों से छूटकर मुक्त हो जाते हैं । १९० ।

काव्यार्थ—जो मुनि अशुद्धता को करने वाले उन सपस्त भी परद्रव्यों को छोड़कर स्वयं अपने निजद्रव्य में रति को—राग को—प्रीति को प्राप्त होते हैं—स्वात्मद्रव्य में रमण करते हैं वे नियम से संपूर्ण अपराधों से रहित होते हुये बंध का ध्वंस करके नित्य ही उदयरूप, अपनी ज्योति से निर्मलतया उछलते हुये चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह से पूर्ण महिमाशाली होकर शुद्ध होते हुये मुक्त हो जाते हैं । १९१ ।

भावार्थ—जो महामुनि संपूर्ण परद्रव्य और विभावभावों से रहित होकर अपने स्वरूप में लीन हो जाते हैं । वे ही कर्मबंध से छूटकर चैतन्यस्वरूप अमृत को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाते हैं । यह स्वद्रव्य में रति सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर दसवें में बंध का नाश कर तेरहवें गुणस्थान में महिमाशाली स्वात्मज्योति को प्रगट कराकर अंत में मोक्ष को प्राप्त करा देती है ऐसा समझना ।

सप्रमादी मुनि निज शुद्धभाव वाला कैसे हो सकता है ? ।

क्योंकी कषाय युत गुरुता से आलस्य प्रमाद ही रहता है ॥

अतएव स्वरस से भरित मुनी ही शुद्ध स्वभाव को लभते हैं ।

वे शीघ्र कर्म बन्धन को तज कर सिद्ध शिला पर बसते हैं ॥१९०॥

जो मुनि अशुद्ध करने वाले पर द्रव्य छोड़ निज में रमते ।

निज में ही रति करते अपराध रहित हो बंध ध्वंस करते ॥

तब नित्य उदित निर्मल ज्योती से उछल रहे अमृत रस को ।

पीकर चैतन्य में लीन हुए वरते महिमामय शिवपद को ॥१९१॥

मंदाक्रांता—बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतन्—

नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धं ।

एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं

पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ १९२ ॥

इति मोक्षो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽंकः ॥ ८ ॥

काव्यार्थ—कर्मबंध को छेदकर जो अतुल और अक्षय मोक्ष सुख का अनुभव कर रहा है, नित्य उद्योत वाली अपनी सहज अवस्था को प्राप्त कर एकांत से शुद्ध है—परिपूर्णतया शुद्ध हो चुका है और जो एकाकार—एक ज्ञान मात्र आकार से परिणत निजरस की अतिशयता से अत्यंत गंभीर तथा धीर है ऐसा यह पूर्णज्ञान—केवलज्ञान अपनी अचल महिमा में लीन हुआ ज्वल्यमान हो रहा है ॥ १९२ ॥

भावार्थ—जब कर्मबंध का उच्छेद हो जाता है तब ज्ञानस्वरूप यह आत्मा नित्य ही उदयरूप ऐसी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उसी का नाम मोक्ष है। यह अवस्था चौदह गुणस्थान से परे सिद्ध भगवान् के ही प्रगट होती है। यहां समयसार में आत्मा के ज्ञानगुण की ही महिमा का विस्तार है अतः यह ज्ञान पूर्णरूप से प्रगट होकर अनंत-अनंतकाल के लिये प्रकाशमान रहता है।

अब इस रंगभूमि से यह मोक्ष निकल गया।

इस प्रकार श्रीअमृतचंद्रसूरि विरचित समयसार की व्याख्यारूप इस आत्मख्याति टीका में मोक्ष को प्ररूपित करने वाला यह आठवां अंक पूर्ण हुआ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरि कृत आत्मख्याति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा रचित इस "ज्ञानज्योति" भाषा टीका में मोक्ष को प्ररूपित करने वाला आठवां अधिकार पूर्ण हुआ।

जो कर्मबंध को छेद अतुल अक्षय शिव सुख अनुभव करता।

नित्योद्योतित निज सहज अवस्था पाकर पूर्ण शुद्ध रहता ॥

हो एकाकार स्वरस पूरित अत्यन्त धीर गंभीर बना।

ऐसा यह केवलज्ञान अचल निज महिमा में है लीन घना ॥ १९२ ॥

(उत्थानिका) —अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—

(३२५ ज०) पडिकमणं पडिसरणं, पडिहरणं धारणा णियत्ती य ।

णिंदा गरुहा सोहिय, अडुविहो होदि विसकुंभो ॥

(३२६ ज०) अपडिकमणं, अपडिसरणं, अपपरिहारो आधारणा चेव ।

आणेयत्ती य आणंदा, अगरुहा विसोहिय अमयकुंभो ॥ युग्मं ॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं, परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।

निंदा गर्हा शुद्धिः, अष्टविधो भवति विषकुंभः ॥ ३२५ ॥

अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।

अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥ ३२६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—पडिकमणमित्यादि । पडिकमणं प्रतिक्रमणं कृतदोषनिसकरणं । पडिसरणं प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं । पडिहरणं प्रतिहरणं मिथ्यात्वादिदोषेषु निवारणं धारणा पञ्चनमस्कारप्रभृतिमंत्र-प्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलंबनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा । णियत्तीय बहिरंगविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः । णिंदा आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निंदा गरुहा गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा । सोहिय दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धिः । इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकषायपरिणतिरूपाशुभो-

उत्थानिका—अब पूर्वपक्ष का परिहार करते हुये कहते हैं—

अन्वयार्थः—(पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य णिंदा गरुहा सोहिय अडुविहो विसकुंभो होदि) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि ये आठों प्रकार विषकुंभ हैं (अपडिकमणं अपडिसरणं अपडिहारो आधारणा चेव अणियत्ती अणिंदा अगरुहा य विसोहिय अमयकुंभो) अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अप्रतिहार, आधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठ अमृतकुंभ हैं ॥ ३२५—३२६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—‘पडिकमणं’ इत्यादि गाथाओं को कहते हैं—किये हुये दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है । सम्यक्त्व आदि गुणों में अपने को प्रेरित करना प्रतिसरण है । मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण करना प्रतिहरण है, पञ्चनमस्कार आदि मंत्र और प्रतिमा आदि बाह्य वस्तुओं के अवलंबन से चित्त को स्थिर करना धारणा है, बाह्य विषय और अंतरंग कषाय इनसे इच्छापूर्वक मन को हटाना निवृत्ति है, अपनी साक्षी पूर्वक दोषों को प्रगट करना निंदा है, गुरु की साक्षी पूर्वक दोष प्रगट करना गर्हा है और दोष के होने पर प्रायश्चित्त लेकर परिणाम विशुद्ध करना शुद्धि है । इन आठ भेदरूप जो शुभोपयोग है वह यद्यपि मिथ्यात्व,

पयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुंभो भवति । तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूत-
भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनविभावपरिणामशून्या, चिदानंदैकस्वभावविशुद्धात्मा लंबनभरितावस्था
निर्विकल्पशुद्धोपयोगलक्षणा, अपडिकमणं इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानिजनाश्रितनिश्चयप्रतिक्रमणादिरूपा
[निश्चयप्रतिक्रमणरूपा] तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणां विषकुंभ एवेत्यर्थः । किं
च विशेषः—अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रितं चेति । अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं
तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति । ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं
त्रिगुप्तिरूपं । तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षया यद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि
वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं । कस्मात् ? इति चेत्, समस्तशुभाशुभास्त्रयोदोषनिराकरण-
रूपत्वादिति । ततः स्थितं तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं । व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्यं ज्ञानिजनस्य
मोक्षकारणं भवति । व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन

विषय-कषाय की परिणतिरूप जो अशुभोपयोग है उसकी अपेक्षा से सविकल्प सरागचारित्र की अवस्था में अमृतकुंभ होता है फिर भी राग, द्वेष, मोह, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने और अनुभव में आये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध आदि समस्त परद्रव्यों के आलंबनरूप विभाव परिणामों से शून्य, चिदानंद एक स्वभाव विशुद्ध आत्मा के अवलंबन से भरित अवस्थारूप, निर्विकल्प शुद्धोपयोगलक्षणा जो तीसरी भूमि है जो कि 'अपडिकमणं' इस गाथा से कथित क्रम से ज्ञानी मुनियों के आश्रित निश्चय प्रतिक्रमणरूप है । इस तृतीय भूमि की अपेक्षा से वीतरागचारित्र में स्थित, महामुनियों के लिये विषकुंभ ही है । ऐसा अर्थ हुआ ।

इसी को विशेष रीति से कहते हैं—अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है—एक ज्ञानी जनों के आश्रित और दूसरा अज्ञानीजनों के आश्रित । अज्ञानी जनों के आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह विषयकषायों की परिणतिरूप है और ज्ञानी जीवों के आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान लक्षण तीनगुप्तिरूप है । जो ज्ञानीजनों के आश्रित अप्रतिक्रमण है, वह सरागचारित्रलक्षण शुभोपयोग की अपेक्षा से यद्यपि अप्रतिक्रमण कहलाता है फिर भी वीतरागचारित्र की अपेक्षा से वही अप्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण है । क्योंकि वही संपूर्ण शुभ-अशुभ आस्त्रयोदोषों का निराकरण करने वाला है । इसलिये यह सिद्ध हो गया कि यह अप्रतिक्रमण ही निश्चय प्रतिक्रमण है । यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा से अप्रतिक्रमण शब्द से वाच्य है और ज्ञानी मुनियों के लिये मोक्ष का कारण है । व्यवहार प्रतिक्रमण यदि शुद्धात्मा को उपादेय करके उसी निश्चय प्रतिक्रमण के साधक भाव

विषयकषायवंचनार्थं करोति तदपि परंपरया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादि सुखानिमित्तपुण्यकारणमेव । यत्पुनरज्ञानिजनसंबन्धिमिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव । एवं प्रतिक्रमणाद्यष्ट-विकल्परूपः शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पावस्थायाममृतकुंभो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षा-रूपः संयमोपेक्षया विषकुंभ एवेति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतं ॥ ३२५—३२६ ॥

तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवद्रागा-दिरहितशांतरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ द्वाविंशति

गाथाभिश्चतुर्भिरन्तराधिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्तः ॥ ९ ॥

से विषयकषायों की वंचना करने के लिये किया जाता है तो वह भी परंपरा से मोक्ष के लिये कारण होता है अन्यथा स्वर्ग आदि सुख के निमित्त ऐसे पुण्य का ही कारण होता है । जो पुनः अज्ञानी जनों से संबंधित मिथ्यात्व, विषय-कषाय की परिणतिरूप अप्रतिक्रमण है वह नरक आदि के दुःख का कारण ही है । इस प्रकार प्रतिक्रमण आदि आठ भेदरूप जो शुभोपयोग हैं वह यद्यपि सविकल्प अवस्था में अमृतकुंभ है फिर भी सुख-दुःखादि में समताभावस्वरूप परमोपेक्षा नाम के संयम की अपेक्षा से विषकुंभ ही है । इस व्याख्यान की मुख्यता से चतुर्थ स्थल में आठ गाथायें हुई ॥ ३२५—३२६ ॥

यहां ऐसा होने पर शृंगाररहित पात्र के समान रागादि से रहित शांतरस से परिणत शुद्धात्मारूप से मोक्षतत्त्व निकल गया ।

इस प्रकार श्रीजयसेनाचार्य कृत समयसार की व्याख्या में शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की टीका में बत्तीस गाथाओं द्वारा चार अंतराधिकारों से यह नवमां मोक्षाधिकार पूर्ण हुआ ।

सूचना—श्री अमृतचंद्रसूरि ने "जीवाजीवाधिकार" एक माना है, अतः उनके अनुसार यह आठवां अधिकार है और श्रीजयसेनाचार्य ने जीवाधिकार-अजीवाधिकार अलग-अलग रखे हैं, अतः उनके अनुसार यह नवमा अधिकार है ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभूत ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत

आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को

प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमतीकृत इस "ज्ञानज्योति"

नामा भाषा टीका में मोक्ष को प्ररूपित करने वाला

यह आठवां (नवमा) अधिकार पूर्ण हुआ ।

मोक्षतत्त्व का सार

बंध पदार्थ के बाद पूर्ण ज्ञान, वो ही हुई प्रज्ञारूपी करोंत उससे वह ज्ञान बंध और पुरुष को पृथक् करके पुरुष को साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ जयवंत प्रवर्त रहा है।

जैसे कोई पुरुष बंधन से बंधा हुआ बंधन के स्वरूप को जानता है तो इतने मात्र से वह छूटता नहीं है उसी प्रकार से जो पुरुष कर्म के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग भेदों को जानता है तो भी वह कर्म से छूट नहीं सकता। जो स्वयं रागादि को दूर करके शुद्ध हो जाता है वही मोक्ष पाता है। अर्थात् आत्मा और बंध का पृथक् करना मोक्ष है। उसमें बंध के स्वरूप को जानने मात्र से मोक्ष नहीं होता है इसलिये ज्ञान मात्र से मोक्ष मानना गलत है।

आत्मा और बंध के पृथक् करने को यह प्रज्ञा तीक्ष्ण छैनी है। जो महामुनि हैं वे सावधान हुये आत्मा और कर्म इन दोनों के मध्य के संधी बंधन को जानकर उसमें यत्न से उस छैनी को चलाते हैं। यह प्रज्ञा छैनी शीघ्र ही सब तरह से आत्मा और कर्म को भिन्न-भिन्न कर देती है। अर्थात् यह भेदज्ञान जीव और बंध को अपने-अपने लक्षणों से इस तरह भिन्न कर देता है कि बंध तो छिदकर अलग हो जाता है और शुद्ध आत्मा का ग्रहण हो जाता है। यहाँ "प्रज्ञाछैनी" शब्द से निर्विकल्प ध्यान अर्थात् शुक्लध्यान को ही लेना चाहिये।

जिस प्रकार प्रज्ञा—विशिष्ट भेदविज्ञान के द्वारा उस आत्मा को और बंध को पृथक् किया जाता है उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही स्वयं अपनी शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिये। इसलिये—मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। जो मैं हूँ सो सर्वविशुद्ध चिन्मात्र स्वरूप हूँ, ज्ञान ज्योति स्वरूप अनंत गुणों का पुंज हूँ।

जो आत्मा सापराध है वह तो निरन्तर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मों से बन्धता है, और जो निरपराध है वह बन्धन को कभी नहीं प्राप्त करता है। वह अच्छी तरह शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला होता है। अर्थात् जो शुद्धोपयोग में स्थित हैं वे ही साधु निरपराधी हैं। यहाँ शुद्धोपयोग से निर्विकल्प ध्यान—शुक्लध्यान ही विवक्षित है ऐसा समझना।

प्रश्न—यदि साधु निरपराधी है तो उसे प्रतिक्रमण आदि भी नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—हां, उसका स्पष्टीकरण किया है—

"प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, और शुद्धि ये आठ प्रकार तो विषकुंभ हैं। और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार अमृत कुंभ हैं।"

अमृतचंद्रसूरि की टीका—“यस्तावदज्ञानीजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादि स शुद्धात्मसिद्धय-
भावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुंभ एव किं तस्य विचारेण ?—
“द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुंभत्वं साधयति।”

प्रथम तो अज्ञानी जनों को साधारण ऐसे अप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण न करना आदि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाले हैं इसलिये स्वयं ही अपराधरूप होने से विषकुंभ ही हैं उनके विचार करने की तो यहां कोई बात ही नहीं है क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं। और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को कम करने में समर्थ होने से अमृतकुंभ हैं। तथापि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण इन दोनों से विलक्षण, ऐसी अप्रतिक्रमण आदि रूप तीसरी भूमिका—निर्विकल्पध्यान—शुक्लध्यान को न प्राप्त करने वाले पुरुष के लिये वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि क्रियायें संपूर्ण अपराध नष्ट करने रूप अपना कार्य करने में असमर्थ हैं। साक्षात् मोक्ष प्राप्त नहीं कराती हैं। अतः वे पुण्य बंध का कार्य करने से विषकुंभ ही हैं क्योंकि जो अप्रतिक्रमण आदि रूप तीसरी भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने से समस्त अपराध रूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करने वाली होने से साक्षात् स्वयं अमृतकुंभ है। वह घातिया कर्मों को नष्ट कर देती है।

इस तीसरी भूमि—वीतरागदशा को प्राप्त करने के लिये व्यवहार से द्रव्य प्रतिक्रमण आदि को भी अमृतकुंभ सिद्ध किया गया है। “ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति” इसलिये ऐसा नहीं मान लेना कि निश्चयनय प्रधान शास्त्र द्रव्य प्रतिक्रमण आदि को छोड़वाते हैं।

यहां शुद्धोपयोग, निर्विकल्पध्यान और वीतरागपरमसमाधि आदि से शुक्लध्यान ही विवक्षित है। देखिये इसी समयसार की टीका में—“यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति।— ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि निश्चयश्रुतकेवली भवति ? तत्र, यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः।”

जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदन ज्ञान के बल से शुद्धात्मा को जानते हैं—अनुभव करते हैं वे निश्चयश्रुतकेवली होते हैं—तब तो स्वसंवेदन ज्ञान के बल से इस काल में भी निश्चयश्रुतकेवली हो सकते हैं ? ऐसा नहीं है क्योंकि पूर्व के मुनियों में जैसा शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदन ज्ञान होता था आजकल वैसा नहीं है किंतु उनके योग्य धर्मध्यान है ऐसा समझना।

शंका यह होती है कि प्रवचनसार की टीका में सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग माना है। वहां तो शुक्लध्यान नहीं है। इसका समाधान यह संभव है कि सातवें गुणस्थान के दो भाग हैं—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्त में भेदरत्नत्रय रहता है अतः वहां शुद्धोपयोग ही है और सविकल्पध्यान है तथा दूसरे पाये में—सातिशय अप्रमत्त में शुद्धोपयोग होता है वहीं निर्विकल्पध्यान संभव है, और यह सातिशय अप्रमत्त अवस्था उन्हीं के होती है जो श्रेणी आरोहण में आठवें, नवमें आदि गुणस्थानों में चढ़ने के सन्मुख हैं।

समयसार गाथा १२ अ०, गाथा १४ अ० की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसी अर्थ को बताती हुई एक पंक्ति है—

“जे—ये पुरुषाः दु—पुनः अपरमे—अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ता-प्रमत्तापेक्षया वा भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा—स्थिताः।”

जो पुरुष अपरम अर्थात् अशुद्ध अवस्था में स्थित हैं। ये अशुद्ध अवस्था कहां तक है ? उसे ही यहां स्पष्ट किया है कि असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा या श्रावक की अपेक्षा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षण वाले शुभोपयोग में या भेदरत्नत्रय लक्षणवाले—शुभोपयोगी प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानों में जो स्थित हैं वे अपरमभाव में स्थित हुये माने जाते हैं।

यहां अप्रमत्त गुणस्थान में जो भेदरत्नत्रय माना है वह पहले पाये की अपेक्षा ही है। इससे वही समझ में आता है कि सप्तम गुणस्थान के द्वितीय पाये में ही शुद्धोपयोग व निर्विकल्पध्यान है जो कि शुक्लध्यान के समुख हुये महामुनियों के ही होता है। इसलिये वीतरागनिर्विकल्प ध्यान को शुक्लध्यान नाम देना या वीतराग धर्मध्यान नाम देना हो सकता है क्योंकि मुनिराज सातिशय अप्रमत्त अवस्था में पहुंचकर आठवें में जाते ही जाते हैं ऐसा नियम है।

धवला पु० १३ और मूलाचार ग्रंथ में ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान माना है उनकी अपेक्षा सातिशय अप्रमत्त में और आठवें, नवमें, दशवें गुणस्थान में वीतराग धर्मध्यान होता है ऐसा समझना चाहिये।

इससे अर्थ यही होता है कि महामुनि जब तक शुद्धोपयोग रूप वीतरागध्यान में स्थिर नहीं होते हैं तब तक तो उन्हें प्रतिक्रमण आदि करने ही पड़ते हैं और वे तब तक अमृतकुंभ हैं, दोषों से छुड़ाने वाले हैं। उसके आगे पहुंचकर जब वे शुद्ध आत्मा का ध्यान करने में समर्थ हो जाते हैं तब वे प्रतिक्रमण आदि उनके लिये विषकुंभ हैं चूंकि वे उन्हें ध्यान में बाधक बनकर सराग चारित्र में ही रोके रहते हैं किन्तु इनसे पूर्व में यदि कोई साधु प्रमादी होकर प्रतिक्रमण आदि न करे तो उन आवश्यक क्रियाओं का न करना ही उसके लिये विषकुंभ बन जाता है।

इसी बात को और देखिये—

जयसेनाचार्य कृत टीका—किये हुये दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। सम्यक्त्वादि गुणों में अपने को प्रेरित करना प्रतिसरण है, मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण करना प्रतिहरण है, पंचनमस्कारादि मंत्र और जिन प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों का अवलंबन लेकर चित्त को स्थिर करना धारणा है। ऐसे ही निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि हैं। ये आठ प्रकार का शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषयकषाय परिणतिरूप अशुभोपयोग की अपेक्षा से सविकल्परूप सरागचारित्र अवस्था में अमृतकुंभ होते हैं। तथापि राग-द्वेषादि समस्त परद्रव्य के अवलंबन रूप विभाव परिणाम से शून्य, चिदानंदैक स्वभाव विशुद्धात्मा के अवलंबन से पूर्ण, निर्विकल्प रूप शुद्धोपयोग लक्षण जो तीसरी भूमि है उसकी अपेक्षा से वीतराग चारित्र में स्थित हुये मुनियों के लिये विषकुंभ ही हैं। ज्ञानीजनों के आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह त्रिगुप्तिमय

परम सप्ताधिरूप—ध्यानरूप है। इसी का नाम निश्चय प्रतिक्रमण है। यह सम्पूर्ण शुभ और अशुभरूप आस्त्रवों को रोकने वाला है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि जो प्रतिक्रमण आदि आठ भेदरूप शुभोपयोग है वह सविकल्प अवस्था में अमृतकुंभ है और ध्यानरूप निर्विकल्प अवस्था में विषकुंभ ही है। अथवा उस निर्विकल्पध्यान में ये विकल्परूप प्रतिक्रमण आदि संभव ही नहीं हैं। जैसे कि सूर्य के प्रकाश में अंधकार संभव नहीं है। यदि इन प्रतिक्रमण आदि विकल्पों को उस समय माना जाय तो निर्विकल्प ध्यान ही नहीं बनेगा। अतः जैसे अंधकार में कुछ देखने के लिये दीपक आदि का सहारा लिया जाता है वैसे ही निर्विकल्प ध्यान में न पहुंचने तक सविकल्प अवस्था में छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि दोषों के क्षालन हेतु प्रतिक्रमण आदि शुभोपयोग की क्रियाओं को करते ही हैं।

श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी कलशकाव्य में मधुर शब्दों में कहा है—

उन्होंने सुख से बैठे हुये प्रमादी जीवों को तो ताड़ना की ही है, किन्तु जो निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रमादी होकर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको भी उद्यम में लगाया है।

यथा—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुटः स्यात्।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥

हे भाई ! जहां प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहां अप्रतिक्रमण को ही अमृतकुंभ कहा है। इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमादी होकर ऊँचे-ऊँचे क्यों नहीं चढ़ता है ?

कषाय के भार के भारी होने को आलस्य कहा है उसे ही प्रमाद कहते हैं। इसलिये प्रमाद युक्त आलस्यभाव शुद्ध भाव कैसे हो सकता है ? इसलिये आत्मैक रस से भरे स्वभाव में निश्चल हुये मुनि ही परम शुद्धता को प्राप्त होते हैं और वे ही थोड़े समय में कर्मबंध से छूट जाते हैं।

जो महामुनि निश्चय से अशुद्धता को करने वाले संपूर्ण पर द्रव्यों को छोड़कर आप अपने निज द्रव्य में लीन होते हैं वे ही नियम से सब अपराधों से रहित होते हुये बंध का नाश कर देते हैं।

आज यह अवस्था संभव नहीं है अतः शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण की भावना भाते हुये द्रव्यप्रतिक्रमण आदि शुभ क्रियाओं को करते रहना ही श्रेयस्कर है ऐसा इस मोक्षतत्त्व के अधिकार को पढ़ने का सार है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत इस "ज्ञानज्योति" नामा भाषा टीका में मोक्ष को प्ररूपित करने वाला यह आठवां (नवमा)

अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥ ९ ॥

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानं ।

मंदाक्रांताछंद—नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्

दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रवृत्तेः ।

शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिष-

टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १९३ ॥

अनुष्टुप् छंद—कर्तृत्वं न स्वभावोस्य चित्तो वेदयितृत्ववत् ।

अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ १९४ ॥

अब यहां सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है ।

यहां रंगभूमि में जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पात्र आये थे, उनका नृत्य हुआ । ये सब क्रम-क्रम से अपना-अपना स्वरूप दिखलाकर निकल गये । अब सर्वस्वांग से रहित, एकाकार हुआ सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है ।

वहां प्रथम ही ज्ञानपुंज की महिमा प्रगट करते हुये मंगल काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—कर्ता-भोक्ता आदि समस्त भावों को सम्यक् प्रकार से नष्ट करके पद-पद पर बंध-मोक्ष की कल्पना से दूर होता हुआ शुद्ध-शुद्ध यह ज्ञानपुंज स्फुरायमान हो रहा है । यह अपने रस के प्रवाह से परिपूर्ण पुण्यस्वरूप—प्रशस्त—पवित्र अचल तेज से टंकोत्कीर्ण अपनी महिमा को प्रगट कर रहा है ॥ १९३ ॥

भावार्थ—आत्मा ही ज्ञान पुंज है चूंकि यहां समयसार में आत्मा के अनंत गुणों की विवक्षा न करके मात्र ज्ञानगुण को ही प्रमुख किया है । यही ज्ञान एक ऐसा है जो अनंतगुणों का मूल्यांकन करने-कराने में समर्थ है । आत्मा से यदि ज्ञान को अलग कर दें तो आत्मा अचेतन—जड़—पुद्गल हो जावेगी किंतु आज तक न ऐसा हुआ है और न होगा ही । यहां पर जब आत्मा कर्ता, कर्म आदि विभाव भावों से रहित—बंध-मोक्ष कल्पना से भी परे परमशुद्ध हो जाती है तभी पूर्ण ज्ञानमय—केवलज्ञान मय हो जाती है । शुद्ध निश्चयनय से प्रत्येक आत्मा कर्मों के

शंभु छंद—कर्ता भोक्तादि समस्त भाव सम्यक् प्रकार जो नष्ट करे ।

प्रतिपद पर बंध-मोक्ष की भी कल्पना दूर सुस्पष्ट करे ॥

निज रस प्रवाह से पूर्ण पुण्यसंयुत प्रशस्त पावन रहता ।

ऐसा यह ज्ञानपुंज प्रस्फुट हो अचल तेज अपना कहता ॥ १९३ ॥

चैतन्य स्वरूपी आत्मा का वेदन करने वाले के सम ।

कर्तापन का नहीं है स्वभाव इसमें होता है मिथ्यापन ॥

अज्ञान भाव युत मोह निमित्त से कर्ता यह बन जाता है ।

अज्ञान दूर कर वही जीव कर्तृत्व भाव तज पाता है ॥ १९४ ॥

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति—

द्वयं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।

जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ अ० ॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।

तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ अ० ॥

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।

यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३०८ ॥

जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।

ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३०९ ॥

निमित्त से हुये विभावभावों से रहित पूर्ण शुद्ध सिद्ध भगवान् है, ज्ञानमय है ऐसा चितवन करते हुये उसे प्राप्त करने के लिये—प्रगट रूप से भगवान् बनाने के लिये भेद अभेद रत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिये ।

काव्यार्थ—चैतन्य आत्मा का वेदन—अनुभव करने वाले के समान ही कर्तापन का स्वभाव नहीं है । यह अज्ञान से ही कर्ता होता है और अज्ञान के अभाव से अकर्ता हो जाता है ॥ १९४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा न कर्मों का भोक्ता है और न कर्ता ही है । यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व इसका स्वभाव नहीं है । यह तो संसार में अज्ञान से मोहनीय कर्म के निमित्त से ही कर्ता-भोक्ता हो रहा है जब यह अज्ञान से दूर हो जाता है तब कर्तृत्व-भोक्तृत्व से छूट कर पूर्ण शुद्ध हो जाता है ।

उत्थानिक—यह आत्मा अकर्ता है यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

अन्वयार्थ—(द्रव्यं यत् गुणैः उत्पद्यते तैः तत् अनन्यत् जानीहि) द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है वह उन गुणों से अभिन्न है ऐसा तुम जानो (इह यथा कटकादिभिः पर्यायैः तु कनकं अनन्यत्) लोक में जैसे कड़े आदि पर्यायों से सुवर्ण अभिन्न है । (जीवस्य अजीवस्य तु ये परिणामाः तु सूत्रे दर्शिताः) वैसे ही जीव और अजीव के जो-जो परिणाम सूत्र ग्रंथों में दिखलाये गये हैं (तैः तं जीवं अजीवं वा अनन्यं विजानीहि) उन-उन परिणामों से उस जीव को अथवा

(३२७)—जब जो द्रव्य स्वयं के जिनगुण से उत्पन्न हुए हैं ।

उन गुण से वे द्रव्य कदाचित् भी नहिं भिन्न हुए हैं ॥

जैसे सोना कड़ा आदि पर्याय रूप भी बनता ।

वह अपने स्वर्णत्व भाव को नहीं तथापी तजता ॥ ३०८ ॥

(३२८)—ऐसे ही जो जीव अजीवों के परिणाम कहे हैं ।

उन परिणामों के संग में वे द्रव्य अभिन्न रहे हैं ॥

द्रव्यों का परिणामन द्रव्य को तजकर नहिं रह सकता ।

इसीलिए पर्यायों से नहिं द्रव्य भिन्न रह सकता ॥ ३०९ ॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।

उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० अ० ॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।

उप्पंजंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ अ० ॥ (चतुष्कम्)

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।

उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३१० ॥

कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।

उत्पद्यन्ते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यन्तेऽन्या ॥ ३११ ॥

आत्मख्यातिः—जीवो ही तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न

अजीव को अभिन्न ही तुम जानो । (यस्मात् कुतश्चित् अपि न उत्पन्नः तेन सः आत्मा कार्यं न) जिस हेतु से किसी भी कारण से वह उत्पन्न नहीं हुआ है अतः वह आत्मा कार्य नहीं है (किंचित् न उत्पादयति तेन सः कारणं अपि न भवति) और वह किसी को उत्पन्न नहीं करता है अतः वह आत्मा कारण भी नहीं है । (कर्म प्रतीत्य कर्ता तथा च कर्तारं प्रतीत्य कर्माणि उत्पद्यन्ते) कर्म का आश्रय लेकर यह आत्मा कर्ता हो जाता है और वैसे ही कर्ता का आश्रय लेकर कर्म उत्पन्न हो जाते हैं (तु नियमात् अन्या सिद्धिः न दृश्यते) ऐसा ही नियम होने से अन्य किसी भी प्रकार से कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती है ॥ ३०८ से ३११ ॥

आत्मख्याति—यह जीव तो क्रम से निश्चित अपने आत्म परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है न कि अजीव, ऐसे ही अजीव भी क्रम से निश्चित अपने अचेतन परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है न कि जीव, क्योंकि सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के साथ ही तादात्म्य संबंध रखते हैं जैसे कि कंकण आदि परिणामों-पर्यायों के साथ सुवर्ण तादात्म्य संबंध

(३११)—आत्मा तो नहीं किसी अन्य से भी उत्पन्न हुआ है ।

इसीलिए वह किसी अन्य का कार्य कभी न हुआ है ॥

किसी अन्य को भी उत्पन्न नहीं आत्मा करता है ।

इसीलिए वह पर का कारण कभी नहीं बनता है ॥ ३१० ॥

(३१०)—कर्मों का आश्रय लेकर कर्ता भी बन जाता है ।

कर्मों के ही कारण आत्मा जग में दुःख पाता है ॥

कर्ता का आश्रय लेकर आत्मा में कर्म उपजते ॥

अन्य प्रकारों से कर्ता कर्मादि सिद्धि नहीं बनते ॥ ३११ ॥

सिद्ध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् । तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति । तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति, अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ॥ ३०८ । ३०९ । ३१० । ३११ ॥

शिखरिणी छंद—अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः

स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिरक्षुरितभुवनाभोगभवनः ।

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः

स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोपि गहनः ॥ १९५ ॥

रखता है । इस प्रकार निश्चित ही जीव का अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुये भी अजीव के साथ कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता है क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने से भिन्न द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव नहीं है—कार्य-कारण भाव नहीं है । अतः एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होने पर अजीव जीव का कर्म नहीं हो सकता है और जब अजीव जीव का कर्म नहीं सिद्ध हुआ तब कर्ता और कर्म में अन्य की अपेक्षा की सिद्धि नहीं होने से यह जीव अजीव का कर्ता है यह भी सिद्ध नहीं होता है इसलिये यह जीव कर्मों का अकर्ता ही ठहरता है ॥ ३०८-३०९-३१०-३११ ॥

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से यह जीव अपने शुद्ध या अशुद्ध परिणामों से परिणत होता है और पुद्गल सदा अपने रूप, रस, गंधादि परिणामों से ही परिणत होता है । प्रत्येक द्रव्य उपादान रूप से अपने-अपने परिणामों से ही परिणमन करते रहते हैं । अतः अजीव—पुद्गल कभी जीव का कर्म नहीं बनता है और जीव भी कभी अजीव—पुद्गल का कर्ता नहीं होता है । यहां उपादान की अपेक्षा यह बात घटानी चाहिये क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक भाव से जीव का पुद्गल कर्म भी है और यह जीव उन पुद्गल कर्मों का कर्ता भी है । यहां गाथा में निमित्त-नैमित्तिक भाव को गौण कर आत्मा को कर्मों का अकर्ता सिद्ध किया है । यदि एकांत से ऐसा मान लिया जाये तो संसार का ही अभाव हो जावेगा और संसार न होने से संसार पूर्वक जो मोक्ष है उसकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी । अतः सर्वत्र अनेकांत से तत्त्व को समझना चाहिये । और प्रत्येक गाथा में पूर्वापर संबंध भी जोड़ते रहना चाहिये । इसी ग्रंथ में स्वयं आचार्यदेव ने निमित्त-नैमित्तिक संबंध से कर्ता-कर्म व्यवस्था मानी है । अब इसे ही कलशकाव्य से कहते हैं—

काव्यार्थ—यह जीव अकर्ता है ऐसा सिद्ध हो गया । इस प्रकार से यह विशुद्ध आत्मा अपने निजरस से स्फुरायमान चैतन्य ज्योति के द्वारा समस्त लोक-रूपी गृह को व्याप्त करने वाला है फिर भी संसार में जो कर्म प्रकृतियों के साथ इसके बंध हो रहा है वास्तव में अज्ञान की ही वह कोई एक गहन—विचित्र महिमा स्फुरित हो रही है ऐसा समझना ॥ १९५ ॥

यह जीव अकर्ता सिद्ध हुआ निजरस से युत शुद्धात्मा है ।

चिज्ज्योती के द्वारा त्रिभुवन गृह व्याप्त करे परमात्मा है ॥

फिर भी जग में जो कर्मप्रकृति संग बन्धभाव को करता है ।

अज्ञान की ही कोई महिमा समझो वह प्रस्फुट करता है ॥ १९५ ॥

(भूमिका) —अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानं । संसारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्व-भोक्तृत्वबंधमोक्षादिपरिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिकारणभूतपरिणामशून्य एवेति । द्रवियं जं उप्पज्जदि इत्यादिगाथामादि कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यंतं मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यानं करोति । तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं शुद्धस्यापि यद् ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिः बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति कथनार्थं चेदा दु पयडिअहुं इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयं । अतः परं निश्चयेन भोक्तृत्वाभावज्ञापनार्थं अण्णाणी कम्मफलं इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण विकुण्ठादि इत्यादि सूत्रद्वयं कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकायां समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका) —अथ निश्चयेन कर्मणां कर्ता न भवति इत्याख्याति—

(३२७ ज०) द्रवियं जं उप्पज्जदि, गुणेहि तं तेहि जाणसु अणण्णं ।

जह कडयादीहिं दु, पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ।

द्रव्यं यदुत्पद्यते, गुणैस्तत्तैर्जानीहानन्यत् ।

यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३२७ ॥

भावार्थ—यह आत्मा यद्यपि निश्चयनय से या उपादान रूप से पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है फिर भी निमित्त रूप से या व्यवहारनय से जो कर्मों का बंध हो रहा है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है । यह अज्ञान जब तक मोह सहित है तभी तक कर्मबंध है अतः मोहसहित अज्ञान को दूर कर रागादिभावों से परिणमन न करते हुये शुद्धोपयोग की सतत भावना करते रहना चाहिये ।

यह कलश काव्य अगली गाथाओं के लिये उत्थानिकारूप है ।

श्रीजयसेनाचार्यकृत सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार की भूमिका—

अब सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है । संसार पर्याय का आश्रय लेकर अशुद्ध उपादानरूप से और अशुद्धनिश्चयनय से यद्यपि यह आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंध-मोक्ष आदि परिणाम से सहित है तो भी सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध उपादानरूप से और शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंध-मोक्ष आदि के लिये कारणभूत परिणामों से शून्य ही है । इसे ही 'द्रवियं जं उप्पज्जदि' इत्यादि गाथा को आदि में करके चौदह गाथा पर्यंत मोक्ष पदार्थ की चूलिका का व्याख्यान करेंगे । उनमें से सर्वप्रथम निश्चय से कर्म-कर्तृत्व के अभाव की मुख्यता से चार गाथायें कहेंगे । इसके बाद शुद्धजीव को भी जो ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों के साथ बंध होता है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है ऐसा कहने के लिये 'चेदा दु पयडिअहुं' इत्यादि चार प्राकृत श्लोक कहेंगे । इसके बाद निश्चय से भोक्तृत्व का अभाव बतलाने के लिये 'अण्णाणी कम्मफलं' इत्यादि चार गाथायें कहेंगे । पुनः मोक्ष चूलिका का उपसंहार करते हुये 'विकुण्ठादि' इत्यादि दो गाथायें कहेंगे । इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की चूलिका में यह समुदाय पातनिका हुई ।

उत्थानिका—निश्चयनय से यह जीव कर्मों का कर्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जं द्रवियं गुणेहि उप्पज्जदि तं तेहि अणण्णं जाणसु) जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उसे तुम उन गुणों से अभिन्न ही जानो (जह इह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं

- (३२८ ज०) जीवस्साजीवस्स य, जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा, तेहिमणण्णं वियाणीहि ॥
- (३२९ ज०) ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जह्वा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि, कारणमवि तेण ण सो होदि ॥
- (३३० ज०) कम्मं पडुच्च कत्ता, कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जन्ते णियमा, सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥
- जीवस्याजीवस्य तु, ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
ते जीवमजीवं वा, तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३२८ ॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो, यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३२९ ॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता, कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यन्ते नियमात्, सिद्धिस्तु न दृश्यन्तेऽन्या ॥ ३३० ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा कनकमिह कटकादिपर्यायैः सहानन्यदभिन्नं भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति । कैः सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तद्द्रव्यं तैर्गुणैः सहानन्यदभिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता । जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामाः पर्याया देशिताः कथिताः सूत्रे परमागमे तैः सह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टान्तेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदभिन्नं विजानीहीति द्वितीयगाथा गता । यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन

अणण्णं) जैसे लोक में अपने कड़े आदि पर्यायों से सुवर्ण अभिन्न ही है (जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा सुत्ते देसिदा) वैसे ही जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्रग्रन्थ में कहे गये हैं (तेहिं तं जीवं वा अजीवं अणण्णं वियाणीहि) उन परिणामों से उन जीव और अजीव को अभिन्न ही समझो (जह्वा आदा ण कुदोचि उप्पण्णो तेण सो ण कज्जं) जिस कारण आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है इस हेतु से वह 'कार्य' नहीं है (किंचिवि ण उप्पादेदि तेण सो कारणं अवि ण होदि) वह आत्मा कुछ भी उत्पन्न नहीं करता है अतः वह 'कारण' भी नहीं होता है । क्योंकि (कम्मं पडुच्च कत्ता तह कत्तारं पडुच्च कम्माणि) कर्म का आश्रय लेकर कर्ता होता है वैसे ही कर्ता को आश्रय करके कर्म (उप्पज्जन्ते णियमा) उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है (अण्णा दु सिद्धी ण दिस्सदे) क्योंकि अन्य प्रकार से कोई सिद्धि नहीं देखी जाती है ॥ ३२७ से ३३० ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे लोक में सुवर्ण कड़े आदि पर्यायों के साथ अभिन्न होता है—पृथक् नहीं होता है वैसे ही द्रव्य भी जो अपने-अपने गुणों के साथ उत्पन्न होता है—परिणमन करता है वह द्रव्य उन गुणों के साथ अनन्य—अभिन्न ही है ऐसा तुम जानो, यह प्रथमगाथा का अर्थ हुआ । जो ये जीव या अजीव के परिणाम या पर्याय परमागम में—सिद्धांत ग्रंथों में कही गई हैं, पूर्वोक्त सुवर्ण के दृष्टान्त से उन-उन पर्यायों के साथ उस जीव द्रव्य को या उस अजीवद्रव्य को अनन्य—अभिन्न ही समझो । यह दूसरी गाथा

नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्नः—कर्मणा न जनितः तेन कारणेन कर्मनोकर्मपिक्षयात्मा कार्यं न भवति । न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति । तेन कारणेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति, यतः कर्मणां कर्ता मोक्षकश्च न भवति ततःकारणाद् बंधमोक्षयोः शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता । कर्मं पङ्क्तं कर्ता कर्तारं तह पङ्क्तं कम्पाणि उप्पज्जते णियमा यतः पूर्वं भणितं सुवर्णद्रव्यस्य कुंडलपरिणामेनैव सह जीवपुद्गलयोः स्वपरिणामैः सहैवानन्यत्वमभिन्नत्वं । पुनश्चोक्तं कर्मनोकर्मभ्यां कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणां नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीवः कर्मकर्ता । तथा कर्माणि चोत्पद्यते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमात्रिश्चयात् संदेहो नास्ति सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थः ? परस्परनिमित्तभावं विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये सिद्धिर्निष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां च कर्मत्वं न दृश्यते ततःस्थितं शुद्धनिश्चयनयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता । एवं निश्चयेन जीवः कर्मणां कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतं ॥ ३२७ । ३२८ । ३२९ । ३३० ॥

हुई है । क्योंकि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से नर, नारक आदि विभाव पर्याय रूप से कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ है—यह कर्मों से उत्पन्न नहीं होता है, इसी कारण से यह आत्मा कर्म और नोकर्म की अपेक्षा से कार्यरूप नहीं है । और यह आत्मा उपादान रूप से उन कुछ भी कर्म और नोकर्म को उत्पन्न नहीं करता है, इस हेतु से यह इन कर्म और नोकर्म का कारण भी नहीं होता है । जिस हेतु से यह आत्मा कर्मों का करने वाला और कर्मों का छुड़ाने वाला नहीं होता है उसी हेतु से शुद्ध निश्चयनय से यह बंध और मोक्ष का भी कर्ता नहीं होता है, इस प्रकार तीसरी गाथा हुई । जैसा कि पहले कहा है कि सुवर्णद्रव्य का कुंडल आदि पर्यायों के साथ अभिन्नपना है वैसे ही जीव और पुद्गल का अपने-अपने परिणामों के साथ अनन्य—अभिन्नपना है । पुनः ऐसा कहा है कि कर्तारूप कर्म और नोकर्म के द्वारा यह जीव उत्पन्न नहीं किया जाता है और जीव भी कर्म-नोकर्म को उत्पन्न नहीं करता है, इससे यह जाना जाता है कि कर्मों का आश्रय लेकर यह जीव उपचार से कर्मों का कर्ता है । वैसे ही जो कर्म उत्पन्न होते हैं वे भी जीव-कर्ता का आश्रय लेकर उपचार से होते हैं, यह नियम है—निश्चय है इसमें संदेह नहीं है । इस प्रकार से ही सिद्धि देखी जाती है अन्य प्रकार से नहीं ।

प्रश्न—यहां 'इस प्रकार' का क्या अर्थ करना ?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि परस्पर में निमित्तभाव को छोड़कर शुद्धोपादानरूप से या शुद्धनिश्चयनय से जीव की कर्म-कर्ता के विषय में सिद्धि—निष्पत्ति—घटना नहीं देखी जाती है । कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों का कर्मरूप होना नहीं देखा जाता है इसलिये यह सिद्ध हुआ कि शुद्धनिश्चयनय से यह जीव कर्मों का अकर्ता है । इस कथन रूप से यह चौथी गाथा हुई । इस तरह निश्चयनय से यह जीव कर्मों का कर्ता नहीं है ऐसे व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुई ॥ ३२७ से ३३० ॥

भावार्थ—वास्तव में निमित्त-नैमित्तिक भाव से यह आत्मा व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों का कर्ता है किंतु उपादनरूप से और निश्चयनय से यह आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है । जीव के भावों का आश्रय लेकर पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप से परिणत हो जाती हैं । ऐसे ही पुद्गल कर्मों के उदय का निमित्त पाकर यह आत्मा रागादिभाव को करने से अपने ही भावों का कर्ता हो जाता है । इसलिये गाथा में जो कहा है कि 'कर्म का आश्रय लेकर जीव कर्ता होता है और कर्ता का आश्रय लेकर कर्म बन जाते हैं' यह नियम उपर्युक्त कथन से समझ में आ जाता है ।

चेया उ ययडिधुं उप्पज्जइ विणस्सइ ।

पयडीवि चेययहुं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ अ० ॥

एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।

अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ ३१३ अ० ॥ (युग्मम्)

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।

प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥ ३१२ ॥

एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।

आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥ ३१३ ॥

आत्मरुद्धातिः—अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्जनिन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पादविनाशावासादयति । प्रकृतिरपि चेतयितुनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति च एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ॥ ३१२ । ३१३ ॥

अज्ञान की महिमा को दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(चेतयिता तु प्रकृत्यर्थं उत्पद्यते विनश्यति) चेतन आत्मा कर्म प्रकृतियों के निमित्त से उत्पन्न होता है और विनाश को प्राप्त होता है (प्रकृतिः अपि चेतकार्थं उत्पद्यते विनश्यति) प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है । (एवं आत्मनः च प्रकृतेः द्वयोः अपि अन्योन्यप्रत्ययात् बंधो भवेत्) इस प्रकार आत्मा और प्रकृति इन दोनों के भी एक दूसरे के निमित्त से बंध होता है (तेन संसारः जायते) इससे संसार होता है ॥ ३१२-३१३ ॥

आत्मरुद्धाति—यह आत्मा निश्चय से अनादि संसार से अपने और बंध के प्रतिनियत लक्षण का भेदज्ञान न होने से पर और आत्मा में एकत्व की कल्पना करता है तब कर्मों का कर्ता होता हुआ यह आत्मा कर्मप्रकृतियों के निमित्त उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है । प्रकृति भी चेतन आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है—आत्मा के परिणामों के अनुसार ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणामन कर जाती है । इस प्रकार इन आत्मा और प्रकृति में कर्ता-कर्मभाव का अभाव होने पर भी परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक भाव से इन दोनों का ही बंध देखा जाता है, उस बंध से संसार होता है और इस बंध से ही इन दोनों में कर्ता-कर्म का व्यवहार होता है ॥ ३१२-३१३ ॥

भावार्थ—आत्मा और पुद्गल में उपादानरूप से कर्ता-कर्म संबंध नहीं है फिर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध से ही आत्मा कर्मों का बंध करके संसार में चतुर्गति के दुःख उठा रहा है ।

(३११)—चेतयिता ज्ञानावरणादि प्रकृतियों से है उपजता ।

उन्हीं प्रकृतियों के निमित्त से नाशवान है बनता ॥

प्रकृति भी आत्मा निमित्त से कर्मरूप परिणमती ।

आत्मा के भी प्रबल निमित्त से नाशवान है बनती ॥ ३१२ ॥

(३१२)—इसी तरह आत्मा व कर्म का मिलन बन्ध को करता ।

आत्मा प्रकृति उभय निमित्त संसार भ्रमण को करता ॥

निज स्वभाव से च्युत आत्मा ही पर विभाव में रमता ।

सार यही है निज स्वरूप से आत्मा बन्ध न करता ॥ ३१३ ॥

(उत्थानिका) —अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद् बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति;—

(३३१ ज०) चेदा दु पयडियदुं, उप्पज्जदि विणस्सदि ।

पयडीवि चेदयदुं, उप्पज्जदि विणस्सदि ॥

(३३२ ज०) एवं बंधो दुण्हं पि, अण्णोण्ण पच्चयाण हवे ।

अप्पणो पयडी एय, संसारो तेण जायदे ॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।

प्रकृतिरपि चेतकार्यमुत्पद्यते विनश्यति ॥३३१॥

एव बंधो द्वयोरापि प्रत्यययोर्भवेत् ।

आत्मनः प्रकृतेश्च, संसारस्तेन जायते ॥३३२॥

तात्पर्यवृत्तिः—चेदा आत्मा स्वस्थभावच्युतः सन् प्रकृतिनिमित्तं कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते । विनश्यति च विभावपरिणामैः पर्यायैः । प्रकृतिरपि चेतयितृकार्यं जीवसंबंधिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैः उत्पद्यते विनश्यति च । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बंधो जायते द्वयोः—स्वस्थभावच्युतस्यात्मनः, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिंडरूपाया ज्ञानावरणादिप्रकृतेश्च । कथंभूतयोर्द्वयोः ? अन्योन्यप्रत्यययोः, परस्परनिमित्तकारणभूतयोः । एवं रागाद्यज्ञानभावेन बंधो भवति तेन बंधेन संसारो जायते, न च स्वस्वरूपत इत्थुक्तं भवति ॥३३१-३३२॥

उत्थानिका—इस शुद्ध आत्मा का ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों के साथ जो बंध होता है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है, ऐसा प्रज्ञापित करते हैं—

अन्वयार्थ—(चेदा दु पयडियदुं उप्पज्जदि विणस्सदि) चेतन आत्मा प्रकृतियों के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है (पयडीवि चेदयदुं उप्पज्जदि विणस्सदि) प्रकृति भी—कर्म भी आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । (एवं अप्पणो एय पयडी दुण्हं पि अण्णोण्ण पच्चयाण बंधो हवे) इस प्रकार आत्मा और कर्म इन दोनों में भी परस्पर के निमित्त से बंध होता है (तेण संसारो जायदे) उस बंध से संसार होता है ॥ ३३१-३३२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह आत्मा स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ प्रकृति के निमित्त से—कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होता है और विभाव परिणामरूप पर्यायों से नष्ट भी होता है ऐसे ही प्रकृति भी चेतन के कार्यरूप—जीव से संबंधित रागादि परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरण आदि कर्मपर्यायों से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है । इस पूर्वोक्त प्रकार से दोनों में बंध हो जाता है—स्वस्थभाव से च्युत हुआ आत्मा और कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलपिंडरूप ज्ञानावरण आदि प्रकृतियां इन दोनों का आपस में बंध हो जाता है क्योंकि ये दोनों परस्पर में एक दूसरे के लिये निमित्तकारण माने गये हैं । इस प्रकार रागादि अज्ञानभाव से बंध होता है, उस बंध से संसार होता है न कि अपने स्वरूप में स्थित होने से अर्थात् जब यह आत्मा अपने स्वरूप में लीन हो जाता है तब शुद्धोपयोग के प्रभाव से कर्मबंध से छूटकर संसार का अंत कर देता है ऐसा समझना ॥ ३३१-३३२ ॥

जा एस पयडीयटुं चेया णेव विमुंचए ।
 अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥ ३१४ अ० ॥
 जया विमुच्चए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
 तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ अ० ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति ।

अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥

यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनंतकं ।

तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३१५ ॥

आत्मरज्जातिः—यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुञ्चति तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति । स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति । स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या

आत्मा अज्ञानी कब तक है और ज्ञानी कब होता है ? इसे ही दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(एषः चेतयिता यावत् प्रकृत्यर्थं नैव विमुंचति) यह आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त को नहीं छोड़ता है (तावत् अज्ञायकः मिथ्यादृष्टिः असंयतः भवेत्) तब तक यह अज्ञानी हुआ मिथ्यादृष्टि असंयत होता है (यदा चेतयिता अनंतकं कर्मफलं विमुंचति) जब यह आत्मा अनंत कर्मफलों को छोड़ देता है (तदा ज्ञायकः दर्शकः मुनिः विमुक्तः भवति) तब यह ज्ञानी, श्रद्धानी और संयमी हो जाता है पुनः मुक्त हो जाता है ॥ ३१४-३१५ ॥

आत्मख्याति—जब तक यह आत्मा अपने और प्रकृति—कर्म प्रकृति के निश्चित पृथक्-पृथक् लक्षण को नहीं जानकर आत्मा के लिये बंध के निमित्त ऐसे प्रकृति के स्वभाव को नहीं छोड़ता है तब तक अपने और पर में एकपने का ज्ञान होने से यह अज्ञानी रहता है । स्व-पर में एकत्व का दर्शन—श्रद्धान होने से मिथ्यादृष्टि रहता है और स्व-पर में एकरूप परिणति होने से असंयत—अव्रती रहता है । तभी तक अपने और पर में एकत्व की कल्पना करते रहने से

(३३३)—जब तक प्राणी पूर्वकथित प्रकृती का अर्थ न तजता ।

कर्मोदय से प्राप्त हुई परिणति रागादि न तजता ॥

तब तक अज्ञायक स्वभाव से आत्मा को अनुभवता ।

मिथ्यादृष्टि असंयत बनकर मोक्ष प्राप्त नहीं करता ॥ ३१४ ॥

(३३४)—वही जीव जब बहुत भेदयुत कर्मफलों को तजता ।

शुद्ध बुद्ध अपनी आत्मा में सम्यक् श्रद्धा करता ॥

तब ही वह मुनि सम्यग्दृष्टी ज्ञायक रूप कहाता ।

द्रव्य भाव दोनों से उपजे कर्म समूह नशाता ॥ ३१५ ॥

चासंयतो भवति । तावदेव परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति । यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षण-निर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुञ्चति तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति । स्वपरयोर्विभाग-दर्शनेन दर्शको भवति । स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ॥३१४॥३१५॥

अनुष्टुप्—भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववञ्चितः ।^१

अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥१९६॥

कर्मों का कर्ता होता है । जब यही आत्मा प्रतिनियत स्व-पर के अपने-अपने लक्षण को जान लेने से आत्मा के बंध निमित्तक ऐसे प्रकृति के स्वभाव को छोड़ देता है तब स्व-पर के विभाग का—भेद का ज्ञान हो जाने से यह ज्ञायक हो जाता है—ज्ञानी हो जाता है, स्व-पर के भेद का श्रदान हो जाने से यह दर्शक—सम्यग्दृष्टी हो जाता है । और स्व-पर के भेद की परिणति से—चर्या से—चारित्र्य से यह संयत—मुनि हो जाता है और तभी पर तथा आत्मा में एकत्व का अध्यास—अभिप्राय न करने से यह कर्मों का अकर्ता हो जाता है ॥ ३१४—३१५ ॥

भावार्थ—यहां पर गाथा में भी श्रीकुंदकुंददेव ने 'मुणी' शब्द रखा है और टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी यही कहा है कि जब यह आत्मा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य को छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यधारी दिगंबर मुनि बन जाता है तभी वह अकर्ता हो पाता है । यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि मात्र सम्यक्त्व और ज्ञान से अकर्ता नहीं हो सकता है । यदि हो सकता होता तो आचार्यदेव 'मुनि' शब्द और 'संयत' शब्द नहीं रखते । अतः व्यवहार चारित्र्य के बाद निश्चयचारित्र्य के होने पर ही यह आत्मा अकर्ता हो सकता है । इससे चारित्र्य की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है ।

अब कलशकाव्य कहते हैं । यह काव्य अगली गाथा के लिये उत्थानिका रूप है—

काव्यार्थ—इस आत्मा का जैसा 'कर्ता' यह स्वभाव नहीं है वैसे ही इसका 'भोक्तापन' भी स्वभाव नहीं है । यह आत्मा अज्ञान से ही भोक्ता है और अज्ञान के अभाव में अभोक्ता हो जाता है ॥ १९६ ॥

जैसे इस आत्मा का कर्तापन यह स्वभाव नहीं होता है ।

वैसे ही भोक्तापन भी आत्मा का स्वभाव नहीं होता है ॥

अज्ञान के कारण फिर भी उसमें भोक्तापन आ जाता है ।

अज्ञान दूर करके वह ही भोक्तृत्व रहित हो जाता है ॥ १९६ ॥

(उत्थानिका) —अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुंचति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति ;—

(३३३ ज०) जा एसो पयडियहुं, चेदगो ण विमुंचदि ।
अयाणओ हवे ताव, मिच्छादिट्ठी असंजदो ॥

(३३४ ज०) जदा विमुंचदे चेदा, कम्मफलमणंतयं ।
तदा विमुत्तो हवदि, जाणगो पस्सगो मुणी ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थ, चेतयिता नैव विमुंचति ।

अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥३३३॥

यदा विमुंचति चेतयिता, कर्मफलमनंतकं ।

तदा विमुत्तो भवति, ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥३३४॥

तात्पर्यवृत्तिः—यावत्कालमेष चेतयिता जीवः, चिदानंदैकस्वभावपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणामभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुंचति, तावत्कालं रागादिरूपमात्मानं श्रद्धाति जानात्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असंयतश्च भवति, तथाभूतः सन् मोक्षं न लभते ।

अब उपर्युक्त गाथाओं के टीकाकार श्रीजयसेनाचार्य के अभिप्राय को देखिये—

उत्थानिका—जितने काल तक यह आत्मा शुद्धात्मा के संवेदन से च्युत हुआ प्रकृति के अर्थ को—प्रकृति के उदयरूप रागादिभावों को नहीं छोड़ता है उतने काल तक यह अज्ञानी रहता है और उन विभाव भावों के अभाव में ज्ञानी हो जाता है, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(जा एसो चेदगो पयडियहुं ण विमुंचदि) जब तक यह आत्मा प्रकृति के निमित्त को—रागादि को नहीं छोड़ता है (ताव अयाणओ मिच्छादिट्ठी असंजदो हवे) तब तक यह अज्ञायक मिथ्यादृष्टि और असंयत-अचारित्री रहता है (जदा चेदा अणंतयं कम्मफलं विमुंचदे) जब यह आत्मा अनंत-कर्म फलों को छोड़ देता है (तदा जाणगो पस्सगो मुणी विमुत्तो हवदि) तब यह ज्ञानी, श्रद्धानी और संयमी हुआ कर्मों से मुक्त हो जाता है ॥ ३३३—३३४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह चेतन आत्मा जितने काल तक चिदानंद एक स्वभाववाले परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और उसी परमात्म तत्त्व के अनुभवरूप, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन निश्चय रत्नत्रय के अभाव से प्रकृति के निमित्त को—रागादिकर्मोदयरूप को नहीं छोड़ता है, उतने काल तक यह रागादिरूप अपनी आत्मा का श्रद्धान करता है, आत्मा को रागादिरूप ही जानता है और रागादिस्वरूप ही आत्मा का अनुभव करता है इस कारण से वह मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है और असंयत—अव्रती होता है और ऐसा होता हुआ यह मोक्ष को प्राप्त नहीं

यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूपं कर्मफलं शक्तिरूपेणानंतं विशेषेण सर्वप्रकारेण मुचति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां सद्भावात् लाभान्मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मानं श्रद्धधाति जानात्यनुभवति च । ततः सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति, संयतो मुनिश्च भवति । तथाभूतः सन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति । एवं यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मबंधवशांमिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं ॥३३३-३३४॥

करता है। जब पुनः यही चेतन आत्मा मिथ्यात्व, रागादिरूप कर्मफल को जो कि शक्तिरूप से अनंत है उसको विशेषरीति से—सर्वप्रकार से छोड़ देता है तब शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप—सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र के सद्भाव से—निश्चयरत्नत्रय के लाभ से मिथ्यात्व रागादि से भिन्न आत्मा को श्रद्धान करता है, जानता है और अनुभव करता है। इस कारण से वह सम्यग्दृष्टि होता है, ज्ञानी होता है और संयत—मुनि होता है। ऐसा होता हुआ वह मुनि विशेषरूप से द्रव्य-भावरूप मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों के विनाश से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से कर्ता नहीं होता है फिर भी अनादि कर्मबंध के निमित्त से मिथ्यात्व रागादिभावरूप अज्ञानभाव से कर्मों को बांधता है। इसतरह अज्ञान की सामर्थ्य को बतलाने के लिये द्वितीय स्थल में चार सूत्र हुये हैं ॥ ३३३—३३४ ॥

विशेषार्थ—यहां पर गाथा में ज्ञायक, दर्शक और मुनि शब्द हैं—इन्हीं से श्री अमृतचंद्रसूरि ने ज्ञानी, श्रद्धानी और संयमी ऐसा अर्थ निकाला है क्योंकि मोक्षमार्ग के प्रकरण में 'दृश' धातु का अर्थ देखना न करके श्रद्धान करना ही अर्थ विवक्षित है। यथा—'स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति'। इसमें स्वपर में एकत्व के श्रद्धान से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वास्तव में व्यवहार रत्नत्रयस्वरूप सरागचारित्र के बाद जब वीतरागचारित्र प्रगट होता है तभी यह आत्मा कर्मोदय के निमित्त से होने वाले रागादिभावों से परिणत नहीं होता है तभी कर्मबंध से छूटकर मुक्त हो जाता है। यह व्यवहाररत्नत्रय छटे से प्रारंभ होकर श्रेणी में निश्चयरत्नत्रय बनकर बारहवें में पूर्ण होता है पुनः चौदहवें गुणस्थान के अंत में सर्वकर्मों से छूट जाता है। इन 'चेया उ' से 'मुणी' तक चार प्राकृत गाथाओं का 'आर्याछंद' न होने से इन्हें प्राकृत श्लोक नाम दिया है। यहां गाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने 'मुणी' शब्द रक्खा है जिससे जाना जाता है कि रत्नत्रय मुनियों के ही होता है और यह ग्रंथ मुनियों के लिये ही है अन्यथा वे इस ग्रंथ में कहीं न कहीं श्रावक या गृहस्थ शब्द का प्रयोग अवश्य करते। बल्कि एक जगह ही नहीं, अनेक जगह 'मुणी', यति, साधु, संयत आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है। अतः निश्चयरत्नत्रय का ही इसमें कथन है ऐसा समझना।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।

णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥ ३१६ अ० ॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।

ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥ ३१६ ॥

आत्मख्यातिः—अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्याहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते । ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतयानुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवि-
तुमशक्यत्वाद्देदयते ॥ ३१६ ॥

आत्मा भोक्ता भी नहीं है—

अन्वयार्थ—(अज्ञानी प्रकृतिस्वभावस्थितः कर्मफलं तु वेदयते) अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव में स्थित हुआ कर्मफल का अनुभव करता है (पुनः ज्ञानी उदितं कर्मफलं जानाति न वेदयते) पुनः यह ज्ञानी आत्मा उदय में आये हुये कर्मफल को जानता है, अनुभव नहीं करता है ।

आत्मख्याति—अज्ञानी आत्मा शुद्धात्मा के ज्ञान का अभाव होने से अपने और पर में एकपने के ज्ञान से, अपने और पर में एकपने के श्रद्धान से और अपने तथा पर में एकपने की परिणति से कर्म प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता है अतः प्रकृति के स्वभाव को भी 'मैं हूँ' इस अहंप्रत्यय से अनुभव करता हुआ कर्म के फल का अनुभव करता है ।

किंतु ज्ञानी आत्मा शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव से स्व-पर के विभाग का ज्ञान होने से स्व-पर के विभाग का श्रद्धान होने से और स्व-पर के पृथक् करने रूप—भेदरूप परिणति से कर्मप्रकृति के स्वभाव से दूर हो जाता है अतः वह शुद्धात्मा के स्वभावरूप ही 'मैं एक हूँ' इस प्रकार 'अहं प्रत्यय' से अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करते हुये उदय में आये हुये कर्मों के फल को 'ज्ञेयमात्र' से जानता ही है, पुनः उसके फल को 'अहंरूप' से अनुभव करना अशक्य होने से वह उस फल को भोगता नहीं है—अनुभव नहीं करता है ॥ ३१६ ॥

(३३५)—अज्ञानी प्राणी कर्मों के फल को भोगा करता ।

प्रकृति भाव में स्थित होकर कर्मबन्ध को करता ॥

ज्ञानी तो उदयागत कर्मफलों का ज्ञाता रहता ।

लेकिन अहंभाव से उनका भोक्ता कभी न बनता ॥ ३१६ ॥

शार्दूलविक्रीडित—अज्ञानी 'प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
 ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
 इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
 शुद्धैकात्मये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

इसे ही कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—यह अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति के स्वभाव में निरत है—उसे ही अपना स्वभाव जानता है अतः नित्य ही वह वेदक-भोक्ता-अनुभव करने वाला होता है किंतु ज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव से विरत है—कर्म के स्वभाव को छोड़ चुका है अतः वह कभी भी वेदक—भोक्ता नहीं होता है। इस प्रकार के नियम को अच्छी तरह निश्चयकर हे निपुण पुरुषों ! तुम लोग अज्ञानपने को छोड़ो और शुद्ध एक आत्मस्वरूप तेज में अचलित होकर—निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो। १९७।

विशेषार्थ—यहां श्रीअमृतचंद्रसूरि ने टीका में भी 'शुद्धात्मा के ज्ञान, श्रद्धान और उसमें भेदपरिणतिरूप निश्चयचारित्र, इन तीनों के कथन से निश्चयरत्नत्रय को लिया है। वे ही निश्चयरत्नत्रयधारी महामुनि कर्म के फल में हर्ष-विषाद न करने से, राग-द्वेष का अभाव हो जाने से कर्मफल के भोक्ता नहीं होते हैं। यही भाव कलश काव्य में है। श्रीशुभचंद्राचार्य ने इस कलश की टीका में 'आसेव्यता' का अर्थ 'ध्यायतां' किया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेव मुनियों को कहते हैं कि आप लोग वीतरागी होकर ध्यान में स्थित होकर—निश्चल होकर ज्ञानस्वरूप आत्मा का ध्यान करो—अनुभव करो। यह ध्यान सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान तक रहता है। आचार्यदेव ने यहां ज्ञानी से भेदाभेदरत्नत्रयधारी मुनियों को लिया है और अज्ञानी से मिथ्यादृष्टी को लिया है। अतः चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती कथंचित् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा तथा देशवर्ती की अपेक्षा 'ज्ञानी' कहे जा सकते हैं किंतु समयसार ग्रंथ के ज्ञानी नहीं हैं।

यहां प्रकृति शब्द से कर्म लेना है जैसा कि गोप्पटसार में कहा है—

'पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो
 कणयोवले मलं वा ताणस्थितं सयं सिद्धं' ॥ २ ॥

अज्ञानी कर्मप्रकृति स्वभाव में रत हो नित अनुभव करता।
 ज्ञानी उस प्रकृति स्वभाव विरति से कभी न उसको अनुभवता ॥
 इस तरह नियम को सूक्ष्म रूप से जानो निपुण महापुरुषों।
 अज्ञान तजो शुद्धात्म भजो निज ज्ञानतेज सेवन कर लो ॥ १९७ ॥

(उत्थानिका) —अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्व-भावो न भवति, कस्मात् ? अज्ञानस्वभावत्वात्, इति कथयति—

(३३५ ज०) अण्णाणी कम्मफलं, पयडि-सहावड्ढिदो दु वेदेदि ।

णाणी पुण कम्मफलं, जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥

अज्ञानी कर्मफलं, प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।

ज्ञानी पुनः कर्मफलं, जानाति उदिदं न वेदयते ॥३३५॥

तात्पर्यवृत्तिः—अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावड्ढिदो दु वेदेदि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावाद्ज्ञानी जीवः उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफलं वेदयत्यनुभवति । णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ज्ञानी पुनः तन्मयो भूत्वा पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः सन्

प्रकृति, शील, स्वभाव ये पर्यायवाची शब्द हैं। जीव और अंग—प्रकृति का अनादिकाल से संबंध है जैसे कि कनकपाषाण में मल का अनादि से—खान से ही संबंध है। इन दोनों का अस्तित्व भी स्वयं सिद्ध है।

यहां प्रकृतिस्वभाव में स्थित से कर्मप्रकृतियों के स्वभाव को और अपनी आत्मा को पृथक् लक्षण वाले न समझकर दोनों को एकरूप समझना—जानना, श्रद्धान करना और उसरूप ही परिणत होना ऐसा अर्थ है। यह अवस्था बहिरात्मा की रहती है। चतुर्थ, पंचम गुणस्थान में ज्ञान, श्रद्धान तो भेदरूप हो जाता है किन्तु चारित्र के बिना आत्मा और प्रकृति को अलग-अलग किया नहीं जा सकता है। अतः रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है न कि एक या दो रत्न, ऐसा समझना।

उत्थानिका—शुद्ध निश्चयनय से कर्मफल का भोक्तापना जीव का स्वभाव नहीं है क्योंकि वह अज्ञान का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अण्णाणी पयडिसहावड्ढिदो कम्मफलं दु वेदेदि) अज्ञानी जीव प्रकृति—कर्मों के स्वभाव में स्थित हुए कर्मों के फल का अनुभव करते हैं (पुण णाणी उदिदं कम्मफलं जाणदि ण वेदेदि) पुनः ज्ञानी—मुनि उदय में आये हुये कर्मों के फल को जानते हैं किन्तु उसका वेदन—अनुभव नहीं करते हैं ॥ ३३५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाववाले आत्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी आत्मतत्त्व का अनुष्ठान, इन तीनरूप अभेदरत्नत्रयात्मक जो भेदज्ञान है, उसके अभाव से यह जीव अज्ञानी है वह उदय में आये हुये कर्मप्रकृति के स्वभावरूप सुख-दुःखस्वरूप में स्थित होकर—हर्ष और विषाद के द्वारा उसी कर्मफल में तन्मय होकर कर्मफल को भोगता है—अनुभव करता है। पुनः ज्ञानी जीव ज्ञान में तन्मय होकर

कर्मफलमुदितं वस्तु वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ॥३३५॥

(उत्थानिका) —अज्ञानी जीवः सापराधः संशंकितः सन् कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानी स कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति—

(३३६ ज०) जो पुण निरवराहो, चेदा निस्संकिदो दु सो होदि ।

आराहणाए णिच्चं, वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ॥^१

यः पुनर्निरपराधश्चेत्यिता निःशंकितस्तु स भवति ।

आराधनया नित्यं, वर्तते अहमिति विज्ञानम् ॥३३६॥

पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रयस्वरूप भेदज्ञान के सद्भाव से वीतराग सहज आनंदरूप सुखरस के आस्वाद से—परम समरसीभाव से परिणत होता हुआ उदय में आये हुये कर्मफलरूप वस्तु को वस्तुस्वरूप से जानता ही है किंतु हर्ष-विषाद से तन्मय होकर उनका अनुभव नहीं करता है ऐसा समझना ॥ ३३५ ॥

भावार्थ—जो पुनिराज निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं—एकाग्र चिंतानिरोधरूप निर्विकल्प ध्यान में विराजमान हैं उनके कर्मों का उदय आने पर भी हर्ष-विषाद नहीं होता है तभी वे कर्मों के भोक्ता नहीं होते हैं। यह अवस्था सातवें आदि गुणस्थानों में है। सम्यग्दृष्टि, देशव्रती मात्र श्रद्धान करता है, जानता है और देशव्रत ग्रहण कर भेदाभेदरत्नत्रय की भावना भाता है।

उत्थानिका—अज्ञानी जीव अपराध सहित होने से शंका सहित—भयभीत होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है किंतु जो निरपराधी है वह ज्ञानी आत्मा कर्म का उदय आने पर क्या करता है ? इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुण जो निरवराहो चेदा सो दु निस्संकिदो होदि) पुनः जो निरपराधी आत्मा है वह तो निःशंक होता है (अहं इदि वियाणंतो आराहणाए णिच्चं वट्टदि) 'यह मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ आराधना से नित्य ही वर्तन करता है ॥ ३३६ ॥

(३३६)—जो अपराधरहित आत्मा परमात्मा को ही भजता ।

चेतयिता ज्ञानी निःशंक होकर निज में ही रहता ॥

निज के ही आराधन में वह हर क्षण तत्पर रहता ।

निज अनंत ज्ञानादि चतुष्टय का ही अनुभव करता ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो पुण णिस्वरहो धेदा णिस्सकिदो दु सो होदि यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निःशङ्को भवति । निःशङ्को भूत्वा किं करोति ? आराहणाए णिच्चं वडुदि अहमिदि वियाणंतो निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्यं सर्वकालं वर्तते । किं कुर्वन् ? अनंतज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्यग्जानन् परमसमरसीभावेन चानुभवति इति ॥ ३३६ ॥

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुडुवि अज्झाइऊण सत्थाणि ।

गुडदुद्धं पिबंता ण पणया णिव्विसा हुंति ॥ ३१७ अ० ॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ट्वपि अधीत्य शास्त्राणि ।

गुडदुग्धमपि पिबंती न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥ ३१७ ॥

आत्मख्यातिः—यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुञ्चति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुञ्चति । तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुञ्चति प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुञ्चति,

तात्पर्यवृत्ति—जो चेतनस्वरूप आत्मा—ज्ञानी जीव है वह निरपराधी हुआ परमात्मा की आराधना के विषय में निःशङ्क—निर्भय रहता है या निःसंदेह रहता है और वह निःशङ्क होकर निर्दोष परमात्मा की आराधनारूप निश्चय आराधना में सर्वकाल वर्तन करता है ।

क्या करता हुआ ? 'मैं अनंतज्ञानादिरूप हूँ' इस प्रकार से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपनी शुद्धआत्मा को अच्छी तरह से जानता हुआ परमसमरसीभाव से उसका अनुभव करता है ऐसा समझना ॥ ३३६ ॥

उत्थानिका—अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अभव्यः सुष्टु अपि शास्त्राणि अधीत्य प्रकृतिं न मुंचति) अभव्यजीव अच्छी तरह शास्त्रों को पढ़कर भी कर्म के स्वभाव को नहीं छोड़ता है (गुडदुग्धं अपि पिबंतः पन्नगाः निर्विषाः न भवंति) देखो, गुड़ सहित दूध को भी पीते हुये सर्प निर्विष नहीं होते हैं ॥ ३१७ ॥

आत्मख्याति—जैसे यहां संसार में विषधर—सर्प विषभाव को स्वयं अपने अण ही नहीं छोड़ता है और विषभाव को छुड़ाने में समर्थ ऐसे शक्कर सहित मीठे दूध को पीकर भी विष को नहीं छोड़ता है । वैसे ही नियम से यह अभव्यजीव प्रकृति—कर्म के स्वभाव को स्वयं आप ही नहीं छोड़ता है और कर्म स्वभाव से छुड़ाने में समर्थ ऐसे द्रव्यश्रुतज्ञान से भी नहीं छोड़ता है

(३३७)—पन्नग मिष्ट मधुर गुड़ युत यदि दुग्ध पान भी कर ले ।

तो भी अपना कटुक विषैला नहीं स्वभाव तजते वे ॥

वैसे ही कितने शास्त्रों को यदि अभव्य भी पढ़ ले ।

तो भी कर्मोदय स्वभाव को नहीं छोड़ सकते वे ॥ ३१७ ॥

नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात् । अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्देदक एव ॥३३७॥

(उत्थानिका) —अज्ञानी कर्मणां नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति—

(३३७ ज०) ण मुयदि पयडिमभव्वो, सुट्ठुवि अज्झाइदूण सच्छाणि ।

गुडदुद्धं पि पिवंता, ण पण्णया णिव्विसा होति ॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्टुवपि अधीत्य शास्त्राणि ।

गुडदुग्धमापि पिवन्तो न पन्नगा निर्विषा भवन्ति ॥३३७॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा पन्नगाः सर्पाः शर्करासहितं दुग्धं पिवन्तोऽपि निर्विषा न भवन्ति तथाऽज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरगादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभावं न मुंचति । किं कृत्वापि ? अधीत्यापि । कानि ? शास्त्राणि । कथं ? सुष्टुवि सुष्टुवपि । कस्मात् न मुंचति ? वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरगादीनां तन्मयो भवति यतः कारणात् इति ॥३३७॥

क्योंकि वह हमेशा ही भावश्रुतज्ञानलक्षण जो शुद्धात्मा का ज्ञान है उस ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानी ही रहता है इसलिये यह नियम हो जाता है कि अज्ञानी जीव कर्म के स्वभाव में स्थित होने से कर्मों का भोक्ता ही है ॥ ३३७ ॥

उत्थानिका—अज्ञानी कर्मों का नियम से भोक्ता होता है ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अभव्वो सुट्ठुवि सच्छाणि अज्झाइदूण पयडिं ण मुयदि) अभव्य जीव अच्छी तरह शास्त्रों को पढ़कर भी प्रकृति—कर्मों के स्वभाव को नहीं छोड़ता है (पण्णया गुडदुद्धं पि पिवंता णिव्विसा ण होति) सर्प गुड़ और दूध को पीते हुये भी निर्विष नहीं होते हैं ॥ ३३७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे सर्प शक्कर सहित दूध को पीते हुये भी विष रहित नहीं होते हैं उसी तरह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप कर्म प्रकृतियों के उदय के स्वभाव को नहीं छोड़ता है । क्या करके ? अच्छी तरह से शास्त्रों का अध्ययन करके भी रागादिभावों को नहीं छोड़ता है क्योंकि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव से कर्मों का उदय आने पर मिथ्यात्व रागादि भावों से तन्मय हो जाता है ऐसा समझना ॥ ३३७ ॥

भावार्थ—गाथा में श्री कुंदकुंददेव ने 'अभव्य' शब्द रखा है, श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी अभव्य शब्द रखा है किंतु यहां श्री जयसेनाचार्य ने 'अज्ञानी' पद ही रखा है । फिर भी आचार्यदेव की दृष्टि में यहां अज्ञानी जीव जो कर्मों के उदय से हुये रागादि भावों से तन्मय ही रहता है कभी भी आत्मा को शुद्ध नहीं कर पाता है ऐसे जीव को अभव्य ही माना है अथवा जो अभव्य हैं वे ही सदा बहिरात्मा बने रहते हैं क्योंकि वे अंतरात्मा बन ही नहीं सकते हैं अतः उनके रागादिरहित आत्मा को

ज्ञानीत्ववेदक एवेति नियम्यते—

णिर्व्वेयसमावण्णो णाणीं कम्मफलं विजाणेइ ।

मधुरं कडुयं बहुविधमवेयओ तेण सो होई ॥ ३१८ अ० ॥

निर्व्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।

मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन स भवति ॥ ३१८ ॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविविक्तत्वत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मृञ्चति ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञानं सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभूयितुमयोग्यत्वाद्वेदयते । अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव ॥ ३१८ ॥

शुद्ध अनुभव करने का सवाल ही नहीं उठता है । ऐसे अभव्यजीव समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों को भी पढ़ते-पढ़ाते, सुनते-सुनाते हैं फिर भी आत्मा को भिन्न कहकर भी भिन्न कर नहीं पाते हैं उनमें क्या कमी रहती है वह सर्वज्ञ गम्य ही है हम और आप नहीं समझ सकते हैं । यहां 'शाम्बाणि अधीत्य' से ग्यारह अंग तक ज्ञान भी हो सकता है ऐसा पहले बंधाधिकार में आया है इसलिये यह निश्चित है कि अभव्य मुनि को या भव्य भी द्रव्यलिंगी मुनि को ग्यारह अंग तक ही ज्ञान हो सकता है, पूर्वा में से एक भी पूर्व का ज्ञान नहीं हो सकता है ।

उत्थानिका—ज्ञानी आत्मा कर्मोदय का अभोक्ता ही है ऐसा नियम दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(निर्व्वेदसमापन्नः ज्ञानी मधुरं कटुकं बहुविधं कर्मफलं विजानाति) वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी मीठे-कडुवे ऐसे बहुत प्रकार के कर्म फलों को जानता है (तेन अवेदकः भवति) इसलिये वह अभोक्ता रहता है ॥ ३१८ ॥

आत्मख्याति—ज्ञानी जीव तो अभेदरूप भावश्रुतज्ञान लक्षणवाले शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव से पर से अत्यंत भिन्न रहता है अतः वह प्रकृति—कर्म के स्वभाव को—रागादिभावों को स्वयं ही छोड़ देता है इस कारण उदय में आये हुये कडुवे या मीठे कर्म के फलों का ज्ञाता होने से केवल—मात्र जानता ही है किंतु अपने में ज्ञान के हो जाने पर द्रव्यों को अपने रूप से अनुभव करने योग्य न होने से वह ज्ञानी उनका अनुभव नहीं करता है—भोगता नहीं है इसीलिये ज्ञानी-आत्मा कर्मप्रकृति के स्वभाव से विरक्त रहने से अभोक्ता ही होता है ऐसा समझना ॥ ३१८ ॥

(३३८)—परमतत्त्वज्ञानी जग के भोगों में ममत न करता ।

पूर्णविरक्त हुआ वह कर्मों के फल को बस लखता ॥

मधुर कटुक उनके फल में वह सुखी दुखी नहीं होता ।

इसीलिए वह ज्ञानमात्र से भोक्ता कभी न होता ॥ ३१८ ॥

वसंततिलका छंद—ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।

ज्ञानम्बरं करणवेदनयोरभावात् शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

(उत्थानिका) —ज्ञानी कर्मणां नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति—

(३३८ ज०) णिव्वेदसमावण्णो, णाणी कम्मफलं वियाणादि ।

महुरं कडुवं बहुविह-मवेदको तेण पण्णत्तो ॥

निवेदसमापन्नो, ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।

मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन प्रज्ञप्तः ॥ ३३८ ॥

तात्पर्यावृत्ति—णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि परमतत्त्वज्ञानी जीवः संसारशरीरभोगरूप-
त्रिविधवैराग्यसंपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागतं वस्तु वस्तुस्वरूपेण विशेषेण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन
जानाति । कथंभूतं जानाति ? महुरं कडुवं बहुविधमवेदको तेण पण्णत्तो अशुभकर्मफलं निबकांजीर-

इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—ज्ञानी—जीव न कर्म करता है और न भोगता है, नियम से यह केवल—मात्र
उन कर्मों के स्वभाव को जानता ही है । इस तरह पर को जानता हुआ करने और भोगने के
अभाव से शुद्ध स्वभाव में नियंत्रित हो जाता है अतः वह मुक्त ही हो जाता है ॥ १९८ ॥

भावार्थ—जब यह आत्मा शुभ-अशुभ समस्त कर्मों को करना छोड़ देता है, निर्विकल्प
ध्यान में निमग्न हो जाता है तब कर्मों के फल जो रागादि भाव हैं उनका भी अनुभव न करने
से कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित होकर मात्र ज्ञाता आत्मा कर्मों से छूट जाता है । यह अवस्था छोटे
गुणस्थान-वर्ती पुनि के सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें में घटती है तभी यह ज्ञानी जीव
पूर्ण ज्ञानी बनकर तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में रहकर बाद में सिद्ध भगवान् बन जाता है ।

उत्थानिका—यह ज्ञानी जीव निश्चय से कर्मों का वेदक नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि) वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी
जीव कर्म के फल को जानता है (तेण महुरं कडुवं बहुविहं अवेदको पण्णत्तो) इसलिये वह
मधुर और कटुक बहुत प्रकार के फलों का अभोक्ता ही कहा गया है ॥ ३३८ ॥

तात्पर्यावृत्ति—परम तत्त्वज्ञानी जीव संसार, शरीर और भोग इन तीनों से विरक्ति रूप
तीन प्रकार के वैराग्य से संपन्न होकर उदय में आये हुये शुभ-अशुभ कर्मों के फलरूप वस्तु

ज्ञानी आत्मा नहि कर्मों को करता नहि उनको अनुभवता ।

वह मात्र नियम से उन कर्मों के स्वाभाविक गुण को लखता ॥

पर को ज्ञाता बन करण और वेदन से विरहित होता है ।

हो शुद्धभाव में लीन मोक्ष के सम्मुख ज्ञानी होता है ॥१९८॥

विषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति । शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखंड-शर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति । न च शुद्धात्मोत्पत्तिसहजपरमानंदरूपमतीन्द्रियसुखं विहाय पंचेन्द्रियसुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः । एवं ज्ञानी शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्म फलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं ॥ ३३८ ॥

णवि कुब्बइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।

जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ अ० ॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।

जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥ ३१९ ॥

को वस्तुस्वरूप से विशेषरूप से—निर्विकार शुद्धात्मा से भिन्नरूप ही जानता है । कैसा जानता है ? अशुभ कर्म के फल नीम, कांजीर, विष और हालाहल विषरूप हैं, कडुवे हैं ऐसा जानता है और शुभकर्मों के फल गुड़, खांड, शक्कर तथा अमृत रूप से मधुर हैं ऐसा जानता है किंतु वह ज्ञानी शुद्धात्मा से उत्पन्न हुये सहज, परमानंदरूप अतीन्द्रियसुख को छोड़कर पंचेन्द्रियों के सुख में परिणमन नहीं करता है, इसी कारण से ज्ञानी आत्मा वेदक—भोक्ता नहीं होता है ऐसा नियम है । इस प्रकार से ज्ञानी शुद्ध निश्चय नय से शुभ-अशुभ कर्मों के फल का भोक्ता नहीं होता है इस व्याख्यान की मुख्यता से तृतीयस्थल में चार गाथा सूत्र पूर्ण हुये हैं ॥ ३३८ ॥

भावार्थ—यह ज्ञानी की अवस्था निर्विकल्प ध्यान में महामुनियों के ही संभव है वे ही बारहवें गुणस्थान में अतीन्द्रियसुख में अंतर्निमग्न होकर तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञानी और पूर्ण अतीन्द्रियसुखी हो जाते हैं । चतुर्थ-पंचम व छठे गुणस्थानवर्ती तो इस प्रकार से अभोक्ता बनने की भावना ही भा सकते हैं ऐसा समझना ।

ज्ञानी कर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं है, यही बात पुनः सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी बहुप्रकाराणि कर्माणि न अपि करोति न अपि वेदयते) ज्ञानी जीव बहुत प्रकार के कर्मों को करता भी नहीं है और भोगता भी नहीं है (पुनः बंधं पुण्यं च पापं च कर्मफलं जानाति) किंतु वह पुण्य और पाप बंध को तथा कर्मफल को जानता ही है ॥ ३१९ ॥

(३३९)—तीन गुप्ति से गुप्त मुनी पर के आलम्बन विरहित ।

नाना कर्मों में कर्ता भोक्तापन भावादि रहित ॥

निज शुद्धात्म भावनामृत से तृप्त हुआ वह ज्ञाता ।

कर्मबंध कर्मों का फल अरु पाप पुण्य का ज्ञाता ॥ ३१९ ॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानी हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च । किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ॥ ३१९ ॥

(उत्थानिका) —अथ निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयतीति प्रकाशयति—

(३३९ ज०) णवि कुव्वदि णवि वेददि, णाणी कम्माइ बहुपयाराइ ।

जाणदि पुण कम्मफलं, बंधं पुण्णं च पावं च ॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।

जानाति पुनः कर्मफलं, बंधं पुण्यं च पापं च ॥ ३३९ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ त्रिगुप्तिबलेन ख्यातिपूजालाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालंबनशून्येनानतज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालंबने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदाभिन्नानि निश्चयनयेन न करोति न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति । तर्हि किं करोति ? जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च

आत्मख्याति—यह ज्ञानी आत्मा नियम से कर्म चेतना से शून्य है और कर्म फलचेतना से भी शून्य है अतः वह स्वयं ही कर्मों का अकर्ता होने से कर्मों को करता नहीं है और अभोक्ता होने से वह कर्मफल को भोगता भी नहीं है किंतु वह ज्ञानचेतनामय ही है अतः केवल ज्ञाता होने से कर्मबंध-शुभ या अशुभ को और कर्म के फल सुख या दुःख को मात्र जानता ही है ॥ ३१९ ॥

उत्थानिका—वीतराग शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवाला भेदज्ञानी कर्मों को न करता है और न भोगता ही है, ऐसा प्रकाशित करते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणी बहुपयाराइ कम्माइ णवि कुव्वदि णवि वेददि) ज्ञानी जीव बहुत प्रकार के कर्मों को न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है (पुण बंधं पुण्णं च पावं च कम्मफलं जाणदि) पुनः बंध को और पुण्य-पाप को तथा कर्म के फलों का जानता है ॥ ३३९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो तीन गुप्तिरूप गुप्ति के बल से ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने और अनुभव में आये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदान, बंध आदि समस्त पर द्रव्यों के अवलंबन से शून्य है, अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यस्वरूप के अवलंबनसहित, पूर्णभरित अवस्थारूप, निर्विकल्प समाधि में स्थित है वही ज्ञानी है । ऐसा ज्ञानी जीव ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों के भेदों से युक्त ऐसे बहुत प्रकार के कर्मों को निश्चयनय से नहीं करता है और न तन्मय होकर उनको भोगता है—अनुभव करता है ।

प्रश्न—तो क्या करता है ?

परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव । किं जानाति ? सुखः दुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबंधादिभेदभिन्नं पुनः कर्मबंधं, सद्देहशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्देहादिरूपं पापं चेति ॥ ३३९ ॥
कुत एतत् ?

दिङ्मी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।

जाणइ य बंधमोक्खं कम्मदयं णिज्जरं चेव ॥ ३२० अ० ॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानभकारकं तथाऽवेदकं चैव ।

जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥ ३२० ॥

आत्मख्यातिः—यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमेवौष्ण्यानुभवनस्य च

उत्तर—परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुख में तृप्त होकर वस्तुस्वरूप से उनको जानता ही है ।

प्रश्न—क्या जानता है ?

उत्तर—सुख-दुःख स्वरूप कर्मों के फल को जानता है और प्रकृति, स्थिति आदि बंधों से भेदरूप कर्मबंध को जानता है । साता वेदनीय, शुभ-आयु, शुभनाम और उच्चगोत्ररूप पुण्यप्रकृतियां हैं, इनसे भिन्न असाता वेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभ नाम और नीचगोत्ररूप पापप्रकृतियां हैं । इत्यादि नाना प्रकारों को जानता ही है ॥ ३३९ ॥

उत्थानिका—ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है, यह कैसे सिद्ध है ?

अन्वयार्थ—(यथा दृष्टिः अकारकं अवेदकं एव तथा ज्ञानं चैव) जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थों का कर्ता और भोक्ता नहीं है वैसे ही ज्ञान भी कर्ता-भोक्ता नहीं है (बंधमोक्षं च कर्मोदयं च निर्जरां जानाति एव) बंध मोक्ष को और कर्मों के उदय को तथा निर्जरा को जानता ही है ॥

आत्मख्याति—जैसे यहां लोक में चक्षु दिखने योग्य पदार्थों से अत्यंत भिन्न है अतः उन पदार्थों को करने और भोगने में असमर्थ होने से न उन दिखने योग्य पदार्थों को करता है और

(३४०)—जैसे नेत्रेन्द्रिय निज ज्ञेय पदार्थों को लखता है ।

लेकिन उन ज्ञेयों का कर्ता भोक्ता नहीं बनता है ॥

शुद्ध ज्ञान वैसे ही बंध व मोक्ष निर्जरा जाने ।

कर्मोदय कृत समझ न निज को कर्ता भोक्ता माने ॥ ३२० ॥

दुर्निवारत्वात् । किंतु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति । तथा ज्ञानमपि स्वयं दृष्टत्वात्कर्मणोऽत्यन्तविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च । किंतु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबंधं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ॥ ३२० ॥

अनुष्टुप्—ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।

सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुतां ॥ १९९ ॥

न भोगता ही है । अन्यथा यदि ऐसा नहीं मानों तो अग्नि के देखने से जलाने के समान स्वयं अग्नि के कार्य का—जलाने का कर्ता हो जावेगा और जैसे लोहे का गोला स्वयं ही अग्नि के सम्पर्क से गरम हो जाता है वैसे ही नेत्र भी गरम हो जावेंगे, जलने का अनुभव करने लगेंगे । किंतु नेत्र केवल देखने मात्र स्वभाववाले होने से उन सभी देखने योग्य अग्नि, जल आदि पदार्थों को देखते ही हैं । वैसे ही ज्ञान भी स्वयं द्रष्टा है, कर्मों से अत्यंत पृथक् है अतः निश्चय से उन कर्मों के कार्य और भोगने में असमर्थ होने से कर्मों को न करता ही है और न भोगता ही है किंतु वह केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होने से कर्मबंध को अथवा मोक्ष को, कर्मों के उदय को अथवा निर्जरा को केवल—मात्र जानता ही है ॥ ३२० ॥

इसी का कलशकाव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—जो पुरुष अज्ञान अंधकार से व्याप्त होकर आत्मा को कर्ता देखते हैं—श्रद्धान करते हैं वे भले ही मुमुक्षु हों—कर्मों से छूटना चाहते हों फिर भी सामान्य जनों के समान उनको भी मोक्ष नहीं होता है ॥ १९९ ॥

भावार्थ—यहां 'पश्यन्ति' क्रिया का देखना अर्थ लेने से अवलोकन करना, अनुभव करना अर्थ विवक्षित है और मोक्षमार्ग के प्रकरण में श्रद्धान अर्थ करने से इस अर्थ में श्रद्धान करना—एकांत से वैसा ही मान लेना अर्थ भी कर सकते हैं । यहां 'सामान्यजनवत्' से लौकिकजन—वैशेषिक संप्रदाय वालों को लेना है क्योंकि ये ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं । आगे स्वयं गाथा में उन्हीं लौकिक जनों के समान जैन साधु भी एकांत से कर्तृत्व मान लेने से एक समान हो जावेंगे । पुनः उन जैनों के यहां भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी ऐसा कहा है । यह कलश काव्य आगे की गाथाओं (३२१-३२२-३२३) के लिये उत्थानिकास्वरूप है ऐसा समझना ।

जो नर अज्ञान तिमिर से युक्त आत्मा को कर्ता मान रहे ।

परद्रव्यों को कर ग्रहण उसी में आत्मतत्त्व श्रद्धान रहे ॥

वे भले मुमुक्षु हों फिर भी नहीं मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ।

सामान्य जनों के सदृश ही वे भी चउगति में भ्रमते हैं ॥ १९९ ॥

(उत्थानिका)—तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति—

(३४० ज०) दिद्वी सयं पि णाणं, अकारयं तह अवेदयं चेव ।

जाणदि य बंधमोक्खं, कम्मदयं णिज्जरं चेव ॥

दृष्टिः स्वयमपि ज्ञानमकारकं तथावेदकं चैव ।

जानाति च बंधमोक्षं, कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥ ३४० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—दिद्वी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव यथा दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायःपिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति । तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठांतरं दिद्वी खयंपि णाणं तस्य व्याख्यान—न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि । तथाभूतः सन् किं करोति ? जाणदि य बंधमोक्खं जानाति च । कौ ? बंधमोक्षौ । न केवलं बंधमोक्षौ कम्मदयं णिज्जरं चेव शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति । एवं सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बंध-मोक्षादिकारण-परिणामशून्यो जीव इति सूचितं । समुदायपातनिकायां पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन

उत्थानिका—इसी कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभाव को विशेषरूप से समर्थित करते हैं—

अन्वयार्थ—(दिद्वी तह णाणं सयंपि अकारयं चेव अवेदयं) नेत्र के समान ही ज्ञान स्वयं ही कर्ता और भोक्ता नहीं है (कम्मदयं चेव णिज्जरं य बंधमोक्खं जाणदि) वह ज्ञानी कर्मों के उदय को, निर्जरा को और बंध-मोक्ष को जानता ही है ॥ ३४० ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे दृष्टि—नेत्र वस्तुओं को जलाने वाले, दिखाने योग्य ऐसे अग्नि रूप को पुरुष के समान नहीं करता है और वैसे ही न तपाये हुये लोहे के पिंड के समान उस अग्नि का अनुभव ही करता है । उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान भी अभेद से अथवा शुद्धज्ञान से परिणत जीव स्वयं ही शुद्ध उपादानरूप से न कर्मों को करता है और न भोगता ही है । अथवा पाठांतर ऐसा भी है कि 'दिद्वी खयंपि णाणं' उसका ऐसा व्याख्यान है कि केवल दृष्टि—क्षायिकज्ञान भी कर्मों का अकर्ता हो ऐसा ही नहीं है किंतु वैसे ही वह क्षायिकज्ञान कर्मों को भोगता भी नहीं है ।

प्रश्न—पुनः वह क्या करता है ?

उत्तर—वह बंध और मोक्ष को जानता है, केवल इतना ही नहीं वह शुभ-अशुभरूप कर्मों के उदय को भी जानता है और सविपाक-अविपाक रूप से अथवा सकाम-अकाम रूप से जो दो प्रकार की निर्जरा है उसको भी जानता है । इस प्रकार सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव का ग्राहक, शुद्धोपादानभूत जो शुद्धद्रव्यार्थिकनय है उस नय के द्वारा यह जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंध-मोक्ष आदि के कारण ऐसे परिणामों से शून्य है ऐसा सूचित किया गया है ।

सामान्यविवरणं कृतं । पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्वधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्य-
ज्ञानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं । पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन
व्याख्यानं कृतं/तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबंधमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्या-
नस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबन्धिनी चतुर्दशगाथाभिश्चतुर्भि-
रंतराधिकारैः चूलिका समाप्ता । अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

किं च विशेषः—औपशमिकादिपञ्चभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते । तत्रौपशमिक-
क्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति । तच्च परस्परसापेक्षं
द्रव्यपर्यायद्रव्यमात्मपदार्थो भण्यते । तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं
शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्ष-
पर्यायपरिणतिरहितं । यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं च तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिक-

समुदाय पातनिका में चार गाथाओं द्वारा जीव के अकर्तागुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य विवेचन किया था । पुनः शुद्धजीव के भी जो प्रकृतियों के साथ बंध होता है वह अज्ञान का माहात्म्य है इस प्रकार अज्ञान के सामर्थ्य को कहने की मुख्यता से विशेष वर्णन किया, पुनः चार गाथाओं द्वारा जीव के अभोक्ता गुण के व्याख्यान की मुख्यता से व्याख्यान किया । इसके बाद शुद्ध निश्चयनय से उसी जीव के कर्तापद, बंध-मोक्ष आदि के कारणभूत ऐसे परिणामों से रहित अवस्था को बारह गाथाओं के व्याख्यान के उपसंहार रूप से दो गाथायें कही गई हैं ।

इस प्रकार इस समयसार की व्याख्या में शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवाली इस तात्पर्यवृत्ति टीका में चौदह गाथाओं से चार अंतराधिकारों द्वारा 'मोक्ष अधिकार' से संबंधित यह चूलिका समाप्त हुई । अथवा द्वितीय व्याख्यान से यहां मोक्षाधिकार समाप्त हुआ है ।

विशेषरूप से कहते हैं—पहले यह प्रश्न होता है कि औपशमिक आदि पांच भावों में से किस भाव से मोक्ष होता है ? इसी का विचार करते हैं । इन पांच भावों में औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार भाव पर्यायरूप हैं, शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है और वही परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्याय इन दोनोंरूप ही आत्मपदार्थ कहलाता है । इनमें भी जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिकभाव हैं । इन तीनों में शुद्धजीवत्व नाम से शक्तिलक्षणवाला जो पारिणामिक भाव है वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है, शुद्ध पारिणामिकभाव नाम वाला है ऐसा जानना चाहिये जो कि बंध और मोक्ष इन दोनों पर्यायों की परिणति से रहित है । पुनः जो दश प्राणरूप जीवत्व है, भव्यत्व और

भावसंज्ञमिति । कथमशुद्धमिति चेत्, संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्या-
भव्यत्वद्वयाभावादिति । तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं
देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं । तत्र च यदा
कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिज-
परमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति । तच्च परिणमनमागमभाष्यौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं
भावत्रयं भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते । स च
पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिदभिन्नः । कस्मात् ? भावनारूपत्वात् । शुद्धपारिणामिकस्तु
भावनारूपो न भवति । यद्येकांतेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य
मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति, न च तथा । ततः
स्थितं—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तसगादिरहितत्वेन
शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः । यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिके

अभव्यत्व हैं ये पर्यायार्थिकनय के आश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिकभाव नाम वाले हैं ।

प्रश्न—ये अशुद्ध क्यों हैं ?

उत्तर—इसलिये कि संसारी जीवों में शुद्धनय की अदृष्टा से और सिद्धजीवों में सर्वथा
ही दश प्राणरूप जीवत्व भाव नहीं है और न भव्य-अभव्य नाम के दो भाव ही हैं । इसी हेतु
से इन भावों को अशुद्ध कहा है । इन तीनों में भी भव्यत्व नाम का जो पारिणामिक भाव है,
यथासंभव सम्यक्त्व आदि जीव के गुणों का घातक, देशघाति-सर्वघातिनामक जो मोह आदि
कर्मसानान्य है वह मोह पर्यायार्थिकनय से उस पारिणामिक भाव का प्रच्छादक है ऐसा जानना
चाहिये । जब कालादि लब्धि के निमित्त से भव्यत्वशक्ति प्रगट हो जाती है तब यह जीव
सहजशुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण जो निज परमात्मद्रव्य है उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और
आचरण, इस निश्चयरत्नत्रयस्वरूप पर्यायरूप से परिणमन करता है वह परिणमन ही आगमभाषा
में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन भावों से कहलाता है पुनः अध्यात्मभाषा
में शुद्धात्मा के अभिमुख हुआ परिणाम कहलाता है जो कि शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायनामों को
प्राप्त करता है । वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय ही शुद्ध पारिणामिक भावस्वरूप जो शुद्धात्मद्रव्य है
उससे कथंचित् भिन्न है क्योंकि वह भावनारूप है । किंतु शुद्ध पारिणामिकभाव भावनारूप
नहीं होता है । यदि यह भावनारूप परिणाम एकांत से अशुद्धपारिणामिक भाव से अभिन्न है
ऐसा मान लिया जाय तो मोक्ष के लिये कारणभूत जो भावनारूप परिणाम है उसका तो मोक्ष
के हो जाने पर नाश हो जाता है और उसके नाश हो जाने पर शुद्ध पारिणामिकभाव का भी
विनाश हो जावेगा किंतु ऐसा तो है नहीं । इसलिये यह बात सिद्ध हो गई कि शुद्ध पारिणामिक
भाव के विषय में जो भावना है, उसरूप जो औपशमिक आदि तीन भाव हैं वे समस्त

पूर्वमेव तिष्ठति । अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते । तथा चोक्तं सिद्धांते—'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' निष्क्रिय इति कोऽर्थः ? बंधकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति । मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति । ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति । कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् । तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तं—णवि उपज्जह णवि मरइ बंधु ण मोवखु करेइ । जिउ परमत्थे जोइया जिणवरु एउ भणेइ ॥ १ ॥ किंच विविक्षतैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः । इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ॥ ३४० ॥

रागादिभाव से रहित होने से शुद्ध उपादानकारण हैं अतः मोक्ष के कारण हैं किंतु शुद्धपारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है ।

जो शक्तिरूप मोक्ष है वह शुद्धपारिणामिक भाव में पहले से ही स्थित है किंतु यहां पर तो यह व्यक्तिरूप—प्रगटरूप मोक्ष का विचार किया जा रहा है । सिद्धांत ग्रंथ में कहा भी है—शुद्ध पारिणामिक निष्क्रिय होता है ।

प्रश्न—निष्क्रिय शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—बंध के लिये कारणभूत जो रागादिपरिणतिरूप क्रिया है वह पारिणामिक भाव तद्रूप नहीं होने से निष्क्रिय होता है । और जो मोक्ष के लिये कारणभूत शुद्धभावना की परिणतिरूप क्रिया है वह भाव उस रूप भी नहीं होता है, इसलिये यह जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता है क्योंकि ध्यान पर्याय तो विनश्वर है ।

श्रीयोगीन्द्रदेव ने भी ऐसा ही कहा है—

हे योगी ! सुनो, परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न बंध ही करता है और न मोक्ष ही प्राप्त करता है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

जात यह है कि विविक्षित एकदेश शुद्धनय के आश्रित जो यह भावना है वह निर्विकार स्वसंवेदनलक्षणवाले क्षायोपशमिक ज्ञानरूप से यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है—प्रगटरूप है फिर भी ध्याता पुरुष जो सकलनिरावरण, अखंड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, निज परमात्मद्रव्य है जो कि शुद्ध पारिणामिक परमभावस्वरूप है 'वही मैं हूँ' इस प्रकार भावना भाता है किंतु खंडज्ञानरूप को नहीं भाता है ऐसा भावार्थ है । यह व्याख्यान तो परस्पर सापेक्ष आगम और अध्यात्म इन दोनों नयों के अभिप्राय के अविरोध से ही कहा गया सिद्ध होता है ऐसा विवेकी जनों को जान लेना चाहिये ॥ ३४० ॥

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।

समणाणंपि य अप्पा जइ कुब्बइ छव्विहे काये ॥ ३२१ अ० ॥

लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।

लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणइ ॥ ३२२ अ० ॥

एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हंपि ।

णिच्चं कुब्बंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥ ३२३ अ० (त्रिकलम्)

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषासत्त्वान् ।

श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥ ३२१ ॥

लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः ।

लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥ ३२२ ॥

एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।

नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥ ३२३ ॥

जो आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, उसी में दोष दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(लोकस्य सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् विष्णुः करोति) लोक में देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्य इन प्राणियों को विष्णुभगवान् करते हैं (यदि श्रमणानाम् अपि आत्मा षड्विधान् कायान् करोति) यदि श्रमणजैन मुनियों के यहां भी आत्मा छहकाय के जीवों को करता है। (यदि लोकश्रमणानां एकः सिद्धान्तः विशेषः न दृश्यते) यदि लौकिकजन और

(३४१)—जग में लोगों ने विष्णु को सृष्टी कर्ता माना ।

सुर नारक तिर्यच मनुज सबको उनकी रचना माना ॥

इसी तरह यदि यतिगण भी ऐसा विश्वास बनाते ।

षट्कायिक जीवों का कर्ता आत्मा को बतलाते ॥ ३२१ ॥

(३४२)—फिर तो श्रमण लोक मान्यता एक सदृश दिखती है ।

कोई नहीं विशेष बात सामान्य प्रवृत्ति दिखती है ॥

क्योंकी जैसे विष्णु जगत की रचना कर सकता है ।

उसी तरह आत्मा को कर्ता श्रमण भी कह सकता है ॥ ३२२ ॥

(३४३)—दोनों जन भी कर्तापन की सहज मान्यता करते ।

श्रमण व लोक अतः दोनों ही मोक्ष प्राप्त नहीं करते ॥

क्योंकि देव मनुजादि असुरयुत विश्व नित्य रचते जो ।

मुक्ति अवस्था का शाश्वत सुख प्राप्त न कर सकते वो ॥ ३२३ ॥

आत्मख्यातिः—ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तते । लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोति इत्यपसिद्धांतस्य समत्वात् । ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात्—लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः ॥ ३२१ । ३२२ । ३२३ ॥

अनुष्टुप्—नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।

कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥ २०० ॥

जैनमुनियों का एक ही सिद्धांत है तो कुछ अंतर नहीं दिखेगा (लोकस्य विष्णुः करोति श्रमणानाम् अपि आत्मा करोति) लोक में तो विष्णु को कर्ता माना है और जैनमुनियों के यहां आत्मा कर्ता है (सदेवमनुजासुरान् लोकान् नित्यं कुर्वतां) देव, मनुष्य, असुर सहित लोक को करते हुये (एवं लोकश्रमणानां द्वयेषां अपि) इस प्रकार तो लौकिकजन और जैन साधु इन दोनों के भी (कोऽपि मोक्षः न दृश्यते) कोई भी मुक्त हुआ नहीं देखा जायेगा ।

आत्मख्याति—जो पुरुष आत्मा को कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर होते हुये भी लौकिकपने को उलंघन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि लौकिकजनों के यहां परमात्मा विष्णु देव, नारक पर्याय आदि कार्यों को करता है और लोकोत्तर—जैनमुनियों के यहां अपनी आत्मा उन देव आदि पर्यायों को करता है, यह अपसिद्धांत—अन्यथा सिद्धांत—गलतमत दोनों के यहां समान है । इस कारण उनके यहां आत्मा को नित्य ही कर्ता स्वीकार कर लेने से लौकिक जनों के समान ही लोकोत्तर जनों के यहां मोक्ष नहीं हो सकेगा ॥ ३२१-३२२-३२३ ॥

भावार्थ—यहां लौकिकजनों से ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने वाले ऐसे वैशेषिक मतानुयायी जनों को लेना चाहिये और लोकोत्तरिक जनों से दिगंबर जैन मुनियों की विवक्षा है । जैसे वैशेषिक लोग ईश्वर को ही मनुष्य, देव, तिर्यच, नारकी आदि जनों की रचना करने वाले—बनाने वाले मानते हैं वैसे ही यदि जैनमुनि भी आत्मा को सर्वथा एकांत से नर-नारक आदि पर्यायों का कर्ता मान लेवें तब तो जैसे उनके यहां किसी संसारी आत्मा को स्वतंत्र मोक्ष होता नहीं, उसी तरह जैनमत में भी कर्तृत्व का कभी अभाव न हो सकने से आत्मा को स्वतंत्र मोक्ष नहीं हो सकेगा । हां, निश्चयनय से यह आत्मा इन पर्यायों का अकर्ता है और व्यवहारनय से संसार अवस्था में कर्ता है ऐसा मानने से कोई दूषण नहीं आता है ऐसा समझना ।

अब कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—परद्रव्य और आत्मतत्त्व में कोई भी संबंध नहीं है— तादात्म्य लक्षण आदि कोई भी संबंध नहीं है । इस प्रकार कर्ता और कर्मरूप संबंध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तापन कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ॥ २०० ॥

परद्रव्य व आत्मतत्त्व का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं ।

तादात्म्य आदि लक्षण वाले उसमें न हुए सम्बन्ध कहीं ॥

कर्ता व कर्म सम्बन्ध रहित आत्मा में कर्तापन कैसे ?

इसलिए नहीं हो सकता है ज्ञानी के कर्तापन ऐसे ॥ २०० ॥

भूमिका—अतः परं जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चयव्यवहारनयविभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं लोगस्स कुणदि विण्हू इत्यादि गाथाभादि कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंतं चूलिकाव्याख्यानं करोति—चूलिकाशब्दस्यार्थः कथ्यते । तथाहि—विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः । तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन लोगस्स कुणदि विण्हू इत्यादि गाथासप्तकं च भवति । तदनंतरं, अन्यः कर्ता, भुक्ते चान्यः— इत्येकांतनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं केहिं दु पज्जयेहिं इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । अतः परं सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति एकांतेन जीवस्य भावमिथ्यात्वाकर्तृत्वनिराकरणार्थं मिच्छता जदि पयडी इत्यादि सूत्रपंचकं । ततः परं

भावार्थ—आत्मा कर्ता है और पुद्गलद्रव्य कर्म है । इन दोनों में उपादान रूप से कर्ता-कर्मपने का अभाव है इसलिये एकांत से या उपादान-रूप से अथवा निश्चयनय से यह आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है ऐसा समझना ।

श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार यहां से अधिकार बदल गया है और उसका 'समयसार चूलिका' यह नाम दिया गया है ।

समयसार चूलिका अधिकार

भूमिका—जीवादि नव अधिकारों में जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि स्वरूप का यथास्थान निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा से सामान्यरूप से जो पहले सूचित किया गया है, अब यहां से आगे उसी का विशेष विवेचन करने के लिये 'लोगस्स कुणदि विण्हू' इत्यादि गाथा को आदि में करके पाठक्रम से छ्यानवे गाथा पर्यंत चूलिका का व्याख्यान करते हैं । अब यहाँ चूलिका शब्द का अर्थ करते हैं—चूलिका शब्द के तीन अर्थ हैं । १. विशेष व्याख्यान करना, २. कहे हुये या बिना कहे हुये का व्याख्यान करना, ३. और कथित, बिना कथित तथा संकीर्ण—दोनों रूप से मिश्रित का व्याख्यान करना ।

यहां तीन प्रकार से चूलिका शब्द का अर्थ किया गया है इन तीनों अर्थ सहित 'चूलिका' नाम से यहां आगे कहा जायेगा ऐसा अभिप्राय है ।

इन छियानवे गाथाओं में से विष्णु भगवान देव, मनुष्य आदि पर्यायों का कर्ता है इस कर्तृत्ववाद के निराकरण की मुख्यता से 'लोगस्स कुणदि विण्हू' इत्यादि सात गाथायें कहेंगे । इसके बाद 'अन्य ही कर्ता है और अन्य ही भोक्ता है' इस एकांत के निषेधरूप से बौद्धमतानुयायी शिष्य को संबोधित करने के लिये 'केहिं दु पज्जयेहिं' इत्यादि चार गाथायें कहेंगे । अनंतर सांख्य मतानुयायी शिष्य के प्रति 'एकांत से जीव भावमिथ्यात्व का भी अकर्ता

ज्ञानज्ञानसुखदुःखादिभावान् कर्मवैकातेन करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतनिराकरणार्थ—कम्मेहिं अण्णाणी इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि । अथानंतरं कोऽपि प्राथमिकशिष्यः शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां विनाशं कर्तुं वाञ्छति किंतु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घातं करोमीति विशेषविवेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं दंसणणाणचरित्तं इत्यादि सूत्रसप्तकं । तदनंतरं यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादि कर्म हस्तकुट्टिकाद्युपकरणैः करोति तत्फलं मूल्यादिकं भुङ्क्ते च तथापि तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुङ्क्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण जह सिप्पियो दु इत्यादि गाथासप्तकं । ततः परं यद्यपि लेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूतं च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्धधाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति । इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्य-संबोधनार्थं जह सेडिया इत्यादि सूत्रदशकं । ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचना—निश्चयचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन कम्मं जं पुब्बकयं इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं रागद्वेषोत्पत्ति-

है' इस एकांत का निराकरण करने के लिये 'मिच्छता जदि पयडी' इत्यादि पांच गाथायें हैं। इसके बाद ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख आदि भावों का कर्म ही एकांत से करता है न कि 'आत्मा' इस प्रकार पुनरपि सांख्यमत का निराकरण करने के लिये 'कम्मेहिं अण्णाणी' इत्यादि तेरह गाथाओं को कहेंगे। अनंतर कोई भी प्राथमिक शिष्य 'शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों का विनाश करना तो चाहता है किंतु मन में स्थित विषयों के अनुराग का घात करूं' इस विशेष विवेक को नहीं जानता है उसको संबोधन करने के लिये 'दंसणणाणचरित्तं' इत्यादि सात गाथायें कहेंगे। इसके अनंतर जैसे सुनार आदि शिल्पकार कुंडल आदि कर्म—कार्य हाथ, कुट्टनी—हथौड़ा आदि उपकरणों से करता है—बनाता है और उसका फल—मूल्य आदि को भोगता है फिर भी तन्मय नहीं होता है। वैसे ही जीव भी द्रव्यकर्मों को करता है और भोगता है फिर भी तन्मय नहीं होता है। इस प्रकार के प्रतिपादन की मुख्यता से 'जह सिप्पियो दु' इत्यादि सात गाथायें कहेंगे। इसके बाद यद्यपि सफेद मिट्टी, चूना, खड़िया मिट्टी व्यवहार से भिँती आदि को सफेद करता है फिर भी निश्चय से तन्मय—भिँती नहीं होता है।

उसी प्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेयभूत द्रव्य को ही जानता है, देखता है, परिहार करता है और श्रद्धान करता है फिर भी निश्चय से वह तन्मय—ज्ञेयपदार्थरूप नहीं हो जाता है।

इस प्रकार से ब्रह्माद्वैत मतानुयायी शिष्य को संबोधित करने के लिये 'जह सेडिया' इत्यादि दश गाथायें कहेंगे।

अनंतर शुद्धात्म भावनारूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चयचारित्र के व्याख्यान की मुख्यता से 'कम्मं जं पुब्बकयं' इत्यादि चार गाथायें कहेंगे।

विषयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं न चाचेतनशब्दादिविषया इति कथनार्थं णिंददि संशुदि वयणाणि इत्यादि गाथादशकं। अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिदं मया कृतं च मन्यते स्वस्थभावशून्यः सुखितो दुःखितश्च भवति यः सः पुनरप्यष्टविधं कर्म दुःखबीजं बध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन वेदंतो कम्मफलं इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेन्द्रियविषयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकालाः शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सच्छं णाणं ण हवदि इत्यादि पंचदश सूत्राणि। ततः परं यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण अप्पा जस्स अमुत्तो इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं देहाश्रितद्रव्यलिंगं निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिङ्गरहितयतीनां मुक्तिकारणं न भवति भावलिङ्गसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पाखंडी लिङ्गाणि य इत्यादि सूत्रसातकं। पुनश्च समयप्राभूताध्ययनफलव्यवहारेण ग्रंथसमाप्त्यर्थं जो समयपाहुडमिणं इत्यादि सूत्रमेकं कथयतीति त्रयोदशभिरंतराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारे समुदायपातनिका। इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते।

अनंतर रागद्वेष की उत्पत्ति के विषय में अज्ञानरूप जो अपनी बुद्धि का दोष है वही कारण है न कि अचेतन शब्दादि विषय, इस कथन के लिये 'णिंददि संशुदि वयणाणि' इत्यादि दश गाथायें हैं। इसके बाद जो पुरुष उदय में आये हुये कर्म का अनुभव करते हुये 'ये मेरे हैं और मैंने इन्हें किया है' ऐसा मानता है पुनः स्वस्थभाव से शून्य होता हुआ सुखी और दुःखी होता है वह पुनरपि दुःखों के बीज ऐसे आठ प्रकार के कर्मों को बांध लेता है, इस प्रतिपादन की मुख्यता से 'वेदंतो कम्मफलं' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे। अनंतर आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्रव्यश्रुत, इंद्रियों के विषय, द्रव्यकर्म, धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा शुद्धनिश्चयनय से रागादिभाव भी शुद्धजीव के स्वरूप नहीं हैं, इस व्याख्यान की मुख्यता से 'सच्छं णाणं ण हवदि' इत्यादि पंद्रह गाथायें कहेंगे। इसके बाद शुद्धनय के अभिप्राय से यह आत्मा मूर्ति से रहित है, और उसी अभिप्राय से यह कर्म-नोकर्म आहार से भी रहित है इस व्याख्यान रूप से 'अप्पा जस्स अमुत्तो' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे। इसके पश्चात् 'देह के आश्रित द्रव्यलिंग है' वह निर्विकल्पसमाधि लक्षण भावलिङ्ग से रहित यतियों के मुक्ति का कारण नहीं है पुनः भावलिङ्ग से सहित मुनियों के मुक्ति के लिये सहकारी कारण है इस व्याख्यान की मुख्यता से 'पाखंडी लिङ्गाणि य' इत्यादि 'सात' गाथायें कहेंगे। पुनः 'समयप्राभूत' ग्रंथ के अध्ययन के फल को कहनेरूप से ग्रंथ की समाप्ति करते हुये 'जो समयपाहुडमिणं' इत्यादि एक गाथासूत्र कहेंगे। इस प्रकार तेरह अंतराधिकारों से 'समयसार चूलिका' अधिकार में यह समुदायपातनिका—भूमिका कही गई है। अब उन तेरह अधिकारों का यथाक्रम से व्याख्यान कर रहे हैं।

(उत्थानिका) —तद्यथा—एकातेनात्मानं कर्तारं ये मन्यन्ते तेषामज्ञानिजनबन्धो नास्तीत्युपदिशति—

(३४१ ज०) लोगस्स कुणदि विण्हू, सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।

समणाणं पि य अप्पा, जदि कुव्वदि छविह्हे काए ॥

(३४२ ज०) लोगसमणाणमेवं, सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो ।

लोगस्स कुणदि विण्हू, समणाणं अप्पओ कुणदि ॥

(३४३ ज०) एवं ण कोवि मुक्खो, दीसदि दुण्हंपि समणलोयाणं ।

णिच्चं कुव्वंताणं, सदेवमणुआसुरे लोगे ॥

लोकस्य करोति विष्णुः, सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् ।

श्रमणानामप्यात्मा, यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥ ३४१ ॥

लोक-श्रमणानामेवं, सिद्धांतो प्रति न दृश्यते विशेषः ।

लोकस्य करोति विष्णुः, श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥ ३४२ ॥

एवं न कोऽपि श्रेष्ठो, दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेऽपि ।

नित्यं कुर्वतां, सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥ ३४३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—लोगस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते लोकस्य मते विष्णुः करोति ।

कान् ? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छविह्हे काए श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति यदि चेत् । कान् ? षट्जीवनिकायानिति । लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धांतं प्रति, आगमं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेषः । कयोः संबंधी ?

उत्थानिका—जो एकांत से आत्मा को कर्ता मानते हैं उनके यहां अज्ञानीजनों के समान मोक्ष नहीं है ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(लोगस्स सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते विण्हू कुणदि) लोक में सुर, नारक, तिर्यच और मनुष्य इन प्राणियों को विष्णु करता है—बनाता है (जदि य समणाणंपि अप्पा छविह्हे काए कुव्वदि) यदि ऐसे ही श्रमणों के मत में भी आत्मा छहकाय के जीवों को करता है (एवं लोगसमणाणं सिद्धंतं पडि ण विसेसो दिस्सदि) तो इस प्रकार से लौकिकजनों और श्रमणों—जैन मुनियों के सिद्धांत में कोई अंतर नहीं दिखेगा । (लोगस्स विण्हू कुणदि समणाणं अप्पओ कुणदि) लौकिक मत में विष्णु कर्ता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है (एवं णिच्चं सदेवमणुआसुरे लोगे कुव्वंताणं) नित्य ही देव, मनुष्य और असुर सहित इस लोक को करते हुये (समणलोयाणं दुण्हंपि कोवि मुक्खो ण दीसदि) श्रमण और लौकिकजन इन दोनों में से कोई भी मुक्त हुआ नहीं दिखेगा ॥ ३४१ से ३४३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—लोकमत में—वैदिक संप्रदाय में देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्य जीवों को विष्णु भगवान करता है पुनः श्रमणों के मत में—जैन मुनियों के मत में छह जीव निकाय को यह आत्मा करता है । इस प्रकार सिद्धांत—आगम के प्रति कोई भी विशेषता नहीं दिखती है ।

लोकश्रमणयोः । कस्मात् इति चेत्—लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि लोकमते विण्णुनामा कोऽपि परकल्पितपुरुषविशेषः करोति । श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति तत्र विण्णुसंज्ञा श्रमणमते चात्मसंज्ञा नास्ति विप्रतिपत्तिर्न चार्थः । एवं ण कोवि मुखो दीसदि दुण्हं पि समणलोयाणं एवं कर्तृत्वे सति को दोषः ? मोक्षः कोऽपि न दृश्यते कयोर्लोकश्रमणयोः । किं विशिष्टयोः ? णिच्चं कुच्चं ताणं सदेवमणुआसुरे लोगे नित्यं सर्वकालं कर्म कुर्वतोः । क्व ? लोके । कथंभूते ? देवमनुष्यासुरसहिते किं च—रागद्वेष मोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते । तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गाच्च्यवनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः । एवं पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं ॥ ३४१ । ३४२ । ३४३ ॥

लौकिकजन और जैनमुनि दोनों के आगम एक जैसे दिख रहे हैं । लोकमत में विण्णु नाम का कोई अन्य के द्वारा कल्पित पुरुषविशेष करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है । उन लौकिक जनों के यहां 'विण्णु' नाम दे दिया है और श्रमण संप्रदाय में 'आत्मा' नाम दे दिया है इन दोनों में कोई अर्थ से भेद नहीं दिखता है ।

प्रश्न—ऐसे कर्तापना मान लेने पर दोष क्या है ?

उत्तर—पुनः लोक में देव, मनुष्य, असुर सहित लोक को—विश्व को नित्य ही करते हुये—बनाते हुये लौकिकजन और जैनमुनि इन दोनों के यहां किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा । इसका खुलासा यह है कि रागद्वेष-मोह से परिणमन करना ही कर्तृत्व कहा जाता है । उस रागद्वेषमोह के परिणमन के होते रहने पर शुद्धस्वभाव—आत्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में आचरणरूप चारित्र ऐसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप—निश्चय मोक्षमार्ग से यह जीव च्युत हो जाता है और इस कारण से उसके मोक्ष नहीं होता है ऐसा समझना । इस प्रकार पूर्वपक्षरूप से तीन गाथायें हुई ॥ ३४१ से ३४३ ॥

भावार्थ—अनादिकाल से यह आत्मा व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर पाया है अतः मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाया है । यहां निश्चयरत्नत्रय से च्युत होने का अर्थ यही लेना कि उसे प्राप्त नहीं कर पाया है । अथवा उपशमश्रेणी की अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थान से भी यह आत्मा च्युत हो जाता है—गिर जाता है । किंतु यहां उसकी विवक्षा नहीं है बल्कि सामान्य कथन है । यहां पर एकांत से—सर्वथा आत्मा को नर-नारकादि पर्यायों का कर्ता मानते रहने से यह दूषण घटित हो जाता है । कथंचित् अशुद्धनिश्चय की अपेक्षा से यह आत्मा अपने रागादि भावों का कर्ता होता है और व्यवहारनय से कर्मों का, शरीर आदि का भी कर्ता ही है ।

यहां गाथा में पाठ भेद हैं—श्रीअमृतचंद्रसूरि ने 'सिद्धंतं जइ ण' पाठ रखा है और श्रीजयसेनाचार्य ने 'सिद्धंतं पडि ण' ऐसा लिया है । आगे 'दीसइ लोयसमणाण दोण्हं पि' ऐसा पाठ अमृतचंद्रसूरि ने माना है किंतु श्रीजयसेनाचार्य ने 'दीसदि दोण्हं पि समणलोयाणं' पाठ रखा है, ऐसा समझना ।

व्यवहारभासिण उ परद्रव्यं मम भणंति अविदित्यथा ।
 जानंति निश्चयेण उ ण य मम परमाणुमिच्छामवि किञ्चि ॥ ३२४ अ० ॥
 जह कोवि णरो जंपइ अहां गामविसयणयररट्ठं ।
 ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥ ३२५ अ० ॥
 एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
 जो परद्रव्यं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥ ३२६ अ० ॥

व्यवहारभासितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः ।
 जानंति निश्चयेन तु न च गम परमाणुमात्रमपि किञ्चित् ॥ ३२४ ॥
 यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं ।
 न च भवति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥ ३२५ ॥
 एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः ।
 यः परद्रव्यं ममति जात्रात्मानं करोति ॥ ३२६ ॥

आगे परद्रव्य को सर्वथा मेरा कहने वालों को दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं—

अन्वयार्थ—(अविदितार्थाः व्यवहारभासितेन तु परद्रव्यं मम भणंति) अज्ञानी जन व्यवहार के वचन से 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा कहते हैं। (तु निश्चयेन परमाणुमात्रं अपि किञ्चित् मम न च जानंति) किंतु ज्ञानी निश्चय से परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नहीं है ऐसा जानते हैं। (यथा कोऽपि

(३४४)—तत्त्वों के ज्ञाता मुनिवर व्यवहार वचन कहते हैं ।

परद्रव्य पिच्छिका आदि को मेरी यह कहते हैं ॥

लेकिन निश्चय नय से तो वे ऐसा जान रहे हैं ।

परवस्तु परमाणुमात्र नहि अपना मान रहे हैं ॥ ३२४ ॥

(३४५)—जैसे कोई पुरुष ग्राम नगरादिक अपने कहते ।

उसके कहने से ग्रामादिक उसके नहि हो सकते ॥

मात्र मोह के वश से मेरा मेरा कहता रहता ।

निश्चय से तो यह भी उनसे भिन्न सदा ही रहता ॥ ३२५ ॥

(३४६)—इसी तरह परद्रव्यों को पर जान रहा जो ज्ञानी .

तो भी मेरा मेरा कहकर अपनाता वो ज्ञानी ॥

तब तो उस क्षण वह अवश्य मिथ्यादृष्टी बन जाता ।

क्योंकि ज्ञान का दुरुपयोग नहि सम्यग्ज्ञान कहाता ॥ ३२६ ॥

तद्वा ण मेति णिच्चा दोण्हं वि एयाण कत्तविवसायं ।

परद्रव्ये जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥ ३२७ (चतुष्कम्) ॥

तस्मात् मम इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं ।

परद्रव्ये जानन् जानीयाद् दृष्टिरहितानां ॥ ३२७ ॥

आत्मख्यातिः—अज्ञानेन एव व्यवहारविमूढाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यन्ति । ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यन्ति । ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः । तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वणो मिथ्यादृष्टिरेव स्थात् । अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ॥ ३२४ । ३२५ । ३२६ । ३२७ ॥

नरः ग्रामविषयनगरराष्ट्रं अस्माकं जल्पति) जैसे कोई मनुष्य गांव, देश, नगर और राष्ट्र हमारे हैं ऐसा कहता है (तु तस्य च तानि न भवंति) किंतु उसके वे सब नहीं हैं (च सः आत्मा मोहेन भणति) फिर भी वह आत्मा मोह से वैसा कहता है । (एवमेव यः ज्ञानी परद्रव्यं मम इति जानन् आत्मानं करोति) इसी प्रकार से जो ज्ञानी 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा जानता हुआ उसे अपना करता है (एषः निःसंशयं मिथ्यादृष्टिः भवति) यह ज्ञानी निःसंदेह मिथ्यादृष्टि हो जाता है । (तस्मात् न मम इति ज्ञात्वा द्वयेषां अपि एतेषां कर्तृव्यवसायं परद्रव्ये जानन् दृष्टिरहितानां जानीयात्) इसलिये 'यह मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और श्रमण इन दोनों के भी परद्रव्य में कर्ता का निश्चय मिथ्यादृष्टियों के होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३२४ से ३२७ ॥

आत्मख्याति—अज्ञानी जन ही व्यवहार में विमूढ़ हुये परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसा देखते हैं—जानते हैं किंतु ज्ञानी जन निश्चय से प्रतिबुद्ध होते हैं अतः वे परद्रव्य की कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं मानते हैं । जैसे इस संसार में कोई मनुष्य व्यवहार में मूढ़ हुआ पर के ग्राम में रहते हुये 'यह मेरा ग्राम है' ऐसा मानता हुआ मिथ्यादृष्टि है । वैसे ही यदि ज्ञानी जीव भी कथंचित् व्यवहार में मूढ़ होकर 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसा मान लेवे—श्रद्धान कर लेवे तब वह भी परद्रव्य को अपनी आत्मारूप करता हुआ निःसंदेह मिथ्यादृष्टि हो जायेगा इसलिये तत्त्व को जानता हुआ पुरुष सभी ही परद्रव्यों को 'ये मेरे नहीं हैं' ऐसा जानकर निश्चितरूप से जाने कि लौकिकजन और जैन साधु इन दोनों के यहां भी जो यह परद्रव्य में कर्तापने का निश्चय है वह उन दोनों के भी सम्यग्दर्शन से रहित होने से ही होता है, इस तरह वह तत्त्वज्ञ पुरुष जाने—निश्चित करे, ऐसा समझना ॥ ३२४ से ३२७ ॥

(३४७)—पर तो मेरा हो नहीं सकता ऐसा भी चिन्तन है ।

पर लौकिक जन मुनि दोनों ने माना कर्तापन है ॥

उसको मिथ्यादृष्टीकृत व्यवसाय मानता ज्ञानी ।

पर को पर प्रतिक्षण जो कहता वह ही भेदविज्ञानी ॥ ३२७ ॥

वसंततिलका—एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण साद्धुं सवंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।

तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यत्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वं ॥ २०१ ॥

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-मज्ञानमभ्यस्यन्महसो बत ते बराकाः ।

कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ २०२ ॥

इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—इस संसार में एक वस्तु में अन्य वस्तु के साथ संपूर्ण ही संबंध का निषेध किया गया है इसलिये जहां वस्तु भेद है वहां वस्तु भेद में कर्ता-कर्म को घटित नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार मुनिजन और लौकिकजन तत्त्व को अकर्ता ही मानो । २०१ ।

भावार्थ—यहां संसार में चेतन का अचेतन के साथ अथवा अचेतन का चेतन के साथ तादात्म्य संबंध, गुण-गुणी संबंध, अथवा लक्ष्य-लक्षण भावसंबंध, या वाच्यवाचक संबंध अथवा विशेष्य-विशेषण लक्षण संबंध ऐसे किसी भी प्रकार का संबंध संभव नहीं है । जब ऐसी वस्तुव्यवस्था है तब जीव-पुद्गल में कर्ता-कर्म की व्यवस्था कैसे घटेगी ? अतः जैनमुनि और वैशेषिक लोग आप सभी को ही आत्मा को परद्रव्य का कर्ता नहीं मानना चाहिये ।

काव्यार्थ—आचार्य खेद पूर्वक कहते हैं कि अरे ! जो इस वस्तु स्वभाव के नियम को नहीं जानते हैं, वे बेचारे जिनका कि पराक्रमरूपी तेज अज्ञान में डूबा हुआ है ऐसे दीन लोग ही कर्म को करते हैं इसलिये भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं है । २०२ ।

भावार्थ—जो सांख्य आदि मत का अनुसरण करने वाले लोग अज्ञान से आच्छादित होकर अपने स्वरूप को नहीं समझते हैं वे ही राग-द्वेष, मोहरूप भावों के कर्ता होते हुये द्रव्यकर्मों का उपार्जन कर लेते हैं । जो एकांत से आत्मा को कर्ता मान लेते हैं अथवा अकर्ता ही मान लेते हैं वे ही अज्ञान से परिणत होते हुये अपने विभाव भावों के कर्ता होकर द्रव्यकर्मों का भी बंध कर लेते हैं ।

है एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

सब सम्बन्धों को भी निषिद्ध कर दिया अतः कुछ बन्ध नहीं ॥

जहाँ वस्तुभेद वहाँ उसी में कर्ता, कर्म घटित न किया जानो ।

इस तरह साधु एवं लौकिक जन ! तत्त्व अकर्ता ही मानो ॥ २०१ ॥

इस वस्तुस्वभाव नियम को जो नहीं जान रहे अज्ञानी हैं ।

अज्ञान में डूबा जिनका तेज पराक्रम कहते ज्ञानी हैं ॥

ऐसे बेचारे दीन लोग ही जग में कर्म किया करते ।

इसलिए भावकर्मों का कर्ता चेतन स्वयं ऋषी कहते ॥ २०२ ॥

(उत्थानिका) —अथोत्तरं निश्चयेनात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसंबन्धो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति—

- (३४४ ज०) व्यवहारभासिदेण दु परद्रव्यं मम भणंति विदिदच्छा ।
जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्तं मम किञ्चि ॥
- (३४५ ज०) जह कोवि णरो जंपदि अम्हाणं गामविसयपुररट्ठं ।
ण य हुंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥
- (३४६ ज०) एमेव मिच्छदिट्ठी, णाणी णिस्संसयं हवदि एसो ।
जो परद्रव्यं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥
- (३४७ ज०) तम्हा ण ममेति णच्चा, दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ ।
परद्रव्ये जाणंतो, जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं ॥

व्यवहारभासितेन तु परद्रव्यं मम भणंति विदितार्थाः ।
जानंति निश्चयेन तु न चेह परमाणुमात्रं मम किञ्चित् ॥ ३४४ ॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति, अस्माकं ग्रामविषयपुराष्ट्रं ।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥ ३४५ ॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानो निस्संशयं भवत्येषः ।
यः परद्रव्यं ममेति, जानन्नात्मानं करोति ॥ ३४६ ॥
तस्मान्न मम इति ज्ञात्वा, द्वेषामप्येतेषां कर्तव्यसायं ।
परद्रव्ये जानन्, जानीयात् दृष्टिरहितानां ॥ ३४७ ॥

उत्थानिका—पहले तीन गाथायें पूर्वपक्षरूप से थीं उनका उत्तर देते हुये कहते हैं कि निश्चय से इस आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ कर्ता-कर्म संबंध नहीं है पुनः यह आत्मा कर्ता कैसे हो सकेगा ?

अन्वयार्थ—(विदिदच्छा व्यवहारभासिदेण दु परद्रव्यं मम भणंति) तत्त्ववेत्ता मुनि व्यवहारनय के कथन से ही परद्रव्य को "मेरा है" ऐसा कहते हैं (दु इह परमाणुमित्तं किञ्चि य ण मम णिच्छयेण जाणंति) किंतु इस संसार में परमाणुमात्र कुछ भी मेरा नहीं है ऐसा वे निश्चयनय से जानते हैं (जह कोवि णरो जंपदि गामविसयपुररट्ठं अम्हाणं) जैसे कोई मनुष्य कहता है कि गांव, देश, नगर और राष्ट्र हमारे हैं (दु तस्स ताणि य ण हुंति य मोहेण सो अप्पा भणदि) किंतु उसके वे ग्रामादि नहीं हैं वह जीव तो मोह से ही ऐसा कहता णणी एमेव

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारभासितेण दु परद्रव्यं मम भणंति विदिदच्छा परद्रव्यं मम भणंति। के ते ? विदितार्थाः—ज्ञातार्थाः तत्त्ववेदिनः। केन कृत्वा भणंति ? व्यवहारभासितेन व्यवहारनयेन। जाणंति पिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्तं मम किञ्चि निश्चयेन पुनर्जानंति। किं ? न चेह परद्रव्यं परमाणुमात्रमपि ममेति। जह कोवि णरो जंपदि अहाणं गामविसयपुररद्धं यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति। किं जल्पति ? वृत्यावृतो ग्रामः, देशाभिधानो विषयः, नगराभिधानं पुरं, देशैकदेशसंज्ञं राष्ट्रमस्माकमिति। ण य हुंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा न च तानि तस्य भवंति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीयं ग्रामादिकमिति दृष्टान्तः। अथ दार्ष्टान्तः—एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं भणति तदा मिथ्यात्वं प्राप्तः सन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निश्चिन्तयं निश्चितं। संदेहो न कर्तव्यः इति। तद्वा इत्यादि। तद्वा तस्मात् परकीयग्रामादिदृष्टान्तेन स्वानुभूतिभावनाच्युतः सन् योऽसौ परद्रव्यं व्यवहारेणात्मीयं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणितं पूर्व। तस्मात्कारणाज्जायते दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ। परद्रव्ये तयोः पूर्वोक्तलौकिकजनयोः—आत्मा परद्रव्यं करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसायः। किं कृत्वा ?

जाणंतो परद्रव्यं मम इदि अप्पयं कुणदि एसो णिस्संसयं मिच्छदिद्वो हवदि) जो ज्ञानी आत्मा इस प्रकार जानते हुये भी परद्रव्य को “ये मेरे हैं” ऐसे अपने करता है ऐसा वह निःसंदेह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (तद्वा ण ममेति णत्त्वा परद्रव्ये एदाण दुण्हं कत्तिववसाओ जाणंतो) इसलिये “ये परद्रव्य मेरे नहीं हैं” ऐसा जानकर परद्रव्य में इन लौकिक जन और श्रमणों के कर्तापन के व्यापार को जानते हुये (दिद्विरहिदाणं इमं जाणिज्जो) ये सम्यक्त्व से रहित हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ३४४ से ३४७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जिन्होंने तत्त्वार्थ को जान लिया है ऐसे तत्त्ववेत्ता पुरुष व्यवहारनय से ऐसा कहते हैं कि ‘यह परद्रव्य मेरा है।’ पुनः निश्चयनय से जानते हैं कि इस लोक में ‘परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है।’ अहो ! आश्चर्य है कि जैसे कोई पुरुष ऐसा कहता है कि ये गांव, देश, नगर और राष्ट्र मेरे हैं किंतु वे राजा के ग्राम, नगर आदि उसके नहीं हैं फिर भी यह मोह से ही ऐसा कहता है कि ‘ये ग्राम, नगर आदि हमारे हैं।’ यह दृष्टान्त हुआ। यहां पर गांव आदि के संक्षिप्त लक्षण से ऐसे जानना, जो बाड़ से वेष्टित हो उसे ग्राम कहते हैं, देश को ‘विषय’ नाम से कहते हैं, नगर को पुर कहते हैं और देश के एकदेश को राष्ट्र कहते हैं ऐसा समझना। अब दार्ष्टान्त कहते हैं—पूर्वोक्त दृष्टान्त से यदि ज्ञानी जीव व्यवहार से विमूढ़ होकर परद्रव्य को अपने कहता है तब वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा निश्चित है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये इत्यादि। इस परकीय ग्राम आदि के दृष्टान्त से अपनी स्वानुभूति की भावना से च्युत होता हुआ जो यह पुरुष व्यवहार से परद्रव्य को अपना करता है वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा पहले कहा है। इस कारण से यह जाना जाता है कि पूर्व में कथित

पूर्व ण ममेति णच्चा निर्विकारस्वपरपरिच्छिन्नज्ञानेन परद्रव्यं मम संबन्धं न भवति इति ज्ञात्वा ? जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं इमं लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्वव्यवसायं—अन्यः कोऽपि तृतीयतटस्थः पुरुषो जानन् सन् जानीयात् । स कथंभूतं जानीयात् ? वीतरागसम्यक्त्वसंज्ञा या तु निश्चयदृष्टिस्तद्रहितानां व्यवसायोऽयमिति । ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः । प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति । किं च विशेषः—लोकानां मते विष्णुः करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणितं । न चानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मा वा महेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति । कथमिति चेत् ? सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेंद्रियादिजीवैर्भूतस्तिष्ठति । तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण

लौकिकजन और जैनमुनि इन दोनों का परद्रव्य के विषय में 'आत्मा पर द्रव्य को करता है' इस रूप से जो यह परद्रव्य में कर्तापने का व्यवसाय है—निश्चय है इसको अन्य कोई भी तीसरा ही तटस्थ पुरुष जानता हुआ जाने ।

प्रश्न—कैसे जाने ?

उत्तर—वह निर्विकार स्व-पर को जानने रूप ज्ञान के द्वारा 'यह परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिक और जैन दोनों के परद्रव्य के विषय में कर्तापन के निश्चय को—अध्यवसाय को जानता हुआ यह जाने कि वीतराग सम्यक्त्व नाम का जो निश्चय सम्यक्त्व है उससे रहित जीवों का ही यह कर्तापने का अध्यवसाय है—निश्चय है ऐसा जाने ।

शंका—ज्ञानी होकर व्यवहार से परद्रव्य को अपना कहने वाला अज्ञानी कैसे होता है ?

समाधान—यह व्यवहार तो म्लेच्छ जनों को म्लेच्छ भाषा में समझाने के समान प्राथमिक जनों को संबोधित करने के समय ही ग्रहण करना चाहिये । प्राथमिकजनों को समझाने के समय को छोड़कर कतकफल के समान आत्मा की शुद्धि को करने वाले ऐसे शुद्धनय से च्युत होकर यदि परद्रव्यों को अपनी आत्मा के करता है तब वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है । अब इसी का विस्तार से कथन करते हैं—लौकिक जनों के मत में 'विष्णु कर्ता है' इस प्रकार जो पहले कहा गया है वह लोक व्यवहार की अपेक्षा से ही कहा गया है क्योंकि वास्तव में तो इस अनादिकालीन, देव, मनुष्यादिस्वरूप विश्व का कोई भी विष्णु या ब्रह्मा या महेश्वर करने वाला—बनानेवाला नहीं है ।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—क्योंकि यह संपूर्ण भी लोक—चराचर विश्व पहले से ही एकेंद्रिय आदि जीवों

जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णुः आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वरः, आत्मैव जिनः । तदपि कथमिति चेत् ? कोऽपि जीवः पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकांक्षानिदानबन्धेन पापानुबन्धि पुण्यं कृत्वा स्वर्गे समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखंडाधिपतिरर्द्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापरः कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि जीवो जिनदीक्षां गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुबन्धि पुण्योपार्जनं कृत्वा विद्यानुवादसंज्ञं दशमपूर्वं पठित्वा चारित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकालप्रभावेण विद्याबलेन लोकस्याहं कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनानां विस्मयं कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वावसर्पिणीषु । सा च हुण्डावसर्पिणी संख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति । तथा चोक्तं— 'संख्यातीदवसर्पिणि गयासु हुण्डावसर्पिणी एङ् । परसमयहं उप्पत्ती तर्हि जिणवर एव पभणेइ' ॥^१ न

से भरा हुआ स्थित है और उन जीवों में ही निश्चयनय की अपेक्षा से विष्णुपर्याय से, ब्रह्मापर्याय से, महेश्वरपर्याय से तथा जिनपर्याय से परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है इस कारण से आत्मा ही विष्णु है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही महेश्वर है और आत्मा ही जिनेन्द्रभगवान् है ।

प्रश्न—ऐसा कैसे है ?

उत्तर—ऐसा इस प्रकार है कि कोई भी जीव पहले मनुष्य भव में जैनेश्वरी दीक्षा लेकर भोगों की आकांक्षा करके निदानबन्ध के द्वारा पापानुबन्धि पुण्य को करके स्वर्ग में उत्पन्न होकर वहां के सुख भोगकर पुनः वहां से च्युत होकर मनुष्य भव में तीन खंड का अधिपति ऐसा अर्द्धचक्रवर्ती हो जाता है उसी का विष्णु—नारायण यह नाम है, इससे भिन्न अन्य कोई भी लोक का कर्ता—सृष्टि का कर्ता विष्णु नहीं है । इसी प्रकार अन्य कोई जीव जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधना करके पापानुबन्धि पुण्य का उपार्जन करके विद्यानुवाद नाम के दसवें पूर्व को पढ़कर चारित्र मोहनीय के उदय से तपश्चरण से च्युत होकर विद्या के बल से 'मैं लोक का—विश्व का कर्ता हूँ' इत्यादि चमत्कार को उत्पन्न करके मूढजनों को विस्मय में डालकर महेश्वर हो जाता है । यह महेश्वर की उत्पत्ति मात्र हुंडावसर्पिणी में ही होती है न कि सर्व अवसर्पिणी कालों में, और यह हुंडावसर्पिणी भी असंख्यातो उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर आती है । जैसा कि तिलोयपण्णत्ति में कहा है—असंख्यातो अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर कहीं एक हुंडावसर्पिणी आती है । इसमें परसमय—अन्य भवों की उत्पत्ति होती है ऐसी श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

चान्यः कोऽपि जगत्कर्ता महेश्वराभिधानः पुरुषविशेषोऽस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरणं कृत्वा पश्चात्तपःप्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्तं चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा संज्ञा । न चान्यः कोऽपि जगतः कर्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति । तथैवापरः कोऽपि दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नतेत्यादि—षोडशभावनां कृत्वा देवेन्द्रादिविनिर्मितपंचमहाकल्याणपूजायाभ्यं तीर्थंकरपुण्यं स्रुतपार्ष्णं जिनेश्वराभिधानो वीतरागसर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यं । एवं यद्येकांतेन कर्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टांतेन गाथात्रयेण पूर्वपक्षं कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तकं गतं ॥ ३४४ । ३४५ । ३४६ । ३४७ ॥

इस महेश्वर—रुद्र से अतिरिक्त अन्य कोई भी महेश्वर नाम वाला पुरुषविशेष जगत् का कर्ता नहीं है, ऐसा समझना ।

इसी प्रकार से कोई भी पुरुष विशेष तपश्चरण करके अनंतर तप के प्रभाव से स्त्री के विषय सुख के निमित्त चतुर्मुख हो जाता है—चार मुख बना लेता है उसी का 'ब्रह्मा' यह नाम है । इससे भिन्न विश्व का कर्ता, विश्व में व्यापक, एकरूपवाला ब्रह्मा नाम से अन्य कोई भी नहीं है ।

ऐसे ही अन्य कोई भी मनुष्य दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता इत्यादि सोलह भावनाओं को भाकरके देवेन्द्र आदि से किये जाने वाले पंचकल्याणक पूजा के योग्य तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध करके 'जिनेश्वर' नाम से वीतराग सर्वज्ञदेव हो जाता है । इस प्रकार से वस्तु का स्वरूप जानना चाहिये । इस तरह यदि एकांत से कर्ता मानेंगे तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा । यहां इस विष्णु के दृष्टांत से तीन गाथाओं द्वारा पूर्वपक्ष रक्खा पुनः चार गाथाओं द्वारा उसका परिहार करते हुये कथन किया है । ऐसे इस प्रथमस्थल में सात गाथासूत्र हुये हैं ।

विशेषार्थ—जैनमत में यह लोकाकाश-अलोकाकाशमयी विश्व अनादिनिधन है, स्वयं सिद्ध है, अकृत्रिम है इसको बनाने वाला कोई ब्रह्मा, विष्णु या महेश्वर नहीं है । अनंत अलोकाकाश के ठीक बीच में तीन सौ तेतालिस घनराजु प्रमाण यह लोकाकाश है । यह पुरुषाकार है इस लोक की ऊँचाई चौदह राजु है और चौड़ाई तलभाग में सात राजु है, आगे घटते हुये मध्यलोक में एक राजु रह गई है पुनः बढ़ते हुये ब्रह्मस्वर्ग के पास पांच राजु हो गई है अनंतर घटते हुये अंत में मात्र एक राजु रह गई है । इसकी मोटाई सर्वत्र सात राजु है । इस प्रकार पूरे लोकाकाश का घनफल निकालने पर तीन सौ तेतालिस राजु होता है । उसमें नीचे सात राजु में नरक हैं, ऊपर सात राजु में स्वर्ग हैं और ऊपर के किंचित्मात्र—एक लाख चालीस योजन ऊँचाई में यह मध्यलोक है, यह एक राजु विस्तृत है । इसमें असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं जो कि गोलाकार हैं और एक दूसरे को घेष्टित किये हुये चूड़ी के आकार के हैं । उन सभी के ठीक मध्य में जंबूद्वीप है । यह पहला द्वीप थाली के आकार का है । इसे

वेष्टित कर लवणसमुद्र है, इसको वेष्टित कर धातकीखंडद्वीप है, इसको वेष्टित कर कालोदधि समुद्र है पुनः इसे बेढ़कर पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के ठीक मध्य में चूड़ी के आकार का एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। इसी से इस द्वीप के दो भाग हो गये हैं। अतः जंबूद्वीप, धातकीखंड द्वीप, और पुष्करार्थ द्वीप इन ढाई द्वीपों में तथा मध्य के लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र इन दो समुद्रों में ही, मानुषोत्तर पर्वत के इधर-इधर तक ही मनुष्य लोक कहलाता है। इसके परे किसी भी द्वीप-समुद्र में न मनुष्य जन्म लेते हैं और न जा ही सकते हैं।

जंबूद्वीप में एक भरत और एक ऐरावत ऐसे दो क्षेत्र हैं। जहां सतत छह काल का परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार धातकीखंड में दो भरत, दो ऐरावत हैं, तथा पुष्करार्थ द्वीप में भी दो भरत, दो ऐरावत हैं। इस तरह इन ढाई द्वीप में पांच भरत, पांच ऐरावत हो गये। इन दश क्षेत्रों में पांच-पांच स्लेच्छ खंड एवं एक-एक आर्यखंड हैं। इन आर्यखंडों में हमेशा ही काल परिवर्तन होता रहता है। “भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्” ॥ २७ ॥” भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह कालों के द्वारा वृद्धि-हास होता रहता है। अवसर्पिणी के छह काल के नाम—सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमासुषमा, दुषमा और अतिदुषमा। प्रथम के तीन कालों में भोगभूमि की व्यवस्था रहती है, अनंतर के तीन कालों में कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। ऐसे ही उत्सर्पिणी में अतिदुषमा से शुरू होकर सुषमासुषमा तक छह काल होते हैं। इस उत्सर्पिणी में जीवों की आयु, शरीर-अवगाहना, सुख, वैभव आदि की वृद्धि होती चली जाती है और अवसर्पिणी में हानि होती चली जाती है। इनमें दोनों में जब चौथा काल आता है जिसका कि दुषम-सुषमा नाम है तब कर्मभूमि में भी उत्तम कर्मभूमि रहती है जिसे सत्युग कहते हैं।

जैनसिद्धांत के अनुसार इस चतुर्थकाल में त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण और नव प्रतिनारायण। इस बार चतुर्थ काल में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुये हैं ये जिन, जिनेंद्र, जिनेश्वर, जिनराज, भगवान्, परमात्मा, परमपिता आदि हजारों नामों से जाने जाते हैं। भरत सम्राट् से लेकर ब्रह्मदत्त तक बारह चक्रवर्ती हुये हैं। आज जिनके नाम पर यह देश ‘भारत’ नाम से प्रसिद्ध है ये वो ही भरत भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पुत्र थे। विजय आदि

से लेकर बलदेव तक नव बलभद्र हुये हैं। इनमें से आठवें बलभद्र श्रीरामचंद्र थे और नवमें बलभद्र बलदेव/बलराम थे, ये श्रीकृष्ण के बड़े भाई थे। त्रिपृष्ठ से श्रीकृष्ण तक नव नारायण हुये हैं। इनमें से आठवें नारायण लक्ष्मण थे जो कि रामचंद्र के भाई थे। अश्वग्रीव से लेकर जरासंध तक नव प्रतिनारायण हुये हैं। इनमें से आठवां प्रतिनारायण रावण था।

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में से नारायण को विष्णु भी कहते हैं वर्तमान में विष्णु भगवान् से प्रसिद्धि को प्राप्त नवमें नारायण श्रीकृष्ण हुये हैं।

इसी प्रकार असंख्यातों उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के बीत जाने पर एक हुंडावसर्पिणी आती है। जो कि आजकल चल रही है। हम और आप इसी में जन्मे हैं। इस हुंडावसर्पिणी के दोष से यहां बहुत से पाखंड मत उत्पन्न हो जाते हैं। इसी काल दोष से यहां चतुर्थकाल में ग्यारह रुद्र उत्पन्न होते हैं। जिनमें से अंतिम रुद्र महादेव थे। ये भगवान् महावीर के मौसरे भाई थे। ये ही 'महेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध हुये हैं।

जैनमत के अनुसार कोई भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं है। प्रत्येक आत्मा स्वयं अपनी सृष्टि बनाता है—अपने किये कर्मों के अनुसार नारकी, तिर्यच, मनुष्य, देवनाम की पर्यायों का धारण करते हुये संसार में भ्रमण करता रहता है। जब कोई भी जीव स्वयं की अनंतशक्ति को पहचान कर पुरुषार्थ करता है तब वह तीर्थंकर, जिन या सामान्य केवली भगवान् बनकर मोक्ष को प्राप्त करके भगवान् परमात्मा बन जाता है। अतः यहां विश्व का कर्ता जैसा कि वैशेषिक संप्रदाय वाले मानते हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये।

इसी प्रकार से अपनी आत्मा को भी एकांत से नर-नारकादि पर्यायों का कर्ता-हर्ता नहीं मानना चाहिये। तभी यह कर्तृत्व बुद्धि समाप्त कर आत्म स्वरूप में लीन होकर निर्विकल्प ध्यानी बनकर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, सिद्ध आत्मा बन सकता है ऐसा समझना। यहां तीनलोक का और छहकाल परिवर्तन का नाममात्र निर्देश किया है। विशेष जिज्ञासुओं को तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, त्रिलोक-भास्कर आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये। ढाई द्वीप में एक सौ साठ विदेह माने हैं उनमें सदा ही कर्मभूमि रहती है। यहां जैसे चतुर्थकाल के प्रारंभ में व्यवस्था रहती है वैसी ही व्यवस्था वहां हमेशा रहती है ऐसा समझना अतः वहां हमेशा ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण होते हैं। वहां शाश्वत कर्म-भूमि में रुद्रों की उत्पत्ति नहीं होती है।

मिच्छतं जइ पयडी मिच्छाइट्टी करेइ अप्पाणं ।

तह्या अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३२८ अ० ॥

अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छतं ।

तह्या पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्टी ण पुण जीवो ॥ ३२९ अ० ॥

अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छतं ।

तह्या दोहिं कदं तं दोणिणवि भुञ्जन्ति तस्स फलं ॥ ३३० अ० ॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं ।

तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ॥ ३२८ ॥

अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं ।

तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३२९ ॥

अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं ।

तस्मादद्वाभ्यां कृतं तद् द्वावपि भुंजाते तस्य फलं ॥ ३३० ॥

जीव के मिथ्यात्व भाव का कर्ता कौन है ? इसे ही दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(यदि मिथ्यात्वं प्रकृतिः आत्मानं मिथ्यादृष्टिं करोति) यदि मिथ्यात्व प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है (ननु तस्मात् ते अचेतना प्रकृतिः कारका प्राप्ता) तब इस हेतु से आप-सांख्य के यहाँ अचेतन प्रकृति करने वाली हो जायेगी । (अथवा एषः जीवः पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वं करोति) अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करता है (तस्मात् पुद्गलद्रव्यं

(३४८)—यदि मिथ्यात्व प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती ।

तो वह स्वयं अचेतन चेतन की कर्ता बन जाती ॥

सांख्यमती तुम सुनो तुम्हारा मत ऐसा बतलाता ।

जीव अकर्ता पुद्गल कर्ता यह एकांत न भाता ॥ ३२८ ॥

(३५०)—यदि ऐसा माना जावे यह जीव सभी कुछ करता ।

पुद्गल के मिथ्यात्व भाव को आत्मा ही करता ॥

तब तो पुद्गल द्रव्य को ही मिथ्यादृष्टी तुम जानो ।

जीव कभी मिथ्यादृष्टी नहीं हो सकता यह मानो ॥ ३२९ ॥

(३५१)—यदि ऐसा मानें यह जीवरु, पुद्गल ऐसा करते ।

दोनों मिलकर पुद्गल को मिथ्यात्वरूप है करते ॥

दोनों द्वारा संचित कर्मों का फल द्वय को मिलता ।

पर ऐसा सिद्धान्त नहीं है अतः कथन नहीं बनता ॥ ३३० ॥

अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदब्बं करेदि मिच्छत्तं ।

तह्मा पुग्गलदब्बं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ अ० ॥ (चतुष्कम्)

अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं ।

तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥ ३३१ ॥ (चतुष्कं)

आत्मख्यातिः—जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषङ्गात् । स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषङ्गात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषङ्गात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौवप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषङ्गात् । ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धं ॥ ३२८ । ३२९ । ३३० । ३३१ ॥

मिथ्यादृष्टिः न पुनः जीवः) इसलिये पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ न कि जीव (अथ जीवः प्रकृतिः तथा पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं कुरुते) अथवा यह जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गलद्रव्यरूप मिथ्यात्व को करते हैं । (तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तस्य फलं द्वौ अपि भुंजाते) तब तो जो दोनों से किया गया है उसका फल दोनों ही भोगें (अथ न जीवः न प्रकृतिः पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं करोति) अथवा न जीव ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करता है न प्रकृति ही (तस्मात् पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु खलु मिथ्या न) तब तो पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ, क्या वह झूठ नहीं है ? ॥ ३२८ से ३३१ ॥

आत्मख्याति—यह जीव ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मों का कर्ता है क्योंकि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य मानने पर तो मिथ्यात्व आदि भावकर्म को अचेतनपने का प्रसंग आ जावेगा । मिथ्यात्व आदि भावकर्मों का कर्ता जीव अपने आप ही है । यदि जीव के द्वारा किये जाने वाले मिथ्यात्व आदि भावकर्म पुद्गलद्रव्य के माने जावें तब तो पुद्गलद्रव्य को चेतन होने का प्रसंग आ जावेगा । जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्व आदि भावकर्म को करते हैं तब तो जीव के समान अचेतन प्रकृति को भी उसके फल को भोगने का प्रसंग आ जावेगा अतः जीव और प्रकृति दोनों ही भावकर्म के कर्ता नहीं हैं । जीव और प्रकृति ये दोनों ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मों के अकर्ता ही हों ऐसा भी नहीं है अन्यथा स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्व आदि भावों को करने का प्रसंग आ जावेगा । इसलिए जीव ही अपने कर्म—भावकर्म का कर्ता है और वह कर्म ही उसका कार्य है यह बात सिद्ध हो गयी ॥ ३२८ से ३३१ ॥

(३५२)—पुद्गल को मिथ्यात्वरूप यदि प्रकृति जीव नहीं करते ।

तो भी पुद्गलद्रव्य स्वयं मिथ्यात्व स्वरूप ठहरते ॥

अतः सिद्ध यह हुआ कि अज्ञानी मिथ्यात्व करे हैं ।

उस निमित्त से पुद्गल परमाणू भी कर्म बने हैं ॥ ३३१ ॥

अहं ण पयडी ण जीवो पुद्गलद्रव्यं करेदि मिच्छत्तं ।

तद्वा पुद्गलद्रव्यं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ अ० ॥ (चतुष्कम्)

अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं ।

तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥ ३३१ ॥ (चतुष्कं)

आत्मख्यातिः—जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगत् । स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगत् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगत् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौवप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगत् । ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धं ॥ ३२८ । ३२९ । ३३० । ३३१ ॥

मिथ्यादृष्टिः न पुनः जीवः) इसलिये पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ न कि जीव (अथ जीवः प्रकृतिः तथा पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं कुरुते) अथवा यह जीव और प्रकृति ये दोनों पुद्गलद्रव्यरूप मिथ्यात्व को करते हैं । (तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तस्य फलं द्वौ अपि भुंजाते) तब तो जो दोनों से किया गया है उसका फल दोनों ही भोगें (अथ न जीवः न प्रकृतिः पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं करोति) अथवा न जीव ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करता है न प्रकृति ही (तस्मात् पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु खलु मिथ्या न) तब तो पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ, क्या वह झूठ नहीं है ? ॥ ३२८ से ३३१ ॥

आत्मख्याति—यह जीव ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मों का कर्ता है क्योंकि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य मानने पर तो मिथ्यात्व आदि भावकर्म को अचेतनपने का प्रसंग आ जावेगा । मिथ्यात्व आदि भावकर्मों का कर्ता जीव अपने आप ही है । यदि जीव के द्वारा किये जाने वाले मिथ्यात्व आदि भावकर्म पुद्गलद्रव्य के माने जावें तब तो पुद्गलद्रव्य को चेतन होने का प्रसंग आ जावेगा । जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्व आदि भावकर्म को करते हैं तब तो जीव के समान अचेतन प्रकृति को भी उसके फल को भोगने का प्रसंग आ जावेगा अतः जीव और प्रकृति दोनों ही भावकर्म के कर्ता नहीं हैं । जीव और प्रकृति ये दोनों ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मों के अकर्ता ही हों ऐसा भी नहीं है अन्यथा स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्व आदि भावों को करने का प्रसंग आ जावेगा । इसलिए जीव ही अपने कर्म—भावकर्म का कर्ता है और वह कर्म ही उसका कार्य है यह बात सिद्ध हो गयी ॥ ३२८ से ३३१ ॥

(३५२)—पुद्गल को मिथ्यात्वरूप यदि प्रकृति जीव नहीं करते ।

तो भी पुद्गलद्रव्य स्वयं मिथ्यात्व स्वरूप ठहरते ॥

अतः सिद्ध यह हुआ कि अज्ञानी मिथ्यात्व करे हैं ।

उस निमित्त से पुद्गल परमाणु भी कर्म बने हैं ॥ ३३१ ॥

शार्दूलविक्रीडित—कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-

रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुक्भावानुषङ्गात्कृतिः^१ ।

नैकस्याः प्रकृतेरचित्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो

जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता नयत्पुद्गलः ॥ २०३ ॥

कर्मेव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्तवान्मनः कर्तृतां

कर्तात्मैष कथं चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।

तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये

स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥ २०४ ॥

इसे ही कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—जो कर्म—भावकर्म हैं वह कार्य होने से अकृत—बिना किया हुआ नहीं है। यदि वह कर्म जित् और प्रकृति इन दोनों का कार्य है ऐसा मान लो तब तो ज्ञानशून्य प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। यदि कोई कहे कि एक अकेली प्रकृति को भावकर्म का कर्ता मानो तब तो प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है इसलिए भावकर्म का कर्ता जीव ही है। पुनः चेतन का अनुसरण करने वाला ऐसा वह भावकर्म जीव का ही कर्म है क्योंकि पुद्गल तो ज्ञाता है नहीं अतः वह भावकर्म पुद्गल का कर्म नहीं है ॥ २०३ ॥

काव्यार्थ—कोई आत्मा के घातक—एकांतवादी कर्म को ही कर्ता विचार कर आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' ऐसी अचलित श्रुति को कोपित करते हैं/विराधित करते हैं। तीव्रमोह से मुद्रित बुद्धि वाले ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञान की संशुद्धि के लिए वस्तुस्थिति स्तुत्य-प्रशंसित की जा रही है, इस वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के द्वारा एकांतवाद का प्रतिषेध करके विजय प्राप्त की है ऐसा समझना। २०४।

यदि कर्म ही जीव प्रकृति दोनों का कार्य अतः अकृत नहीं है।

तब ज्ञान शून्य प्रकृति को कार्य फल भुक्ती का प्रसंग ही है ॥

यदि एक प्रकृति को भावकर्म का कर्ता कहे तो वह जड़ है।

है जीव भाव चेतन कर्मों का कर्ता पुद्गल का नहीं है ॥ २०३ ॥

कुछ आत्म घाती एकांती कर्मों को कर्ता मान रहे।

यह जीव कथंचित् कर्ता है यह अचलित श्रुति विराध रहे ॥

मोहितमतियों की शुद्धि हेतु वस्तुस्थिति बतलाई है।

इस वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के द्वारा विजय दिलाई है ॥ २०४ ॥

(उत्थानिका) —अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् कर्मणामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणां स एव कर्ता न च पुद्गल इत्याख्याति । अथ गाथापंचकेन प्रत्येक गाथापूर्वार्धेन सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति पूर्वपक्ष उत्तराद्धेन परिहार इति ज्ञातव्यः—

(३४८ ज०) मिच्छता यदि पयडी, मिच्छादिद्वी करेदि अप्पाणं ।

तह्या अचेदणा दे, पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

(३४९ ज०) सम्मत्ता यदि पयडी, सम्मादिद्वी करेदि अप्पाणं ।

तह्या अचेदणा दे, पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

(३५० ज०) अहवा एसो जीवो, पुग्गल दब्बस्स कुणदि मिच्छत्तं ।

तह्या पुग्गलदब्बं, मिच्छादिद्वी ण पुण जीवो ॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिमिथ्यादर्ष्टि करोत्यात्मानं ।

तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥ ३४८ ॥

सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यग्दर्ष्टि करोत्यात्मानं ।

तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥ ३४९ ॥

अथवैषः जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं ।

तस्मात्पुद्गलद्रव्यं, मिथ्यादर्ष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३५० ॥

उत्थानिका—यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव होने से यह जीव कर्मों का अकर्ता है फिर भी अशुद्धनय से रागादि भावकर्मों का ही कर्ता है न कि पुद्गल, ऐसा कहते हैं । इसमें पाँच गाथाओं द्वारा प्रत्येक में गाथा के पूर्वार्ध से सांख्यमतानुसारी शिष्य के पूर्वपक्ष को कहकर गाथाओं के उत्तरार्ध से उसका परिहार करते हैं ऐसा जानना चाहिये—

अन्वयार्थ—(जदि मिच्छता पयडी अप्पाणं मिच्छादिद्वी करेदि) यदि मिथ्यात्व प्रकृति आत्मा को मिथ्यादर्ष्टि करती है (णणु तह्या दे अचेदणा पयडी कारगो पत्तो) तब तो इस हेतु से आप—सांख्य के यहाँ अचेतन प्रकृति कर्ता—करने वाली हो जायेगी । (जदि सम्मत्ता पयडी अप्पाणं सम्मादिद्वी करेदि) यदि सम्यक्त्व प्रकृति आत्मा को सम्यग्दर्ष्टि करती है (णणु तह्या दे अचेदणा पयडी कारगो पत्तो) तब तो इस कथन से आपके—सांख्य के यहाँ अचेतन प्रकृति ही कर्ता—करने वाली हो जायेगी (अहवा एसो जीवो पुग्गलदब्बस्स मिच्छत्तं कुणदि) अथवा यह जीव पुद्गल द्रव्य

(३४९)—यदि सम्यक्त्व प्रकृति आत्मा को सम्यग्दर्ष्टि बनाती ।

तो वह स्वयं अचेतन चेतन का कर्ता बन जाती ॥

ऐसे तो पुद्गल प्रकृति निश्चय से कर्ता बनती ।

लेकिन जिनशासन में ऐसी बात कहीं नहीं मिलती ॥

(३५१ ज०) अह जीवो पयडी विय, पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।

तह्मा दोहिकदत्तं दुण्णिवि भुजंति तस्स फलं ॥

(३५२ ज०) अह ण पयडी ण जीवो, पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।

तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ पंचकम् ॥

अथ जीवः प्रकृतिरपि, पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं ।

तस्माद् दोहिकं कृतं, दुण्वि भुजते तस्य फलं ॥ ३५१ ॥

अथ न प्रकृतिर्न च जीवः, पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं ।

तस्मात्पुद्गलद्रव्यं, मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥ ३५२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मिच्छता यदि पयडी मिच्छादिद्वी करेदि अप्पाणं द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्ता यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति तह्मा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो, तस्मात्कारणादचेतना तु या द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवश्रैक्यतेनाकर्ता प्राप्तः ततश्च कर्मबन्धाभावः कर्मबन्धाभावे संसाराभावः । स च प्रत्यक्षविरोधः ।

सम्पत्ता यदि पयडी सम्पादिद्वी करेदि अप्पाणं सम्यक्त्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं सम्यग्दृष्टिं करोति तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृतिः दे तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता जीवश्रैक्यतेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वाभावः ततश्च मोक्षाभावः । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अत्राह शिष्यः—प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेषः स च सम्यक्त्व-

को मिथ्यात्वरूप करता है (तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छादिद्वी ण पुण जीवो) तब तो इस कथन से तो पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टी हो गया न कि जीव (अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं कुणदि) अथवा ये जीव और प्रकृति दोनों भी पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करते हैं (तह्मा दोहिकदत्तं तस्स फलं दुण्णिवि भुजंति) तब तो जो दोनों के द्वारा किया गया है उसके फल को दोनों भी भोगेंगे (अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं करेदि) अथवा न प्रकृति पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करती है और न जीव ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करता है (तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु हु मिच्छा ण) तब तो पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्वरूप होता है ऐसा तुम्हारा कहना क्या मिथ्या नहीं है ? अर्थात् मिथ्या ही है ॥ ३४८ से ३५२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यदि द्रव्यमिथ्यात्वरूप कर्मप्रकृति कर्ता होते हुए स्वयं अपरिणामी आत्मा को हठपूर्वक मिथ्यादृष्टि करती है तब तो इस कारण से जो यह अचेतन द्रव्यमिथ्यात्व कर्म प्रकृति है, आपके मत में तो वही भावमिथ्यात्व की कर्ता हो गयी और यह जीव एकांत से अकर्ता हो गया, पुनः ऐसा होने पर तो जीव के कर्मबन्ध का अभाव हो जावेगा और कर्मबन्ध का अभाव होने से संसार का ही अभाव हो जावेगा जो कि प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है ।

यदि सम्यक्त्व प्रकृति नामक मोहनीयकर्म का जो एक भेद है वह स्वयं अपरिणामी ऐसी आत्मा को सम्यग्दृष्टि करती है तो इस हेतु से आप—सांख्य के मत में यह अचेतन कर्म प्रकृति ही कर्ता हो गयी और जीव एकांत से—सर्वथा ही सम्यक्त्व परिणाम का अकर्ता ही रहा, पुनः तब तो वेदकसम्यक्त्व का अभाव ही हो जावेगा और वेदक सम्यक्त्व के अभाव में क्षायिक

मिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्यः प्रथमविकल्पः स च कर्मविशेषः कथं सम्यक्त्वं भवति सम्यक्त्वं तु निर्विकारसदानन्दैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति ? परिहारमाह—सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषो भवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिर्पञ्चकजनितप्रथमोपशमिक-सम्यक्त्वानंतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीवपरिणामं न हंति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते स च तीर्थकरनामकर्मवत् परंपरया मुक्तिकारणं भवतीति नास्ति विरोधः । अहवा एसो जीवो पुगलदव्वस्स कुणदि मिच्छन्तं अथवा पूर्वदूषणभयादेश प्रत्यक्षीभूतो जीवः द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेशजनकं भावमिथ्यात्वं करोति, न पुनः स्वयं भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मतं तस्मात् पुगलदव्वं मिच्छादिद्वी ण पुण जीवो तत्स्यैकातेन पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः । कर्मबंधः तस्यैव, संसारोऽपि तस्यैव, न च जीवस्य । स च प्रत्यक्षविरोध इति । अह जीवो पयडी विय सम्यक्त्व का भी अभाव हो जावेगा, ऐसा होने पर तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा जो कि प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है और आगम से भी विरुद्ध है ।

प्रश्न—प्रकृति तो एक कर्मविशेष है और वह सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति तथा मिश्रप्रकृति इन तीनरूप जो दर्शन मोहनीय कर्म है उसीका एक पहला भेद है पुनः यह सम्यक्त्वप्रकृति कर्म का ही एक भेद होने से सम्यक्त्व कैसे हो सकती है ? क्योंकि सम्यक्त्व तो निर्विकार सदा आनंद एक लक्षणवाले परमात्म तत्त्वादि के श्रद्धानरूप है, यह मोक्ष का बीजरूप होने से हेतु है और भव्य जीव का परिणाम है । अतः यह सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन मोहनीयकर्म की सम्यक्त्व नामा प्रकृति से भिन्न है ?

उत्तर—यद्यपि यह सम्यक्त्व प्रकृति कर्म का ही एक भेद है फिर भी जैसे जिसकी मारणशक्ति नष्ट कर दी गयी ऐसा विष भी निर्विषरूप होने से मरण को नहीं करा पाता है उसी प्रकार से शुद्धात्मा के अभिमुख हुआ परिणाम जो कि मंत्र के स्थानीय—सदृश विशुद्धि-विशेषमात्र है, उस परिणाम से मिथ्यात्वशक्ति के नष्ट कर देने पर वह क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पाँच लब्धियों से उत्पन्न हुए प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अनंतर उत्पन्न होने वाले वेदकसम्यक्त्व स्वभाव वाले तत्त्वार्थश्रद्धानरूप जीव के परिणाम का घात नहीं करती है । इस कारण से उपचार से यह सम्यक्त्व का हेतु होने से कर्म का एक भेद रूप कर्मविशेष होते हुए भी 'सम्यक्त्व' इस नाम से कही जाती है और यह तीर्थकरनामकर्म के समान परंपरा से मोक्ष का कारण है इसलिए कोई विरोध नहीं है ।

अथवा द्रव्यमिथ्यात्व और द्रव्यसम्यक्त्व कर्मप्रकृति भाव मिथ्यात्व और भावसम्यक्त्वरूप जीव के भाव को करने वाली हो जावेगी ऐसा जो पहले दूषण दिखाया है, उस पूर्वदूषण के भय से आप ऐसा कहें कि यह जीव द्रव्यकर्मरूप पुद्गलद्रव्य को शुद्धात्मतत्त्व आदि में विपरीत अभिप्राय के जनक ऐसे भाव मिथ्यात्व रूप कर देता है किन्तु स्वयं यह जीव भावमिथ्यात्व रूप से परिणमन नहीं करता है । तब तो एकांत से यह पुद्गलद्रव्य ही मिथ्या दृष्टि हुआ न कि जीव । पुनः उसी पुद्गलद्रव्य को ही कर्मबंध होगा और उसी पुद्गलद्रव्य को ही संसार होगा न कि जीव को, किन्तु यह बात तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है ऐसा समझना ।

पुद्गलद्रव्यं कुण्ठति मिच्छन्तं अथ पूर्वदूषणभयाज्जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं भावमिथ्यात्वं कुरुत इति मतं तद्वा दोषि कदत्तं तस्मात्कारणज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृतं तन्मिथ्यात्वं । दुष्णिषि भुञ्जति तस्स फलं तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फलं भुञ्जाते ततश्चाचेतनायाः प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्तं स च प्रत्यक्षविरोध इति । अहं ण पयडी ण जीवो पुग्गलद्रव्यं करेदि मिच्छन्तं अथ मतं न प्रकृतिः करोति न च जीव एव एकांतेन । किं ? पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं । कथंभूतं । न करोति ? मिथ्यात्वं भावमिथ्यात्वरूपं । तद्वा पुग्गलद्रव्यं मिच्छन्तं तं तु ण हु मिच्छा तर्हि यदुक्तं पूर्वसूत्रे अहंवा एसो जीवो पुग्गलद्रव्यस्य कुण्ठति मिच्छन्तं तद्वचनं तु पुनः हु स्फुटं । किं मिथ्या न भवति ? अपि तु भवत्येव । किं च यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धो जीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं ग्रहणति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकांतेनापरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते । जपापुष्पोपाधिपरिणामनशक्तौ सत्यां स्फटिके जपापुष्पमुपाधि जनयति न च काष्ठादौ । कस्मादिति चेत्, तदुपाधिपरिणामनशक्त्यभावात् इति । एवं यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री एकांतेन यदि भावमिथ्यात्वं करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्ता न भवति । भावमिथ्यात्वाभावे कर्मणो बन्धाभावः ततश्च संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापंचकं मतं ॥ ३४८ । ३४९ । ३५० । ३४१ । ३५२ ॥

अथवा इस दूषण के भय से आप ऐसा कहें कि जीव और कर्म-प्रकृति ये दोनों ही पुद्गलद्रव्य को भावमिथ्यात्वरूप कर देते हैं । तब इस कारण से तो जीव और पुद्गल ये दोनों ही उपादानकारण-रूप से उस मिथ्यात्व को करने वाले हो गये, तब तो यह जीव और पुद्गल दोनों ही उसके फल को भोगने वाले भी हो जावेंगे । इससे यह होगा कि अचेतन कर्मप्रकृति भी भोक्ता हो जावेगी किन्तु यह मानना तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है ऐसा समझना ।

यदि आप ऐसा कहें कि 'पुद्गलद्रव्यरूप मिथ्यात्वकर्म को एकांत से भाव मिथ्यात्वरूप न प्रकृति करती है और न-जीव ही करता है तब तो आपने जो पूर्वसूत्र में ऐसा कहा है कि 'यह जीव पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करता है' यह कथन असत्य क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् अवश्य ही हो जावेगा । दूसरी बात यह है कि यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध है फिर भी पर्यायार्थिकनय से कथंचित् परिणामी है अतः परिणामी होने से ही यह जीव अनादिकालीन कर्मों के उदय के निमित्त से रागादिभावरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है स्फटिक के समान ।

यदि पुनः एकांत से जीव अपरिणामी है तब तो उसके रागादिभावरूप उपाधिपरिणाम नहीं घटित होता है । वास्तव में जपापुष्प की उपाधि के निमित्तरूप से परिणामन शक्ति के होने पर स्फटिक घाघाण में जपापुष्प उपाधि को उत्पन्न करता है, वह जपापुष्प काष्ठ आदि में तो उपाधि को नहीं कर देता है क्योंकि उनमें उपाधि के निमित्त से परिणामन करने की शक्ति का अभाव है । इसी प्रकार से यदि द्रव्यमिथ्यात्व नामकी कर्म प्रकृति एकांत से भावमिथ्यात्व को करती है तब तो यह जीव भावमिथ्यात्व का कर्ता नहीं हो सकेगा । पुनः भावमिथ्यात्व का अभाव हो जाने पर कर्मों का अभाव हो जावेगा और कर्मों का अभाव हो जाने पर संसार का ही अभाव हो जावेगा जो कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध है । इत्यादि व्याख्यान रूप से तृतीयस्थल में पाँच गाथायें हुई हैं ॥ ३४८ से ३५२ ॥

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।

कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥ ३३२ अ० ॥

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।

कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥ ३३२ ॥

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जीव शुद्ध है अतः वह द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इन तीनों का कर्ता नहीं है फिर भी अशुद्धनिश्चयनय से यह रागादि भावकर्मों का कर्ता है और व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का भी कर्ता है । यह बात समयसार आदि ग्रंथों में कही गयी है । यहाँ सांख्य मत का ऐसा कथन है कि जीव सर्वथा ही कर्मों का अकर्ता है । मिथ्यात्व कर्म ही भाव मिथ्यात्व को कर्ता है न कि जीव । इसी पर आचार्यदेव का कहना है कि यदि जीव भावमिथ्यात्व का ही कर्ता नहीं है तो पुनः उसके कर्मबंध भी नहीं होगा और कर्मबंध के न होने से संसार भला कैसे सम्भव है ? लेकिन संसार है और हम आप सभी संसारी हैं अतः जैनसिद्धान्त के अनुसार जीव सर्वथा अकर्ता नहीं है इत्यादि ।

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक—वेदक । तीन दर्शनमोहनीय कर्म की और चार अनंतानुबंधी ये सात प्रकृतियां जब निर्मूल क्षय हो जाती हैं तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है । इन्हीं सात प्रकृतियों का उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व होता है और दर्शनमोहनीय के एक भेदरूप सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के रहते हुये भी जो सम्यक्त्व बना रहता है किन्तु इस प्रकृति के उदय के निमित्त से जिसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष लग जाया करते हैं उस सम्यक्त्व का नाम क्षायोपशमिक या वेदक है । यह सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व के टुकड़े का एक धुला हुआ अंश है यह आत्मा का गुण नहीं है किन्तु आत्मा के सम्यक्त्वगुण में अतिचार का कारण है इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया है ।

इन पांच गाथाओं में खासकर यही बात सिद्ध हो गई है कि आत्मा कथंचित् परिणामी होने से उपादानरूप से भावकर्मों का कर्ता है । सर्वथा कूटस्थ नित्य अपरिणामी नहीं है ।

यहां अमृतचन्द्रसूरि की टीका में चार गाथायें हैं और श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार पांच गाथायें हैं ।

(३५३)—कर्मों के द्वारा ही आत्मा अज्ञानी है बनता ।

कर्मों के द्वारा ही आत्मा सम्यग्ज्ञानी बनता ॥

जीवात्मा कर्मों के द्वारा ही सोता रहता है ।

तथा कर्म के ही द्वारा जागृत आत्मा रहता है ॥ ३३२ ॥

कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
 कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥ ३३३ अ० ॥
 कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्डमहो चावि तिरियलोयं य ।
 कम्मेहिं चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि ॥ ३३४ अ० ॥
 जह्मा कम्मं कुल्लइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
 तह्मा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥ ३३५ अ० ॥

कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
 कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३३३ ॥
 कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
 कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥ ३३४ ॥
 यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किंचित् ।
 तस्मात् सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥ ३३५ ॥

एकांत से कर्म ही सब कुछ करता है ऐसा नहीं मानना चाहिए, सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कर्मभिः तु अज्ञानी क्रियते तथैव कर्मभिः ज्ञानी) यह जीव कर्मों के द्वारा अज्ञानी किया जाता है तथा कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी किया जाता है । (कर्मभिः स्वाप्यते तथा कर्मभिः एव जागर्यते) कर्मों के द्वारा सुलाया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जगाया जाता है । (कर्मभिः

- (३५४)—यह आत्मा कर्मों के द्वारा सुखी दुखी बनता है ।
 कर्मों से मिथ्यात्व अवस्था को भी प्राप्त करता है ॥
 तथा असंयम की प्राप्ति वे कर्म उसे करवाते ।
 जीव इसी कर्मोदय से शुभ भाव नहीं कर पाते ॥ ३३३ ॥
- (३५५)—ऊर्ध्व अधो तिर्यच लोक में जीव भ्रमण जो करता ।
 उसको भ्रमण कराने में भी कर्म निमित्त ही रहता ॥
 जो कुछ शुभ व अशुभ होता है वह भी कर्म कराता ।
 प्रबल निमित्त इस जीवात्मा से सभी कर्म करवाता ॥ ३३४ ॥
- (३५६)—क्योंकि कर्म ही तो करता है कर्म सभी कुछ देता ।
 जग में कर्म ही तो हरता है कर्म ही सब कर लेता ॥
 इसीलिए तो जीव अकारक वह कुछ भी नहीं करता ।
 कर्म अचेतन सब कुछ करते सांख्य मती यह कहता ॥ ३३५ ॥

पुरिसिस्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।

एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥ ३३६ अ० ॥

तह्या ण कोवि जीवो अबंभचारी उ अह्य उवएसे ।

जह्या कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥ ३३७ अ० ॥

जह्या घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।

एएणच्छेण किर भणणइ परघायणामित्ति ॥ ३३८ अ० ॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।

एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३३६ ॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।

यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भाणत ॥ ३३७ ॥

यस्माद्धति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।

एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥ ३३८ ॥

सुखीक्रियते तथा कर्मभिः एव दुःखीक्रियते) कर्मों के द्वारा सुखी किया जाता है और कर्मों के द्वारा ही दुःखी किया जाता है। (कर्मभिः मिथ्यात्वं नीयते च असंयमं चैव नीयते) कर्मों के द्वारा ही मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों के द्वारा ही असंयम को प्राप्त कराया जाता है। (कर्मभिः ऊर्ध्वं अधः च अपि तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते) कर्मों के द्वारा ही ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक में भी भ्रमाया जाता है। (कर्मभिः चैव यावत् किञ्चित् शुभाशुभं क्रियते) कर्मों के द्वारा ही जो कुछ

(३५७)—पुरुष वेद जो कर्म कहा वह स्त्री का अभिलाषी ।

पुरुष मात्र की इच्छा स्त्री वेद कर्म कहलाती ॥

सांख्यमताचार्यों के मुख से ऐसी बात सुनी है ।

जिनशासन में अनेकांत से करते कथन मुनी हैं ॥ ३३६ ॥

(३५८)—अतः कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है तब मत में ।

क्योंकि कर्म को कर्म चाहता ऐसा माना तुमने ॥

किन्तु शुद्ध निश्चय नय से है सभी जीव ब्रह्मचारी ।

वे अशुद्ध निश्चय से भी हो जावेगे ब्रह्मचारी ॥ ३३७ ॥

(३५९)—कोई पर को मारे पर के द्वारा मारा जावे ।

कर्म सभी में है निमित्त वह ही सब कुछ करवावे ॥

इसीलिए परघात नामकी प्रकृति उसे कहते हैं ।

यथा नाम गुण भी तथैव सिद्धान्तों में पढ़ते हैं ॥ ३३८ ॥

तद्वा ण कोवि जीवो उवघायओ अत्थि अह्म उवदेसे ।

जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥ ३३९ अ० ॥

एवं संखुवएसं जे उ परूविति एरिसं समणा ।

तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥ ३४० अ० ॥

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।

एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं पुणंतस्स ॥ ३४१ अ० ॥

तस्मात्त्र कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।

यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितं ॥ ३३९ ॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः ।

तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३४० ॥

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।

एष मिथ्यास्वभावस्तवैतज्ज्ञानतः ॥ ३४१ ॥

भी शुभ-अशुभ हैं उनको किया जाता है । (यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति यत् किञ्चित् इति कर्म हरति) जिस हेतु से यह कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही जो कुछ भी हरता है (तस्मात् तु सर्वजीवाः अकारका भवन्ति आपन्नाः) उसी हेतु से सभी जीव अकर्ता हो जाते हैं ऐसा प्रसंग आता है । (पुरुषः स्त्र्यभिलाषी च स्त्रीकर्म पुरुषं अभिलषति) पुरुषवेद कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है । (एषा आचार्यपरंपरागता ईदृशी तु

(३६०)—अतः आपके मत में कोई जीव नहीं उपघाती ।

क्योंकि केवल कर्म को तुमने माना है परघाती ॥

जिनमत में द्रव्यार्थिक नय से जीव अपरिणामी है ।

पर्यायार्थिक नय से वह आत्मा परिणामी भी है ॥ ३३९ ॥

(३६१)—जो कोई भी श्रमण इस तरह का प्रवचन करते हैं ।

जिनमत बाह्य सांख्यमत के अनुसार वचन उनके हैं ॥

क्योंकी उनके यहाँ प्रकृति ही सब कुछ करती माना ।

जीव अकर्ता है ऐसा उनके ऋषियों ने जाना ॥ ३४० ॥

(३६२)—यदि ऐसा माना जावे आत्मा निज को ही करता ।

यह एकान्त कथन भी मिथ्या मत का पोषण करता ॥

जिनमत तो निश्चय व्यवहार कथन के बल पर चलता ।

शुद्ध अशुद्ध जीव ही उसमें कर्ता और अकर्ता ॥ ३४१ ॥

अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि ।
 णवि सो सक्कइ ततो हीणो अहियो य काउं जे ॥ ३४२ अ० ॥
 जीवस्स जीवरूपं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
 ततो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ॥ ३४३ ॥
 अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
 तद्वा णवि अप्पा अप्पयं तु समयप्पणो कुणइ ॥ ३४४ अ० ॥ (त्रयोदशकं)
 आत्मा नित्योऽसंख्यप्रदेशो दक्षितस्तु समये ।
 नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥ ३४२ ॥
 जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
 ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥ ३४३ ॥
 अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतं ।
 तस्मात्त्राग्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥ ३४४ ॥

श्रुतिः) यह आचार्यों की परंपरा से आई हुई ऐसी ही श्रुति है—शास्त्र है। (तस्मात् तु अस्माकं उपदेशे कोऽपि जीवः अब्रह्मचारी न) इसलिए तो हमारे यहाँ उपदेश में/शास्त्र में कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है। (यस्मात् हि कर्म चैव कर्म अभिलषति इति भणितं) क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है ऐसा कहा गया है। (यस्मात् परं हन्ति च परेण हन्यते सा प्रकृतिः) जिस हेतु से पर को घातता है और पर के द्वारा घाता जाता है वह प्रकृति है (एतेन अर्थेन किल परघातनाम इति

- (३६३)—द्रव्यार्थिक नय से यह आत्मा नित्य असंख्य प्रदेशी ।
 परमागम में उसे कहा चैतन्यपना पहले ही ॥
 सो उस आत्मा का प्रमाण हीनाधिक नहिं कर सकते ।
 इसीलिए आत्मा का कर्ता आत्मा नहिं कह सकते ॥ ३४२ ॥
- (३६४)—जीवद्रव्य जब आत्म प्रदेशों को विस्तारित करता ।
 उसी अपेक्षा से वह लोकाकाश प्रमित है रहता ॥
 उससे हीनाधिक उसको क्या कभी किया जा सकता ?
 पर्यायार्थिक नय से आत्मा निज शरीर में रहता ॥ ३४३ ॥
- (३६५)—ज्ञान भाव में सुस्थित आत्मा ज्ञायक रूप कही है ।
 अतः जीव निज को करता है ऐसा सत्य नहीं है ॥
 आत्मा तो अज्ञान दशा में कर्मों को करता है ॥
 परमागम का सार यही ज्ञानी कुछ नहिं कर्ता है ॥ ३४४ ॥

आत्मख्यातिः—कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव स्वापयति निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव जागरयति निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव सुखयति सद्देदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव दुःखयति असद्देदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवासंयतं करोति चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवोद्धर्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति

भण्यते) इस अर्थ से तो परघात नामकर्म ही कहा जाता है (तस्मात् अस्माकं उपदेशे कोऽपि जीवः उपघातकः न अस्ति) इस हेतु से हमारे यहाँ उपदेश में कोई भी जीव उपघात करने वाला नहीं है (यस्मात् हि कर्म चैव कर्म हन्ति इति भणितं) क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा गया है (एवं ईदृशं सांख्योपदेशं तु ये श्रमणाः प्ररूपयन्ति) इस तरह ऐसे सांख्यों के उपदेश को जो जैनमुनि प्ररूपित करते हैं (तेषां प्रकृतिः करोति च आत्मानः सर्वे अकारकाः) उनके मत में प्रकृति ही कर्ता होती है और आत्मा सभी अकर्ता ही हैं (अथवा मन्यसे यम आत्मा आत्मनः आत्मानं करोति) अथवा यदि आप मानते हैं कि मेरा आत्मा अपने आत्मा को करता है (तव एतत् जानतः एष मिथ्यास्वभावः) तब तो ऐसा जानते हुए आपका यह मिथ्यास्वभाव है । (तु समये आत्मा नित्यः असंख्यप्रदेशः दर्शितः) क्योंकि आगम में आत्मा नित्य है और असंख्यातप्रदेशी है ऐसा दिखलाया गया है (ततः यत् सः हीनः च अधिकः कर्तुं नापि शक्यते) इसलिए तो उस आत्मा को हीन और अधिक करना भी शक्य नहीं है । (जीवस्य जीवरूपं विस्तरतः खलु लोकमात्रं जानीहि) अतः जीव का जीव स्वरूप तो विस्तार से लोकमात्र प्रमाण जानो (ततः सः द्रव्यं हीनः अधिकः वा किं कथं करोति) उससे वह जीवद्रव्य हीन अथवा अधिक कैसे कर सकता है ? (अथ ज्ञायकः तु भावः ज्ञानस्वभावेन तिष्ठति इति मतं) अथवा यह आत्मा ज्ञायक भाव है वह ज्ञानस्वभाव से ही रहता है ऐसा आपका मत है (तस्मात् आत्मा आत्मनः आत्मानं स्वयं नापि करोति) इसलिए आत्मा अपने आत्मा को स्वयं नहीं करता है ॥ ३३२ से ३४४ ॥

आत्मख्याति—यह कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना यह जीव अज्ञानी हो नहीं सकता, कर्म ही जीव को ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम बिना यह जीव ज्ञानी हो नहीं सकता है । कर्म ही जीव को सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय बिना जीव सो नहीं सकता है । कर्म ही जीव को जगाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम बिना जीव जाग नहीं सकता है । कर्म ही जीव को सुखी करता है क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय बिना जीव को सुख हो नहीं सकता है । कर्म ही जीव को दुःखी करता है क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय बिना जीव को दुःख हो नहीं सकता है । कर्म ही जीव को मिथ्यादृष्टि करता है क्योंकि

आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। अपरमपि यद्यावत्किञ्चिच्छुभाशुभभेदं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं समस्तमपि स्वतंत्रं कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरति च ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः किञ्च—श्रुतिरप्येनमर्थमाह, पुर्वेदाख्यं कर्म स्त्रियभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वासमर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्। तथा यत्परं हति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्। एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमवबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः—जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः

मिथ्यात्व कर्म के उदय बिना जीव के मिथ्यात्व हो नहीं सकता है। कर्म ही जीव को असंयमी करता है क्योंकि चारित्र्यभोह नामक कर्म के उदय बिना जीव असंयत हो नहीं सकता है। कर्म ही जीव को ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है क्योंकि आनुपूर्वी नाम के कर्मों के उदय बिना जीव का कहीं गमन हो नहीं सकता है।

अन्य जो कुछ भी और जितने शुभ-अशुभ भेद हैं उन सभी को कर्म ही करता है क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्त राग नाम के कर्मोदय बिना वे शुभ-अशुभ भेद हो नहीं सकते। जिस हेतु से इन सभी अवस्थाओं को यह स्वतंत्र कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हरता है उस हेतु से सर्व ही जीव एकांत से नित्य ही अकर्ता ही हैं ऐसा हम निश्चित करते हैं।

दूसरी बात यह है कि श्रुति—शास्त्र भी तो इसी अर्थ को कहते हैं। देखिये, पुरुषवेद नामका कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है। स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है इस वाक्य से तो 'कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है' ऐसा कर्म को कर्तापने का समर्थन हो जाने से और जीव को अब्रह्म/व्यभिचार के कर्तापने का समर्थन न होने से जीव के अब्रह्म/व्यभिचार के कर्तापन का निषेध हो जाता है अर्थात् कोई जीव अब्रह्मचारी या व्यभिचारी ठहरता ही नहीं है। उसी प्रकार 'जो पर को मारता है और जिस पर के द्वारा मारा जाता है वह परघात नाम का नामकर्म है' इस वाक्य से/कर्म को ही कर्म के घात करने से—कर्म को ही कर्तापने की सिद्धि हो जाने से जीव को घात/हिंसा के कर्तापने का प्रतिषेध हो जाने से जीव सर्वथा हिंसा का अकर्ता ही रहा ऐसा विदित हो जाता है।

इस प्रकार से ऐसे सांख्य के आगम को अपनी बुद्धि के अपराध से सूत्रों के अर्थ को न समझते हुए कोई श्रमणाभास/द्रव्यलिङ्गी जैनमुनि प्ररूपित करते हैं उनके यहां एकांत से प्रकृति को/पुद्गल को ही कर्ता स्वीकार कर लेने से सर्व ही जीवों को एकांत से अकर्तापने

परिहर्तुं। यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोषे न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च। तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थिताऽसंख्येय-प्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्। न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचविकाशयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्।

का प्रसंग प्राप्त हो जाता है, तब तो 'जीव कर्ता है' आगम में जो ऐसा लिखा है, उस आगम की विराधना का परिहार करना अशक्य ही हो जावेगा अर्थात् जिस आगम में आत्मा को कर्ता माना है उस आगम की बात सिद्ध न होने से आगमविरुद्ध की बात सिद्ध हो सकेगी।

यदि ऐसा कहा जाये कि 'कर्म तो आत्मा के पर्यायरूप अज्ञान आदि सर्व भावों को करता है और आत्मा तो केवल एक द्रव्यरूप आत्मा को ही करता है' इसलिए 'जीव कर्ता है' इस प्रकार से जो आगम का कथन है उसकी विराधना नहीं होगी। ऐसा भी जो आपका अभिप्राय है वह भी मिथ्या ही है। नियम से यह जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है और लोकपरिमाण है अतः जो नित्य होता है वह कार्य नहीं हो सकता है क्योंकि कृतकपना—किया हुआ होना और नित्यपना इन दोनों में एकत्व का विरोध है—कृतक और नित्य ये कभी भी एक नहीं हो सकते हैं।

यदि आप ऐसा कहें कि 'अवस्थित और असंख्यात प्रदेशी एक आत्मा में भी पुद्गलस्कंध के समान प्रदेशों के फैलाने और संकुचित करने के द्वारा भी उसमें कार्यपना सिद्ध हो जावेगा क्योंकि प्रदेशों के फैलाने और संकोचित करने पर उस आत्मा में एकत्व नहीं रह सकता है।' तथा आप कहें कि—'सम्पूर्ण लोकरूपी भवन के बराबर विस्तार प्रमाण आत्मा जब अपने नियत/छोटे या बड़े शरीर को धारण करता है तब आत्मा के प्रदेशों में संकोच, विस्तार होने से वह आत्मा 'कार्य' सिद्ध हो जावेगा।' सो आपका यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि संकोच-विस्तार होने पर भी सूखे और गीले, दोनों अवस्था में अपने ही प्रमाण रहने वाले चमड़े की तरह आत्मा को अपने प्रतिनियत/प्राप्त हुए शरीर के विस्तार से कम या अधिक करना शक्य नहीं है। अर्थात् यह आत्मा प्रदेशों के संकोच-विस्तार स्वभाववाला है तो भी अपने शरीरप्रमाण ही तो रहता है अतः यह आत्मा प्रदेशों को संकुचित-विस्तृत करने से 'कार्य'

यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोदुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति । भवन्ति च मिथ्यात्वादिभावाः ततस्तेषां कर्मैव कर्तुं प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितराभात्माऽऽत्मानं करोतीत्यभ्युपगममुद्घोषेण ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभाववस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमतव्यं तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात् ॥ ३३२-३४४ ॥

नहीं कहा जा सकता है ऐसा समझना ।

वास्तव में बात यह है कि 'वस्तुस्वभाव को सर्वथा मिटाया नहीं जा सकता है ।' अतः आत्मा का जो ज्ञायक भाव है वह ज्ञानस्वभाव से सर्वदा ही स्थित रहता है । उसके उसीप्रकार से स्थित रहते हुए ज्ञायकभाव और कर्तापने में अत्यंत विरोध होने से यह आत्मा मिथ्यात्व आदि भावों का कर्ता नहीं होता है, 'किन्तु मिथ्यात्व आदि भाव होते तो हैं' अतः उनका कर्म ही कर्ता कहा जाता है । यह इसप्रकार का कथन तो केवल संस्कार के वश से ही होता है । यह संस्कार का कथन होने से 'आत्मा ही आत्मा को करता है' इस मान्यता का पूर्णतया निराकरण ही कर देता है, यद्यपि आत्मा का यह ज्ञायक भाव सामान्य की अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है तो भी वह ज्ञायकभाव कर्म से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व आदि भावों के ज्ञान के समय में अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से पर को ही 'आत्मा' इस प्रकार जानता हुआ विशेष की अपेक्षा से ऐसे अज्ञानरूप ही ज्ञान परिणाम (ज्ञान की परिणति) को करते रहने से 'कर्ता' हो जाता है ऐसा मानना चाहिये । वह भी तब तक कि जब तक वह आदि से उत्पन्न होकर ज्ञेय और ज्ञान में होने वाला भेदविज्ञान पूर्ण हो जावे अर्थात् इस ज्ञेय-ज्ञान में भेदविज्ञान के हो जाने पर ही यह आत्मा आत्मा को ही जानते हुये विशेष की अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमन करता हुआ केवल/मात्र ज्ञाता ही होता है और तभी यह साक्षात्/पूर्णरूप से 'अकर्ता' हो जाता है ऐसा समझना ॥ ३३२ से ३४४ तक ॥

विशेषार्थ—सांख्य के मत में पुरुष और प्रधान, मूल में ये दो ही तत्त्व हैं वे प्रधान को ही प्रकृति कहते हैं । इस प्रकृति से महान् (बुद्धि) , बुद्धि से अहंकार और अहंकार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं । सोलहगण—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच बुद्धीन्द्रियां, पायु, उपस्थ, वाणी, हस्त और पाद ये पाँच कर्मेन्द्रियां तथा मन ये ग्यारह इन्द्रियां हैं । रूप, रस, गंध, स्पर्श और

शब्द ये पांच तन्मात्राये हैं। ये ११ और ५ मिलकर सोलह गण कहलाते हैं। पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है जैसे रूप से अग्नि, रस से जल, गंध से पृथ्वी, शब्द से आकाश और स्पर्श से वायु उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सांख्य के मत में प्रकृति आदि चौबीसरूप में परिणत होने वाला प्रधान तत्त्व है और इनसे भिन्न पच्चीसवां पुरुष तत्त्व है। कहा भी है—

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने॥

आत्मा अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है ऐसा कापिल/सांख्य का सिद्धान्त है। इनके यहाँ ज्ञान को पुरुष का गुण न मानकर उसे प्रकृति का गुण माना है। उनका कहना है कि मोक्ष में प्रकृति का संयोग समाप्त होते ही ज्ञान का भी सर्वथा अभाव हो जाता है।

यहाँ समझना यह है कि सांख्यमत में पुरुष—आत्मा को सर्वथा ही कर्मों का—संसार का अकर्ता माना है और उसे कूटस्थ नित्य माना है तथा प्रकृति (पुद्गल) को ही कर्मों का कर्ता आदि माना है।

श्रीकुंदकुंददेव स्वयं यहाँ गाथा में ही कह रहे हैं कि सांख्यों के समान जैन धर्मानुयायी आप मुनिगण एकांत से आत्मा को अकर्ता मत मानो। यह आत्मा व्यवहारनय से/निमित्त-नैमित्तिकभाव से पुद्गलकर्मों का कर्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के रागादिविभाव भावों का कर्ता है। तथा शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यभावों का ही कर्ता है। इस नयव्यवस्था को स्वीकार किये बिना संसार और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है इसलिये एकांतमान्यता को छोड़कर अनेकांत से ही इस समयसार के अर्थ को समझना चाहिये और आत्मा को कथंचित् कर्ता-भोक्ता समझकर रागादिभावों से अपने को छुड़ाकर द्रव्यकर्मों को नष्ट कर कर्मों का अकर्ता बनकर पूर्णसुखी बनना चाहिये। यही इन अध्यात्म ग्रंथों के स्वाध्याय का सार है।

यहाँ यह बात भी विशेष ज्ञातव्य है कि प्रारंभ में न्यायग्रंथों—परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। क्योंकि न्यायशास्त्रों के पढ़े बिना सांख्य आदि के एकांत मत को समझे बिना बेमालूम ही उनके मत जैसी एकांत धारणायें बन जाना स्वाभाविक है जैसे कि तांबा, पीतल, चांदी आदि के समझे बिना सर्राफ सुवर्ण में कितना तांबा आदि मिला है यह नहीं समझ पाता है पुनः वह शुद्ध सुवर्ण का भी ज्ञान नहीं कर पाता है। इसी तरह न्यायग्रंथ/तर्क शास्त्रों का ज्ञान भी आवश्यक है तभी अध्यात्म ग्रंथों को पढ़ने से अर्थ का अनर्थ होने की संभावना नहीं रहती है।

शार्दूलविक्रीडित—माऽकर्तारममी स्पृशंतु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः

कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।

ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं

पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परं ॥ २०५ ॥

मालिनी छन्द—क्षणिकामिदंभिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं

निजमनसि विभत्ते कर्तृभोक्तोर्विभेदम् ।

अपहरति विभोहं तस्य नित्यामृतौघैः

स्वयमयमभिषिक्तश्चिच्चमत्कार एव ॥ २०६ ॥

इसे कलशकाव्यों से कहते हैं—

काव्यार्थ—अर्हत के मत के अनुयायी जैन भी सांख्यमत के समान आत्मा को अकर्ता मत मानते—सर्वथा आत्मा अकर्ता ही है ऐसा मत समझो। भेदज्ञान होने से पहले-पहले आत्मा को निरंतर कर्ता स्वीकार करो, पुनः भेदज्ञान होने के बाद उत्कट ज्ञानधाम में निश्चित स्वयं ही प्रत्यक्षीभूत इस आत्मा को कर्तापने से रहित, अचल, परम एक ज्ञाता ही देखो—समझो। २०५।

भावार्थ—आत्मा कथंचित् भावकर्मों का कर्ता है और जब वही निर्विकल्प ध्यान में स्थित हो जाता है तब मोहकर्म के अभाव से यह अकर्ता हो जाता है ऐसा निश्चित समझना चाहिये।

काव्यार्थ—इस जगत् में कोई एक तो बौद्ध इस आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके अपने मन में कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं—कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है ऐसा मानते हैं। उनके विमोह/भ्रम को या अज्ञान को यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं नित्यतारूपी अमृत-समूह द्वारा अभिषिक्त करता हुआ श्रम को दूर कर देता है। २०६।

भावार्थ—बौद्धमतानुयायी आत्मा को क्षणिक मानते हैं अतः उनके यहां कर्मों को करनेवाला कोई अन्य है और उसके फल को भोगने वाला कोई दूसरा ही है। किंतु आचार्य कहते हैं कि यह चैतन्य चमत्कार आत्मा नित्य है ऐसा ज्ञान कराते हुये आत्मा के क्षणिकपने के भ्रम को यह ज्ञान ही दूर कर देता है।

सांख्यों के मत अनुसार जैन भी जीव अकर्ता मत मानते।

निजभेदज्ञान से पूर्व निरन्तर आत्मा को कर्ता मानते ॥

पुनः भेदज्ञान के बाद ज्ञान के धाम में स्थित आत्मा को।

कर्तृत्व रहित अचलैक परम ज्ञाता समझो उस आत्मा को ॥ २०५ ॥

इस आत्मतत्त्व की क्षणिक कल्पना बौद्ध मती कुछ करते हैं।

निज मन में कर्ता भोक्ता में अन्यान्य भेद वह करते हैं ॥

उनके विमोह को चेतन का यह चमत्कार ही हर सकता।

नित्यता रूप अमृतसमूह से सिंचित कर श्रम परिहरता ॥ २०६ ॥

अनुष्टुप् छंद—वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंत वृत्तिमन्त्राशकल्पनात् ।

अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्रुत्यास्तु मा ॥ २०७ ॥

भूमिका—अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकांतेन कर्मैव करोति न चात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदन्ति तान्त्रिति पुनरपि नयविभागेनात्मनः कथंचित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति—तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकांतेन कर्तुं भवति इति कथनमुख्यत्वेन कम्मेहिं दु अण्णाणी इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । ततः परं सांख्यमतेष्वेवं भणितमास्ते—इति संवाददर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्यत्वेन पुरुसिस्थियाहिलासी इत्यादि गाथाद्वयं । अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन जह्या घादेदि परं इत्यादि गाथाद्वयं । प्रकृतेरेव कर्तृत्वं न चात्मन इत्येकांतनिराकरणार्थं तस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसंहाररूपेण एवं संखुवदेसं इत्यादि गार्थका इति सूत्रपंचकसमुदायेन द्वितीयमंतरस्थलं । तदनंतरं आत्मा कर्म न करोति । कर्मजनितभावांश्च कित्वात्मानं करोतीत्येकगाथायां पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन अहवा यण्णासि मज्झं इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । एवं चतुरंतराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका—

काव्यार्थ—‘पर्याय भेद के कारण द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है’ । ऐसी कल्पना करके ‘अन्य कर्ता है और अन्य भोक्ता है’ ऐसा एकांत स्फुरित मत होवे । २०७ ।

भावार्थ—क्षण-क्षण में अवस्था भेद होते हैं उन्हें वृत्त्यंश कहते हैं और वृत्तिमान को द्रव्य कहते हैं । बौद्धमत के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि एक पर्याय के नष्ट होते ही उसी क्षण पर्यायवान् आत्मा ही नष्ट हो जाता है । इस पर जैनाचार्य का कहना है कि यदि पर्यायवान् पदार्थ नष्ट हो गया तो अन्य-अन्य पर्यायों भी कहाँ और किसके आश्रित टिकेंगी ? अतः पर्यायें उत्पन्न होती और विनश्वती रहती हैं तथा द्रव्य सदाकाल शाश्वत रहता है ऐसा समझना ।

यह कलश काव्य अगली गाथाओं के लिये उत्थानिका रूप है ।

भूमिका—ज्ञान-अज्ञान, सुख और दुःख आदि कर्मों को एकांत से कर्म ही करता है न कि आत्मा, इस प्रकार सांख्यमतानुयायी कहते हैं, उन सांख्यों को समझाते हुये यहाँ पुनः नयविभाग से आत्मा को ‘कथंचित् कर्ता’ व्यवस्थापित करते हैं । इन तेरह गाथाओं में ‘कर्म ही एकांत से कर्ता होता है’ इस कथन की मुख्यता से ‘कम्मेहिं दु अण्णाणी’ इत्यादि चार गाथायें हैं । पुनः सांख्य मत में भी ऐसा कहा है कि ‘इस प्रकार के संवाद को दिखलाने के लिए ब्रह्मचर्य के स्थापन की मुख्यता से ‘पुरुसिस्थियाहिलासी’ इत्यादि दो गाथायें हैं । बाद में अहिंसा के स्थापन की मुख्यता से ‘जह्या घादेदि परं ’ इत्यादि दो गाथायें हैं । अनंतर ‘प्रकृति ही कर्ता है न कि आत्मा’ इस एकांत के निराकरण के लिए उन्हीं गाथा चार के दूषण का उपसंहार करते हुए ‘एवं संखुवदेसं’ इत्यादि एक गाथा है, इन पांच सूत्रों के समुदाय से यह द्वितीय अंतरस्थल

पर्याय भेद के कारण द्रव्य का पूर्ण नाश हो जाता है ।

यह कल्पितमत कर्ता भोक्ता में क्षणिकपना बतलाता है ॥

इस पर जिनशासन कहता है पर्याय उपजती नशती हैं ।

पर द्रव्य सदा शाश्वत रहता उसको सत्ता न विनश्वती है ॥ २०७ ॥

- (३५३ ज०) कम्मेहिं दु अण्णाणी, किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुखाविज्जदि, जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥
- (३५४ ज०) कम्मेहिं सुहाविज्जदि, दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं, णिज्जदि य असंजयं चेव ॥
- (३५५ ज०) कम्मेहिं भमाडिज्जदि, उड्डमहं चावि तिरियलोयम्पि ।
कम्मेहिं चेव किज्जदि, सुहासुहं जेतियं किंचि ॥
- (३५६ ज०) जह्मा कम्पं कुव्वदि, कम्पं देदित्ति हरदि जं किंचि ।
तह्मा सव्वे जीवा, अकारया हुंति आवण्णा ॥
कर्मभिरस्तु अज्ञानी, क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते, जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥ ३५३ ॥
कर्मभिः सुखीक्रियते, दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः च मिथ्यात्वं, नीयते नीयते चासंयमं चैव ॥ ३५४ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोके ।
कर्मभिश्चैव क्रियते, शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥ ३५५ ॥
यस्मात् कर्म करोति, कर्म ददाति हरति यत् किंचित् ।
तस्मात् सर्वे जीवा, अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥ ३५६ ॥

हुआ। अनंतर आत्मा कर्म नहीं करता है किन्तु कर्म जनित भावों को अपने करता है, इस प्रकार एक गाथा में पूर्व पक्ष रखकर तीन गाथाओं द्वारा परिहार है, इस तरह समुदाय से 'अहवा मण्णासि मज्झं' इत्यादि चार गाथायें हैं। इस तरह चार अंतराधिकारों में तीन स्थल द्वारा यह कथन किया जावेगा, ऐसी यह समुदाय पातनिका/भूमिका कही गई है।

अन्वयार्थ—(कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जदि तहेव कम्मेहिं णाणी) यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाता है और उसी प्रकार कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी किया जाता है (कम्मेहिं सुखाविज्जदि तहेव कम्मेहिं जग्गाविज्जदि) कर्मों से ही सुलाया जाता है और उसी प्रकार कर्मों से ही जगाया जाता है। (कम्मेहिं सुहाविज्जदि तहेव कम्मेहिं दुक्खाविज्जदि) कर्मों से ही सुखी किया जाता है, उसी प्रकार कर्मों से ही दुःखी किया जाता है। (कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदि य असंजयं चेव) कर्मों से ही मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों से ही असंयमी

(३५७ ज०) पुरुसिच्छियाहिलासी, इच्छी कम्मं च पुरिसमहिलसदि ।

एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥

(३५८ ज०) तह्या ण कोवि जीवो, अबह्यारी दु तुह्य-मुवदेसे ।

जह्या कम्मं चेव हि, कम्मं अहिलसदि जं भणियं ॥

(३५९ ज०) जह्या घादेदि परं, परेण घादिज्जदेदि सा पयडी ।

एदेणच्छेण दु किर, भण्णदि परघादणामेति ॥

(३६० ज०) तह्या ण कोवि जीवो, उवघादगो अत्थि तुह्य उवदेसे ।

जह्या कम्मं चेव हि, कम्मं घादेदि जं भणियं ॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी, स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।

एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३५७ ॥

तस्मान्न कोऽपि, जीवो अब्रह्मचारी तु युस्माकमुपदेशे ।

यस्मात्कर्म चैव हि, कर्माभिलषतीति यद्वर्णितं ॥ ३५८ ॥

यस्माद् हन्ति परं, परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।

एतेनार्थेन तु किल, भण्यते परघातं नामेति ॥ ३५९ ॥

तस्मान्न कोऽपि जीव, उपघातकोऽस्ति युष्माकमुपदेशे ।

यस्मात् कर्म चैवहि कर्म हन्तीति यद् भणितं ॥ ३६० ॥

बनाया जाता है (कम्मेहि उडुमहं चावि तिरियल्लोयम्मि भमाडिज्जदि) कर्मों के द्वारा ही यह ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक में घुमाया जाता है (कम्मेहि सुहासुहं जेत्तियं किंचि चेव किज्जदि) कर्मों के द्वारा ही शुभ-अशुभ जो कुछ भी कर्म हैं उन्हें कराया जाता है (जह्या कम्मं कुव्वदि कम्मं देदित्ति जं किंचि हरदि) जिस हेतु से यह कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही जो कुछ भी हरता है (तह्या सव्वे जीवा अकारया आवण्णा हुंति) उसी हेतु से सभी जीव अकर्तापने को प्राप्त हो जावेंगे (पुरुसिच्छियाहिलासी च इच्छी कम्मं पुरिसं अहिलसदि) पुरुषवेद स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद पुरुष की अभिलाषा करता है (एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी) यह आचार्यों की परंपरा से आई हुई ऐसी ही तो श्रुति है (तह्या दु तुह्यं उवदेसे कोवि जीवो अब्रह्मचारी ण) इस हेतु से तो तुम्हारे यहाँ उपदेश में कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं रहेगा (जह्या कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि जं भणियं) क्योंकि कर्म ही तो कर्म की अभिलाषा करता है ऐसा कहा गया है ।

- (३६१ ज०) एवं संखुवदेसं, जे दु परुविति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वदि, अप्पा य अकारया सव्वे ॥
- (३६२ ज०) अहवा मण्णसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो, तुहं एवं मुणंतस्स ॥
- (३६३ ज०) अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयहि ।
णवि सो सक्कदि ततो, हीणो अहियो व कादुं जे ॥
- (३६४ ज०) जीवस्स जीवरूपं, वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि ।
ततो सो किं हीणो, अहियो व कदं भणसि दव्वं ॥
एवं सांख्योपदेशे, ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३६१ ॥
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यात्वस्वभावस्तवैतन्मन्यमानस्य ॥ ३६२ ॥
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते, ततो हीनोऽधिको वा कर्तुं यत् ॥ ३६३ ॥
जीवस्य जीवरूपं, विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं हि ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥ ३६४ ॥

(जह्या परं घादेदि परेण घादिज्जदि सा पयडी) जिस कारण पर को मारता और पर के द्वारा मारा जाता है वह प्रकृति ही है (एदेणच्छेण दु किर परघादणामेत्ति भण्णदि) इस अर्थ से तो परघात नाम कर्म ही कहा जाता है (तह्या तुहं उवदेसे कोवि जीवो उवघादगो ण) इस हेतु से जो तुम्हारे यहां के उपदेश में कोई भी जीव मारने वाला नहीं है। (जह्या कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि जं भणिदं) क्योंकि कर्म ही कर्म का घात करने वाला है ऐसा कहा गया है (एवं एरिसं संखुवदेसं दु जे समणा परुविति) इस प्रकार ऐसे सांख्य के उपदेश को जो श्रमण/जैनमुनि कहते हैं (तेसिं पयडी कुव्वदि य सव्वे अप्पा अकारया) उनके मत से तो प्रकृति/कर्म ही कर्ता है और सभी आत्मा तो अकर्ता ही रहते हैं।

(अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणो अप्पाणं कुणदि) अथवा यदि मानते हो कि मेरा आत्मा अपने आत्मा को करता है (तुहं एवं मुणंतस्स एसो मिच्छसहावो) तब तो ऐसा जानते हुये तुम्हारा यह मिथ्या स्वभाव ही है (दु समयहि अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो) क्योंकि

(३६५ ज०) अह जाणगो दु भावो, णाणसहावेण अत्थि देदि मदं ।

तह्हा णवि अप्पा, अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥ त्रयोदशकं ॥

अथ ज्ञायकस्तु भावो, ज्ञानस्वभावेनास्ति ते इति मतं ।

तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥ ३६५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकांतेन तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः । स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति प्रथमगाथा गता । कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः । कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैवैकांतेन द्वितीयागाथा गता । कर्मभिश्चैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं च प्राप्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयागाथा गता । यस्मादेवं भणितः कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किञ्चिच्छुभाशुभं तस्मादेकांतेन सर्वे जीवा अकारकाः प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च

आगम में आत्मा नित्य और असंख्यात प्रदेशी कहा गया है (सो तत्तो हीणो व अहियो कादुं जे णवि सक्कदि) उस आत्मा को उन प्रदेशों से हीन अथवा अधिक करना शक्य नहीं है (जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो लोगमित्तं हि जाण) अतः तुम जीव के जीवस्वरूप प्रदेशों को विस्तार से लोकाकाश प्रमाण जानो (तत्तो सो दब्बं हीणो व अहियो कदं किं भणसि) उससे यह जीव द्रव्य हीन अथवा अधिक किया गया कैसे कहा जा सकता है (अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं) अथवा यह ज्ञायक भाव—आत्मा ज्ञान स्वभाव से ही है ऐसा आपका मत है (तह्हा अप्पा अप्पणो सयं अप्पयं तु णवि कुणदि) तब तो आत्मा अपने आत्मा को स्वयं नहीं करता है ॥ ३५३ से ३६५ ॥

उत्थानिका—अब कर्मों के द्वारा ही यह ज्ञानी-अज्ञानी किया जाता है इत्यादि कहते हैं ।

तात्पर्यवृत्ति—एकांत से कर्मों के द्वारा ही यह जीव अज्ञानी किया जाता है और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी किया जाता है । कर्मों के द्वारा ही यह निद्रा को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों के द्वारा ही यह जगाया जाता है । इस प्रकार कहने वाली पहली गाथा हुई । कर्मों के द्वारा ही यह जीव सुखी किया जाता है और कर्मों के द्वारा ही यह दुःखी किया जाता है । एकांत से कर्मों के द्वारा यह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है वैसे ही कर्मों के द्वारा ही यह जीव असंयम को प्राप्त कराया जाता है, यह दूसरी गाथा हुई । कर्मों के द्वारा ही यह जीव ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में भ्रमाया जाता है और कर्मों के द्वारा ही यह जीव अन्य कुछ भी शुभ-अशुभरूप किया जाता है । यह तीसरी गाथा हुई । जिस हेतु से जो कुछ भी शुभ-अशुभ है उसको कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हरता है इस हेतु से सभी जीव एकांत से

प्रत्यक्षविरोधः—इति कर्मैकांतकर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं । कर्मैव करोत्येकांतनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवाः सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयन्ति । वयं ब्रूमो द्वेषेणैवं न । भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तुं स्त्रीवेदकर्माभिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलषत्येकांतनेन, न च जीवः । एवमाचार्यपरंपरायाः समागता श्रुतिरीदृशी । श्रुतिः कोऽर्थः ?

आगमो भवतां सांख्यानामिति प्रथमगाथा गता । तथा सति किं दूषणं चेति ? एवं न कोपि जीवोऽस्त्यब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवन्ति तथैकांतनेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति न च जीव इत्युक्तं पूर्वं स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं । यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूपं प्रकृतिः कर्त्री हन्ति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीवः । एतेनार्थेन किल जैनमते परघातनामकमेति भण्यते । परं

अकर्ता हो जावेगें तब तो जीव के कर्मों का अभाव हो जावेगा और कर्मों के अभाव से संसार का अभाव हो जावेगा, किंतु यह सब प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है । इस प्रकार एकांत से कर्म को कर्ता मानने से दूषण आता है इस कथन की मुख्यता से चार गाथायें हुई हैं ।

एकांत से कर्म ही कर्ता है, इस पूर्वोक्त अर्थ को श्रीकुंदकुंददेव सांख्यमत का कथन दिखलाकर पुनः उसी का समर्थन करते हुए कहते हैं । यहां सांख्य मत का आश्रय लेकर आचार्य कहते हैं कि हम द्वेष से ऐसा नहीं कह रहे हैं प्रत्युत आपके मत में ऐसा कहा हुआ है कि एकांत से ही पुरुषवेद कर्म, कर्ता होता हुआ स्त्रीवेद कर्म की अभिलाषा करता है और एकांत से ही स्त्रीवेद कर्म, पुरुषवेद कर्म की अभिलाषा करता है किंतु जीव कुछ नहीं करता है । इस प्रकार आचार्यपरंपरा से आई हुई श्रुति ऐसी ही है ।

प्रश्न—यहां श्रुति शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—श्रुति का अर्थ आगम है, आप सांख्यों के आगम में ऐसा ही कहा हुआ है । यह पहली गाथा हुई है । पुनः ऐसी मान्यता में यह दूषण आता है कि आपके उपदेश के अनुसार तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी/व्यभिचारी नहीं हुआ किंतु जैसे शुद्धनिश्चयनय से सभी जीव ब्रह्मचारी हैं वैसे ही एकांत में अशुद्धनिश्चयनय से भी सभी ब्रह्मचारी ही रहेंगे क्योंकि पुरुषवेद नामा कर्म ही तो स्त्रीवेद नाम कर्म की अभिलाषा करता है न कि जीव, ऐसा पूर्व में कहा ही गया है, किंतु यह सब तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है ऐसा समझना । इस तरह अब्रह्म के कथनरूप से दो गाथायें हुई हैं ।

जिस कारण से प्रकृति ही कर्ता होती हुई अन्य कर्मस्वरूप का घात करती है और अन्य किसी कर्म के द्वारा उस प्रकृति का ही घात किया जाता है, जीव न घात करता है न किसी के

किंतु जैनमते जीवो हिंसाभावेन परिणमति परधातनाम सहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता । तस्मात्किं दूषणं ? शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथितः, कथं ? इति चेत्, “सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया” इति वचनात् व्यवहारेण तु परिणामीति । भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन चाशुद्धनयेनाप्युपधातको हिंसकः कोऽपि नास्ति । कस्मात् ? इति चेत्, यस्मादेकानेन कर्म चैव हि स्फुटमन्यत् कर्म हति, न चात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिति । एवं हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं । एवं संखुवदेसं जे दु पस्सुविति एरिसं समणा एवं पूर्वोक्तं सांख्योपदेशमीदृशमेकांतरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानंतः समणा श्रमणाभासाः द्रव्यलिङ्गिनः प्ररूपयंति कथयंति । तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा थ अंकारया सव्वे तेषां मतेनैकांतेन प्रकृतिः कर्त्री भवति । आत्मानश्च पुनरकारकाः सर्वे । ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभावः, कर्माभावे संसाराभावः । ततो मोक्षप्रसंगः । स च प्रत्यक्षविरोध इति । जैनमते पुनः परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वं घटत इति नास्ति दोषः । एवं सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकांतेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपंचकं गतं । अहवा मण्णासि मज्झं अप्पा

द्वारा उसका घात ही होता है । इसी अर्थ से तो जैनमत में परधात नाम का कर्म ही कहा जाता है ।

इस पर भी जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे जैनमत में तो यह जीव स्वयं हिंसाभाव से परिणमन करता है और परधात नामका जो कर्म है वह सहकारी कारण हो जाता है, इसलिए हमारे जैनमत में कोई विरोध नहीं आता है । यह प्रथम गाथा हुई है ।

प्रश्न—उपर्युक्त मान्यता में क्या दूषण आता है ?

उत्तर—बात यह है कि शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से तो यह जीव अपरिणामी है अतः हिंसा परिणाम से रहित है, ऐसा जैनागम में कहा गया है क्योंकि ‘सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया’ ऐसा आगम वाक्य पाया जाता है, किंतु व्यवहारनय से यह जीव परिणामी भी है अतः हिंसापरिणाम से सहित है । पुनः आपके मत में जैसे शुद्धनय से उपधातक/हिंसक कोई नहीं है ऐसे ही अशुद्धनय से भी मारने वाला/हिंसा करने वाला कोई है ही नहीं क्योंकि आपके यहां तो एकांत से ही कर्म ही अन्य दूसरे कर्म का घात करता है न कि आत्मा, ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया है । इस प्रकार यहां हिंसा के विचार की मुख्यता से दो गाथायें हुई हैं ।

इस तरह पूर्वकथित सांख्य के उपदेश को जो कि सर्वथा एकांतरूप है—ऐसे एकांत को कोई परमागम में कथित नयविभाग को न जानते हुए श्रमणाभास—द्रव्यलिङ्गी जैनमुनि कहते हैं उनके मत से तो एकांत से प्रकृति/पुद्गल ही कर्ता होता है और सभी आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हो जाते हैं, इस व्यवस्था से तो आत्मा के कर्तृत्व का अभाव होने पर कर्म का अभाव हो जावेगा और कर्म के अभाव में तो संसार का अभाव हो जावेगा, और तब तो हमेशा सभी जीवों के मोक्ष का ही प्रसंग आ जावेगा, अर्थात् सभी जीव सदाकाल मुक्त ही रहेंगे, किंतु यह सब बातें तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध हैं । जैनमत में तो निश्चयनय और व्यवहारनय ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा

अप्याणमण्यणो कुणदि हे सांख्य ! अथवा मन्यसे त्वं पूर्वोक्ताकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यतः कारणादज्ञानिनां कर्मबंधो भवति । किंत्वात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति ततः कारणदकर्तृत्वे दूषणं न भवति ? इति चेत् एसो मिच्छसहायो तुहां एवं पुणंतस्स अयमपि मिथ्यास्वभाव एवं मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षगाथा गता । अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह । कस्मान्मिथ्यास्वभावः ? इति चेत् जे यस्मात् कारणात् अप्या णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासंख्यात प्रदेशो देशितः समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्धचैतन्यान्वयलक्षणद्रव्यत्वं तथैवासंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति णवि सो सक्कदि ततो हीणो अहियो व कादुं जे तद्द्रव्यं प्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिकं हीनं वा कर्तुं नायाति इति हेतोरात्मा आत्मानं करोतीति वचनं मिथ्येति । अथ मतं असंख्यात्मानं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन बहुभेदं तिष्ठति तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपेणासंख्यातप्रदेशत्वं जीवः करोति, तदपि न घटते यस्मात्कारणात् जीवस्य जीवरूपं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि जीवस्य जीवरूपं प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यतः सूक्ष्मनिगोदकाले

रखने वाले हैं अतः इन सापेक्ष दोनों नयों से सर्व व्यवस्था घटित होती है इसमें कोई दोष नहीं आता है । इस तरह यहां सांख्यमत की चर्चा को दिखाकर जीव को एकांत से अकर्ता मानने में दूषण दिखलाने रूप से ये पांच गाथायें हुई हैं ।

सांख्य—हमारे मत में यह जीव ज्ञानी है और ज्ञानी होने से इसके कर्मों का कर्तापन नहीं घटता है क्योंकि अज्ञानी जीवों के ही कर्मबंध होता है किन्तु यह आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को ही कर्ता है इस कारण कर्मों का अकर्ता मानने से कोई दूषण नहीं आता है ।

जैन—हे सांख्य ! पूर्वकथित आत्मा को अकर्ता मानने में जो मैंने दूषण दिखाये, उनके भय से आपने जो आत्मा को ज्ञानी मानकर अकर्ता मान लिया तो आपकी यह मान्यता भी मिथ्या ही है । यह पूर्वपक्ष की गाथा हुई, अब तीन गाथाओं द्वारा इसका परिहार करते हुये आपकी मान्यता मिथ्या कैसे है ? सो ही दिखाते हैं—

जिस कारण यह आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य है तथा असंख्यात प्रदेशी है ऐसा समय/परमागम में कहा गया है अतः उस आत्मा का शुद्धचैतन्य से अन्वयस्वरूप द्रव्यत्व और असंख्यात प्रदेशत्व ये पहले ही स्थित हैं और वह द्रव्य तथा प्रदेशत्व उस आत्मा के प्रमाण से अधिक या कम किये नहीं जा सकते हैं, इसी कारण से 'यह आत्मा, आत्मा को करता है' आपके ये वचन सर्वथा मिथ्या ही ठहरते हैं ।

सांख्य—असंख्यात नाम का जो मान/प्रमाण है/माप है वह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से बहुत प्रकार का है इस कारण से यह जीव उन जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप से असंख्यात प्रदेशपने को करता रहता है ।

जैन—आपका यह भी कथन घटित नहीं होता है क्योंकि जिस हेतु से जीव का जीवरूप

नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसंहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुटं ततो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दब्बं तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीवः किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्वं भणसि आत्मद्रव्यं कृतं किंतु नैवेति । अहं जाणामो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं अथ हे शिष्य ! ज्ञायको भावः पदार्थः आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मतं । सम्पत्तमेव तद्वा णवि अण्णा अण्णयं तु समयमण्णो कुणदि यस्मान्निर्मलानन्दैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं स्वयमेवात्मना कृत्वा नैव करोतीत्येकं दूषणं । द्वितीयं च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते । एवं पूर्वपक्षपरिहाररूपेण तृतीयांतरस्थले गाथाचतुष्टयं गतं । कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा ? अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातं ? तत्रापि हिंसा नास्तीति । तत्र, कायादिप्राणैः सह कथंचिद्भेदाभेदः । कथं ? इति चेत्, तप्तायःपिंडवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः । यद्येकांतेन

प्रदेशों की अपेक्षा विस्तार से महामत्स्य की पर्याय में होता है या लोकपूरण नाम के समुद्रघात के समय होता है, अथवा जघन्य से सूक्ष्म निगोदिया पर्याय के समय या नाना प्रकार की मध्यम अवगाहना वाले शरीर को ग्रहण करने के समय होता है अतः प्रदीप के समान आत्मा के प्रदेशों का विस्तार और संकोच होता है उस निमित्त से ही यह आत्मा लोकाकाश प्रमाण प्रदेशों वाला ही है ऐसा तुम जानो । यह बात स्पष्ट है अतः लोकमात्र प्रदेश प्रमाण से यह जीव क्या हीन या अधिक किया गया है ? कि जिससे तुम ऐसा कहो कि 'आत्मा ने आत्मद्रव्य को किया है' किंतु तुम ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यह आत्मा अपने असंख्यात प्रदेशों से न कम ही किया जा सकता और न अधिक, ही ऐसा समझना चाहिये ।

हे शिष्य ! यदि आप ऐसा कहो कि ज्ञायक भाव/पदार्थ ही आत्मा है और वह ज्ञानरूप पहले से ही है तो यह बात तो हमें सम्मत ही है क्योंकि निर्मल, आनन्दस्वरूप, एक ज्ञानस्वभाव शुद्धात्मा पहले से ही है इसलिए यह आत्मा कर्ता अपनी आत्मा को स्वयं ही अपनी आत्मा के द्वारा नहीं करता है यह एक दूषण हुआ और दूसरा यह है कि निर्विकार परमतत्त्वज्ञानी तो कर्ता नहीं होता है ऐसा पहले ही कहा गया है । इस प्रकार पूर्वपक्ष के परिहाररूप से तीसरे अंतरस्थल में चार गाथायें पूर्ण हुई हैं ।

शंका—हम पूछते हैं कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तब तो जैसे जीव का नाश नहीं है वैसे ही प्राणों का भी नाश नहीं है पुनः हिंसा कैसे होगी ? यदि जीव से प्राण भिन्न हैं तब तो प्राणों का घात होने पर जीव का क्या खिगड़ा ? इसमें भी तो हिंसा नहीं हुई ?

समाधान—ऐसा नहीं है, हमारे यहां जीव का काय आदि प्राणों के साथ कथंचित् भेद और

भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति । न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव । तन्नारकादि दुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत । भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति । ततः स्थितमेतत् एकांतेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति किं तर्हि ? रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्यतयांतरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ॥ ३५३ से ३६५ ॥

कथंचित् अभेद है । देखो ! तपाये हुये लोहे के गोले के समान वर्तमान काल में जीव को प्राणों से अलग करना शक्य नहीं है इस कारण व्यवहारनय से जीव का शरीर आदि प्राणों के साथ अभेद है पुनः निश्चयनय से मरण के समय शरीर आदि प्राण जीव के साथ नहीं जाते हैं इस कारण से भेद है । यदि एकांत से भेद ही है तब तो जैसे दूसरे के शरीर का छेदन करने, भेदन करने पर भी दुःख नहीं होता है वैसे ही अपने शरीर के छेदन-भेदन करने पर भी दुःख नहीं होना चाहिये, किंतु ऐसी बात तो है नहीं, यह तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है ।

शंका—फिर भी व्यवहार से ही तो हिंसा हुई न कि निश्चय से ?

समाधान—आपने बिल्कुल ठीक कहा है, व्यवहार से ही हिंसा होती है और उसी प्रकार से पाप भी व्यवहार से ही है तथा नरक गति आदि के दुःख भी तो व्यवहार से ही हैं, यह बात तो हमें सम्मत ही है । यदि वे नरक आदि के दुःख आपको इष्ट हैं तब तो आप हिंसा करिये । यदि आपको उन नरकगति के नारकी आदि के दुःखों से भय है तब हिंसा का त्याग कर दीजिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि 'यह आत्मा सांख्यमत के समान अकर्ता नहीं है', किंतु रागादि विकल्पों से रहित, निर्विकल्प समाधि लक्षणवाले भेदज्ञान के समय यह आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं होता है और शेषकाल में कर्मों का कर्ता होता है । इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन अंतरस्थलों द्वारा इस चतुर्थस्थल में तेरह गाथासूत्र हुये हैं ॥ ३५३ से ३६५ ॥

भावार्थ—यहां निर्विकल्प समाधि के समय जीव को कर्मों का अकर्ता कहा है यह निर्विकल्प समाधि/ध्यान ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान का ही विवक्षित है क्योंकि दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्मलोभ का सद्भाव होने से/राग का अंश होने से कर्मबंध अवश्यंभावी है ऐसा श्रीअमृतचंदसूरि ने पहले (गा० १७१ अ०, १७९ ज० की टीका में) कहा है । अतः श्रेष्ठारोहण के पहले सरागचारित्र वाले मुनियों के तो अपने-अपने गुणस्थान के योग्य कर्मों का बंध होता ही रहता है । हां, निश्चयनय की अपेक्षा से तो 'सर्वे सुद्धा हु सुद्धण्या' इस नियम के अनुसार सभी संसारी प्राणी यहां तक कि अभव्यजीव भी कर्मों के अकर्ता ही हैं । इस नय से न तो कर्मबंध है न संसार है और न संसार के नरक आदि के व जन्म-मरण आदि के दुःख ही हैं । संसार में भी सभी जीवमात्र सिद्ध सदृश शुद्धात्मा ही हैं किंतु व्यवहारनय से ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था है ।

१केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।

जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४५ अ० ॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।

जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६ अ० ॥

जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।

सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ अ० ॥

कैश्चित् पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित् जीवः ।

यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४५ ॥

कैश्चित् पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित् जीवः ।

यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४६ ॥

यथैव करोति स नैव न वेदयते यस्यैष सिद्धांतः ।

स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिर्नार्हतः ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थ—(यस्मात् जीवः कैश्चित् तु पर्यायैः विनश्यति कैश्चित् तु नैव) जिस हेतु से यह जीव किन्हीं पर्यायों से नष्ट होता है और किन्हीं पर्यायों से नष्ट नहीं होता है (तस्मात् स वा करोति वा अन्यः एकांतः न) उसी हेतु से वही करता है अथवा अन्य कोई करता है यह एकांत नहीं है। (यस्मात् जीवः कैश्चित् तु पर्यायैः विनश्यति कैश्चित् तु नैव) जिस कारण से यह जीव किन्हीं पर्यायों से नष्ट होता है और किन्हीं-किन्हीं पर्यायों से नहीं होता है (तस्मात् स वा वेदयते वा अन्यः एकांतः न) उसी कारण वही जीव भोगता है अथवा अन्य कोई, यह एकांत नहीं है। (च

(३४६)—जीव नाम के तत्त्व की कितनी ही पर्याय विनशती ।

किन्तु अन्य कितनी ही पर्यायें जो नहीं विनशतीं ॥

इसीलिए वह ही कर्ता या अन्य दूसरा कर्ता ।

होता है इन विषयों का एकांत कथन नहीं बनता ॥ ३४५ ॥

(३४७)—इसी तरह वह जीव तत्त्व कुछ पर्यायों से नशता ।

तथा अन्य कुछ पर्यायों से भी वह नहीं विनशता ॥

अतः जीव ही भोक्ता अथवा अन्य भोगने वाला ।

होता यह एकांत कथन विपरीत मानने वाला ॥ ३४६ ॥

(३४८)—जो कर्मों का कर्ता है वह ही भोक्ता कहलाता ।

ऐसा जिसका मत है वह मिथ्यादृष्टी कहलाता ॥

यह ऐकांतिक कथनी अर्हन्मत में नहीं मिलती है ।

क्योंकि सांख्य के मत में ऐसी ही परिणति मिलती है ॥ ३४७ ॥

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।

सो जीवो णादब्बो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ अ० ॥ (चतुष्कम्)

अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धान्तः ।

स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४८ ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वय-
गुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः । ततो य एव
करोति स एवान्यो वा वेदयते । य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांतः । एवमनेकांतेऽपि
यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्तुत्वशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादजुसूत्रैकांते स्थित्वा य
एव करोति स एव न वेदयते । अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः । क्षणिकत्वेऽपि
वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवातःप्रतिभासमानत्वात् ॥ ३४५ । ३४६ । ३४७ । ३४८ ॥

यः एव करोति चैव सः न वेदयते यस्य एषः सिद्धान्तः) और जो ही जीव करता है वही भोगता
नहीं है जिनका यह सिद्धान्त है (सः जीवः अनार्हतः मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः) वह जीव अर्हत के मत से
बाहिर्भूत मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिये । (अन्यः करोति अन्यः भुंक्ते यस्य एषः सिद्धान्तः) अन्य
कोई करता है और अन्य दूसरा ही भोगता है जिसका ऐसा यह सिद्धान्त है (सः जीवः अनार्हतः
मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः) यह जीव अर्हतमत से बाह्य मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिये ।

आत्मख्याति—जिस हेतु से यह जीव प्रतिसमय होने वाले अगुरुलघुगुण के परिणामन द्वारा
तो क्षणिक है तथा अचल ऐसे चैतन्यगुण के साथ अनुस्यूत गुण के द्वारा नित्य है । अतः यह
जीव किन्हीं पर्यायों से तो नष्ट होता है और किन्हीं पर्यायों से नष्ट नहीं होता है । इस प्रकार नष्ट
होना और नहीं होना ऐसा दो स्वभाव ही जीव का स्वभाव है । इसी हेतु से जो करता है वही
भोगता है अथवा अन्य भोगता है और जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा
एकांत नहीं है । इस प्रकार से अनेकांत के होने पर भी यदि कोई ऐसा मान ले कि जो पर्याय
जिस क्षण वर्तमान में है वही परमार्थ सत् होने से वस्तुरूप है, इस प्रकार वस्तु के अंश में ही
वस्तुत्व का निश्चय करके शुद्धनय के लोभ से एकांत से ऋजुसूत्रनय में ही स्थित होकर जो
एकांत ग्रहण कर लेता है कि 'जो करता है वही भोगता नहीं है' प्रत्युत अन्य कर्ता है और अन्य
ही भोक्ता है ऐसा देखता है—मानता है या श्रद्धान कर लेता है वह मिथ्यादृष्टि ही है ऐसा जानना
चाहिये क्योंकि पर्यायों में क्षणिकपना होने पर भी पर्यायी चैतन्य चमत्कार स्वरूप जो आत्मा है
वह टंकोत्कीर्ण है, वही अंतरंग में प्रतिभासमान होता है ॥ ३४५ से ३४८ ॥

(३६९)—ऐसे ही कर्मों का कर्ता अन्य तथा भोक्ता भी ।

अन्य कहा जिसके मत में वह मिथ्यादृष्टि सदा ही ॥

क्योंकी अर्हमत में ऐसा कथन न पाया जाता ।

बौद्ध क्षणिक के ऐकान्तिक मत में यह पाया जाता ॥ ३४८ ॥

शार्दूलविक्रीडित—आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्याधकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिका^१ तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य^२ पृथुकैः शुद्धजुसूत्रैरितै-
रात्माव्युज्जित एष हारवदहो निस्सूत्रमुत्तेक्षिभिः ॥ २०८ ॥

भावार्थ—बौद्धमत में 'सर्व' क्षणिकं सत्त्वात्^३। इस नियम के अनुसार सभी वस्तुओं को क्षणिक—एक क्षणस्थायी ही मानते हैं अतः उनकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा ही क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है। मात्र, संस्कार से ही उसे स्मृति आदि ज्ञान होते रहते हैं। किंतु जैनाचार्यों के अनुसार आत्मा धौव्यरूप होने से नित्य है उसकी पर्यायें नष्ट होती हैं और पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं। उन पर्यायों में भी अर्थपर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं और उपजती हैं किंतु व्यंजन पर्यायें कुछ काल तक स्थायी भी रहती हैं जैसे कि मनुष्य पर्याय आदि व्यंजनपर्यायें हैं, इत्यादि।

इसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—आत्मा को परिपूर्णतया शुद्ध चाहने वाले अन्य किसी अंधों ने—बौद्धों ने काल की उपाधि के कारण से आत्मा में अधिक अशुद्धि को मानकर अतिव्याप्ति दोष को प्राप्त होकर शुद्धऋजुसूत्र नय से प्रेरित होते हुये ही आत्मा को क्षणिक मान लिया है और आत्मा को इस प्रकार छोड़ दिया है कि जैसे हार के सूत्र को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखने वाले हार को छोड़ देते हैं। २०८।

भावार्थ—जैसे हार में जो सूत्र/धागा है उसी में मोतियां पिरोई हुई हैं। वैसे ही प्रत्येक पर्यायों में आत्मा सूत्र के समान अनुस्थित है—अन्वयरूप है। कोई भी पर्याय आत्मा के बिना नहीं है और प्रत्येक पर्यायें क्रम-क्रम से होती रहती हैं, दूसरी-दूसरी पर्यायें नष्ट होती रहती हैं।

जैसे मनुष्य पर्याय छूटी—नष्ट हुई पुनः देवपर्याय प्रगट हो गई। किंतु आत्मा दोनों पर्यायों में एक ही है। ऐसा होते हुये भी बौद्ध पर्यायों के नाश से आत्मा का भी निरन्वय/जड़मूल से विनाश मान लेता है जो सर्वथा असंगत है इसीलिये श्रीअमृतचंदूसूरि ने उन्हें अंधा कह दिया है। वास्तव में जैनधर्म में नयों में एक ऋजुसूत्रनय माना है जो कि वर्तमान क्षण की एक पर्याय मात्र को ही विषय करता है। जैनाचार्य प्रत्येक नय को दूसरे से अपेक्षित मानते हैं और यह बौद्ध मात्र एक नय का ही एकांत पकड़कर वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लेता है। इसीलिये यहां आचार्य ने दोष दिखाया है क्योंकि ये पर्यायों के साथ आत्मा का ही नाश स्वीकार कर रहे हैं।

आत्मा की पूर्णशुद्धि इच्छुक बौद्धों में दोष अतिव्याप्ती ।
आत्मा में काल उपाधी वश उनने बतलायी बहु अशुद्धि ॥
ऋजुसूत्रनयाश्रित उन बौद्धों ने आत्मा को क्षणिकत्व कहा ।
आत्मा को ऐसा तजा कि जैसे सूत्र रहित मणिहार कहा ॥ २०८ ॥

शार्दूलविक्रीडित—कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचित्यतां ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भर्तु न शक्या क्वचित्
चिच्चितामणिमालिकेयमभितोप्येका चकास्त्येव नः ॥ २०९ ॥

रथोद्धताछंद—व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तुं कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चित्यते कर्तुं कर्म च सदैवमिष्यते^१ ॥ २१० ॥

काव्यार्थ—कर्ता और भोक्ता में युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो, अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों ही न हों, आप तो एक वस्तु का अनुभव कीजिये। जैसे निपुण पुरुषों द्वारा डोरे में पिरोई हुई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती, वैसे ही आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चितामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती, ऐसी यह चैतन्य चितामणि एक माला ही हम लोगों के लिये सब तरफ से प्रकाशमान हो रही है। २०९।

भावार्थ—जो आत्मा कर्ता है वही भोक्ता है। कथंचित् पर्याय की अपेक्षा से भेद है जैसे किसी ने मनुष्य पर्याय में पुण्य किया और देवपर्याय में भोगा, फिर भी आत्मा तो वही है अतः दोनों में अभेद है, फिर भी यहां यह कहना है कि आप इन कर्ता-भोक्ता के भेद आदि के विकल्पों को छोड़कर चैतन्यचितामणि स्वरूप इस आत्मा का ही मात्र अनुभव करो। निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर शुद्ध स्वरूप में लीन हो जावो।

काव्यार्थ—केवल/मात्र व्यवहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। यदि निश्चय से वस्तु का चिंतन किया जाय तो कर्ता और कर्म एक ही स्वीकृत किये जाते हैं। २१०।

भावार्थ—यह आत्मा कर्मों का कर्ता है और गंगादिभावकर्म कथंचित् आत्मा से भिन्न हैं। यह सब व्यवहारनय से/भेदनय से कहा जाता है किन्तु निश्चयनय से/अशुद्धनिश्चयनय से

कर्ता भोक्ता में युक्ति के वश से भेद अभेद भले कुछ हो।
अथवा दोनों ही न हों पर आप तो एक वस्तु अनुभव कर लो ॥
ज्यों निपुण प्रथित डोरे की मणि माला का भेदन शक्य नहीं।
चिच्चितामणि माला त्यों ही नहीं भिन्न सकती बहु शोभ रही ॥ २०९ ॥
केवल व्यवहारिक दृष्टि से ही कर्ता व कर्म हैं पृथक्-पृथक्।
यदि निश्चय से चिंतन करो तो दोनों ही माने अपृथक् ॥
आत्मा व भावकर्मों का एकीकरण अशुद्ध न्याश्रित है।
निज शुद्ध भाव का कर्ता भोक्ता होता शुद्ध न्याश्रित है ॥ २१० ॥

उत्थानिका—अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुङ्क्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति च योऽसौ मन्यते स सम्यग्दृष्टिर्भवति । इति प्रतिपादयति—

(३६६ ज०) केहिचिदु पज्जयेहिं, विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो ।

जह्मा तह्मा कुब्बदि, सो वा अण्णो वा णियंतो ॥

(३६७ ज०) केहिचिदु पज्जयेहिं, विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो ।

जह्मा तह्मा वेददि, सो वा अण्णो व णेयंतो ॥

(३६८ ज०) जो चेव कुणदि सो चेव, वेदको जस्स एस सिद्धंतो ।

सो जीवो णादब्बो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥

(३६९ ज०) अण्णो करेदि अण्णो, परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो ।

सो जीवो णादब्बो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥

कैश्चित्तुपर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।

यस्मात्तस्माद् करोति, स वा अन्यो वा नैकान्तः ॥ ३६६ ॥

कैश्चित्तुपर्यायैर्विनश्यति, नैव कैश्चित्तु जीवः ।

यस्मात्तस्माद् वेदयति, स वा अन्यो वा नैकान्तः ॥ ३६७ ॥

य एव करोति स एव, वेदको यस्यैष सिद्धांतः ।

स जीवो ज्ञातव्यो, मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३६८ ॥

अन्यः करोत्यन्यः, परिभुङ्क्ते यस्य एष सिद्धांतः ।

स जीवो ज्ञातव्यो, मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३६९ ॥

आत्मा और उसके भावकर्म उससे एकरूप हैं अभिन्न हैं । शुद्धनय से आत्मा अपने शुद्ध भावों का कर्ता और भोक्ता है । ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से जो कर्म को कर्ता है वही भोक्ता है और पर्यायार्थिकनय से अन्य ही कर्म को कर्ता है तथा अन्य ही भोक्ता है, इस प्रकार से जो मानता है वही सम्यग्दृष्टि होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जह्मा जीवो केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे केहिचिदु णेव) जिस हेतु से यह जीव किन्हीं पर्यायों से तो नष्ट होता है और किन्हीं पर्यायों से नहीं (तह्मा सो वा कुब्बदि अण्णो वा णियंतो) उसी हेतु से वही कर्ता है अथवा अन्य करता है यह एकांत नहीं है (जह्मा जीवो केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे केहिचिदु णेव) जिस हेतु से यह जीव किन्हीं पर्यायों से नष्ट

तात्पर्यवृत्तिः—केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित्पर्यायैः पर्यायार्थिकनय-विभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः । न नश्यति कैश्चिद्रव्यार्थिकनयविभागैः जह्या यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवरूपं तह्या तस्मात्कारणात् कुब्बदि सो वा द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति । स एव कः ? इति चेत्, यो भुंक्ते । अण्णो वा पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा । णेयंतो न चैकांतोऽस्ति । एवं कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता । केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित् पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः । न नश्यति कैश्चिद्रव्यार्थिकनयविभागैः । जह्या यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं तह्या तस्मात्कारणात् वेददि सो वा निजशुद्धात्मभावोत्पत्त्यसुखामृतरसास्वादमलभमानः स एव कर्मफलं वेदयत्यनुभवति । स एव कः ? इति चेत्, येन पूर्वकृतं कर्म अण्णो वा पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा णेयंतो न चैकांतोऽस्ति । एवं भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयागाथा । किं च येन मनुष्यभवे शुभाशुभं कर्म कृतं स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देवल्लोके नरके वा भुंक्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनस्तद्भवापेक्षया बालकाले कृतं

होता है और किन्हीं पर्यायों से नहीं (तह्या सो वा वेददि अण्णो व णेयंतो) उसी हेतु से वही जीव भोगता है अथवा अन्य भी भोगता है एकांत नहीं है (जो चेव कुणदि सो चेव वेदको एस जस्स सिद्धंतो) जो जीव करता है वही भोगता है जिनका यह सिद्धांत है (सो जीवो अणारिहदो मिच्छादिट्ठी णादब्बो) वह जीव अर्हंतमत से बाह्य मिथ्यादृष्टी है ऐसा जानना चाहिये (अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो) अन्य जीव करता है अन्य कोई भोगता है जिसका ऐसा सिद्धांत है (सो जीवो अणारिहदो मिच्छादिट्ठी णादब्बो) वह जीव भी अर्हंतमत से बहिर्भूत-मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३६६ से ३६९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह जीव पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देव, मनुष्य आदि रूप किन्हीं पर्यायों से नष्ट होता है और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से किन्हीं पर्यायों से नष्ट नहीं होता है । जिस कारण से यह जीव नित्यानित्य स्वभावरूप है उसी कारण से ऐसा समझना कि द्रव्यार्थिकनय से जो कर्म करता है वही भोक्ता है और पर्यायार्थिकनय से पुनः अन्य ही कर्म को करता है और अन्य ही भोगता है, यहां एकांत नहीं है, इस प्रकार कर्तृत्व की मुख्यता से पहली गाथा हुई । पर्यायार्थिकनय विभाग से किन्हीं देव, मनुष्य आदि पर्यायों से यह जीव नष्ट होता है और द्रव्यार्थिकनय विभाग से नष्ट नहीं होता है । जिस हेतु से यह जीव का स्वरूप नित्यानित्यरूप है उसी हेतु से निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस का स्वाद नहीं प्राप्त करता हुआ वही जीव कर्मफल का वेदन करता है—अनुभव करता है कि जिसने पूर्व में कर्म को किया था/बांधा था, अथवा पर्यायार्थिक नय से अन्य ही अनुभव करता है, एकांत नहीं है । इस प्रकार यहां भोक्तृत्व की मुख्यता से दूसरी गाथा हुई है । बात यह है कि जिस जीव ने मनुष्यभव में शुभ या अशुभ कर्म किया है वही जीव द्रव्यार्थिकनय से देवल्लोक में या

यौवनादिपर्यायान्तरे भुंक्ते अति संक्षेपेण अंतर्मुहूर्तान्तरे च भुंक्ते । भवांतरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृतं देवादिपर्यायेण भुंक्ते इति भावार्थः । एवं गाथाद्वयेनानेकांतव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धिः कृता । अथैकांतेन य एव करोति स च एव भुंक्ते अथवा न्यः करोत्यन्यो भुंक्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति—जो चेव कुणदि सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो य एव जीवः शुभाशुभ कर्म करोति स एव चैकांतेन भुंक्ते न पुनरन्यः, यस्यैष सिद्धांतः—आगमः । सो जीवो णादब्बो मिच्छादिद्धी अणारिहदो स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्यः । कथं मिथ्यादृष्टिः ? इति चेत्, यदैकांतेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत् तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतियोग्यं पापकर्मकृतं स्वर्गगतियोग्यं पुण्यकर्म कृतं जीवस्य नरके स्वर्गे वा गमनं न प्राप्नोति । तथा शुद्धात्मानुष्ठानेन मोक्षश्च कुतः ? नित्यैकांतत्वादिति । अण्णो करेदि अण्णो परिभुजदि जस्स एस सिद्धंतो अन्यः करोति कर्म भुंक्ते चान्यः, यद्येकांतेन बूते सो जीवो णादब्बो मिच्छादिद्धी अणारिहदो तदा

नरक में उस कर्म का फल भोगता है । पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से पुनः उसी भव की अपेक्षा से बाल्यकाल में कर्म किया है उसी को यौवन आदि भिन्न पर्यायों में भोगता है, अतिसंक्षेप से तो अंतर्मुहूर्त के बाद ही भोग लेता है—कोई कर्म बंधकर अंतर्मुहूर्त के बाद ही उदय में आ जाता है । दूसरे भव की अपेक्षा से तो मनुष्य पर्याय में किसी ने कर्म किया—बांधा, पुनः देवपर्याय में जाकर भोगता है ऐसा अभिप्राय समझना । इस प्रकार से यहां दो गाथाओं द्वारा अनेकांत की व्यवस्था करके अपने पक्ष की सिद्धि की गई है ।

अब कहते हैं कि एकांत से ही जो मानते हैं—जो कर्म करता है वही भोगता है । या अन्य ही कर्म करता है और उससे भिन्न/अन्य दूसरा ही भोगता है ऐसा कहने से तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है । यहां आचार्य ऐसा उपदेश दे रहे हैं— जो जीव शुभ या अशुभ कर्म करता है वही एकांत से भोगता है न कि कोई अन्य, ऐसा जिनका सिद्धांत है—आगम है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है जैनमत से बाह्य है ।

प्रश्न—वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ?

उत्तर—जब एकांत से यह आत्मा सांख्यमत के समान नित्यकूटस्थ है, अपरिणामी है और टंकोत्कीर्ण है, तब जिसने मनुष्यभव में नरकगति के योग्य पापकर्म किया था या स्वर्गगति के योग्य पुण्य कर्म किया था पुनः उसी जीव का नरक में या स्वर्ग में गमन नहीं हो सकेगा, तथा शुद्धात्मा के अनुष्ठान से मोक्ष भी कैसे हो सकेगा क्योंकि नित्य एकांत को आपने स्वीकार किया है—आपके यहां आत्मा एकांत से नित्य ही है पुनः उसका गमनागमन या उसमें परिवर्तन कैसे हो सकेगा, यहां यह अभिप्राय हुआ ।

यदि कोई एकांत से ऐसा कहता है कि अन्य ही कर्म करता है और कोई अन्य ही

येन मनुष्यभवे पुण्यकर्म कृतं पापकर्म कृतं मोक्षार्थं शुद्धात्मभावनानुष्ठानं च, तस्य पुण्यकर्मणो देवलोकेऽन्यः कोऽपि भोक्ता प्राप्नोति न च स जीवः। नरकेऽपि तथैव। केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं चान्यः कोऽपि लभते। ततश्च पुण्यपापमोक्षानुष्ठानं वृथेति बौद्धमतदूषणं, इति गाथाद्वयेन नित्यैकांतक्षणिकैकांतमतं निराकृतं। एवं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं ॥ ३६६ से ३६९ ॥

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।

तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥ ३४९ अ० ॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति।

तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३४९ ॥

उसका फल भोगता है तब तो जिसने मनुष्य भव में पुण्यकर्म किया या पापकर्म किया या मोक्ष के लिये शुद्धात्मभावना का अनुष्ठान किया। उस पुण्य कर्म का स्वर्गलोक में कोई अन्य ही भोगने वाला होगा न कि वही जीव, नरक में भी अन्य ही कोई पाप का भोगने वाला होगा न कि वही जीव, और केवलज्ञान आदि की प्रगटतारूप मोक्ष भी कोई अन्य ही प्राप्त करेगा न कि वही जीव, और इस प्रकार से तो—कर्म कोई करे और फल अन्य दूसरा ही भोगे तब तो पुण्य, पाप और मोक्ष का अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जावेगा, इस तरह बौद्ध के मत में दूषण दिया गया है। यहाँ दो गाथाओं द्वारा नित्यैकांत और क्षणिकैकांत मत का खंडन किया गया है। ऐसे द्वितीयस्थल में चार गाथा सूत्र हुये हैं ॥ ३६६ से ३६९ ॥

अब इसी कथन को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा शिल्पिकः तु कर्म करोति स तु तन्मयः च न भवति) जैसे शिल्पी/सुनार आदि आभूषण आदि कार्य को करता है परंतु वह आभूषणों से तन्मय/उनरूप नहीं होता है (तथा जीवः अपि कर्म करोति च तन्मयः न भवति) वैसे ही जीव भी पुद्गलकर्म को करता है किंतु तन्मय नहीं होता है। (यथा शिल्पिकः करणैः तु करोति तु सः च तन्मयः न भवति) जैसे शिल्पी हथौड़ा आदि उपकरणों से कार्य को करता है किंतु वह उनसे तन्मय नहीं होता है (तथा जीवः करणैः करोति च तन्मयः न भवति) वैसे ही जीव मन वचन काय आदि करणों से

नरेन्द्रछंद—(३७०)—जैसे शिल्पी स्वर्णकार आभूषण आदि बनाता।

लेकिन उन आभूषणादि से तन्मय नहीं बन जाता ॥

वैसे ही जीवात्मा भी पुद्गल कर्मों को करता।

किन्तु कभी वह तन्मय होकर कर्मरूप नहीं बनता ॥ ३४९ ॥

जह सिप्पिओ उ करणेहि कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।

तह जीवो करणेहि कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५० अ० ॥

जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।

तह जीवो करणाणि उ गिण्हइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५१ अ० ॥

जह सिप्पिओ उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ ।

तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५२ अ० ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तन्मयो भवति ।

तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३५० ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृण्हाति न च स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवः करणानि तु गृण्हाति न च तन्मयो भवति ॥ ३५१ ॥

यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥ ३५२ ॥

कर्म को करता है फिर भी उनसे तन्मय नहीं होता है । (यथा शिल्पिकः तु करणानि गृण्हाति तु च सः तन्मयः न भवति) जैसे शिल्पी करणों को ग्रहण करता है किंतु वह उनसे तन्मय नहीं होता है (तथा जीवः करणानि गृण्हाति तु च तन्मयः न भवति) वैसे ही जीव करणों को/मन वचन काय को ग्रहण करता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता । (यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते च सः तु तन्मयः न भवति) जैसे शिल्पी अपने कार्य/आभूषण आदि के फल को भोगता है

(३७१)—जैसे शिल्पी उपकरणों से कुण्डल आदि बनाता ।

लेकिन उपकरणों के संग वह उस मय नहीं बन जाता ॥

मनवचकाय करण से आत्मा भी कर्मों को करता ।

तो भी उन करणों के संग तन्मय होकर नहीं रहता ॥ ३५० ॥

(३७२)—उन उपकरणों को शिल्पी स्वयमेव ग्रहण भी करता ।

तन्मय होकर तत्स्वरूप तो भी परिणति नहीं करता ॥

जीवद्रव्य भी उसी तरह कायादि ग्रहण करता है ।

तो भी कायादिक स्वरूप से उस मय नहीं बनता है ॥ ३५१ ॥

(३७३)—शिल्पी जैसे कुण्डलादि कर्मों के फल को भोक्ता ।

फिर भी वह निज कर्मफलों से तन्मय रूप न होता ॥

वैसे ही आत्मा कर्मों के सुख दुख फल को सहता ।

फिर भी उन कर्मों के फल में तन्मय रूप न बनता ॥ ३५२ ॥

एवं व्यवहारस्स उ वक्तव्यं दरिसणं समासेण ।
 सुणु णिच्छयस्स वचणं परिणामकयं तु जं होई ॥ ३५३ अ० ॥
 जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
 तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥ ३५४ अ० ॥
 जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
 तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ अ० ॥ (सप्तकम्)
 एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
 शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥ ३५३ ॥
 यथा शिल्पकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः ।
 तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥ ३५४ ॥
 यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
 तस्माच्च व्यवहारमस्तथा देहमानो दुःखी जीवः ॥ ३५५ ॥

किंतु वह उनसे तन्मय नहीं होता है (तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते च तन्मयः न भवति) वैसे ही जीव भी कर्म के फल को भोगता है तो भी तन्मय नहीं होता है (एवं व्यवहारस्य तु दर्शनं समासेन वक्तव्यं) इस प्रकार व्यवहारनय का कथन संक्षेप में कहना चाहिये (निश्चयस्य वचनं तु परिणामकृतं यद् भवति शृणु) निश्चयनय के जो वचन हैं वे परिणामों से किये हुये होते हैं उन्हें

- (३७४)—ऐसा यह व्यवहार कथन संक्षेप रूप कह आए ।
 अब आगे निश्चयनय के वचनों को भी बतलाएं ॥
 सुनो उन्हें निज परिणामों से किया हुआ जो होता ।
 निज के ही रागादि विकल्पों से संपादित होता ॥ ३५३ ॥
- (३७५)—शिल्पी निज परिणामों की चेष्टा जैसी करता है ।
 उस चेष्टा से पृथक् न होकर तन्मय ही रहता है ॥
 जीवद्रव्य भी निज परिणामों से कर्मों को करता ।
 उन परिणाम स्वरूप कर्म से पृथक् नहीं हो सकता ॥ ३५४ ॥
- (३७६)—शिल्पी जैसे चेष्टा करके सदा दुखी रहता है ।
 वह अपने दुख सहकर दुख से भिन्न नहीं रहता है ॥
 उसी तरह से जीव द्रव्य भी दुखी बना रहता है ।
 दुखी अवस्था में निज चेष्टा से तन्मय रहता है ॥ ३५५ ॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति । हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति । हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति । ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिकर्मफलं भुंक्ते च । न त्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः । तथात्मापि पुण्यपापादि-पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म करोति । कायवाङ्मनोभिः पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति । सुखः दुःखः आदिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च न त्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः । यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति । दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपं कर्मफलं भुंक्ते च

तुम सुनो । (यथा शिल्पिकः तु चेष्टां करोति तथा च तस्याः अनन्यः भवति) जैसे शिल्पी चेष्टा/प्रवृत्ति को करता है तब उस प्रवृत्ति से वह अभिन्न/तन्मय होता है (तथा जीवः अपि च कर्म करोति च तस्मात् अनन्यः भवति) वैसे ही जीव भी अपने रागादिरूप भावकर्म को करता है और उससे वह अभिन्न/तन्मय होता है । (यथा चेष्टां कुर्वाणः तु शिल्पिकः नित्यदुःखितः भवति) जैसे चेष्टा को करता हुआ शिल्पी नित्य ही दुःखी होता है (तस्मात् च अनन्यः स्यात्) और उससे तन्मय रहता है (तथा जीवः चेष्टमानः दुःखी) वैसे ही जीव भी चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है ॥ ३४९ से ३५५ ॥

आत्मख्याति—जैसे कोई सुनार आदि कारीगर कुंडल, कड़े आदि परद्रव्य के परिणामरूप कार्य को करते हैं । हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामरूप उपकरणों से कुंडल आदि बनाते हैं । हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामरूप उपकरणों को ग्रहण करते हैं और ग्राम, धन आदि परद्रव्य के परिणामरूप कुंडल आदि कार्यों के फल को—मूल्य को भोगते हैं फिर भी भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से वे कारीगर उन कुंडल आदि वस्तुओं से पृथक् होने से उन वस्तुओं से तन्मय—तद्रूप नहीं हो जाते हैं इसलिये उन कारीगर और वस्तुओं में निमित्त-नैमित्तिक भाव-मात्र से ही उनमें कर्ता-कर्म और भोक्ता तथा भोगने योग्य का व्यवहार होता है ।

वैसे ही आत्मा भी पुण्य-पाप आदि पुद्गल के परिणामरूप कर्मों को/द्रव्यकर्म को करता है । काय, वचन और मन जो कि पुद्गलद्रव्य के ही परिणाम हैं, ऐसे उन पुद्गलमयी करणों के द्वारा कर्म को करता है । पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप ऐसे काय, वचन और मनरूप करणों को ग्रहण करता है और सुख-दुःख आदि पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप ऐसे पुण्य और पाप आदि कर्मों के फल को भोगता भी है । भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से उनसे भिन्न है अतः यह आत्मा उन कर्मों से तन्मय/तद्रूप नहीं होता है इसीलिये निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही इन आत्मा और कर्म में कर्ता-कर्म और भोक्ता-भोग्य का व्यवहार होता है ।

जैसे वही शिल्पी कार्य करने का इच्छुक हुआ चेष्टारूप अपने परिणामों को करता है । अपने चेष्टा के अनुरूप दुःख लक्षण वाले अपने परिणामरूप कर्मफल को भोगता है और

एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः । तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति । दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपकर्मफलं भुङ्क्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैककर्तृकर्मभोक्तृ-भोग्यत्वनिश्चयः ॥ ३४९—३५५ ॥

नर्दटक छंद—ननु परिणाम एव किल कर्मनिनिश्चयतः

स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।

न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया

स्थितिर्निवृत्तवस्तुनो भवतु कर्तुं तदेव ततः ॥ २११ ॥

एकद्रव्यरूप होने से वह उन अपनी प्रवृत्तियों से अभिन्न है अतः वह तन्मय हो जाता है इसीलिये परिणाम और परिणामी भाव से उनमें ही कर्ता-कर्म और भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय होता है । वैसे ही यह आत्मा भी कर्म करने का इच्छुक हुआ चेष्टा/प्रवृत्तिरूप आत्मा परिणाम को—रागादिभाव कर्मों को करता है । चेष्टा के अनुरूप ही दुःख लक्षण वाले ऐसे अपने परिणामरूप कर्म के फल को भोगता है और एक द्रव्यरूप होने से उन भावकर्मों से अभिन्न है अतः तन्मय भी हो जाता है इसीलिये परिणाम/रागादिभावकर्म और परिणामी/आत्मा के भाव से उन दोनों में से एक/जीव द्रव्य में ही कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्यत्व का निश्चय होता है ॥ ३४९ से ३५५ ॥

भावार्थ—सुवर्णकार हो या कुंभकार, वे सुवर्ण से या मिट्टी से कुंडल, कड़े या घड़े आदि बनाते हैं तो भी वे कभी भी कड़े या घड़े रूप नहीं बन जाते हैं । हाँ, उनके परिणाम जो भी कार्य करने के होते हैं उन परिणामों से—भावों से वे पुरुष अभिन्न हैं यह बात बहुत स्पष्ट है । ऐसे ही यह जीव भी पौद्गलिक कर्मों का बंध करते हुये भी उनसे भिन्न है और उनके निमित्त से होने वाले अपने रागादि भावों से अभिन्न है । इसका अभिप्राय यही है कि यह जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता निमित्तरूप से है, उपादानरूप से नहीं है और भावकर्मों का कर्ता तो उपादानरूप से ही है ऐसा समझना ।

इसे ही कलशकाव्यों में कहते हैं—

काव्यार्थ—वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं—क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं,

परिणाम ही कर्म कहा निश्चय से परिणामी के वह होता ।

निज-निज द्रव्याश्रित होने से परिणाम अन्य का नहीं होता ॥

कर्ता बिन कर्म नहीं होता वस्तु की नहीं कूटस्थ दशा ।

इसलिए वस्तु स्वयमेव निजी परिणाम कर्म का है कर्ता ॥ २११ ॥

पृथ्वी छंद—बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वंतरं ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लेशयते ॥ २१२ ॥

रथोद्धता छंद—वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो, येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोयमपरोऽपरस्य कः, किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१३ ॥

अन्य के परिणाम का अन्य कोई आश्रय नहीं हो सकता । कर्म कर्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की एकरूप—कूटस्थ स्थिति नहीं होती है इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म का कर्ता है । २११ ।

भावार्थ—हे मुनियों ! तुम यह निश्चय करो कि निश्चय से जीव का अपना परिणाम ही कर्म है वह परिणाम अपने द्रव्य के आश्रित ही रहता है अनाश्रित नहीं अतः यह निश्चित सिद्धांत है कि यह जीव स्वयं अपने परिणामरूप कर्मों का ही कर्ता होता है ।

काव्यार्थ—स्वयं अनंतशक्ति से प्रकाशित वस्तु अन्य वस्तु के बाहर ही यद्यपि लोटती रहती है—तैरती रहती है फिर भी अन्य वस्तु अन्य वस्तु के अंदर प्रवेश नहीं करती है क्योंकि समस्त वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं ऐसा माना जाता है । अहो ! ऐसा होने पर भी यह मोही अपने स्वभाव से चलित होकर, आकुल होकर क्यों क्लेश पा रहा है ? अर्थात् मोहरहित होने से ही सुखी हो सकता है । २१२ ।

भावार्थ—एक वस्तु में दूसरी वस्तु नहीं मिलती यह वस्तु का स्वभाव है फिर भी अज्ञानी जीव अपने स्वभाव से च्युत होकर आकुलता से दुःखी हो रहा है । अथवा स्वभाव से च्युत तो अनादिकाल से ही है किंतु स्वभाव को न प्राप्त कर दुःखी हो रहा है ऐसा समझना ।

काव्यार्थ—इस संसार में एक वस्तु अन्य दूसरी वस्तु की नहीं है इसलिये वास्तव में वस्तु वस्तु ही है ऐसा निश्चय है । ऐसा होने पर भी कोई अन्य वस्तु दूसरी वस्तु के बाहर ही लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकती है । २१३ ।

यद्यपि अनन्तशक्ति से प्रकाशित वस्तु बाह्य ही तैर रही ।
फिर भी पर वस्तु के अन्दर न प्रविष्ट करे निज में स्थिर ही ॥
ऐसा होने पर भी यह मोही निज स्वभाव से चलित हुआ ।
आकुल होकर क्यों क्लेश भोगता मोहरहित हो सुखी हुआ ॥ २१२ ॥
इस जग में एक वस्तु नहीं अन्य दूसरी वस्तु की मानी ।
वास्तव में वस्तु तो वस्तु ही है ऐसा कहते जानी ॥
इतने पर भी कोई वस्तु पर वस्तु के बाहर रहती ।
यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कहा व्यवहार नयाश्रित ही ॥ २१३ ॥

रथोद्धता छंद—यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः, किंचनापि परिणामिनः स्वयं ।

व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१४ ॥

(उत्थानिका) —अथ व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेदः, निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तुं तदेव कर्मेत्युपदिशति—

(३७० ज०) जह सिप्पिओ दु कम्मं, कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥

(३७१ ज०) जह सिप्पिओ दु करणेहि, कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो करणेहि, कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म, करोति न च स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवोऽपि च कर्म, करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३७० ॥

यथा शिल्पिकः करणैः, करोति न स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवः करणैः, करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३७१ ॥

भावार्थ—वस्तु का स्वभाव तो ऐसा ही है कि अन्य रूप न होना । जैसे चेतन वस्तु में एक क्षेत्रावगाहरूप से पुद्गल रहते हैं फिर भी वे चेतन को जड़ नहीं बना सकते हैं यह निश्चयनय का मत है फिर भी व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक भाव से ही तो संसार और मोक्ष की व्यवस्था है क्योंकि व्यवहार से ही संसार है और संसारपूर्वक ही/बंधपूर्वक ही मोक्ष होता है ऐसा नियम है अतः एकांत नहीं लेना चाहिये ।

काव्यार्थ—एक वस्तु स्वयं परिणामित होती हुई 'अन्य वस्तु का कुछ भी करती है' ऐसा जो माना जाता है वह व्यवहार दृष्टि से ही माना जाता है । निश्चय से इस लोक में अन्य वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कुछ भी संबंध नहीं है । २१४ ।

भावार्थ—यह जीव पुद्गलकर्मों का कर्ता है यह व्यवहारनय की अपेक्षा से ही कहा जाता है । निश्चयनय से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कोई संबंध ही नहीं है । ये निश्चय-व्यवहार जब तक सापेक्ष हैं तभी तब सम्यक् हैं, निरपेक्ष होते ही मिथ्या हो जाते हैं ऐसा समझना ।

अब उपर्युक्त सात गाथाओं का अर्थ श्रीजयसेनाचार्य के शब्दों में पढ़ना है ।

उत्थानिका—व्यवहार से कर्ता और कर्म में भेद है और निश्चय से जो कर्ता है वही कर्म है ऐसा उपदेश देते हैं—

इक वस्तु स्वयं परिणामित हुई यदि पर का कुछ भी करती है ।

तो वह व्यवहार दृष्टि से ही निश्चय से कुछ नहीं करती है ॥

निश्चय से तो इस लोक में वस्तु का अन्य से कुछ सम्बन्ध नहीं ।

दोनों नय में सापेक्षपना करने से होता कथन सही ॥ २१४ ॥

(३७२ ज०) जह सिप्पिउ करणाणि, गिण्हदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो करणाणि य, गिण्हदि ण य तम्मओ होदि ॥

(३७३ ज०) जह सिप्पिउ कम्मफलं, भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो कम्मफलं, भुंजदि ण य सोवि तम्मओ होदि ॥

(३७४ ज०) एवं व्यवहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण ।

सुणु णिच्छयस्स वयणं, परिणामकदं तु जं होदि ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणानि, गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवः करणानि च, गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥ ३७२ ॥

यथा शिल्पिकः कर्मफलं, भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥ ३७३ ॥

एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।

शृणु निश्चयस्य वचनं, परिणामकदं तु यद्वदति ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थ—(जह सिप्पिओ दु कम्मं कुब्बदि सो दु तम्मओ ण य होदि) जैसे शिल्पी आभूषण बनाने आदि कार्य को करता है किंतु वह उनसे तन्मय/उत्तरूप नहीं हो जाता है (तह जीवोवि कम्मं कुब्बदि य तम्मओ ण य होदि) वैसे ही यह जीव भी कर्मों को करता है किंतु वह तन्मय/उन कर्मरूप नहीं होता है (जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुब्बदि सो दु तम्मओ ण य होदि) जैसे शिल्पी करणों/उपकरणों से कार्य करता है—वस्तु बनाता है किंतु वह उन वस्तुरूप नहीं हो जाता है (तह जीवो करणेहिं कुब्बदि तम्मओ ण य होदि) वैसे ही जीव भी करण/मन वचन काय के द्वारा करता है किंतु वह उस रूप नहीं हो जाता है (जह सिप्पिउ करणाणि गिण्हदि सो दु तम्मओ ण य होदि) जैसे शिल्पी करण/हथौड़ा आदि उपकरणों को ग्रहण करता है किंतु वह उत्तरूप नहीं हो जाता है (तह जीवो य करणाणि गिण्हदि तम्मओ ण य होदि) वैसे ही जीव भी करण/मन वचन काय को ग्रहण करता है किंतु उत्तरूप नहीं हो जाता है (जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि सो दु तम्मओ ण य होदि) जैसे शिल्पी कार्य के फल को भोगता है किंतु वह उनके फलरूप नहीं हो जाता है (तह जीवो कम्मफलं भुंजदि सो दु तम्मओ ण य होदि) वैसे ही यह जीव भी कर्मों के फल को भोगता है किंतु वह उन/सुख-दुःखरूप नहीं हो जाता है (एवं व्यवहारस्स दंसणं दु समासेण वत्तव्वं) इस प्रकार से व्यवहारनय का सिद्धांत संक्षेप से कहना चाहिये (णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि सुणु) निश्चयनय का जो

(३७५ ज०) जह सिप्पिओ दु चेदुं कुव्वदि हवदि य तहा अणणो सो ।
तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वदि हवदि य अणणो सो ॥

(३७६ ज०) जह चेदुं कुव्वंतो दु, सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि ।
ततो सेय अणणो, तह चेदुंतो दुही जीवो ॥

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां, करोति भवति च तथानन्यः सः ।

तथा जीवोऽपि च कर्म, करोति भवति चानन्यः सः ॥ ३७५ ॥

यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु, शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।

तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥ ३७६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादिः सुवर्णकुंडलादिकर्म करोति, कैः कृत्वा ? हस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः । हस्तकुट्टकान्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकुंडलादि-कर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति । तथैवाज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युतः सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति । कैः कृत्वा ? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादककरणैरुपकरणैः तथैव

कथन है वह परिणामों से किया हुआ होता है अब उसे तुम सुनो (जह सिप्पिओ दु चेदुं कुव्वदि य सो तहा अणणो हवदि) जैसे शिल्पी जो भी चेष्टा/प्रवृत्ति करता है वह उस प्रवृत्ति से अभिन्न ही होता है (तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि य सो अणणो हवदि) वैसे ही जीव भी जो कुछ कर्म/रगादि भाव करता है वह उन भावों से अभिन्न ही रहता है (जह सिप्पिओ चेदुं दु कुव्वंतो णिच्च दुक्खिदो होदि) जैसे शिल्पी प्रवृत्ति करता हुआ नित्य ही दुःखी रहता है (ततो सेय अणणो) और उससे अभिन्न ही रहता है (तह चेदुंतो दुही जीवो) वैसे ही प्रवृत्ति करता हुआ जीव भी दुःखी रहता है ॥ ३७० से ३७६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जैसे लोक में सुनार आदि कारीगर सोने की कुंडल, अंगूठी आदि वस्तुयें करता है—बनाता है । हथौड़ा आदि उपकरणों से करता है और हथौड़ा आदि उपकरणों को हाथ से ग्रहण करता है—उठाता है फिर भी सुनार आदि शिल्पी उन सोने की वस्तुयें—कुंडल, कंकण आदि कार्यों के साथ और हथौड़ा आदि उपकरणों के साथ तन्मय—एकरूप नहीं होता है । उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी निष्क्रिय, वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से च्युत होता हुआ ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों को करता है । वह मन वचन काय के व्यापाररूप कर्मों को उत्पन्न करने वाले ऐसे करणों के द्वारा उन कर्मों को करता है और उसी प्रकार से कर्मोदय के निमित्त

च कर्मोदयवशात्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि कर्मोत्पादककारणान्युपकरणानि संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णाति तथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टंकोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति । तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादिः सुवर्णाकुंडलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यशनपानादिकं मूल्यं लभते भुंक्ते च तथापि तेनाशनपानादिना सह तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलं बहिरंगेष्टानिष्टाशनपानादिरूपं निजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानंदसुखास्वादमलभमानो भुंक्ते न च तन्मयो भवति । एवं व्यवहारस्य उक्तत्वं दंसणं समासेण एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्टान्त उदाहरणं हे शिष्य ! वक्तव्यं व्याख्येयं कथनीयं समासेन संक्षेपेण सुगुणिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि इदं त्वग्रे वक्ष्यमाणं निश्चयस्य वचनं व्याख्यानं शृणु यत् कथंभूतं ? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति । जह सिप्पिओ दु चेदं कुव्वदि हवदि य तहा अणणो सो यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तथा चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मयः तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणणो सो तथैवाज्ञानी जीवः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूपः कारणसमयसारस्तस्याभावे

से मन वचन काय के व्यापाररूप कर्मों के उत्पादक कारणों को संश्लेषरूप से, व्यवहारनय से ग्रहण करता है फिर भी वह आत्मा इन ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों के साथ और मन वचन काय के व्यापाररूप कर्मोत्पादक कारणों से तन्मय नहीं होता है क्योंकि वह आत्मा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव होने से इन कर्मों से भिन्न ही है ।

जैसे वही सुनार आदि कारीगर सोने के कुंडल आदि वस्तुओं को बनाने पर उनसे प्राप्त मूल्य में अशन, पान आदि को प्राप्त करता है और उसको भोगता है फिर भी उन धन आदि मूल्य के साथ या अशन-पान आदि के साथ तन्मय नहीं होता है वैसे ही जीव भी शुभ-अशुभ कर्म के फल को और उससे प्राप्त बहिरंग में इष्ट-अनिष्ट अशन, पान आदि रूप फल को भोगता है, वह जीव निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न मनोहर आनंद सुखस्वाद को नहीं प्राप्त करता हुआ ही कर्मफल को भोगता है फिर भी उनसे तन्मय नहीं होता है । इस प्रकार पूर्वोक्त कथनरूप चार गाथाओं द्वारा यह बताया है कि 'यह आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता और भोक्ता है' यह व्यवहार नय का दर्शन/सिद्धांत है या दृष्टान्त—उदाहरण है ।

हे शिष्य ! संक्षेप से तुम्हें ऐसा व्याख्यान करना चाहिये । पुनः इससे आगे कहे जाने वाले निश्चयनय का व्याख्यान सुनो, जो अपने परिणाम से किये गये हैं—रागादि विकल्परूप से उत्पन्न हुये हैं वे भावकर्म निश्चयनय के विषय हैं ऐसा समझो ।

जैसे सुनार आदि शिल्पी कुंडल आदि वस्तुओं को 'मैं इस-इस प्रकार करता हूँ' ऐसी चेष्टा मन में करता है—ऐसे परिणाम करता है पुनः उस चेष्टा के साथ—उन भावों के साथ वह तन्मय हो जाता है—अभिन्न ही रहता है । उसी प्रकार से वह अज्ञानी जीव केवलज्ञान आदि

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।

तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥ ३५६ अ० ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायकोः ज्ञायकः स तु ॥ ३५६ ॥

एकदेश ही घटित होते हैं जैसे कि 'चंद्रमुखी कन्या' कहने से उसका मुख चंद्रमा के समान गोल व सुंदर है इतना ही अर्थ विवक्षित है न कि आंख, कान आदि से रहित इत्यादि। ऐसे ही इस सुनार के दृष्टांत में जैसे सुनार और सोना व बनाने के उपकरण आदि हम और आप को सर्वथा भिन्न-भिन्न दिख रहे हैं वैसे ही जीव और पौद्गलिक कर्म सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं दिख रहे हैं बल्कि दूध और पानी के समान दोनों के प्रदेश एकमेक हो रहे हैं। ये आज से नहीं बल्कि अनादि काल से ही एकमेक हैं। आचार्यों ने इनके लिये खान से निकले हुये स्वर्णपाषाण का उदाहरण भी दिया है।

यहां इस दृष्टांत से इतना ही समझना है कि आत्मा व्यवहारनय से या निमित्त-नैमित्तिकभाव से द्रव्यकर्मों का कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादिभावों का कर्ता है और शुद्धनय से अपने शुद्धभावों का ही कर्ता है। बस इतनी सी बात को ही श्रीकुंदकुंददेव ने नाना उदाहरणों से और नाना प्रकार से समझाया है। इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य ने अपनी टीका में अंत की पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया है।

श्रीकुंदकुंददेव ने नियमसार में भी यही बात कही है—

कर्त्ता भोक्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा ।

कम्मजभावेणादा कर्त्ता भोक्ता दु णिच्छयदो ॥ १८ ॥

व्यवहार नय से आत्मा पौद्गलिक—द्रव्य कर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा निश्चयनय से आत्मा कर्म से उत्पन्न हुये भावों का कर्ता और भोक्ता है। यहां पर निश्चयनय शब्द से अशुद्धनिश्चयनय ही लेना चाहिये।

अब इसी निश्चय-व्यवहार के कथन को दृष्टांत द्वारा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा सेटिका तु परस्य न सा सेटिका च सेटिका भवति) जैसे खड़िया मिट्टी तो पर/दीवाल आदि की नहीं है वह खड़िया मिट्टी तो खड़िया मिट्टी ही है (तथा ज्ञायकः तु

(३७७)—श्वेत वर्ण की खड़िया जैसे नहीं दीवाल की होती।

लेकिन खड़िया स्वयं स्वगुण से शुक्लरूप ही होती ॥

यूं ही ज्ञायक आत्मा भी परद्रव्य ज्ञेय का नहीं है।

प्रत्युत निज के ज्ञायक गुण से ही तो ज्ञायक वह है ॥ ३५६ ॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया य सा होइ ।

तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥ ३५७ अ० ॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ ।

तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥ ३५८ अ० ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥ ३५७ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥ ३५८ ॥

परस्य न सः ज्ञायकः तु ज्ञायकः) वैसे ही ज्ञायक भाव तो पर का—पुद्गलकर्म का नहीं है वह ज्ञायक भाव तो ज्ञायक ही है ।

(यथा सेटिका तु परस्य न सेटिका सा च सेटिका भवति) जैसे खड़िया मिट्टी तो पर की नहीं है वह खड़िया तो खड़िया ही है (तथा दर्शकः तु परस्य न सः दर्शकः तु दर्शकः) वैसे ही देखने वाला आत्मा परद्रव्य का नहीं है वह देखने वाला तो देखने वाला ही है । (यथा सेटिका तु परस्य न सा च सेटिका सेटिका भवति) जैसे खड़िया तो पर की नहीं है वह खड़िया मात्र खड़िया ही है । (तथा संयतः तु परस्य न सः संयतः संयतः तु) वैसे त्याग करने वाला संयमी मुनि पर का नहीं है—परद्रव्य में नहीं है वह संयत संयत ही है । (यथा सेटिका तु परस्य न सा च तु सेटिका सेटिका भवति) जैसे खड़िया पर की नहीं है वह वो खड़िया तो खड़िया ही है (तथा दर्शनं तु परस्य न तद् दर्शनं तु दर्शनं) वैसे ही श्रद्धान कर्मा तो यह पर का नहीं है वह सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है । (एवं तु ज्ञानदर्शनचरित्रे निश्चयनयस्य भाषितं) इस प्रकार तो ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय में निश्चयनय का कथन है (तस्य च समासेन व्यवहारनयस्य वक्तव्यं शृणु) अब उसी रत्नत्रय में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो ।

(३७८)—पर को श्वेत बनाने से खड़िया नहिं श्वेत कही है ।

वह तो अपनी सहज सफेदी गुण से श्वेत कही है ॥

यूं हि मात्र परद्रव्य देखने से न जीव दर्शक है ।

प्रत्युत वह तो सहज स्वभावी होने से दर्शक है ॥ ३५७ ॥

(३७९)—पर को श्वेत बनाने से मिट्टी नहिं श्वेत कही है ।

वह तो निज के सहज श्वेत गुण से ही श्वेत कही है ॥

यूं ही त्यागन वाला संयत मुनि भी पर का नहिं है ।

वह संयत तो स्वयं संयमी होने से संयत है ॥ ३५८ ॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि ।

तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥ ३५९ अ० ॥

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते ।

सुणु व्यवहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥ ३६० अ० ॥

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।

तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥ ३६१ अ० ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥ ३५९ ॥

एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।

शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥ ३६० ॥

यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६१ ॥

(यथा सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं खलु सेटयति) जैसे खड़िया मिट्टी अपने स्वभाव से परद्रव्य/दीवाल आदि को सफेद करती है (तथा ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं जानाति) वैसे ही जानने वाला आत्मा भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को जानता है (यथा सेटिका आत्मनः स्वभावेन खलु परद्रव्यं सेटयति) जैसे खड़िया मिट्टी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है (तथा जीवः अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं पश्यति) वैसे ही जीव भी अपने

(३८०)—पर को रंगने से सफेद मिट्टी नहीं पर की मानी ।

वह तो अपनी सहज सफेदी से संयुक्त बखानी ॥

वैसे ही श्रद्धान क्रिया पर की नहीं मानी जाती ।

सम्यग्दर्शन युक्त क्रिया ही सम्यग्दर्श कहाती ॥ ३५९ ॥

(३८१)—ऐसा यह दर्शन सुज्ञान चारित्र विषय में माना ।

निश्चय नय का वचन यही परमागम से है जाना ।

अब व्यवहारनयाश्रित कथनों कहता हूँ सो सुनिये ।

दोनों के संक्षिप्त कथन सुन निज आत्मा को गुनिये ॥ ३६० ॥

(३८२)—पर को श्वेत बनाने से खड़िया ज्यों श्वेत कही है ।

बहु अपने इस सहज भाव से मानी श्वेत सही है ॥

उसी तरह परद्रव्य जानने वाला भी ज्ञायक है ।

ज्ञातापन के निज गुण से ही सबका वह ज्ञायक है ॥ ३६१ ॥

जह परद्रव्यं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण ॥ ३६२ अ० ॥
 जह परद्रव्यं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥ ३६३ अ० ॥
 जह परद्रव्यं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं सहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥ ३६४ अ० ॥
 यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
 तथा परद्रव्यं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६२ ॥
 यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
 तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६३ ॥
 यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
 तथा परद्रव्यं श्रद्धते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६४ ॥

स्वभाव से परद्रव्यों को देखता है । (यथा सेटिका आत्मनः स्वभावेन खलु परद्रव्यं सेटयति) जैसे खड़िया मिट्टी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है (तथा ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं विजहाति) वैसे ही ज्ञाता/ज्ञानस्वरूप आत्मा भी अपने स्वभाव से पर द्रव्य को छोड़ देता है । (यथा सेटिका आत्मनः स्वभावेन खलु परद्रव्यं सेटयति) जैसे खड़िया मिट्टी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है (तथा सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन परद्रव्यं श्रद्धयाति) वैसे ही सम्यग्दृष्टि

- (३८३)—पर को रंगने से सफेद मिट्टी सफेद कहलाती ।
 क्योंकि वह तो इसी श्वेत गुण से संयुक्त कहाती ॥
 इसी तरह परवस्तु देखने से आत्मा दर्शक है ।
 दर्शकपन के निज गुण से ही सबका वह दर्शक है ॥ ३६२ ॥
 (३८४)—श्वेत वर्ण की खड़िया जैसे पर को श्वेत बनाती ।
 इसी हेतु से वह खड़िया है बात कही यह जाती ॥
 ऐसे ही परद्रव्य त्यागने से आत्मा संयत है ।
 त्यागभाव के हेतुपने से ही आत्मा संयत है ॥ ३६३ ॥
 (३८५)—पर को रंगने से सफेद मिट्टी सफेद है मानी ।
 वह तो पर को श्वेत करन गुण से संयुक्त बखानी ॥
 यूँ ही परद्रव्यों की श्रद्धा से आत्मा दर्शन है ।
 श्रद्धापन के हेतु से आत्मा सम्यग्दर्शन है ॥ ३६४ ॥

एवं व्यवहारस्य तु विणिच्छओ जाणधंसाचरित्ते ।

भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥ ३६५ अ० ॥ (दशकम्)

एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।

भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥ ३६५ ॥

आत्मख्यातिः—सेटिका तवच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेण शैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यं । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य शैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वादद्रव्यस्यास्त्युच्छेदः, ततो न भवति सेटिका

आत्मा स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है । (एवं ज्ञानदर्शनचरित्रे तु व्यवहारस्य विनिश्चयः भणितः) इस प्रकार से ज्ञान, दर्शन और चारित्र में तो व्यवहारनय का निर्णय कहा गया है (अन्येषु पर्यायेषु अपि एवं एव ज्ञातव्यः) अन्य पर्यायों में भी इसी प्रकार से जान लेना चाहिये ॥ ३५६ से ३६५ ॥

आत्मख्याति—यहां पर 'सेटिका' शब्द से सफेद गुण से अतिशय भरित स्वभाव वाला द्रव्य लिया गया है । इसे खड़िया मिट्टी, चूना या कलई जैसी वस्तु समझना चाहिये जो कि दीवाल, छत आदि की पुताई में काम आती है । यह यहां दृष्टान्त में है । यहां पर भित्ति आदि जो परद्रव्य हैं जो कि सफेद होने योग्य हैं उनको यह सफेद करने वाली सफेद खड़िया क्या है या नहीं है ? इन दीवाल आदि वस्तु का और उनको सफेद करने वाली खड़िया का इन दोनों का वास्तव में क्या संबंध है उसी पर विचार किया जा रहा है—

यदि भित्ति आदि की सफेदी है तब जिसका जो होता है वह वही है—वह उस रूप ही रहता है जैसे कि आत्मा का ज्ञान है वह ज्ञानरूप होता हुआ आत्मा ही रहता है ऐसे तात्त्विक संबंध के जीवित रहने पर यदि सफेदी भित्ति आदि की होती हुई भित्ति आदि रूप ही हो जावेगी और ऐसा हो जाने पर तो खड़िया का स्व/अपना द्रव्य ही नष्ट हो जावेगा—खड़िया द्रव्य का अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा, परंतु द्रव्य का नाश तो हो नहीं सकता है, क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में मिल जाने का तो पहले ही निषेध कर दिया है इसलिये

(३८६)—ऐसा यह दर्शन सुज्ञान चारित्र विषय में माना ।

है व्यवहारनयाश्रित निर्णय परमागम से जाना ॥

इसी तरह से अन्य और पर्यायों में भी जानो ।

निश्चय अरु व्यवहार कथन से वस्तुतत्त्व श्रद्धानो ॥ ३६५ ॥

कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः। किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथा दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः। चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादि परद्रव्यं। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यत्त्वं यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्, एवं

यह खड़िया भित्ति आदि की नहीं है।

प्रश्न—यदि यह सेटिका भित्ति आदि की नहीं है तो किसकी है ?

उत्तर—यह सेटिका सेटिका की ही है।

प्रश्न—वह कौन सी सेटिका/खड़िया या सफेदी है कि जिस सेटिका की यह सेटिका है ?

उत्तर—सेटिका से अन्य कोई सेटिका नहीं है किंतु स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं अर्थात् एक ही सेटिका के स्व अंश और स्वामी अंश इस प्रकार से कथंचित् परस्पर भिन्न अंश हैं।

प्रश्न—यहां स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है—क्या सिद्ध होगा ?

उत्तर—कुछ भी साध्य नहीं है। स्व-स्वामी अंश का अभिप्राय यह है कि दीवाल पर पोती हुई सेटिका सेटिका का अंश है और न पोती हुई सेटिका अंशी है—दीवाल के ऊपर पोतने के लिये तैयार की गई सेटिका अंशी है यही स्वामी है—स्वामी अंश है और दीवाल पर जो पोती जा चुकी है वह अंश है—स्व अंश है। यहां इस सेटिका के स्व-स्वामी अंश के प्रयोग द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं करना है क्योंकि स्वामी अंशरूप सेटिका और स्वअंशभूत सेटिका एक ही सेटिका के अंश हैं। अंशों के समूह से ही अंशी बनता है अतः ये दोनों अंश जिसमें हैं वह सेटिका एक होने से सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय हो जाता है। जैसे यहां दृष्टान्त को दिखलाया है ऐसे ही दार्ष्टान्त को समझना है—

यहां जो चेतयिता है—आत्मा है वह ज्ञानगुण से पूर्णस्वभाववाला द्रव्य है और जो पुद्गल आदि परद्रव्य हैं वो ज्ञानस्वरूप आत्मा के तो व्यवहारनय से ज्ञेयरूप हैं। अब यहां पर जो चेतयिता/ज्ञायक आत्मा है वह पुद्गल आदि ज्ञेयरूप परद्रव्य का है या नहीं है ? इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायकरूप इन उभय तत्त्वों के संबंध में विचार किया जा रहा है—यदि यह चेतयिता—आत्मा पुद्गल आदि का है तब तो जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है जैसे कि ज्ञान आत्मा का होता हुआ आत्मा ही है। इस प्रकार से तात्त्विक संबंध के जीवित रहते हुये तो चेतयिता—आत्मा पुद्गल आदि का होते हुये पुद्गल आदि रूप ही हो जावेगा और ऐसा हो जाने

सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं तत्तत्साध्यंशव्यवहारेण ? न किञ्चिः । तर्हि न काव्यणि ज्ञायकः । ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः । किं च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वेत्यं कुड्यादि परद्रव्यं । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वेत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथान्मनो ज्ञानं

पर तो चेतयिता—आत्मा के स्वद्रव्य का ही विनाश हो जावेगा—आत्मा का अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा, किंतु द्रव्य का विनाश तो हो नहीं सकता क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमित होना—एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यरूप हो जाना तो संभव नहीं है इसका तो पहले ही निषेध किया जा चुका है इसलिये आत्मा पुद्गल आदि का नहीं है ऐसा निश्चित हो गया ।

प्रश्न—यदि यह चेतयिता—आत्मा पुद्गल आदि का नहीं है तो वह किसका है ?

उत्तर—वह चेतयिता/आत्मा चेतयिता/आत्मा का ही है ।

प्रश्न—जिस आत्मा का ही यह आत्मा है वह दूसरा आत्मा कौन है ?

उत्तर—आत्मा का अन्य कोई दूसरा आत्मा तो है नहीं, किंतु स्व और स्वामी ये अंश ही अन्य हैं अर्थात् स्व—आत्मा और स्वामी—आत्मा इन स्व और स्वामी की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न-भिन्न है । आत्मा का आत्मा है इसमें 'आत्मा का' कहने से वह स्वामी हो गया—अंशी हो गया और आत्मा 'स्व' रहा—वह अंश हो गया । इस प्रकार मात्र कथन की अपेक्षा से ही ये दो अंश-अंशी भेद हो गये हैं । इन अंश-अंशी भेदों से भी आत्मा एक ही है ।

प्रश्न—यहां स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है ?

उत्तर—कुछ भी साध्य नहीं है, इस प्रकार से तो ज्ञायक आत्मा किसी/अन्य का नहीं है, ज्ञायक आत्मा ज्ञायक आत्मा ही है ऐसा निश्चय हो गया है ।

अब जैसा ज्ञायक भाव दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से कहा है वैसा ही दर्शक भाव कहा जा रहा है । यहां सेटिका नाम कि जो वस्तु है वह श्वेतगुण से भरित स्वभाव वाला द्रव्य है और सफेद होने योग्य जो भित्ति आदि पर द्रव्य हैं वे उस सेटिका द्रव्य के व्यवहार से ही हैं ।

यहां जो श्वेत होने योग्य भित्ति आदि परद्रव्य हैं । यह श्वेत करने वाली सेटिका उन भित्ति आदि की है या नहीं ? इन दोनों के वास्तविक संबंध पर यहां विचार करते हैं—यदि सेटिका भित्ति आदि की होती है तब तो यह नियम है 'जो जिसका होता है वह उसीरूप होता

भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवती कुड्यादिरेव भवेत् एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः ।

यथायं दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि परद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो

है' जैसे कि ज्ञान आत्मा का होता हुआ आत्मारूप ही होता है इस प्रकार से तत्त्व संबंध के जीवित रहने पर सेटिका भित्ति आदि की होती हुई भित्ति आदिरूप ही हो जावेगी और ऐसा होने पर तो सेटिका का अपने द्रव्य का/स्वरूप का ही विनाश हो जावेगा, किंतु द्रव्य का विनाश तो हो नहीं सकता क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में मिल जाने का तो पहले ही निषेध किया जा चुका है इसलिये भित्ति आदि की सेटिका नहीं है ।

प्रश्न—यदि भित्ति आदि की सेटिका नहीं है तो भला वह सेटिका है किसकी ?

उत्तर—वह सेटिका तो सेटिका की ही है ।

प्रश्न—वह कौन सी अन्य सेटिका है कि जिस सेटिका की यह सेटिका है ?

उत्तर—सेटिका से भिन्न कोई अन्य सेटिका नहीं है, किंतु स्व और स्वामी ये दो अंश ही भिन्न-भिन्न हैं—कथंचित् भिन्न-भिन्न हैं सर्वथा नहीं, ऐसा समझना ।

प्रश्न—यहां पर स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है ?

उत्तर—कुछ भी साध्य नहीं है । तब तो यह सिद्ध हुआ कि सेटिका अन्य किसी की भी नहीं है, सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चित है । जैसे यहां दृष्टान्त घटित किया है वैसे ही दार्ष्टान्त में भी समझना चाहिये ।

यहां चेतयिता आत्मा तो दर्शनगुण से अतिशय पूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और जो देखने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं वे व्यवहार से उस चेतयिता आत्मा के हैं । यहां जो ये दृश्य-मान पुद्गल आदि परद्रव्य हैं । यह दर्शक आत्मा उनका है या नहीं ? इन दोनों के वास्तविक संबंध का ही यहां विचार किया जा रहा है—

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का है तब तो 'जो जिसका होता है वह वही होता है या

ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत् । एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः अपि च सेटिका अत्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवती कुड्यादिरेव भवेत् । एवं सति सेटिकायाः

उसी रूप होता है' ऐसा नियम है जैसे कि ज्ञानगुण आत्मा का होता हुआ आत्मारूप ही है । इस प्रकार से तात्त्विक संबंध के जीवित रहने पर तो चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का होता हुआ पुद्गल आदिरूप ही हो जावेगा और ऐसा हो जाने पर तो चेतयिता आत्मा के अपने द्रव्य का ही विनाश हो जावेगा अर्थात् आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा, किंतु एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमित होना—परिवर्तित होना तो माना नहीं है, इसका तो पूर्व में ही निषेध कर आये हैं, अतः आत्मद्रव्य का विनाश नहीं हो सकता है, इस कारण यह आत्मा पुद्गलादि का नहीं है यह बात सिद्ध हो गई ।

प्रश्न—यदि यह आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो है किसका ?

उत्तर—यह चेतयिता आत्मा का ही चेतयिता आत्मा है ।

प्रश्न—यह अन्य दूसरा कौन सा चेतयिता आत्मा है कि जिस चेतयिता आत्मा का यह है ?

उत्तर—अन्य दूसरा कोई चेतयिता—आत्मा चेतयिता आत्मा का नहीं है किंतु स्व-स्वामी अंश ही अन्य-अन्य है । एक आत्मा में ही आप और अपने का ऐसा कर्ता और षष्ठी विभक्ति के निमित्त से भिन्न-भिन्नपना भले ही प्रतीत हो फिर भी हैं दोनों एक ही ।

प्रश्न—पुनः यहां स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या सिद्ध करना है ?

उत्तर—कुछ भी सिद्ध नहीं करना है । तब तो यह दर्शक आत्मा अन्य किसी का भी नहीं है किंतु दर्शक दर्शक ही है ऐसा निश्चय है । इस प्रकार यहां आत्मा को दर्शन गुणवाला सिद्ध कर दिया है ।

अब यहां चारित्रगुण को सिद्ध करते हैं—

जो सेटिका है, वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है वह व्यवहार से ही श्वेत होने योग्य जो पुद्गलादि पर द्रव्य है उनका है । यहां श्वेत होने योग्य जो पुद्गल आदि परद्रव्य हैं, यह श्वेत करने वाली सेटिका उन परद्रव्य की है या नहीं ? इन दोनों के तात्त्विक संबंध का यहां विचार

स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकः चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत् ।

करते हैं—यदि सेटिका दीवाल आदि की है तब तो 'जो जिसका होता है वह उसीरूप होता है।' जैसे कि ज्ञानगुण आत्मा का होता हुआ आत्मारूप ही होता है । इस प्रकार के तात्त्विक संबंध के जीवित रहते हुये यह सेटिका दीवाल आदि की होती हुई दीवाल आदि रूप ही हो जावेगी और ऐसा हो जाने पर तो सेटिका के अपने द्रव्य का ही अभाव हो जावेगा, किंतु एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमण करना तो माना नहीं है इसका तो पहले ही निषेध किया है अतः द्रव्य का अभाव होना शक्य नहीं है इसलिये दीवाल आदि की वह खड़िया नहीं है ।

प्रश्न—यदि यह खड़िया दीवाल आदि की नहीं है तो भला है किस की ?

उत्तर—यहा खड़िया खड़िया की ही है ।

प्रश्न—यह दूसरी खड़िया कौन सी है कि जिस खड़िया की यह खड़िया है ?

उत्तर—कोई अन्य खड़िया उस खड़िया की नहीं है किंतु स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं ।

प्रश्न—यहां स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है ?

उत्तर—यहां कुछ भी साध्य नहीं है । तब तो पुनः वह खड़िया अन्य किसी की भी नहीं है बल्कि खड़िया खड़िया ही है ऐसा निश्चय समझना । जैसे यहां यह दृष्टान्त कहा है वैसे ही दार्ष्टान्त में घटाना है—

यहां चेतयिता आत्मा ज्ञान-दर्शन गुण से परिपूर्ण पर के अपोहन/त्याग स्वभाववाला द्रव्य है और जो त्याग करने योग्य ये पुद्गल आदि परद्रव्य हैं वे व्यवहार से उस आत्मा के हैं । यहां छोड़ने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य को छोड़ने वाला यह चेतयिता आत्मा, उन परद्रव्य का है या नहीं ? इन दोनों तत्त्वों के संबंध का विचार किया जा रहा है—

यदि आत्मा पुद्गलादि का है तब तो 'जो जिसका है वह उस रूप ही होता है।' जैसे ज्ञानगुण आत्मा का होता हुआ आत्मारूप ही है । इस प्रकार से वास्तविक संबंध के जीवित

एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्याप्यपोहकः अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः । अथ व्यवहारव्याख्यानम् । यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मस्वभावेन श्वेतयतीति व्यवहियते तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो

रहते हुये यह आत्मा पुद्गल आदि का होता हुआ पुद्गलादि रूप ही हो जावेगा । ऐसा हो जाने पर तो आत्मा के अपने द्रव्य का ही अभाव हो जावेगा, किंतु एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया जा चुका है अतः स्वद्रव्य का—आत्मद्रव्य का अभाव हो नहीं सकता है इसलिये आत्मा पुद्गलादि का नहीं है ऐसा समझना ।

प्रश्न—यदि यह आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो भला है किसका ?

उत्तर—आत्मा का ही आत्मा है ।

प्रश्न—यह अन्य आत्मा कौन सा है कि जिस आत्मा का यह आत्मा होता है ?

उत्तर—अन्य कोई आत्मा का है ही नहीं, किंतु स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं ।

प्रश्न—स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या सिद्ध करना है ?

उत्तर—कुछ भी सिद्ध नहीं करना है । तब तो यह त्याग करने वाला आत्मा/संयत आत्मा किसी का भी नहीं है प्रत्युत अपोहक/त्याग करने वाला संयमी संयमी ही है ऐसा निश्चय हो जाता है ।

यहां तक निश्चयनय की अपेक्षा से व्याख्यान किया गया है । अब व्यवहारनय का व्याख्यान करते हैं—

जैसे वही सेटिका श्वेत गुण से पूर्ण स्वभाववाली स्वयं दीवाल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन न करती हुई और दीवाल आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से न परिणमाती हुई दीवाल आदि परद्रव्य के निमित्त से अपने श्वेतगुण के पूर्ण स्वभाव परिणाम से उत्पन्न होती हुई दीवाल आदि परद्रव्य को जो सेटिका के निमित्त से अपने/उस स्वभाव परिणाम से उत्पन्न हो रहे हैं, उन परद्रव्य को अपने स्वभाव से सफेद कर देती है ऐसा व्यवहार देखा जाता है । वैसे ही यह आत्मा भी ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला है यह स्वयं/आप पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन

ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवहियते । किञ्च यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवहियते । तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवहियते । अपि च—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवहियते । तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भर-

नहीं करता है और पुद्गल आदि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से परिणामन कराता भी नहीं है फिर भी पुद्गल आदि परद्रव्य के निमित्त से अपनी आत्मा के ज्ञानगुण से पूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता है और पुद्गल आदि परद्रव्य भी आत्मा के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणामन से उत्पन्न हो रहे हैं उनको यह आत्मा स्वभाव से जानता है ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

जैसे वही सेटिका श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाली है, स्वयं/आप दीवाल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणामन नहीं करती है और न दीवाल आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से परिणामन कराती ही है, फिर भी दीवाल आदि परद्रव्य के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होती हुई, दीवाल आदि परद्रव्य जो कि सेटिका के निमित्त से अपने स्वभावरूप—परिणाम से उत्पन्न हो रहे हैं—उनको, अपने स्वभाव से सफेद करती है ऐसा व्यवहार किया जाता है । वैसे ही यह आत्मा भी दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाला है । अतः स्वयं—आप पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणामन नहीं करता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य को भी अपने स्वभाव से परिणामन नहीं कराता है फिर भी यह पुद्गल आदि परद्रव्य के निमित्त से अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य को, जो कि आत्मा के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहे हैं—उनको अपनी आत्मा के स्वभाव से देखता है—श्रद्धान करता है ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

और भी कहते हैं कि जैसे वही सेटिका श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली स्वयं दीवाल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणामन न करती हुई और दीवाल आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से परिणामन न कराती हुई दीवाल आदि परद्रव्य के निमित्त से अपने श्वेतगुण से

परापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्य- स्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितुनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवहियते । एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः ॥ ३५६-३६५ ॥

परिपूर्ण स्वभाव से उत्पन्न होती है और दीवाल आदि परद्रव्य भी सेटिका के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणामन से उत्पन्न होते हैं फिर भी यह उन दीवाल आदि परद्रव्य को सफेद कर देती है ऐसा व्यवहार किया जाता है। वैसे ही आत्मा भी ज्ञान-दर्शन गुण से परिपूर्ण है और पर के छोड़नेरूप स्वभाव वाला है यह स्वयं पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणामन नहीं करता है और पुद्गल आदि परद्रव्यों को यह अपने स्वभाव से परिणामन कराता भी नहीं है फिर भी पुद्गल आदि परद्रव्य के निमित्त को पाकर अपने ज्ञानदर्शन गुण से परिपूर्ण, परके छोड़नेरूप स्वभाववाले परिणाम से ही उत्पन्न होता हुआ, पुद्गल आदि परद्रव्य को जोकि आत्मा का निमित्त पाकर अपने स्वभाव के परिणामन से ही उत्पन्न हो रहे हैं—उनको अपने स्वभाव से छोड़ देता है ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इस प्रकार से आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर्यायों में यह निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रकार दिखलाया गया है। इसी प्रकार से आत्मा की अन्य सभी पर्यायों में ऐसी ही निश्चय-व्यवहारनय की प्रक्रिया को लगा लेना चाहिये ॥ ३५६ से ३६५ ॥

भावार्थ—यहां गाथाओं में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने आत्मा को ज्ञायक, दर्शक और संयत कहकर दर्शन गुण को चौथी गाथा में पृथक् से लिया है पुनः पांचवीं गाथा में कहा है कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निश्चयनय की अपेक्षा कथन किया है अब व्यवहारनय की अपेक्षा से सुनो। आगे व्यवहारनय से भी आत्मा को ज्ञायक, दर्शक एवं संयत कहकर नवमीं गाथा में श्रद्धान से सम्यग्दृष्टि कहा है। इससे यह मालूम पड़ता है कि आचार्यदेव आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा गुण को कहकर संयत अवस्था से चारित्र को एवं 'दर्शन' शब्द से श्रद्धान कराने वाले दर्शन गुण को ले रहे हैं किंतु यहां श्रीअमृतचंद्रसूरि ने ज्ञायक, दर्शक और अपोहक—त्यागी—चारित्र गुणधारी संयत इन तीन पदों से ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन रत्नत्रय को ही लिया है जो भी हो, यहाँ आत्मा के निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का ही कथन है।

जो गाथा में सेटिका का उदाहरण है यह सेटिका नाम की एक वस्तु वह है कि जो दीवाल आदि की पुताई में काम आती है, आज कल कलई या चूना नाम से कही जाती है। कुछ विद्वान् इसे सफेद खड़िया मिट्टी भी कहते हैं यह खड़िया मिट्टी हम लोगों के बचपन में

शार्दूलविक्रीडित—शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो-
 नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ।
 ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत् तदयं शुद्धस्वभावोदयः
 किं द्रव्यांतरं पुनः कुलधियस्तत्त्वाच्च्यवते जनाः ॥ २१५ ॥

पाठशाला में 'अ आ' आदि वर्णों के लिखने के काम में ली जाती थी, इसी को घोलकर तराती पर कलम से लिखकर मैंने वर्णमाला पढ़ी है। खैर, जो भी हो यह पुताई की श्वेत वस्तु है। यहां निश्चयनय की अपेक्षा से यह चूना, चूना ही है दीवाल आदि नहीं है और दीवाल आदि दीवाल आदि ही हैं चूना नहीं हैं। वैसे ही निश्चयनय से यह आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप है इन तीनों की एकाग्रता/ध्यानपरिणतिरूप है। निश्चयनय आत्माश्रित है यह निमित्त की अपेक्षा या परवस्तु की अपेक्षा नहीं है और व्यवहारनय निमित्ताश्रित है/परद्रव्याश्रित है ऐसा समझना। व्यवहारनय से सफेदी दीवाल आदि को सफेद करती है वैसे ही आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुणरूप से तीन भेद हैं। यह व्यवहार रत्नत्रय छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के हैं वे मुनि आहार, विहार, निहार करते हुये भी इस व्यवहार रत्नत्रय से पूज्य हैं पुनः वे ही निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर—निश्चयरत्नत्रयमय होकर आत्मा के अनंतगुणों को प्रगट करके अर्हत्-सिद्ध बन जाते हैं।

इन गाथाओं की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने आत्मा को ज्ञायक, दर्शक, संयत और दर्शन से श्रद्धानुगुणयुक्त सम्यग्दृष्टि सिद्ध किया है। इन्हें ही वीतरागी मुनि में माना है पुनः व्यवहार रत्नत्रय को सरागी मुनि में घटित किया है। अतः श्रीजयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति ही श्रीअमृतचंद्रसूरि की आत्मख्याति टीका का भावार्थ या विशेषार्थ रूप हो जाती है ऐसा समझना।

अब कलश काव्यों में श्रीअमृतचंद्रसूरि का अभिप्राय देखिये—

काव्यार्थ—जिसने शुद्धद्रव्य के कथन में बुद्धि को लगाया है और जो तत्त्व का अनुभव कर रहा है, उस पुरुष को एक द्रव्य के अंतर्गत कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदाचित् भी प्रतिभासित नहीं होता है। ज्ञान ज्ञेय को जानता है, यह तो ज्ञान के शुद्धस्वभाव का ही उदय है और जब ऐसा है तब पुनः मनुष्य ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुये तत्त्व से च्युत क्यों हो जाते हैं ? अर्थात् उन्हें तत्त्व से च्युत नहीं होना चाहिये ॥ २१५ ॥

शुद्धात्म तत्त्व की कथनी में तब जो तत्त्वानुभवन करता ।
 वह एक द्रव्य के अन्तर्गत परद्रव्य कदाचित् नहिं लखता ॥
 ज्ञेयों को ज्ञान जानता है वह शुद्धस्वभाव उदय ही है ।
 द्रव्यान्तर के स्पर्श मान्यता वाले आकुलित चित ही है ॥ २१५ ॥

मंदाक्रांता छंद—शुद्धद्रव्यस्वरसम्भवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्तिभूमि-
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २१६ ॥

मंदाक्रांता छंद—रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावद्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोधतां याति बोध्ये^१ ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभावः ॥ २१७ ॥

भावार्थ—शुद्धनय की अपेक्षा से ज्ञान ज्ञेय को जानते हुये भी परद्रव्य का स्पर्श नहीं करता है अतः शुद्धनय का अवलंबन लेकर महामुनि आत्मतत्त्व में लीन हो जाते हैं तभी वे स्वात्मतत्त्व से च्युत नहीं होते हैं ।

काव्यार्थ—शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरस से—ज्ञानादि भाव से परिणाम होता है इसलिये क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस ज्ञानादि स्वभाव का हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । अथवा क्या वह ज्ञानादि स्वभाव अन्य किसी द्रव्य का हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । चांदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है फिर भी पृथ्वी कभी भी चांदनी की नहीं होती है, वैसे ही ज्ञान, ज्ञेय वस्तुओं को सदा ही जानता है फिर भी वह ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता है । २१६ ।

भावार्थ—यह आत्मद्रव्य दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूप है । यह रत्नत्रय गुण पुद्गल आदि में नहीं है । आत्मा ज्ञानगुण से पर को जानता हुआ कभी भी परवस्तु रूप नहीं होता है और न ज्ञेय वस्तुयें ही ज्ञानरूप बनती हैं यही वस्तुस्वभाव है ।

काव्यार्थ—राग-द्वेष ये दो भाव हैं इनका उदय तभी तक होता है कि जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो जावे और ज्ञेय भी ज्ञेयरूप ही न रह जावे इसलिये यह ज्ञान अज्ञानभाव को दूर

शुद्धात्म द्रव्य का ज्ञान रूप परिणाम सदा ही होता है ।
इसलिए शेष परद्रव्य कोई उस ज्ञान रूप नहीं होता है ॥
चांदनी धरा उज्ज्वल करती पर धरा न उसकी हो जाती ।
ऐसे ही ज्ञान जानता है पर ज्ञेय रूप नहीं होता भी ॥ २१६ ॥

इन रागद्वेष दो भावों का रहता है उदय तभी तक ही ।
जब तक यह ज्ञान न ज्ञानरूप होता व ज्ञेयमय ज्ञेय नहीं ॥
अज्ञान भाव को हटा ज्ञान सब रागद्वेष को नष्ट करे ।
केवल्य अवस्था दिलवाए यदि ऐसा आप प्रयत्न करें ॥ २१७ ॥

(उत्थानिका) —अथ ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मयं न भवति इति निश्चयमुख्यत्वेन गाथापंचकं । यथैव च श्वेतमृत्तिका कुड्यं श्वेतं करोतीति व्यवहियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापंचकं । एवं समुदायेन दशकं—

(३७७ ज०) जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया य सा होदि ।

तह जाणगो दु ण परस्स, जाणगो जाणगो सो दु ॥

(३७८ ज०) जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया य सा होदि ।

तह पस्सगो दु ण परस्स, पस्सगो पस्सगो सो दु ॥

यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा ज्ञायकस्तु न परस्य, ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥ ३७७ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका तु सा भवति ।

तथा दर्शकस्तु न परस्य, दर्शको दर्शकस्तु स तु ॥ ३७८ ॥

कर ज्ञानरूप हो जावे कि जिससे यह विभावपर्यायों को—रागद्वेष भावों को रोकता हुआ—नष्ट करता हुआ यह पूर्णस्वभाव को—केवलज्ञान अवस्था को प्राप्त हो जावे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये । २१७ ।

भावार्थ—जब यह ज्ञान ज्ञानरूप स्वभाव से आत्मा में स्थित हो जाता है—केन्द्रित हो जाता है तभी राग-द्वेष भाव समाप्त हो जाते हैं और जब राग-द्वेष आदि विभाव भाव नष्ट हो जाते हैं तभी यह ज्ञान पूर्ण होकर केवलज्ञान बन जाता है । अतः निर्विकल्प ध्यान का अभ्यास करते हुये शुक्लध्यानी बनने का प्रयास करना चाहिये ।

उत्थानिका—ज्ञान ज्ञेयवस्तुओं को जानता है फिर भी सफेद दीवाल में सफेद मिट्टी के समान वह ज्ञान निश्चय से परवस्तुओं के साथ तन्मय नहीं हो जाता है इस प्रकार से निश्चयनय की मुख्यता से पांच गाथायें हैं । जैसे वही सफेद मिट्टी दीवाल को सफेद करती है ऐसा व्यवहार किया जाता है—कहा जाता है वैसे ही यह ज्ञान ज्ञेय वस्तुओं को जानता है ऐसा व्यवहार है इस तरह व्यवहार की मुख्यता से पांच गाथायें हैं, इस प्रकार यहां समुदाय से दश गाथायें हैं, उन्हें ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जह सेटिया दु परस्स ण सा सेटिया य सेटिया होदि) जैसे खड़िया मिट्टी या चूना आदि सफेदी पर की नहीं है वह खड़िया तो खड़िया ही है (तह जाणगो दु परस्स ण सो जाणगो दु जाणगो) वैसे ही ज्ञायक भाव तो पर का नहीं है वह ज्ञायक भाव तो ज्ञायक ही है (जह

(३७९ ज०) जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह संजदो दु ण परस्स, संजदो संजदो सो दु ॥

(३८० ज०) जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स, दंसणं दंसणं तं तु ॥

(३८१ ज०) एवं तु णिच्छयणयस्स, भासियं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु व्यवहारणयस्स य, वत्तव्वं से समासेण ॥

(३८२ ज०) जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणदि, णादा वि सएण भावेण ॥

यथा सेटिकास्तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा संयतस्तु न परस्य, संयतः संयतः स तु ॥ ३७९ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा दर्शनं तु न परस्य, दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥ ३८० ॥

एवं तु निश्चयनयस्य, भाषितं ज्ञानदर्शनचारित्र्ये ।

शृणु व्यवहारस्य च, वक्तव्यं तस्य समासेन ॥ ३८१ ॥

यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३८२ ॥

सेटिया दु परस्स ण सा सेटिया य सेटिया होदि) जैसे खड़िया पर की नहीं है वह खड़िया तो खड़िया ही है (तह पस्सगो दु परस्स ण सो पस्सगो दु पस्सगो) वैसे द्रष्टा/आत्मा को देखने वाला स्वभाव पर का नहीं है वह देखने वाला स्वभाव तो दर्शक ही है (जह सेटिया दु परस्स ण सा सेटिया दु सेटिया होदि) जैसे खड़िया पर की नहीं है वह खड़िया तो खड़िया ही है (तह संजदो दु परस्स ण सो संजदो दु संजदो) वैसे ही संयत/चारित्र्यधारी जीव का चारित्र्य गुण भी पर का नहीं है वह संयत तो संयत ही है (जह सेटिया दु परस्स ण सा सेटिया दु सेटिया होदि) जैसे खड़िया तो पर की नहीं है वह खड़िया तो खड़िया ही है (तह दंसणं दु परस्स ण तं दंसणं तु दंसणं) वैसे ही दर्शन/श्रद्धान तो पर का नहीं है वह सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है ॥ ३७७ से ३८२ तक ॥

(एवं तु णाणदंसणचरित्ते णिच्छयणयस्स भासियं) इस प्रकार तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में निश्चयनय का कथन हुआ है व्यवहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण सुणु) अब उसी-रत्नत्रय में

- (३८३ ज०) जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि, जीवोवि सएण भावेण ॥
- (३८४ ज०) जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विरमदि, णादावि सएण भावेण ॥
- (३८५ ज०) जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सदहदि सम्पादिट्ठी सहावेण ॥
- (३८६ ज०) एसो ववहारस्स दु, विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि, पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥

यथा परद्रव्यं सेटयति खलु, सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परद्रव्यं पश्यति, जीवोऽपि स्वकेन भावेन ॥ ३८३ ॥

यथा परद्रव्यं सेटयति खलु, सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परद्रव्यं विरमति, ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३८४ ॥

यथा परद्रव्यं सेटयति खलु, सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परद्रव्यं श्रद्धते, सम्यग्दृष्टिः स्व भावेन ॥ ३८५ ॥

एष व्यवहारस्य तु, विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।

भणितोऽन्येष्वपि, पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥ ३८६ ॥

व्यवहार नय का जो कथन संक्षेप से कहा जा रहा है उसे तुम सुनो । (जह सेटिया अप्पणो सहावेण परदव्वं हु सेटदि) जैसे खड़िया अपने स्वभाव से परद्रव्य/दीवाल आदि को सफेद करती है (तह णादा वि सएण भावेण परदव्वं जाणदि) वैसे ही ज्ञाता/आत्मा भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है (जह सेटिया अप्पणो सहावेण परदव्वं हु सेटदि) जैसे खड़िया अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है (तह जीवोवि सएण भावेण परदव्वं पस्सदि) वैसे ही जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है (जह सेटिया अप्पणो सहावेण परदव्वं हु सेटदि) जैसे खड़िया अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है (तह णादा वि सएण भावेण परदव्वं विरमदि) वैसे ही ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य से विरक्त होता है (जह सेटिया अप्पणो सहावेण परदव्वं हु सेटदि) जैसे खड़िया अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है (तह सम्पादिट्ठी सहावेण परदव्वं सदहदि) वैसे ही सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है (णाणदंसणचरित्ते ववहारस्स दु एसो विणिच्छओ भणिदो) ज्ञान, दर्शन और

तात्पर्यवृत्तिः—तद्यथा—यथा लोके श्वेतिका श्वेतिमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयो न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः तर्हि किं भवति ? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं ब्रह्माद्वैतवादिवत्—ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव च श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन दर्शक आत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। एवं सत्तावलोकनदर्शनं दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन संयत आत्मा त्याग्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? संयतः संयत एव निर्विकारनिजमनोहरानन्दलक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारकं न भवति, तन्मयं न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शनं सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनमुख्यत्वेन गाथा गता। एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते एवं पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भाषितं व्याख्यानं

चारित्र में व्यवहारनय का यह निर्णय कहा गया है (अण्णेषु वि पज्जयेसु एमेव णादब्बो) अन्य पर्यायों में भी इसी प्रकार से जान लेना चाहिये। ॥ ३७७ से ३८६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे लोक में सफेदी, सफेद मिट्टी, खड़िया का लुना दीवाल आदि परद्रव्य की नहीं है किंतु निश्चय से सफेद मिट्टी दीवाल आदि नहीं हो जाती है, वह तन्मय/तद्रूप नहीं हो जाती है प्रत्युत दीवाल आदि के बाहर के भाग में ही रहती है। तो वह खड़िया किस रूप रहती है ? वह सफेदी सफेद रूप से ही अपने स्वरूप में रहती है ऐसा अर्थ समझना। वैसे ही यहां श्वेत मिट्टी के दृष्टान्त से यह समझना कि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा घड़ा, बरत आदि पर द्रव्यरूप ज्ञेयपदार्थों का निश्चय से जानने वाला नहीं होता है—उन ज्ञेयपदार्थ आदि रूप से तन्मय/तद्रूप नहीं होता है प्रत्युत यह ज्ञायक आत्मा ज्ञायक ही रहता है अपने स्वरूप में स्थित रहता है ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार से यहां ब्रह्माद्वैतवादी के समान ज्ञान ज्ञेयरूप से परिणमन नहीं करता है। इस कथन की मुख्यता से एक गाथा हुई है। उसी प्रकार उस सफेद मिट्टी के दृष्टान्त से ही यह देखने वाला आत्मा देखने योग्य घट, पट आदि पदार्थों का निश्चय से देखने वाला नहीं है अर्थात् देखने योग्य पदार्थों से तन्मय नहीं होता है प्रत्युत यह दर्शक आत्मा दर्शक ही/द्रष्टा ही रहता है अपने स्वरूप से स्थित रहता है ऐसा भाव है। इस प्रकार यहां सत्तावलोकनरूप दर्शन दृश्य-पदार्थरूप से परिणमन नहीं करता है इस कथन की मुख्यता से एक गाथा हुई है। उसी प्रकार उस सफेद मिट्टी के दृष्टान्त से ही यह संयमी आत्मा त्याग करने योग्य परिग्रह आदि परद्रव्यों का निश्चय से त्याग करने वाला नहीं होता है—तन्मय नहीं होता है बल्कि वह संयत आत्मा संयमी ही रहता है—वह निर्विकार निज मनोहर आनन्दलक्षण वाले ऐसे अपने स्वभाव में ही स्थित रहता है ऐसा अर्थ समझना। इस प्रकार वीतराग चारित्र की मुख्यता से यह गाथा हुई है। वैसे ही उसी

कृतं । कस्य संबधित्वेन ? निश्चयनयस्य : क्व विषये ? ज्ञानदर्शकचारित्रे । सुषु व्यवहारणयस्स य वक्तव्यं इदानीं हे शिष्य ! शृणु समाकर्णय : किं ? वक्तव्यं व्याख्यानं । कस्य संबधित्वेन ? व्यवहारनयस्य । कस्य संबधिव्यवहारः ? से तस्य पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्रयस्य । केन ? समासेण संक्षेपेण । इति निश्चयनयेन व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपञ्चकं गतं । अथ व्यवहारः कथ्यते—यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्यं कुड्यादिकं व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेतं करोति न च कुड्यादिपरद्रव्येण सह तन्मयी भवति । का कर्त्री ? श्वेतिका श्वेतमृत्तिका । खटिका । केन कृत्वा श्वेतं करोति ? स्वकीयश्वेतभावेन । तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तु व्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयी भवति । कोऽसौ कर्ता ? ज्ञातात्मा । केन जानाति ? स्वकीयज्ञानभावेनेति, प्रथमगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन घटादिकं दृश्यं परद्रव्यं व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयी भवति । कोऽसौ ? ज्ञातात्मा । केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति, द्वितीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन परिग्रहादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण विरमति त्यजति न च परद्रव्येण सह तन्मयी भवति । स कः कर्ता ? ज्ञातात्मा । केन कृत्वा त्यजति ?

सफेद मिट्टी के दृष्टांत से ऐसा समझना कि तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन है वह श्रद्धा करने योग्य ऐसे बाह्य जीवादि पदार्थों का निश्चयनय की अपेक्षा से श्रद्धान करने वाला नहीं होता है—उन बाह्य पदार्थों से तन्मय नहीं होता है प्रत्युत वह सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है ऐसा यहां अर्थ समझना । इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धानलक्षणरूप सम्यग्दर्शन की मुख्यता से यह चौथी गाथा हुई है । यहां इन पूर्वोक्त चार गाथाओं से जो व्याख्यान किया गया है वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विषय में निश्चयनय की अपेक्षा से है ।

अब इस समय हे शिष्य ! इन दर्शन ज्ञान चारित्र के विषय में व्यवहार नय से संबंधित व्याख्यान को तुम संक्षेप से सुनो । इस प्रकार यहां निश्चयनय के व्याख्यान की मुख्यता से पांच गाथायें हुई हैं ।

अब व्यवहारनय के आश्रय से कहेंगे—जैसे लोक में सफेद मिट्टी, खड़िया या चूना—सफेदी अपने सफेद स्वभाव से परद्रव्य को/भित्ति आदि को व्यवहारनय से सफेद करती है, किंतु भित्ति आदि परद्रव्यों के साथ तन्मय/उन दीवाल आदि रूप नहीं हो जाती है । उसी प्रकार इस सफेद मिट्टी के दृष्टांत से ऐसा समझना कि यह ज्ञाता आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से घट, पट आदि परद्रव्य रूप ज्ञेय वस्तुओं को व्यवहारनय से जानता है, किंतु परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं होता है । यह प्रथम गाथा हुई है । उसी प्रकार उस सफेद मिट्टी के दृष्टांत से यह समझना कि यह ज्ञाता आत्मा/द्रष्टा आत्मा अपने दर्शन स्वभाव के द्वारा घट-पट आदि दृश्य परद्रव्यों को व्यवहार नय से देखता है किंतु उन परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं हो जाता है । यह दूसरी गाथा हुई है । उसी प्रकार उस सफेद मिट्टी के दृष्टांत से समझना कि यह ज्ञाता आत्मा अपने निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम के द्वारा इन

स्वकीयनिर्विकल्पसमाधिपरिणामेनेति तृतीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्धाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । स कः कर्ता ? सम्यग्दृष्टिः । केन कृत्वा ? स्वकीयश्रद्धानपरिणामेनेति चतुर्थगाथा गता । एसो व्यवहारस्स दु विणिच्छयो णाणदंसणचरित्ते भणितो भणितः कथितः । कोऽसौ कर्मतापन्नः ? एष प्रत्यक्षीभूतः, पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन निर्दिष्टो विनिश्चयः, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थः । कस्य संबन्धी ? व्यवहारनयस्य । क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्र्ये अण्णेषु वि पज्जाएसु एवेव णादब्बो इदमोदनादिकं मथा भुक्तं, इदमहिविषकंटकादिकं त्यक्तं, इदं गृहादिकं कृतं, तत्सर्वं व्यवहारेण । निश्चयेन पुनः स्वकीयरागादिपरिणाम एव कृतो भुक्तश्च । एवमित्याद्यन्येष्वपि पर्यायेषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति । किं च यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः । यदि पुनः परकीयसुखादिकं—मात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीयसुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति न च तथा । यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया

परिग्रह आदि परद्रव्यों को व्यवहारनय से छोड़ता है/विरक्त होता है किंतु परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है, यह तीसरी गाथा हुई है । उसी प्रकार उस सफेदी के दृष्टान्त द्वारा यह समझना कि यह सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने श्रद्धानरूप परिणाम के द्वारा जीवादि परद्रव्यों का व्यवहारनय से श्रद्धान करता है न कि परद्रव्यों के साथ तन्मय होता है, यह चौथी गाथा हुई है । इन दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य स्वरूप, रत्नत्रय के विषय में यह पूर्वकथित चार गाथाओं द्वारा व्यवहारनय का विनिश्चय अर्थात् व्यवहार का अनुयायी निश्चय कहा गया है—यहां व्यवहार रत्नत्रय के बारे में जो व्यवहारनय का कथन है वह निश्चयरूप है—निर्णयरूप है असत्य नहीं है और यह निश्चय व्यवहारनय का अनुयायी है व्यवहारनय के अनुसार है । यहां ऐसा अभिप्राय है ।

‘इस ओदन/भात आदि को मैंने खाया, इन सर्प, विष, कंटक आदि को मैंने छोड़ा, यह घर आदि मैंने बनाये’ इस प्रकार से जो कुछ भी है वह सब व्यवहार से ही है पुनः निश्चय से तो अपने रागादि भाव ही किये जाते हैं और भोगे जाते हैं । इसी तरह अन्य और भी पर्यायें हैं उन सब में यह निश्चयनय और व्यवहारनय का कथन जान लेना चाहिये ।

प्रश्न—यदि यह आत्मा व्यवहारनय से परद्रव्यों को जानता है तब तो निश्चय से कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—आपके इस पूर्वपक्ष का परिहार करते हैं—जैसे यह आत्मा अपनी आत्मा के सुख आदि को तन्मय होकर जानता है वैसे ही बाह्य द्रव्यों को तन्मय होकर नहीं जानता है इस कारण से यह बाह्य पदार्थों का जानना व्यवहार है । यदि पुनः यह आत्मा अपने सुख आदि के समान ही पर में होने वाले सुख आदि को तन्मय होकर जानता है तब तो जैसे अपनी आत्मा के सुख के अनुभव में सुखी होता है वैसे ही पर के सुख-दुःख के अनुभव के समय सुखी और दुःखी होने का प्रसंग आ जावेगा किंतु ऐसा तो होता नहीं । यद्यपि अपनी आत्मा के सुख के संवेदन/अनुभव की अपेक्षा से यह अनुभव निश्चयरूप है और पर के सुख के अनुभव का

निश्चयः, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति । ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः, तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्विरिति ? तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुरर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति । यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसंगः । एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति । तत एतदायाति ग्रामारामादि सर्वं खल्विदं ब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्ति यद् ब्रह्माद्वैतवादिनो वदन्ति तन्निषिद्धं । यद्यपि सौगतो वदति ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति न च ज्ञानाद्विन्नं ज्ञेयं किमप्यस्ति तदपि निराकृतं । कथं ? इति चेत् यदि ज्ञानं ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभावः प्राप्नोति यदि वा ज्ञेयं ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्वं, स च प्रत्यक्षविरोधः । एवं निश्चयव्यवहारव्याख्यानमुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशकं गतं ॥ ३७७ से ३८६ ॥

अपेक्षा से व्यवहार है फिर भी छद्मस्थजनों की अपेक्षा से यह भी निश्चय ही है ऐसा समझना ।

बौद्ध—‘व्यवहार से सर्वज्ञ है’ इस मान्यता में आप जैन दूषण क्यों देते हैं ?

जैन—आप बौद्ध आदि के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार असत्य है वैसे ही व्यवहाररूप से भी व्यवहार सत्य नहीं है, किंतु हमारे जैनमत में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से यह व्यवहार नय असत्य है फिर भी व्यवहार से/व्यवहार नय से वह सत्य ही है । यदि पुनः यह व्यवहारनय, लोक व्यवहाररूप से भी सत्य नहीं है तब तो सभी ही लोक व्यवहार मिथ्या/झूठा हो जावेगा और ऐसा होने पर तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि यह आत्मा व्यवहारनय से परद्रव्यों को जानता है, देखता है और निश्चय नय से पुनः अपनी आत्मा को ही जानता है, देखता है ।

ब्रह्माद्वैतवादी—‘यह ग्राम, आराम—बगीचा आदि संपूर्ण जगत् नियम से ब्रह्म ही है इस ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ ज्ञेयवस्तुयें हैं ही नहीं ।’ ऐसा हमारा मत है ।

जैन—आप ब्रह्माद्वैतवादियों का भी कथन उपर्युक्त नय विवक्षा से निषिद्ध ही कर दिया गया है ऐसा समझना ।

विज्ञानाद्वैतवादीबौद्ध—ज्ञान ही घट, पट आदि ज्ञेयाकार से परिणमन करता है किंतु ज्ञान से भिन्न अन्य कोई ज्ञेय पदार्थ हैं ही नहीं ?

जैन—आपके इस कथन का भी खंडन कर दिया गया है, देखो, यदि ज्ञान ज्ञेयरूप से परिणमन करता है तब तो ज्ञान का ही अभाव हो जावेगा अथवा यदि ज्ञेय वस्तुयें ज्ञानरूप से परिणमन करती हैं तब तो ज्ञेय वस्तुओं का ही अभाव हो जावेगा और ऐसा होने पर तो ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों ही शून्य हो जावेंगे, किंतु ऐसा होना तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है । इस

प्रकार निश्चय-व्यवहारनय के व्याख्यान की मुख्यता से समुदाय से यहां दस गाथा सूत्र हुये हैं ॥ ३७७ से ३८६ ॥

विशेषार्थ—यहां ५ गाथाओं में श्रीकुंदकुंददेव ने आत्मा को ज्ञाता, द्रष्टा, वीतरागसंयत और वीतराग सम्यग्दृष्टी सिद्ध किया है। पुनः ५ गाथाओं द्वारा परद्रव्यों का ज्ञाता, द्रष्टा, परद्रव्यों का त्यागी/संयमी एवं जीवादि पदार्थों का श्रद्धानी सिद्ध किया है। स्वयं आचार्यदेव ने निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा को कहा है। श्रीजयसेनाचार्य ने यह निश्चय रत्नत्रय निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में घटित किया है और व्यवहार रत्नत्रय तो छठे गुणस्थान में है ही है।

यहां प्रश्न यह हुआ है कि यदि व्यवहारनय से केवली भगवान् परद्रव्यों को जानते-देखते हैं तो व्यवहारनय से ही सर्वज्ञ होंगे न कि निश्चयनय से ? वैसे इसी प्रश्न के अनुसार ही नियमसार में श्रीकुंदकुंददेव की गाथा भी तो है—

जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणयेण केवली भगवं ।

केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥

केवली भगवान् व्यवहारनय से सर्व जगत् को जानते और देखते हैं। निश्चयनय से केवलज्ञानी भगवान् अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

इस पर श्रीजयसेनाचार्य ने समाधान दिया है कि जैसे केवली भगवान् अपने सुखादि को तन्मय होकर जानते हैं वैसे पर के सुख-दुःख आदि में तन्मय/तद्रूप नहीं होते हैं। इसलिये यह पर के सुखादि का जानना यद्यपि व्यवहार है फिर भी छद्मस्थजनों की अपेक्षा से यह भी निश्चय ही है।

पुनः बौद्ध ने कहा कि हमारे मत में भी व्यवहार से ही सर्वज्ञ माना है तो आपने दूषण क्यों दिया ? तब श्रीजयसेनाचार्य ने समाधान दिया है कि आप बौद्ध के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार झूठा है वैसे ही व्यवहाररूप से भी व्यवहार झूठा ही है किंतु हमारे यहां/जैनमत में यद्यपि व्यवहारनय निश्चयनय की अपेक्षा से झूठा है तो भी वह व्यवहाररूप से सत्य ही है। यदि व्यवहारनय लोक व्यवहाररूप से भी सत्य न माना जावे तो सारा लोक-व्यवहार ही गलत हो जावेगा। इस दृष्टि से ज्ञान आत्मा का स्वभाव है वह कथंचित् ज्ञेयरूप पर वस्तुओं से भिन्न है ऐसी व्यवस्था मानी गई है।

वास्तव में इन उभयनयों को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि भी समझ लेता है किंतु निश्चयनय के विषयभूत निश्चयरत्नत्रय में तल्लीनता/ध्यानावस्था सातवें गुणस्थान से ही प्रारंभ होती है। अतः छठे गुणस्थान में मुनिजन व्यवहार रत्नत्रय का आश्रय लेकर आगे निर्विकल्प अवस्था में आकर शुक्लध्यानी बनते हैं तभी वे कर्मों के नाश में प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा को शुद्ध बना पाते हैं ऐसा समझना।

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये ।

तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३६६ अ० ॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे ।

तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तम्मि कम्महि ॥ ३६७ अ० ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।

तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥ ३६६ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वनेतने कर्मणि ।

तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥ ३६७ ॥

अब आत्मा का घात कैसे होता है ? सो दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(दर्शनज्ञानचरित्रं अचेतने विषये तु किंचिदपि नास्ति) दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये रत्नत्रय अचेतन विषय में तो किंचित् मात्र भी नहीं हैं (तस्मात् तेषु विषयेषु चेतयिता किं हन्ति) इसलिये उन विषयों में आत्मा क्या घात करता है ? (दर्शनज्ञानचरित्रं तु अचेतने कर्मणि किंचिदपि नास्ति) दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य तो अचेतन कर्म में किंचित् मात्र भी नहीं हैं (तस्मात् तत्र कर्मणि चेतयिता किं हन्ति) इसलिये उस कर्म का आत्मा क्या घात करता है ? (दर्शनज्ञानचरित्रं तु अचेतने काये किंचित् अपि नास्ति) दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तो अचेतन काय में किंचिन्मात्र भी नहीं हैं (तस्मात् तेषु कायेषु चेतयिता किं हन्ति) इसलिये उन शरीरों में यह आत्मा क्या घात करेगा ? (दर्शनस्य ज्ञानस्य तथा चरित्रस्य घातः भणितः) दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का जो घात कहा है (तत्र पुद्गलद्रव्यस्य तु कोऽपि घातः अपि न निर्दिष्टः) उसमें पुद्गलद्रव्य का तो कुछ भी घात नहीं कहा गया है (ये केचित् जीवस्य गुणाः ते खलु परेषु द्रव्येषु न संति) जो कोई भी जीव के गुण हैं वे पर द्रव्यों में नहीं हैं । (तस्मात् सम्यग्दृष्टेः तु विषयेषु रागः

३८७—आत्मा के सम्यग्दर्शन ज्ञान व चरित्र माने हैं ।

नहीं अचेतन के विषयों में कुछ भी पहचाने हैं ॥

इसीलिए उन विषयों में आत्मा क्या घात करेगा ।

क्योंकि घातने योग्य वहाँ साधन ही नहीं मिलेगा ॥ ३६६ ॥

३८८—दर्शन-ज्ञान चरित्र स्वरूपी जीवात्मा कहलाती ।

कर्म अचेतन में वह कुछ भी कार्य नहीं कर पाती ॥

अतः भला उन कर्मों में आत्मा क्या घात करेगा ?

क्योंकि घातने योग्य वहाँ साधन ही कहाँ मिलेगा ॥ ३६७ ॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये ।
 तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥ ३६८ अ० ॥
 णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
 णवि तर्हि पुग्गलदब्बस्स कोऽपि घाओ उ णिहिट्ठो ॥ ३६९ अ० ॥
 जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दब्बेसु ।
 तह्मा सम्पाइहिट्ठस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥ ३७० अ० ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
 तस्मात् किं हन्ति चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३६८ ॥
 ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चरित्रस्य ।
 नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥ ३६९ ॥
 जीवस्य ये गुणाः केचिन्न सन्ति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
 तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥ ३७० ॥

नास्ति) इसलिये सम्यग्दृष्टि के तो विषयों में राग नहीं है (रागः द्वेषः मोहः जीवस्य एव च अनन्यपरिणामाः) राग, द्वेष और मोह ये सब जीव के ही अभिन्न परिणाम हैं (एतेन कारणेन तु रागादयः शब्दादिषु न सन्ति) इसी कारण से रागादि भाव, शब्द आदि पुद्गलों में नहीं हैं ॥ ३६६ से ३७१ ॥

- ३८९—सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्तयुत आत्मस्वरूप बताया ।
 नहीं अचेतन काय संग में उसकी कोई माया ॥
 अतः भला उन कायों में आत्मा क्या घात करेगा ?
 क्योंकि घातने योग्य वहाँ साधन ही कहाँ मिलेगा ? ॥ ३६८ ॥
- ३९०—आत्मा में जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित कहलाते ।
 मिथ्यादर्शन आदि निमित्तों से वे घाते जाते ॥
 क्योंकि अचेतन द्रव्य कर्म का कुछ भी घात न होता ।
 इनके कारण चेतन आत्मा निज परिणति को खोता ॥ ३६९ ॥
- ३९१—जीव द्रव्य अपने जिन स्वाभाविक गुण से संयुत है ।
 उन गुण से पर द्रव्य सदा निश्चय से नहीं सहित है ॥
 इसीलिए सम्यग्दृष्टी विषयों में राग न करता ।
 वह तो आत्मा के स्वाभाविक गुण में ही अनुरक्ता ॥ ३७० ॥

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणणपरिणामा ।

एएण कारणेण उ सदादिसु णत्थि रागादी ॥ ३७१ अ० ॥ (षट्कम्)

रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।

एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥ ३७१ ॥

आत्मख्यातिः—यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते । यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते । यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते । यत्र यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते । तथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यन्ते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते, एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवन्तीत्यायाति अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात् । यत एवं ततो ये यावन्तः केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः । अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च

आत्मख्याति—यह नियम है कि जो जिसमें होता है वह उसके घात हो जाने पर घाता जाता है । जैसे प्रदीप का घात होने पर प्रकाश भी नष्ट हो जाता है और जिसमें जो है उसके घात होने पर उस आधार का भी घात हो ही जाता है जैसे प्रकाश का घात होने पर प्रदीप भी नष्ट हो जाता है । जो जिसमें नहीं है वह उसके घात होने पर नहीं घाता जाता है जैसे घड़े का घात होने से घर में रखा हुआ दीपक नाश को प्राप्त नहीं होता है । तथा जिसमें जो नहीं है वह उसके घात होने से नहीं घाता जाता है जैसे घड़े में रखे हुये दीपक का घात होने पर भी घड़ा नहीं नष्ट होता है । वैसे ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये आत्मा के धर्म हैं पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी इनका घात नहीं होता है और दर्शन, ज्ञान, चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य नहीं घाता जाता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये पुद्गलद्रव्य में नहीं होते हैं अन्यथा यदि ऐसा न मानें तो इन रत्नत्रय का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात हो जायेगा और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर इन दर्शन, ज्ञान, चारित्र का घात हो जायेगा, इसको कोई रोक नहीं सकेगा ।

यदि ऐसी बात है तो ये जितने भी कोई जीव के गुण हैं वे सभी परद्रव्यों में नहीं हैं ऐसा हम अच्छी तरह देखते हैं—समझते हैं । अन्यथा यहां भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर जीव के गुणों का घात होना दुर्निवार हो जावेगा । यहाँ

३९२—रागद्वेष अरु मोह जीव के ही परिणाम कहे हैं ।

जो कि शुद्ध निश्चय नय से चैतन्य अभिन्न रहे हैं ॥

इस कारण शब्दादि विषय में अज्ञानी है रागी ।

निर्विकल्प सम्यग्दृष्टी शब्दादिक में नहीं रागी ॥ ३७१ ॥

दुर्निवारत्वात् । यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ? न कुतोऽपि । तर्हि रागस्य कतरा खनिः ? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामास्ततः परद्रव्यत्वादिविषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवन्ति । एवं ते विषयेष्वस्तः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्तो न भवन्त्येव ॥ ३६६ । ३७१ ॥

मंदाक्रांता—रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २१८ ॥

रत्नत्रय से अतिरिक्त सुख, वीर्य आदि गुणों के बारे में समझना । यदि ऐसी बात है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग कैसे होगा ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं होगा ।

प्रश्न—तब पुनः राग की खान/उत्पत्ति स्थान क्या है ?

उत्तर—राग, द्वेष, मोह ये जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं अतः ये परद्रव्य आदि विषयों में नहीं हैं और अज्ञान का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि में ये रागादि भाव नहीं होते हैं । इस प्रकार ये विषयों में नहीं रहते हैं अतः सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हुये उसके हैं ही नहीं ॥ ३६६-३७१ ॥

भावार्थ—यहाँ श्री कुंदकुंददेव ने गाथा में ही राग द्वेष मोह को जीव के अभिन्न परिणाम कहा है पुनः इनका सम्यग्दृष्टि में अभाव कह दिया है । पहले तो यह समझना है कि राग, द्वेष और मोह इन तीनों का उपादान कारण आत्मा ही है और इनका निमित्त कारण कर्मों का उदय है । दूसरी बात यह है कि इन्हें सम्यग्दृष्टि में नहीं माना है सो मोह शब्द से दर्शन मोहनीय की विवक्षा होने से यह मोह शब्द चतुर्थगुणस्थान में नहीं है किंतु राग-द्वेष का अभाव तो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानों में ही होता है अतः यहां वीतराग सम्यग्दृष्टि की ही विवक्षा है । कथंचित् बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष के न होने से श्रेणी में सातवें गुणस्थान से भी वीतराग सम्यक्त्व को मान लेने से यह सम्यग्दृष्टि अवस्था वहां से भी घटित हो जाती है ऐसा समझना । क्योंकि यहां सम्यग्दृष्टि पद से चतुर्थ-पंचम और छठे गुणस्थान में नहीं समझना है ।

अब इसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—इस संसार में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणत होता है, वस्तु में स्थापित दृष्टि से—द्रव्यदृष्टि से देखने पर तो ये राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं इसलिये आचार्य कहते

अज्ञानभाव से ज्ञान ही जग में रागद्वेष मय परिणमता ।
वस्तु में स्थापित दृष्टि से तो रागद्वेष कुछ नहीं दिखता ॥
गुरु कहते सम्यग्दृष्टिपुरुष ! तू इनको ऐसा श्वश्व कर दे ।
जिससे परिपूर्ण अवल किरणों युत सहज ज्ञानज्योती भर ले ॥ २१८ ॥

शालिनी छंद—रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या मान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरंशकारि व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २१९ ॥

हैं कि आप सम्यग्दृष्टि पुरुष, तत्त्वदृष्टि से उन राग द्वेष को स्पष्ट रीति से ऐसा क्षय करो कि जिससे पूर्ण और अचल किरणों वाली ऐसी सहज ज्ञानज्योति जाज्वल्यमान हो जावे । २१८ ।

भावार्थ—आत्मा का ज्ञानभाव ही मोहनीय कर्म के निमित्त से राग द्वेषरूप से परिणत होता हुआ जीव को संसार में दुःखी कर रहा है । यह वीतरागी सम्यग्दृष्टि उनका जड़मूल से विनाश कर केवलज्ञान स्वरूप ऐसी ज्ञानज्योति को प्रगट कर लेता है ।

काव्यार्थ—तत्त्वदृष्टि से विचार करें तो राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाला अन्य कोई भी द्रव्य दिखाई नहीं देता है क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यंत प्रगट प्रकाशमान होती है । २१९ ।

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाला न जीव है और न अजीव द्रव्य ही है । जब ये दोनों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में रहते हैं तब तो रागादिभाव होते ही नहीं हैं । वास्तव में यह अवस्था बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि के होती है । हाँ, निश्चयनय की अपेक्षा से संसारी जीव के भी न राग द्वेष हैं और न संसार ही है वह तो सिद्ध भगवान् सदृश ही है । यह रागद्वेष का उत्पन्न होना व्यवहारनय से ही होता है और व्यवहारनय से ही संसार होता है ऐसा समझना ।

आगे श्रीजयसेनाचार्य ने स्वयं कहा है कि जब तक तीन गुप्तिरूप स्वसंवेदनज्ञान नहीं है तभी तक ये रागद्वेष उत्पन्न होते रहते हैं । वहां बहिरात्मा पद आया है किंतु रागद्वेष का अभाव तो दसवें गुणस्थान के बाद ही पूर्णरूप से होता है उसके पहले चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक अपने-अपने गुणस्थान के योग्य रागादि भाव होते रहते हैं । मिथ्यादृष्टि के तो मिथ्यात्वोदय निमित्तक होते हैं अतः चतुर्थ गुणस्थान से पांचवें में और पांचवें से छठे-सातवें गुणस्थान में जाने का प्रयास करना चाहिये ।

यदि तत्त्व दृष्टि से सोचो तो नहि अन्य द्रव्य कुछ दिखता है ।

जो रागद्वेष उत्पन्न करे ऐसा न भाव कुछ दिखता है ॥

सब द्रव्यों की उत्पत्ति चूँकि निज-निज स्वभाव से होती है ।

अन्तर में ज्योति प्रगट होकर जग में आलोकित होती है ॥ २१९ ॥

(उत्थानिका) —अथ यावत्कालं निजशुद्धात्मात्मानमात्मत्वेन न जानाति, पंचेन्द्रियविषयादिकं परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्ययं जीवस्तावत्कालं रागद्वेषाभ्यां परिणमतीति । अथवा बहिरंगपञ्चेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावभोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायानां विघातं करोम्यहमित्यजानन् स्वसंवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मानं दमयति । तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धान्तं प्रयच्छति—

(३८७ ज०) दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए ।

तह्या किं घादयदे, चेदयिदा तेसु विसएसु ॥

(३८८ ज०) दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।

तह्या किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥

(३८९ ज०) दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये ।

तह्या किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कायेसु ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं घातयति, किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।

तस्मात्किं घातयति, चेतयिता तेषु विषयेषु ॥ ३८७ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं, किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।

तस्मात्किं घातयति, चेतयिता तेषु कर्मसु ॥ ३८८ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रं, किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।

तस्मात्किं घातयति, चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३८९ ॥

उत्थानिका—जब तक यह निजशुद्धात्मा अपनी आत्मा को आत्मीरूप से नहीं जानता है और पंचेन्द्रिय के विषय आदि परद्रव्यों को पररूप से नहीं जानता है तब तक जीव राग-द्वेष से परिणमन करता है । अथवा बाहर में पंचेन्द्रिय विषयों के त्याग के सहकारी रूप से, विक्षेपरहित चित्त की भावना से उत्पन्न निर्विकार सुखरूपी अमृतरस के स्वाद के बल से 'विषय कर्म और काय का मैं घात करता हूँ' ऐसा नहीं जानते हुये स्वसंवेदन ज्ञान से रहित कायक्लेश के द्वारा यह जीव आत्मा को कष्ट पहुंचाता है अर्थात् भेदज्ञान के बिना यह जीव 'मैं विषय आदि का घात करता हूँ' ऐसा समझ लेता है । यहां अब उस भेदज्ञान के लिये सिद्धान्त बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(दंसणणाणचरित्तं अचेदणे विसए किंचिवि दु णत्थि) दर्शन ज्ञान और चारित्र्य ये तीनों अचेतन विषयों में किंचित् मात्र भी नहीं हैं (तह्या तेसु विसएसु चेदयिदा किं घादयदे) इसलिये उन विषयों में आत्मा क्या घात करेगा ? (दंसणणाणचरित्तं अचेदणे कम्मे दु किंचिवि णत्थि) दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये अचेतन कर्म में किंचित् भी नहीं हैं (तह्या तेसु

(३९० ज०) णाणस्स दंसणस्स य, भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।

णवि तह्मि कोवि पुग्गलदब्बे घादो दु णिदिट्ठो ॥

(३९१ ज०) जीवस्स जे गुणा, केई णत्थि ते खलु परेसु दब्बेसु ।

तह्मा सम्पादिट्ठिस्स, णत्थि रागो दु विसएसु ॥

(३९२ ज०) रागो दोसो मोहो, जीवस्सेव दु अणण्णपरिणामा ।

एदेण कारणेण दु सहादिसु णत्थि रागादी ॥ षट्कं ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य च, भणितो घातस्तथा चरित्रस्य ।

नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य, कोऽपि घातो निर्दिष्टः ॥ ३९० ॥

जीवस्य ये गुणाः केचन सन्ति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।

तस्मात् सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥ ३९१ ॥

रागो द्वेषो मोहो, जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।

एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न सन्ति रागादयः ॥ ३९२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—दर्शनज्ञानचारित्रं किमपि नास्ति । केषु ? शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयेषु ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मसु औदारिकादिपञ्चकायेषु । कथंभूतेषु तेषु ? अचेतनेषु । तस्मात्किं घातयते चेतयिता आत्मा तेषु

कम्पेसु चेदयिदा किं घादयदे) पुनः उन कर्मों का भला आत्मा क्या घात करेगा ? (दंसणणाणचरित्तं अचेदणे काये दु किंचिवि णत्थि) दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन शरीर में तो किंचित् भी नहीं हैं (तह्मा चेदयिदा तेसु कायेसु किं घादयदे) तो पुनः आत्मा उन शरीरों में क्या घात करेगा ? (णाणस्स दंसणस्स तहा चरित्तस्स भणिदो) ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का जो घात कहा गया है (तम्मि पुग्गलदब्बे कोवि घादो दु णवि णिदिट्ठो) वह उस पुद्गल द्रव्य में तो कुछ भी घात नहीं कहा गया है (जे केई जीवस्स गुणा ते खलु परेसु दब्बेसु णत्थि) जो कोई भी जीव के गुण हैं वे नियम से पर द्रव्यों में नहीं हैं (तह्मा सम्पादिट्ठिस्स दु विसएसु रागो णत्थि) इसलिये सम्यग्दृष्टि के तो विषयों में रागभाव नहीं है । (रागो दोसो मोहो जीवस्सेव दु अणण्णपरिणामा) राग, द्वेष और मोह ये जीव के ही तो अभिन्न परिणाम हैं (एदेण कारणेण दु सहादिसु रागादी णत्थि) इसी कारण से शब्द, रस आदि विषयों में राग आदि भाव नहीं हैं ॥ ३८७ से ३९२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—शब्द और पञ्चेन्द्रियों के विषयों में, ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों में और औदारिक शरीर आदि पांच शरीरों में जो कि ये सब अचेतन हैं, इनमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र

जड़स्वरूपविषयकर्मकायेषु ? न किमपि । किंच शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाभिलाषरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबंध-
कारणभूतः कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरगादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घातः कर्तव्यः ते च
शब्दादयो रागादीनां बहिरंगकारणभूतास्त्याज्याः—इति भावार्थः । तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरणं
करोति—तद्यथा—पाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स शब्दादिपंचेन्द्रियाभिलाषरूपेण
कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबंधनिमित्तमनंतानुबंध्यादिरागद्वेषरूपं यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य
मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणितः न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च । तथैव
मिथ्यात्वचारित्र्यस्य च णवि तह्मि कोवि पुगलदब्बे घादो दु णिहिद्धो न च तत्राचेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे
पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निर्दिष्टः । किं च यथा घटाधारभूते प्रदीपे हते सति घटो हतो न भवति तथा
रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपंचेन्द्रियविषये हतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवन्ति ना चान्यस्य घाते
कृते सत्यन्यस्य घातो भवति । कस्मात् ? अतिप्रसंगादिति भावः जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु
दब्बेसु यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयोः गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न सन्ति खलु स्फुटं

कुछ भी नहीं हैं इसलिये यह आत्मा उन जड़स्वरूप विषयों में, कर्मों में और काय आदि में
क्या घात करेगा ? अर्थात् इनका कुछ भी घात नहीं कर सकता है । बात यह है कि शब्दादि
पंचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषारूप, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों के बंध के लिये कारणभूत
और शरीर आदि से ममत्वरूप जो यह मिथ्यात्व रागादि परिणाम मन में स्थित हैं उनका घात
करना चाहिये और वे शब्दादि विषय रागादि भावों के लिये बहिरंग कारण हैं अतः उनका भी
त्याग करना चाहिये ऐसा यहां भाव है । अब इन्हीं तीन गाथाओं का विशेष विवरण करते हैं—

शब्दादि पंचेन्द्रियों की अभिलाषारूप से या शरीर में ममत्वरूप से ज्ञानावरण आदि
कर्मबंध के लिये निमित्तभूत ऐसे अनंतानुबंधी आदि रागद्वेष रूप मिथ्याज्ञान भाव जो मन में
स्थित है । श्रीसर्वज्ञदेव ने निर्विकल्प समाधि रूपी शस्त्र के द्वारा उस मिथ्याज्ञान का घात करने
के लिये कहा है, केवल मिथ्याज्ञान का ही घात नहीं बल्कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र्य का
भी घात निर्विकल्प ध्यान के द्वारा ही होता है ऐसा कहा है । इनसे अतिरिक्त अचेतन स्वरूप जो
शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषय हैं, कर्म हैं और शरीर आदि हैं ये सब पौद्गलिक हैं इनका कोई
भी घात होना नहीं कहा गया है । दूसरी बात यह है कि जैसे घट के आधार में रहा हुआ जो
दीपक है उसके नष्ट कर देने पर वह घड़ा नष्ट नहीं होता है वैसे रागादि के लिये निमित्तकारण
ऐसे शब्द आदि पंचेन्द्रियों के विषयों का नाश कर देने पर भी मन में स्थित रागादिभाव नष्ट
नहीं हो जाते हैं वास्तव में अन्य का घात कर देने पर उससे भिन्न अन्य का घात नहीं होता है ।
अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा क्योंकि जीव जो कोई भी सम्यक्त्व आदि गुण हैं ये गुण
परद्रव्यों में और शब्द रस गंध रूप स्पर्श विषयों में नहीं हैं, ऐसा स्पष्ट है । इस कारण से

तद्वा सम्पादित्विह संस्थितं रागो दुःखं विसर्गेषु तस्मात्कारणान्निर्विषयस्वशुद्धात्मभावोत्पत्तिसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति रागो दोषो मोहो जीवस्स दुःखं जे अण्णपरिणामा रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञानिजीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्नपरिणामः । एदेण कारणेण दुःखं सहादिसु संस्थितं रागादी तेन कारणेण शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपंचैन्द्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रान्तिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न सन्ति । कस्मात् ? शब्दादीनामचेतनत्वात् । ततः स्थितं तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति । इति गाथाषट्कं गतं ॥ ३८७ से ३९२ ॥

विषयों से रहित अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुख से जो तृप्त हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के विषयों में राग नहीं है ऐसा निश्चित है क्योंकि ये राग द्वेष और मोह अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अज्ञानी जीव के अभिन्न परिणाम हैं । इस कारण से शब्दादि मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में जो कि अचेतन हैं उनमें यद्यपि यह अज्ञानी जीव भ्रान्ति के ज्ञान से उन्हीं शब्दादिकों में रागादिभावों की कल्पना करता है—उनमें रागादि भावों का आरोप करता है फिर भी शब्दादि विषयों में रागादि नहीं हैं क्योंकि ये शब्दादि विषय अचेतन हैं इसलिये यह सिद्ध हुआ कि बहिरात्मा जीव के तभी तक ये राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं कि जब तक उसके मन में तीनगुप्ति रूप स्वसंवेदनज्ञान/निर्विकल्पध्यान नहीं है । इस प्रकार ये छह गाथायें हुई हैं ॥ ३८७ से ३९२ ॥

विशेषार्थ—यहां जो तीन गुप्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञान कहा है यह सातवें गुणस्थान के नीचे संभव ही नहीं है अतः यह अवस्था निर्विकल्प ध्यान में महामुनियों के ही होती है । अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या इस निर्विकल्प समाधि के पहले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि या चतुर्थ-पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक बहिरात्मा हैं ? सो ऐसा नहीं है यहां बहिरात्मा से प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानवर्ती ही विवक्षित हैं । चतुर्थगुणस्थानवर्ती जघन्य अंतरात्मा हैं और पंचम व छठे गुणस्थानवर्ती मध्यम अंतरात्मा हैं यहां इनकी विवक्षा नहीं है चूंकि इस समयसार ग्रंथ में वीतरागसम्यग्दृष्टि/निर्विकल्प ध्यानी मुनियों की अपेक्षा से ही कथन किया गया है, यह बात श्रीजयसेनाचार्य ने कई बार स्पष्ट की है । यथा—

“अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं ।”

इस ग्रंथ में पांचवें गुणस्थान से ऊपर वाले गुणस्थानवर्ती वीतरागसम्यग्दृष्टियों का ही मुख्यरूप से ग्रहण किया गया है । इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि यह समयसार ग्रंथ मूलाचार, आचारसार आदि ग्रंथों के आधार से अट्ठाईस मूलगुणों में निष्णात मुनियों के लिये ही निर्विकल्पध्यान की प्रेरणा देने वाला है ऐसा समझना ।

अण्णदविण्ण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।

तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ अ० ॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः ।

तस्मात् सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥ ३७२ ॥

आत्मख्यातिः—न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीन्युत्पादयतीति शङ्क्यं—अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरण-
स्यायोगात् । सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् । तथाहि—मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावे-
नोत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुम्भकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृत-
करपुरुषशरीराकारः कुम्भः स्यात्, न च तथास्ति द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि
मृत्तिका कुम्भकारस्वभावेन नोत्पद्यते किंतु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं
च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमात् कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्मृशंती

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अन्यद्रव्येण अन्यद्रव्यस्य गुणोत्पादः न क्रियते) अन्यद्रव्य के द्वारा अन्यद्रव्य
के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है (तस्मात् सर्वद्रव्याणि स्वभावेन उत्पद्यन्ते) इसलिये
सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं ॥ ३७२ ॥

आत्मख्याति—जीव में परद्रव्य—पुद्गल, रागादिभावों को उत्पन्न करते हैं ऐसी आशंका नहीं
करना चाहिये क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करना संभव नहीं है ।
सभी द्रव्य स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं । इसे ही कहते हैं—मिट्टी घड़े रूप से उत्पन्न होती हुई
मिट्टी क्या कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से ? यदि वह मिट्टी
कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है, तब तो घड़े के करने रूप अहंकार से भरे हुये पुरुष में
स्थित क्रिया से परिणत पुरुष के शरीर के आकार का ही घड़ा बन जायेगा किंतु ऐसा तो है
नहीं, भिन्न द्रव्य के स्वभाव से भिन्न द्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना देखा नहीं जाता है । यदि
ऐसी बात है तब तो मिट्टी कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती है किंतु मिट्टी स्वभाव से
ही उत्पन्न होती है । क्योंकि अपने स्वभाव से ही द्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना देखा जाता
है । ऐसा होने पर तो मिट्टी अपने स्वभाव का उलंघन नहीं करती है अतः कुम्भकार ही घड़े का

३९३—अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण का घात न होता ।

बाह्य निमित्तों के मिलने पर भी तद्रूप न होता ॥

अतः द्रव्य सब निज स्वभाव से प्रगट हुए ही मानो ।

शब्दादिक को सदा अचेतन चेतन आत्मा जानो ॥३७२ ॥

स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते । एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यते किं स्वस्वभावेन ? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात् नच तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यते किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति स्वस्वभावानतिक्रमात् सर्वद्रव्याणां न निमित्तभूतद्रव्यांतरणि परिणामस्योत्पादकान्येव सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशन्ति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ॥ ३७२ ॥

उत्पादक नहीं है बल्कि मिट्टी ही कुंभकार स्वभाव का स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से घड़े के रूप से उत्पन्न होती है ।

इसी प्रकार से ऐसा प्रश्न होता कि सभी द्रव्य अपने परिणामरूप पर्याय से उत्पन्न होते हुये क्या वे निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने स्वभाव से ? यदि आप कहें कि निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं तब तो निमित्तभूत जो परद्रव्य है उसके आकार ही उसका परिणामन हो जावेगा किंतु ऐसा तो होता नहीं है, भिन्न द्रव्य के स्वभाव से अन्य द्रव्य के परिणाम को उत्पन्न होना देखा नहीं जाता है । यदि ऐसी बात है तब तो सर्वद्रव्य निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते हैं किंतु अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि अपने स्वभाव से ही द्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना देखा जाता है ।

ऐसा होने पर तो अपने-अपने स्वभाव का उल्लंघन न करने से सभी द्रव्य, निमित्तभूत अन्यद्रव्य के परिणाम को उत्पन्न कराने वाले नहीं हैं प्रत्युत सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव का स्पर्श न करते हुये अपने-अपने स्वभावरूप—अपने-अपने परिणामरूप से उत्पन्न होते हैं इसलिये परद्रव्य जीव में रागादि भावों को उत्पन्न करने वाले हों ऐसा हम नहीं देखते हैं कि जिसके ऊपर हम क्रोध करें ॥ ३७२ ॥

भावार्थ—यदि सर्वथा परद्रव्य के निमित्त को न माना जावे तब तो सिद्धों में भी जन्म-मरण व रागद्वेष आदि भाव उत्पन्न होने लगेंगे किंतु ऐसी बात तो है नहीं । गाथा में तो श्री आचार्यदेव ने यह कहा है कि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्यद्रव्य के गुणों का उत्पाद नहीं किया गया है । पुद्गलद्रव्य के द्वारा जीव के ज्ञान या सुख गुणों को उत्पन्न करना शक्य नहीं है ऐसे ही जीव के द्वारा पुद्गल के रूप, रसादि को उत्पन्न करना शक्य नहीं है । हां, निमित्तरूप से तो जीव पुद्गलकर्मों के उदय को निमित्त बनाकर ही रागादि भावों से परिणत होता है और पुद्गल वर्गणायें भी जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर ही कर्मरूप से परिणत होती हैं ऐसा नियम है ।

मालिनी छंद—यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।

स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २२० ॥

रघोद्धता छंद—रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।

उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधबिभुरांधबुद्धयः ॥ २२१ ॥

जीव और कर्मों का परस्पर में उपादान-उपादेय संबंध नहीं है किंतु निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही है ऐसा स्पष्ट है। टीकाकार श्रीअमृतचंदसूरि ने भी तो कुंभकार का उदाहरण रखा है। घड़ा मिट्टी से बना है कुंभकाररूप से नहीं किंतु कुंभकार निमित्त के बिना भी मिट्टी आज तक अपने आप स्वयं न घड़ा बन पाई है और न कभी बन ही सकती है। ऐसे ही संसारी जीव के कर्मोदय निमित्त के बिना जीवों में विभावरूप रागादि भाव न हुये हैं न होंगे ही और रागादिभावों के बिना कर्मों का बंध भी असंभव ही है।

अब इसी को काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, वहां तो स्वयं अपराधी अज्ञान ही व्याप्त हो रहा है ऐसा विदित हो जावे और अज्ञान अस्त को प्राप्त हो जावे क्योंकि मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूं। २२० ।

भावार्थ—अनादिकालीन अज्ञान के निमित्त से ही आत्मा में राग द्वेष आदि विभाव भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इस अज्ञान का जब पूर्णतया नाश हो जावेगा तभी यह आत्मा ज्ञानमात्र एक शुद्ध बुद्ध परमात्मा हो जावेगा। यह अज्ञानभाव ही तो कर्मजन्य विभाव भाव है ऐसा समझना।

काव्यार्थ—जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्तकारण मानते हैं वे शुद्धज्ञान से रहित अंधबुद्धि वाले हैं वे मोहनदी को पार नहीं कर सकते हैं। २२१ ।

भावार्थ—वास्तव में रागादि भावों को उत्पन्न करने में सर्वथा परद्रव्य ही हो ऐसी एकांत बात नहीं है। अनादिकालीन अपना अज्ञान भी तो उसमें कारण है अतः शुद्धनय के अवलंबन से अपनी आत्मा को रागादि रहित समझकर ध्यान करने वाले महामुनि ही मोहनीय कर्म का नाश कर सकते हैं ऐसा समझना।

इस आत्मा में जो रागद्वेष दोषों की उत्पत्ति होती ।
पर द्रव्य का कोई दोष नहीं उसमें ऐसी प्रतीति होती ॥
बस वहाँ स्वयं अपराधी इक अज्ञान व्याप्त हो रहता है ।
अज्ञान अस्त होवे तो आत्मा ज्ञानस्वरूपी बनता है ॥ २२० ॥
जो रागोत्पत्ति में परद्रव्यों को ही निमित्त बताते हैं ।
वे शुद्ध ज्ञान से रहित अंधबुद्धी संयुत बन जाते हैं ॥
वे मोहनदी को पार नहीं कर सकते काल अनंतों तक ।
रागादिरहित निज आत्मा को जो समझे वही करें शिवपद ॥ २२१ ॥

(उत्थानिका) — एवमेतदायाति शब्दादीन्द्रियविषया अचेतनाश्चेतनरागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवन्ति—

(३९३ ज०) अण्णदविण्ण अण्णदविस्स णो कीरदे गुणविघादो ।

तह्मा दु सव्वदव्वा, उप्पज्जंते सहावेण ॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणविघातः ।

तस्मात् सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥ ३९३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अण्णदविण्ण अण्णदविस्स णो कीरदे गुणविघादो अन्यद्रव्येण बहिरंगनिमित्तभूतेन कुंभकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते । स कः ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् । तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुंभकारादिबहिरंगनिमित्तरूपेण । कस्मात् इति चेत् ? उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात् । तेन किं सिद्धं ? यद्यपि पंचेन्द्रियविषयरूपेण शब्दादीनां बहिरंगनिमित्तभूतेनाज्ञानजीवस्य रागादयो जायन्ते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुनः शब्दादिरूपा अचेतना भवतीति भावार्थः । एवं कोऽपि प्राथमिकशिष्यश्चित्तस्थान्

उत्थानिका—पूर्व गाथाओं के कथन से यह सिद्ध हुआ है कि शब्द आदि इंद्रियों के विषय अचेतन हैं वे चेतन आत्मा में रागादि भावों को उत्पन्न करने के लिये निश्चय से कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अण्णदविण्ण अण्णदविस्स गुणविघादो णो कीरदे) अन्य द्रव्यों के द्वारा अन्य द्रव्यों के गुणों का घात नहीं किया जा सकता है (तह्मा सव्वदव्वा दु सहावेण उप्पज्जंते) इसलिए सभी द्रव्य स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३९३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—बहिरंग में निमित्तभूत ऐसे कुंभकार आदि जो परद्रव्य हैं उनके द्वारा मिट्टी आदि उपादानरूप जो अन्यद्रव्य हैं वे किये नहीं जाते हैं क्योंकि चेतन का अचेतनरूप से अथवा अचेतन का चेतनरूप से चेतन और अचेतन गुणों का घातरूप विनाश नहीं किया जा सकता है । इस कारण कर्तारूप से मिट्टी आदि सर्वद्रव्य घड़ा आदिरूप से उत्पन्न होते हुये अपने उपादान कारण ऐसे मिट्टी आदिरूप से ही उत्पन्न होते हैं न कि कुंभकार आदि बहिरंग निमित्तरूप से । क्यों ? क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा नियम है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानी जीव में जो रागादिभाव उत्पन्न होते हैं उनके लिये यद्यपि पंचेन्द्रियों के विषयरूप शब्द रस आदि बहिरंगनिमित्त हैं फिर भी वे रागादिभाव जीवस्वरूप ही हैं अतः चेतन हैं किन्तु वे शब्दादिस्वरूप अचेतन नहीं हैं ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार कोई भी प्राथमिक शिष्य अपने चित्त में स्थित ऐसे रागादिभावों को तो नहीं जानता है और बहिरंग में शब्द रस आदि इंद्रियों को रागादि का निमित्त मानकर "मैं उन इंद्रियविषयों का घात करता हूँ" निर्विकल्प समाधिलक्षण भेदज्ञान का

रागादीन् जानाति बहिरंगशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घातं करोमीति निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञाना-
भावाच्चित्तयति तस्य संबोधनार्थं पूर्वं गाथाषट्केन सह सूत्रसप्तकं गतं ॥ ३९३ ॥

णिदियसंश्रुयवयणाणि पोग्गला परिणमन्ति बहुयाणि ।

ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३ अ० ॥

निदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमन्ति बहुकानि ।

तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥ ३७३ ॥

अभाव होने से ऐसा चितवन करता रहता है ।

उसके संबोधन के लिये पूर्व की छह गाथाओं समेत यह एक गाथा हुई अर्थात् सात गाथायें हुई हैं ॥ ३९३ ॥

विशेषार्थ—घड़े के बनने में मिट्टी उपादान कारण है और कुंभकार, चाक आदि बहिरंग निमित्त कारण हैं यद्यपि यह नियम है कि बिना कुंभकार आदि बाह्य निमित्त के घड़ा नहीं बनता है फिर भी कुंभकार आदि उपादान कारण नहीं हैं अन्यथा कुंभकार आदि के आकार का ही घड़ा बन जाता इससे यह सिद्ध होता है कि उपादान कारण के समान ही कार्य होता है । जैसे कि जौ के बीज से जौ उत्पन्न होते हैं उसमें भी तो बाह्य निमित्त किसान, मिट्टी, खेत, खाद आदि सामग्री हैं फिर भी बीज के सदृश ही धान्य होते हैं । ऐसे ही आत्मा में जो रागादिभाव होते हैं उनमें उपादान कारण तो आत्मा ही है और बाह्य निमित्त पंचेन्द्रियों के विषय हैं अतः बाह्य निमित्त के छोड़ देने मात्र से ही अंतरंग में रागादि का अभाव नहीं हो जायेगा प्रत्युत आत्मा को उपादान कारण समझकर उनमें ये उत्पन्न हों इसलिये निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर इन्हें समाप्त करना चाहिये । इन रागादि भावों को दूर करने के लिये प्रारंभ में पंचेन्द्रिय विषयों का त्याग करना तो अतिआवश्यक है ही है उसके त्याग बिना तो आज तक किसी ने भी रागादिभावों से मुक्त नहीं पाई है । जैसे चावल के अंतरंग तुष/लालिमा को दूर करने के लिये बाहर का तुष/छिलका हटाना आवश्यक है इत्यादि । यद्यपि जीव कभी पुद्गल नहीं होता है और पुद्गल कभी जीव नहीं बनता है फिर भी इनमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध से ही तो संसार बना है ऐसा समझना ।

(३९४)—बहुत तरह के निन्दा स्तुति रूप वचन माने हैं ।

पुद्गल ही उन वचन रूप परिणमित हुए जाने हैं ॥

उन वचनों को सुनकर अज्ञानी ऐसा है कहता ।

मुझको ही यह कहा गया है शेष तोष यह करता ॥ ३७३ ॥

पुद्गलद्रव्यं सद्वत्परिणयं तस्मै जडं गुणो अणो ।
 तद्वा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥ ३७४ अ० ॥
 असुहो सुहो व सहो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
 ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सहं ॥ ३७५ अ० ॥
 असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छं मंति सो चेव ।
 णय एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥ ३७६ अ० ॥

पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।

तस्मात् त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥ ३७४ ॥

अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति शृणु मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥ ३७५ ॥

अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपं ॥ ३७६ ॥

जो स्पर्शादि रूप पुद्गल हैं वे आत्मा से नहीं कहते हैं कि तुम मुझे ग्रहण करो, किंतु यह आत्मा ही अज्ञानी हुआ उनको ग्रहण करते हुये उनमें राग-द्वेष करता है, सो ही दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(पुद्गलाः बहुकानि निर्दिता—संस्तुतवचनानि परिणमंति) पुद्गलवर्गणार्थे ही

(३९५)—शब्द रूप में परिणत पुद्गल द्रव्य अचेतन ही है ।

वह न कभी चेतन होता उसका गुण पुद्गल ही है ॥

अतः तुझे तो उन शब्दों ने कुछ भी नहीं कहा है ।

तब तू अज्ञानी बनकर उनमें क्यों रुष्ट हुआ है ॥ ३७४ ॥

(३९६)—शुभ या अशुभ शब्द पुद्गल क्या तुझको यह कहते हैं ।

हे प्राणी तू मुझको सुन ले ऐसा नहीं कहते हैं ॥

श्रोत्रेन्द्रिय अपने विषयागत शब्द ग्रहण करता है ।

निश्चयनय से आत्मा उनको ग्रहण नहीं करता है ॥ ३७५ ॥

(३९७)—इसी तरह शुभ अशुभ रूप क्या तुझसे यह कहता है ?

रे आत्मन् ! तू मुझे देख ले ऐसा नहीं कहता है ॥

नेत्रेन्द्रिय अपने विषयागत रूप ग्रहण करता है ।

निश्चय से तो जीव रूप को ग्रहण नहीं करता है ॥ ३७६ ॥

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिघ मंति सो चेव ।

णय एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥ ३७७ अ० ॥

असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।

ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥ ३७८ अ० ॥

असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।

ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥ ३७९ अ० ॥

अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधं ॥ ३७७ ॥

अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥ ३७८ ॥

अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ॥ ३७९ ॥

बहुत प्रकार से निंदा-स्तुति वचनरूप से परिणामन करते हैं (तानि श्रुत्वा पुनः अहं भणितः रुध्यति च तुष्यति) यह जीव उनको सुनकर इसके द्वारा 'मैं' ऐसा कहा गया' ऐसा मानकर रोष करता है और संतुष्ट होता है। (शब्दत्वपरिणतं पुद्गलद्रव्यं यदि तस्य गुणः अन्यः) शब्दरूप से परिणत

(३९८)—शुभ या अशुभ गंध भी तुझसे ऐसा कब कहते हैं ?

हे प्राणी तू मुझे सूँघ ले कभी नहीं कहते हैं ॥

घ्राणेन्द्रिय निज विषय समझ वह गन्ध ग्रहण करता है ।

लेकिन आत्मा किसी गन्ध को नहीं ग्रहण करता है ॥३७७ ॥

(३९९)—ऐसे ही शुभ अशुभ रसों ने कभी कहा क्या तुझको ?

मेरे मीठे कटुक स्वाद में चख ले प्राणी मुझको ?

जिह्वा इन्द्रिय मात्र उसे निज विषय समझ चखता है ।

आत्मा निश्चय से षट् रसमय भोजन नहीं चखता है ॥३७८ ॥

(४००)—चउ इन्द्रिय व्यापार सदृश स्पर्श भी नहीं कहता है ।

मैं हूँ शुभ या अशुभ मुझे छू लो यह नहीं कहता है ॥

मात्र प्रथम इन्द्रिय स्पर्शन उसे ग्रहण करता है ।

आत्मा उस स्पर्श योग्य को नहीं ग्रहण करता है ॥३७९ ॥

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ वुज्झ मंति सो चेव ।

ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥ ३८० अ० ॥

असुहं सुहं व दब्बं ण तं भणइ वुज्झ मंति सो चेव ।

ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दब्बं ॥ ३८१ अ० ॥

एयं तु जाणिरुण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।

णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥ ३८२ अ० ॥ (दशकम्)

अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥ ३८० ॥

अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ॥ ३८१ ॥

एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः ।

निग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिः शिवायपत्तो ॥ ३८२ ॥

हुआ जो पुद्गलद्रव्य है, यदि उसका गुण तुम्हारे से भिन्न है (तस्मात् त्वं किञ्चित् अपि न भणितः) तब तो तुम उनसे कुछ भी नहीं कहे गये हो (अबुद्धः किं रुष्यति) पुनः तुम अज्ञानी हुये रोष क्यों करते हो ? (अशुभः वा शुभः शब्दः त्वां न भणति इति मां शृणु) अशुभ वा शुभ शब्द तुम्हें ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझे सुनो (च सः एव श्रोत्रविषयं आगतं शब्दं विनिर्गृहीतुं न च

(४०१)—इसी तरह से बाह्य द्रव्य के गुण शुभ अशुभ कहे जो ।

मुझे जान ले हे प्राणी तू ऐसा नहीं कहे वो ॥

मात्र बुद्धि निज विषयागत गुण ग्रहण सदा करती है ।

आत्मा लेकिन बाह्य गुणों को नहीं ग्रहण करती है ॥ ३८० ॥

(४०२)—अशुभ तथा शुभ द्रव्य जगत् के तुझे नहीं यह कहते ।

मेरे द्रव्यपने को तू जाने ऐसा नहि कहते ॥

उन द्रव्यों को बुद्धि स्वयं का विषय ग्रहण करती है ।

आत्मा उन द्रव्यों को लेकिन ग्रहण नहीं करती है ॥ ३८१ ॥

(४०३)—मूढ़ जीव यह जान समझ भी उपशम भाव न करता ।

प्रत्युत पर के ग्रहणरूप परिणाम सदा ही करता ॥

क्योंकि उसे कल्याणकारिणी बुद्धि न प्राप्त हुई है ।

अतः मुक्ति से दूर पतत्मा में ही दृष्टि रही है ॥ ३८२ ॥

आत्मख्याति—यथेह बहिरर्थो घटपटादिः देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति। न च प्रदीपोप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति। किं तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा

एति) और वह जीव भी कान में आते हुये उन शब्दों को ग्रहण करने को नहीं जाता है (अशुभं वा शुभं रूपं त्वां न भणति मां पश्य इति) अच्छा या बुरा रूप तुम्हें यह नहीं कहता है कि तुम मुझे देखो (च चक्षुर्विषयं आगतं रूपं सः च एव विनिर्गृहीतुं न एति) और चक्षु के विषय में आये हुये रूप को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं जाता है (अशुभः वा शुभः गंधः त्वां इति न भणति मां पश्य) अशुभ या शुभ गंध तुम्हें ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझे सूंघो (च घ्राणविषयं आगतं गंधं विनिर्गृहीतुं सः च एव न एति) और घ्राण इंद्रिय के विषय को प्राप्त हुये गंध को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं जाता है (अशुभः वा शुभः रसः त्वां न भणति मां इति रसय) अच्छे या बुरे रस तुम्हें ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझे चखो (च रसनविषयं आगतं तु रसं विनिर्गृहीतुं सः एव न च एति) और रसन इंद्रिय के विषय को प्राप्त हुये रस को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं जाता है (अशुभः वा शुभः स्पर्शः त्वां इति न भणति मां स्पर्श) अशुभ अथवा शुभ स्पर्श भी तुम्हें ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मेरा स्पर्श करो (च कायविषयं तु आगतं स्पर्शं तु विनिर्गृहीतुं सः च एव न एति) और स्पर्शेन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुये स्पर्श को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं जाता है (अशुभः वा शुभः गुणः न त्वां भणति मां इति बुध्यस्व) अच्छा या बुरा द्रव्य का गुण भी तुम्हें ऐसा नहीं कहता है कि तुम मुझे जानो (च बुद्धिविषयं आगतं द्रव्यं विनिर्गृहीतुं तु सः च एव न एति) और बुद्धि के विषय में आये हुये द्रव्यगुण को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं जाता है (अशुभं वा शुभं द्रव्यं न त्वां भणति) अशुभ या शुभ द्रव्य भी तुम्हें ऐसा नहीं कहता है कि (इति मां बुध्यस्व) तुम मुझे जानो (च बुद्धिविषयं आगतं द्रव्यं विनिर्गृहीतुं सः च एव न एति) और बुद्धि के विषय को प्राप्त हुये द्रव्य को ग्रहण करने के लिये वह आत्मा भी नहीं जाता है (एतत् तु ज्ञात्वा मूढः उपशमं नैव गच्छति) ऐसा जानकर भी अज्ञानी जीव उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता है (च स्वयं शिवां बुद्धिः अप्राप्तः च परस्य निग्रहमनाः) प्रत्युत आप कल्याणकारी बुद्धि को नहीं प्राप्त होता हुआ पर को ही ग्रहण करने का इच्छुक रहता है ॥ ३७३ से ३८२ ॥

आत्मख्याति—जैसे इस लोक में घट, पट आदि बाह्य पदार्थ अपने को प्रकाशित करने के लिये दीपक को प्रेरित नहीं करते हैं, दीपक से ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मुझे प्रकाशित करो' जिस प्रकार देवदत्त पुरुष यज्ञदत्त का हाथ पकड़कर कोई काम करा लेता है उस प्रकार दीपक भी अपने स्थान से च्युत होकर—अलग हटकर उन पदार्थों को प्रकाशित करने के लिये नहीं आता है। जैसे कि

तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते । स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते । तथा बहिरर्थः शब्दो रूपं गंधो रसः स्पर्शो गुणद्रव्ये च देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां शृणु मां पश्य मां जिघ्र मां रसय मां स्पर्श मां बुध्यस्वेति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयति । न चात्माप्ययःकांतोपलक्ष्यःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञानुमाप्नोति । किंतु जलुस्तथातल्लवरेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते । स्वरूपेण जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन्तः कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन् । एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि यद्वागद्वेषौ तदज्ञानं ॥ ३७३-३८२ ॥

चुंबक पत्थर से आकर्षित हुई लोहे की सुई खिचकर आ जाती है, किंतु वस्तु का स्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं कराया जा सकता है और न पर को उत्पन्न ही कर सकता है । वह दीपक तो जैसे उन पदार्थों के नहीं रहने पर अपने स्वरूप से ही प्रकाश करता है वैसे ही वह उन घट, पटादि के न रहने पर भी स्वयं स्वभाव से ही प्रकाश करता है । इसी प्रकार सुंदर या असुंदर घट-पटादि पदार्थ भी वस्तुस्वभाव से ही विचित्र—नानाप्रकार से परिणमन करते हुये भी स्वरूप से ही प्रकाशमान उस दीपक में किंचित् मात्र भी विकार को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । उसी प्रकार से बाह्य पदार्थ स्वरूप इंद्रियों के विषय ऐसे शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और गुण तथा द्रव्य ये अपने ज्ञान कराने में आत्मा को प्रेरित नहीं करते हैं कि हे आत्मन् ! तुम मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूंघो, मुझे चखो, मुझे छुओ और मुझे समझो, कि जैसे देवदत्त यज्ञदत्त का हाथ पकड़ कर जबरन कुछ काम करा लेता है वैसे ही ये शब्दादि विषय आत्मा को जबरन सुनने आदि विषयों में नहीं लगाते हैं और न आत्मा ही लोहकांत—चुंबक से आकृष्ट हुई सुई के समान अपने स्थान से हटकर उन विषयों को जानने के लिये दौड़ा जाता है किंतु आत्मा उन विषयों के नहीं होने पर जैसे उनके स्वरूप से उनको जानता है वैसे ही उनके होने पर भी उनके स्वरूप से ही उनको जानता है क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि वह न दूसरों से उत्पन्न होता है और न हि दूसरों को उत्पन्न कर संकता है । इसी प्रकार से शब्दादि बाह्य पदार्थ चाहे सुंदर हों चाहे असुंदर, वे वस्तु स्वभाव के कारण ही नानारूप परिणमन करते हैं किंतु स्वरूप से जानते हुये आत्मा में वे किंचित् मात्र भी विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं । इस प्रकार से आत्मा प्रदीप के समान नित्य ही पर के प्रति उदासीन रहता है यही वस्तुस्थिति है—वस्तु का स्वभाव है फिर भी जो राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं वह अज्ञान ही है ॥ ३७३-३८२ ॥

भावार्थ—जो पांचों इंद्रियों के विषयों में राग-द्वेष न करते हुये पूर्ण उदासीन—धीतराग भाव को प्राप्त हो जाते हैं वे ही महामुनि वस्तुस्वभाव में—अपने आत्मस्वभाव में स्थित होकर

शार्दूलविक्रीडित—पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधः^१ न बोध्यादयं ।

यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।

तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्याधिषणा एते किमज्ञानिनो ।

रागद्वेषमयी भवन्ति सहजा मुंचत्युदासीनता ॥ २२२ ॥

समयसार स्वरूप बन जाते हैं ऐसा समझना । श्रीजयसेनाचार्य ने बहुत ही सरल शब्दों में विवेचन किया है मानों वह इस क्लिष्ट टीका का विशेषार्थ ही है ।

इसे ही काव्य द्वारा श्रीअमृतचंद्रसूरि कहते हैं—

काव्यार्थ—पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध ज्ञानरूप महिमा वाला ऐसा जो यह ज्ञान है—ज्ञायक भाव है वह ज्ञेय पदार्थों से किंचित् मात्र भी विकार को प्राप्त नहीं होता है जैसे दीपक प्रकाशित होने योग्य बाह्य पदार्थों से विकार को प्राप्त नहीं होता है । तो पुनः वस्तुस्थिति के ज्ञान से शून्य बुद्धिवाले ऐसे अज्ञानी जन रागद्वेषमय क्यों होते हैं और सहज—स्वाभाविक अपनी उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं ? बड़े आश्चर्य की बात है । २२२ ।

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से यह ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्यों को जानता है अतः ज्ञाता है किंतु किंचित् मात्र भी विकृत नहीं होता है और व्यवहारनय से इन बाह्य पदार्थों के निमित्त-नैमित्तिक संबंध से ही अल्पज्ञ—संसारी होता हुआ राग-द्वेष भाव से परिणमन करके अनंतसंसार में धूम रहा है क्योंकि यह संसार भी तो व्यवहारनय से ही है और चतुर्गति के दुःख भी व्यवहार से ही हैं । हां, जब यही आत्मा निश्चयनय से अपने स्वभाव को ज्ञाता—ज्ञायकभाव मात्र निश्चित कर लेता है तब व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय के द्वारा विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर पूर्ण उदासीन हो जाता है तभी अपने ज्ञान को केवलज्ञानमय, पूर्ण बना लेता है । इसीलिये आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! तुम रागद्वेष भाव को छोड़कर उदासीनभावरूप परमोपेक्षा संयम में स्थित हो जावो ।

जैसे दीपक जिस वस्तु को स्वयमेव प्रकाशित करता है ।

उस वस्तु से नहि कभी विकारी भाव प्राप्त वह करता है ॥

वैसे ही पूर्ण, एक, अच्युत शुभज्ञान रूप महिमा वाला ।

जो ज्ञान है वह नहि ज्ञेय से किंचित् भी होता विकृती वाला ॥ २२२ ॥

शार्दूलविक्रीडित—रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः

पूर्वागमिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।

दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयी

विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां ॥ २२३ ॥

(उत्थानिका) —अथेन्द्रियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीवः करोतीत्याख्याति—

(३९४ ज०) णिदिदसंथुदवयणाणि, पोग्गला परिणमंति बहुगाणि ।

ताणि सुणिदूण रूसदि, तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥

निदितसंस्तुतवचनानि, पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।

तानि श्रुत्वा रुष्यति, तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥ ३९४ ॥

काव्यार्थ—जो राग-द्वेषरूपी विभाव भाव से रहित तेज स्वरूप हैं, सदा ही अपने स्वभाव का स्पर्श करने वाले हैं, भूतकाल और भविष्यत् काल के समस्त कर्मों से रहित हैं और वर्तमान काल के भी कर्मों के उदय से भिन्न हैं, वे ज्ञानीजन अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं। यह ज्ञान चेतना चमकती हुई चैतन्य ज्योतिःस्वरूप है और इसने अपने ज्ञानरूपी रस से समस्त लोक को अभिसिंचित—व्याप्त किया है। २२३ ।

भावार्थ—अतीत काल के दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है, भावी काल के दोषों को दूर करना प्रत्याख्यान है और वर्तमान काल के दोषों को छोड़ना आलोचना है। इन त्रैकालिक कर्मोदय के निमित्त से हुये विभाव भावों से रहित हुये निर्विकल्प ध्यानी साधु ही निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना करते हैं। ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि ही ज्ञानचेतना का अनुभव करते हैं।

उत्थानिका—मिथ्याज्ञान से परिणत जीव ही इंद्रिय और मन के विषयों में राग-द्वेष करता है ऐसा कहते हैं—

जो रागद्वेष विभाव रहित स्वाभाविक तेज स्पर्श करें।

जो भूतभावि सब कर्म रहित कर्मोदय से भी भिन्न रहें ॥

शुद्धोपयोगि ऐसे पुनि ही चैतन्यज्ञान ज्योतिर्मय हैं।

चारित्रज्ञान वैभवबल से वे व्याप्त सदा त्रिभुवन में हैं ॥ २२३ ॥

- (३९५ ज०) पुग्गलदब्बं सदत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिदो, किंचिवि किं रूससे अबुहो ॥
- (३९६ ज०) असुहो सुहो व सदो, ण तं भणदि सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, सोदविसयमागदं सदं ॥
- (३९७ ज०) असुहं सुहं च रूवं, ण तं भणदि पेच्छमंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, चक्खुविसयमागदं रूवं ॥
- (३९८ ज०) असुहो सुहो य गंधो, ण तं भणदि जिग्घ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, धाणाविसयमागदं गंधं ॥
- (३९९ ज०) असुहो सुहो य रसो, ण तं भणदि रसय मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, रसणविसयमागदं तु रसं ॥

पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः

तस्मात् त्वां भणितः, किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥ ३९५ ॥

अशुभः शुभो वा शब्दः, न त्वां भणति शृणु मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥ ३९६ ॥

अशुभं शुभं वा रूपं, न त्वां भणति पश्य मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, चक्षुर्विषयमागतं रूपं ॥ ३९७ ॥

अशुभः शुभो वा गंधो, न त्वां भणति जिघ्र मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, घ्राणविषयमागतं गंधं ॥ ३९८ ॥

अशुभः शुभो वा रसो, न त्वां भणति रसय मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, रसनविषयमागतं तु रसं ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थ—(बहुगाणि पोग्गला णिदिदसंथुदवयणाणि परिणमंति) बहुत प्रकार के पुद्गल निंदा, स्तुति आदि वचनरूप से परिणामन करते हैं (ताणि सुणिदूण पुणो अहं भणिदो य रूसदि तूसदि) उनको सुनकर पुनः 'मैं ऐसा कहा गया हूँ' इस प्रकार यह जीव रोष करता है या संतुष्ट होता है (सदत्तपरिणदं पुग्गलदब्बं जदि तस्स गुणो अण्णो) शब्दरूप से परिणत हुआ जो पुद्गलद्रव्य है यदि उसका गुण तुम्हारे से भिन्न है (तह्मा तुमं ण किंचिवि भणिदो अबुहो किं रूससे) तब तो तुम उनसे कुछ भी नहीं कहे गये हो पुनः अज्ञानी हुये क्यों रुष्ट होते हो ?

- (४०० ज०) असुहो सुहो य फासो, ण तं भणदि फास मंति सो चेव ।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं, कायविसयमागदं फासं ॥
- (४०१ ज०) असुहो सुहो य गुणो, ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं, बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥
- (४०२ ज०) असुहं सुहं य दब्बं, ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं, बुद्धिविसयमागदं दब्बं ॥
- (४०३ ज०) एवं तु जाणि दब्बस्स, उवसमेणेव गच्छदे मूढो ।
 णिग्गहमणा परस्स य, सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥

अशुभः शुभो वा स्पर्शो, न त्वां भणति स्पृश मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, कायविषयमागतं तु स्पर्शम् ॥ ४०० ॥

अशुभः शुभो वा गुणो, न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥ ४०१ ॥

अशुभं शुभं वा द्रव्यं, न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स चैव ।

न चैति विनिर्गृहीतुं, बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ॥ ४०२ ॥

एवं तु ज्ञातद्रव्यस्य, उपशमं नैव गच्छति मूढः ।

निग्रहमनाः परस्य च, स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥ ४०३ ॥

(असुहो य सुहो सहो तं ण भणदि सो चेव मंति सुणसु) अशुभ या शुभ शब्द ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझे सुनो (सो चेव सोदविसयं आगदं सहं विणिग्गहिदुं ण य एदि) और वह जीव भी श्रोत्र में आये हुये शब्द को ग्रहण करने के लिए नहीं जाता है (असुहं च सुहं रूवं तं ण भणदि मंति पेच्छ) अशुभ और शुभ रूप भी तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे देखो (सो चेव चक्खुविसयं आगदं रूवं विणिग्गहिदुं ण य एदि) वह जीव भी चक्षु के विषय में आये हुये रूप को ग्रहण करने के लिए नहीं आता है (असुहो य सुहो गंधो तं ण भणदि मंति जिग्घ) अशुभ और शुभ गंध तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे सूँघो (सो चेव घाणविसयं आगदं गंधं विणिग्गहिदुं ण य एदि) वह जीव भी घ्राण के विषय में आये हुये गंध को ग्रहण करने के लिए नहीं जाता है (असुहो य सुहो रसो तं ण भणदि मंति रसय) अशुभ या शुभ रस तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे चखो (सो चेव रसणविसयं आगदं रसं तु विणिग्गहिदुं ण य एदि) वह जीव भी रसना के विषय को प्राप्त रस को ग्रहण करने के लिए नहीं जाता है

तात्पर्यवृत्तिः—रूसदि तूसदि य एकेन्द्रियविकलेंद्रियादिदुर्लभपरंपराक्रमेणातीतानंतकाले दृष्टश्रुतानुभूत-
मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामाधीनतया अत्यंतदुर्लभेन कश्चित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां
तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञान-
रागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शन-
स्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्ति-

(असुहो य सुहो फासो तं ण भणदि मंति फास) अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे छुओ (सो चेव कायविसयं आगदं फासं विणिग्गहिदुं ण य एदि) वह जीव भी शरीर को प्राप्त स्पर्श को ग्रहण करने के लिए नहीं जाता है।

(असुहो व सुहो गुणो तं ण भणदि मंति बुद्धि) अशुभ या शुभ गुण तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे जानो (सो चेव बुद्धिविसयं आगदं तु गुणं विणिग्गहिदुं ण य एदि) वह जीव भी बुद्धि के विषय में आये हुये गुण को ग्रहण करने के लिये नहीं जाता है (असुहं च सुहं दव्वं तं ण भणदि मंति बुद्धि) अशुभ या शुभ द्रव्य भी तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे जानो (सो चेव बुद्धिविसयमागदं दव्वं विणिग्गहिदुं ण य एदि) वह जीव भी बुद्धि के विषय में आये हुये द्रव्य को ग्रहण करने के लिये नहीं जाता है (एवं तु मूढो जाणि दव्वस्स उव्वस्समे णेव गच्छदे) इस प्रकार से द्रव्य की स्थिति को जानकर भी मूढ़ जीव उपशम भाव को नहीं प्राप्त करता है (च सयं सिवं बुद्धि अपत्तो परस्स णिग्गहमणा) प्रत्युत स्वयं हितकारी बुद्धि को नहीं प्राप्त होता हुआ पर को ही ग्रहण करने का इच्छुक रहता है। ॥ ३९४ से ४०३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—व्यतीत हुये अनंतकाल में एकेन्द्रिय, विकलेंद्रिय, पंचेंद्रिय आदि पर्यायें परंपरा से दुर्लभ हैं इस दुर्लभ परंपरा के क्रम से कालादि लब्धि को प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है क्योंकि यह जीव देखे, सुने और अनुभव में आये हुये ऐसे मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि विभाव परिणामों के आधीन हो रहा है। कदाचित् किसी प्रकार अत्यंत दुर्लभ ऐसी काललब्धि आदि को प्राप्त कर लेने से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का और उसी प्रकार से चारित्र मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाता है तब यह जीव छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ आदि का श्रद्धान, उन्हीं का ज्ञान और राग-द्वेष के परिहाररूप चारित्र ऐसे भेदरत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है। इसी को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं और इसी का दूसरा नाम व्यवहार कारणसमयसार है। इस व्यवहार कारणसमयसार से साध्य निश्चय कारण समयसार है, यह विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी आत्मा में आचरणरूप चारित्र ऐसे इन तीनों की एकतारूप से अभेदरत्नत्रय नामवाला निर्विकल्प समाधिरूप है। इस निश्चयकारण समयसार के द्वारा ही

रूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च । किं कृत्वा ? सुणिऊण श्रुत्वा । पुनः पश्चात् केन रूपेण ? अहं भणिदो अनेनाहं भणित इति । कानि श्रुत्वा ? णिदिदसंधुदवयणाणि निदितसंस्तुतवचनानि ताणि तानि । किंविशिष्टानि ? पोग्गला परिणमंति बहुगाणि भाषावर्गणायोग्यपुद्गलाः कर्तारो यानि कर्मतापत्रानि बहुविधानि परिणमंति । ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्गं निश्चयमोक्षमार्गभूतं पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसारं ज्ञात्वा बहिरंगेष्टानिष्टविषये रागद्वेषं न करोतीति भावार्थः । पुद्गलद्रव्यं सहजपरिणतं भाषावर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कर्तुं प्रियस्वेति जीव त्वमिति रूपेण निदितसंस्तुत-शब्दरूपत्वपरिणतं तस्स यदि गुणो अण्णो तस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽन्यो भिन्नो जडरूपः, तर्हि जीवस्य किमायातं ? न किमपि । तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहारकारणसमयसारनिश्चयकारण-समयसाररहितस्य संबोधनं क्रियते । कथं ? इति चेत् , यस्मान्निदितसंस्तुतवचनेन पुद्गलाः परिणमंति तद्वा ण तुमं भणिदो किंचिवि तस्मात्कारणात्वं न भणितः किंचिदपि किं रूससे अवुहो किं रुष्यसे अबुध ! बहिरात्मनिति । स चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां रहितः पुनरपि संबोध्यते । हे अज्ञानिन् !

कार्यसमयसार उत्पन्न होता है, यह अनंतकेवलज्ञान, अनंतकेवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टय की व्यक्तिरूप—प्रगटतारूप—अर्हतअवस्थारूप है ।

यह जीव व्यवहार कारणसमयसार और इससे साध्य निश्चय कारणसमयसार, इनके बिना नियम से अज्ञानी होता हुआ रोष और तोष को—राग और द्वेष को करता रहता है । यह अज्ञानी जीव निंदा और स्तुति के वचनों को सुनकर यह सोचता है कि 'इसने मुझे ऐसा कहा, ऐसा कहा ।' वास्तव में विचार करके देखा जाय तो भाषावर्गणा योग्य पुद्गल ही तो इन नाना प्रकार के वचनरूप से परिणत हुये हैं । इससे विपरीत ज्ञानी मुनि व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग इन दोनों प्रकार के कारणसमयसार को जान कर के—प्राप्त करके बहिरंग के इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष नहीं करता है ऐसा भावार्थ समझना ।

किसी ने कहा कि 'तू भर जा, तू जीवित रह ।' ये निंदा या प्रशंसा के शब्दरूप से परिणत हुये जो वचन हैं वे भाषावर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य ही तो हैं । यदि इस पुद्गलद्रव्य का गुण तुम्हारी शुद्धात्मा के स्वरूप से भिन्न है—जडरूप है तो भला उन निंदा-प्रशंसा आदि वचनों से जीव का क्या हुआ—क्या बिगड़ा ? अर्थात् कुछ भी नहीं बिगड़ा है । उसी अज्ञानी जीव को, कि जो पूर्वोक्त व्यवहार कारणसमयसार और निश्चय कारणसमयसार से रहित है उसे ही संबोधन करते हुये कहते हैं कि हे दुरात्मन् ! जिसकारण से निंदा और प्रशंसा के वचनों से पुद्गल ही परिणत होते हैं उस कारण से तुम कुछ भी नहीं कहे गये हो पुनः हे अज्ञानी ! तुम क्यों रोष करते हो—क्रोध करते हो ?

पुनः व्यवहार-निश्चय कारणसमयसार से रहित अज्ञानी जीव को संबोधन करते हुये कहते

शब्दरूपगंधरसस्पर्शरूपा मनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषयाः कर्तारः, त्वां कर्मतापन्नं किमपि न भणंति । किं न भणंति ? हे देवदत्त ! मां कर्मतापन्नं शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां स्वादय, मां स्पृशेति । पुनरप्यज्ञानी ब्रूते एते शब्दादयः कर्तारो मां किमपि न भणंति, परं किंतु मदीयश्रोत्रादिविषयस्थानेषु समागच्छंति ? आचार्या उत्तरमाहुः—हे मूढ ! न चायाति विनिर्गृहीतुं एते शब्दादिपंचेंद्रियविषयाः । कथंभूताः संतः ? श्रोत्रेन्द्रियादि-स्वकीयस्वकीयविषयभावमागच्छंतः । कस्मात् ? इति चेत् वस्तुस्वभावादिति । यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः स पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां बाह्याभ्यंतररत्नत्रयलक्षणाभ्यां सहितः सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषौ न करोति, किंतु स्वस्थभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थः । यथा पंचेंद्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियसंकल्पवशेन रागद्वेषौ करोत्यज्ञानी जीवः, तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेदरूपे च मनोविषयेऽपि रागद्वेषौ करोति तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि संबोधनं क्रियते तद्यथा—परकीयगुणः शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा । द्रव्यमपि परकीयं कर्तृत्वं । कर्मतापन्नं न भणति हे मनोबुद्धे हे अज्ञानिजनचित्त ! मां कर्मतापन्नं बुध्यस्व जानीहि । अज्ञानी वदति—एवं न ब्रूते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणो द्रव्यं वा

हैं—हे अज्ञानी जीव ! शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शमय जो पंचेंद्रियों के सुंदर या असुंदर विषय हैं वे तुमको यह नहीं कहते हैं कि हे देवदत्त ! 'तुम मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूंघो, मुझे चखो या मेरा स्पर्श करो' इस प्रकार से वे कुछ भी तो नहीं कहते हैं ।

अज्ञानी शिष्य—ये शब्द आदि विषय कर्ताररूप होते हुये मुझे कुछ भी नहीं कहते हैं, किंतु फिर भी ये मेरे कान, आंख आदि विषयों के स्थान में आ जाते हैं ?

आचार्यदेव—हे मूढ ! तुम अज्ञानता से ही ऐसा कह रहे हो । ये शब्द, रस आदि पंचेंद्रियों के जो विषय हैं वे ग्रहण कराने के लिये तो नहीं आते हैं कि 'तुम मुझे ग्रहण करो' वे चलाकर तुम्हें ऐसी प्रेरणा देते हुये नहीं आते हैं प्रत्युत ये कर्ण, चक्षु आदि इंद्रियों के अपने-अपने विषयभाव को प्राप्त होते रहते हैं क्योंकि वस्तु का अपना-अपना स्वभाव होता है । जो परमतत्त्वज्ञानी मुनि हैं वे बाह्य और अभ्यंतर रत्नत्रयलक्षणवाले ऐसे पूर्व कथित व्यवहार और निश्चय कारणसमयसार से सहित होते हुये इष्ट और अनिष्ट शब्द, रूप, रस आदि विषयों में जो कि अपनी-अपनी इंद्रियों में आ रहे हैं, उनमें राग-द्वेष नहीं करते हैं प्रत्युत स्वस्थभाव से अपने शुद्धात्मा के स्वरूप का अनुभव करते रहते हैं ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना । जैसे यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट इंद्रियों के संकल्प के वश से पंचेंद्रियों के विषयों में राग-द्वेष करता है वैसे ही परकीय गुणों के परिच्छेद—जाननेरूप और परद्रव्य से परिच्छेद—जानने योग्य ऐसे मन के विषय में भी राग-द्वेष को करता रहता है उसी अज्ञानी जीव को पुनरपि संबोधन करते हुये कहते हैं—हे मनोबुद्धे ! हे अज्ञानीजनचित्त ! पर के गुण शुभ हों या अशुभ, अथवा चेतन हों या अचेतन, वे तुम्हें यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे जानो—समझो, तथा पर द्रव्य भी यह नहीं कहते हैं कि तुम मुझे जानो ।

परिच्छित्तिसंकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति । तत्रोत्तरं दीयते—स चैव परकीयगुणः परकीयद्रव्यं वा मनोबुद्धिविषयमागतं विनिर्गृहीतुं नायाति । कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबंधस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतोः—यद्वागद्वेषकरणं तदज्ञानं । यस्तु ज्ञानी स पुनः पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणं समयसारं जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थः । एवं तु एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपंचेन्द्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा, कथंभूतस्य ? जाणिद्वयस्स ज्ञातद्रव्यस्य पंचेन्द्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थः । तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूपं ज्ञात्वापि स्वसमंशेषु यच्छब्दे मूढो उपशमे नैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वयं । कथंभूतः ? णिगगहमणा निग्रहमनाः निवारणबुद्धिः । कस्य संबंधित्वेन ? परस्स य परस्य पंचेन्द्रियमनोविषयस्य । कथंभूतस्य ? परकीयशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य । पुनरपि कथंभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य । पुनरपि किं रूपज्ञाज्ञानी जीवः । सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिरूपां बुद्धिमप्राप्तः । वीतरागसहजपरमानंदरूपं शिवशब्दवाच्यं सुखं चाप्राप्त इति । किंच, यथायस्कांतोपलाकृष्टा सूची

शिष्य—ये परद्रव्य या परद्रव्य के गुण मुझे ऐसा तो नहीं कहते हैं कि तुम मुझे जानो—समझो किंतु वे परद्रव्य या परद्रव्य के गुण मेरे मन में जानने की क्रिया के संकल्परूप से स्फुरायमान होते हैं—प्रतिभासित होते हैं ?

आचार्य—वे ही परद्रव्य या परद्रव्य के गुण मन के और ज्ञान के विषय को प्राप्त होते हुये ग्रहण करने के लिये नहीं आते हैं क्योंकि ज्ञेय और ज्ञायक के संबंध को दूर करना—हटाना तो अशक्य ही है अर्थात् जो ज्ञान में झलकें—ज्ञान के विषय हों वे ज्ञेय पदार्थ हैं और ज्ञानस्वरूप—जानने वाला आत्मा ज्ञायक है । ज्ञायक—ज्ञान का या आत्मा का जानने योग्य ज्ञेय वस्तुओं को जानने रूप से तो ज्ञेय—ज्ञायक संबंध है ही है उसको तो दूर किया नहीं जा सकता है । इस हेतु से उनमें जो राग-द्वेष का होना है वह अज्ञान है । जो ज्ञानी हैं वे पुनः पूर्वकथित व्यवहार और निश्चय कारणसमयसार को जानते हुये उनमें हर्ष-विषाद नहीं करते हैं ऐसा यहाँ अभिप्राय है ।

इस पूर्वोक्त प्रकार से मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस आदि तो पाँचों इंद्रियों के विषय हैं । परद्रव्य के गुण और परद्रव्य ये मन के विषय हैं ये सभी पाँचों इंद्रिय और मन के विषयभूत पदार्थ ज्ञातद्रव्य हैं—ज्ञेयद्रव्य हैं । यह मूढ़/बहिरात्मा/अज्ञानी जीव पूर्वोक्त प्रकार से इनके स्वरूप को जानकर के भी उपशम भाव को नहीं प्राप्त होता है, उनके निग्रह की इच्छा नहीं करता है—उनके निवारण की—छोड़ने की बुद्धि नहीं करता है । यह अज्ञानी जीव स्वयं शुद्धात्मा के संवेदनरूप ज्ञान को नहीं प्राप्त करता हुआ, 'शिव' शब्द से वाच्य वीतराग सहज परमानंदरूप सुख को नहीं प्राप्त करता हुआ ही उन पंचेन्द्रिय और मन के विषयभूत शब्दादि विषयों में और परद्रव्य के गुणों में राग-द्वेष करता है ।

स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कांतोपलपाषाणसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थं जीवसमीपं न गच्छन्ति । जीवोऽपि तत्समीपं न गच्छति निश्चयतः किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेण तिष्ठति । एवं वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभावं मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति । हे भगवन् ! पूर्वं बंधाधिकारे भणितं—“एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहि । राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिएहिं भावेहिं ॥ १ ॥” इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादयः इत्युक्तं । अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादयः परेषां शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोधः ? अत्रोत्तरमाह—तत्र बंधाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिताः । अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं । ततः कारणात् पूर्वापरविरोधो

यहाँ विस्तार से कहते हैं कि जैसे चुंबक से खिंची हुई लोहे की सुई अपने स्थान को छोड़कर चुंबक पाषाण के पास आ जाती है वैसे ही शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पंचेन्द्रियों के जो विषय हैं वे चित्त में क्षोभरूप विकृति को करने के लिये जीव के समीप नहीं आते हैं और जीव भी उन विषयों के समीप नहीं जाता है किंतु निश्चय से तो वह अपने स्थान में अपने स्वरूप से ही स्थित रहता है । वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है फिर भी अज्ञानी जीव जो उदासीनभाव को छोड़कर उनमें राग-द्वेष करता है यह उसका अज्ञान ही है ।

शिष्य—हे भगवन् ! पूर्व में आपने बंध अधिकार में कहा था कि “यह ज्ञानी आत्मा शुद्ध है, यह स्वयं रागादि भावों से परिणमन नहीं करता है किंतु अन्य रागादि भावों/दोषों से वह रागादिभावरूप किया जाता है ।”

इत्यादि प्रकार से वहां तो ऐसा ही कहा था, अतः यह ज्ञानी जीव रागादिभावों का अकर्ता है, ये रागादिभाव तो परद्रव्य से उत्पन्न हुये हैं, ऐसा था और यहाँ आप कह रहे हैं कि ये रागादिभाव तो अपनी बुद्धि के दोष से उत्पन्न हुये हैं, अन्य जो शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषय हैं उनका दोष नहीं है, इस प्रकार से इन दोनों कथन में तो पूर्वापर विरोध दिख रहा है ?

आचार्य—इसका उत्तर यह है कि वहाँ उस बंध अधिकार में ज्ञानी जीव की मुख्यता थी, ज्ञानी जीव तो रागादिभावों से परिणमन नहीं करता है इस कारण वे रागादि भाव परद्रव्य से उत्पन्न हुये कहे गये हैं और यहाँ अज्ञानीजीव की मुख्यता है, यह अज्ञानीजीव अपनी बुद्धि के दोष से परद्रव्य के निमित्तमात्र का आश्रय लेकर रागादिभावों से परिणमन कर जाता है इस कारण अन्य पाँच इंद्रियों के विषयों को दूषण नहीं दिया है, ऐसा कथन है

नास्ति इति एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूतं निश्चयकारणसमयसारव्यवहारकारणसमयसारद्वयमजानन् सन्नज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभिः परिणमति । परेषां शब्दादीनां दूषणं नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादशकं गतं ॥ ३९४ से ४०३ ॥

इसलिये इन दोनों कथन में पूर्वापर विरोध नहीं है । ऐसा समझना । इस प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग स्वरूप जो निश्चयकारणसमयसार और व्यवहारकारणसमयसार हैं इन दोनों को नहीं जानता हुआ—नहीं प्राप्त करता हुआ यह अज्ञानी जीव अपनी बुद्धि के दोष से रागादिभावों से परिणमन करता है अतः अन्य शब्दादि विषयों का दोष नहीं है । इस व्याख्यान की मुख्यता से नवमें स्थल में दश गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥ ३९४ से ४०३ ॥

विशेषार्थ—इस टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने 'कारणसमयसार' के दो भेद कर दिये हैं—व्यवहार कारणसमयसार और निश्चय कारणसमयसार । यहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग को व्यवहार कारणसमयसार एवं निश्चय मोक्षमार्ग को निश्चय कारण समयसार कहा है । छठे गुणस्थान में व्यवहार मोक्षमार्ग, व्यवहार कारण समयसार या भेद रत्नत्रय होता है और सातवें आदि गुणस्थानों में निश्चय मोक्षमार्ग, निश्चय कारणसमयसार या अभेद रत्नत्रय होता है । छठे से पूर्व चतुर्थ, पंचम गुणस्थान में व्यवहार कारणसमयसार भी नहीं है पुनः निश्चयकारण समयसार की बात तो बहुत ही दूर है ।

आजकल कुछ निश्चयाभासी ऐसा कह देते हैं कि निश्चयरत्नत्रय, अभेदरत्नत्रय या निश्चय कारणसमयसार तो चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रती को ही हो जाता है सो यह कथन सर्वथा ही गलत है । देखिये, श्रीकुंदकुंददेव द्वारा विरचित पंचास्तिकाय में बहुत ही स्पष्ट कहा हुआ है—

धर्मादी सद्वृत्तं, सम्पन्नं पाणमंगपुष्पगदं ।

चेष्टा तवहि चरिया, व्यवहारो मोक्खमगोत्ति ॥ १६० ॥

धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, अंग-पूर्व सम्बन्धी ज्ञान सो ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति करना सो चारित्र है । इस प्रकार यह व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

श्री अमृतचंद्रसूरि इस गाथा की टीका में कहते हैं—

“ आचारादिसूत्रप्रपंचितविविचयतिवृत्ति—समस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्गः निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते । ”

..... इसमें तप के जो विशेषण दिये हैं वे पंच महाव्रत आदि से समन्वित मुनिचर्या रूप ही हैं। यथा—“आचारादि सूत्रों द्वारा भेदरूप से कहे गये अनेक विध मुनि-आचारों के समस्त समुदायरूप तप में प्रवर्तन करना सो चारित्र है। यह व्यवहारनय के आश्रय से किया जाने वाला मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग के साधन भाव को प्राप्त होता है। अर्थात् इस व्यवहार मोक्षमार्ग से ही निश्चयनयाश्रित मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं।

“इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में साध्य-साधन भाव अतिशयरूप से घटित हो जाता है।”

इसी गाथा नं० १६० की टीका में श्री जयसेनाचार्य के शब्दों में देखिये—

“अथ यद्यपि पूर्वं व्यवहार मोक्षमार्गो व्याख्यातः तथापि निश्चयमोक्षमार्गस्य साधकोऽयमिति पुनरप्यभिधीयते। इति विस्तरः। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतजीवादिपदार्थ—विषये सम्यक्श्रद्धानं ज्ञानं चेत्युभयोः गृहस्थतपोधनयोः समानं। चारित्रं तपोधनानामाचारादिचरण-ग्रन्थविहितमार्गेण प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोग्यं पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिषडावश्यकारिरूपं, गृहस्थानां पुनरुपासकाध्ययनग्रन्थविहितमार्गेण पंचमगुणस्थानयोग्यं दानशीलपूजोपवासादिरूपं दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशनिलयरूपं वा इति व्यवहारमोक्षमार्गलक्षणं। अयं व्यवहारमोक्षमार्गः सुवर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरंगसाधको भवतीति।”

—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुये जीव आदि पदार्थों के संबंध में सम्यक् श्रद्धान करना और जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों में समान होते हैं। परन्तु साधु-तपस्वियों का चारित्र आचारसार आदि ग्रन्थों में कहे गये मार्ग के अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त छठे-सातवें गुणस्थान के योग्य पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति व छह आवश्यक आदिरूप होता है। गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्र में कही गई रीति के अनुसार पंचमगुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा, और उपवास आदि रूप अथवा दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमास्थानरूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है। जैसे अग्नि सुवर्ण पाषाण को सुवर्ण बनाने में निमित्त है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है।

यहाँ श्री जयसेनाचार्य ने श्रावक के व्रतादि को भी व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है सो कथंचित् इस एकदेशव्रत रूप पंचमगुणस्थान योग्य चारित्र को 'कारण कारणसमयसार' कहा है ऐसा समझना।

कम्पं जं पुच्छकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
 ततो णियत्तए अण्ययं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ ३८३ अ० ॥
 कम्पं जं सुहमसुहं जहिं य भावहिं वज्झइ भविस्सं ।
 ततो णियत्तए जो सो पच्चक्खणाणं हवइ चेया ॥ ३८४ अ० ॥
 जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
 तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥ ३८५ अ० ॥

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषं ।
 तस्मान्निवर्तयत्वात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥ ३८३ ॥
 कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
 तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥ ३८४ ॥
 यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं ।
 तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ३८५ ॥

अब यहाँ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना के स्वरूप को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पूर्वकृतं अनेकविस्तरविशेषं यत् शुभाशुभं कर्म) अतीतकाल में किये गये अनेक ज्ञानावरण आदि विस्तार से भेदरूप जो शुभ-अशुभ कर्म हैं (तस्मात् यः तु आत्मानं निवर्तयति) उनसे जो अपनी आत्मा को दूर करता है (सः प्रतिक्रमणं) वह आत्मा प्रतिक्रमण रूप है

- (४०४)—कर्म शुभाशुभ विविध तरह के विस्तारों से युत हैं ।
 पूर्व काल में किए गए सब आत्मा से संयुत हैं ॥
 जो जीवात्मा उन कर्मों से खुद निवृत्त हो जाता ।
 वह निश्चय प्रतिक्रमण रूप निज आत्मा में खो जाता ॥ ३८३ ॥
- (४०५)—जिन भावों से भाविकाल में कर्म शुभाशुभ बंधते ।
 ज्ञानी आत्मा उन भावों से दूर सदा ही रहते ॥
 ऐसे वे ज्ञानी ही निश्चयप्रत्याख्यान कहाते ।
 निश्चयचारित्री मुनि ही यह उच्च अवस्था पाते ॥ ३८४ ॥
- (४०६)—वर्तमान में उदयागत जो कर्म विविध हैं माने ।
 नाना विस्तारों से विस्तृत शुभ या अशुभ बखाने ॥
 जो ज्ञानी उन कर्मों को भी दोष मान तजता है ।
 वह आत्मा निश्चय से आलोचन स्वरूप रहता है ॥ ३८५ ॥

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।

णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥ ३८६ अ० ॥ (चतुष्कम्)

नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।

नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥ ३८६ ॥

आत्मख्यातिः—यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति । स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति । स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति । एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयश्च पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यंतं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति । चारित्रं तु

(च यत् भविष्यत् शुभं अशुभं कर्म यस्मिन् भावे बध्यते) और जो भविष्यत् काल में शुभ-अशुभ कर्म जिस भाव के होने पर बंधेंगे (तस्मात् यः निवर्तते सः चेतयिता प्रत्याख्यानं भवति) उनसे जो दूर होता है वह आत्मा ही प्रत्याख्यानरूप होता है । (च यत् संप्रति शुभं अशुभं अनेकविस्तरविशेष उदीर्ण) और जो वर्तमान काल में शुभ-अशुभ कर्म अनेक प्रकार ज्ञानावरण आदि विस्तार के भेदों सहित उदय में आते हैं (यः चेतयिता तं दोषं चेतयते सः खलु आलोचनं) जो आत्मा उन दोषों का अनुभव करता है वही आत्मा आलोचनास्वरूप है । (यः नित्यं प्रतिक्रामति नित्यं प्रत्याख्यानं करोति च नित्यं आलोचयति) जो इस प्रकार नित्य ही प्रतिक्रमण करता है, नित्य ही प्रत्याख्यान करता है और नित्य ही आलोचना करता है (सः चेतयिता खलु चारित्रं भवति) वह चेतन आत्मा नियम से चारित्रस्वरूप होता है ॥ ३८३ से ३८६ ॥

आत्मख्याति—जो वह आत्मा पुद्गलकर्म के उदय से हुये भावों से अपनी आत्मा को दूर करता है—छुड़ाता है, वह उन भावों के लिये कारणभूत ऐसे पूर्व कर्मों का प्रतिक्रमण करता हुआ स्वयं आप ही प्रतिक्रमणस्वरूप हो जाता है । वही आत्मा उन पूर्वकर्मों के कार्यभूत जो आगामी बंधनेवाले कर्म हैं उनका प्रत्याख्यान करता हुआ—उनका त्याग करता हुआ प्रत्याख्यानरूप हो जाता है । वही आत्मा वर्तमान के कर्म के उदय को अपनी आत्मा से अत्यंत भिन्नरूप से अनुभव करता हुआ आलोचनारूप होता है । इस प्रकार से यह आत्मा ही नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य ही आलोचना करता हुआ पूर्वकर्मों के कार्यों से और आगामी कर्म के कारणभूत भावों से अत्यंत—पूर्णरूप से निवृत्त हो जाता है—छूट जाता है और वर्तमान के कर्म के उदय को अपनी आत्मा से अत्यंत—सर्वथा भेदरूप से उपलब्ध करता हुआ—अनुभव करता हुआ अपने ही ज्ञानस्वभाव आत्मा में निरंतर आचरण करने से—स्थिर हो

(४०७)—इस प्रकार का प्रतिक्रमण जो ज्ञानी आत्मा करता ।

प्रत्याख्यान व आलोचनमय भाव निरन्तर करता ॥

वही जीव निश्चय से चारितवान कहा जाता है ।

क्योंकि वहाँ तो शुक्लध्यान में भेद न रह जाता है ॥ ३८६ ॥

भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ॥ ३८३ । ३८४ । ३८५ । ३८६ ॥

जाने से चारित्रस्वरूप हो जाता है और यह आत्मा चारित्ररूप होता हुआ—निश्चयचारित्ररूप—शुद्धोपयोगरूप होता हुआ अपने ज्ञानमात्र—आत्मा का अनुभव करने से स्वयं—आप ही 'ज्ञानचेतना' हो जाता है ऐसा अभिप्राय समझना ॥ ३८३—३८६ ॥

विशेषार्थ—श्रीकुन्दकुन्ददेव ने नियमसार ग्रंथ में चतुर्थ अध्याय के अंत में कहा है—
एरिसयभावणाए व्यवहारणयस्स होदि चारिणं ।

णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्डु पवक्खामि ॥ ७६ ॥

इस चतुर्थ अध्याय में मुनियों के तेरह प्रकार के चारित्रों का वर्णन करके पंच परमेष्ठी के लक्षण कहे हैं पुनः आचार्यदेव कहते हैं कि—इस प्रकार की भावना में व्यवहारणय का चारित्र होता है अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहेंगे। आगे पांचवें अधिकार में परमार्थ—निश्चय प्रतिक्रमण का कथन है। उसकी एक गाथा देखिये—

मोत्तूण वयणरणं रागादीभाववारणं किच्चा ।

अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि ति पडिकमणं ॥ ८३ ॥

जो—महामुनि "जीवे प्रमादजनिताः" इत्यादि वचनरचना को छोड़कर और रागादि भावों का निवारण करके अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं उनके ही यह निश्चय प्रतिक्रमण होता है। आगे भी "झाणणिलीणो साहू" इत्यादि पदों से ध्यान में—निर्विकल्प समाधि में या शुक्लध्यान में यह निश्चय प्रतिक्रमण होता है।

वहीं निश्चयप्रत्याख्यान के लक्षण में कहा है—

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।

अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥ ९५ ॥

सकल वचन जल्प को छोड़कर अनागत शुभ-अशुभ भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याते हैं उनके यह—निश्चयप्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार निश्चय आलोचना का लक्षण देखिये—

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।

अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोचणं होदि ॥ १०७ ॥

जो नोकर्म कर्म से रहित और विभाव गुण—पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा को ध्याते हैं, उन श्रमणों के ही यह—निश्चय आलोचना होती है।

ये तीनों अधिकार ही निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना नाम के हैं। अतः ये तीनों ही ध्यान में घटित होते हैं। विशेष जिज्ञासुओं को नियमसार प्राभृत ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिये।

उपजाति छंद—ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं ।

अज्ञानसंचेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥ २२४ ॥

उत्थानिका—अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणतस्तपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति;—

(४०४ ज०) कम्पं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं, तु जो सो पडिक्कमणं ॥

(४०५ ज०) कम्पं जं सुहमसुहं जहिं य भवहिं बज्झदि भविस्सं ।
तत्तो णियत्तदे जो, सो पच्चक्ख्वाणं हवे चेदा ॥

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक-विस्तर-विशेषं ।

तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥ ४०४ ॥

कर्म यच्छुभमशुभं, यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।

तस्मान्निवर्तते स, स प्रत्याख्यानं भवति चेदविदा ॥ ४०५ ॥

इसी को काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—यह ज्ञान नित्य ही ज्ञान की संचेतना—अनुभव से ही अत्यंत शुद्ध प्रकाशित होता है और यह बंध तो अज्ञान की संचेतना से दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धि को रोक देता है ॥ २२४ ॥

भावार्थ—ज्ञान की संचेतना का अर्थ है आत्मा का सम्यक्प्रकार से ध्यान करना । जैसा कि कलश काव्य के टीकाकार श्रीशुभचंद्राचार्य ने कहा है—'संचेतनया सम्यग्ध्यानेन' । पुनः अज्ञानसंचेतना के दो भेद हैं—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना । ज्ञान से भिन्न मैं अन्य कार्य को करता हूँ, यह कर्म चेतना है और ज्ञान से भिन्न मैं अन्य को भोगता हूँ यह कर्मफल चेतना है । इसी को आगे टीकाकार स्वयं कह रहे हैं ।

उत्थानिका—निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयालोचना से परिणत हुये तपोधन—महामुनि ही अभेदनय से निश्चयचारित्रस्वरूप होते हैं, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(पुव्वकयं अणेयवित्थरविसेसं जं सुहासुहं कम्पं) पूर्व में किये गये अनेक विस्तार से भेदरूप जो शुभ-अशुभ कर्म हैं (तत्तो जो तु अप्पयं णियत्तदे सो पडिक्कमणं) उनसे जो अपनी आत्मा को हटाता है वही प्रतिक्रमणरूप है (य जं भविस्सं सुहं असुहं कम्पं जहिं भावहिं

यह ध्यान रूप निज ज्ञान नित्य अनुभव से शुद्ध प्रकाशित है ।

अज्ञान चेतना रूप दौड़ता बंध से वह न प्रकाशित है ॥

क्योंकि वह बंध ज्ञान की शुद्धी का निरोध कर देता है ।

ज्ञानीमुनि ज्ञान चेतना से निज ज्ञान शुद्धि वर लेता है ॥ २२४ ॥

(४०६ ज०) जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो वेददि, सो खलु आलोयणं चेदा ॥

(४०७ ज०) णिच्चं पच्चक्खाणं, कुब्बदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि ।
णिच्चं आलोचेदि य, सो दु चरित्तं हवदि चेदा ॥

यच्छुभमशुभमुदीर्णं, संप्रति चानेकविस्तरविशेषं ।

तं दोषं यश्चेतयते, स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ४०६ ॥

नित्यं प्रत्याख्यानं, करोति नित्यमपि यः प्रतिक्रामति ।

नित्यमालोचयति च, स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥ ४०७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—णियत्तदे अण्यं तु जो इहलोकपरलोकाकांक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-
लक्षणनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्व-
सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मके निर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानंदस्वभावसुखरसास्वाद-
समरसीभावपरिणामेन सालंबने भरितावस्थे केवलज्ञानानंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके

अवस्थारूपेण प्रकटितं तत्त्वमिदं ज्ञानं प्रकटितं ॥ ४०६ ॥

वज्झादि) और जो आगामी काल में शुभ-अशुभ कर्म जिस भाव के होने पर बंधेंगे (तत्तो जो नियत्तदे सो चेदा पच्चक्खाणं हवे) उनसे जो दूर होता है वह आत्मा ही प्रत्याख्यानरूप होता है (य जं संपडि अणेयवित्थरविसेसं सुहं असुहं उदिण्णं) और जो वर्तमानकाल में अनेक ज्ञानावरण आदि भेदों युक्त शुभ-अशुभ कर्म उदय में आते हैं (जो तं दोसं वेददि सो चेदा खलु आलोयणं) जो उन दोषों का अनुभव करता है वह आत्मा ही आलोचनारूप है (जो दु णिच्चं पच्चक्खाणं कुब्बदि णिच्चंपि पडिक्कमदि) जो नित्य ही प्रत्याख्यान करता है, नित्य ही प्रतिक्रमण करता है, (य णिच्चं आलोचेदि सो दु चेदा चरित्तं हवदि) और जो नित्य ही आलोचना करता है वही आत्मा चाग्रि है ऐसा कहा है ॥ ४०४ से ४०७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो इहलोक-परलोक की आकांक्षारूप ख्याति, पूजा, लाभ से, देखे, सुने और अनुभव में आये भोगों की आकांक्षास्वरूप निदानबंध आदि समस्त परद्रव्यों के अवलंबन से उत्पन्न हुये शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित है—शून्य है, जो विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले अपने आत्मतत्त्व का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी के अनुभवन रूप ऐसे अभेदरत्नत्रयमय है, जो निर्विकल्प परमसमाधि से उत्पन्न वीतराग सहज परमानंदस्वभावसुख रस के आस्वादरूप समरसी भावमय परिणाम के अवलंबन से सहित है—भरित अवस्थारूप है और जो केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टय की प्रगटता रूप ऐसे

कारणसमयसारे स्थित्वा यः कर्ता, आत्मानं कर्मतापन्नं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? कम्मं जं पुब्बकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ततो शुभाभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृतं यत्कर्म तस्मात् सो पडिक्कमणं स पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमणं भवतीत्यर्थः । णियत्ते जो अनंतज्ञानादिस्वरूपात्मद्रव्य-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिस्वरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा यः कर्ता आत्मानं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावहि बज्झादि भविस्सं ततो शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वादिरागादिपरिणामे सति बध्यते तस्मात् सो पच्चक्खाणं हवे चेदा स एवं गुणविशिष्टस्तपोधन एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यानं भवतीति विज्ञेयं । जो वेददि नित्यानन्दैकस्वभावशुद्धात्म-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखदुःखजीवितमरणादिविषये सर्वोपेक्षासंयमे स्थित्वा यः कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति । किं जानाति । जं यत्कर्म तं तत् । केन रूपेण ? दोसं दोषोयं मम स्वरूपं न भवति । कथंभूतं कर्म ? उट्ठिणं उदयागतं । पुनरपि कथंभूतं ? सुहमसुहं शुभाशुभं । पुनश्च किरूपं ? अणेयवित्थरविसेसं मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं । संपडिय संप्रति काले खलु स्फुटं । सो आलोयणं चेदा स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचनं भवतीति ज्ञातव्यं । णिच्चं पच्चक्खाणं कुत्तदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमति णिच्चं आलोचेदि य निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा यः कर्ता पूर्वोक्तनिश्चय-

कार्यसमयसार को उत्पन्न करने वाला है ऐसा कारण समयसार है । ऐसे कारण समयसार में जो महापुनि स्थित होकर—तन्मय होकर शुभ-अशुभ मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों के भेदों से अनेकप्रकार के विस्तार से विस्तीर्ण, पूर्व में संचित कर्मों से अपनी आत्मा को वापस कर लेते हैं—छुड़ालेते हैं—दूर कर लेते हैं वे ही पुरुष—महासाधु अभेदनय की अपेक्षा से निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हो जाते हैं ऐसा समझना । अनंतज्ञानादि स्वरूप आत्म द्रव्य का सम्यक्श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी आत्मतत्त्व की अनुभूति स्वरूप अभेदरत्नत्रयलक्षण परमसामायिक है, जो पुनि इस परमसामायिक में स्थित होकर, जिस मिथ्यात्व रागादिपरिणामों के होने पर शुभ-अशुभ के भेद से अनेक विस्तार को प्राप्त ऐसे भविष्यत् में जो कर्म बंधने वाले हैं, उन कर्मों से अपनी आत्मा को छुड़ा लेते हैं—दूर कर लेते हैं, इन गुणों से विशिष्ट तपोधन ही अभेदनय की अपेक्षा से निश्चयप्रत्याख्यानस्वरूप होते हैं ऐसा जानना चाहिये । नित्य आनंद ही है एक स्वभाव जिसका, ऐसे शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी के अनुष्ठानरूपचारित्र इन तीनों की एकतारूप ऐसा अभेदरत्नत्रय है, वह सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि के विषय में पूर्णतया उपेक्षारूप होने से उपेक्षासंयम कहलाता है, इस सर्वोपेक्षासंयम में स्थित होकर जो पुनि वेदन करते हैं—अनुभव करते हैं—जानते हैं कि वर्तमान काल में मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतियों के भेद से नानाप्रकार से विस्तार को प्राप्त तथा उदय में आये हुये जो ये शुभ-अशुभ कर्म हैं वे सब दोषरूप हैं वे मेरे स्वरूप नहीं हैं ऐसा अनुभव करने वाले वे चेतयिता पुरुष—महासाधु ही अभेदनय की विवक्षा से निश्चयालोचना स्वरूप

प्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्यं सर्वकालं करोति सो दु चरितं हवदि चेदा स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयचारित्रं भवति । कश्मात् ? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात् । एवं निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टयं गतं ॥ ४०४ से ४०७ ॥

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।

सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्टविहं ॥ ३८७ अ० ॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलं ।

स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ३८७ ॥

होते हैं ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार से निश्चय रत्नत्रय लक्षण वाले ऐसे शुद्धात्मा के स्वरूप में स्थित होकर जो मुनि पूर्वोक्त निश्चय-प्रत्याख्यान, निश्चयप्रतिक्रमण और निश्चयआलोचना के अनुष्ठान को नित्य ही—सदाकाल ही करते रहते हैं वे अनुभवशील पुरुष ही—महामुनि ही अभेदनय से निश्चयचारित्रस्वरूप हो जाते हैं क्योंकि शुद्धात्मा के स्वरूप में चरण करना—चर्या करना—आचरण करना—स्थिर हो जाना इसी का नाम चारित्र है ऐसा आगम का वचन है । इस प्रकार से निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनास्वरूप चारित्र के व्याख्यानरूप से इस आठवें स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥ ४०४ से ४०७ ॥

भावार्थ—इस प्रकार से निश्चयरत्नत्रय, अभेदरत्नत्रय, परमोपेक्षासंयम, सर्वोपेक्षासंयम, परमसामायिक, निर्विकल्पसमाधि, निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चयआलोचना, निश्चयचारित्र और परमसमताभाव ये सब पर्यायवाची शब्द हैं । इसे ही कारण समयसार कहते हैं क्योंकि यह अवस्था छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें तक होती है । वहाँ पर यह कारण समयसार—निश्चयकारण समयसार अंतर्मुहूर्त के भीतर ही घातिया कर्मों का नाश कर कार्य समयसारस्वरूप अर्हत अवस्था को प्राप्त कराकर 'कारण' इस नाम को सार्थक कर लेता है ऐसा समझना ।

अब अज्ञानचेतना को ही आचार्य देव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः तु कर्मफलं वेदयमानः आत्मानं कर्मफलं करोति) जो आत्मा कर्मफल का अनुभव करता हुआ अपनी आत्मा को कर्मफलरूप करता है (सः पुनः अपि दुःखस्य बीजं अष्टविधं तत् बध्नाति) वह पुनः भी दुःख के बीजभूत ऐसे आठ प्रकार के उन कर्मों को बांध

(४०८)—उदयागत कर्मों के फल जो भोग भोगकर प्राणी ।

कर्म तथा उसके विपाक को अपनाता अज्ञानी ॥

तब वह दुःखके बीज अष्ट कर्मों से बंधने लगता ।

पुनः पुनः कर कर्मबन्ध वह जीव जगत में भ्रमता ॥ ३८७ ॥

वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं ।

सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्टविहं ॥ ३८८ अ० ॥

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।

सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्टविहं ॥ ३८९ अ० ॥ (त्रिकलम्)

वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलं ।

स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ३८८ ॥

वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यः चेतयिता ।

स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ३८९ ॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना । सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना । सा तु समस्तापि

लेता है (यः कर्मफलं वेदयमानः मया कर्मफलं कृतं तु जानाति) जो कर्मफल का अनुभव करता हुआ मैंने 'यह कर्मफल किंथा हूँ' ऐसा जानता है (सः पुनः अपि दुःखस्य बीजं अष्टविधं तत् बध्नाति) वह आत्मा पुनरपि दुःख के बीजभूत ऐसे आठ प्रकार के उन कर्मों को बांध लेता है । (यः चेतयिता कर्मफलं वेदयमानः सुखितः च दुःखितः भवति) जो आत्मा कर्मफल को भोगता हुआ सुखी और दुःखी होता है (सः पुनरपि दुःखस्य बीजं अष्टविधं तत् बध्नाति) वह पुनरपि दुःख के बीज ऐसे आठ प्रकार के कर्मों को बांध लेता है ॥ ३८७-३८९ ॥

आत्मख्यातिः—ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करना 'अज्ञानचेतना' है इसके दो भेद हैं—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना । इन दोनों का लक्षण कहते हैं—ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में 'इसको मैं करता हूँ' ऐसा चिंतन करना—अनुभव करना कर्मचेतना है । ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में 'इसका मैं अनुभव करता हूँ, भोगता हूँ' ऐसा अनुभव करना कर्मफल चेतना है । ये

(४०९)—जो अज्ञानी कर्मफलों का वेदन कर यह माने :

मैं ही हूँ इन कर्मफलों का कर्ता ऐसा जाने ।

फिर तो वह आठों प्रकार के कर्म बांधने लगता ।

दुःख बीज बोकर अज्ञानी दुःखमय फल ही चखता ॥ ३८८ ॥

(४१०)—जो आत्मा निज कर्मफलों का वेदन भी करता है ।

एवं उससे निज आत्मा को सुखी दुखी कहता है ।

वह चेतयिता फिर भी दुःख का बीज डालता रहता ।

आठ तरह के कर्म बांधकर अज्ञानी ही रहता ॥ ३८९ ॥

संसारबीजं । संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात् । ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यास-
भावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैकैकं निवर्त्यते । नाटयित्वा ।
तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—

आर्याछंदः—कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।

परिहृत्य कर्म सर्वं परमं निष्कर्म्यमवलम्बे ॥ २२५ ॥

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे
दुष्कृतमिति १ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति
२ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३ ।

दोनों ही भेदरूप अज्ञानचेतना संसार का बीज है—मूलकारण है क्योंकि आठ प्रकार का कर्म ही
संसार का बीज है और अष्टविध कर्मों का बीज अज्ञानचेतना है । इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष
को—मुनि को इस अज्ञानचेतना का नाश करने के लिये संपूर्ण कर्मों के त्याग की भावना को और
संपूर्ण कर्मफल के त्याग की भावना को नृत्य कराते हुये—भाते हुये स्वभावभूत भगवती ऐसी एक
ज्ञानचेतना को ही निरंतर नृत्य कराना चाहिये—भाते रहना चाहिये । उन्हीं में से यहाँ पहले
संपूर्णकर्मों के संन्यास—त्याग की भावना को नचाते हैं—भावित कराते हैं—

काव्यार्थ—त्रिकालविषयक—अतीत, वर्तमान और भावीकाल संबंधी समस्त कर्मों को
मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से छोड़कर मैं परम निष्कर्म अवस्था
का—निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान का अवलम्बन लेता हूँ । २२५ ।

भावार्थ—यहाँ पर ज्ञानी मुनि सर्वकर्मों के त्याग करने की प्रतिज्ञा करता है ऐसा
समझना । इन सर्व कर्मों का त्याग करने के लिये मन, वचन, काय और कृत, कारित,
अनुमोदना की अपेक्षा से उनंचास (४९) भेद हो जाते हैं । इन सूत्रों द्वारा अतीत कालसंबंधी
दोषों को—कर्मों को दूर करना, सो प्रतिक्रमण कहा जाता है । उसे ही दिखलाते हैं—

१. मैंने जिन कर्मों को मन से, वचन से और काय से पूर्व में किया था, कराया था और
जो करते हुये को अनुमोदना दी थी वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे—निष्फल हो जावे ।

२. जो कुछ भी कर्म मैंने मन से और वचन से पहले—अतीत काल में किये हैं, कराये
हैं और करते हुये अन्य को अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे ।

मैं सब त्रिकालविषयक कर्मों को मन वचन से तजता हूँ ।

कृतकारित अनुमोदन पूर्वक सब कर्मभाव परिहरता हूँ ॥

निष्कर्म परम उत्कृष्ट अवस्था का अवलम्बन करता हूँ ।

ज्ञानी मुनि ऐसा कहते मैं शुद्धात्म परम पद वरता हूँ ॥ २२५ ॥

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४। यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ५। यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ६। यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ७। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ८। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ९। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १०। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ११। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १२। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं

३. जो कुछ भी मैंने पूर्वकाल में मन से और काय से किया है, दूसरों से कराया है और करते हुये अन्य किसी को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

४. जो कुछ भी कर्म मैंने वचन से और काय से किये हैं, कराये हैं और करते हुये को अनुमोदना दी है वह सब दुष्कृत मेरा मिथ्या हो जावे।

५. जो कुछ भी कर्म मैंने मन से भूतकाल में किये हैं, कराये हैं और करते हुये को अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

६. जो कुछ भी कर्म मैंने वचन से किये हैं, कराये हैं और करते हुये को अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

७. जो कुछ भी कर्म मैंने काय से किया है, जो कुछ भी कर्म कराया है और जो कुछ भी कर्म करते हुये को अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

८. जो कुछ भी कर्म मैंने भूतकाल में मन से, वचन से और काय से किये हैं और जो कुछ भी कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

९. जो कुछ भी कर्म मैंने मन से, वचन से और काय से किया है और करते हुये को अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

१०. जो कुछ भी कर्म मैंने मन से, वचन से और काय से दूसरों से कराये हैं और करते हुये अन्य को भी अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो जावे।

११. जो कुछ भी कर्म मैंने मन से और वचन से स्वयं किये हैं और दूसरों से कराये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१२. जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म मन से और वचन से मैंने किये हैं, और करते हुये को भी अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १३। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १४। यदहमकार्षं यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १५। यदहमचीकरं यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १६। यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १७। यदहमकार्षं यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १८। यदहमचीकरं यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १९। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २०। यदहमकार्षं यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २१। यदहमचीकरं यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २२। यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति

१३. जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म मन से और वचन से मैंने कराये हैं और करते हुये को भी अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१४. जो कुछ भी कर्म मन से और काय से मैंने किये हैं या कराये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१५. जो कुछ भी कर्म मन और काय से मैंने किये हैं या करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१६. जो कुछ भी कर्म मन से और काय से मैंने कराये हैं या करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१७. जो कुछ भी कर्म वचन से और काय से मैंने किये हैं या कराये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१८. जो कुछ भी कर्म वचन से और काय से मैंने किया है या करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

१९. जो कुछ भी कर्म वचन से और काय से मैंने कराया है और करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२०. जो कुछ भी मैंने मन से किया है और कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२१. जो कुछ भी मैंने मन से किया है और करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२२. जो कुछ भी कर्म मन से मैंने कराया है और करते हुये को भी अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२३। यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २४। यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं २५। यदहमकार्षं यदचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २६। यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २७। यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २८। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २९। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३०। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३१। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३२। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे

२३. जो कुछ भी कर्म वचन से मैंने किया है और कराया है वह सब दुष्कृत मेरा मिथ्या होवे।

२४. जो कुछ भी कर्म वचन से मैंने किया है और करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२५. जो कुछ भी कर्म वचन से मैंने कराये हैं और करते हुये को भी अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२६. जो कुछ भी कर्म काय से मैंने किये हैं और कराये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२७. जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म काय से मैंने किये हैं और करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२८. जो कुछ भी कर्म काय से मैंने कराये हैं और करते हुये को भी अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

२९. जो कुछ भी कर्म मन से, वचन से और काय से मैंने किये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

३०. जो कुछ भी कर्म मन से, वचन से और काय से कराये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

३१. जो कुछ भी कर्म मन से, वचन से और काय से मैंने करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

३२. जो कुछ भी कर्म मन से और वचन से मैंने किये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

दुष्कृतमिति ३३ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३४ । यदहमकार्षं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३५ । यदहमचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३६ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३७ । यदहमकार्षं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३८ । यदहमचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३९ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४० । यदहमकार्षं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४१ । यदहमचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४२ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४३ । यदहमकार्षं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४४ । यदहमचीकरं वाचा च

३३. जो कुछ भी कर्म मन से और वचन से मैंने कराये हैं वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

३४. जो कुछ भी कर्म मन से और वचन से मैंने करते हुये अन्य को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

३५. जो कुछ भी कर्म मन से और काय से मैंने किया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

३६. जो कुछ भी कर्म मन से और काय से मैंने कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

३७. जो कुछ भी कर्म मन से और काय से मैंने करते हुये अन्य को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

३८. जो कुछ भी कर्म वचन से और काय से मैंने किया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

३९. जो कुछ भी कर्म वचन से और काय से मैंने कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४०. जो कुछ भी कर्म वचन से और काय से मैंने करते हुये को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४१. जो कुछ भी कर्म मन से मैंने किया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४२. जो कुछ भी कर्म मन से मैंने कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४३. जो कुछ भी कर्म मन से मैंने करते हुये अन्य को अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४४. जो कुछ भी कर्म वचन से मैंने किया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४५ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४६ । यदहमकार्षं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४७ । यदहमचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४८ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४९ ।

आर्याछंद—मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२६ ॥

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः ।

४५. जो कुछ भी कर्म वचन से मैंने कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४६. जो कुछ भी कर्म मैंने करते हुये अन्य को वचन से अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४७. जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म मैंने काय से किया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४८. जो कुछ भी कर्म मैंने काय से कराया है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

४९. जो कुछ भी कर्म करते हुये अन्य को मैंने काय से अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ।

भावार्थ—इस प्रकार उनंचास सूत्रों द्वारा यह निश्चयप्रतिक्रमण की भावना भायी है । यह निश्चयप्रतिक्रमण की भावना वे ही भाते हैं कि जो व्यवहार प्रतिक्रमण सूत्रों से अपने व्रतों के अतिचार आदि दोषों को दूर करके शुद्ध हो चुके हैं । ये छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती महामुनि ही होते हैं ।

आगे इसी का कलशकाव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—मोह से मैंने जो कुछ भी कर्म किये हैं उन संपूर्ण भी कर्मों का प्रतिक्रमण करके निष्कर्म—सर्वकर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा नित्य ही वर्तन करता हूँ—रहता हूँ । २२६ ।

भावार्थ—अतीत काल में संचित किये गये—बांधे गये जो कुछ शुभ-अशुभ कर्म हैं उन सभी से दूर होने के लिये यह आत्मा अपनी आत्मा में ही स्थिर हो जाता है तभी निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप हो जाता है । उसके पहले निश्चयनय से/ यहाँ एकदेश निश्चयनय से मुनिराज इन

मैंने जो कुछ भी कर्म मोह से किये प्रभो ! निज जीवन में ।

उन सब कर्मों का प्रतिक्रमण करके चाहूँ नवजीवन में ॥

निश्चय प्रतिक्रमण के द्वारा मैं निष्कर्म अवस्था प्राप्त करूँ ।

निज आत्मा में निजके द्वारा रम प्रतिक्रमण फल प्राप्त करूँ ॥ २२६ ॥

न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति २। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ५। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ६। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ७। न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ८। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं

४९ सूत्रों द्वारा उस निश्चयप्रतिक्रमण की भावना भाते हुये उस शुद्धोपयोग में स्थित होने की भूमिका बनाते हैं। यह प्रतिक्रमण—आवश्यक मुनियों और आर्यिकाओं के लिये ही है। हाँ, वृत्तिक श्रावक तो श्रावकप्रतिक्रमण कर सकते हैं न कि मुनियों का। और गृहस्थ श्रावक तो देवपूजा, गुरुपास्ति आदि आवश्यक क्रियाओं के अधिकारी हैं अतः अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना ही साध्य की सिद्धि का उपाय है।

इस प्रकार यह प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ।

अब आलोचना को भी उनंचास सूत्रों द्वारा दिखाते हैं—

१. वर्तमान काल में कुछ भी कर्म को मन से, वचन से और काय से न मैं करता हूँ न कराता हूँ और न मैं करते हुये अन्य किसी को भी अनुमति ही देता हूँ।

२. कुछ भी कर्म को मन से और वचन से न मैं करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुये अन्य को भी अनुमति देता हूँ।

३. मन और काय से कोई भी कर्म न मैं करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

४. वचन से और काय से न मैं कुछ कर्म करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुये अन्य को अनुमति देता हूँ।

५. मन से न मैं कुछ करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुये अन्य को भी अनुमति देता हूँ।

६. वचन से न मैं कुछ करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति देता हूँ।

७. काय से न मैं कुछ करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुये अन्य को भी अनुमति देता हूँ।

८. मन से, वचन से और काय से न मैं कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ९ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १० । न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा चेति ११ । न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १२ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १३ । न करोमि न कारयामि मनसा च कायेन चेति १४ । न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १५ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १६ । न करोमि न कारयामि वाचा च कायेन चेति १७ । न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १८ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १९ । न करोमि न कारयामि मनसा चेति २० । न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २१ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि

९. मन से, वचन से और काय से न मैं कुछ करता हूँ और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देता हूँ।

१०. मन से, वचन से, काय से न मैं कुछ कराता हूँ और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देता हूँ।

११. मन से और वचन से न मैं कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

१२. मन से और वचन से न मैं कुछ करता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को कुछ अनुमति ही देता हूँ।

१३. मन से, वचन से न मैं कुछ कराता हूँ और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देता हूँ।

१४. मन से और काय से न मैं कुछ करता हूँ न कराता ही हूँ।

१५. मन से और काय से न मैं कुछ करता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

१६. मन से और काय से न मैं कुछ कराता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति देता हूँ।

१७. वचन से और काय से न मैं कुछ करता हूँ और न कराता हूँ।

१८. वचन से और काय से न मैं कुछ करता हूँ और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देता हूँ।

१९. वचन से और काय से न मैं कुछ कराता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

२०. मन से न मैं कुछ करता हूँ और न कराता ही हूँ।

२१. मन से न मैं कुछ करता हूँ और न अन्य किसी करते हुये को अनुमति ही देता हूँ।

मनसा चेति २२ । न करोमि न कारयामि वाचा चेति २३ । न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति २४ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति २५ । न करोमि न कारयामि कायेन चेति २६ । न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति २७ । न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति २८ । न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ । न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ । न करोमि मनसा च वाचा चेति ३२ । न कारयामि मनसा च वाचा चेति ३३ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ३४ । न करोमि मनसा च कायेन चेति ३५ । न कारयामि मनसा च कायेन चेति ३६ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३७ । न करोमि वाचा च कायेन चेति ३८ । न कारयामि वाचा च

२२. मन से न मैं कुछ कराता हूँ और न अन्य किसी करते हुये को अनुमति ही देता हूँ।

२३. वचन से न मैं कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

२४. वचन से न मैं कुछ कराता हूँ और न कुछ करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

२५. वचन से मैं न कुछ कराता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

२६. काय से मैं न कुछ करता हूँ और न कराता ही हूँ।

२७. काय से मैं न कुछ करता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

२८. काय से मैं न कुछ कराता हूँ और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देता हूँ।

२९. मन से, वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

३०. मन से, वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं कराता हूँ।

३१. मन से, वचन से और काय से मैं कुछ भी करते हुये अन्य किसी को भी न अनुमति ही देता हूँ।

३२. मन से और वचन से मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

३३. मन से और वचन से मैं कुछ भी नहीं कराता हूँ।

३४. मन से और वचन से मैं कुछ भी करते हुये अन्य किसी को भी अनुमति नहीं देता हूँ।

३५. मन से और काय से मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

३६. मन से और काय से मैं कुछ भी नहीं कराता हूँ।

३७. मन से और काय से मैं कुछ भी कर्म करते हुये अन्य किसी को भी अनुमति नहीं देता हूँ।

३८. वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

कायेन चेति ३९ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४० । न करोमि मनसा चेति ४१ । न कारयामि मनसा चेति ४२ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ४३ । न करोमि वाचा चेति ४४ । न कारयामि वाचा चेति ४५ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ४६ । न करोमि कायेन चेति ४७ । न कारयामि कायेन चेति ४८ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ४९ ।

आर्याछंद—मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२७ ॥

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ।

३९. वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं कराता हूँ ।

४०. वचन से और काय से मैं कुछ भी करते हुये अन्य दूसरे को अनुमति नहीं देता हूँ ।

४१. मन से मैं कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म नहीं करता हूँ ।

४२. मन से मैं कुछ नहीं कराता हूँ ।

४३. मन से मैं कुछ भी करते हुये अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ ।

४४. वचन से मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

४५. वचन से मैं कुछ भी नहीं कराता हूँ ।

४६. वचन से मैं कुछ भी करते हुये अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ ।

४७. काय से मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

४८. काय से मैं कुछ भी नहीं कराता हूँ ।

४९. काय से मैं अन्य करते हुये किसी को भी अनुमति नहीं देता हूँ ।

इसे ही कलश काव्य से कहते हैं—

काव्यार्थ—मोह के विलास से विस्तार को प्राप्त जो यह उदय में आते हुये कर्म हैं उन संपूर्ण कर्मों की आलोचना करके मैं निष्कर्म—कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा ही रहता हूँ—प्रवृत्ति करता हूँ । २२७ ।

भावार्थ—उदय में आते हुये वर्तमान के कर्मों के अनुभव से—सुख-दुःख से या हर्ष-विषाद परिणति से अपने को हटाकर शुद्धोपयोग में—अपनी शुद्धात्मा में स्थिर हो जाना ही

उदयागत मेरे कर्म मोह भावों से ही वृद्धिगत हैं ।

उन सबकी आलोचना करना मुझको ही यहां सुसंगत है ॥

उस निश्चय आलोचन के द्वारा निज स्वभाव को प्राप्त करूँ ।

चैतन्य रूप निज आत्मा में ही कर प्रवृत्ति शिवधाम वरूँ ॥ २२७ ॥

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १।
 न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति २। न करिष्यामि न
 कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न
 कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं
 समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ५। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ६।
 न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ७। न करिष्यामि न कारयिष्यामि
 मनसा च वाचा च कायेन चेति ८। न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च
 कायेन चेति ९। न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १०। न

निश्चय आलोचना है। उस निश्चय आलोचना के लिये यह भावना भूमिका है—परिकर है। इसे
 व्यवहार आलोचना से दोषों को दूर करने वाले महामुनि ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार यह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ है।

अब प्रत्याख्यान के भी उनंचास भेद दिखाते हैं—

१. भविष्यत् काल में मैं मन से, वचन से और काय से न कुछ भी कर्म करूँगा, न
 कराऊँगा और न करते हुये अन्य किसी को अनुमति ही देऊँगा।

२. मन से और वचन से न मैं कुछ करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुये अन्य को भी
 अनुमति ही देऊँगा।

३. मन से और काय से न मैं कुछ करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुये अन्य किसी
 को अनुमति ही देऊँगा।

४. वचन से और काय से न कुछ भी करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुये अन्य को
 अनुमति ही देऊँगा।

५. मन से न कुछ कर्म करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही
 देऊँगा।

६. वचन से न कुछ करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा।

७. काय से न कुछ कर्म करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही
 देऊँगा।

८. मन से, वचन से और काय से न कुछ करूँगा और न कराऊँगा।

९. मन से, वचन से और काय से न कुछ करूँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति
 ही देऊँगा।

१०. मन से, वचन से, काय से न कुछ कराऊँगा, न करते हुये अन्य को अनुमति ही
 देऊँगा।

करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ११ । न करिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति १२ । न कारयिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति १३ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति १४ । न करिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १५ । न कारयिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १६ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति १७ । न करिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १८ । न कारयिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १९ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा चेति २० । न करिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २१ । न कारयिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २२ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा चेति २३ । न करिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २४ । न कारयिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं

११. मन से, वचन से न कुछ करूँगा और न कुछ कराऊँगा ।

१२. मन से, वचन से न कुछ करूँगा न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

१३. मन से और वचन से न कुछ कराऊँगा और न कुछ करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

१४. मन से और काय से न कुछ करूँगा, न कराऊँगा ।

१५. मन से और काय से न कुछ करूँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

१६. मन से और काय से न कुछ कराऊँगा, न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

१७. वचन से और काय से न कुछ करूँगा और न कुछ कराऊँगा ।

१८. वचन से, काय से न कुछ करूँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

१९. वचन से और काय से न कुछ कराऊँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

२०. मन से न कुछ कर्म करूँगा, न कराऊँगा ।

२१. मन से न कुछ करूँगा न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

२२. मन से न कुछ कराऊँगा, न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

२३. वचन से न कुछ करूँगा, न कराऊँगा ।

२४. वचन से न मैं कुछ करूँगा और न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २५ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि कायेन चेति २६ । न करिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २७ । न कारयिष्यामि न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २८ । न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ । न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० । न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ । न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३२ । न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३३ । न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ३४ । न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३५ । न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३६ । न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३७ । न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३८ । न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३९ । न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४० । न करिष्यामि मनसा चेति ४१ । न कारयिष्यामि मनसा चेति ४२ । न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति

२५. वचन से न मैं कराऊँगा, न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

२६. काय से न कुछ करूँगा, न कराऊँगा ।

२७. काय से मैं न कुछ करूँगा, न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

२८. काय से मैं न कुछ कराऊँगा, न करते हुये अन्य को अनुमति ही देऊँगा ।

२९. मन से, वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं करूँगा ।

३०. मन से, वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा ।

३१. मन से, वचन से और काय से मैं कुछ भी करते हुये अन्य को अनुमति भी नहीं देऊँगा ।

३२. मन से, वचन से मैं कुछ भी नहीं करूँगा ।

३३. मन से और वचन से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा ।

३४. मन से और वचन से मैं कुछ भी करते हुये अन्य को भी अनुमति नहीं देऊँगा ।

३५. मन से और काय से मैं कुछ भी नहीं करूँगा ।

३६. मन से और काय से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा ।

३७. मन से और काय से मैं कुछ भी करते हुये अन्य को अनुमति भी नहीं देऊँगा ।

३८. वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं करूँगा ।

३९. वचन से और काय से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा ।

४०. वचन से और काय से मैं अन्य कुछ भी करते हुये को अनुमति नहीं देऊँगा ।

४१. मन से मैं कुछ भी नहीं करूँगा ।

४२. मन से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा ।

४३। न करिष्यामि वाचा चेति ४४। न कारयिष्यामि वाचा चेति ४५। न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ४६। न करिष्यामि कायेन चेति ४७। न कारयिष्यामि कायेन चेति ४८। न कुर्वतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ॥ ४९ ॥

आर्याछंद—प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२८ ॥

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः।

४३. मन से मैं अन्य करते हुये किसी को अनुमति भी नहीं देऊँगा।

४४. वचन से मैं कुछ भी नहीं करूँगा।

४५. वचन से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा।

४६. वचन से मैं कुछ भी करते हुये अन्य को अनुमति भी नहीं देऊँगा।

४७. ज्ञात से मैं कुछ भी नहीं करूँगा।

४८. काय से मैं कुछ भी नहीं कराऊँगा।

४९. काय से मैं अन्य करते हुये किसी को भी अनुमति नहीं देऊँगा।

इस प्रकार से भावीकाल में होने वाले दोष के प्रत्याख्यान—त्यागरूप से ये उनंचास भेद हुये हैं।

अब इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—मोह से रहित हुआ मैं आगामी काल में होने वाले ऐसे संपूर्ण कर्मों का प्रत्याख्यान—त्याग करके—छोड़ करके कर्म से शून्य चैतन्यस्वरूप ऐसी अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा ही वर्तन करता हूँ—स्थित होता हूँ। २२८।

भावार्थ—व्यवहार चारित्र में जो अतिचार, अनाचार आदि दोष लगते हैं उनको शुद्ध करने के लिये ये प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं। उनसे आगे उठकर जो मुनि शुद्धोपयोगी हैं वे निश्चयचारित्र में स्थित होते हुये सर्वकर्मों के बंध उदय को अपनी आत्मा में दोष मानकर भूत, वर्तमान और भावी काल संबंधी उन कर्मों से दूर होने के लिये ये निश्चय प्रतिक्रमण आदि करते हैं। उनंचास भंग कैसे होते हैं ? मन, वचन, काय ये तीन योग हैं और कृत, कारित, अनुमोदना ये भी

मैं मोहरहित हो भानिकर्म की प्रत्याख्यान क्रिया करके।

कर्मों से शून्य निधी चेतन को प्राप्त करूँ उसमें रमके ॥

उसमें ही वर्तन करूँ निजात्मा में ही स्थिर हो जाऊँ।

मैं निश्चय प्रत्याख्यान क्रिया कर उसमें ही फिर खो जाऊँ ॥ २२८ ॥

उपजातिछंद—समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।

विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥ २२९ ॥

तीन हैं। इनमें से मन, वचन, और काय से स्वतंत्र एक-एक के तीन भेद रूप हुये । मनवचन, मनकाय और वचनकाय इन दो-दो के मिलकर द्विसंयोगी तीन भेद हुये और मन, वचन, काय इन तीनों से मिलकर यह त्रिसंयोगी एक भेद हुआ ऐसे ये सात भेद हो जाते हैं। ऐसे ही कृत, कारित, अनुमोदना के स्वतंत्र तीन भेद, कृत कारित, कृतअनुमोदना और कारितअनुमोदना के द्विसंयोगी तीन भेद और कृत कारित अनुमोदना के त्रिसंयोगी एक भेद ये सात भेद हुये। इन दोनों के सात-सात को परस्पर गुणा करने से $7 \times 7 = 49$ उनचास भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार से प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ है।

काव्यार्थ—शुद्धनय का अवलंबन लेने वाला मैं मोह से रहित हुआ पूर्वोक्त प्रकार से तीनों-कालों संबंधि संपूर्ण कर्मों को दूर करके विकार—विभाव भावों से रहित चिच्चैतन्यमात्र अपनी आत्मा का ही अवलंबन लेता हूँ। २२९।

भावार्थ—यह चिंतवन छठे गुणस्थान में होता है इसके बाद वे महामुनि सातवें गुणस्थान में चिंतवन के विकल्पों से रहित ध्यान, ध्याता और ध्येय से परे अपनी शुद्धात्मा के ध्यान में निमग्न हो जाते हैं। यहाँ के इन प्रकरणों से यह स्पष्ट हो रहा है कि यह समयसार ग्रंथ मुनियों के लिये ही है न कि श्रावकों के लिये, क्योंकि यह निश्चयचारित्र प्रधान ग्रंथ है। इस प्रकरण में आचार्यदेव ने कर्मचेतना से दूर होने की विधि बतलाई है अब आगे कर्मफल से दूर होने की विधि बतलाते हैं। जैसे कोई बालक वर्णमाला मात्र सीखकर प्रवेशिका आदि की पुस्तकों को तो पढ़े नहीं, शीघ्र ही शास्त्री, आचार्य आदि के पाठ्यग्रंथ को पढ़ने लगे, अथवा प्रारंभिक आजकल के क्रम से पांचवीं कक्षा आदि के विषय पढ़े नहीं और आगे स्नातक बनना चाहे, वकील या जज आदि बनना चाहे तो असंभव है वैसे ही कोई स्वाध्यायी श्रावकाचार चारित्रग्रंथ, पुराण आदि तो पढ़े नहीं, श्रावकों की क्रियायें दान, पूजन आदि को, अणुवत आदि को तो ग्रहण करे नहीं, और समयसार पढ़कर निश्चयप्रतिक्रमण आदि करने लगे तो वह

मैं शुद्ध रूप निश्चय नय का अवलंबन ले सब कर्म तज्जुं।

हो मोह रहित सब वैभाविक भावों को तज चैतन्य भज्जुं ॥

जब ध्याता, ध्येय व ध्यान रूप से परे अवस्था आती है।

तब निर्विकल्प मुनियों को ही निजतत्त्व प्राप्ति हो पाती है ॥ २२९ ॥

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति—

आर्याछंद—विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।

संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥ २३० ॥

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १ । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २ । नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३ । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४ । नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं

अनधिकृत चेष्टा से एक नये पंथ को ही जन्म देने वाला होगा जैसा कि आजकल देखा जा रहा है। निष्कर्ष यही है कि समयसार ग्रंथ के अधिकारी मुनि-आर्यिकायें ही हैं न कि गृहस्थजन, ऐसा पद-पद पर इसी ग्रंथ में झलकता है।

अब आगे संपूर्ण कर्म के फल की संन्यासभावना—त्यागभावना को दिखलाते हैं—

काव्यार्थ—कर्मरूपी विषवृक्ष के जो फल हैं, वे सब मेरे भोगे बिना ही विगलित हो जावें—नष्ट हो जावें—झड़ जावें। मैं अचल और चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। २३० ।

भावार्थ—सामान्यतया तो ऐसा कथन है कि अपने द्वारा संचित किये गये जो कर्म हैं वे समय के आने पर फल देते ही हैं किंतु यह विशेष कथन है कि कर्म बिना फल दिये भी निर्जीर्ण हो जाते हैं। ये विशेष तपश्चरण आदि के निमित्त से ही झड़ जाते हैं। यहाँ ध्यान भी तप का एक भेद है जो सबसे महान् है, अतः शुद्धात्मा में स्थिर होनेरूप निर्विकल्प ध्यान में ये कर्मोदय अपने आप बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं सिद्धांतग्रंथों में असंख्यातगुण श्रेणी निर्जरा मानी है। यहाँ उसी का माहात्म्य समझना।

१. मैं मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, प्रत्युत चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

२. मैं श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

३. मैं अवधिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

४. मैं मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

इस कर्म रूप विष वृक्ष के फल बिन भोगे ही सब झड़ जावें।

ऐसा हो तपोकर्म मेरा ये मुझे न फल देने पावें ॥

तब मैं चैतन्यमयी आत्मा का ही अनुभव कर पाऊँगा।

शुद्धात्म ध्यान में लीन मुनी बन कर्मनाश कर पाऊँगा ॥ २३० ॥

भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५ । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६ । नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७ । नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८ । नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९ । नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १० । नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११ । नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२ । नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३ । नाहं स्थानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४ । नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे

५. मैं केवलज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६. मैं चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७. मैं अवधिदर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८. मैं अवधिदर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

९. मैं केवलदर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०. मैं निद्रादर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११. मैं निद्रानिद्रादर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२. मैं प्रचलादर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३. मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४. मैं स्थानगृद्धिदर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१. मदछेदस्थानविनोदार्थं व्यापो निद्रा । अस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रा । या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकमदभ्रमादमातम्यापि नेत्रमात्रक्रियासूचिका नैव पुनश्चैतन्यमाना प्रचलाप्रचला ।

नाहं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५६ । नाहं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५७ । नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५८ । नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५९ । नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६० । नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६१ । नाहं कार्यणशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२ । नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३ । नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४ । नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५ ।

५६. मैं चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

५७. मैं पंचेंद्रिय जातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

५८. मैं औदारिक शरीर नाभकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

५९. मैं वैक्रियक शरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६०. मैं आहारक शरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६१. मैं तैजस शरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६२. मैं कर्मण शरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६३. मैं औदारिक शरीर अंगोपांग नायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६४. मैं वैक्रियक शरीर अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६५. मैं आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६ । नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्म-
फलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६७ । नाहमाहारकशरीरबंधननामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव
संचेतये ६८ । नाहं तैजसशरीरबंधननामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६९ । नाहं कार्मणशरीर-
बंधननामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७० । नाहमौदारिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुजे
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७१ । नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
७२ । नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७३ । नाहं तैजसशरीरसंघात-
नामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७४ । नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मा-
नमात्मानमेव संचेतये ७५ । नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७६ । नाहं

६६. मैं औदारिकशरीर बंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६७. मैं वैक्रियक शरीर बंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६८. मैं आहारक शरीर बंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

६९. मैं तैजस शरीर बंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७०. मैं कर्मण शरीर बंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७१. मैं औदारिक शरीर संघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७२. मैं वैक्रियक शरीर संघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७३. मैं आहारक शरीर संघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७४. मैं तैजस शरीर संघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७५. मैं कार्मण शरीर संघात नाभकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७६. मैं सपञ्चतुरस्र संस्थान नायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७७ । नाहं स्वातिसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७८ । नाहं कुब्जसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७९ । नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८० । नाहं हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८१ । नाहं वज्रवृषभनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८२ । नाहं वज्रनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८३ । नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८४ । नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८५ । नाहं कीलिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८६ ।

७७. मैं न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७८. मैं स्वाति संस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

७९. मैं कुब्जक संस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८०. मैं वामन संस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८१. मैं हुंडक संस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८२. मैं वज्र वृषभनाराच संहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८३. मैं वज्रनाराच संहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८४. मैं नाराच संहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८५. मैं अर्धनाराच संहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

८६. मैं कीलक संहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८७ । नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ८८ । नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ८९ । नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९० । नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९१ । नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९२ । नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९३ । नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९४ । नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९५ । नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९६ । नाहमम्लरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९७ । नाहं तिक्तुरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९८ । नाहं

८७. मैं असंप्राप्तसृपाटिका संहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

८८. मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

८९. मैं रूक्षस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९०. मैं शीतस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९१. मैं उष्णस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९२. मैं गुरुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९३. मैं लघुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९४. मैं मृदुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९५. मैं कर्कशस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९६. मैं मधुररस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९७. मैं आम्लरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

९८. मैं तिक्तुरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ।

कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १९१। नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १००। नाहं
 सुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०१। नाहमसुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०२। नाहं
 शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०३। नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०४। नाहं
 पीतवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०५। नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०६। नाहं
 कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०७। नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०८। नाहं
 तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११०।

१९१. मैं कटुकरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१००. मैं कषायले रस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०१. मैं सुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०२. मैं असुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०३. मैं शुक्लवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०४. मैं रक्तवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०५. मैं पीतवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०६. मैं हरित वर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०७. मैं कृष्णवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०८. मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१०९. मैं तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११०. मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १११। नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११२। नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११३। नाहमुपघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११६। नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११८। नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११९। नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२०। नाहं साधारणशरीरनाम-

१११. मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११२. मैं निर्माण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११३. मैं अगुरुलघु नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११४. मैं उपघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११५. मैं परघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११६. मैं आतप नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११७. मैं उद्योत नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११८. मैं उच्छ्वास नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

११९. मैं प्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२०. मैं अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

कर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२१। नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२२। नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२३। नाहं व्रसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२५। नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२७। नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२८। नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२९। नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३०। नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३१। नाहं बादरशरीरनामकर्मफलं भुंजे

१२१. मैं साधारणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२२. मैं प्रत्येकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२३. मैं स्थावर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२४. मैं व्रस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२५. मैं सुभग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२६. मैं दुर्भग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२७. मैं सुस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२८. मैं दुःस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१२९. मैं शुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३०. मैं अशुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३१. मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

चैतन्या० १३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३५। नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३६। नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३७। नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३८। नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३९। नाहमयशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४०। नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४१। नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४२। नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे

१३२. मैं बादरशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३३. मैं पर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३४. मैं अपर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३५. मैं स्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३६. मैं अस्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३७. मैं आदेयनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३८. मैं अनादेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१३९. मैं यशः कीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४०. मैं अयशःकीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४१. मैं तीर्थकर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४२. मैं उच्च गोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

चैतन्या० १४३। नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४४। नाहं लाभान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४५। नाहं भोगान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४६। नाहमुपभोगान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४७। नाहं वीर्यान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ॥ १४८ ॥ ॥३८७-३८९॥

१४३. मैं नीच गोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४४. मैं दानान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४५. मैं लाभान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४६. मैं भोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४७. मैं उपभोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

१४८. मैं वीर्यान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ॥ ३८७ से ३८९ ॥

विशेषार्थ—यहाँ कर्मों के एक सौ अड़तालीस भेदों के फलों से अपनी आत्मा को छुड़ाने का उपदेश है। गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है—

तं पुण अट्टविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ॥

कर्मों के आठ भेद हैं या एक सौ अड़तालीस भेद हैं अथवा असंख्यातलोकप्रमाण भेद हैं।

मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं उनके आवरणों की अपेक्षा मतिज्ञानावरण कर्म के भी तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। ऐसे ही श्रुतज्ञान के पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास आदि की अपेक्षा अथवा ग्यारह अंग, चौदह पूर्व की अपेक्षा बहुत से भेद हैं। उन-उनके आवरणों की अपेक्षा श्रुतज्ञानावरण के उतने ही भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार सभी

कर्मों के भेद-प्रभेद तो होते ही हैं फिर भी एक-एक कर्मों के भेदों में तरतमता आदि की अपेक्षा से या बंध, उदय, सत्त्व आदि को अपेक्षा से असंख्यातों भेद भी माने गये हैं।

यहाँ पर एक सौ अड़तालीस भेदों की अपेक्षा जो सूत्र कहे गये हैं वे निश्चयनय की अपेक्षा से चिंतन करने के लिये ही हैं। अर्थात् मैं इन कर्मों के उदय से प्राप्त हुये सुख-दुःख आदि फल को नहीं भोगता हूँ प्रत्युत मैं निश्चयनय से अपने शुद्ध आत्मा के अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुणों का ही अनुभव करने वाला हूँ। यह चिंतन, अभ्यास या भावना ही जब एकाग्र परिणति को प्राप्त कर लेती है तब उसे ध्यान कहा जाता है। यह ध्यान पदस्थध्यान के अंतर्गत समझना चाहिये।

इन सूत्रों की बार-बार भावना करते रहने से रोग, शोक, उपसर्ग या परिषह आदि के प्रसंगों में अध्यात्मभावना जागृत हो जाती है। मैंने स्वयं अनुभव किया है। सन् १९८५ में मुझे पोतीझरा ज्वर (टाइफाइड) हुआ था उसके बाद लीवर अत्यधिक कमजोर हो जाने से पीलिया हो गई था। विशेष अस्वस्थ अवस्था में भी संस्कारवश मेरे मस्तिष्क में प्रायः दो श्लोक घूमा करते थे वे ये हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी ।

णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि' ॥

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले' ॥

मेरे दीक्षागुरु आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज को मिरगी की बीमारी थी। वे हमेशा स्वाध्याय, ध्यान, जाप्य आदि में लगे रहते थे। मैंने स्वयं देखा है जब उन्हें मिरगी आती तब भी वे या तो उच्चस्वर से स्वाध्याय करने लगते या उपदेश देने लगते थे तभी पता चलता कि आचार्यश्री को मिरगी का दौरा आ गया है। यह था विशेषसंस्कार का प्रभाव।

वास्तव में जब संस्कार के निमित्त से पाषाण की प्रतिमा भी भगवान् बन जाती है तब क्या शुद्धात्मा की भावना के संस्कार से यह आत्मा शुद्ध—परमात्मा नहीं बन सकती है? अवश्य बन सकती है। इस शुद्धात्मा की भावना के संस्कार से धर्मध्यान सिद्ध होगा। पुनः एक न एक दिन किसी न किसी भव में शुक्लध्यान की सिद्धि भी हो जावेगी, इसलिये इन कर्मफल के त्याग की भावना के सूत्रों को पढ़-पढ़कर, भा-भाकर अपनी आत्मा को सतत शुद्धात्म भावना के संस्कार से संस्कारित करते रहना चाहिये।

वसंततिलका—निश्शेषकर्मफलसंन्यसनात्मैव सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।

चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य बहत्वनंता ॥ २३१ ॥

वसंततिलका—यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।

आपातकालरमणीयमुदर्कर्म्यं^१ निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥ २३२ ॥

अब इसे ही कलशकाव्यों में कहते हैं—

काव्यार्थ—पूर्वकृतप्रकार से संपूर्ण कर्मों के फल का त्याग कर देने से, सर्व भिन्न/आत्मा से अतिरिक्त क्रियाओं में विचरण करने से निवृत्त हुये, अचल हुये तथा चैतन्यलक्षण अपने आत्मतत्त्व का अतिशयरूप से अनुभव करते हुये मेरे यह काल की आवली अनंतकाल तक बहती रहे—चलती रहे अर्थात् अनंतोंकाल तक मेरे आत्मतत्त्व का ही अनुभव होता रहे । २३१ ।

भावार्थ—कर्मों के फल का त्याग कर देने से अब मैं पुनः आत्मा के अनुभव से अतिरिक्त अन्य 'करोति' आदि क्रियाओं में नहीं फंसू और अचल होकर—निश्चल होकर अनंत-अनंत काल तक अपनी आत्मा का ही अनुभव करता रहूँ ऐसी भावना महामुनि कर रहे हैं ।

काव्यार्थ—जो पुरुष पूर्व में अज्ञानभाव से उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्ष के फलों को नहीं भोगते हैं वे नियम से स्वतः में ही तृप्त हो जाते हैं । वे वर्तमानकाल में रमणीय और भाव्यकाल में भी सुंदर ऐसे कर्मों से रहित सुखस्वरूप एक विशेष ही अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं । २३२ ।

भावार्थ—कर्म एक विषवृक्ष है अतः उसके फल दुःखदायी—आत्मघाती ही हैं । जो महामुनि इन फलों के अनुभव से शून्य होकर अपनी शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं वे तत्काल में तो सुख का अनुभव करते ही हैं आगे भी आत्मिक सुख का अनुभव करके दशांतर—निर्वाणपद को प्राप्त कर लेते हैं ।

सम्पूर्ण कर्मफल त्याग दिया मैंने स्वातम रस चखने को ।

सब भिन्न क्रियाविचरण भी मैंने तजा निजात्म परखने को ॥

ऐसे अनुभव से युक्त मेरे यह काल आवली चला करे ।

बस काल अनंतों तक मेरे आत्म में समरस बहा करे ॥ २३१ ॥

जो पूर्वभावकृत कर्मरूप विषवृक्ष का फल नहीं चखते हैं ।

वे निश्चित ही निज में तृप्ती या अद्भुतसुख को भरते हैं ॥

इस भव में वे रमणीय और आगामी सुन्दर फल वाले ।

ऐसे कर्मों से रहित एकनिष्कर्म सौख्य ही वे पालें ॥ २३२ ॥

१. सर्व यत्क्रियांतरं शुद्धचेतनातिरिक्तविभावरूपं न तु विहारं नाम शुद्धसंचिते सत्त्वेन भवनं तस्मान्निवृत्ता वृत्तिर्ज्ञानचेतना यस्य तस्य तथाभूतस्येत्यर्थः । २. स्वर्गादिमुखं हि कर्मजन्यं मोक्षे तु तदभावात् अनाकुलत्वलक्षणशर्मसद्भावाच्च निष्कर्मशर्ममयत्वमिति ।

स्वधरा छंद—अत्यंत भाषयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
 प्रस्यष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
 पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
 सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥ २३३ ॥

यशस्थ छंद—इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
 समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ २३४ ॥

काव्यार्थ—अतिशयरूप से—परिपूर्णतया कर्म और कर्म के फल से निरंतर विरतिभाव को भा करके पुनः संपूर्ण अज्ञानचेतना का प्रलय करके, अपने निजरस को प्राप्त ऐसे अपने स्वभाव को पूर्ण करके अपनी ज्ञानचेतना को प्राप्त करते हुये अब इसके बाद प्रशमरस को आनंद सहित हुये सदाकाल पिओ । २३३ ।

भावार्थ—इस कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को दूर करके ज्ञानचेतना को प्राप्त करते हुये हे महामुनियों ! आप सभी महानुभाव अपनी आत्मा से उत्पन्न हुये शांतरस का पान करो, ऐसी यहाँ प्रेरणा दी है ।

काव्यार्थ—यहाँ से अब समस्त वस्तुओं के भिन्नपने का निश्चय करके पृथक् किया गया—समस्त वस्तु से भिन्नरूप ऐसा ज्ञान पदार्थों के विस्तार के साथ गुंफित होने से क्रिया से रहित होकर एक मात्र आकुलता से रहित और जाज्वल्यमान होता हुआ स्थित हो रहा है । २३४ ।

भावार्थ—इस प्रकार कर्म और कर्म के फलों से आत्मा को भिन्न करके सर्व ज्ञेयपदार्थों से भी दूर ज्ञायकमात्र यह ज्ञान अनाकुल हुआ आत्मा में स्थिर हो जाता है । तभी यह पूर्ण केवलज्ञान अवस्था को प्राप्त कर लेता है । यह अवस्था छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती महामुनियों के लिये संभव है । हम और आप इसका श्रद्धान करके, भावना भाते हुये ऐसी अवस्था को ध्येयरूप बनावें तब एक न एक दिन यह अवस्था अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे ।

निज कर्म और उसके फल से अत्यन्त विरति का भाव रहे ।
 फिर पूर्णतया अज्ञानचेतना का प्रलयन कर साम्य बहे ॥
 आनन्द सहित हो हे मुनियों ! समतारस का उपभोग करो ।
 प्रेरित करते आचार्य तुम्हें निज ज्ञानचेतनानुभव करो ॥ २३३ ॥

अब आगे सभी वस्तुओं का भिन्नत्वपना निश्चय करके ।
 निज ज्ञान को बाह्य पदार्थों से बिल्कुल जो पृथक्-पृथक् करते ॥
 सब क्रिया रहित हो एकमात्र आकुलता विरहित शुद्धात्मा ।
 जाज्वल्यमान होकर स्थित है पूर्णज्ञानमय परमात्मा ॥ २३४ ॥

(उत्थानिका) —अथ मिथ्यात्वरागादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादकं कर्मबंधं जनयतीति प्रतिपादयति—

(४०८ ज०) वेदंतो कम्मफलं, अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं ।

सो तं पुणो वि बंधदि, वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥

(४०९ ज०) वेदंतो कम्मफलं, मये कदं जो दु मुणदि कम्मफलं ।

सो तं पुणो वि बंधदि, वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥

(४१० ज०) वेदंतो कम्मफलं, सुहिदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा ।

सो तं पुणो वि बंधदि, वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं यस्तु करोति कर्मफलं ।

स तत्पुनरपि बध्नाति, बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ४०८ ॥

वेदयमानः कर्मफलं, मया कृतं यस्तु जानाति कर्मफलं ।

स तत्पुनरपि बध्नाति, बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ४०९ ॥

वेदयमानः कर्मफलं, सुखितो दुःखितश्च भवति चेतयिता ।

स तत्पुनरपि बध्नाति, बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥ ४१० ॥

अब श्रीजयसेनाचार्य के सरलशब्दों में इन गाथाओं का अभिप्राय पढ़ेंगे ।

उत्थानिका—मिथ्यात्व, रागादि भावों से परिणत जीव की जो अज्ञान चेतना है वही केवलज्ञान आदि गुणों के ढकने वाले ऐसे कर्मबंध को उत्पन्न करती है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु कम्मफलं वेदंतो अप्पाणं कम्मफलं कुणदि) जो आत्मा कर्मफल का अनुभव करता हुआ अपने को कर्मफल रूप कर लेता है (सो पुणोवि दुक्खस्स वीयं अट्ठविहं तं बंधदि) वह फिर से भी दुःख के कारणभूत ऐसे आठ प्रकार के कर्मों का बंध कर लेता है (जो दु कम्मफलं वेदंतो मये कदं कम्मफलं मुणदि) जो कर्म के फल भोगता हुआ "मैंने ये कर्मफल किये हैं" ऐसा मानता है (सो पुणोवि दुक्खस्स वीयं अट्ठविहं तं बंधदि) वह फिर से भी दुःख के बीजभूत ऐसे आठ प्रकार के कर्मों का बंध कर लेता है (जो चेदा कम्मफलं वेदंतो सुहिदो दुहिदो दु हवदि) जो आत्मा कर्मफल को भोगते हुये सुखी और दुःखी होता है (सो पुणो वि दुक्खस्स वीयं अट्ठविहं तं बंधदि) वह पुनरपि दुःख के लिये बीजभूत ऐसे आठ प्रकार के कर्मों का बंध कर लेता है ॥ ४०८ से ४१० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्विविधा भवति । इयं तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्थभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति । मया कृतं कर्मेति च यो भणति । स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति । कथंभूतं ? बीजं कारणं । कस्य ? दुःखस्य । इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्मचेतना व्याख्याता । कर्मचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत् सा बंधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते । उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयनिमित्तेन यः सुखितो दुःखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति । कथंभूतं ? बीजं कारणं । कस्य ? दुःखस्य । इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता । कर्मफलचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासंभवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवं यत् सा बंधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते । इयं

तात्पर्यवृत्तिः—ज्ञान और अज्ञान के भेद से यह चेतना दो प्रकार की होती है । यहाँ मात्र अज्ञान चेतना को तीन गाथाओं के द्वारा कहते हैं—उदय में आये हुये शुभ-अशुभ कर्मों का वेदन करता हुआ—अनुभव करता हुआ अज्ञानी जीव अपने स्वस्थभाव—अपने में स्थिर होने रूप ध्यान से भ्रष्ट होकर—रहित होकर 'ये कर्म मेरे हैं', ऐसा कहता है और मैंने यह कर्म किये हैं, ऐसा जो कहता है वह जीव पुनः उन आठ प्रकार के कर्मों का बंध कर लेता है, ये कर्म ही दुःख के बीज—कारण हैं । इस प्रकार से दो गाथाओं द्वारा अज्ञानरूप कर्म चेतना का व्याख्यान किया गया है ।

प्रश्न—कर्म चेतना का क्या अर्थ है ?

उत्तर—'यह कर्म मेरा है', 'मैंने यह किया है' इत्यादि प्रकार से अज्ञानभाव से इच्छापूर्वक इष्ट-अनिष्टरूप से रागरहित शुद्ध आत्मा के अनुभव से च्युत हुये जीव की जो मन वचन काय की प्रवृत्ति है वही बंध के लिये कारण भूत होने से कर्मचेतना कहलाती है । उदय में आये हुये कर्म के फलों का वेदन करते हुये जब यह जीव अपनी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव नहीं करता है तब मनोज्ञ-अमनोज्ञ इंद्रियों के विषयों के निमित्त से सुखी अथवा दुःखी होता है तभी वह जीव पुनरपि दुःखों के कारणभूत ऐसे आठ प्रकार के कर्मों को बांध लेता है । इस प्रकार एक गाथा द्वारा कर्मफल चेतना का व्याख्यान किया गया है ।

प्रश्न—कर्मफल चेतना का क्या अर्थ है ?

उत्तर—स्वस्थभाव से रहित, अज्ञानभाव के द्वारा यथासंभव प्रगट या अप्रगट स्वभाव से इच्छापूर्वक इष्ट-अनिष्टरूप से हर्ष-विषाद करते हुये जो सुख-दुःख का अनुभव करना है, वह बंध के लिये कारणभूत ऐसी कर्मफल चेतना कहलाती है । ये कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों

कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपाणि त्याज्या बंधकारणत्वादिति । तत्र तयोर्द्वयोः कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्व तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूपं यत्पूर्वं व्याख्यातं तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासंन्यासभावनां नाटयति । कर्मचेतनात्यागभावनां कर्मबंधविनाशार्थं करोतीत्यर्थः । तद्यथा—यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिधं । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति षड्संयोगेनैकभंगः । यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिधं । केन ? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पंचसंयोगेन, एकैकापनयनेन भंगत्रयं भवति । संयोगेनेत्याद्यक्ष-संचारेणैकोनपंचाशब्दज्ञं भवतीति टीकाभिप्रायः । अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यते । कथं ? इति चेत्, कृतं कारितमनुमतमिति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति । कृतकारितद्वयं कृतानुमतद्वयं कारितानुमतद्वयमिति द्विसंयोगेन च भंगत्रयं जातं । कृतकारितानुमतत्रयमिति त्रिसंयोगेनैको भंग इति सप्तभंगी । तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति । मनोवचनद्वयं मनःकायद्वयं वचनकायद्वयमिति द्विसंयोगेन भंगत्रयं जातं ।

भेदरूप भी त्याग करने योग्य हैं क्योंकि ये बंध के लिये कारण हैं । कर्मचेतना और कर्मफलचेतना इन दोनों के मध्य में जो निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना का स्वरूप पहले बतलाया है उन रूप निश्चयचारित्र में स्थित होकर शुद्धज्ञानचेतना के बल से कर्मचेतना के त्याग की भावना को प्रगट करता है अर्थात् कर्मबंध का विनाश करने के लिये कर्मचेतना के त्याग की भावना को करता है ऐसा अभिप्राय है । अब उसे ही दिखलाते हैं—

मन से, वचन से और काय से जो कुछ भी मैंने किया है, मैंने दूसरों से कराया है और करते हुये अन्य प्राणियों को मैंने अनुमति दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे । इस प्रकार यह छहसंयोगी एक भंग हुआ ।

मन से और वचन से जो कुछ भी मैंने किया है, मैंने कराया है और करते हुये अन्य प्राणी को अनुमोदना दी है वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे । यह पंचसंयोगी एक भंग है । इसी प्रकार से एक-एक को कम करने से पंचसंयोगी तीन भंग हो जाते हैं । इस तरह संयोग करने पर अक्ष संचार के द्वारा सर्व उनंचास भंग हो जाते हैं । यही टीकाकार श्रीअमृतचन्द्रसूरि का अभिप्राय है ।

अथवा इन्हीं भंगों को सरल उपाय से दिखलाते हैं—

कृत, कारित और अनुमोदना ये अलग-अलग तीन भंग हैं । कृत कारित, कृत अनुमोदना और कारित अनुमोदना, ये द्विसंयोगी तीन भंग हुये और कृत कारित अनुमोदना यह त्रिसंयोगी एक भंग हुआ इस प्रकार ये सात भंग हुये हैं । उसी प्रकार से मन, वचन और काय से ये प्रत्येक—अलग-अलग तीन भंग हैं । मन वचन, मन-काय और वचनकाय ये द्विसंयोगी तीन भंग हैं और मनवचनकाय को मिलाकर त्रिसंयोगी एक भंग हुआ, इस तरह ये भी सात भंग हो गये हैं ।

मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसंयोगेनैको भंग इयमपि सप्तभंगी । कृतं मनसा सह, कृतं वाचा सह, कृतं कायेन सह, कृतं मनोवचनद्वयेन सह, कृतं मनःकायद्वयेन सह, कृतं वचनकायद्वयेन सह, कृतं मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभंगी जाता यथा । तथा कारितेऽपि, तथा अनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमतद्वयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तभंगी योजनीया । एवं—एकोनपञ्चाशदङ्गा भवतीति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः । इदानीं प्रत्याख्यानकल्पः कथ्यते—तथाहि—यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वतमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैको भंगः । यथा यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वतमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पञ्चसंयोगेन भंगत्रयं भवति एवं पूर्वोक्तक्रमेण—एकोनपञ्चाशदङ्गा ज्ञातव्याः । इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः । इदानीमालोचनाकल्पः कथ्यते तद्यथा—यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वतमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि । केन ? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत्

मन के साथ कृत—करना वचन के साथ करना, काय के साथ करना, मन वचन के साथ करना, मन काय के साथ करना, वचन काय के साथ करना और मनवचन काय के साथ करना । इस प्रकार 'कृत' की विवक्षा से सप्तभंगी हो गई । उसी प्रकार से कारित में भी सात भंग लेना, अनुमति में भी सात भंग लेना, कृत कारित द्वय में भी सात भंग लेना, कृत अनुमति द्वय में भी सात भंग लेना, कारित अनुमति द्वय में भी सात भंग लेना और कृतकारित अनुमति इन त्रिसंयोगों में भी सात भंग लेना इस तरह से सात बार सात भंग होने से उनचास भेद हो जाते हैं । यह उनचास भेदरूप प्रतिक्रमणकल्प समाप्त हुआ है ।

अब प्रत्याख्यानकल्प को कहते हैं—मन से, वचन से, काय से मैं जो कुछ भी भविष्य में करूँगा, मैं जो कुछ भी कराऊँगा और मैं जो कुछ भी अन्य किसी करते हुये प्राणी को अनुमति देऊँगा, वे सब मेरे दुष्कृत मिथ्या होंगे । यह पूर्व के समान षट्संयोगी एक भंग हुआ । उसी प्रकार से मन से और वचन से जो कुछ भी मैं करूँगा, जो कुछ भी मैं कराऊँगा और जो कुछ भी करते हुये अन्य प्राणी को अनुमति देऊँगा वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे, यह पञ्चसंयोगी भंग हुआ ऐसे ही एक-एक को कम करने से पञ्चसंयोगी दो भंग और हो जाने से पञ्चसंयोगी तीन भंग होते हैं । ऐसे ही पूर्वोक्त प्रकार के क्रम से उनचास भंग जानने चाहिये, इस तरह प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

अब आलोचना कल्प को कहते हैं—मन से, वचन से और काय से जो कुछ भी मैं करता हूँ, जो कुछ भी मैं कराता हूँ और जो कुछ भी करते हुये अन्य प्राणी को मैं अनुमति

षट्संयोगेनैकभंगः। तथा यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वतमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि, केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति—एकैकापनयनेन पंचसंयोगेन भंगत्रयं भवति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपंचाशद्विंशतिं ज्ञातव्याः। इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः। कल्पः पर्वपरिच्छेदोऽधिकारोऽध्यायः प्रकरणमित्याद्ये-कार्था ज्ञातव्याः। एवं निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना समाप्ता। इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनाबलेन कर्मफलचेतनासंन्यास-भावनां नाटयति करोतीत्यर्थः। तद्वत्—नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये सम्यगनुभवे इत्यर्थः। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ?

देता हूँ वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे, पूर्ववत् यह षट्संयोगी एक भंग हुआ। उसी प्रकार से मन से और वचन से जो कुछ भी मैं करता हूँ, जो कुछ भी मैं कराता हूँ और जो कुछ भी करते हुये अन्य प्राणी को मैं अनुमति देता हूँ वह सब दुष्कृत मेरा मिथ्या होवे, इस प्रकार एक-एक को कम करने से पंचसंयोगी तीन भंग हुये, ऐसे ही पूर्वोक्त क्रम से उनचास भंग जानना चाहिये। इस तरह यह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

कल्प, पर्व, परिच्छेद, अधिकार, अध्याय और प्रकरण से सब पर्यायवाची शब्द जानने चाहिये। इस प्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चयालोचना के प्रकार से शुद्धज्ञानचेतना की भावनारूप से दो गाथाओं द्वारा यह कर्मचेतना के त्याग की भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब शुद्धज्ञानचेतना की भावना के बल से कर्मफल चेतना के त्याग की भावना को दिखाते हैं—

मैं मतिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ।

प्रश्न—तो क्या करता हूँ ?

उत्तर—शुद्ध चैतन्य स्वभाव अपनी आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से अनुभव करता हूँ।

मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ प्रत्युत शुद्धचैतन्यस्वभाव अपनी आत्मा को ही सम्यक् प्रकार से अनुभव करता हूँ।

मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ प्रत्युत शुद्ध चैतन्यस्वभाव अपनी आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से अनुभव करता हूँ।

मैं मनः पर्ययज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ प्रत्युत शुद्ध चैतन्यस्वभाव अपनी आत्मा का ही अच्छी तरह से अनुभव करता हूँ।

शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । इति पंचप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । एवं टीकाकथितक्रमेण—“पण णव दु अट्ठोसा चउ तिय णउदीय दुण्णि पंचेव । नावण्णहीण वियसय पयडिंविणासेण होति ते सिद्धा” ॥ १ ॥ इमां गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थः । किंच अगत्यकाल-त्रयसंबंधिमनोवचनकायकृतकारितानुमतख्या-तिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यावलंबनोत्पन्नशुभाशुभ-संकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजपरमानंद-रूपसुखरसा-स्वादपरमसमरसोभावानुभवसालंबनेन भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेय-भूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टंभेन कृत्वा कर्मचेतना-

मैं केवलज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, प्रत्युत शुद्धचैतन्यस्वभाव अपनी आत्मा का ही अच्छी तरह से अनुभव करता हूँ ।

इस प्रकार पांच ज्ञानावरणीयरूप से कर्मफल चेतना के त्याग की भावना का व्याख्यान किया गया है ।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, पुनः क्या करता हूँ ? शुद्धचैतन्यस्वभाव अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार श्री अमृतचंद्रसूरि की टीका के कथित क्रम से 'पांच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवे, दो और पांच' इन एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों के नाश से सिद्ध होते हैं । इस गाथा का आश्रय लेकर एक सौ अड़तालीस प्रमाण उत्तर प्रकृतियों के फल के त्याग की भावना को करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जो तीनों जगत् में और तीनों कालों संबंधी मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदना से ख्याति, पूजा, लाभ के लिये देखे हुये, सुने हुये और अनुभव में आये हुये ऐसे भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध आदि समस्त परद्रव्यों के अवलंबन से उत्पन्न हुये शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित है—शून्य है, चिदानंद एक स्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान, उसी आत्मतत्त्व का ज्ञान और उसी में आचरणरूप ऐसे अभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुये वीतराग सहज परमानंदरूप सुखरसास्वादमय परमसमरसो-भाव के अनुभव के अवलंबन से परिपूर्ण है—भरित अवस्थारूप है और जो केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय की प्रगटतारूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसमयसार का उत्पादक है ऐसा यह निश्चय कारण-समयसार शुद्धज्ञान चेतना की भावना के अवलंबन से सहित है । इस शुद्धज्ञान चेतना के बल से मोक्षार्थी पुरुषों को—मुनियों को कर्म चेतना के त्याग की भावना को और कर्मफल चेतना के त्याग की

संन्यासभावना कर्मफलचेतनासंन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः । एवं गाथाद्वयं कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन, गार्थिका कर्मफलचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतं ॥४०८-४१०॥

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा वित्ति ॥ ३९० अ० ॥

सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा वित्ति ॥ ३९१ अ० ॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विदन्ति ॥ ३९० ॥

शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विदन्ति ॥ ३९१ ॥

भावना को करते रहना चाहिये ऐसा यहाँ अभिप्राय है । इस तरह कर्मचेतना के त्याग की भावना की मुख्यता से दो गाथाएं और कर्म फल चेतना के त्याग की भावना की मुख्यता से एक गाथा हुई सो इस दसवें स्थल में ये तीन गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥ ४०८ से ४१० ॥

यह ज्ञान सर्ववस्तुओं से पृथक् है, ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्मात् शास्त्रं किंचित् न जानाति) शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् शास्त्रं अन्यत् जिनाः विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और शास्त्र भिन्न है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं । (शब्दः ज्ञानं न भवति यस्मात् शब्दः किंचित् न जानाति) शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् शब्दं अन्यं जिनाः विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और शब्द भिन्न है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं । (रूपं ज्ञानं न भवति यस्मात् रूपं किंचित् न जानाति) रूप ज्ञान

(४११)—जिनवाणी का रूप शास्त्र अरु ज्ञान एक सम नहीं हैं ।

शास्त्र मात्र कुछ नहीं जानता चूँकी वह तो जड़ है ॥

अतः ज्ञान तो भिन्न वस्तु आत्मा का गुण कहलाया ।

तथा शास्त्र भी अन्य पदार्थ जिनवर ने बतलाया ॥ ३९० ॥

(४१२)—पुद्गल की शब्दावलियाँ भी ज्ञान नहीं हो सकतीं ।

क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानते जड़ता उनमें रहती ॥

अतः ज्ञान तो भिन्न वस्तु आत्मा का गुण कहलाया ।

तथा ज्ञान से भिन्न शब्द है जिनवर ने बतलाया ॥ ३९१ ॥

रूपं णाणं ण हवइ जह्या रूपं ण याणए किंचि ।
 तह्या अण्णं णाणं अण्णं रूपं जिणा विंति ॥ ३९२ अ० ॥
 वण्णो णाणं ण हवइ जह्या वण्णो ण याणए किंचि ।
 तह्या अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥ ३९३ अ० ॥
 गंधो णाणं ण हवइ जह्या गंधो ण याणए किंचि ।
 तह्या अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥ ३९४ अ० ॥

रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विदंति ॥ ३९२ ॥

वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विदंति ॥ ३९३ ॥

गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विदंति ॥ ३९४ ॥

नहीं है क्योंकि वह रूप कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् रूपं अन्यत् जिना विदंति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और रूप भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (वर्णो ज्ञानं न भवति यस्मात् वर्णो किंचित् न जानाति) वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् वर्णं अन्यं जिना विदंति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और वर्ण भिन्न है ऐसा

(४१३)—पुद्गल मूर्तिक रूप ज्ञानमय कभी नहीं हो सकता ।

रूप न कुछ जाने स्वरूप को क्योंकि उसमें जड़ता ॥

अतः ज्ञान है भिन्न वस्तु आत्मा का गुण कहलाया ।

तथा ज्ञान से भिन्न रूप गुण जिनवर ने बतलाया ॥ ३९२ ॥

(४१४)—पुद्गल का गुण वर्ण ज्ञानमय नहीं कहा जा सकता ।

क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता उसमें केवल जड़ता ॥

अतः ज्ञान को भिन्न वस्तु आत्मा का गुण बतलाया ।

तथा ज्ञान से भिन्न वर्ण को जिनवर ने समझाया ॥ ३९३ ॥

(४१५)—इसी तरह से गंध कभी नहीं ज्ञानरूप हो सकता ।

गंध न जाने निज सुगंध भी उसमें नहीं चेतनता ॥

अतः ज्ञान तो सदा भिन्न आत्मा का गुण कहलाया ।

तथा ज्ञान से भिन्न गन्ध को जिनवर ने बतलाया ॥ ३९४ ॥

ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥ ३९५ अ० ॥

फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ ३९६ अ० ॥

कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥ ३९७ अ० ॥

न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विदन्ति ॥ ३९५ ॥

स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विदन्ति ॥ ३९६ ॥

कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विदन्ति ॥ ३९७ ॥

जिनेन्द्रदेव कहते हैं (गंधः ज्ञानं न भवति यस्मात् गंधः किंचित् न जानाति) गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् गंधं अन्यं जिना विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और गंध भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (रसः तु ज्ञानं न भवति यस्मात् तु रसः किंचित् न जानाति) रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत्

(४१६)—रसना का गुण रस न कभी भी ज्ञानमयी हो सकता ।

रस न जानता निज रस को भी उसका गुण है जड़ता ॥

अतः ज्ञान तो भिन्न वस्तु आत्मा का गुण कहलाया ।

तथा ज्ञान से सदा भिन्न रस जिनवर ने बतलाया ॥ ३९५ ॥

(४१७)—पुद्गल का संस्पर्श गुण नहीं ज्ञानरूप बन सकता ।

रूप न जाने निज स्वरूप को उसमें नहिं चेतनता ॥

अतः सभी से भिन्न ज्ञान बस स्वातन्त्र्यगुण कहलाया ।

तथा ज्ञान से स्पर्शन को भिन्न सदा बतलाया ॥ ३९६ ॥

(४१८)—पुद्गल निर्मित कर्म कभी नहिं ज्ञानरूप बन सकते ।

क्योंकि कर्म कुछ नहीं जानते सदा अचेतन रहते ॥

अतः सभी से भिन्न ज्ञान आत्मा का गुण कहलाया ।

तथा ज्ञान से भिन्न कर्म है जिनवर ने बतलाया ॥ ३९७ ॥

धम्मो णाणं ण हवइ जह्या धम्मो ण याणए किंचि ।
 तह्या अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विति ॥ ३९८ अ० ॥
 णाणमधम्मो ण हवइ जह्या-धम्मो ण याणए किंचि ।
 तह्या अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विति ॥ ३९९ अ० ॥
 कालो णाणं ण हवइ जह्या कालो ण याणए किंचि ।
 तह्या अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विति ॥ ४०० अ० ॥

धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विदन्ति ॥ ३९८ ॥
 ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विदन्ति ॥ ३९९ ॥
 कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
 तस्मादन्यद् ज्ञानमन्यं कालं जिना विदन्ति ॥ ४०० ॥

रसं च अन्यं जिना विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और रस भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (स्पर्शः ज्ञानं न भवति यस्मात् स्पर्शः किंचित् न जानाति) स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् स्पर्शं अन्यं जिना विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और रस स्पर्श भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात् कर्म किंचित् न

- (४१९)—सदा अचेतन धर्मद्रव्य नहीं ज्ञानरूप बन सकता ।
 क्योंकि धर्म कुछ नहीं जानता उसमें नहीं चेतनता ॥
 अतः धर्म से भिन्न ज्ञान चेतन का गुण कहलाया ।
 तथा ज्ञान से भिन्न धर्म को जिनवर ने बतलाया ॥ ३९८ ॥
- (४२०)—यूं ही द्रव्य अधर्म कभी नहीं ज्ञान रूप बन सकता ।
 वह अधर्म कुछ नहीं जानता क्योंकि उसे है जड़ता ॥
 अतः सभी से भिन्न ज्ञान चेतन का गुण कहलाया ।
 तथा ज्ञान से भिन्न अधर्म है जिनवर ने बतलाया ॥ ३९९ ॥
- (४२१)—कालद्रव्य भी कभी नहीं इस ज्ञानमयी बन सकता ।
 क्योंकि काल कुछ नहीं जानता उसमें नहीं चेतनता ॥
 अतः इन्हों से भिन्न ज्ञान आत्मा का गुण कहलाया ।
 तथा ज्ञान से भिन्न काल को जिनवर ने बतलाया ॥ ४०० ॥

आयासंपि ण णाणं जह्या यासं ण याणए किंचि ।
 तह्यायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विति ॥ ४०१ अ० ॥
 णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्या ।
 तह्या अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ ४०२ अ० ॥
 जह्या जाणइ णिच्चं तह्या जीवो दु जाणओ णाणी ।
 णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥ ४०३ अ० ॥

आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित् ।
 तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विदन्ति ॥ ४०१ ॥
 नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥ ४०२ ॥
 यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जोवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
 ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥ ४०३ ॥

जानाति) कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् कर्म अन्यत् जिना विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और कर्म भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (धर्मः ज्ञानं न भवति यस्मात् धर्मः किंचित् न जानाति) धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्मद्रव्य कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् धर्म अन्यं जिना विदन्ति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और

- (४२२)---इसी तरह आकाश द्रव्य भी ज्ञान नहीं बन सकता ।
 वह तो कुछ भी नहीं जानता क्योंकि उसमें जड़ता ॥
 अतः सभी से भिन्न ज्ञान चेतन का गुण कहलाया ।
 तथा ज्ञान से भिन्न द्रव्य आकाश सदा बतलाया ॥ ४०१ ॥
- (४२३)---उसी तरह से अध्यवसान भी ज्ञान नहीं बन सकते ।
 वे तो कुछ भी नहीं जानते क्योंकि अचेतन रहते ॥
 अतः सभी से भिन्न ज्ञान चेतन का गुण कहलाया ।
 अध्यवसान ज्ञान से है सर्वदा भिन्न बतलाया ॥ ४०२ ॥
- (४२४)---जीव द्रव्य तो सदा जानता इसीलिए ज्ञायक है ।
 वह तो ज्ञानी ही रहता नहि शेष द्रव्य ज्ञायक हैं ॥
 ज्ञान भाव तो निज ज्ञायक से भिन्न नहीं है रहता ।
 ऐसा जानो हे भव्यात्मन् ! तुझमें ही प्रभु रहता ॥ ४०३ ॥

णाणं सम्पादिद्वि दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।

धम्माधम्मं च तथा पव्वज्जं अब्भुवंति बुधा ॥ ४०४ अ० ॥ (पञ्चदशकम्)

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।

धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयाति बुधाः ॥ ४०४ ॥

आत्मख्यातिः—न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञान-
शब्दयोर्व्यतिरेकः । न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो

धर्मद्रव्य भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। (अधर्मः ज्ञानं न भवति यस्मात् अधर्मः किंचित् न जानाति) अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् अधर्मं अन्यं जिना विदंति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और अधर्मद्रव्य भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (कालः ज्ञानं न भवति यस्मात् कालः न किंचित् जानाति) कालद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि कालद्रव्य कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् कालं अन्यं जिना विदंति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और कालद्रव्य भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (आकाशं अपि ज्ञानं न भवति यस्मात् आकाशं न किंचित् जानाति) आकाशद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाशद्रव्य कुछ भी नहीं जानता है (तस्मात् आकाशं अन्यत् ज्ञानं अन्यत् जिना विदंति) इसलिये आकाशद्रव्य भिन्न है और ज्ञान भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (अध्यवसानं ज्ञानं न यस्मात् अध्यवसानं अचेतनं) अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है (तस्मात् ज्ञानं अन्यत् तथा अध्यवसानं अन्यत्) इसलिये ज्ञान भिन्न है और उसी प्रकार अध्यवसान भी भिन्न है (यस्मात् नित्यं जानाति तस्मात् जीवः तु ज्ञायकः ज्ञानी) जिस हेतु से ऐसा नित्य जानता है उसी हेतु से यह जीव तो जानने वाला ज्ञानी है (च ज्ञानं ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं) और ज्ञान ज्ञायक/आत्मा से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। (ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं अंगपूर्वगतं सूत्रं च धर्माधर्मं तथा प्रव्रज्यां) ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, संयम है, अंग-पूर्वगत सूत्र है और धर्म-अधर्म है तथा दीक्षा भी है। (बुधाः अभ्युपयाति) ऐसा ज्ञानीजन स्वीकार करते हैं—मानते हैं ॥ ३९० से ४०४ तक ॥

आत्मख्याति—श्रुत—शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये श्रुत में और ज्ञान में भेद है। शब्द ज्ञान नहीं है अचेतन होने से, इसलिये शब्द और ज्ञान में भेद है। रूप ज्ञान नहीं

(४२५)—अतः ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि और ज्ञान संयम है।

अंगपूर्वगत सूत्र ज्ञान ही वह ही द्रव्य धरम है ॥

ज्ञान ही निश्चय से अधर्म दीक्षा भी ज्ञानमयी है।

महा तपस्वी ज्ञानी मुनि ने मानी विधी यही है ॥ ४०४ ॥

ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः । न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः । न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः । नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः । नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः । इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः, न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शङ्कनीयः । एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्रम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्र्यस्थितित्वरूपं

है अचेतन होने से, इसलिये रूप में और ज्ञान में भेद है । वर्ण ज्ञान नहीं है अचेतन होने से, इसलिये वर्ण और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से गंध ज्ञान नहीं है, इसलिये गंध और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से रस ज्ञान नहीं है, इसलिये रस और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से स्पर्श ज्ञान नहीं है, इसलिये स्पर्श और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से कर्म ज्ञान नहीं है, इसलिये कर्म और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये धर्म और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये अधर्म और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से कालद्रव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये काल और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से आकाशद्रव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये आकाश में और ज्ञान में भेद है । अचेतन होने से अध्यवसान—विभावपरिणाम ज्ञान नहीं है इसलिये अध्यवसान और ज्ञान में भेद है । इस प्रकार से सभी परद्रव्यों के साथ ज्ञान में भेद है ऐसा निश्चय से सिद्ध करके देखना चाहिये । अब कहते हैं कि—

जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि वह चेतन है, इसलिये ज्ञान और जीव में अभेद है किंतु जीव स्वयं ज्ञानरूप होने से वह ज्ञान से भिन्न है ऐसी आशंका कभी भी नहीं करनी चाहिये । ऐसा सिद्ध हो जाने पर तो ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि आत्मा है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही ग्यारह अंग-चौदहपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है और ज्ञान ही दीक्षा है इस प्रकार ज्ञान में ही जीव की पर्यायों के साथ अभेद है ऐसा निश्चय से साधित किया गया जानना चाहिये ।

इस प्रकार यह ज्ञान जब सर्व परद्रव्यों के साथ भेद के द्वारा अथवा सर्व सम्यग्दर्शन आदि जीव के स्वभावों के साथ अभेद के द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों को दूर करता हुआ, अनादिकालीन अविद्या है मूलकारण जिसमें, ऐसे पुण्य-पाप रूप परसमय का वमन करके स्वयं ही दीक्षारूप—दिगंबर मुद्रा की स्वीकार करके दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य में स्थिति स्वरूप—निश्चय रत्नत्रयरूप स्वसमय को प्राप्त कर लेता है तब यह आत्मा या ज्ञान मोक्षमार्ग को अपनी आत्मा में ही परिणत करके—साक्षात् मोक्षमार्गस्वरूप बन करके, प्राप्त कर लिया है संपूर्ण विज्ञानधनभाव को

स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानघनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमेव स्थितं द्रष्टव्यं ॥ ३९०-४०४ ॥

जिसने—पूर्णज्ञानस्वरूप होकर त्याग और ग्रहण से शून्य—निर्विकल्पस्वरूप साक्षात् समयसार भूत-परमार्थरूप शुद्धज्ञान एकरूप से ही स्थित हो जाता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ३९० से ४०४ ॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा ३९० में श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं—“शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।” पुनः इसी संदर्भ में ही गाथा ४०४ में कहते हैं—“ज्ञान सध्यर्द्रष्टि है, संयम है, अंग-पूर्वरूप सूत्र है, धर्म-अधर्म है और ज्ञान ही प्रव्रज्या है ऐसा बुद्धिमान् स्वीकार करते हैं।”

इसी बात को टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—“ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं,”

यह परस्पर विरोधी कथन नहीं है क्योंकि यहाँ शास्त्र—शब्द लिपिबद्ध शास्त्र विवक्षित है वे तो स्पष्टतया अचेतन ही हैं ऐसे ही द्रव्यश्रुतरूप द्वादशांग भी अचेतन ही है। किंतु शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन से जो उसका अर्थबोध होता है वह चेतन आत्मा को ही होता है फिर भी “अन्नं वै प्राणाः” के समान शास्त्र को भी उपचार से ज्ञान कह देने से वह कथंचित् ज्ञानरूप है। क्योंकि बिना शास्त्रों के आजतक किसी ने भावश्रुत को प्राप्त नहीं किया है अतः चार दान में से ज्ञानदान में शास्त्रदान भी लिया गया है। श्रीकुंदकुंददेव ने जिस समयसार ग्रंथ में यह गाथा लिखी है वह समयसार ग्रंथ भी तो शास्त्र ही है। इसलिये सर्वथा एकांत नहीं लेना चाहिये। अन्यथा इसी समयसार ग्रंथ से व गाथा नं० ३९० तथा ४०४ से ही परस्पर विरोध हो जावेगा और यह सूत्र सिद्ध हो जावेगा कि—

“माता मे बंध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्।”

मेरी माता बंध्या है क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसे गर्भ नहीं रहता है। मेरी माता और बंध्या ये दोनों शब्द परस्पर में विरोधी ही हैं इत्यादि।

षट्खंडागम ग्रंथराज की धवला टीका में श्रीवीरसेन स्वामी लिखते हैं—“सुत्तमोदिष्णं अत्थदो तित्थयरदो, गंथदो गणहरदेवादो ति” ॥” यह सूत्र ग्रंथ अर्थप्ररूपणा की अपेक्षा तीर्थंकर से और ग्रंथरचना की अपेक्षा गणधरदेव से अवतीर्ण हुआ है। “इन सूत्रग्रंथों के—शास्त्रों के अध्ययन से प्रत्येक समय में असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती है।” ऐसा इसी धवला टीका में कहा है। इसी टीका ग्रंथ में भगवान् महावीर स्वामी को इस ‘षट्खंडागम’ ग्रंथ के ‘अर्थकर्ता’, भावश्रुतकर्ता’ कहा है और श्री गौतमस्वामी को द्रव्यश्रुत के कर्ता सिद्ध किया है। यथा—“पुणो तेणिदभूदिणा भावसुदपज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुब्बाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण रयणा कदा। तदो भावसुदस्स अत्थ-पदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरदो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। ततो गंथरयणा जादेत्ति।”

अनंतर भावश्रुतरूपपर्याय से परिणत उन इन्द्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर हैं। तथा तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुये, इसलिये द्रव्यश्रुत के कर्ता गणधर हैं, इस तरह गौतमगणधरदेव से ग्रंथरचना हुई है। यहाँ आचार्यश्रीवीरसेनस्वामी ने श्रीगौतमस्वामी से लेकर श्रीधरसेनाचार्य पर्यंत परंपरा से प्राप्त श्रुतज्ञान को कहकर अंत में पुष्पदंत, भूतबली आचार्य द्वारा निमित्तब्रह्म बनने की व्यवस्था का उल्लेख किया है।

इसलिये शास्त्र सर्वथा अज्ञानरूप ही नहीं हैं प्रत्युत भावश्रुत ज्ञान के लिये कारण हैं ऐसा समझना। जैसे कि जिनप्रतिमायें अचेतन होकर भी सातिशय पुण्यबंध व सम्यक्त्व के लिये कारण हैं वैसे ही अचेतन शास्त्र भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये कारण हैं।

यथा—“सम्पत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।”

जिनसूत्र और उनके ज्ञाता पुरुष सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में निमित्त हैं ऐसा कुंदकुंददेव ने स्वयं कहा है।

किन-किन आचार्यों के ग्रंथ प्रमाण हैं ? नीतिसार ग्रंथ में श्री इन्द्रनंदि आचार्य ने स्पष्ट किया है—

श्रीभद्रबाहुः श्रीचंद्रो जिनचंद्रो महामुनिः।

..... ॥ ६७ से ७१ ॥

पूर्वाचार्यवचः श्रीमत्सर्वज्ञवचनोपमम्।

तज्ज्ञाननगारोऽत्र पूज्यः स्यादखिलैर्जनैः ॥ ७२ ॥

“श्री भद्रबाहु, श्रीचंद्र, जिनचंद्र, गृद्धपिच्छाचार्य, लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनन्दी, जिनसेन, वीरसेन, गुणनन्दी, समंतभद्र, श्रीकुम्भ, शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, गुणभद्र, अकलंकदेव, सोमदेव, प्रभाचंद्र और नेमिचंद्र इत्यादि मुनिपुंगवों के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रहण करने योग्य हैं। इनसे अतिरिक्त [सिंह, नंदि, सेन और देवसंघ इन चार संघ के आचार्यों से अतिरिक्त] विसंघ्य अर्थात् परंपराविरुद्ध जनों के द्वारा रचित ग्रन्थ अच्छे होकर भी प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि परम्परागत पूर्वाचार्यों के वचन सर्वज्ञ भगवान के वचनों के सदृश हैं। उन्हीं से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनों में पूज्य होता है।”

इन श्लोकों से यही समझना चाहिये कि पूर्वाचार्यों द्वारा रचित जो शास्त्र हैं वे सभी प्रमाणीक हैं क्योंकि आजकल दिगंबर संप्रदाय में द्वादशांग में से कोई भी अंगरूप ग्रंथ नहीं

शार्दूलविक्रीडित—अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रतृथग्वस्तुता-
मादानोज्जनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं ।
मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ २३५ ॥

हैं। यही कारण है कि आज शुक्लध्यान भी नहीं है और शुक्लध्यान के अभाव में मोक्ष भी नहीं है। श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है—“शुक्ले चाद्ये पूर्वविद् ।” प्रारंभ के दो शुक्लध्यान पूर्वविद्—श्रुतकेवली को ही होते हैं।

क्योंकि “ज्ञानश्रुताद्यरेणोत्पादं भावश्रुतज्ञानं” ऐसा समयसार में ही श्री जयसेनाचार्य ने कहा है।

वर्तमान के चौबीसों तीर्थकरों ने भी पूर्वभव में तीर्थकर प्रकृति का बंध करके ग्यारह अंग आदि ज्ञान प्राप्त करके घोर तपश्चरण आदि द्वारा स्वर्ग को प्राप्त किया था पुनः पंचकल्याणक के स्वामी तीर्थकर हुये हैं।

यहाँ शिवभूति केवली का उदाहरण काकतालीय न्यायवत् समझना, इसलिये उसकी विवक्षा नहीं है।

इसे ही कलशकाव्यों द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—अन्यद्रव्यों से भिन्न, अपने में ही नियत—निश्चित पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ—वस्तु सामान्यविशेषात्मक है अतः यह स्वयं वस्तु होने से सामान्य-विशेषरूप होता हुआ, त्याग और ग्रहण भाव से रहित, अमलस्वरूप यह ज्ञान उस प्रकार से अवस्थित—निश्चल हुआ अनुभव में आ चुका है कि जिस प्रकार आदि, मध्य और अंत के विभाग से रहित ऐसी सहज, विस्तार को प्राप्त प्रभा से देदीप्यमान शुद्ध ज्ञानघन महिमा^१ उसकी नित्य ही उदय को प्राप्त हो रही है। २३५।

भावार्थ—जब यह ज्ञान पर द्रव्यों से भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिर हो जाता है तब ‘यह छोड़ना है, इसे ग्रहण करना है’ इत्यादि विकल्प समाप्त हो जाते हैं और तभी यह ज्ञान, आदि मध्य, अंत से रहित शुद्ध भेदविज्ञान से प्रगट होकर केवलज्ञानमय परिणत हो जाता है।

परद्रव्यों से व्यतिरिक्त आत्म में नियत पृथक् वस्तुत्व धरे।
अतएव त्याग आदान भाव से रहित अमल जो ज्ञान भरे ॥
फिर आदि मध्य अह अन्त विभाग रहित शुद्धात्म ज्ञान महिमा।
दैदीप्यमान विस्तार सहजता रूप उदय आत्म गरिमा ॥ २३५ ॥

उपजाति छंद—उन्मुक्तमुनोच्यमशेषतस्तत्तथात्तभादेयमशेषतस्तत् ।

यदात्मनः संहतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ २३६ ॥

अनुष्टुप्—व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितं ।

कथमाहारकं तत्तयाद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥ २३७ ॥

काव्यार्थ—जिसने अपने में अपनी सर्व शक्तियों को संकुचित कर लिया है ऐसी पूर्ण अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ही धारण करना—अपने में ही जो तल्लीन हो जाना है वही छोड़ने योग्य सब कुछ को सब प्रकार से छोड़ना है और ग्रहण करने योग्य सब कुछ को सब प्रकार से ग्रहण कर लेना है । २३६ ।

भावार्थ—जब यह आत्मा अनंत ज्ञानादि अनंतगुणस्वरूप अपनी आत्मा में ही स्थित हो जाता है उस समय त्याग करने योग्य समस्त पर वस्तुओं का पूर्णतया त्याग हो जाता है और ग्रहण करने योग्य अनंतगुणों का ग्रहण हो जाता है । इस अवस्था को निर्ग्रन्थ दिगंबर महामुनि—सर्व आरंभ-परिग्रह से रहित हुये ही निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर बारहवें गुणस्थान में पहुंच कर प्राप्त कर लेते हैं । चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में ऐसी अपनी आत्मा का संधारण करना संभव नहीं है ।

काव्यार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान परद्रव्यों से पृथक् होकर व्यवस्थित हो जाता है—निश्चल हो जाता है तब वह ज्ञान भला आहारक कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की आशंका की जा सके ? अर्थात् नहीं की जा सकती है । २३७ ।

भावार्थ—आहार शब्द से यहाँ कर्म और नोकर्म के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करना है जब आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में ही तन्मय हो जाता है तब इसके कर्म, नोकर्मरूप पुद्गल वर्गणाओं का आना रुक जाता है तब पुनः इसके शरीर कहां है ? अर्थात् शुद्ध्यनय से आत्मा ज्ञानमय है न उसके कर्माहार है, न नोकर्माहार है और न उसके ये औदारिक शरीर आदि शरीर ही हैं । निश्चयनय से सभी संसारी जीवों की आत्मा शुद्ध ही है और प्रगट रूप में ऐसी अवस्था चौदहवें गुणस्थान से परे सिद्धों की ही होती है ।

जिसने निज में निज की सारी शक्तियाँ संकुचित कर ली हैं ।

ऐसी निज आत्मा को निज आत्मा में ही धारण कर ली है ॥

निज आत्मा में तल्लीनपना ही बाह्य विकल्प छुड़ाता है ।

सब सारों को कर ग्रहण वही मुनि निज माहक बन जाता है ॥ २३६ ॥

परद्रव्यों से जब पृथक् ज्ञान बस ज्ञानरूप से स्थित है ।

तब वह आहारकरूप भला कैसे हो सकता स्थित है ?

आहारक यदि मानें उसको तो देह की शंका आती है ।

पर देहरूप उस ज्ञान भाव की परिणति नहीं बन पाती है ॥ २३७ ॥

(उत्थानिका) —अथेदानीं व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टंकोत्कीर्णज्ञायकैकपारमार्थिकपदार्थसंज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रैः शब्दादिपंचेंद्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरहितं सदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति;—

(४११ ज०) सत्थं णाणं ण हवदि जह्या सत्थं ण याणदे किंचि ।

तह्या अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥

(४१२ ज०) सद्दो णाणं ण हवदि जह्या सद्दो ण याणदे किंचि ।

तह्या अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥

(४१३ ज०) रूवं णाणं ण हवदि जह्या रूवं ण याणदे किंचि ।

तह्या अण्णं णाणं, अण्णं रूवं जिणा विंति ॥

(४१४ ज०) वण्णो णाणं ण हवदि जह्या वण्णो ण याणदे किंचि ।

तह्या अण्णं णाणं, अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति, यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विदंति ॥ ४११ ॥

शब्दो ज्ञानं न भवति, यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विदंति ॥ ४१२ ॥

रूपं ज्ञानं न भवति, यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विदंति ॥ ४१३ ॥

वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विदंति ॥ ४१४ ॥

उत्थानिका—अब जो व्यावहारिक जीवादि नवपदार्थों से भिन्न है फिर भी टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक पारमार्थिक पदार्थनामवाला है, गद्य, पद्य आदि विचित्र रचनाओं से रचित शास्त्रों से और शब्दादि पंचेंद्रियों के विषय आदि परद्रव्यों से शून्य होते हुये भी रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित है तथा सदा आनंद एक लक्षण वाले ऐसे सुखामृत के रसास्वाद से परिपूर्ण है ऐसा जो परमात्मतत्त्व है उसी को यहाँ प्रकाशित करते हैं—

अन्वयार्थ—(सत्थं णाणं ण हवदि जह्या सत्थं किंचि ण याणदे) शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं सत्थं अण्णं जिणा विंति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और शास्त्र भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (सद्दो णाणं ण हवदि जह्या सद्दो

- (४१५ ज०) गंधो णाणं ण हवदि, जह्या गंधो ण याणदे किंचि ।
तह्या णाणं अण्णं, अण्णं गंधं जिणा विंति ॥
- (४१६ ज०) ण रसो दु होदि णाणं, जह्या दु रसो अचेदणो णिच्चं ।
तह्या अण्णं णाणं, रसं च अण्णं जिणा विंति ॥
- (४१७ ज०) फासो णाणं ण हवदि, जह्या फासो ण याणदे किंचि ।
तह्या अण्णं णाणं, अण्णं फासं जिणा विंति ॥
- (४१८ ज०) कम्मं णाणं ण हवदि, जह्या कम्मं ण याणदे किंचि ।
तह्या अण्णं णाणं, अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥
- (४१९ ज०) धम्मच्छिओ ण णाणं, जह्या धम्मो ण याणदे किंचि ।
तह्या अण्णं णाणं, अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥

गंधो ज्ञानं न भवति, यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विदंति ॥ ४१५ ॥

न रसस्तु भवति ज्ञानं, यस्मात्तु रसो अचेतनो भवति ।

तस्मादन्यज्ज्ञानं, रसं चान्यं जिना विदंति ॥ ४१६ ॥

स्पर्शो ज्ञानं न भवति, यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विदंति ॥ ४१७ ॥

कर्म ज्ञानं न भवति, यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विदंति ॥ ४१८ ॥

धर्मास्तिकायो न ज्ञानं, यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विदंति ॥ ४१९ ॥

किंचि ण याणदे) शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ भी जानता नहीं है (तह्या णाणं अण्णं सहं अण्णं जिणा विंति) इसलिये ज्ञान भिन्न है और शब्द भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (रूवं णाणं ण हवदि जह्या रूवं किंचि ण याणदे रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं रूवं अण्णं जिणा विंति) इसलिये ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (वण्णो णाणं ण हवदि जह्या वण्णो किंचि ण याणदे) वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं वण्णं अण्णं जिणा विंति) इसलिये ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ।

(४२० ज०) ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि ।

तह्या अण्णं णाणं, अण्णमधम्मं जिणा विति ॥

(४२१ ज०) कालोवि णत्थि णाणं, जह्या कालो ण याणदे किंचि ।

तह्या ण होदि णाणं, जह्या कालो अचेदणो णिच्चं ॥

(४२२ ज०) आयासंपि य णाणं, ण हवदि जह्या ण याणदे किंचि ।

तह्या अण्णायासं, अण्णं णाणं जिणा विति ॥

न भवति ज्ञानमधर्मास्तिकायो यस्मान्न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विदंति ॥ ४२० ॥

कालोऽपि नास्ति ज्ञानं, यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।

तस्मान्न भवति ज्ञानं, यस्मात्कालोऽचेतनो नित्यं ॥ ४२१ ॥

आकाशमपि च ज्ञानं, न भवति यस्मान्न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्याकाशमन्यज्ज्ञानं जिना विदंति ॥ ४२२ ॥

(गंधो णाणं ण हवदि जह्या गंधो किंचि ण याणदे) गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं गंधं अण्णं जिणा विति) इसलिये ज्ञान अन्य है और गंध अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं (रसो दु णाणं ण होदि जह्या दु रसो णिच्चं अचेदणो) रस भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वह रस तो नित्य ही अचेतन है (तह्या णाणं अण्णं रसं च अण्णं जिणा विति) इसलिये ज्ञान अन्य है और रस अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं (फासो णाणं ण हवदि जह्या फासो किंचि ण याणदे) स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं फासं अण्णं जिणा विति) इसलिए ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं ।

(कम्मं णाणं ण हवदि जह्या कम्मं किंचि ण याणदे) कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं कम्मं अण्णं जिणा विति) इसलिये ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं (धम्मच्छिओ णाणं ण जह्या धम्मो किंचि ण याणदे) धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि वह धर्मद्रव्य कुछ भी नहीं जानता है (तह्या णाणं अण्णं धम्मं अण्णं जिणा विति) इसलिये ज्ञान अन्य है और धर्मद्रव्य अन्य है ऐसा जिनेंद्रदेव कहते हैं ।

(४२३ ज०) अज्झवसाणं णाणं, ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं ।

तह्मा अण्णं णाणं, अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥

(४२४ ज०) जह्मा जाणदि णिच्चं, तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी ।

णाणं च जाणयादो, अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥

(४२५ ज०) णाणं सम्मादिट्ठी, दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।

धम्माधम्मं च तहा, पव्वज्जं अज्झवंति बुहा ॥

अध्यवसानं ज्ञानं, न भवति यस्मादचेतनं नित्यं ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥ ४२३ ॥

यस्माज्ज्ञानानि नित्यं, तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।

ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥ ४२४ ॥

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं, तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।

धर्माधर्मं च तथा, प्रव्रज्यामभ्युपयांति बुधाः ॥ ४२५ ॥

(अधम्मच्छिओ णाणं ण हवदि जं किञ्चि ण याणदे) अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है वह कुछ भी नहीं जानता है (तह्मा णाणं अण्णं अधम्मं अण्णं जिणा विति) इसलिये ज्ञान अन्य है और अधर्मद्रव्य अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (कालोवि णाणं णत्थि जह्मा कालो किञ्चि ण याणदे) कालद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ भी नहीं जानता है (तह्मा णाणं ण होदि जह्मा कालो णिच्चं अचेदणो) अतः वह भी ज्ञान नहीं है क्योंकि काल द्रव्य नित्य ही अचेतन है (य आयासंपि णाणं ण हवदि जह्मा किञ्चि ण याणदे) और आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वह कुछ भी नहीं जानता है (तह्मा अण्णायासं णाणं अण्णं जिणा विति) इसलिये आकाश अन्य है और ज्ञान अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं । (अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा णिच्चं अचेदणं) अध्यवसानपरिणाम भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वे नित्य ही अचेतन हैं (तह्मा णाणं अण्णं तहा अज्झवसाणं अण्णं) इसलिये ज्ञान अन्य है और विभाव परिणाम अन्य है ।

(जह्मा णिच्चं जाणदि तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी) जिस हेतु से यह नित्य ही जानता है उसी हेतु से जीव ही ज्ञायक है ज्ञानी है (च णाणं जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं) और ज्ञान ज्ञायकभाव—आत्मा से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये (णाणं सम्मादिट्ठी संजमं दु अंगपुव्वगदं सुत्तं) ज्ञान सम्यग्दृष्टि है, संयम है और अंग-पूर्वगत सूत्र है (च धम्माधम्मं तहा पव्वज्जं बुहा अज्झवंति) धर्म-अधर्म है तथा ज्ञान ही प्रव्रज्या—दीक्षा है ऐसा बुद्धिमान मानते हैं ॥ ४२३ से ४२५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—न श्रुतं ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः। न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः। न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेकः निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञान-जीवयोरेवाव्यतिरेकः। न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात् ततो व्यतिरेकः कश्चापि शङ्कनीयः। एवं सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण चातिव्याप्तिमव्याप्ति च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्रम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य

तात्पर्यवृत्ति—श्रुत—शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और श्रुत में भेद है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये शब्द में और ज्ञान में भेद है। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये रूप और ज्ञान में भेद है। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये वर्ण में और ज्ञान में भेद है। गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये गंध में और ज्ञान में भेद है। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये रस में और ज्ञान में भेद है। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है। इसलिये स्पर्श में और ज्ञान में भेद है। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये कर्म में और ज्ञान में भेद है। धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये धर्म और ज्ञान में भेद है। अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये अधर्म और ज्ञान में भेद है। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये काल में और ज्ञान में भेद है। आकाशद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये आकाश में और ज्ञान में भेद है। अध्यवसान/भाव ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये अध्यवसान में और ज्ञान में भेद है। इस प्रकार से ज्ञान में सभी परद्रव्यों के साथ भेद है ऐसा निश्चय से सिद्ध करके देखना चाहिये।

अब निश्चयनय की अपेक्षा से कहते हैं—जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि वह चेतनस्वरूप है इसलिये ज्ञान और जीव में कोई भेद नहीं है—अभेद ही है। जीव स्वयं ज्ञानरूप होने से उस ज्ञान से भिन्न है ऐसी आशंका किसी को भी नहीं करनी चाहिये और ऐसा होने पर तो ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंग-पूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है और ज्ञान ही दीक्षा है इस प्रकार से ज्ञान का जीव की पर्यायों के साथ भी अभेद निश्चय से साधित है ऐसा समझना चाहिये।

दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूपं स्वसमयमवाग्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानधनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धज्ञानमेकमेवावस्थितं द्रष्टव्यं । “अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथक्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं । मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभास्वरः शुद्धज्ञानधनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ १ ॥ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् । यदात्मनः संहतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ २ ॥ तपश्चरणं च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञानं मन्यते ? इति चेत् मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यंतस्वकीयस्वकीयगुणस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपयोगाविनाभूतविवक्षिताशुद्ध-निश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति । ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरू-

इस पूर्वकथित प्रकार से संपूर्ण परद्रव्यों से यह ज्ञान भिन्न है और संपूर्ण सम्यग्दर्शन आदि जीव के स्वभावों से यह ज्ञान अभिन्न है ऐसा होने से ही यह ज्ञान अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों का परिहार करने वाला है, अनादिकाल से विभ्रम—मोह के मूल कारण ऐसे धर्म-अधर्मरूप—पुण्य-पापरूप परसमय को वमित करके—त्याग करके यह स्वयं ही दीक्षारूप दैर्गंबरी मुद्रा को प्राप्त करके दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थितिस्वरूप स्वसमय—निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करके मोक्षमार्ग को अपनी आत्मा में ही परिणत कर लेता है तभी यह संपूर्ण विज्ञानधनभाव को प्राप्त हुआ, त्याग करने और ग्रहण करने से शून्य हुआ, साक्षात् समयसारमय—कार्यसमयसार मय, परमार्थरूप शुद्ध ज्ञान एक ही—पूर्णज्ञानरूप होकर ही या केवलज्ञानरूप होकर ही स्थित हो जाता है । इसे ही श्रीटीकाकार ने कलश काव्यों में कहा है—

“अन्यद्रव्यों से भिन्न, आत्मा में नियत, पृथक् वस्तुपने को धारण करता हुआ, ग्रहण और त्यागभाव से शून्य, यह अमल—रागादिमलों से रहित ज्ञान उसरूप से स्थित है कि जो आदि, मध्य और अंत के भेदों से रहित, सहज स्फुरायमान प्रभा से भास्वर, शुद्धज्ञानधन महिमावाला नित्य ही उदयरूप होता हुआ स्थित हो जाता है । यह अपनी सर्वशक्तियों को संकोच करके पूर्ण आत्मा को अपनी आत्मा में ही धारण कर लेता है तब सब प्रकार से छोड़ने योग्य को छोड़ देता है और ग्रहण करने योग्य को सर्वप्रकार से ग्रहण कर लेता है अर्थात् पूर्ण कृतकृत्य हो जाता है ।

प्रश्न—जो कुछ भी तपश्चरण है वह सब ही किस नय से ज्ञान माना जाता है ?

उत्तर—इसका उत्तर यही है कि मिथ्यादृष्टि आदि से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यंत अपने-अपने गुणस्थान के योग्य अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इनसे अविनाभूत—इनके बिना न होने वाले ऐसे विवक्षित अशुद्धनिश्चयनय के द्वारा और अशुद्ध उपादानरूप से ही ऐसा माना जाता है अर्थात् जो यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि, संयम आदिरूप माना जाता है वह अशुद्धउपादानरूप और अशुद्धनिश्चयनय से ही माना जाता है इसलिये यह बात सिद्ध हो गई कि—

पेण जीवादिव्यावहारिकनवपदार्थेभ्यो भिन्नमादिमध्यांतमुक्तमेकमखंडप्रतिभासमयं निजनिरंजनसहजशुद्धपरमसमय-
सारगिगलं सर्वप्रकारेणैव भूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यमिति । एवं
व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तवः स्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशस्थले
पंचदश गाथा गताः । किं च—मत्यादिसंज्ञानपंचकं पर्यायरूपं तिष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूपः ।
जीवपदार्थो हि न च केवलं द्रव्यं, न च पर्यायः, किंतु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधारभूतो धर्मो । तत्रेदानीं केन
ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—केवलज्ञानं तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति । अवधिजनः पर्यायज्ञानद्वयं च
रूपिष्ववधेः । तदनंतभागे मनःपर्यायस्य इति वचनात् मूर्तिविषयत्वादेव मूर्तः मोक्षकारणं न भवति ततः
सामर्थ्यादिव बहिर्विषयमतिज्ञानश्रुतज्ञानविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षणं निश्चयनिर्विकल्पभावरूप-
मानसमतिज्ञानश्रुतज्ञानसंज्ञं पंचेन्द्रियाविषयत्वेनातीन्द्रियं शुद्धपारिणामिकभावविषये तु या भावना तद्रूपं

शुद्धपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से और शुद्ध उपादानरूप से जीव-अजीव आदि व्यावहारिक नवपदार्थों से जो भिन्न है, आदि, मध्य और अंत से रहित है, एक है, अखंड-प्रतिभासमय है, निजनिरंजन सहज शुद्ध 'परमसमयसार' नाम वाला है और सर्वप्रकार से उपादेयभूत है, ऐसा शुद्धज्ञानस्वभाववाला जो शुद्धात्मतत्त्व है वही श्रद्धान करने योग्य है, वही जानने योग्य है और वही ध्यान करने योग्य है ऐसा समझना । इस प्रकार व्यावहारिक नव पदार्थों के मध्य भूतार्थनय से एक शुद्धजीव ही वास्तविक सिद्ध हो रहा है, इस व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारहवें स्थल में ये पंद्रह गाथायें हुई हैं ।

इसका और भी विस्तार करते हैं—

मति आदि जो पांच सम्यग्ज्ञान हैं वे पर्यायरूप से रहते हैं और शुद्ध पारिणामिकभाव द्रव्यरूप है । यह जीवपदार्थ न तो केवल द्रव्य है और न केवल पर्याय है किंतु परस्पर सापेक्ष द्रव्य और पर्याय इन दोनों ही धर्मों का आधारभूत धर्मो है । अब यहाँ किस ज्ञान से मोक्ष होता है ? इस पर विचार करते हैं—

केवलज्ञान तो फलरूप है वह आगे होवेगा । अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान ये दोनों ही मूर्तिक पदार्थ को ही विषय करते हैं जैसाकि सूत्र ग्रंथ में कहा है "अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है" और मनःपर्यायज्ञान भी उस अवधिज्ञान के विषय को सूक्ष्मता से अनंतवें भाग में जान लेता है ।" इस दृष्टि से ये दोनों ही ज्ञान मूर्तिक होने से मोक्ष के कारण नहीं हैं इसलिये सामर्थ्य से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि बाह्य पदार्थ को विषय करने वाले ऐसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विकल्प से रहित होने से जो अपनी शुद्धात्मा के अभिमुख जानने की क्रियारूप लक्षण वाला है, निश्चय निर्विकल्पभावरूप मानस मतिज्ञान और श्रुतज्ञान संज्ञक हैं जो कि

निर्विकारस्वसंवेदनशब्दवाच्यं संसारिणां क्षाधिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञानं मुक्तिकारणं भवति । कस्मात् ? इति चेत् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाह्लादकलक्षणसुखामृतरसा-
एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन] शुद्धोपादानकारणत्वादिति । तथा चोक्तं “भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन । तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन” ॥ ४११-४२५ ॥

पंचेंद्रियों के विषयों से परे होने से अतीन्द्रिय हैं तथा शुद्धपारिणामिकभाव के विषय में जो भावना है वह उसीरूप है, निर्विकार स्वसंवेदन शब्द से वाच्य है ऐसा जो यह विशिष्ट भेदज्ञान है वह संसारी जीवों में क्षाधिकज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होते हुये भी मुक्ति का कारण होता है क्योंकि समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित, अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमाह्लाद एकलक्षणवाले सुखामृत रसास्वाद से एकाकार परमसमरसीभावरूप परिणाम के द्वारा कार्यभूत अनंतज्ञान, सुख आदि रूप मोक्ष फल के लिये विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादान कारणरूप है ऐसा समझना ।

इसी प्रकार से कहा भी है—

जो कोई भी जीव सिद्ध हुये हैं वे सब नियम से भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं और जो कोई जीव कर्मों से बंधे हुये हैं वे सब नियम से इस भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हुये हैं ॥ ४११ से ४२५ ॥

विशेषार्थ—श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक पारमार्थिक पदार्थ नाम वाला जो परमात्म-तत्त्व है वह अखंड एक ज्ञानमय है । इन्होंने भी यहाँ श्रुत को अचेतन कहकर उसे ज्ञान से भिन्न कहा है । इसी प्रकार श्रुत—शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, अध्यवसान—विभाव परिणाम इन सबसे ज्ञान भिन्न है । जीव ही एक ज्ञान है अतः ज्ञान और जीव में अभेद है । इस प्रकार से ज्ञानस्वरूपआत्मा ही सम्यग्दृष्टि है, वही संयम है, वही अंगपूर्वरूप सूत्र है, वही धर्म-अधर्म है वही दीक्षा है इसलिये ज्ञान का अपनी जीव पर्यायों के साथ अभेद है ।

आगे कहते हैं कि अनादि विभ्रम का मूल कारण ऐसे परसमय को छोड़कर स्वयं ही दीक्षामय ऐसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप स्वसमय को प्राप्त करो । इस निश्चयरत्नत्रयमय मोक्षमार्ग से परिणत होकर साक्षात् समयसारस्वरूप शुद्धज्ञान—केवलज्ञान को प्रगट करो ।

यहाँ यह बात विशेष समझने की है कि इस समयसार ग्रंथ में प्रारंभ में ही श्रीकुंदकुंददेव ने स्वसमय-परसमय का लक्षण बताकर स्वसमय को कहने की प्रतिज्ञा की थी उसी का संदर्भ यहाँ जोड़ना चाहिये । गाथा २ की टीका में ही श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है—

अत्ता जस्सामूर्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।

आहारो खलु मूर्तो जह्या सो पुद्गलमओ उ ॥ ४०५ अ० ॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं ।

आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥ ४०५ ॥

“वीतरागचारित्रस्वरूप निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवपदार्थ को तुम स्वसमय जानो और इस निश्चयरत्नत्रय के अभाव में कर्मोदय जनित पर्यायों से परिणत जीव को परसमय जानो ।”

यहाँ टीका के अंत में उस कलश काव्य का भी अभिप्राय आया है—

अतः शुद्धनयायतं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।

नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

अब इसके बाद शुद्धनय के आश्रित आत्मज्योति शोभित हो रही है जो कि नव तत्त्वों में रहते हुये भी वह अपने एकत्व को नहीं छोड़ती है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से संसार में नव तत्त्वों में रहता हुआ भी यह आत्मा एक है, शुद्ध है, सिद्धस्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। अतः भेदविज्ञान से ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यह भेदविज्ञान निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनियों के ही होता है ऐसा समझना।

परद्रव्य से भिन्न ज्ञान आहारक नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं यस्य आत्मा अमूर्तः सः खलु आहारकः न भवति) इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह नियम से आहारक नहीं है (यस्मात् आहारः खलु मूर्तः सः तु पुद्गलमयः) क्योंकि आहार तो मूर्तिक है अतः वह पुद्गलमय है (यत् ग्रहीतुं न शक्यते च यत् विमोक्तुं अपि न यत् परं द्रव्यं) जो ग्रहण नहीं किया जा सकता और जो छोड़ा भी नहीं जा सकता है वह परद्रव्य है (च कोऽपि तस्य प्रायोगिकः वा अपि वैस्वसः गुणः) वह कोई ऐसा ही उस आत्मा का प्रायोगिक अथवा वैस्वसिक—स्वाभाविक गुण है (तस्मात् तु यः विशुद्धः चेतयिता सः जीवाजीवयोः द्रव्ययोः किंचित् नैव ग्रहणाति किंचिदपि नैव विमुंचति) इसलिये जो

नरेन्द्रछंद—(४२६)—इस प्रकार जिसने निज आत्मा को अमूर्त स्वीकारा ।

वह निश्चय से ग्रहण नहीं करता है कभी अहारा ॥

पुद्गलमय होने से वह आहार मूर्त कहलाता ।

तब अमूर्त-आत्मा कैसे आहार ग्रहण कर पाता ॥ ४०५ ॥

णवि सक्कइ धित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्व्यं ।

सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि ॥ ४०६ अ० ॥

तहा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।

णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥ ४०७ अ० ॥ (त्रिकलम्)

नापि शक्यते ग्रहीतुं यत्र विमोक्तुं यच्च यत्परं द्रव्यं ।

स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्त्रसो वापि ॥ ४०६ ॥

तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।

नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥ ४०७ ॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुञ्चति प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्त्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात् । परद्रव्यं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य भूतपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः ततो ज्ञानं नाहारकं भवत्यतो ज्ञानस्य देहो न शक्नीयः ॥ ४०५ से ४०७ ॥

विशुद्ध आत्मा है वह जीव और अजीव परद्रव्य का न कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ भी छोड़ता ही है ॥ ४०५ से ४०७ ॥

आत्मख्याति—यह ज्ञान निश्चित ही किंचित् मात्र भी परद्रव्य को न ग्रहण करता है और न छोड़ता ही है क्योंकि इसमें प्रायोगिक गुण—परनिमित्तक गुण की सामर्थ्य ही है अथवा वैस्त्रसिक—स्वाभाविक गुण की सामर्थ्य ही ऐसी है इसलिये ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना और छोड़ना शक्य नहीं है और परद्रव्य तो मूर्तिक पुद्गलद्रव्य होने से ज्ञानस्वरूप अभूर्तिक आत्मद्रव्य का आहार नहीं है अतः ज्ञान आहारक नहीं है इस हेतु से ज्ञान/आत्मा के शरीर है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये ॥ ४०५ से ४०७ ॥

भावार्थ—यहाँ गुण और गुणी में अभेदविवक्षा होने से आत्मा को ही ज्ञान कहा गया है क्योंकि इस समयसार में आत्मा के एक ज्ञानगुण की ही प्रधानता है । यह आत्मा पर के निमित्त से होने वाले गुण से या स्वभाव से हुये गुण से, दोनों प्रकार से भी न परद्रव्य को ग्रहण कर सकता है और न परद्रव्य को छोड़ता ही है क्योंकि जब कोई वस्तु ग्रहण ही नहीं की तो उसका

(४२७)—मूर्तिक वह आहार सदा परद्रव्य कहा है जाता ।

चेतन आत्मा अतः उसे नहीं ग्रहण त्यजन कर पाता ॥

यह कोई आत्मा का गुण प्रायोगिक हो सकता है ।

अथवा हो वैस्त्रसिकरूप आत्मा में ही रहता है ॥ ४०६ ॥

(४२८)—सार यही है जो विशुद्ध चेतयिता आत्मा रहता ।

वह तो जीवाजीव कोई परद्रव्य ग्रहण नहीं करता ॥

इसीलिए उन पर द्रव्यों को तज भी कैसे सकता ?

ग्रहण त्यजन का भाव शुद्ध आत्मा कर ही नहीं सकता ॥ ४०७ ॥

अनुष्टुप्—एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।

ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणं ॥ २३८ ॥

(उत्थानिका) —अतः परमेवं सति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यतीत्युपदिशति;—

(४२६ ज०) अत्ता जस्स अमुत्तो, ण हु सो आहारगो हवदि एवं ।

आहारो खलु मुत्तो, जह्मा सो पुग्गलमओ दु ॥

आत्मा यस्यामूर्तो, न खलु स आहारको भवत्येवं ।

आहारः खलु मूर्तो, यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥ ४२६ ॥

छोड़ना भला कैसे होगा ? अतः आत्मा के कर्मों के ग्रहणरूप से या शरीर आदि नोकर्मों के ग्रहणरूप से आहारवर्गणाओं का ग्रहण नहीं होता है और जब आत्मा कर्म-नोकर्म को ही ग्रहण नहीं करता है तब भला उसके देह कैसे है ? यह निश्चयनय की अपेक्षा से कथन है ।

अब इसे ही कलश काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—इस प्रकार शुद्ध ज्ञान के देह ही नहीं है तब तो ज्ञाता/आत्मा का देहमय लिंग मोक्ष का कारण नहीं है ॥ २३८ ॥

भावार्थ—निश्चयनय से जब आत्मा के शरीर ही नहीं है तब शरीर के आश्रित क्षुल्लक आदि श्रावक के वेष और दिगंबर मुद्रा, पिच्छी-कमंडलु सहित मुनिवेष ये मोक्ष के लिये कारण भला कैसे हो सकते हैं ? फिर भी व्यवहारनय से ये द्रव्यवेष भी मोक्ष के लिये कारण हैं ऐसा श्री कुंदकुंददेव स्वयं आगे कह रहे हैं । यह कलशकाव्य अगली गाथाओं के लिये उत्थानिका स्वरूप है ।

उत्थानिका—‘यह ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि आदिरूप है’ ऐसा होने पर तो शुद्ध-बुद्ध, एकस्वभाव, परमात्मतत्त्व के देह ही नहीं है तो उसके आहार कैसे होगा ? इसका ही उपदेश देते हैं—

अन्यवार्थ—(एवं जस्स अत्ता अमुत्तो सो हु आहारगो ण हवदि) इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह नियम से आहारक नहीं हो सकता है (जह्मा आहारो खलु मुत्तो सो दु पुग्गलमओ) क्योंकि आहार मूर्तिक ही है वह तो पुद्गलमयी है (जे धितुं णवि सक्कदि चेव

इस तरह शुद्ध जो ज्ञान कहा वह देहमय निराला है ।

तब तो ज्ञाता आत्मा भी नहीं कायत्व अवस्था वाला है ॥

आत्मा का कायलिंग मूर्त्ति का कारण भी नहीं माना है ।

फिर भी व्यवहार से द्रव्यवेष भी शिव का कारण माना है ॥ २३८ ॥

(४२७ ज०) णवि सक्कदि धितुं जे, ण मुंचिदुं चेव जं परं दव्वं ।

सो कोवि य तस्स गुणो, पाउग्गिय विस्ससो वापि ॥

(४२८ ज०) तह्मा दु विमुद्धो चेदा, सो णेव गिण्हदे किंचि ।

णेव विमुंचदि किंचिवि, जीवाजीवाण दव्वाणं ॥

नापि शक्यते ग्रहीतुं यत्र मोक्तुं चैव यत्परं द्रव्यं ।

स कोऽपि च तस्य गुणो, प्रायोगिको वैस्वसो वापि ॥ ४२७ ॥

तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेत्यिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।

नैव विमुंचति किंचिदपि, जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥ ४२८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अत्ता जस्स अमुत्तो आत्मा यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेण मूर्तो न भवति ण हु सो आहारगो हवदि एवं स एवममूर्तत्वे सति हु स्फुटं तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणाहारको न भवति । आहारो खलु मूर्तो आहारः । कथंभूतः ? खलु स्फुटं मूर्तः । जह्मा सो पुग्गलमओ दु यस्मात् स नोकर्माद्याहारः पुद्गलमयः । सो कोवि य तस्स गुणो स कोपि तस्य गुणोऽस्त्यात्मनः । कथं ? पाउग्गिय विस्ससो वापि प्रायोगिको वैस्वसिकश्चेति । प्रायोगिकः कर्मसंयोगजनितः । वैस्वसिकः स्वभावजः । येन गुणेन किं करोति ? णवि सक्कदि धितुं जे ण मुञ्चिदुं चेव जं परं दव्वं परद्रव्यमाहारादिकं गृहीतुं मोक्तुं च न शक्नोति । अहो हे भगवन् ! कर्मजनितप्रायोगिकगुणेन आहारं गृह्णन्तस्ते च कथमनाहारका भवन्ति इति ? हे शिष्य !

मुंचिदुं ण जं परं दव्वं) जो ग्रहण नहीं किया जा सकता है और जो छोड़ा भी नहीं जा सकता है वह परद्रव्य है (य सो कोवि तस्स पाउग्गिय वापि विस्ससो गुणो) वह कोई ऐसा ही उस आत्मा का प्रायोगिक अथवा वैस्वसिक—स्वाभाविक गुण है (तह्मा दु सो विमुद्धो चेदा किंचि णेव गिण्हदे) इसलिये वह विशुद्ध आत्मा कुछ भी ग्रहण नहीं करता है (जीवाजीवाण दव्वाणं किंचिवि णेव विमुंचदि) और जीव-अजीव द्रव्य में कुछ छोड़ता भी नहीं है ॥४२६ से ४२८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यह आत्मा जिस शुद्धनय के अभिप्राय से मूर्तिक नहीं है ऐसी अमूर्तिक होने पर स्पष्टतया वह आत्मा उस शुद्धनय के अभिप्राय से ही आहारक भी नहीं है क्योंकि वह आहार तो मूर्तिक है इसलिये वह नोकर्म—शरीरयोग्य पुद्गलों का ग्रहण पुद्गलमय ही है । वह कोई उस आत्मा का कर्मसंयोग से होने वाला प्रायोगिक गुण है और स्वभाव से उत्पन्न होने वाला वैस्वसिक गुण है कि जिससे वह आत्मा आहारक वर्गणा आदि परद्रव्यों को न ग्रहण ही कर सकता है और न छोड़ ही सकता है ।

प्रश्न—हे भगवन् ! कर्म से होने वाले प्रायोगिक गुण के निमित्त से आहार को ग्रहण करते हुये ये सभी आत्मा अनाहारक कैसे होते हैं ?

भद्रमुक्तं त्वया परं किंतु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारनयः । इदं तु निश्चयव्याख्यानमिति । तस्माद् दु जो विसुद्धो चेदा यस्मात्त्रिश्चयनयेनानाहारकः तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चेतयितात्मा सो णेव गिह्णदे किंचि णेव विमुञ्चदि किंचिवि जीवाजीवाण दब्बाणं कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-लेप्पाहार-ओज-आहारमानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणां मध्ये सचित्ताचित्ताहारं नैव किंचिद् गृह्णाति न मुंचति । ततः कारणात्त्रोकर्माहारमय-शरीरं जीवस्वरूपं न भवति । शरीराभावे शरीरमयद्रव्यलिङ्गमपि जीवस्वरूपं न भवति इति । एवं निश्चयेन जीवस्याहारो नास्ति, इति व्याख्यानमुख्यत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रयं गतं ॥ ४२६-४२८ ॥

उत्तर—हे शिष्य ! तुमने बहुत ही अच्छा कहा है, किंतु निश्चयनय से यह आत्मा तन्मय—उन आहारक वर्गणादिरूप नहीं होता है, जो वह आहार ग्रहण करता है वह व्यवहारनय का कथन है यहाँ तो निश्चयनय का व्याख्यान किया गया है । जिस कारण निश्चयनय से यह आत्मा अनाहारक है उस कारण से यह विशेषरूप से शुद्ध है—रागादि भावों से रहित है अतः वह जीव-अजीव द्रव्यों में से किंचित् भी सचित्त-अचित्त आहार को न ग्रहण करता है और न छोड़ता ही है । आहार के छह भेद हैं—कर्म आहार, नोकर्म आहार, कवलाहार, लेप्य आहार, ओज आहार और मानस आहार । यहाँ यह समझना कि उस कारण से—निश्चयनय की अपेक्षा से नोकर्म आहारमय शरीर जीव का स्वरूप नहीं है । शरीर के अभाव में शरीरमय द्रव्यलिङ्ग भी जीव का स्वरूप नहीं है । इस तरह 'निश्चयनय से जीव के आहार नहीं है' इस व्याख्यान की मुख्यता से बारहवें स्थल में तीन गाथायें हुई हैं ॥ ४२६-४२८ ॥

भावार्थ—आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि योग्य पुद्गलकर्मवर्गणाओं का ग्रहण करना कर्मआहार है, तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करना नोकर्माहार है, घास उठाकर मुख में रखकर भोजन करना कवल-आहार है, ऊपर से जलादि का लगाना या ग्रहण करना लेप्य आहार है, यह आहार वृक्षादि में प्रमुखरूप से होता है, ऊपर से गर्मी पहुँचाने से जीवित रहना ओज आहार है । यह आहार मुर्गी, कबूतर आदि के अंडों के माना गया है और देव-देवियों के कंठ में अमृत झरकर जो आहार होता है वह मानसिक आहार कहलाता है । यहाँ पर निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा के ये कोई भी आहार नहीं हैं और जब नोकर्म आहार नहीं है तब शरीर ही नहीं है पुनः शरीराश्रित लिङ्ग—मुनिवेष आदि कैसे हो सकते हैं ? तथा व्यवहारनय से ये आहार भी हैं और शरीराश्रित वेष भी होते हैं ।

यहाँ ४०६ गाथा की प्रथम पंक्ति में पाठभेद है । श्रीअमृतचंद्र सूरि ने 'णवि सक्कइ धित्तुं जं णवि मोत्तुं जं य जं परदब्बं' पाठ रखा है और श्री जयसेनाचार्य ने 'णवि सक्कदि धित्तुं जे ण मुंचिदं चेव जं परं दब्बं ।' ऐसा पाठ माना है । अर्थ में कोई विशेष अंतर नहीं है ।

पाखंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।

धितुं वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमग्नोत्ति ॥ ४०८ अ० ॥

ण उ होदि मोक्षमग्नो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।

लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयन्ति ॥ ४०९ अ० ॥

पाखंडीलिंगाणि वा गृहलिंगाणि वा बहुप्रकाराणि ।

गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्गं इति ॥ ४०८ ॥

न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यदेहनेर्मम्या^१ अर्हतः ।

लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते ॥ ४०९ ॥

आत्मख्यातिः—केचद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते । तदप्यनुपपन्नं सर्वेषामेव भगवतामर्हदेवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात् । तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ॥ ४०८ । ४०९ ॥

आत्मा के केवल बाह्य लिंग मोक्ष के कारण नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पाखंडीलिंगाणि वा गृहलिंगाणि बहुप्रकाराणि गृहीत्वा मूढा इति वदन्ति) पाखंडी लिंग अथवा गृहीलिंग ऐसे जो बहुत प्रकार के लिंगों को धारण कर मूढ़ पुरुष ऐसा कहते हैं कि (इदं लिंगं मोक्षमार्गः इति) यह लिंग ही मोक्षमार्ग है (तु लिंगं मोक्षमार्गः न भवति) किंतु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है (यत् देहनेर्मम्या अर्हतः लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते) क्योंकि देह से निर्मम हुए अर्हतदेव लिंग को छोड़कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का ही सेवन करते हैं ।

आत्मख्याति—कोई-कोई अज्ञान से द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही धारण करते हैं किंतु इसको ही मोक्षमार्ग मानना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सभी भगवान् अर्हतदेवों ने शुद्धज्ञानमय होकरके द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर से ममकार का त्याग कर दिया था और शरीराश्रित द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना की थी ऐसा देखा जाता है ॥ ४०८—४०९ ॥

(४२९)—पाखंडी जो साधुलिंग अथवा गृहीलिंग बताए ।

बाह्य भेष प्रगटाने वाले बहु प्रकार दर्शाए ॥

उन लिंगों को धारण कर अज्ञानी ऐसा कहते ।

इसी लिंग से मोक्षप्राप्त हो ऐसा मूढ़ समझते ॥ ४०८ ॥

(४३०)—लेकिन श्री गुरु का सम्बोधन उनको यह बतलाता ।

केवल बाह्य लिंग से मुक्तिमार्ग नहीं मिल पाता ॥

देखो श्री अरिहंत देव भी देह ममत को तजते ।

बाह्य लिंग में ममत छोड़ रत्नत्रय को ही भजते ॥ ४०९ ॥

(उत्थानिका) —अथैवं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमयदेहो नास्ति ।
देहाभावे देहमयं द्रव्यलिङ्गं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादयति;—

(४२९ ज०) पाखंडियलिङ्गाणि य, गिहलिङ्गाणि य बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदन्ति मूढा, लिङ्गमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥
(४३० ज०) ण य होदि मोक्खमग्गो, लिङ्गं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिङ्गं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ते ॥

पाखंडिलिङ्गानि च, गृहस्थलिङ्गानि च बहुप्रकाराणि ।

गृहीत्वा वदन्ति मूढा, लिङ्गमिदं मोक्षमार्गं इति ॥ ४२९ ॥

न तु भवति मोक्षमार्गो, लिङ्गं यदेहनिर्ममा अर्हतः ।

लिङ्गं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते ॥ ४३० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—पाखंडिलिङ्गानि गृहस्थलिङ्गानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदन्ति मूढाः । किं वदन्ति ?
इदं द्रव्यमयलिङ्गमेव मुक्तिकारणं । कथंभूताः संतः ? रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमसमाधिरूपं भावलिंगमजानन्तः
ण य होदि मोक्खमग्गो लिङ्गं भावलिंगरहितं द्रव्यलिङ्गं केवलं मोक्षमार्गो न भवति । कस्मात् ? इति चेत्-जं
यस्मात्कारणात् देहणिम्ममा अरिहा अर्हतो भगवन्तं देहनिर्ममाः संतः । किं कुर्वन्ति ? लिङ्गं मुइत्तु लिङ्गाधारं
यच्छरीरं तस्य शरीरस्य यन्ममत्वं तन्मनोवचनकार्यैर्मुक्त्वा । पश्चात् दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ते

उत्थानिका—इसप्रकार विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाववाले परमात्मा के नोकर्म आदि आहार का
अभाव होने पर आहारमय देह नहीं है और देह के अभाव में देहमय द्रव्यलिङ्ग निश्चयनय की
अपेक्षा से मुक्ति का कारण नहीं है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढा बहुप्पयाराणि पाखंडियलिङ्गाणि य गिहलिङ्गाणि य घित्तुं वदन्ति) अज्ञानी
जन बहुत प्रकार के मुनिलिङ्ग और गृहस्थ के लिङ्ग को ग्रहण करके कहते हैं (इणं लिङ्गं
मोक्खमग्गोत्ति) ये लिङ्ग—वेष ही मोक्ष के मार्ग हैं । (लिङ्गं मोक्खमग्गो ण य होदि) ये लिङ्ग
मोक्षमार्ग नहीं हो सकते हैं (जं देहणिम्ममा अरिहा लिङ्गं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि
सेवन्ते) क्योंकि देह से निर्मम हुए अर्हत भगवान् लिङ्ग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र का
सेवन करते हैं ॥ ४२९—४३० ॥

तात्पर्यवृत्ति—पाखंडीलिङ्ग—मुनिलिङ्ग और गृहीलिङ्ग—क्षुल्लकादि वेष, इन बहुत प्रकार के
लिङ्ग को ग्रहण कर मूढ़ ऐसा कहते हैं कि यह द्रव्यलिङ्ग ही मुक्ति का कारण है वे रागादि
विकल्परूपउपाधि से रहित परमसमाधिमय भावलिंग को नहीं जानने से ही ऐसा कहते हैं किंतु
वास्तव में भावलिंग रहित केवल—मात्र द्रव्यलिङ्ग ही मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हत

चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तानि सेवन्ते भावयन्तीत्यर्थः ॥ ४२९-४३० ॥

भगवान् के लिंग का आधार जो शरीर है, उस शरीर से जो ममत्व है, मनवचनकाय से उस शरीर के ममत्व को छोड़कर चिदानन्द एक स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व के विषय में जो श्रद्धान्, ज्ञान और अनुचरणरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय निश्चयचारित्र है उसी का सेवन करते हैं—उन्हीं भेदाभेद रत्नत्रय को भाते हैं, यहाँ ऐसा अभिप्राय है ॥ ४२९—४३० ॥

विशेषार्थ—यहाँ श्री जयसेनाचार्य ने नयों की अपेक्षा से स्पष्ट करके श्रीअमृतचन्द्रसूरि की टीका का ही भावार्थ किया है। आगे स्वयं श्री कुंदकुंददेव ने नयविवक्षा दी है अतः यहाँ यह नहीं समझना कि मुनिलिंग धारण किये बिना ही मोक्ष मिल जायेगी क्योंकि आज तक तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी बिना मुनि बने न मोक्ष गये हैं और न जायेंगे ही। स्वयं श्रीकुंदकुंददेव भी तो दिगंबर मुनि वेष में ही थे और मूलाचार के अनुसार अपनी चर्या पालते थे इसलिए एकांत नहीं ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पाखंडीलिंग से निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग को लिया गया है।

वास्तव में एकांत से जो मुनिवेष को ही मोक्ष का कारण कहते हैं और उसके अहंकार से ग्रसित रहते हैं उनके एकांत को छोड़कर द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों को धारण करने का उपदेश है क्योंकि द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग का होना सर्वथा असंभव है। इन (४०८—४०९ अ०, ४२९—४३० ज०) गाथा से लेकर (४१३ अ०, ४३४ ज० तक) आगे गाथाओं में एकांत से द्रव्यलिंग का निषेध करते हुए आगे स्वयं श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं—

व्यवहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ अ०, ४३५ ज० ॥

पुनः व्यवहारनय दोनों ही लिंगों को मोक्षमार्ग में मानता है और निश्चयनय मोक्षमार्ग में सभी लिंग—वेष स्वीकार नहीं करता है। यहाँ बहुत ही स्पष्ट है कि व्यवहारनय से मुनि और श्रावक के वेष से ही मोक्षमार्ग चलता है न कि अन्य वेष से, और निश्चयनय से तो निश्चयरत्नत्रयरूप निर्विकल्पध्यान से ही मोक्ष होता है तथा यह निर्विकल्प ध्यान भी निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनियों के ही संभव है इसलिये परंपरा से मुनिवेष मोक्ष का कारण है ही है।

आगे इसी ४३५वीं गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने बहुत ही अच्छा स्पष्टीकरण किया है। अतः इन प्रारंभिक (४०८—४०९ अ०, ४२९—४३० ज०) गाथाओं को पढ़कर ही पाठकगण या श्रोतागण अर्थ का अनर्थ न करने लगे इसी अभिप्राय से यहाँ आगे की (४१४ अ०, ४३५ ज०) गाथा दे दी है।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अपने सूत्र पाहुड़ ग्रंथ में भी त्रिगुणर त्रिगुण को कितना महत्व दिया है। देखिये—

णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तिस्थायरो ।

णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

जिनशासन में ऐसा कहा है कि यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हैं तो वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः एक नग्नमुद्रा ही मोक्षमार्ग है शेष सभी वेष उन्मार्ग हैं। इसलिये यहाँ यही समझना कि मात्र द्रव्यलिंग या द्रव्यवेष का अहंकार मोक्षमार्ग नहीं है उसी को छोड़ने का उपदेश है न कि मुनिवेष को। यदि मुनिवेष को छोड़ दें तो भला कौन से वेष में रहेंगे ? इसी अभिप्राय को लेकर श्रीपूज्यपादस्वामी ने भी समाधिगतक ग्रंथ में सरल शब्दों में कहा है—

जातिलिंग-विकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

जिन मुनियों के अपनी जाति और अपने मुनि लिंग—नग्न वेष के विकल्प को लेकर शास्त्रीय दुराग्रह हैं वे भी आत्मा के परमपद को—मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। ऐसा समझना।

बात यह है कि यहाँ तो आचार्यश्री वेष के अहंकार और ममकार को ही छोड़ा रहे हैं, अन्यत्र तो श्री अकलंकदेव^१ ने मोक्ष की इच्छा का ही त्याग करा दिया है। यथा—

स्वं परं चेति वस्तु त्वं वस्तुरूपेण भावय ।

उपेक्षाभावनोत्कर्ष-पर्यंते शिवमाप्नुहि ॥ २० ॥

यस्य मोक्षेऽपि नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।

इत्युक्तत्वाद् हितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥ २१ ॥

तुम अपने आत्म तत्त्व और अन्यवस्तु को वस्तु स्वभाव से भावित करो। इस प्रकार उपेक्षा अर्थात् राग-द्वेष के अभाव की परमप्रकर्षता प्राप्त करके ही मोक्ष को प्राप्त करोगे। जिन मुनि को मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं होती है वे भव्य मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है इसलिये हित के इच्छुक—महामुनि को किसी विषय में भी आकांक्षा नहीं करना चाहिये।

कुल मिलाकर सर्व बाह्य संकल्प-विकल्पों से अपने मन को हटाकर शुद्ध आत्मा के ध्यान का ही यहाँ उपदेश है।

अथैतदेव साधयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥ ४१० अ० ॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहिमयानि लिंगानि ।

दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदन्ति ॥ ४१० ॥

आत्मख्यातिः—न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात् ।
तस्मादर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ॥ ४१० ॥
(उत्थानिका) —अथैतदेव व्याख्यानं विशेषेण दृढयतिः—

(४३१ ज०) णवि एस मोक्खमग्गो, पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।

दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥ ४३१ ॥

नाप्येष मोक्षमार्गः, पाखंडिगृहिमयानि लिंगानि ।

दर्शनज्ञानचरित्राणि, मोक्षमार्गं जिना विदन्ति ॥ ४३१ ॥

अब दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है ऐसा सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(पाखंडिगृहिमयानि लिंगानि एषः मोक्षमार्गः न अपि) मुनिलिंग और गृहस्थ लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है (जिनाः दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं विदन्ति) जिनेन्द्रदेव दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनको मोक्षमार्ग कहते हैं ॥ ४१० ॥

आत्मख्याति—एकांत से द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वह शरीर के आश्रित होने से परद्रव्य है इसलिये दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि वह आत्मा के आश्रित होने से स्वद्रव्य है ॥ ४१० ॥

उत्थानिका—अब इसी व्याख्यान को विशेषतया दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—(पाखंडिगृहिमयाणि लिंगाणि एस मोक्खमग्गो णवि) मुनिलिंग और गृहस्थययी लिंग ये दोनों ही मोक्षमार्ग नहीं हैं (दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति) क्योंकि दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥ ४३१ ॥

(४३१)—पाखंडी मुनिलिंग तथा गृहिलिंग न शिव का मारग ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र सदा शिवमारग ॥

ऐसा श्री जिनवर ने निज अनुभव का सार बताया ।

द्रव्यवेष धारी मुनियों ने मोक्ष कभी नहीं पाया ॥ ४१० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—ण वि एस मोक्खमग्गो न चैव मोक्षमार्गः । एषः कः ? पाखंडिगिहिमयाणि लिंगाणि निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिङ्गात्रिरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखंडिगृहिमयाणि द्रव्यलिङ्गानि । कथंभूतानि ? निर्गृथकौपीनग्रहणरूपाणि बहिरंगाकारचिह्नानि । तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत् दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति शुद्धबुद्धैकस्वभाव एव परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदन्ति कथयन्ति ॥ ४३१ ॥

यत एवं—

तह्या दु हित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए ।

दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ अ० ॥

तस्मात् तु हित्वा लिंगानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि ।

दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्त्व मोक्षपथे ॥ ४११ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग से निरपेक्ष—रहित जो ये पाखंडीमय—निर्गृथलिंग और गृहस्थमय—कौपीन ग्रहणरूप द्रव्यलिंग हैं, ये बाह्य आकार के चिह्न हैं, ये ही मोक्षमार्ग नहीं हैं ।

प्रश्न—तब क्या मोक्षमार्ग है ?

उत्तर—शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाववाले ही परमात्मतत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूतिरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥ ४३१ ॥

भावार्थ—मात्र मुनिवेष धारण कर लें किंतु परिणाम पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के या चतुर्थ-पंचम गुणस्थान के हों वह वेष—लिंग मात्र द्रव्यलिंग कहलाता है और मुनिवेष में आत्मा के परिणाम छठे-सातवें गुणस्थान के हों या आगे आठवें आदि गुणस्थान के हो जावें तो यह सब भावलिंग कहलाता है । यहाँ मुनिवेष में व्यवहाररत्नत्रय के साथ-साथ निश्चयरत्नत्रयस्वरूप सातवें आदि गुणस्थानों की भी विवक्षा है । अतः द्रव्यलिंग के साथ भावलिंगरूप रत्नत्रय का होना आवश्यक है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—यदि ऐसी बात है तो क्या करना चाहिये ?

अन्वयार्थ—(तस्मात् सागारैः वा अनगारैः गृहीतानि लिंगानि तु हित्वा) इसलिये गृहस्थों के द्वारा और अनगारों के द्वारा ग्रहण किये गये जो लिंग हैं उनको छोड़कर (दर्शनज्ञानचारित्रे मोक्षपथे आत्मानं युंक्त्व) दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को लगावो ।

(४३२)—चाहे ही सागार तथा अनगार लिंग से युत हों ।

उन दोनों ही बाह्य लिंग को धारें ममत सहित हों ॥

उन लिंगों को तज रत्नत्रय में निज को रत कर दो ।

कुंदकुंद मुरु समझाते हैं मुक्ति पथिक तुम बन लो ॥ ४११ ॥

आत्मख्याति—यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्र्येष्वेव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥ ४११ ॥

अनुष्टुप्—दर्शनज्ञानचारित्र्यथात्मा तत्त्वमात्मनः ।

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ २३९ ॥

(उत्थानिका) —यत एवं—

(४३२ ज०) तद्वा जहितुं लिंगे, सागारणगारिर्हं वा गहिदे ।

दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥

तस्मात् त्यक्त्वा लिंगानि, सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि ।

दर्शनज्ञानचारित्र्ये, आत्मानं युंक्त्व मोक्षपथे ॥ ४३२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—तद्वा जहितुं लिंगे सागारणगारिर्हं वा गहिदे यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गं जिनाः प्रतिपादयन्ति तस्मात्त्यक्त्वा । कानि ? निर्विकारस्वसंवेदनरूपभाव-

आत्मख्याति—जिस हेतु से द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है उसी हेतु से समस्त भी द्रव्यलिंग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य में ही अपनी आत्मा को लगाना चाहिये क्योंकि यही मोक्षमार्ग है । ऐसा ही सूत्र का उपदेश है ॥ ४११ ॥

इसे ही काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—आत्मा का तत्त्व—वास्तविक स्वरूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन तीन रूप हैं इसलिये मुमुक्षु—मोक्ष के इच्छुक मुनियों को सदा एक इस मोक्षमार्ग का ही सेवन करना चाहिये । २३९ ।

उत्थानिका—यदि ऐसा है तो क्या करना ? सो ही कहते हैं—

अन्वायार्थ—(तद्वा सागारणगारिर्हं वा गहिदे लिंगे जहितुं) इसलिए सागार अथवा अनगार के द्वारा ग्रहण किये हुए लिंगों को छोड़कर (दंसणणाणचरित्ते मोक्खपहे अप्पाणं जुंज) दर्शन ज्ञान चारित्र्य स्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाओ ॥ ४३२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जिस कारण पूर्वकथित प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ही मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं, इस कारण से तुम निर्विकार स्वसंवेदनरूप भावलिंग से रहित

आत्मा का असली रूप ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्यमय है ।

इसलिए मुमुक्षु सदा एक इस मोक्षमार्ग में ही रत हैं ॥

यह रत्नत्रय व्यवहार और निश्चय दो रूप कहे जाते ।

व्यवहार का पालन कर मुनिवर निश्चय रत्नत्रय को पाते ॥ २३९ ॥

लिंगरहितानि सागारानगारवर्गैः समूहैः—गृहीतानि बहिरंगाकारद्रव्यलिंगानि । पश्चात् किं कुरु ? दंसणणाणत्तरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे हे भव्य ! आत्मानं योजय संबंघं कुरुव्व । व्व ? केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयस्वरूप-शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे ॥ ४३२ ॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।

तत्थेव्व विहर शिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ अ० ॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व ।

तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥ ४१२ ॥

गृहस्थ और मुनिवर्ग से गृहीत बहिरंग आकार—वेषरूप द्रव्यलिंगों को छोड़कर अभेदरत्नत्रय लक्षणवाले मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को लगावो । यह अभेदरत्नत्रय केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टयस्वरूप अपनी शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी आत्मा के अनुष्ठानरूप होने से निश्चयरत्नत्रय कहलाता है अतः हे भव्य ! तुम अपनी आत्मा का इन रत्नत्रय से संबंध करो, ऐसा यहाँ अभिप्राय है ॥ ४३२ ॥

भावार्थ—मुनिवेष या क्षुल्लकवेषरूप जो द्रव्यलिंग है वह छोड़ा नहीं जाता है उससे ममकार भाव ही छोड़ा जा सकता है । जब महामुनि निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते हैं तब वे द्रव्यलिंग से ममतारहित हो जाते हैं यही उनका द्रव्यलिंग का छोड़ना है । देखो, जब बख्ख छोड़कर दिगंबर बन गये तब भला अब और क्या छोड़ेंगे । पीछी-कमंडलु तो छोड़ेंगे नहीं, अतः दिगम्बर वेषधारी कुंदकुंददेव के कथन को अच्छी तरह समझना चाहिए, स्वयं श्रीकुंदकुंददेव ने भी दिगंबर वेष को नहीं छोड़ा था उससे ममता ही छोड़ी थी ऐसा समझना ।

अब रत्नत्रय में लगने का ही उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—(मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं एव ध्यायस्व च तं चेतयस्व) मोक्षपथ में तुम अपनी आत्मा को स्थापित करो, उसी का ध्यान करो और उसी का अनुभव करो (नित्यं तत्र एव विहर अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः) नित्य उसी में ही विचरण करो अन्य द्रव्यों में गमन मत करो ॥ ४१२ ॥

(४३३)—तू निज आत्मा को मुक्ती पथ में स्थापन कर ले ।

हे भव्यात्मन् ! उसी निजात्मा का ही ध्यान तू कर ले ॥

आत्मानन्द विहारी बनकर उसका ही अनुभव कर ।

तथा अन्य पर द्रव्यों में तू कभी नहीं विचरण कर ॥ ४१२ ॥

आत्मख्यातिः—आ संसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्र्येषु नित्यमेवावस्थापय अतिनिश्चलमात्मानं । तथा समस्तचिन्तान्तरनिरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येव ध्याय । तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येव चेतयस्व । तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षणवृद्धिं किमुपलभ्य परिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्र्येष्वेव विहर । तथा ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहारीः ॥ ४१२ ॥

आत्मख्याति—अनादि संसार से राग द्वेष आदि परद्रव्य में नित्य ही अपनी प्रज्ञा के दोष से स्थित होते हुये भी अपनी आत्मा को अपने प्रज्ञागुण से ही उन परद्रव्य से छुड़ाकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र में नित्य ही अतिनिश्चल स्थापित करो, उसी प्रकार समस्त अन्य चिन्ताओं का निरोध करके अत्यंत एकाग्र होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र का ही ध्यान करो, वैसे ही सकल कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का त्याग करके शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र का ही अनुभव करो, वैसे ही द्रव्यस्वभाव के वश से प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त होते हुये ऐसे परिणामरूप से तन्मयपरिणाम को प्राप्त होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र में ही विचरण करो और उसी प्रकार ज्ञानरूप, एक, अचलित आत्मा का ही अवलंबन लेते हुए ज्ञेयरूप से उपाधि के द्वारा सब तरफ से ही दौड़ते हुए ऐसे संपूर्ण परद्रव्यों में तुम किंचित् मात्र भी गमन मत करो ॥ ४१२ ॥

भावार्थ—यहाँ केवल शुद्ध आत्मा के ध्यान की प्रेरणा देते हुए मुनियों को शुद्धोपयोग में आरूढ़ होने की शिक्षा दी गई है क्योंकि मुनिवेष को धारण करने का फल तो यही है। वास्तव में मुनिवेष फूल के समान है और यह निश्चयरत्नत्रयरूप एकाग्रध्यान उसका फल है। हां, आज पंचमकाल में सातवें गुणस्थान के द्वितीय स्थान ऐसे सातिशय अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करना संभव नहीं है क्योंकि जो मुनि आठवें गुणस्थान में चढ़ने वाले हैं उन्हीं के यह द्वितीय स्थान होता है फिर भी सातवें गुणस्थान के प्रथम स्थान में स्वस्थानअप्रमत्त अवस्थारूप ध्यान संभव है और उसके पहले छठे गुणस्थान में सविकल्प ध्यान संभव है तथा आगे-आगे होने वाले ध्यान की भावना संभव है अतः अपने गुणस्थान के योग्य ध्यानाभ्यास करते रहना चाहिये।

शार्दूलविक्रीडित—एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकस्-
तत्रैवस्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पर्शन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥ २४० ॥

शार्दूलविक्रीडित—ये त्वेनं परिहृत्य संवृत्तिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥ २४१ ॥

इसे ही कलश काव्यों द्वारा दिखलाते हैं—

काव्यार्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह मोक्षमार्ग निश्चित है, उसी मोक्षमार्ग में, जो स्थिति को प्राप्त करते हैं सदा ही उसी का ध्यान करते हैं, और उसी का अनुभव करते हैं और जो अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करते हुए निरंतर उसी आत्मा में ही विहार करते हैं वे अवश्य ही नित्यउदयरूप समय के सार को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं । २४० ।

काव्यार्थ—जो पुरुष इस पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय को छोड़कर व्यवहार पथ में प्रस्थान करते हुए अपनी आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता को धारण करते हैं वे तत्त्व के बोध से च्युत हुए नित्य उदयरूप, अखंड, एक, अतुलप्रकाशमय, स्वभाव की प्रभा के पुंजरूप अमल ऐसे समय के सार को—शुद्धात्मा को आज तक भी नहीं देख पाते हैं । २४१ ।

भावार्थ—जो मुनि ऐसा एकांत दुराग्रह करते हैं कि बस मात्र एक मुनिवेष ही हमें मोक्ष में पहुँचा देगा, वे निश्चयरत्नत्रयरूप एकाग्र ध्यान का अभ्यास नहीं कर पाते हैं तथा आत्मा की शुद्धावस्थारूप जो कारण समयसार है उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं अतः जब तक निश्चलध्यान संभव न हो तब तक उसकी भावना करते हुए अपनी श्रद्धा में तो उस लक्ष्य को रखना ही चाहिये ।

दृग् ज्ञान वृत्तमय एक नियत मुक्तीपथ में मुनि स्थित हैं ।
सर्वदा उसी का ध्यान तथा उसके अनुभव में स्थित हैं ॥
कुछ अन्य द्रव्य का कभी नहीं स्पर्शमात्र जो करते हैं ।
तब नित्य उदित निज समयसार को शीघ्र प्राप्त वो करते हैं ॥ २४० ॥

जो मुनि निश्चय रत्नत्रय तज व्यवहार को सब कुछ मान रहे ।
निज द्रव्य लिंग में ममता कर नहिं तत्त्वज्ञान पहिचान रहे ॥
वे नित्योद्योत अखण्ड अनुल आत्मा को नहिं लख पाते हैं ।
स्वाभाविक प्रभापुंज आत्मामय समयसार नहिं पाते हैं ॥ २४१ ॥

(उत्थानिका) —अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति—

(४३३ ज०) मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि चेदयहि ज्ञायहि तं चेव ।

तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णदब्बेसु ॥

मोक्षपथे आत्मानं, स्थापय चेतयस्व ध्याय तं चैव ।

तत्रैव विहर नित्यं, मा विहाषीरन्यद्रव्येषु ॥ ४३३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि हे भव्य ! आत्मानं स्थापय । क्व विषये ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । चेदयहि तमेव मोक्षपथं चेतयस्व परमसमरसीभावेन अनुभवस्व ज्ञायहि तं चेव तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । तत्थेव विहर णिच्चं तत्रैव विहर वर्तमानापरिणतिं कुरु । नित्यं सर्वकालं । मा विहरसु अण्णदब्बेसु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्पेषु मा विहाषीः, मा गच्छ, मा परिणतिं कुर्विति ॥ ४३३ ॥

उत्थानिका—मोक्षार्थी पुरुष को—महामुनि को शुद्धात्मानुभूति लक्षण, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग का ही सेवन करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि तं चेव ज्ञायहि) मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित करो, आत्मा का ही अनुभव करो और उसी का ध्यान करो (णिच्चं तत्थेव विहर अण्णदब्बेसु मा विहरसु) नित्य उसी में विचरण करो और अन्य द्रव्यों में विचरण मत करो ॥ ४३३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—हे भव्य ! शुद्धज्ञानदर्शन स्वभावरूप अपने आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और उसी में अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रयमय मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित करो । परमसमरसीभाव से उसी निश्चयरत्नत्रयमय मोक्षमार्ग का ही अनुभव करो, निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर उसी का ध्यान करो—उसी की भावना करो और सदाकाल उस मोक्षमार्ग में ही वर्तन करो—परिणति करो तथा देखे, सुने और अनुभव में आये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध आदि परद्रव्यों के अवलंबन से उत्पन्न हुये ऐसे शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों में विहार मत करो—उनमें मत जावो—उसमें परिणति मत करो, यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ॥ ४३३ ॥

भावार्थ—यहाँ आचार्यदेव ने निश्चयरत्नत्रय स्वरूप आत्मा के ध्यान का ही उपदेश दिया है । यही निश्चयरत्नत्रय कारणसमयसार है । यह छोटे गुणस्थानवर्ती निर्दोषचारित्रधारी महामुनि के ही सातवें आदि गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक पाया जाता

हैं। यदि आप मुनि हैं तो निश्चयरत्नत्रय की भावना करते रहिये। यदि आप श्रावक हैं तो समयसार पढ़ते हुये मुनि बनने की भावना कीजिये और यदि आप अवती हैं तो अणुवती बनकर पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा के व्रतों को धारण करने में अपना उपयोग लगाइये। यही क्रम एक न एक दिन निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करायेगा। आचार्य श्री शांतिसागर जी महामुनि एक स्थान में विराजमान थे। ब्र० हीरालाल जी और ब्र० खुशालचंद जी दोनों महानुभाव उनके पास पहुंचे, बिना नमस्कार किये ही बैठ गये और गुरुदेव से कुछ प्रश्न करना शुरू कर दिया। बीच में ही वे बोले—“महाराज जी ! हम आपको मुनि नहीं मानते हैं।”

आचार्य श्री ने कहा—“मत मानो बाबा ! हम तो नहीं कहते कि हमें मुनि मानो ही मानो।”

प्रश्नोत्तर की श्रृंखला में आचार्य श्री ने पूछा—

“यह जो सामने वृक्ष है वह किसका है ?”

ब्रह्मचारियों ने उत्तर दिया—“महाराजजी ! यह आम्र का वृक्ष है।”

आचार्य श्री ने कहा—“इसमें आम्र तो हैं नहीं और न आम्र के पुष्प—बौर ही हैं पुनः यह आम्र का वृक्ष कैसे है ?”

उन दोनों ने कहा—“नहीं महाराज ! यह आम्र का ही वृक्ष है।”

“क्यों ?” क्योंकि यदि आम्र के फूल, फल आयेंगे तो इसी में आयेंगे इसलिये यह वृक्ष आम्र का ही है।”

तब आचार्य श्री ने कहा—“बाबा ! जैसे यह वृक्ष आम्र का ही है इसी तरह हम भी मुनि हैं क्योंकि रत्नत्रय की सिद्धि होगी तो इसी वेष से ही होगी और मोक्ष होगा तो इसी वेष से ही होगा।”

आचार्य श्री के इस समयोचित उत्तर से दोनों ब्रह्मचारी बहुत ही प्रभावित हुये। तत्काल ही आचार्य श्री के चरणों में नमस्कार करके अपने उदंडपने की क्षमा याचना की और उनके श्रीचरणों में अपने जीवन को समर्पित कर दिया। ब्र० हीरालालजी तो आचार्य श्री के प्रथम शिष्य एवं प्रथम पट्टाधीश आचार्यवर्य वीरसागर जी हुये हैं एवं ब्र० खुशालचंद जी आचार्यकल्प चंद्रसागरजी के नाम से महान् साधुरत्न हुये हैं।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज भी कहा करते थे—“हम लोग तो मात्र साधक हैं, साधु बनने का अभ्यास कर रहे हैं... आज हम लोगों से अट्ठाईस मूलगुणों का पालन हो जावे यही बहुत है। इस मुनिव्रत के संस्कार व शुद्धोपयोग की भावना से आगे कभी न कभी हम साधु बन ही जायेंगे इत्यादि।”

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।

कुर्वन्ति जे ममत्तं तेहिं ण पायं समयसारं ॥ ४१३ अ० ॥

पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु ।

कुर्वन्ति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥ ४१३ ॥

आत्मख्यातिः—ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहङ्कारं कुर्वन्ति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवन्तं समयसारं न पश्यन्ति ॥ ४१३ ॥

जो इस शरीराश्रित वेष में ममता करते हैं वे समयसार के ज्ञाता नहीं हैं—

अन्वयार्थ—(ये पाखंडिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु वा गृहिलिंगेषु ममत्वं कुर्वन्ति) जो निर्ग्रथलिंगों में और बहुत प्रकार के क्षुल्लक आदि गृहस्थ के लिंगों में ममता करते हैं (तैः समयसारः न ज्ञातः) उन्होंने समयसार को नहीं जाना है ।

आत्मख्याति—‘मैं श्रमण हूँ’, ‘मैं श्रमणों का उपासक हूँ’ जो पुरुष इस प्रकार द्रव्यलिंग के ममकार से मिथ्या अहंकार करते हैं वे अनादि से चले आये ऐसे व्यवहार में विमूढ़ हैं—मोहित होते हैं अतः वे प्रौढ विवेक—विशेष भेदज्ञानरूप निश्चय को नहीं प्राप्त करते हुये परमार्थसत्य भगवान् समयसार को नहीं देख पाते हैं ॥ ४१३ ॥

विशेषार्थ—‘पाखंडी लिंग’ शब्द से यहाँ श्रमण—निर्ग्रथ दिगंबर मुनि को ही लिया है । ‘ये मुनि द्रव्यलिंगी हैं अतः पाखंडी हैं’ यहाँ ऐसी बात नहीं है । श्री कुंदकुंददेव के समय में ‘पाखंडी’ शब्द का प्रयोग नग्न दिगंबर मुनियों के लिये किया जाता होगा ऐसा प्रतीत होता है अतः यहाँ ‘पाखंडी’ शब्द का अर्थ ऐसा करना चाहिये । “पापं खंडयति इति पाखंडी” जो पापों को खंड-खंड कर देते हैं—नष्ट कर देते हैं ऐसे सदा पुण्यास्त्रव और संवर, निर्जरा के करने वाले महामुनि ही होते हैं ।

गाथा ४११ अ० में श्रीकुंदकुंददेव ने भी पाखंडी पद के स्थान पर ‘अनगार’ पद का प्रयोग किया है । देखिये—

तह्मा दुहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिण् ।

दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

(४३४)—पाखंडी लिंगों में या गृहिलिंगों में जो रमते ।

उनमें कर करके ममत्व मिथ्यादृष्टी ही बनते ॥

उनके द्वारा समयसार को नहीं जाना जा सकता ।

समयसार का सार तत्त्वज्ञानी मुनि ही पा सकता ॥ ४१३ ॥

वियोगिनी छंद (वैतालीय छंद) —व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।

तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तंदुलं ॥ २४२ ॥

इसलिये सागर—गृहस्थ या श्रावक अथवा अनगार—मुनियों के द्वारा ग्रहण किये गये लिंग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को लगाओ ।

प्रकृत में 'पाखंडी' शब्द जो चला आ रहा है उसी के स्थान में यहाँ 'अनगार' पद का प्रयोग है । तथा टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी उसी 'पाखंडी' पद से 'श्रमण' पद लिया है और श्रीजयसेनाचार्य ने तो 'निर्ग्रथकौपीनग्रहणरूपाणि' निर्ग्रथ लिंग व कौपीन ग्रहण रूप उत्कृष्ट श्रावक के क्षुल्लक-ऐलक वेष को ही कहा है ।

यहाँ जो 'हित्वा'—छोड़कर पद है वह उन लिंगों से ममत्व परिणाम तथा अहंकार को ही छोड़ने का उपदेश है न कि द्रव्यवेष का, क्योंकि क्षुल्लक-ऐलक तो लंगोटी-चादर को छोड़कर नग्न दिगंबर मुनि बन सकते हैं लेकिन मुनि अपने नग्न वेष को छोड़कर भला किस वेष को धारेंगे ? इसलिये जब तक शरीर है तब तक मुनि वेष को छोड़ना संभव नहीं है । हाँ, शरीर से और शरीराश्रित वेष से व पिच्छी-कमंडलु से ममत्व छोड़ना ही संभव है उसी के त्याग का यहाँ उपदेश है ऐसा समझना ।

अब इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—व्यवहार में ही मोहित दृष्टिवाले पुरुष परमार्थ को—निश्चय को नहीं जानते हैं, जैसे कि संसार में तुष—चावल के ऊपरी छिलके में मोहित बुद्धि वाले पुरुष तुष को ही प्राप्त करते हैं तंदुल को नहीं जानते—नहीं प्राप्त करते हैं । २४२ ।

भावार्थ—श्री शुभचंद्राचार्य ने भी इस काव्य की टीका में कहा है कि "ते जनाः तुषं तंदुलाच्छादिकां त्वचं कलयन्ति—जानन्ति पुनस्तत्र स्थितं तण्डुलं—अक्षतं न जानन्ति ।" वे मनुष्य तंदुल को ढकने वाले ऐसे तुष को—धान्य के छिलके को ही जानते हैं उसके अंदर में ही स्थित चावल को नहीं जान पाते हैं । ऐसे ही एकांत से व्यवहार में मोहित हुये—मात्र व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले मनुष्य निश्चय नय के आश्रित ऐसी अपनी शुद्ध आत्मा को नहीं जान पाते हैं अतः दोनों नयों के आश्रय से तत्त्व को समझना चाहिये ।

व्यवहार में ही मोहित दृष्टि वाले परमार्थ न जान सकें ।

एकान्त मसित होने से वे शुद्धात्मा नहीं पहचान सकें ॥

जैसे तंदुल के ऊपर तुष की मात्र प्राप्ति इच्छा जिनको ।

तुष की संप्राप्ति हो जाती नहीं तंदुल प्राप्त हुआ उनको ॥ २४२ ॥

स्वागता छंद—द्रव्यलिंगममकारमौलितैः दृश्यते समयसार एव न ।

द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकभिदमेव हि स्वतः ॥ २४३ ॥

(उत्थानिका) —अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिङ्गरहिता ये द्रव्यलिंगे ममतां कुर्वन्ति तेऽद्यापि समयसारं न जानन्तीति प्रकाशयति;—

(४३४ ज०) पाखंडिलिंगेसु व, गिहिलिंगेसु व बहुष्यारेसु ।

कुर्वन्ति जे ममत्ति, तेहि ण णादं समयसारं ॥

पाखंडिलिंगेषु वा, गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु ।

कुर्वन्ति ये ममतां, तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥ ४३४ ॥

काव्यार्थ—द्रव्यलिंग के ममकार से बंद हो रहे हैं नेत्र जिनके, ऐसे पुरुष समयसार को देख ही नहीं पाते हैं क्योंकि संसार में द्रव्य लिंग तो अन्य से होता है और यह ज्ञान ही एक है कि जो स्वतः से होता है—अपनी आत्मा से होता है । २४३ ।

भावार्थ—द्रव्यलिंग में केशलोच करना, पिच्छी-कमंडलु धारण करना, नग्न रहना आदि होता है । अतः यह द्रव्यवेष तो पर वस्तु के और शरीर के आश्रित है किंतु भावलिंग तो आत्मा का रत्नत्रयरूप परिणाम है । यद्यपि जैसे फूल के बिना फल असंभव है वैसे ही द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग असंभव है फिर भी द्रव्यलिंग के मोह—ममकार—अहंकार को छोड़े बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं हो सकती है । ऐसा समझना चाहिये तथा व्यवहाररत्नत्रयरूप साधन से जो निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है उसी का नाम 'समयसार' है ।

उत्थानिका—जो पुरुष सहज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति लक्षण वाले ऐसे भावलिंग से रहित होते हुये द्रव्यलिंग में ही ममता को करते हैं वे आज तक भी समयसार को नहीं जानते हैं, इसे ही प्रकाशित करते हैं—

अन्वयार्थ—(पाखंडिलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुष्यारेसु जे ममत्ति कुर्वन्ति) मुनि वेष में या बहुत प्रकार के गृहस्थ—क्षुल्लक आदि के वेषों में जो ममत्व करते हैं (तेहि समयसारं ण णादं) उन्होंने समयसार को नहीं समझा है । ॥ ४३४ ॥

जिनके बस द्रव्यलिंग के ही ममकार से नेत्र निमीलित हैं ।

ऐसे पुरुषों को समयसार का सार कहाँ उन्मीलित है ॥

इस जग में द्रव्यलिंग तो पर पुद्गल शरीर के आश्रित है ।

बस ज्ञान एक जो स्वतः निजात्मा को पहचाने स्वाश्रित है ॥ २४३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—पाखंडिलिंगेषु च गिहिलिंगेषु च बहुष्यारेषु कुर्वन्ति ये ममर्त्ति वीतरागस्वसंवेदन-
ज्ञानलक्षणभावलिङ्गरहितेषु निर्ग्रन्थरूपपाखंडिद्रव्यलिङ्गेषु कौपीनचिह्नादिगृहस्थद्रव्यलिङ्गेषु बहुप्रकारेषु ये ममतां
कुर्वन्ति तेहि ण णादं समयसारं जगत्त्रयकालत्रयवर्तिख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालंबन-
समुत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितः शून्यः चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्न-
त्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसीभावपरिणामेन सालंबनः
पूर्णकलशवद्वरितावस्थः केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ
निश्चयकारणसमयसारः स खलु तैर्न ज्ञात इति ॥ ४३४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान लक्षण वाले भावलिङ्ग से रहित, निर्ग्रन्थरूप पाखंडि
द्रव्यलिङ्ग में—मुनि वेष में और कौपीन चिह्न आदि रूप गृहस्थ के द्रव्यलिङ्ग में ऐसे बहुत
प्रकार के वेष में जो ममता करते हैं वे निश्चयकारणसमयसार को नहीं जान पाते हैं। यह
निश्चयकारण समयसार कैसा है ? जो तीनों जगत् और तीनों काल में होने वाले ख्याति,
पूजा, लाभ, मिथ्यात्व, काम, क्रोध आदि समस्त परद्रव्य के आलंबन से उत्पन्न हुये
शुभ-अशुभ संकल्प विकल्पों से रहित है, शून्य है, चिदानंद एक स्वभाव वाले शुद्धात्मतत्त्व
का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न
हुये वीतराग सहज अपूर्व परमाह्लादरूप सुखरसानुभवमय परम समरसीभाव परिणाम के
अवलंबन से सहित है, पूर्णकलश के समान भरा हुआ है, केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टय की
प्रगटारूप साक्षात् उपादेयभूत ऐसे कार्य समयसार को उत्पन्न करने वाला है ऐसा जो यह
निश्चय कारण समयसार है उसे उन्होंने नहीं जाना है ऐसा समझना ॥ ४३४ ॥

भावार्थः—श्रीजयसेनाचार्य ने बहुत ही सरल शब्दों में कहा है कि जो अभेदरत्नत्रय है
वही कारण समयसार है। वह कार्य समयसार स्वरूप केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाला है।
पूर्व में भी श्री जयसेनाचार्य ने कारण समयसार के दो भेद किये हैं—व्यवहार कारणसमयसार
और निश्चय कारण समयसार। छठे गुणस्थान के व्यवहार रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग या
व्यवहार कारणसमयसार कहते हैं तथा सातवें आदि गुणस्थान में होने वाले निश्चय-
कारणसमयसार को निश्चयरत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। पहले व्यवहार कारण
समयसार होता है पुनः उस व्यवहाररूप साधन से साध्य ऐसा निश्चयकारण समयसार होता है
इसलिये चतुर्थ-पंचम गुणस्थान में यह व्यवहार कारण समयसार भी न होकर कारणकारण-
समयसार समझना चाहिये।

व्यवहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ अ० ॥

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे ।

निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४१४ ॥

आत्मख्यातिः—यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गं इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थस्तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात् । यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्कांतं दृशिज्ञप्तिवृत्तप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवात्मकत्वे सति परमार्थत्वात् । ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते । य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते एव समयसारं चेतयन्ते ॥ ४१४ ॥

अब नयों की विवक्षा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यावहारिकः नयः पुनः द्वे लिंगे अपि मोक्षपथे भणति) व्यवहारनय तो मुनि और गृहस्थ ऐसे दोनों लिंगों को भी मोक्षमार्ग कहता है (निश्चयनयः सर्वलिंगानि मोक्षपथे न इच्छति) किंतु निश्चयनय सर्वलिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता है ॥ ४१४ ॥

आत्मख्याति—जो यह 'श्रमण और श्रमणोपासक' के भेद से दो प्रकार का द्रव्यलिंग रूप मोक्षमार्ग है, इस प्रकार से कहने का प्रकार है वह केवल व्यवहार ही है न कि परमार्थ, क्योंकि वह व्यवहार स्वयं अशुद्धद्रव्य के अनुभवरूप होने से परमार्थ नहीं हो सकता है । जो श्रमण और श्रमणोपासक के विकल्प से रहित श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र में प्रवृत्तिमात्र/ निश्चयरत्नत्रयात्मक एक शुद्धज्ञान ही है ऐसा जो तुषरहित अनुभव करना है वही परमार्थ है क्योंकि यही स्वयं शुद्धद्रव्य के अनुभवरूप होने से परमार्थ है इसलिये जो व्यवहार का ही परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे समयसार का अनुभव कर ही नहीं सकते हैं और जो परमार्थ को—निश्चय को परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे ही समयसार का अनुभव करते हैं ॥ ४१४ ॥

भावार्थ—जैन सिद्धांत में 'श्रमण' शब्द परममुनि का वाचक है । 'श्राम्यन्ति' तपश्चरणं कुर्वन्ति इति श्रमणाः जो श्रम करते हैं—तपश्चरण करते हैं वे 'श्रमण' हैं । श्रावकों को 'श्रमणो-

(४३५)—मुनि श्रावक दोनों लिंगों में मोक्षमार्ग रहता है ।

इन दोनों को व्यावहारिक नय मोक्षपथ कहता है ॥

लेकिन निश्चयनय इन सबको मोक्षमार्ग नहीं कहता ।

वह तो दोनों लिंग विकल्पों को तज निज में रहता ॥ ४१४ ॥

मालिनीछन्द—अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्र खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ २४४ ॥

पासक' कहा है क्योंकि मुनियों की उपासना करने वाले ही श्रावक कहलाते हैं। इसीलिये इन श्रावकों की चर्चा को कहने वाले अंग का नाम है 'उपासकाध्ययनांग'। आज कुछ लोग श्रावकों के लिये 'मुमुक्षु' शब्द का प्रयोग करते हैं किंतु यह 'मुमुक्षु' शब्द भी 'मोक्तुं इच्छुः' जो छूटना चाहता है वह मुमुक्षु है इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रावकों में नहीं घटता है। आगम में भी सर्वत्र मुनि के लिये ही मुमुक्षु शब्द है और श्रावकों के लिये उपासक। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है—

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयं ।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥ ४१ ॥

सर्वथा सर्व पापों के त्याग में लीन हुये मुनि समयसार रूप हैं किंतु जो एकदेश पापों के त्यागी हैं वे उनके उपासक कहलाते हैं। यहाँ भी श्रावक के लिये उपासक पद का प्रयोग हुआ है। ऐसा समझना।

अब इसे ही काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—बहुत कहने से बस हो, बस हो और बहुत से अशुभ विकल्पों से भी बस हो, बस हो, यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि आप नित्य इस एक परमार्थ का ही अनुभव करो क्योंकि अपने रस के विस्तार से परिपूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होने मात्र, ऐसे समयसार से उत्कृष्ट या अधिक और कुछ भी नहीं है। २४४।

भावार्थ—पूर्ण ज्ञान जब स्फुरित हो जाता है तब आत्मा के अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं इस पूर्ण—केवलज्ञान का नाम ही 'समयसार' है। यहाँ यह कार्यसमयसार विवक्षित है। इससे बढ़कर इस संसार में और कोई वस्तु है ही नहीं। अतः इस समयसार को प्रगट करने के लिये आपको मात्र ज्ञानस्वरूप एक कारण समयसार का ही अनुभव करना चाहिये। यह अवस्था शुद्धोपयोगी मुनि के निश्चयरत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प ध्यान में ही होती है।

बहु अशुभ विकल्पों से बस हो अतिजल्पन अब नहीं करना है।

परमार्थ एक निश्चय को ही अनुभव स्वरूप अब कहना है ॥

निजरस विस्तार से परिपूरित मुनिवर का प्रस्फुट ज्ञान सही।

इस समयसार से अधिक और कुछ भी है जग में अन्य नहीं ॥ २४४ ॥

अनुष्ठुप्—इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां ।

विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥ २४५ ॥

(उत्थानिका) —अथ निर्विकारशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणभावलिङ्गसहितं निर्ग्रथयतिलिङ्गं कौपीनकरणादिबहुभेदसहितं गृहीलिङ्गं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते । निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिङ्गानि न मन्यत इत्याख्यातिः—

(४३५ ज०) व्यवहारिओ पुण णओ, दोण्णिवि लिङ्गाणि भणदि मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ दु णेच्छदि, मुक्खपहे सव्वलिङ्गाणि ॥

व्यावहारिकः पुनर्नयो, द्वे अपि लिङ्गे भणति मोक्षपथे ।

निश्चयनयस्तु णेच्छति, मोक्षपथे सर्वद्रव्यलिङ्गानि ॥ ४३५ ॥

काव्यार्थ—यह एक—अद्वितीय जो समयसार ग्रंथ है वह आनंदमय ऐसे विज्ञानघन—शुद्ध आत्मा की प्रत्यक्षता को कराता हुआ अक्षय—अविनाशी जगत् के लिये एक नेत्र के समान हुआ पूर्णता को प्राप्त हो रहा है ॥ २४५ ॥

भावार्थ—यह समयसार ग्रंथ सकल शास्त्रों से भी अधिक महिमाशाली है इसलिये 'अद्वितीय' है । तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले ऐसे केवलज्ञान को प्रगट करने वाला होने से 'जगत्चक्षु' है । इससे प्राप्त होनेवाला सुख शाश्वत है अतः यह 'अक्षय' है । पूर्णज्ञानमय होने से 'विज्ञानघन' है । आत्यंतिक मोक्ष सुख का कारण होने से व आत्मा से उत्पन्न आनंददायी होने से 'आनंदमय' है । इसको जो भव्यजीव पढ़ते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं वे उत्तम सुख को प्राप्त कर लेते हैं ।

उत्थानिका—निर्विकार शुद्धात्मा के स्वसंवेदन लक्षणवाले भावलिङ्ग से सहित जो निर्ग्रथ यतिलिङ्ग है और कौपीन ग्रहण करने आदि बहुत भेद से सहित जो ग्रहीलिङ्ग—श्रावकलिङ्ग है ये दोनों भी मोक्षमार्ग में हैं ऐसा व्यवहारनय मानता है और निश्चयनय तो सर्वद्रव्यलिङ्गों को नहीं मानता है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यवहारिओ णओ पुण मोक्खपहे दोण्णिवि लिङ्गाणि भणदि) व्यवहारनय पुनः मोक्षपथ में दोनों ही लिङ्गों को स्वीकार करता है (णिच्छयणओ दु मुक्खपहे सव्वलिङ्गाणि णेच्छदि) किंतु निश्चयनय मोक्षपथ में सभी लिङ्गों को नहीं मानता है ॥ ४३५ ॥

यह अद्वितीय एक समयसार जो ग्रन्थ विश्व का नेत्र कहा ।

सब शास्त्रों में महिमाशाली त्रैलोक्यप्रकाशन हेतु कहा ॥

इसके द्वारा आनन्दमयी शुद्धात्मा का अनुभव होता ।

अक्षय अविनाशी पूर्णज्ञान इससे ही हमें सुगम होता ॥ २४५ ॥

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ 'ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं' इत्यादि वचनों से भावलिंग रहित ही द्रव्यलिंग का निषेध किया गया है न कि भावलिंग सहित का। क्योंकि द्रव्यलिंग का आधारभूत जो वह शरीर है उस शरीर से ममत्व का निषेध किया है न कि द्रव्यलिंग का निषेध किया है। वह इस प्रकार है कि पहले दीक्षा के समय संपूर्ण परिग्रह का ही त्याग किया है न कि देह का त्याग। क्योंकि देह के आधार से ही ध्यान और ज्ञान का

लिंगीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्यः। देहनिर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते ? इति चेत् जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ते इत्यादि वाक्येणेति । १ हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति। अभ्यंतरतुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति भावलिंगं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति। हे भगवन् ! भावलिंगे सति बहिरंगं द्रव्यलिंगं भवतीति नियमो नास्ति साहारणासाहारणेत्यादि वचनादिति ? परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निरर्थ एव। कस्मात् ? इति चेत् बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पांडवादिवत्। येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निरर्थरूपेणैव। परं किन्तु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति स्तोककालत्वादिति भावार्थः। एवं भावलिंगरहितानां द्रव्यलिंगमात्रं

अनुष्ठान होता है, यह हेतु है। कारण यह है कि शेष परिग्रह के समान देह को पृथक् करना शक्य नहीं है, पुनः वीतराग ध्यान के काल में 'यह मेरा शरीर है', 'मैं मुनिवेष धारी हूँ' इत्यादि विकल्प व्यवहार से भी नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ गाथाओं में देह से निर्मम होना कहा गया है यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—इसका समाधान यह है कि 'जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ते।' इत्यादि वचनों से ही जाना जाता है कि देह से निर्मम होने का ही उपदेश है। देखो, शालि तंदुल—धान के बहिरंग तुष के विद्यमान रहने पर अभ्यंतर के तुष का—लालिमा का त्याग करना नहीं हो सकता है और अभ्यंतर के तुष—लालिमा के दूर हो जाने पर बहिरंग तुष/छिलका का त्याग तो नियम से हो ही जाता है। इस न्याय से सर्व परिग्रह के त्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता है अथवा नहीं भी होता है यह नियम नहीं है किन्तु अभ्यंतर के भावलिंग के होने पर सर्वपरिग्रह के त्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है ऐसा समझना।

प्रश्न—हे भगवन् ! भावलिंग के होने पर बाह्य में द्रव्यलिंग होता ही है, यह नियम नहीं है क्योंकि 'साहारणासाहारणं' इत्यादि वाक्य है ?

उत्तर—इसका परिहार करते हैं। कोई भी महामुनि ध्यान में आरूढ़ हुये/स्थित हैं किसी ने दुष्टभाव से उनके ऊपर वस्त्र को वेष्टित कर दिया अथवा उनको आभरण आदि पहना दिये फिर भी वे निरर्थ ही हैं क्योंकि उनके बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव है पांडव आदि मुनियों के समान। जो भी भरत चक्रवर्ती आदि दो घड़ी—अंतर्मुहूर्त मात्र में मोक्ष को गये हैं—केवलज्ञानी हो गये हैं वे भी निरर्थरूप से ही हुये हैं फिर भी उनके परिग्रह के त्याग को लोग नहीं जानते हैं क्योंकि उनका काल बहुत ही थोड़ा है ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार भावलिंग से रहित मुनियों का द्रव्य लिंगमात्र मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु भावलिंग से सहित मुनियों का यह

मोक्षकारणं न भवति। भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकं गतं। अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति। कस्मात् ? इति चेत्—‘सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो’ इति वचनात् इति ? नैव, छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वं। तद्यथा—यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्वरगादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं। अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबंधि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः। अथ मतं सावरणत्वाक्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्धं न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति। कस्मात् ? छद्मस्थानां ज्ञानं यद्यप्येकदेशेन निरावरणं तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति। अथाभिप्रायः पारिणामिकभावशुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते। कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं पारिणामिकभावस्य शक्तिमात्रेण शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति। तथाहि—जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वरूपेण त्रिविधो हि

द्रव्यलिंग सहकारी कारण है इस व्याख्यान की मुख्यता से तेरहवें स्थल में सात गाथायें पूर्ण हुई हैं।

प्रश्न—केवलज्ञान शुद्ध है और छद्मस्थजनों का क्षायोपशमिक ज्ञान अशुद्ध है पुनः यह अशुद्ध ज्ञान शुद्ध केवलज्ञान का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि ‘सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो’ ऐसा वचन है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, छद्मस्थज्ञान कथंचित् शुद्ध है कथंचित् अशुद्ध है। उसे ही स्पष्ट करते हैं—यद्यपि यह छद्मस्थ ज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा से शुद्ध नहीं है फिर भी मिथ्यात्व रागादि भावों से रहित होने से और वीतराग सम्यक्त्व तथा वीतराग चारित्र से सहित होने से शुद्ध है। अभेदनय की अपेक्षा से फिर भी वह छद्मस्थों से संबंधित भेदज्ञान आत्मस्वरूप ही है इस कारण उस एकदेश प्रगटरूप क्षायोपशमिक ज्ञान से भी सकल प्रगटरूप केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है इसमें कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—यह छद्मस्थ ज्ञान आवरण सहित होने से अथवा क्षायोपशमिक होने से शुद्ध नहीं है ?

उत्तर—तब तो फिर किसी को मोक्ष भी नहीं हो सकता है क्योंकि छद्मस्थ जीवों का ज्ञान यद्यपि एकदेशरूप से निरावरण है फिर भी केवलज्ञान की अपेक्षा से नियम से वह सावरण ही है और क्षायोपशमिक ही है।

प्रश्न—पारिणामिक भाव शुद्ध है उससे ही मोक्ष होवेगा ?

उत्तर—ऐसा कथन भी घटित नहीं होता है क्योंकि केवलज्ञान से पहले पारिणामिक भाव शक्तिमात्र से शुद्ध है न कि प्रगट रूप से। उसे ही कहते हैं—जीवत्व, भव्यत्व और

पारिणामिकः । तत्र तावदभव्यत्वं मुक्तिकारणं न भवति यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वयं तस्य द्वयस्य तु यदायं जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्वं । तच्च शुद्धत्वं—औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य संबंधि मुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति । तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बंधमोक्षस्य कारणरहितत्वं पंचास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते'

मोक्षं कुर्वति मिश्रौप-शमिकक्षायिकाभिधाः ।

बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥ १ ॥

तत एव स्थितं निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यं क्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवतीति । शुद्धपारिणामिकभावः पुनरेकदेश-व्यक्तिलक्षणायां कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति न च ध्यानपर्यायरूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति ॥ ४३५ ॥

अभव्यत्व के भेद से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है । उनमें जो अभव्यत्व भाव है वह तो मुक्ति का कारण है ही नहीं । पुनः जो जीवत्व और भव्यत्व ये दो भाव हैं वे कब शुद्ध होते हैं ? सो बताते हैं कि जब यह जीव दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के लाभ से वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रय से परिणमन करता है तब ये दोनों भाव शुद्ध हो जाते हैं और वह शुद्धता मुख्यरूप से औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक इन तीनों से संबंधित है पुनः गौणरूप से पारिणामिक भाव से संबंधित है क्योंकि शुद्ध पारिणामिक भाव बंध-मोक्ष के कारण से रहित है पंचास्तिकाय ग्रंथ में निम्नलिखित श्लोक के द्वारा कहा गया है—

श्लोकार्थ—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव मोक्ष को करने वाले हैं, औदयिकभाव बंध करता है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है ।

इसलिये यह बात निश्चित हो जाती है कि निर्विकल्प शुद्धात्मा के जानने लक्षणरूप, वीतराग सम्यक्त्व और वीतराग चारित्र से अविनाभूत, अभेदनय से 'शुद्धात्मा' इस शब्द से जो वाच्य है वही भाव क्षायोपशमिक होते हुये भी भावश्रुत ज्ञान है, वही मोक्ष का कारण है पुनः शुद्धपारिणामिक भाव कथंचित् भेदाभेदरूप, द्रव्यपर्यायात्मक जीवपदार्थ की शुद्धभावना की अवस्था में जोकि एक देश प्रगटता लक्षण वाला है उस ध्यानावस्था में यह ध्येयभूत द्रव्यरूप से रहता है न कि ध्यानरूप से, क्योंकि ध्यान तो विनश्वर है ऐसा समझना ॥ ४३५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ श्री जयसेनाचार्य ने बहुत ही अच्छा स्पष्टीकरण दिया है । वे कहते हैं—हे तपोधन साधुओं ! तुम लोग द्रव्यलिंग मात्र से ही संतुष्ट मत होवो, बल्कि निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पध्यान को करो । यहाँ द्रव्यलिंग का निषेध नहीं है बल्कि द्रव्यलिंग के आधार से ही प्राप्त होने वाले ऐसे भावलिंग को प्राप्त करने की तथा देह से ममत्व को छोड़ने की प्रेरणा दी है ।

आगे टीका में एक पंक्ति है—“साहारणासाहारणे त्यादि वचनात्। इसका स्पष्टीकरण यह है। प्राकृत सिद्धभक्ति में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने यह गाथा दी है—

साहारणासाहारणे सम्पुग्धादेदरे य णिव्वादे।

ठिट पलियंकणिसण्णे विगयमले परमणाणगे वंदे ॥ ५ ॥

इसकी टीका श्री प्रभाचंद्राचार्य कृत है—

टीका—उपसर्गेतरवशात् साभरणासाभरणसिद्धाः साहतासाहतसिद्धा वा भवन्ति।

कोई मुनि उपसर्ग के निमित्त से आभरणसहित भी सिद्ध हुये हैं और कोई उपसर्ग के बिना आभरण से रहित भी सिद्ध हुये हैं। अथवा कोई देवों या त्रिद्याधरों द्वारा किये गये उपसर्ग से अपहृत—लाये गये—एक स्थान से दूसरे स्थान पर डाले गये भी सिद्ध हुये हैं और कोई बिना अपहृत भी सिद्ध हुये हैं।

यहाँ जो आभरण सहित हुये सिद्ध होने का कथन है वह पांडव मुनियों में घटित हुआ है। उनके शत्रु—दुर्योधन के भानजे कुर्युधर ने शत्रुंजय पर्वत पर ध्यान में लीन हुये पांडव मुनियों को लोहे के कड़े, कंकण, हार, बाजूबंद, मुकुट आदि आभूषण बनवाकर उन्हें अग्नि में तपा-तपाकर गरम-गरम पहनाये थे, जिससे उनके शरीर जलने लगे थे फिर भी वे ध्यान से च्युत न होकर शुक्लध्यान में लीन होकर अंतकृत् केवली होकर अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष चले गये थे। अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर ये तीनों भाई तो केवली होकर मोक्ष गये हैं किंतु नकुल और सहदेव ये दोनों भाई छठे गुणस्थान में अपने बड़े भाइयों के शरीर के दाह को सोचकर दुःखी हुये पुनः निर्विकल्प ध्यान में पहुँचकर उपशम श्रेणी में चढ़ गये यहाँ भी शुक्लध्यान ही था फिर भी उपशम श्रेणी में चढ़ने वाले मुनि यद्यपि भावलिंगी हैं, निर्विकल्पध्यानी हैं फिर भी उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर या तो वहाँ से नीचे उतरते हैं या मरण कर सर्वार्थसिद्धि नाम के सर्वोत्तम विमान में अहमिद्र हो जाते हैं चूंकि इस गुणस्थान में उपशांत हुई—दबी हुई कषायों में से सूक्ष्म लोभ आदि का उदय आ जाने से नियम से उतरना या मरण करना होता ही है। यही कारण था कि ये दो मुनि इस गुणस्थान से मरण कर ‘सर्वार्थ सिद्धि’ में अहमिद्र हो गये हैं। आगे मनुष्य भव लेकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे यह नियम है।

तात्पर्यवृत्ति टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने भी यही कहा है कि—कोई तपोधन ध्यान में लीन हो और उनके शरीर पर कोई वस्त्र लपेट दे-पहना दे, या आभरण—आभूषण आदि पहना दे तो भी उसमें उन मुनिराज का ममत्व न होने से वे उसे उपसर्ग समझ कर ध्यान विसर्जित भी नहीं करते हैं अतः वे निर्ग्रथ तपोधन ही हैं जैसे कि पांडव आदि महामुनि।

यहाँ उपर्युक्त सिद्धभक्ति की गाथा का अर्थ दिया जा रहा है—कोई आभरण सहित या आभरणरहित सिद्ध होते हैं। कोई केवली होकर समुद्घात करके सिद्ध होते हैं कोई बिना समुद्घात के भी सिद्ध होते हैं। कोई कायोत्सर्ग मुद्रा से और कोई पर्यकासन मुद्रा से सिद्ध होते हैं। इन कर्मफलरहित और परम-केवलज्ञान प्राप्त सभी सिद्धों को नमस्कार करता हूँ।

श्रीजयसेनाचार्य ने इसी गाथा ४१४ की टीका के अंत में 'भावश्रुत ज्ञान' को मोक्ष का कारण कहा है जो कि वीतराग सम्यक्त्व और वीतराग चारित्र से अविनाभूत है। यह अवस्था निर्विकल्प ध्यान में ही घटित होती है। आज इतना उत्कृष्ट ध्यान संभव नहीं है तो जितना शक्य है उतना-उतना ध्यान करना चाहिये और इस शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान की भावना करनी चाहिये।

श्रीकुंदकुंददेव ने भी नियमसार प्राभृत ग्रंथ में कहा है—

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादि करेज्ज ज्ञाणमयं ।

सत्तिविहीणो जा जइ, सहहण चेव कायव्वं ॥ १५४ ॥

यदि करना शक्य हो तो हे साधो ! तुम प्रतिक्रमण आदि को ध्यानमय करो अर्थात् निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान आदि जो निर्विकल्प ध्यानरूप/शुद्धोपयोग की परिणति रूप बताये हैं उन्हें करो और यदि ध्यान करने की शक्ति नहीं है तो उनका श्रद्धान करो।

इसकी टीका करते हुये श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने कहा है—कि शुद्धनिश्चय धर्मध्यानमय निश्चय प्रतिक्रमण आदि तो करना ही चाहिये किंतु इस पंचम काल में उत्तमसंहनन आदि शक्ति के अभाव में तुम निज परमात्म तत्त्व का श्रद्धान ही करो। एक काव्य भी सुंदर कहा है—

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले ।

न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ॥

अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां ।

निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदं ॥ २६४ ॥

असार संसार में पाप से भरपूर यह कलिकाल—पंचमकाल चल रहा है। इस काल में निर्दोष जिनेंद्रदेव के मार्ग में—शासन में आज मुक्ति नहीं हो सकती है इसलिये इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। अतः निर्मल बुद्धि वालों के लिये आज भव भय को दूर करने वाला ऐसा निज आत्म तत्त्व का श्रद्धान ही माना गया है।

तात्पर्य यही है कि इस समयसार ग्रंथराज को पढ़कर हीन संहनन वाले शरीर से यदि उत्तम शुक्ल ध्यान रूप अध्यात्म ध्यान को नहीं किया जा सकता है तो भी उस आत्म तत्त्व का ध्यान तो किया ही जा सकता है और अपनी शक्ति के अनुसार पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास भी किया जा सकता है। इस अध्यात्म भावना का चिन्तन करते हुये उसकी भावना

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं ।

अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥ ४१५ अ० ॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।

अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यं ॥ ४१५ ॥

आत्मख्यातिः—यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपं परमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतत्त्वतश्च परिच्छिद्य अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णे विज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्द-वाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति ॥ ४१५ ॥

को भाते हुये अपने में अध्यात्म के संस्कार को दृढ़ किया जा सकता है। इसीलिये श्रीकुन्दकुन्ददेव की आज्ञानुसार सतत ही इस आत्मतत्त्व का श्रद्धान, चिंतन, मनन और अभ्यास करते ही रहना चाहिये। यही इस ग्रंथ को पढ़ने का सार है ऐसा समझना।

अब श्रीकुन्दकुन्ददेव इस समयसार ग्रंथ को पूर्ण करते हुये इसका फल दिखला रहे हैं—

अन्वयार्थ—(यः इदं समयप्राभृतं पठित्वा अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा अर्थे स्थास्यति) जो इस समयप्राभृत ग्रंथ को पढ़कर अर्थ से और तत्त्व से जानकर इसके अर्थ में स्थित होगा (सः चेतयिता उत्तमं सौख्यं भविष्यति) वह आत्मा उत्तम सौख्यस्वरूप हो जावेगा ॥ ४१५ ॥

आत्मख्याति—जो यह 'समयसाररूप' भगवान् परमात्मा है यह अखिल विश्व—तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला होने से 'विश्वसमय' कहलाता है, इस भगवान् परमात्मा को प्रतिपादित करने वाला होने से जो स्वयं 'शब्द ब्रह्म' के समान आचरण कर रहा है ऐसे इस 'समयसार' शास्त्र को पढ़कर जो आत्मा विश्व के प्रकाशन में समर्थ, परमार्थभूत ऐसे चैतन्य प्रकाशरूप परमात्मा का निश्चय करते हुये—श्रद्धान करते हुये अर्थ से और तत्त्व से—भाव से इसको जानकर—समझकर इसी के ही अर्थभूत एक, पूर्ण, विज्ञान घन परं ब्रह्मस्वरूप 'भगवान्' आत्मा में संपूर्ण प्रयत्न से स्थित हो जायेंगे वे साक्षात् उसी क्षण में वृद्धिगत होते हुये चैतन्य एक-रस से पूर्ण भरित स्वभाव में सुस्थित होने से निराकुल आत्मरूप से 'परमानन्द' शब्द से वाच्य, उत्तम और अनाकुलता लक्षण सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जायेंगे ऐसा समझना ॥ ४१५ ॥

(४३६)—जो प्राणी इस समयसार को पढ़कर ज्ञान लहेगा ।

अर्थ तत्त्व से जान इसे भावों से ग्रहण करेगा ॥

वह ही पठन ग्रहण का फल उत्तम सुख प्राप्त करेगा ।

वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर यति इस रूप बनेगा ॥ ४१५ ॥

अनुष्टुप्—इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं ।

अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितं ॥ २४६ ॥

इति श्रीअमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽङ्कः ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—यहाँ समयसार को भगवान् कहा है अतः कारण में कार्य का उपचार करने से यह ग्रंथ भी भगवान् है। संपूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाला होने से 'शब्दब्रह्मस्वरूप' है। इस समयसार के अर्थ को भी भगवान् कहा है यह भगवान् एक है, विज्ञानघन है और परम-ब्रह्मस्वरूप परमात्मा है। जो महामुनि समयसारस्वरूप अपने भगवान् आत्मा में स्थित होवेंगे वे परमानंद शब्द से वाच्य ऐसे अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त कर लेंगे ऐसा यहाँ अभिप्राय है। समयसार ग्रंथ को पूर्ण करते हुये श्रीकुंदकुंददेव ने इस ग्रंथ के पढ़ने का फल दिखलाया है। इसे ही कलश द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—इस प्रकार से यह जो आत्मा का तत्त्व—स्वरूप है वह ज्ञानमात्र ही है ऐसा सिद्ध हो गया है, यह तत्त्व अखंड है, एक है, अचल है, स्वसंवेदन से वेद्य—अनुभव में आने योग्य है और अबाधित है ऐसा समझना। २४६।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार से संपूर्ण 'समयसार' ग्रंथ में कहा गया जो यह आत्मा का स्वरूप है वह मात्र एक ज्ञानमय ही है ऐसा अच्छी तरह से व्यवस्थित हो गया है—सिद्ध कर दिया गया है यह परवादियों के प्रमाणों से खंडित नहीं हो सकने से अखंड है, परउपाधि से—नानापर्यायों से रहित होने से एक है, शाश्वत होने से अचल है, स्वानुभव प्रत्यक्ष होने से स्वसंवेद्य है और बाधा रहित है—निराबाध है। बात यही है कि पूरे ग्रंथ में आत्मा को ज्ञानमात्र एक ज्ञायक भाव वाला सिद्ध किया है जैसी कि पूर्व में प्रतिज्ञा की थी। यद्यपि आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनंत गुण हैं फिर भी यहाँ इस समयसार में केवल एक ज्ञानगुण ही विवक्षित है इसी का नाम ज्ञायकभाव है ऐसा समझना।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा रचित इस "ज्ञानज्योति" भाषा टीका में सर्वविशुद्ध ज्ञान को प्ररूपित करने वाला नवमा अधिकार पूर्ण हुआ।

इस तरह कहा जो आत्मतत्त्व वह ज्ञान मात्र है सिद्ध यही।

वह तत्त्व अखण्ड अचल इक निज संवेदन से संवेद्य सही ॥

यह सदा अबाधित है पर के द्वारा नहीं बाधित हो सकता।

निश्चय नय से यह कथन तथा व्यवहार नहीं ऐसा कहता ॥ २४६ ॥

(उत्थानिका) —अथेदं शुद्धात्मतत्त्वं निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुखं प्राप्नोतीत्युपदिशति;—

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा समयसार ग्रन्थसमाप्तिं कुर्वतः फलं दर्शयन्ति—तद्यथा—

(४३६ ज०) जो समयपाहुडमिणं, पठिदूण य अत्थतच्चदो णादुं ।

अत्थे ठाहिदि चेदा, सो पावदि उत्तमं सोक्खं ॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।

अर्थे स्थास्यति चेतयिता, स प्राप्नोत्युत्तमं सौख्यं ॥ ४३६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो समयपाहुडमिणं पठिदूण य यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पूर्वं पठित्वा न केवलं पठित्वा अत्थतच्चदो णादुं ज्ञात्वा च । कस्मात् ? ग्रन्थार्थतः न केवलं ग्रन्थार्थतः ? तत्त्वतो भावपूर्वेण अत्थे ठाहिदि पश्चादुपादेयरूपे शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते । किं लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपं, “आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्गीतबाधं विशालं वृद्धिहासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावं । अन्यद्रव्यानपेक्षां निरुपमममितं, शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्” इति ।

उत्थानिका—अब निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा इस शुद्धात्मतत्त्व की भावना करता हुआ आत्मा परम अक्षयसुख को प्राप्त कर लेता है ऐसा उपदेश देते हैं—श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव समयसार ग्रन्थ की समाप्ति करते हुये फल दिखलाते हैं—

अन्वयार्थः—(जो इणं समयपाहुडं पठिदूण य अत्थतच्चदो णादुं) जो इस समय प्राभृत ग्रन्थ को पढ़कर और अर्थ तथा तत्त्व से जानकर (अत्थे ठाहिदि सो चेदा उत्तमं सोक्खं पावदि) अर्थ में स्थित होवेंगे वे आत्मा उत्तम सुख को प्राप्त करेंगे । ॥ ४३६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो कर्ता—आत्मा इस ‘समयप्राभृत’ नामक शास्त्र को पहले पढ़ करके, केवल पढ़ करके ही नहीं, ग्रन्थ के अर्थ से और तत्त्व से/ग्रन्थ के भाव से भी उसको जानकर के पश्चात् उपादेयरूप शुद्धात्मा लक्षण वाले पदार्थ में—निर्विकल्प समाधि में स्थित होयेंगे वे आत्मा—महामुनि भावीकाल में वीतराग, सहज, अपूर्व परमाह्लादरूप सुख को प्राप्त कर लेंगे । वह सुख आत्मा के उपादान से उत्पन्न होने वाला होने से सिद्ध है, स्वयं अतिशयवान् है, बाधारहित है, विशाल है, वृद्धि और हास से रहित है, विषयों से रहित है, अपने प्रतिपक्ष/शत्रु/विरोधभाव से रहित है, अन्य द्रव्यों की अपेक्षा से रहित है, उपमा से रहित है, प्रमाण रहित है, शाश्वत है, सर्वकाल रहने वाला है, उत्कृष्ट है, अनन्तसार सहित है ऐसा परमसुख उन सिद्धों के उत्पन्न होता है ऐसा समझना ।

अत्राह शिष्यः—हे भगवन् ! अतीन्द्रियसुखं निरंतरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते ? भगवानाह—कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपंचेन्द्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्ठः भो देवदत्त ! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति ? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतीन्द्रियं । कस्मात् ? इति चेत् सांसारिकसुखं पंचेन्द्रियप्रभवं । यत्पुनरतीन्द्रियसुखं तत्पंचेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत् इदं तावत्सामान्येनातीन्द्रियसुखमुपलभ्यते । यत्पुनः पंचेन्द्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति । यच्च मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदनुमानगम्यमागमगम्यं च । तथाहि—मुक्तानामिन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतीन्द्रियसुखमस्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत् इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनीन्द्राणां स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति हेतुः । एवं पक्षहेतुरूपेण द्वयंगमनुमानं ज्ञातव्यं । आगमे तु प्रसिद्धमेवात्पोपादानसिद्धमित्यादिवचनेन । अतः कारणात् अतीन्द्रियसुखे संदेहो न कर्तव्य इति ।

शिष्य—हे भगवन् ! आपने अतीन्द्रिय सुख का निरंतर व्याख्यान किया है, किंतु वह लोगों को तो जानने में नहीं आता है ?

आचार्य—कोई देवदत्त पुरुष स्त्रीसेवन आदि संपूर्ण पंचेन्द्रियों के विषयों के व्यापार से रहित प्रसंग में व्याकुलता रहित चित्त हुआ स्थित है उससे किसी ने पूछा—हे देवदत्त ! तुम सुख से तो रह रहे हो ? उसने कहा हां, 'मैं सुख से हूँ' उस समय उसका वह सुख अतीन्द्रिय है क्योंकि सांसारिक सुख तो पंचेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ होता है किन्तु जो अतीन्द्रिय सुख है वह पंचेन्द्रिय विषयों के व्यापार के बिना भी देखा जाता है जिस कारण से यह बात है उसी हेतु से तो सामान्य से यह अतीन्द्रिय सुख उपलब्ध होता है किन्तु पंचेन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले समस्त विकल्प जाल से रहित हुये समाधि में स्थित परमयोगियों को स्वसंवेदनगम्य जो अतीन्द्रिय सुख होता है वह विशेषरूप से ही अतीन्द्रिय कहलाता है और जो मुक्त हुये सिद्धों का अतीन्द्रिय सुख है वह तो मात्र अनुमानगम्य और आगमगम्य है । इसे ही विस्तार से कहते हैं—

मुक्त जीवों के इंद्रिय विषयों के व्यापार का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय सुख है यह पक्ष हुआ । क्यों ? क्योंकि इस समय विषय व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि में रत हुये परम मुनीन्द्रों के स्वसंवेदन से उत्पन्न आत्मसुख की उपलब्धि हो रही है यह हेतु है । इसप्रकार पक्ष और हेतुरूप से दो अंगवाला अनुमान जानना चाहिये । आगम में तो 'आत्पोपादान सिद्ध' इत्यादि आगम वाक्य से आत्मा के उपादान से सिद्ध ऐसा अतीन्द्रिय सुख प्रसिद्ध ही है । इस कारण से अतीन्द्रिय सुख में संदेह नहीं करना चाहिये ।

कहा भी है—सभी देव और मनुष्य इंद्रिय के विषयों से उत्पन्न निराबाध और सर्वइंद्रियों को आनंद देने में समर्थ ऐसे जिस सुख का उपभोग करते हैं जो संपूर्ण अतीतकाल में

उक्तं च—यदेवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवं ।
 निर्विशंति निरावार्धं सर्वाक्षप्रीणनक्षमं ॥ १ ॥
 सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं ।
 भाविनो ये च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं ॥ २ ॥
 अनंतगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजं ।
 एकरिम्भन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥ ३ ॥

महाक्रद्धिवाले देवादिकों द्वारा भोगा गया है और भविष्य में मन को अनुरंजित करने वाले ऐसे जिस स्वादिष्ट सुख का ये देव, मनुष्य भोग करेंगे उन सुखों से अनंत गुणा, इंद्रियों से परे अत्यक्ष/प्रत्यक्ष रूप, अपने स्वभाव से उत्पन्न हुये ऐसे सुख को परमेश्वर—भगवान् एक समय में भोगते हैं—अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ—इंद्रियों के विषयों से उत्पन्न हुये सुख से अतीन्द्रिय सुख की तुलना तो क्या कल्पना भी नहीं की जा सकती है फिर भी यहाँ जो उदाहरण देकर समझाया है वह मात्र अत्यधिक सुख को समझाने के लिये ही है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने तो स्वर्ग के सुख को उपमा रहित कहा है। यथा—

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितं ।
 नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसाभिवं ॥

जो सुख इंद्रियों से उत्पन्न होने वाला है, आतंक—रोगादि बाधाओं से रहित है और अधिकतम तेतीस सागरोपम कालों तक रहने वाला है स्वर्ग में देवों का सुख ऐसा है। यदि उसके लिये कोई पूछे वह स्वर्ग सुख कैसा है ? तो उत्तर यही होगा कि स्वर्ग में देवों का जो सुख है वह स्वर्ग में देवों के सुख के समान ही है ऐसा समझना।

फिर भी इस अनुपम, अतीन्द्रिय सुख का माहात्म्य बतलाने के लिये आचार्य देव ने ऐसा कह दिया है कि सभी देव, इन्द्र, मनुष्य और चक्रवर्तियों के त्रैकालिक अनंत-अनंत सुखों को एकत्रित कर लो उस सुख से भी अनंतगुणा सुख सिद्धों को एक समय में मिलता है। इसलिये भव्यजीवों को समयसार ग्रंथ का स्वाध्याय करके इस अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

यहाँ श्री जयसेनाचार्य ने समयसार ग्रंथ को लिखकर पूर्ण करने वाले ऐसे श्री कुंदकुंदाचार्य देव का नामोल्लेख किया है।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तदनंतरमन्यः करोति अन्यो भुंक्ते—इति बौद्धमतैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं । ततः परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति सांख्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपंचकं । ततः परं कर्मैव सुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदश । तदनंतरं चित्तस्थरागस्य घातः कर्तव्य—इत्यजानन्बहिरंगशब्दादिविषयाणां घातं करोमीति योऽसौ चित्तयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकं । तदनंतरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकं । ततः परं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनरूपेण सूत्रदशकं । तदनंतरं शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं पंचेंद्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकं । तदनंतरं कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपणमुख्यत्वेन गाथात्रयं । ततः परं शास्त्रेन्द्रियविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादनरूपेण गाथापंचदश । ततः परं शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिकं निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं । तदनंतरं शुद्धात्मभावनारूपं भावलिंगनिरपेक्षं द्रव्यलिंगं मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तदनंतरं सुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं ॥ ४३६ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से विष्णु के कर्तापने के निराकरण की मुख्यता से सात गाथायें हुई हैं, अनंतर अन्य कोई कर्ता है और अन्य दूसरा ही भोक्ता है इस बौद्धमत के एकांत के निराकरण की मुख्यता से चार गाथायें हुई हैं, इसके बाद आत्मा रागादि भावकर्मों को नहीं करता है इस सांख्यमत के निराकरणरूप से पांच गाथायें हुई हैं, इसके पश्चात् 'कर्म ही सुख आदि को करता है न कि आत्मा' इस प्रकार पुनरपि सांख्यमत के एकांत के निराकरण की मुख्यता से तेरह गाथायें हुई हैं, इसके अनंतर 'चित्त में स्थित रागादि का घात करना चाहिये' ऐसा न जानते हुये 'मैं बहिरंग शब्दादि विषयों का घात करता हूँ' इस प्रकार से जो चिंतन करता है उसके संबोधन के लिये सात गाथायें हुई हैं, अनंतर यह द्रव्यकर्मों को व्यवहार से करता है और भावकर्मों को निश्चय से करता है इस कथन की मुख्यता से सात गाथायें हुई हैं, इसके बाद ज्ञान ज्ञेयरूप से नहीं परिणमता है इस कथनरूप से दश गाथायें हुई हैं, पुनः शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चय आलोचनारूप निश्चयचारित्र के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें हुई हैं, अनंतर पंचेंद्रिय और मन के विषयों के निरोध करने के कथनरूप से दश गाथायें हुई हैं, बाद में कर्म चेतना और कर्मफल चेतना के विनाश के निरूपण की मुख्यता से तीन गाथायें हुई हैं, इसके बाद शास्त्र, इंद्रियों के विषय आदि ज्ञान नहीं हैं इस प्रतिपादनरूप से पंद्रह गाथायें हुई हैं, इसके अनंतर शुद्धात्मा निश्चय से कर्म-नोकर्म आहार आदि को ग्रहण नहीं करता है इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें हुई हैं, इसके बाद शुद्धात्मा की भावनारूप जो भावलिंग है उससे निरपेक्ष द्रव्यलिंग मुक्ति का कारण नहीं है इस प्रतिपादन की मुख्यता से सात गाथायें हुई हैं, इसके अनंतर सुखरूप फल के दिखलाने की मुख्यता से एक गाथा हुई है ॥ ४३६ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन
षडधिकनवतिगाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः समयसारचूलिकाभिधानो सर्वविशुद्धज्ञाननामा
दशमोऽधिकारः समाप्तः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्यकृत समयसार व्याख्या की
शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की
टीका में समुदाय से छियानवे गाथाओं द्वारा
तेरह अंतराधिकारों से 'समयसार
चूलिका' नाम से 'सर्वविशुद्धज्ञान'
इस नामवाला यह दशम
अधिकार पूर्ण
हुआ।

सूचना—श्री अमृतचंद्रसूरि ने 'जीवाजीवाधिकार' एक पाता है, अतः उनके अनुसार यह
नवमा अधिकार है और श्रीजयसेनाचार्य ने जीवाधिकार-अजीवाधिकार अलग-अलग रखे हैं,
अतः उनके अनुसार यह दशवां अधिकार है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित 'समयसार प्राभृत'
ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका
एवं श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका
के रहस्य को प्रकाशित करने वाली
गणिनी आर्यिका ज्ञानमतीकृत इस
'ज्ञानज्योति' नामा भाषा टीका में
सर्वविशुद्धज्ञान को प्ररूपित
करने वाला यह
नवमा (दशवां)
अधिकार पूर्ण
हुआ।

सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार का सार

इस अधिकार के प्रारंभ में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—“यह जीव संसार पर्याय का आश्रय लेकर अशुद्ध उपादानरूप, अशुद्ध निश्चयनय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंध-मोक्ष आदि परिणाम से सहित है और सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक, शुद्ध उपादानरूप शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंधमोक्ष आदि के कारण ऐसे परिणामों से शून्य है।”

श्लोक ३१४-३१५ अ० में कहते हैं—

“जब तक यह जीव शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत हुआ प्रकृतियों के उदयरूप रागादि भावों को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी कहलाता है, वही जीव मिथ्यादृष्टी है, असंयत है, मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है, किंतु जब यह जीव मिथ्यात्वादि भावों को छोड़कर सम्यग्दर्शनादि के सद्भाव से अपनी आत्मा को सर्वथा पर द्रव्यों से भिन्न अनुभव करता है तब वही जीव सम्यग्दृष्टी है, ज्ञानी है, और संयत/मुनि है।”

यहाँ गाथा के ‘मुणी’ पद से टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ‘संयत’ अर्थ कर रहे हैं, पुनः अज्ञानी का लक्षण करते हुये कहते हैं—

‘ण मुयह पयडिमभव्वो सुदुवि अज्झाइऊण सत्थाणि ।

गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥ ३१७ अ० ॥

अभव्य जीव अच्छी तरह अभ्यास कर शास्त्रों को पढ़ते हुये भी कर्म के उदय से हुये स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, जैसे कि सर्प गुड़मिश्रित दुग्ध को पीते हुये भी निर्विष नहीं होते हैं।

यहाँ अज्ञानस्वभाव को नहीं छोड़ने में अभव्य को लिया है। पुनः ज्ञानी जीव का लक्षण करते हुये कहते हैं—

“ज्ञानी जीव बहुत प्रकार के कर्मों को न तो कर्ता है और न भोगता है परन्तु कर्म के बंध को और कर्म के फल—पुण्य-पापों को जानता ही है।” यहाँ यह कथन निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनियों की अपेक्षा ही है।

देखिये—श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—“त्रिगुप्तिबलेन निर्विकल्प समाधौ ज्ञानी।” तीनगुप्ति से सहित होकर निर्विकल्प ध्यान में स्थित होने वाले ही ज्ञानी हैं।

"कोई सर्वथा एकांतवादी—आत्मघाती जन कर्म को ही कर्ता मानकर आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर यह आत्मा कथंचित् कर्ता है" ऐसी जिनेन्द्र भगवान की निर्बाध श्रुतरूप वाणी को कुपित करते हैं—विराधित करते हैं। ऐसे आत्मघातकों की बुद्धि तीव्र मोह से आच्छादित हो गई है। उनके ज्ञान की संशुद्धि के लिये स्याद्वाद से निर्बाधित वस्तुस्थिति कही जाती है।"

कोई कहते हैं—कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय के बिना अज्ञान नहीं हो सकता। कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम बिना ज्ञान नहीं हो सकता है। कर्म ही आत्मा को सुलाता है क्योंकि निद्रा कर्म के उदय बिना निद्रा नहीं आ सकती। कर्म ही आत्मा को जगाता है क्योंकि निद्रा कर्म के क्षयोपशम बिना जागना नहीं हो सकता। कर्म ही आत्मा को सुखी-दुखी करता है, क्योंकि साता-असाता वेदनीय के उदय बिना सुख-दुःख असंभव है। वैसे ही कर्म ही आत्मा को मिथ्यात्वी, असंयमी आदि करता है। इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि सभी जीव नित्य एकांत से अकर्ता ही हैं। देखो, जैन सिद्धांत भी इसी अभिप्राय का समर्थन करता है—

पुरुषवेद-कर्म स्त्री की और स्त्रीवेद-कर्म ही पुरुष की अभिलाषा करता है, इस वाक्य से अभिलाषारूप कर्म का कर्ता कर्म ही सिद्ध होता है यहाँ जीव के द्वारा किये गये कुशील का समर्थन न होने से जीव कुशील का कर्ता सिद्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार जो दूसरे को मारे और दूसरे से मारा जाये इस परधात कर्म की व्याख्या के अनुसार हिंसा कर्म का कर्ता परधात कर्म ही सिद्ध होता है, जीव नहीं। इस प्रकार कर्म को कर्ता मान लेने से जीव सदैव अकर्ता ही रहता है।

इनको उत्तर देते हुये कहते हैं—जो ऐसा कहते हैं, वे श्रमणाभास हैं—जैनाभास हैं। वे अपनी बुद्धि की कमी से आगम के अभिप्राय को बिना समझे ही सांख्यमत का अनुसरण करते हैं। क्योंकि इस तरह एकांत से प्रकृति को कर्ता मान लेने पर तो सभी जीव सर्वथा अकर्ता ही सिद्ध हो जायेंगे, पुनः 'जीव कर्ता है' ऐसा जो आगम है उस आगम से इस मान्यता में विरोध आता है उसे कैसे दूर करेंगे ?

अर्थात् कितने ही जैन मुनि आत्मा को एकांत से अकर्ता कह देते हैं और कर्म/प्रकृति को कर्ता मान लेते हैं तब तो प्रकृति ही परस्त्री का सेवन करती है और प्रकृति ही हिंसा करती

है अतः उनके मत से तो व्यभिचार पाप और हिंसा-पाप प्रकृति/कर्म ही करते हैं तब पुनः जीव को पाप बंध भी कैसे हो सकेगा ? तथा अनर्गलता बढ़ती ही चली जायेगी अतः स्याद्वाद की व्यवस्था को समझना बहुत जरूरी है। एकांत से जीव को अकर्ता मानना सांख्य की मान्यता है।

इन्हीं गाथाओं के अर्थ को स्पष्ट करते हुये श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—

जो कुछ भी शुभ-अशुभ आदि हैं वे एकांत से कर्मकृत ही हैं। ऐसा मानने पर तो जीव अकर्ता हो गया, तब जीव के कर्मों का अभाव हुआ और कर्म के अभाव में संसार का भी अभाव हो गया, यह दूषण आता है।

हमारे जैन मत में घात करने वाला परघात कर्म कहने पर भी जीव ही हिंसा के रूप में परिणमन करता है, परघात कर्म तो उसमें सहकारी कारण मात्र ही होता है। यद्यपि हम जैनों के यहाँ शुद्ध पारिणामिकरूप परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव को हिंसा परिणाम से रहित अपरिणामी माना गया है। फिर भी व्यवहारनय से वह जीव परिणामी भी माना गया है। किन्तु सांख्यों के यहाँ तो जैसे शुद्धनय से कोई जीव हिंसक नहीं है वैसे ही अशुद्धनय से भी हिंसक नहीं है। अर्थात् उनके यहाँ नय व्यवस्था नहीं है।

इस प्रकार सांख्य मत का आश्रय लेकर जो द्रव्यलिङ्गी श्रमणाभास परमागम में कहे हुये नय विभाग को नहीं समझकर एकांत हठ पकड़कर प्रकृति (कर्म) को ही सब कुछ करने वाला मान लेते हैं। उनके यहाँ आत्मा के कर्तापने का अभाव हो जाने से कर्म का भी अभाव हो जाता है और कर्म के अभाव में संसार का अभाव हो जाता है। तब मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता है। और इन सबका न होना तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। जैनमत में परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा सब बातें सुघटित हैं।

प्रश्न होता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो जैसे जीव का नाश नहीं होता वैसे प्राणों का भी नाश नहीं होना चाहिये तो फिर हिंसा कैसे ? यदि प्राण जीव से भिन्न हैं तब तो प्राणों के घात होने पर भी आत्मा का क्या बिगाड़ हुआ अतः फिर भी वहाँ हिंसा नहीं हुई ? इसके उत्तर में बताया है कि काय आदि रूप प्राणों के साथ इस जीव का कथंचित् भेद है कथंचित् अभेद है।

जैसे तपे हुये लोहे के गोले में से उसी समय अग्नि को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वर्तमान काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः

व्यवहार नय से कायादि प्राणों का जीव के साथ अभेद है। किन्तु निश्चय नय से मरणकाल में परलोक जाते समय कायादि प्राण इस जीव के साथ नहीं जाते इसलिये कायादि प्राणों का जीव के साथ भेद भी है यदि एकांत से भेद ही मान लिया जाय तो फिर दूसरे के शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर अन्य जनों को दुःख नहीं होता वैसे ही अपने शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर भी दुःख नहीं होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है, इसमें तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है।

“ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव। तन्नारकादिदुःखं भवता मिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत। भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति।”

पुनरपि कोई कहता है कि जो हिंसा हुई वह व्यवहार से ही हुई निश्चय से नहीं।

उसके उत्तर में कहते हैं—तुमने ठीक ही कहा है कि व्यवहार से हिंसा होती है और पाप भी व्यवहार से ही होता है, नरक आदि का दुःख भी व्यवहार से ही होता है यह बात तो हमको मान्य ही है। हाँ, वह नरक आदि का दुःख यदि तुम्हें इष्ट है तो हिंसा करते रहो, और यदि नरकादि से तुम्हें डर लगता है तो हिंसा करना छोड़ दो। इस विवेचन से यह बात सिद्ध हुई कि सांख्यमत के समान जैनमत में आत्मा एकांत से अकर्ता नहीं है किन्तु वीतराग-निर्विकल्पसमाधिरूप भेदज्ञान के समय में तो आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है, अवशेष काल में वह कर्मों का कर्ता होता है। अतः सर्वविशुद्ध ज्ञान ही आत्मा के कर्तृत्व को समाप्त करके सर्वतः पूर्ण केवलज्ञान बन जाता है।

आगे गाथा ३८३ से ३८६ अ० में निश्चयप्रतिक्रमण आदि का वर्णन किया है। उसकी उत्थानिका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है—

इस लोक-परलोकाकांक्षा रूप समस्त शुभ-अशुभ संकल्प विकल्प से रहित, विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्त्व का ही सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभव रूप अभेद रत्नत्रयात्मक जो निर्विकल्प समाधि है उस परमसमाधि में स्थित होकर वीतराग सहज परमानंद स्वभाव सुखसुधारस के आस्वादरूप और कार्य-समयसार को उत्पन्न करने वाले कारण-समयसार में जो स्थित हैं वे ही साधु अभेद नय से निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चय आलोचनारूप से परिणत हुये महा तपोधन कहलाते हैं।

कर्म चेतना और कर्म फल चेतना का नाश करने के लिये साधु निश्चय प्रतिक्रमण आदि रूप से परिणत होकर शुद्ध चेतना बल से आत्मा का ध्यान करने में समर्थ होते हैं।

“यदहमकार्षं यदचीकरम् यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतं।” इत्यादि।

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से जब तक यह आत्मा दूर नहीं होता, तब तक ज्ञान चेतना पर नहीं पहुँच पाता है क्योंकि ये दोनों चेतना अज्ञानरूप हैं। किन्तु ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञानरूप है जब तक यह प्राप्त नहीं हो पाती है तब तक नवीन कर्मों का बंध होता रहता है। अतः भुमुक्षु को नूतन कर्म से बचने के लिये शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप परमसमाधि में लीन होना चाहिये।

इस शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा के शरीर ही नहीं है, इसलिये ज्ञाता आत्मा का शरीरमय लिंग मोक्ष का कारण नहीं है।

‘पाखंडीलिंग या गृहीलिंग ऐसे बहुत प्रकार के लिंग/भेष हैं, उनको धारण करके अज्ञानी उन्हें ही मोक्ष मार्ग कह देते हैं, किन्तु आचार्य कहते हैं कि लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हतदेव भी देह से निर्मम हुये लिंग को/लिंग के ममत्व को छोड़कर रत्नत्रय का सेवन करते हैं।’ तात्पर्य यह है कि “ग्रहण^१ किये हुये सागर और अनगाररूप लिंग को छोड़कर, दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्ग में ही अपनी आत्मा को लगाओ।” अर्थात् द्रव्यलिंग मात्र ही मोक्ष का मार्ग नहीं है उसके आश्रय से हुआ भावलिंग जो रत्नत्रयरूप है वही मोक्ष का मार्ग है।

भगवान् श्रीकुंदकुंद कहते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।

णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

व्यवहार नय तो मुनि-श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चय नय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता। इसी बात को श्री जयसेनाचार्य स्पष्ट करते हैं—

“द्रव्य लिंग निषिद्ध ही है ऐसा मत सपड़ो यहाँ द्रव्यलिंग का आधारभूत जो शरीर है उसके ममत्व का निषेध किया है। क्योंकि पूर्व में दीक्षा के समय संपूर्ण परिग्रह का ही त्याग किया है किंतु शरीर का त्याग नहीं किया है। क्यों ? क्योंकि शरीर के आधार से

ज्ञान और ध्यान का अनुष्ठान होता है", इसलिये शेष परिग्रह के समान शरीर को पृथक् नहीं किया जा सकता। वीतराग ध्यान के समय 'यह मेरा शरीर है, मैं क्षुल्लक, ऐलक या मुनि लिंगधारी हूँ' इत्यादि विकल्प होते ही नहीं हैं।

शालि तंदुल के बहिरंगतुष के विद्यमान रहने पर अभ्यंतर तुष/ललाई दूर करना शक्य नहीं है और अभ्यंतर तुष के दूर हो जाने पर बहिरंग तुष तो नियम से रहता ही नहीं है। इस न्याय से संपूर्ण परिग्रह के त्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता है अथवा नहीं भी होता है, नियम नहीं है। किंतु अभ्यंतर के भावलिंग के होने पर सर्व परिग्रह त्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है। देखिये, भरत चक्रवर्ती आदि जो कि अंतर्मुहूर्त मात्र में केवली हुये हैं वे भी निर्ग्रन्थ लिंग से ही हुये हैं।

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां।

विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥ २४५ ॥

यह समयप्राभृतग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। यह जिसका विनाश न हो सके ऐसा जगत् में अद्वितीय नेत्र के समान है, क्योंकि वह शुद्ध परमात्मा समयसार आनंदमय है उसको प्रत्यक्ष प्राप्त कराता है। अर्थात् यह ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से दोनों तरह से नेत्र के समान है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव कराता है।

जो समयपाहुडमिणं पडिदूण अत्थतच्चदो णाउं।

अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥ ४१५ ॥

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित 'समयसार' प्राभृत ग्रंथ में
श्री अमृतचंद्रसूक्त आत्मख्याति टीका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत
तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत इस 'ज्ञानज्योति'

नामा भाषा टीका में सर्वविशुद्ध ज्ञान

को प्ररूपित करने वाला यह

नवमा (दशवां) अधिकार

पूर्ण हुआ।

॥ अथ स्याद्वादधिकारः ॥ १० ॥

अनुष्टुप्—अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।

उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिंत्यते ॥ २४७ ॥

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु सर्वभूतेकांतात्मक-
मित्यनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात् । अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न

अथ स्याद्वाद-अधिकार

अब यहाँ आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने के अनंतर विशद स्याद्वाद विद्या को प्रगट करते हुए कहते हैं—

काव्यार्थ—अब यहाँ स्याद्वाद की शुद्धि के लिये वस्तु-तत्त्व की व्यवस्था और उपाय—कारण, उपेय—कार्यभाव का पुनरपि किंचित् विचार किया जा रहा है ॥ २४७ ॥

विशेषार्थ—आत्मा मात्र एक ज्ञानमात्र है, वह भगवान् आत्मा ही 'समयसार' है इसका विस्तार से वर्णन कर दिया गया है अब यहाँ श्री अमृतचंद्रसूरि स्याद्वाद के द्वारा वस्तु तत्त्व की सिद्धि करेंगे और उपाय-उपेय को भी दिखलायेंगे । सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य स्वरूप भेद-अभेद रत्नत्रय ही उपाय है—मोक्ष का कारण है और उपेय है शुद्ध आत्मा, इन कारण समयसार और कार्य समयसार का वर्णन यद्यपि इस ग्रंथ में कह चुके हैं पुनरपि उपसंहार रूप में किंचित् कहेंगे ।

अष्टसहस्री ग्रंथ में स्याद्वाद का जितना सुंदर और विशद वर्णन है उतना अन्य कहीं भी नहीं है फिर भी यहाँ शिष्यों के मन के एकांतरूप मिथ्यात्व को दूर करने के लिए श्री टीकाकार संक्षेप में न्याय की शैली में कुछ कहेंगे । विस्तार से समझने की इच्छा वाले शिष्यों को आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये ।

स्याद्वाद ही समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला सर्वज्ञदेव अर्हत भगवान का एक अस्खलित—स्खलित न होने वाला शासन है । वह सबको अनेकान्तात्मक कहता है क्योंकि संपूर्ण ही वस्तुयें अनेकांत स्वभाववाली हैं । इस समयसार ग्रंथ में आत्मवस्तु को—आत्मा को

स्याद्वाद शुद्धि के लिए यहाँ अब सूत्रिपर वर्णन करते ।

सब वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति उसके उपाय को भी कहते ॥

शुद्धात्मा जो उपेय मानी उसका भी चिन्तन करना है ।

कारण अरु कार्य समयसारों को निम्नतः वर्णन करना है ॥ २४७ ॥

तत्परिकोषः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतत्वात् । तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः । तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात् बहिरुन्मिषदनंतज्ञेयतापत्रस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात् सहक्रम-प्रवृत्तानंतचिदंशसमुदायरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वाद् अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात् तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव । ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकांतः ? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तु-

ज्ञानमात्र से कहने पर भी उस स्याद्वाद में कोप/विरोध या दूषण नहीं आता है क्योंकि ज्ञानमात्र जो आत्मा नाम की वस्तु है वह स्वयं ही अनेकांत स्वरूप है । यहाँ पर जो वस्तु तत् रूप है वही अतत् रूप है, जो वस्तु एकरूप है वही अनेकरूप है, जो वस्तु सत् रूप है वही असत् रूप है और जो वस्तु नित्य है वही अनित्य है । इस प्रकार से एक ही वस्तु के वस्तुत्व को सिद्ध करने वाली परस्पर में विरुद्ध ऐसी दो शक्तियों का प्रकाशन करना ही अनेकांत है ।

अब: आत्मा में इसी अनेकांत को दिखलाते हैं—

यह अपनी आत्मा नाम की जो वस्तु है वह ज्ञानमात्र होते हुये भी अंतरंग में चकचकायमान/प्रकाशमान ज्ञान स्वरूप से तत् रूप/ज्ञानरूप है और बाहर में प्रगट होने वाले अनंत ज्ञेयों से परिणत पदार्थों को जानने की अपेक्षा से, अपने आत्मस्वरूप से अतिरिक्त उन ज्ञेयों के पररूप से यह आत्मा अतत् रूप है अर्थात् ज्ञान स्वरूप आत्मा ज्ञेयरूप से नहीं है ।

यह आत्मा सहप्रवृत्त/गुण और क्रम प्रवृत्त/पर्याय ऐसे अनंत चेतन के अंशों के समुदायरूप होने से विभागरहित—अखंड एक द्रव्यरूप से एकरूप है और अविभागी एकद्रव्य में व्याप्त सहभावी-क्रमभावी अनंतचेतन के अंशरूप पर्यायों से अनेकरूप हैं । अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परिणमनरूप शक्ति के स्वभाववाला होने से सत् रूप है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से परिणमन न करने की शक्ति के स्वभाव वाला होने से असत् रूप है । अनादि-अनिधन अविभाग एक वृत्ति से परिणत होने से नित्यरूप है और क्रम-क्रम से एक-एक समय में होने वाली अनेक पर्यायों से परिणत होने से अनित्यरूप है । इस प्रकार से एक ही आत्मा में ये तत्-अतत्पना, एक-अनेकपना, सत्-असत्पना और नित्य-अनित्यपना ये परस्पर विरुद्ध दोनों धर्म प्रकाशित हो ही रहे हैं ।

प्रश्न—यदि आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्र स्वीकार करने पर भी उसमें स्वयं ही अनेकांत प्रकाशित हो रहा है तो पुनः अर्हत भगवान ने उस ज्ञानमात्र को सिद्ध करने रूप से

प्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः । न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिद्ध्यति । तथाहि—इह हि स्वभावत एव बहुभावनिधरे विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वरूप-प्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव । तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेय-संबंधतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनाज्ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी 'भूत्वांतमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति १ । यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानत्वं ज्ञानस्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विद्वान्द्रष्टा ज्ञानं दर्शयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति २ । यदानेकज्ञेयाकारैः खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति तदा द्रव्येणैकत्वं

अनेकांत का उपदेश क्यों दिया है ?

उत्तर—अज्ञानीजीवों को ज्ञानमात्र आत्मा की सिद्धि करने के लिये यह अनेकांत का उपदेश भगवान के द्वारा दिया गया है ऐसा हम कहते हैं क्योंकि अनेकांत के बिना ज्ञानमात्र आत्मा सिद्ध ही नहीं हो सकती है । इसे ही कहते हैं—

यहाँ लोक में स्वभाव से ही बहुत भावों से भरे हुये विश्व में सभी पदार्थ स्वभाव से अद्वैतरूप हैं फिर भी उनमें द्वैत का निषेध करना अशक्य है अतः संपूर्ण ही वस्तुयें 'अपने स्वरूप से प्रवृत्ति होना और पररूप से व्यावृत्ति/अभाव/नहीं होना', इन दोनों/भाव-अभाव के द्वारा दो भावों से अन्वित/सहित ही हैं ऐसा नियम है ।

१. उनमें से जब यह ज्ञानमात्र भाव/आत्मा शेष भावों के साथ प्रवृत्त होता हुआ ज्ञाता-ज्ञेय के संबंधरूप से अनादि काल से ज्ञेयरूप से परिणमन करता रहता है अतः ज्ञानतत्त्व को पररूप से स्वीकार करके अज्ञानी होकर अंत को प्राप्त हो जाता है—जड़स्वरूप जैसा बन जाता है तब स्वरूप से तत्त्व को—ज्ञानमात्र आत्मा को प्रकाशित करके ज्ञातारूप से परिणमन करने से आत्मा को ज्ञानी करता हुआ यह अनेकांत ही उसको उज्जीवित करता है—उद्धार करता है ।

२. जब 'सर्वं वै खलु इदं ब्रह्म ?'—यह सारा विश्व एक ब्रह्मस्वरूप ही है—यह आत्मा ही संपूर्ण विश्वरूप है इस तरह अज्ञानता को ज्ञानरूप से स्वीकार करके विश्व को अपने रूप से ग्रहण करके अपनी आत्मा का नाश कर देता है तब पररूप से अतत्त्वे को—ज्ञान पररूप नहीं है ऐसी वास्तविकता को प्रकाशित करके विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखलाता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा को नष्ट नहीं होने देता है—बचा लेता है ।

द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयतीति ३। यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति ४। यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति ५। यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति ६। यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति ७। यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति ८। यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति

३. जब अनेक ज्ञेयाकारों से खंडित हुआ यह संपूर्ण एक ज्ञान का आकार—अखंड ज्ञानमात्र आत्मा नाश को प्राप्त होता है तब द्रव्यरूप से आत्मा को एकरूप प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा को उज्जीवित करता है—ज्ञानमात्र आत्मा को पुनर्जन्म प्रदान करता है—नष्ट होने से बचा लेता है।

४. जब यह आत्मा एक ज्ञानाकार को ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों को छोड़ देने से अपने को नष्ट कर देता है तब पर्यायों के द्वारा आत्मा के अनेकत्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा को नष्ट नहीं होने देता है।

५. जब यह आत्मा जानने में आने वाले परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञाता—आत्मद्रव्य को परद्रव्यरूप स्वीकार करके नाश को प्राप्त हो जाता है तब स्व—स्वद्रव्य से अस्तित्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही उस आत्मा को पुनर्जीवित करता है।

६. जब तक आत्मा 'संपूर्ण द्रव्य मैं ही हूँ' इस तरह परद्रव्य को ज्ञाताद्रव्य—आत्मद्रव्यरूप से स्वीकार करके अपनी आत्मा का नाश कर देता है तब परद्रव्यरूप से नास्तित्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा का नाश नहीं होने देता है।

७. जब यह ज्ञानमात्र भाव/आत्मा परक्षेत्र में होने वाले ज्ञेय पदार्थों के परिणमन से परक्षेत्ररूप से ज्ञान को सत् मानकर नष्ट होने लगता है तब अपने/स्वक्षेत्र से अस्तित्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही उस आत्मद्रव्य को उज्जीवित करता है।

८. जब यह ज्ञायकभाव आत्मा अपने क्षेत्र में रहने के लिये परक्षेत्र में रहने वाले ज्ञेयाकारों को छोड़कर के ज्ञान को तुच्छाभाव—सर्वथा अभावरूप करता हुआ अपनी आत्मा का नाश करने लगता है तब स्वक्षेत्र में रहते हुये ज्ञान का परक्षेत्र में रहने वाले ज्ञेयाकार रूप परिणमन स्वभाव होने से परक्षेत्र से ज्ञान में नास्तित्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा का नाश नहीं होने देता है।

तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ९। यदा त्वर्थात्मिककाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १०। यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति ११। यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १२। यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति १३। यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति तदा ज्ञानविशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तं नाशयितुं न ददाति १४। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

९. जब पूर्व में अवलंबन में आये हुये ऐसे पदार्थों के विनाश के काल में समय—ज्ञान के असत्त्व/अभाव को स्वीकार कर यह आत्मा नाश को प्राप्त होने लगता है तब अपने काल से अस्तित्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही उस आत्मा को पुनर्जीवित करता है।

१०. जब पदार्थों के अवलंबन के काल में ही उत्पन्न ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करके आत्मा को नष्ट करने लगता है तब परकाल से अभाव—नास्तित्व को प्रकाशित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा को नष्ट नहीं होने देता है।

११. जब जानने में आने वाले परभावरूप परिणमन करने से यह आत्मा ज्ञायक भाव को परभावरूप से स्वीकार करके नष्ट हो जाता है तब स्वभाव से—अपने भावरूप से अस्तित्व को उद्योतित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा को उज्जीवित करता है।

१२. जब यह आत्मा 'सभी भाव मैं ही हूँ' इस प्रकार से परभाव को ज्ञायकभावरूप स्वीकार करके अपनी आत्मा का—अपने स्वरूप का नाश कर देता है तब परभाव से अभाव को प्रद्योतित करता हुआ यह अनेकांत ही आत्मा का नाश नहीं होने देता है।

१३. जब यह आत्मा अनित्य ज्ञान विशेषों से—पर्यायों से—अंशों से खंडित हुआ नित्य ज्ञान सामान्य—अखंड ज्ञान नष्ट होने लगता है तब ज्ञानसामान्यरूप से नित्यपने को प्रद्योतित करता हुआ यह अनेकांत ही उस आत्मा को उज्जीवित करता है।

१४. जब यह आत्मा नित्य ज्ञान सामान्य को ग्रहण करने के लिये अनित्यज्ञान विशेषों को—ज्ञान पर्यायों को छोड़कर के अपना नाश करने लगता है तब ज्ञानविशेषरूप से अनित्यपने को प्रद्योतित करता हुआ यह अनेकांत ही उस आत्मा का नाश नहीं होने देता है।

शार्दूलविक्रीडित—बाह्यार्थः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्ती-भवद्
 विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।
 वृत्ततद्विह स्वरूपः इति स्याद्वादिनस्तत्पुन—
 दूरोन्मग्नधनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥ २४८ ॥

भावार्थ—यहाँ पर आत्मा को एक ज्ञायकभाव मात्र मानकर उसमें तत्-अतत् आदि से चौदह भंग किये हैं। उनका स्पष्टीकरण ऐसे है—तत्-अतत् के दो भंग, एक-अनेक के २ भंग सत्-असत् के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से ८ भंग तथा नित्य-अनित्य के २ भंग ऐसे १४ भंग हुये हैं। इन भंगों में यह सिद्ध किया है कि किसी भी एकांत के मानने से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव हो जाता है और अनेकांत से आत्मा में एक साथ ही तत्-अतत्, एक-अनेक आदि विरुद्ध धर्म सिद्ध हो जाने से वह जीवित रहती है। आगे इन्हीं चौदह भंगों को सिद्ध करते हुए श्री अमृतचंद्रसूरि चौदह कलश काव्य कहते हैं। उनमें से प्रथम भंग को सिद्ध करते हुए कहते हैं—

काव्यार्थ—बाह्य पदार्थों के द्वारा संपूर्णतया पिया गया, अपनी प्रगटता को छोड़ देने से रिक्त हुआ, संपूर्ण रूप से पररूप में ही विश्रान्त ऐसे पशु का ज्ञान—पशुवत् जो एकांत वादी हैं उनका ज्ञान नाश को प्राप्त होता है, किंतु स्याद्वादी का ज्ञान तो जो तत् है वह स्वरूप से तत् है—प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से तद्रूप-उसी रूप रहती है ऐसी मान्यता होने से यह आत्मा अत्यंत प्रगट हुये ज्ञानधनरूप स्वभाव के भार से पूर्ण रूप से उदित हो जाता है ॥२४८॥

भावार्थ—कोई एकांतवादी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाने से कुछ रहा ही नहीं सारे ज्ञेय पदार्थ उस ज्ञान को पी गये, किंतु स्याद्वादी मानते हैं कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है, ज्ञेयों को जानते समय ज्ञेयाकार होते हुये भी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता है और न ज्ञेयरूप से परिणत ही होता है। यह 'तद्रूप' पहला भंग है।

जो बहिर्ज्ञेय से तृप्त तथा निज प्रगटभाव से रिक्त हुआ।
 पर रूप में ही निश्चान्त हुआ पशुवत् निज जीवन नष्ट किया ॥
 पर स्याद्वादी का ज्ञान जो तत् उसको तत् रूप ही कहता है।
 ऐसी मान्यता से यह आत्मा स्वाभाविक परिणति करता है ॥ २४८ ॥

शार्दूलविक्रीडित—विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन—
विश्वाच्चित्रमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्मृशेत् ॥ २४९ ॥

शार्दूलविक्रीडित—बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोत्ससज्—
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्तुदयन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ॥ २५० ॥

काव्यार्थ—‘विश्व ज्ञान है’ ऐसा विचार करके यह पशु-पशुवत्—अज्ञानी मनुष्य सकल विश्व को निजतत्त्व की आशा से देखकर विश्वमय सकल ज्ञेयपदार्थ रूप होकर पशु के समान स्वच्छंद चेष्टा करता है। स्याद्वादी पुरुष यह मानता है कि ‘जो तत् है वह पररूप से तत् नहीं है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वरूप से तत् है, पररूप से अतत् है।’ इसलिए विश्व से भिन्न ऐसे और विश्व से रचित होने पर भी विश्वरूप न होने वाले ऐसे अपने तत्त्व का अनुभव करता है। २४९।

भावार्थ—जो वस्तु अपने स्वरूप से ‘तत् स्वरूप’ उसी रूप है और वही वस्तु पर के स्वरूप से ‘अतत् स्वरूप’ उसीरूप नहीं है। ज्ञान अपने स्वरूप से तत् रूप है। घट पदार्थ ज्ञेय है उसको जानते समय उसके आकार परिणत होने पर भी वह ज्ञान घटरूप नहीं है—घट से भिन्न है। स्याद्वादी ऐसा मानता है किंतु अज्ञानी—एकांतवादी ज्ञान को ज्ञेयरूप मानकर दुराग्रही हो जाने से पशुवत् माना गया है। यह अतत् नाम का दूसरा भंग है।

काव्यार्थ—अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने रूप स्वभाव के भार से, चारों ओर प्रगट होने वाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से अपनी शक्ति को विशीर्ण—छिन्न-भिन्न करके संपूर्णतया खंड-खंडरूप होता हुआ नष्ट हो जाता है और अनेकांत का ज्ञाता तो सदाकाल ही उदित एक द्रव्यरूप के द्वारा भेद की भ्रान्ति को नष्ट करता हुआ एक-अखंड, अबाधित, अनुभवरूप ज्ञान को ही देखता है—अनुभव करता है। २५०।

भावार्थ—अज्ञानी प्राणी पशु की संज्ञा को प्राप्त हुआ ज्ञेयों के आकार से परिणामन करते हुए ज्ञान को घट, पट आदि अनेक रूप देखता है और ज्ञानी/स्याद्वादी ज्ञेयाकार से परिणत भी

“है विश्व ज्ञान” ऐसा विचार जग को निज आशा से देखें।
जो एकान्ती हो विश्व रूप स्वच्छंद हुआ पशु सम दीखे ॥
स्याद्वादी नर कहता है जो तत् है पर रूप से अतत् वही।
इसलिए विश्व से भिन्न विश्व से रचित विश्व अनुभव है नहीं ॥ २४९ ॥
अज्ञानी बाह्य पदार्थ ग्रहण के भाव भरित उल्लसित हुआ।
नाना ज्ञेयों को छिन्न-भिन्न कर निज शक्ती से रहित हुआ ॥
पर अनेकान्त का ज्ञाता नित्य उदित इक परम द्रव्य द्वारा।
भेदों की भ्रान्ति नष्ट करके अनुभवता एक ज्ञान प्यारा ॥ २५० ॥

शार्दूलविक्रीडित—ज्ञेयाकारकलंकमेचकचित्प्रक्षालनं कल्पयन्
एकाकारविकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥ २५१ ॥

शार्दूलविक्रीडित—प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तित्वावंचितः,
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता ।
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ २५२ ॥

ज्ञान को द्रव्यरूप से अखंड मानकर एकत्व का ही अनुभव करता है। यह एकत्व नाम का तीसरा भंग है।

काव्यार्थ—अज्ञानी ज्ञेयाकाररूपी कलंक से मलिन ऐसे चेतन में अनेकाकार रूप मलिनता को धो डालने की कल्पना करता हुआ एकाकार करने की इच्छा से ज्ञान को यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकार से प्रगट है तथापि नहीं चाहता है और अनेकांतवेदी तो पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता हुआ विचित्र होने पर भी अविचित्रता/एकरूपता को प्राप्त ऐसे ज्ञान को स्वतः क्षालित/शुद्ध अनुभव करता है। २५१।

भावार्थ—एकांतवादी ज्ञान में ज्ञेयाकार को मैल समझकर एकाकार करने के लिये ज्ञेयाकार को धोकर—न मानकर ज्ञान का नाश कर देता है किंतु स्याद्वादी पर्याय की दृष्टि से ज्ञान को ज्ञेयाकार से अनेकरूप भी स्वीकार करता है। यह 'अनेकरूप' चौथा भंग हुआ।

काव्यार्थ—अज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से अलिखित/चित्रित, प्रगट/स्थूल और स्थिर/निश्चल परद्रव्यों के अस्तित्व से ठगाया हुआ स्वद्रव्य के अस्तित्व को नहीं देखने से सब तरफ से शून्य होता हुआ नाश को प्राप्त हो जाता है और अनेकांतवादी तो स्वद्रव्य को अस्तिरूप से निपुण स्वीकार कर तत्काल उदय को प्राप्त होते हुए ऐसे विशुद्धज्ञानरूपी तेज से पूर्णरूप होता हुआ जीवित रहता है। २५२।

भावार्थ—अज्ञानी प्राणी प्रत्यक्ष से परद्रव्यों को देखकर उसी का अस्तित्व मानता है किंतु अपनी आत्मा तो देखती नहीं अतः उसके अस्तित्व को न स्वीकार कर अपने को शून्य समझकर

अज्ञानी निज चेतन में ज्ञेयाकार कलंक लगाता है।
उसमें हि मलिनता प्रक्षालन करने का भाव बनाता है ॥
पर स्याद्वादी पर्यायों से एक ज्ञान अनेक भी अनुभवता।
वैचित्र्य में भी अविचित्र एक शुद्धात्म ज्ञान तभी धरता ॥ २५१ ॥
वह अविवेकी प्रत्यक्ष प्रगट पर द्रव्यों से है ठगा हुआ।
निजद्रव्य के नहि अवलोकन से हो शून्य स्वयं को नष्ट किया ॥
पर स्याद्वादी निज द्रव्य को अस्तिरूप निपुण स्वीकार करे।
तत्काल उदय को प्राप्त शुद्ध निज ज्ञान तभी परिपूर्ण भरे ॥ २५२ ॥

शार्दूलविक्रीडित—सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः,
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥ २५३ ॥

शार्दूलविक्रीडित—भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुनः
तिष्ठत्यात्मनिष्ठातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥ २५४ ॥

नष्ट हो जाता है किंतु स्याद्वादी ज्ञानरूपी तेज से अपने अस्तित्व को स्वीकार करके अपनी आत्मा को जीवित रखता है स्याद्वाद की शरण में आने से अजरामर पद प्राप्त किया जा सकता है यही आत्मा को जीवित रखना है। यह पांचवां भंग स्वद्रव्य की अपेक्षा से 'अस्ति' नाम का है।

काव्यार्थ—अज्ञानी दुर्वासना/कुनयों के संस्कार से संस्कारित होता हुआ आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर परद्रव्यों में स्वद्रव्य के भ्रम से विश्राम करता है और स्याद्वादी समस्त द्रव्यों में परद्रव्य रूप से नास्तित्व को जानता हुआ निर्मल शुद्ध ज्ञान की महिमावाला हुआ स्वद्रव्य का ही आश्रय लेता है। २५३।

भावार्थ—अज्ञानी एकांत से आत्मा को सर्वद्रव्यमय मान लेता है अतः परद्रव्य की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म को समझता ही नहीं है, किंतु स्याद्वादी अपने में परद्रव्य की अपेक्षा 'नास्ति' मानकर स्वद्रव्य में ही रमता है। यह परद्रव्य की अपेक्षा 'नास्ति' नामका छठा भंग है।

काव्यार्थ—अज्ञानी भिन्न क्षेत्र में रहे हुये ज्ञेय पदार्थों में जो ज्ञेय-ज्ञायक संबंध रूप निश्चित व्यापार है उसमें प्रवर्तता हुआ आत्मा को संपूर्णतया बाहर गिरता हुआ देखकर सदा नाश को प्राप्त होता है पुनः स्याद्वादवेत्ता पुरुष स्वक्षेत्र के अस्तित्व से वेग को रोककर आत्मा में ही आकाररूप हुए ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाला हुआ स्थित होता है। २५४।

भावार्थ—अज्ञानी जीव भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेयों को जानते समय अपने को परक्षेत्र में स्थित मानकर नष्ट हो जाता है किंतु ज्ञानी आत्मा स्वक्षेत्र में ही अपना अस्तित्व मानता है। यह स्वक्षेत्र से 'अस्तित्व' नाम का सातवाँ भंग है।

अज्ञानी कुनयों के वश हो आत्मा में सर्व द्रव्य कहता ।
परमें स्वद्रव्य का भ्रम करके पर में विश्राम किया करता ॥
लेकिन स्याद्वादी ज्ञानी नर पर को नास्तित्व रूप जाने ।
निज शुद्ध ज्ञान महिमा मंडित निर्मल स्वतत्त्व को पहिचाने ॥ २५३ ॥
जो भिन्न क्षेत्र में रहे ज्ञेय में ज्ञायक रूप प्रवर्त रहा ।
वह अज्ञानी निज को संपूर्णतया बाहर में गिरा रहा ॥
पर अनेकान्तवादी स्वक्षेत्र अस्तित्व रूप से शोभ रहा ।
आत्मा में ही आकार रूप हुए ज्ञेयों में वह झूम रहा ॥ २५४ ॥

शार्दूलविक्रीडित—स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध^१ परक्षेत्रस्थितार्थोज्झना—
 तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन् ।
 स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां ।
 त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥ २५५ ॥

शार्दूलविक्रीडित—पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्,
 सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।
 अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
 पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥ २५६ ॥

काव्यार्थ—अज्ञानी स्वक्षेत्र में रहने के लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों को छोड़ देने से ज्ञेयपदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ तुच्छ होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, किंतु स्याद्वादी स्वक्षेत्र में रहता हुआ परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ ज्ञेयपदार्थों को छोड़ता हुआ भी वह पर पदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता हुआ तुच्छता को प्राप्त नहीं होता है । २५५ ।

भावार्थ—एकांतवादी परक्षेत्रों में रहते हुये ज्ञेयों के आकार से परिणत ज्ञान के आकारों को भी छोड़ देता है अतः वह आत्मा को तुच्छ/शून्य कर लेता है किंतु ज्ञानी अनेकांत दृष्टि से ज्ञेयपदार्थों को छोड़कर भी ज्ञेयाकार से परिणत चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता हुआ अपने में परक्षेत्र से नास्तित्व को प्रगट करता है । यह परक्षेत्र की अपेक्षा 'नास्तित्व' नाम का आठवाँ भंग हुआ ।

काव्यार्थ—अज्ञानी पूर्व में अवलम्बन को प्राप्त ऐसे ज्ञेय पदार्थों के नाश के काल में ज्ञान का नाश जानता हुआ ज्ञान को कुछ भी वस्तु न जानता हुआ अत्यंत तुच्छ/शून्य हुआ नष्ट हो जाता है और स्याद्वादी अपनी आत्मा का निजकाल से अस्तित्व जानता हुआ बाह्य वस्तुओं के बारंबार नष्ट होने पर भी, स्वयं पूर्ण रहता है । २५६ ।

भावार्थ—पहले जिन ज्ञेय पदार्थों को जाना था वे उत्तर काल में नष्ट हो गये, उनको नष्ट होते देख अज्ञानी अपना ही नाश मान लेता है किंतु ज्ञानी अनेकांत दृष्टि से ज्ञेयपदार्थों के नष्ट होने पर भी अपने काल से अपना अस्तित्व मानता ही रहता है । यह स्वकाल की अपेक्षा 'अस्तित्व' नाम का नववाँ भंग हुआ है ।

अज्ञानी जीव स्वक्षेत्र में रहने हेतु भिन्न क्षेत्रस्थित को ।
 उन ज्ञेय वस्तुओं के संग में चैतन्याकार सुपरिचित हो ॥
 उनका कर वमन नष्ट होता पर स्याद्वादी ऐसा नहीं है ।
 स्व में पर का नास्तित्व सम्पन्न चैतन्याकार हुआ वह है ॥ २५५ ॥
 एकान्ती पूर्वालम्बित ज्ञेय के नाश में ज्ञान का नाश कहे ।
 नहीं ज्ञान का कुछ सम्मान करे अत्यन्त तुच्छता प्राप्त करे ॥
 लेकिन स्याद्वादी आत्मा का निज काल से ही अस्तित्व कहे ।
 कुछ बाह्य वस्तु के नशने पर भी स्वयम् पूर्णतः स्वस्थ रहे ॥ २५६ ॥

शार्दूलविक्रीडित—अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति,
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन् ॥ २५७ ॥

शार्दूलविक्रीडित—विश्रांतः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तोभवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥ २५८ ॥

काव्यार्थ—अज्ञानी ज्ञेयपदार्थों के अवलंबन के काल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ बाह्य ज्ञेय के अवलंबन में चित्त को अनुराग सहित करके बाह्य में भ्रमता हुआ नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी परकाल से अपने आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ आत्मा निश्चल जो नित्य स्वाभाविक ज्ञानपुंज स्वरूप ठहरता है। २५७।

भावार्थ—एकांतवादी ज्ञेय के अवलंबन के समय ही ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं और स्याद्वादी अपने काल से ही अपना अस्तित्व मानकर ज्ञेय से भिन्न ही अपना अनुभव करता है। यह परकाल की अपेक्षा नास्तित्व नाम से दसवाँ भंग है।

काव्यार्थ—अज्ञानी परभाव को ही अपना भाव जानने से बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता है पुनः अपने स्वभाव की महिमा में एकांत से निश्चेतन हुआ आप नाश को प्राप्त होता है, स्याद्वादी सभी वस्तुओं में अपने नियमरूप स्वभाव-भाव के होनेरूप ज्ञान से पृथक् हुआ सहज स्वभाव का प्रत्यक्ष अनुभवरूप करता हुआ प्रतीतिरूप में आकर के नाश को प्राप्त नहीं होता है। २५८।

भावार्थ—अज्ञानी परभाव को निजभाव जानकर आत्मा का नाश कर देता है और अनेकांतवादी ज्ञान को ही अपना भाव जानता हुआ नष्ट नहीं होता है। यह ज्ञान का अपने भाव से होना/अस्तिरूप से रहना नाम से ग्यारहवाँ भंग हुआ।

अज्ञानी ज्ञेय के अवलंबन का समय ज्ञान अस्तित्व कहे ।
उस बाह्य ज्ञेय में अनुरागी हो भ्रमण करे खुद नष्ट हुए ॥
स्याद्वादी नर परकाल से निज आत्मा को नास्ति जान रहा ।
निश्चल अरु नित्यस्वभावी ज्ञानपुंज आत्मा को मान रहा ॥ २५७ ॥
परभाव में ही निज भाव जान विश्राम बाह्य में जो करता ।
स्वाभाविक महिमा में निश्चेतन हुआ पशुवत् वह नशता ॥
स्याद्वादी सभी वस्तुओं से आत्मा को पृथक् समझता है ।
सहजिक स्वभाव प्रत्यक्ष रूप अनुभव करता नहि नशता है ॥ २५८ ॥

शार्दूलविक्रीडित—अध्यास्थात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लप्सति स्वस्य स्वभावं भरात्,
आरूढः परभावभावविरह-व्यालोकनिष्कंपितः ॥ २५९ ॥

शार्दूलविक्रीडित—प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज् ज्ञानांशानात्मना-
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिभृशोश्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमाज्ञानं भवन् जीवति ॥ २६० ॥

काव्यार्थ—अज्ञानी अपनी आत्मा में सब ज्ञेय पदार्थों का होना निश्चित कर शुद्ध ज्ञान-स्वभाव से च्युत हुआ सब पदार्थों में स्वेच्छाचारी हुआ क्रीड़ा करता है तब अपने भाव का लोप कर देता है और स्याद्वादी अपने भाव में सर्वथा आरूढ़ हुआ परभाव का अपने भाव में अभाव प्रगट है ऐसा समझकर निश्चय से शुद्ध शोभायमान होता है । २५९ ।

भावार्थ—एकांतवादी परभावों को अपना समझकर स्वभाव से च्युत होता हुआ निःशंक रहता है और अनेकांत की दृष्टि से स्याद्वादी आत्मा परभावों से भिन्न अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है यह परभाव की अपेक्षा नास्तित्व नाम का बारहवाँ भंग है ।

काव्यार्थ—अज्ञानी उत्पाद व्यय से प्राप्त हुये ज्ञान के अंशों द्वारा नाना स्वरूप के निर्णय के ज्ञान से क्षण भंग के संग में पड़ा हुआ बहुधा अपना नाश करता है और स्याद्वादी चैतन्यस्वरूप से चैतन्य वस्तु को नित्य उदयरूप अनुभव करता हुआ टंकोत्कीर्ण घन स्वभाव महिमा वाले ज्ञानरूप से जीवित रहता है । २६० ।

भावार्थ—एकांती ज्ञेय के आकार से ज्ञान उत्पन्न होता और नष्ट होता देखकर अपना ही नाश मान लेता है और अनेकांतवादी ज्ञेय के साथ ज्ञान का उत्पाद-विनाश होने पर भी अपने चैतन्य स्वरूप का ही नित्य अनुभव करता हुआ अपने स्वभाव से जीवित रहता है । यह आत्मा के नित्यपने का तेरहवाँ भंग है ।

निज आत्मा में सब भावों का होना अज्ञानी स्वीकरता ।
निज शुद्ध भाव च्युत निर्भय स्वैराचारी बन क्रीड़ा करता ॥
ज्ञानी निज में आरूढ़ हुआ नास्तित्व अन्य से समझ रहा ।
निश्चय से निष्कम्पित स्वभाव मय आत्मा को निज समझ रहा ॥ २५९ ॥
अज्ञानी नर उत्पाद नाश से प्राप्त ज्ञान अंशों द्वारा ।
नाना स्वरूप के निर्णय बिन क्षणभंग संग में पड़ा रहा ॥
अतएव नष्ट हो जाता है पर स्याद्वादी जीवित रहता ।
चैतन्य रूप चैतन्य वस्तु को नित्य उदय अनुभव करता ॥ २६० ॥

शार्दूलविक्रीडित—टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,
 वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेभिन्नं पशुः किंचन ।
 ज्ञानं नित्यमनित्यतां परिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
 स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥ २६१ ॥

अनुष्टुप्—इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
 आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥ २६२ ॥

काव्यार्थ—अज्ञानी टंकोत्कीर्ण निर्मल ज्ञान के विस्तार से एक आकार वाले आत्मतत्त्व की आशा करके अपने में उछलती निर्मल चैतन्य की परिणति से पृथक् कुछ आत्मा को चाहता है सो कुछ है नहीं और स्याद्वादो अनित्यता को प्राप्त होते हुये भी उज्ज्वल दैदीप्यमान चैतन्य वस्तु की प्रवृत्ति के क्रम से नित्यज्ञान की अनित्यता को अनुभव करता हुआ ज्ञान को स्वीकार करता है। २६१ ।

भावार्थ—एकांतवादी ज्ञान को सर्वथा अनित्य मान लेता है और अनेकांतवादी ज्ञान को क्रम से प्रवृत्त होते देखकर अनित्य मानता है यह अनित्यपने की अपेक्षा चौदहवाँ भंग हुआ है ।

काव्यार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञान से मोहित हुए जीवों के 'आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र है' ऐसा सिद्ध करता हुआ यह अनेकांत स्वयं ही अनुभव में आ रहा है। २६२ ।

भावार्थ—यहाँ पूरे समयसार में आत्मा को ज्ञानस्वरूप सिद्ध किया है। यद्यपि आत्मा में अनंतगुण हैं फिर भी ज्ञानगुण ही प्रधान है। सर्वप्रथम श्रीकुंदकुददेव ने आत्मा के जिस ज्ञायकभाव को कहा था उसी का यहाँ उपसंहार जैसा है। यथा—

णवि होदि अप्यमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

यह जो ज्ञायकभाव है वह न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है वह तो मात्र शुद्ध ही है। वह ज्ञायक भाव के द्वारा जाना गया जो है वही है अन्य कुछ भी नहीं है। श्री जयसेनाचार्य

जो टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान विस्तार आत्मतत्त्वाशय से ।
 आत्मा में उछल रही चित्परिणति से कुछ भिन्न सदाशय है ॥
 पर अनित्यता को प्राप्त हुए उज्ज्वल चैतन्य स्वरूपी को ।
 स्याद्वादी नर अनुभवता है आत्मा को ज्ञान स्वरूपी हो ॥ २६१ ॥
 अज्ञान से मोहित जीवों को बस ज्ञानमात्र है एक शरण ।
 वह ज्ञानस्वरूपी आत्मतत्त्व है ऐसी सिद्धी हुई स्वयं ॥
 यह अनेकांत स्याद्वाद का मत ऐसा अनुभव करवाता है ।
 आत्मा अरु ज्ञायक भावों का तादात्म्य रूप बतलाता है ॥ २६२ ॥

अनुष्टुप्—एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं ।

अलंघ्यं शासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥ २६३ ॥

नन्वेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थः । आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं तदसाधारणगुणत्वात्तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तत्त्वलक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः । ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यमेव प्रसाधनीयं नाप्रसिद्धलक्षणस्य^१ लक्ष्यस्य प्रसिद्धिः प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्त्वप्रसिद्धेः । ननु किं तत्त्वलक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिद्धयति ? न ज्ञानाद्विन्नं लक्ष्यं ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात् । तर्हि किं

ने इसकी टीका में कहा है—यह ज्ञायक भाव शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से शुद्धज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध आत्मा ही है । यह प्रथम गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक प्रमत्त नहीं है और सातवें गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत अप्रमत्त भी नहीं है । यह ज्ञायकभाव चौदहों गुणस्थानों से परे पूर्णज्ञानमय है ऐसा समझना ।

इस प्रकार का जो आत्मतत्त्व है वह अनेकांत के द्वारा ज्ञानमात्र सिद्ध किया गया है वह स्वयं अनुभव में आ रहा है ।

काव्यार्थ—इस प्रकार तत्त्व की व्यवस्था के द्वारा यह जैन/जिनेन्द्रदेव का अलंघ्य शासनस्वरूप अनेकांत स्वयं अपने को व्यवस्थापित करता हुआ व्यवस्थित हो गया । २६३ ।

भावार्थ—यह अनेकांत शासन ही जैन शासन है क्योंकि यह जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया है, यह अलंघ्य है—अन्य अनेकों एकांतवादियों के द्वारा उसका उलंघन/पराजय कभी भी नहीं हो सकता है, यही तत्त्व की व्यवस्था कर सकता है ऐसा समझना ।

प्रश्न—यह आत्मा अनेकांतमयी है फिर भी यहाँ पर उसे ज्ञानमात्ररूप से किसलिये कहा है ?

उत्तर—लक्षण की प्रसिद्धि से ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है इसलिये कहा है क्योंकि आत्मा का लक्षण ज्ञान है वह आत्मा का असाधारण गुण है इसलिये उस ज्ञान की प्रसिद्धि से उस लक्ष्यभूत आत्मा की प्रसिद्धि होती है ।

प्रश्न—इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है मात्र लक्ष्य को ही सिद्ध करना चाहिये ?

इस तरह सुतत्त्व व्यवस्था से जिनशासन सदा व्यवस्थित है ।

यह है अलंघ्य एकांतवादियों से नहि कभी पराजित है ॥

जिनदेव के इस शासन में कर अवगाहन में तिर जाऊँगा ।

निज आत्मा की श्रद्धा करके उसमें स्थिर हो जाऊँगा ॥ २६३ ॥

कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः । प्रसिद्धं हि ज्ञानं ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदायमूर्तिरात्मा ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतमनंतधर्मजातं यद्वावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा । एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः । ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वं ? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्ति-मात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात् । अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतःपातिन्योऽनंताः शक्तय उत्प्लवते । आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः । अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः । अनाकारोपयोगमयी

उत्तर—बात यह है कि जिसका लक्षण सिद्ध नहीं है ऐसे अप्रसिद्ध लक्षणवाले लक्ष्य की सिद्धि नहीं की जा सकती है बल्कि प्रसिद्ध लक्षण वाले लक्ष्य की ही सिद्धि हो सकती है ।

प्रश्न—वह लक्ष्य क्या है कि जो ज्ञान लक्षण की सिद्धि से उस लक्ष्य से भिन्न सिद्ध हो जाता है ?

उत्तर—आपका कहना ठीक नहीं है, वास्तव में हमारे यहाँ ज्ञान लक्षण से भिन्न लक्ष्यभूत आत्मा नहीं है क्योंकि ज्ञान और आत्मा ये दोनों ही द्रव्यरूप से अभिन्न हैं ।

प्रश्न—तो पुनः यह लक्ष्य और लक्षण का भेद कैसे होता है ?

उत्तर—प्रसिद्ध को सिद्ध करने के लिये ही यह लक्ष्य-लक्षण भेद किया जाता है । ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि यह ज्ञानमात्र स्वसंवेदन से सिद्ध हो रहा है । उस प्रसिद्ध ज्ञान के द्वारा साधित किया गया उस ज्ञान से अविनाभूत और अनंतधर्मों के समुदाय की भूति स्वरूप यह आत्मा है इसलिये ज्ञानमात्र से अविचल गड़ी हुई दृष्टि से/स्थिर दृष्टि से क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान उस ज्ञान से ही अविनाभूत अनंतधर्मों का समूह जो कुछ और जितना भी लक्षित किया जाता है/जाना जाता है वह उतना समस्त एक आत्मा ही है और इसीलिये यहाँ इस आत्मा को ज्ञानमात्र से कहा गया है—आत्मा को ही 'ज्ञान' यह संज्ञा है ।

प्रश्न—इस आत्मा में क्रम और अक्रम से प्रवर्तन करते हुए अनंतधर्म हैं पुन इस अनंतधर्मात्मक आत्मा को ज्ञानमात्र ही कैसे कह दिया ?

उत्तर—परस्पर में भिन्न-भिन्न अनंतधर्मों का जो समुदाय है उन समुदाय से परिणत जाननेरूप एक क्रियामात्र से यह स्वयं ही परिणत हो रहा है—आत्मा के जितने भी धर्म हैं वे सभी एक ज्ञान के परिणामनस्वरूप हैं यद्यपि उनमें लक्षणभेद है तो भी प्रदेश भेद नहीं है इसलिये इस आत्मा में ज्ञानमात्र एक भाव के अंतर्भूत अनंतों शक्तियों उत्पन्न होती रहती हैं/प्रगट होती रहती हैं । उन्हीं शक्तियों में से कुछ शक्तियों को यहाँ दिखलाते हैं—

१. आत्मद्रव्य के लिए कारणभूत चैतन्यमात्र भाव को धारण करने के लक्षणवाली 'जीवत्व' नाम की शक्ति है ।

दृष्टिशक्तिः । साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः । अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः । स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः । अखंडितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः । सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः । विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः । विश्वविश्वविशेषभावपरिणामात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः । नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः । स्वयंप्रकाशमानविशदरव-संवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः । क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिकाऽसंकुचितविकाशत्वशक्तिः । अन्याक्रियमाणाऽन्या-कारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्तिः । परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः । अन्यूनान्तिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः । षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठ-

२. जड़रहित स्वभाववाली 'चित्ति' शक्ति है ।

३. अनाकार उपयोगवाली 'दर्शन' शक्ति है—इसमें ज्ञेयरूप आकार विशेष नहीं झलकते हैं ।

४. साकार उपयोगवाली 'ज्ञान' शक्ति है—इसमें ज्ञेयपदार्थों के आकार विशेष झलकते हैं ।

५. अनाकुलता लक्षणवाली 'सुख' शक्ति है ।

६. अपने स्वरूप के रचना की सामर्थ्य रूप 'वीर्य' शक्ति है ।

७. अखंडित प्रताप से स्वतंत्रशाली लक्षणवाली 'प्रभुत्व' शक्ति है ।

८. सर्वभावों में व्यापक होने से एक भावरूप 'विभुत्व' शक्ति है ।

९. संपूर्ण विश्व—लोक-अलोक के सामान्य—सत्तामात्र भाव से परिणत स्वरूप को अवलोकन करने वाली 'सर्वदर्शित्व' शक्ति है ।

१०. संपूर्ण विश्व से विशेष भाव रूप परिणतस्वरूप को जानने वाली 'सर्वज्ञत्व' शक्ति है ।

११. अमूर्तिक आत्म प्रदेशों में प्रकाशमान लोक और अलोक के आकार से अनेकरूप जो हुआ उपयोग, उस उपयोग लक्षणवाली 'स्वच्छत्व' शक्ति है अर्थात् अमूर्तिक शुद्ध आत्मा में सारा विश्व झलकता है ऐसे विश्व को झलकाने—रूप दर्पण के समान यह एक स्वच्छत्व शक्ति है ।

१२. स्वयं प्रकाशमान निर्मल अपने संवेदन/अनुभवरूप 'प्रकाश' शक्ति है ।

१३. क्षेत्रकाल से अमर्यादित चैतन्य के विलासरूप 'असंकुचितविकासत्व' नाम की शक्ति है ।

१४. अन्य से न करने योग्य और जो अन्य का कारण नहीं है ऐसे एकद्रव्यरूप से 'अकार्य-कारणत्व' नाम की शक्ति है ।

१५. पर के और अपने निमित्त से हुए ज्ञेय और ज्ञानाकर में ग्रहण करने और ग्रहण कराने रूप 'परिणम्य-परिणामकत्व' शक्ति है ।

त्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः । क्रमाक्रमवृत्तिवृत्तित्वलक्षणोत्पादव्ययधुवत्वशक्तिः । द्रव्यस्वभाव-
भूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकाऽस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः । कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शा-
दिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः ।
सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पद्यरूपा
निष्क्रियत्वशक्तिः । आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणवस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्व-
लक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः । सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः । स्वपरसमाना-समानसमानासमान-
त्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः । विलक्षणानंतस्वभावभाविर्तैकभावलक्षणा-

१६. न्यूनता और अधिकता से रहित अपने स्वरूप में नियत रूप 'त्यागउपादानशून्यत्व' शक्ति है ।

१७. षट् स्थान पतित वृद्धि-हानि रूप परिणत हुआ जो वस्तु का निजस्वरूप, उसकी प्रतिष्ठा के लिए कारणविशेष गुणरूप 'अगुरुलघुत्व' नाम की शक्ति है ।

१८. क्रमवृत्ति—पर्याय और अक्रमवृत्ति—गुणों के वर्तना लक्षण वाली 'उत्पादव्ययधुवत्व' शक्ति है ।

१९. द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पादों से स्पर्शित समान और असमान रूप से एक अस्तित्व मात्र रूप 'परिणाम' शक्ति है ।

२०. कर्मबंध के अभाव से प्रगट हुये जो सहज-स्वभाव से ही स्पर्शादि से शून्य आत्म प्रदेशरूप 'अमूर्तत्व' शक्ति है ।

२१. सर्वकर्मों से कृत तथा ज्ञातामात्र से भिन्न परिणामों के करने रूप से उपरत/रहित 'अकर्तृत्व' शक्ति है ।

२२. सर्वकर्मों से कृत ज्ञातामात्र से भिन्न जो परिणाम उनके भोगने से रहित 'अभोक्तृत्व' शक्ति है ।

२३. सकल कर्मों के अभाव से प्रवृत्त आत्मा के प्रदेशों की निश्चलत्वरूप 'निष्क्रियत्व' शक्ति है ।

२४. अनादि संसार से संहार-विस्तार से चिह्नित किंचित् न्यून चरमशरीर प्रमाण से अवस्थित लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात आत्म प्रदेशों के लक्षणवाली 'नियतप्रदेशत्व' शक्ति है ।

२५. सर्व ही शरीरों में एक स्वरूप से रहने वाली 'स्वधर्मव्यापकत्व' शक्ति है ।

२६. अपने और पर में समानधर्म, असमान धर्म और समानासमान धर्म ऐसे त्रिविध भावों को धारण करने वाली 'साधारण, असाधारण, साधारणासाधारणधर्मत्व' शक्ति है ।

नंतधर्मत्वशक्तिः । तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः । तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः । अतद्रूपाऽभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः । अनेकपर्यायव्यापकैकव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः । एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः । भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः । शून्यावस्थत्वरूपाऽभावशक्तिः । भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः । अभवत्पर्यायोदयरूपाऽभावभावशक्तिः । भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः । अभवत्पर्यायाऽभवनरूपाऽभावाभावशक्तिः । कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः । कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः । प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः । भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः । भवद्भावभवनसाधक-

२७. परस्पर भिन्न लक्षणस्वरूप ऐसे अनंतस्वभावों में होने वाले एक-भाव लक्षण वाली 'अनंतधर्मत्व' शक्ति है ।

२८. तत्तत् रूप और अतत्तत् रूप लक्षण वाली 'विरुद्ध धर्मत्व' शक्ति है ।

२९. तत्तत् रूप से/जो वस्तु जैसी है उसका उसीरूप होना तत्तत् रूप है उस तत्तत् रूप से होने वाली 'तत्त्व' शक्ति है ।

३०. अतत्तत् रूप से नहीं होने वाली 'अतत्त्व' शक्ति है ।

३१. अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमय रूप 'एकत्व' शक्ति है ।

३२. एक द्रव्य में व्याप्त अनेक पर्यायस्वरूप 'अनेकत्व' शक्ति है ।

३३. विद्यमान परिणामों से अवस्थित स्वरूप 'भाव' शक्ति है ।

३४. अविद्यमान परिणामों से शून्यावस्थारूप 'अभाव' शक्ति है ।

३५. विद्यमान पर्याय के व्यय रूप 'भावाभाव' शक्ति है ।

३६. अविद्यमान पर्याय के उदयरूप 'अभाव भाव' शक्ति है ।

३७. वर्तमान पर्याय के होनेरूप भाव भाव 'शक्ति' है ।

३८. अविद्यमान पर्याय के नहीं होनेरूप 'अभावाभाव' शक्ति है ।

३९. कर्ता, कर्म आदि कारक में अनुगत क्रिया रहित, होने मात्र रूप ऐसी 'भाव' शक्ति है ।

४०. कारक के अनुसार होनेरूप भावमयी 'क्रिया' शक्ति है ।

४१. कर्ता के द्वारा प्राप्त करने योग्य, सिद्ध निष्पन्नरूप भावमयी 'कर्म' शक्ति है ।

तमत्वमयी करणशक्तिः । स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः । उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपाय-
ध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः । भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः । स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी
संबंधशक्तिः ।

वसंततिलका—इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥ २६४ ।

४२. होने वाले निष्पन्नरूप भाव को करने वाली 'कर्तृ' शक्ति है ।

४३. होते हुये भाव के होने में साधकतमरूप 'करण' शक्ति है ।

४४. स्वयं से देने में आते हुये जो भाव उसके प्राप्त होने योग्य 'संप्रदान' शक्ति है ।

४५. उत्पाद, व्यय से स्पर्शित भाव के अपाय के होने से नष्ट न होती हुई ध्रुवमयी
'अपादान' शक्ति है ।

४६. भावने योग्य भाव के आधार रूप 'अधिकरण' शक्ति है ।

४७. अपने स्वभाव मात्र के स्वामिपने को प्राप्त 'संबंध' शक्ति है ।

भावार्थ—आत्मा में सामान्य और विशेष ऐसे अनंतगुण पाये जाते हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व
आदि सामान्य गुण हैं । जीवत्व, चेतनत्व, ज्ञातापन, द्रष्टापन आदि विशेष गुण हैं । इन्ही
सामान्य-विशेष गुणों के अंतर्गत अनंतशक्तियाँ हैं । उनमें से यहाँ सैंतालीस शक्तियों का वर्णन
किया है । आगम से अविरुद्ध ऐसी और भी शक्तियाँ घटित कर लेनी चाहिये ।

इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—इस कथित शक्तियों के प्रकार को आदि में लेकर अनेक निज शक्तियों से
अतिशय भरित होते हुये भी जो भाव 'ज्ञानमात्रपने' को नहीं छोड़ता है वही इस संसार में
क्रम-अक्रम से होने वाले परिणमन से विचित्र, द्रव्यपर्यायमय चैतन्य वस्तु है । २६४ ।

भावार्थ—यह आत्मा ज्ञानमात्र है फिर भी यहाँ पर अनेक शक्तियों के समूह से
भरित/परिपूर्ण होते हुये भी अपने ज्ञानमात्र एक स्वभाव को नहीं छोड़ता है । इस आत्मा में
अनंत गुण और पर्याय भरी हुई हैं फिर भी यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ज्ञान- गुण से महान् माना
गया है क्योंकि अन्यगुण तो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं यह ज्ञान गुण ही ऐसा है जो जीव
को अन्य द्रव्यों से अलग कर देता है ।

इस तरह अनेक शक्तियों से निज में परिपूर्ण हुआ तो भी ।

जो ज्ञानमात्रपन भाव नहीं तजता सचमुच ज्ञानी वो ही ॥

क्रम अक्रम से होने वाले परिणमनों से वह अभिन्न है ।

वह ही इस जग में द्रव्य और पर्याय युत चेतन वस्तु है ॥ २६४ ॥

वसंततिलका—नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-तत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयंतः ।

स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघयंतः ॥ २६५ ॥

अथास्योपायोपेयभावश्चिन्त्यते । आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव । तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात् । तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः । यत्सिद्धं रूपं स उपेयः । अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाचरित्रैः स्वरूपप्रव्यवनात्संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपभारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा

काव्यार्थ—जो अनेकांत से संगत दृष्टि के द्वारा स्वयं आप ही वस्तु तत्त्व की व्यवस्था को इसी प्रकार से अवलोकित करते हैं वे स्याद्वाद की शुद्धि को अधिक रूप से स्वीकार करके जिनेंद्र देव की नीति का उल्लंघन न करते हुये ज्ञानी हो जाते हैं । २६५ ।

भावार्थ—जो अनेकांत के द्वारा/निश्चय-व्यवहार आदि नयों के द्वारा वस्तु तत्त्व की व्यवस्था को अच्छी तरह समझ लेते हैं । वे स्याद्वाद की शुद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त करके जिनेंद्रदेव की नीति का उल्लंघन न करते हुए ही ज्ञानी हो जाते हैं । यह नयचक्र बहुत ही कठिन है और इसे समझना बहुत ही आवश्यक है । श्री अमृतचंद्रसूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ में कहा है—

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनां ।

गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार अत्यंत कठिनाई से पार किये जाने वाले और नाना भंगों से गहन वन में मार्ग भूले हुए पुरुषों को अनेक प्रकार के नयसमूह को जानने वाले श्रीगुरु ही शरण होते हैं । अतः नयों के विशारद निर्ग्रन्थ-दिगंबर महामुनियों का आश्रय लेकर अनेकांत के रहस्य को समझकर आत्मतत्त्व की उपासना करनी चाहिये ।

अब आत्मा में ही उपाय-उपेय भाव को दिखलाते हैं—

आत्मा नाम की जो वस्तु है वह 'ज्ञान मात्र' है फिर भी उसमें उपाय और उपेय भाव विद्यमान ही है क्योंकि उस एक आत्मा में ही अपने आप साधक और सिद्ध इन दो रूप परिणामीपना पाया जाता है उनमें से जो साधकरूप भाव है वह 'उपाय' है और जो सिद्धरूप अवस्था है वह उपेय है और आत्मा इन दोनों परिणामों को धारण करने से परिणामी है । यह आत्मा अनादि कालीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र के द्वारा अपने स्वरूप से च्युत होकर के संसार में ही संसरण कर रहा है । ऐसा यह जीव कभी अच्छी तरह से दृढ़ता से व्यवहार

जो अनेकांत संगत दृष्टि से वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिति ।

स्वयमेव उसे अवलोकित करते हुए करे उसकी सिद्धि ॥

स्याद्वादशुद्धि को पूर्णरूप से स्वीकारें वे हैं ज्ञानी ।

जिनशासन नीति उल्लंघन नहीं करते वे शुद्धात्म ध्यानी ॥ २६५ ॥

परमप्रकर्ष^१मकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति । एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितै-
कवस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारदलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः । ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वतः एव क्रमाक्रमवृत्तानेकांतमूर्तयः साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवन्ति । ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभन्ति ते नित्यमज्ञानिनो भवन्तो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यन्तो जानन्तोऽनुचरन्तश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवन्तोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र को ग्रहण करके इन रत्नत्रय के परिपालन की प्रकर्ष परंपरा से/ इन्हें अतिशय रूप से वर्द्धिगत करते हुए क्रम से अपने स्वरूप में अपने को आरोपित करने वाला हो जाता है तब यह अपने में ही अंतर्मग्न निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय की विशेषता से साधक रूप हो जाता है ।

इन व्यवहार-निश्चयरत्नत्रय के परम प्रकर्ष की चरम सीमा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशय प्रवृत्ति से सकल कर्मों का क्षय करके देदीप्यमान, अस्खलित, विमल स्वभाव भाव ऐसे सिद्धरूप से स्वयं परिणमन करते हुये एक ज्ञानमात्र आत्मा ही उपाय-उपेय भाव को सिद्ध कर लेता है । इस प्रकार से दोनों ही भावों में ज्ञानमात्र का अनन्यपना—अभिन्नपना होने से नित्य ही अस्खलित एक वस्तु के निष्कंप—निश्चल ग्रहण कर लेने से उसी क्षण ही मुमुक्षु जीवों के, अनादिसंसार से लेकर अभी तक जिस भूमिका को नहीं प्राप्त कर पाया था ऐसी भूमिका का ईषत्प्राग्भार पृथ्वी का—मोक्ष अवस्था का लाभ हो जाता है । इसके बाद वे नित्य निश्चल हुये स्वतः ही क्रम-अक्रम से प्रवृत्त नाना गुण-पर्यायों से वर्तन करते हुये अनेकांत की मूर्ति स्वरूप होकर साधकभाव से उत्पन्न परम प्रकर्ष की चरम सीमा रूप ऐसे सिद्धि भाव के भाजन हो जाते हैं ।

जो इस अंतर्गर्भित अनेकांत से ज्ञानमात्र एक भावरूप इस भूमि को—अभेद अवस्था को नहीं प्राप्त करते हैं वे नित्य ही अज्ञानी होते हुये ज्ञानमात्र भाव के स्वरूप से परिणमन न करके पररूप से होने का श्रद्धान करते हुये, जानते हुये और आचरण करते हुये मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुये अत्यंतरूप से उपाय-उपेयभाव से भ्रष्ट हुये संसार में परिभ्रमण ही किया करते हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि व्यवहार रत्नत्रय की परम प्रकर्षता को प्राप्त करने पर ही अंतर्मग्न निश्चयरत्नत्रय प्रकट होता है । ये दोनों रत्नत्रय साधन हैं—उपाय हैं और

वसंततिलका—ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।

ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा भूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥ २६६ ॥

वसंततिलका—स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।

ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ २६७ ॥

सिद्ध अवस्था साध्य है—उपेय है। वास्तव में व्यवहाररत्नत्रय धारी मुनियों की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रारब्धमान, घटमान और निष्पन्न। जो रत्नत्रय के पालन में लगे हैं वे प्रारब्धमान हैं। जो पालन करते-करते कुशल बन रहे हैं वे घटमान हैं और जो पूर्ण कुशल ऐसे जिनकल्पी मुनि बन चुके हैं वे निष्पन्न योगी हैं। वे ही ध्यानाभ्यास से निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करके श्रेणी चढ़ने में समर्थ हो जाते हैं। उन्हीं का भेदाभेद रत्नत्रय एक, दो या तीन भवों में मोक्ष को प्राप्त कराने में समर्थ है। ऐसा समझकर निरतिचार मूलगुणों के पालन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब इसे ही कलश काव्यों में कहते हैं—

काव्यार्थ—जो पुरुष किसी भी प्रकार से मोह को दूर कर ज्ञानमात्र निजभावमयी, अकंप/निर्विकल्प भूमि का आश्रय ले लेते हैं वे साधकपने को प्राप्त करके सिद्ध भगवान् हो जाते हैं, किंतु भूढ़/मोही जीव इस ज्ञानमात्र भूमि को नहीं प्राप्त करके भ्रमण ही करते रहते हैं। २६६।

भावार्थ—यह अकंप भूमि भेद-अभेद रत्नत्रय से प्राप्त शुक्लध्यान रूप ही है यही साधकतम है। छोटे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक यह साधक अवस्था है, इसके बाद अर्हत-सिद्ध भगवान् सिद्ध स्वरूप ही कहलाते हैं इसके पहले चतुर्थ और पंचम गुणस्थान की अवस्था साधक भाव के लिये साधन होने से कारण का कारण कही जा सकती है।

काव्यार्थ—जो पुरुष स्याद्वाद की कुशलता और सुनिश्चल परिपूर्ण/निर्दोष संयम के द्वारा अपने में उपयुक्त—स्थित होकर निशदिन अपने को भाते रहते हैं वे एक ही ज्ञाननय और क्रियानय के परस्पर तीव्र मैत्री भाव के पात्र होते हुये इस भूमि को प्राप्त कर लेते हैं। २६७।

भावार्थ—स्याद्वाद की कुशलता—निश्चयनय-व्यवहारनय अथवा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय के द्वारा आत्म तत्त्व को कथंचित् अनंत गुणों के पिंडरूप, कथंचित् ज्ञानमात्र

जो किसी तरह से मोह दूर कर ज्ञानमात्र निज भाव लहे।
निज भावमयी निष्कम्प भूमि का आश्रय ले शुभ भाव गहें ॥
वे साधकपन को प्राप्त हुए भगवान् सिद्ध बन जाते हैं।
पर भूढ़ जीव इस ज्ञानधरा को प्राप्त नहीं कर पाते हैं ॥ २६६ ॥
जो नर स्याद्वाद कुशलता और सुनिश्चल संयम के द्वारा।
निज में स्थित होकर निशदिन निज को ध्याते निज के द्वारा ॥
वे ज्ञान क्रिया नय की आपस में मैत्री तीव्र कराते हैं।
उस रूप पात्र हो स्वयं उसी भूमी को वे पा जाते हैं ॥ २६७ ॥

वसंततिलका—चिर्त्पिण्डचंडिमविलासिविकासहासः^१ शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।

आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूपस्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥

वसंततिलका—स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।

किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावैर्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६९ ॥

स्वीकार करके भेदरत्नत्रय के बाद अभेद रत्नत्रय से परिणत होकर प्रतिदिन तो क्या प्रतिक्षण अपनी आत्मा की ही भावना करते रहते हैं वे ही महामुनि सिद्ध भूमि को प्राप्त कर लेते हैं ।

काव्यार्थ—चैतन्यपिण्ड का उत्कट विलास के विकास का हास्य/प्रफुल्लित होने रूप, शुद्ध प्रकाश की अतिशयता से सुप्रभात स्वरूप, आनंद में सुस्थित सदा अस्खलित एकरूप और अचल ज्योतिःस्वरूप ऐसा जो आत्मा है—सिद्ध अवस्था को प्राप्त है वह उस पूर्वोक्त भूमि को प्राप्त करने वाले के ही उदित होता है । २६८ ।

भावार्थ—यहाँ पर जो पूर्वोक्त साधक अवस्था से प्राप्त सिद्ध अवस्था में आ जाते हैं वे 'चिर्त्पिण्डचंडिम' आदि से अनंतदर्शन, 'शुद्धप्रकाश' आदि से अनंतज्ञान, 'आनंदसुस्थित' आदि से अनंतसुख और 'अचलार्चि' आदि से अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टयरूप उदय को प्राप्त कर लेते हैं ।

काव्यार्थ—मुझ में स्याद्वाद के द्वारा देदीप्यमान जगमग करते हुये प्रकाशरूप, शुद्ध स्वभाव की महिमा के उदित हो जाने पर बंध-मोक्ष के मार्ग में पड़ने वाले अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है ? मुझे तो मेरा नित्य उदित रहने वाला केवल यह स्वभाव ही स्फुरायमान होवे । २६९ ।

भावार्थ—स्याद्वाद के द्वारा आत्मज्ञान के प्रगट हो जाने पर इसका फल तो पूर्ण ज्ञानघन आत्मा को प्राप्त कर लेना है । यहाँ मुमुक्षु यही भावना करते हैं कि मुझमें जब ज्ञानज्योति प्रगट हो जावे तब इन बंध-मोक्ष से होने वाले परभावों से क्या प्रयोजन है ? निर्विकल्प ध्यान के बल से मेरे में एक ज्ञानस्वरूप ज्ञायकभाव ही सतत स्फुरित होता रहे ।

चैतन्य पिण्ड का जो उत्कृष्ट विलास विकास प्रफुल्लित है ।
फिर शुद्ध प्रकाश की अतिशयता से युक्त प्रभात सुसज्जित है ॥
आनंद में सुस्थित सदा अस्खलित एक रूप जो आत्मा है ।
पूर्वोक्त भूमि को प्राप्त वही नित्योद्योतित परमात्मा है ॥ २६८ ॥
स्याद्वाद से उदीपित प्रकाश मुझमें भी सहज समा जावे ।
निज शुद्ध स्वभावी महिमा का मुझमें यदि उदित भाव आवे ॥
तब बन्ध मोक्ष पथ में पड़ते भावों से मुझे प्रयोजन क्या ।
नित्योदित परम स्वभाव मेरा हो प्राप्त मुझे फिर करना क्या ॥ २६९ ॥

वसंततिलका चित्तात्मशक्तिमुद्राभ्यासोऽप्युक्तः सदा प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः ।

तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेकमेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ २७० ॥

न द्रव्येण खंडयामि । न क्षेत्रेण खंडयामि । न कालेन खंडयामि । न भावेन खंडयामि । सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि ।

शालिनीछंद—योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।

ज्ञेयो ज्ञेयः ज्ञानकल्लोलवल्गुः ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रं ॥ २७१ ॥

काव्यार्थ—अनेक प्रकार की निज शक्तियों के समुदायरूप यह आत्मा नयों की दृष्टि से खंड-खंडरूप किये जाने पर तत्काल ही नाश को प्राप्त हो जाता है इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खंडों को निराकृत नहीं किया गया है फिर भी जो अखंड एक है एकांत से शांत है और अचल है ऐसा चैतन्यमात्र तेज पुंज मैं हूँ । २७० ।

भावार्थ—यह आत्मा एक है फिर भी द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों से नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि भेदरूप होने से खंड-खंडरूप मालूम पड़ता है किंतु है एक अखंड ही । जब निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर ध्यानी महामुनि उस आत्मा का ध्यान करते हैं तब वह एक अखंड ही प्रतिभासित होता है । क्योंकि व्यवहारनयों की अपेक्षा जो खंड-खंडरूप पर्यायें हैं वे ध्यान में नहीं झलकती हैं । ऐसी निश्चल ध्यानावस्था को प्राप्त करने के लिये सतत ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये । जब तक यह शुक्ल ध्यान प्राप्त न हो सके तब तक अखंड आत्मा का श्रद्धान रखते हुये पिंडस्थ, पदस्थ ध्यान में प्रवृत्त होकर अपनी शक्ति बढ़ाते रहना चाहिये ।

ज्ञानी आत्मा शुद्धनय के अवलंबन से ऐसा अनुभव करता है कि—

मैं अपने शुद्ध स्वरूप को न द्रव्य से खंडित करता हूँ, न क्षेत्र से खंडित करता हूँ, न काल से खंडित करता हूँ और न भाव से खंडित करता हूँ मैं तो सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव ही हूँ ।

निज शक्ति के समुदाय रूप यह आत्मा भी नय दृष्टी से ।

खण्डित करने पर तत्क्षण ही नशता है किन्तु अखंडित है ॥

अतएव यही मैं अनुभवता मेरी आत्मा नहीं खण्डित है ।

चैतन्य एक है शांत अचल तेजोमय सदा अखण्डित मैं ॥ २७० ॥

यह ज्ञान मात्र जो भाव हूँ मैं सो ज्ञेय का ज्ञानमात्र नहीं है ।

पर ज्ञेयाकार रूप होने वाले तो ज्ञेय रूप ही हैं ॥

जब ज्ञान की कल्लोलें उठतीं तब उसी रूप परिणमता है ।

उस समय ज्ञान ज्ञाता व ज्ञेय मय वस्तुतत्त्व ही बनता है ॥ २७१ ॥

पृथ्वीछन्द—क्वचित्सत्तमेचकं क्वचिन्मेचकाऽमेचकं

क्वचित् पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।

तथापि न विमोहयत्यमलमेघसां तन्मनः ।

परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ २७२ ॥

इसे ही कलशकाव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ, सो वह ज्ञेयों के ज्ञानमात्र नहीं है किंतु ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र ही है । २७१ ।

भावार्थ—यह आत्मा ज्ञानमात्र है क्योंकि आत्मा को छोड़कर ज्ञान अन्यत्र नहीं पाया जाता है । संपूर्ण ज्ञेयपदार्थों को जानने वाला होने से यह ज्ञान कथंचित्—जानने की दृष्टि से ज्ञेयमात्र भी है प्रदेशों से नहीं, क्योंकि आत्मा के प्रदेश बाह्य वस्तुओं को जानते समय कहीं बाहर नहीं जाते हैं अतः आत्मा को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप भी समझना चाहिये ।

काव्यार्थ—कहीं पर तो यह मेरा सहज आत्मतत्त्व मेचक—भेदरूप या अशुद्ध शोभित हो रहा है तो कहीं पर—कभी यह मेचक और अमेचक—भेदाभेदरूप या अशुद्ध और शुद्ध झलकता है तो पुनः कभी यह आत्मतत्त्व अमेचक, अभेद या शुद्ध सहज—स्वभाविक प्रतिभासित हो रहा है फिर भी परस्पर में सुसंहत/सुमिलित, प्रगट शक्तियों के समूह से स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व निर्मल बुद्धि वालों के मन को विमोहित नहीं कर पाता है । २७२ ।

भावार्थ—यह आत्मा बाह्य पदार्थों को ग्रहण करते समय चित्राकार होने से या राग-द्वेष से कलुषित होने से मेचक है । यही आत्मा जब अपनी आत्मा के ही ध्यान में निमग्न हो जाता है अथवा राग-द्वेष-मोह से रहित शुद्ध हो जाता है तब अमेचक है—भेदरहित है या शुद्ध है । यही आत्मा कभी पर-स्वरूप को ग्रहण करने से मेचक व स्व-स्वरूप के ग्रहण करने से अमेचक ऐसे भेदाभेदरूप या शुद्धाशुद्ध रूप भी है फिर भी यह आत्मतत्त्व ध्यानी मुनियों को एक शुद्ध स्वरूप ही प्रतिभासित होता है ।

मेरा सहजावम तत्त्व कहीं है भेद रूप कहीं उभय रूप ।

तो पुनः कभी यह आत्मतत्त्व प्रतिभासित होता शुद्ध रूप ॥

फिर भी आपस में मिलित प्रगट शक्ति समूह से प्रस्फुर है ।

निर्मल धीमानों के मन को न विमोहित करता सुस्थिर है ॥ २७२ ॥

पृथ्वीछंद—इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता—
 मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
 इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै—
 रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवं ॥ २७३ ॥

पृथ्वीछंद—कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
 भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
 जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
 स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः ॥ २७४ ॥

काव्यार्थ—अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि एक ओर से देखने पर तो वह अनेकता को प्राप्त है और एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है, एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है । २७३ ।

काव्यार्थ—एक ओर से देखने पर तो कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखने पर शांति दिखती है, एक ओर से देखने पर भव की पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करती है, एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं तो एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है । ऐसी इस आत्मा की अद्भुत से भी अद्भुत यह कोई स्वभाव महिमा है जो कि जयशील हो रही है । २७४ ।

आत्मा का स्वभाव विजय शील हो रहा है—

इक ओर से देखो तो आत्मा में विविध भाव दिखने लगते ।
 इक ओर देखने पर उसमें एकत्व भाव केवल दिखते ॥
 क्षणभंगुर कभी वही लगता कभी ध्रुव कभी विस्तृत दिखता है ।
 वह कभी निजात्म प्रदेशों मय है, अहो । विभव यह उसका है ॥ २७३ ॥
 उस आत्मा में ही एक ओर संक्लेश कषायों से दिखता ।
 कभी शांति दिखे कभी भव पीड़ा कभी शिवपथ का स्पर्श करता ॥
 त्रैलोक्य भी प्रस्फुर हों उसमें चैतन्य एक ही शोभ रहा ।
 ऐसी स्वाभाविक महिमा से अद्भुत आत्मा जयशील हुआ ॥ २७४ ॥

मालिनीछन्द—जयति सहजतेजः पुंजमज्जत्रिलोकी—

स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।

स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः

प्रसभनियमिताचिच्छिन्नचमत्कार एषः ॥ २७५ ॥

मालिनीछन्द—अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहं ।

उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंताज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावं ॥ २७६ ॥

काव्यार्थ—सहज तेजःपुंज में तीनों लोकों को अंतर्मग्न कर लेने से जो स्खलित अखिल—विश्व के विकल्पो को धारण करता हुआ भी भेदरूप होता हुआ भी एक स्वरूप ही है, जो अपने रस के विस्तार से पूर्ण अविच्छिन्न तत्त्व की उपलब्धि स्वरूप है और जो अतिशय नियमित ज्योतिर्मय है ऐसा यह चैतन्य चमत्कार जयशील हो रहा है । २७५ ।

भावार्थ—केवलज्ञान के प्रकाश में संपूर्ण तीनों लोक झलकते हैं अतः इसमें ज्ञेयों के अनंत होने से भेद प्रतिभासित होते हैं फिर भी यह चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि से एकरूप ही है । इसमें—ज्ञान-स्वरूप आत्मा में प्रतिपक्षी कर्मों का अभाव हो जाने से निश्चित/निश्चल ज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह चित्-चमत्कार स्वरूप आत्मा सर्वोत्कृष्ट जय को प्राप्त कर लेता है ।

काव्यार्थ—जो अचल चेतना स्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरंतर निमग्न रखती है, जिसने मोह का नाश कर दिया है । जिसका स्वभाव निःसपत्न/प्रतिपक्षी कर्मों से रहित है, जो निर्मल है और पूर्ण है, ऐसी यह उदय को प्राप्त 'अमृतचंद्र' ज्योति सर्व प्रकार से जाज्वल्यमान होती रहे । २७६ ।

भावार्थ—यहाँ श्री अमृतचंद्रसूरि ने 'अमृतचंद्रज्योति' पद से अपना नाम भी प्रगट किया है और अमृतमय चंद्रमा के समान ज्योति अथवा कभी नष्ट नहीं होने वाली ऐसी अमृत/ज्ञानमय ज्योति अर्थ को द्योतित किया है । यह अमृतचंद्र आचार्य की वचनज्योति अपनी आत्मा को

आत्मा का तेजो पुंज सहज त्रिभुवन को अंतर्मग्न करे ।

स्खलित विश्व के वैकल्पिक विषयों में भी संसर्ग करे ॥

तो भी वह एक स्वरूपी है निज रस वैभव से पूर्ण हुआ ।

अविच्छिन्न तत्त्व उपलब्धि रूप अतिशय ज्योती जयशील हुआ ॥ २७५ ॥

जो अचल चिदात्मा में आत्मा को स्वयं निरंतर मग्न रखे ।

जिसने विनाश कर दिया मोह का वह ही आत्मपियूष चखे ॥

प्रतिपक्षी कर्मों से विरहित जिसका स्वभाव, निर्मल प्रपूर्ण ।

वह उदित व "अमृतचंद्र" ज्योति सब ओर से हो जाज्वल्यपूर्ण ॥ २७६ ॥

अनुष्टुप् छंद—मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादितः ।

अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

अथ द्रव्यस्यादेशवशेनोक्तां सप्तभंगीमवतारयामः—स्यादस्ति द्रव्यं । १ । स्यान्नास्ति द्रव्यं । २ । स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं । ३ । स्यादवक्तव्यं द्रव्यं । ४ । स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं । ५ । स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं । ६ । स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं । ७ । इति । अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकांतद्योतकः कथंचिदर्थः स्याच्छब्दे निपातः । तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं । स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यं । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यं । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं द्रव्यं । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यं । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति । इति सप्तभंगी समाप्ता ॥ इति स्याद्वादोऽधिकारः ॥

अपने स्वरूप में स्थिर कराने में समर्थ है । यह वचनज्योति भव्यजीवों को प्रतिबोधित करने वाली है और एकांत मतावलंबियों के दुरभिप्राय से दूर कराने वाली है, इसका कोई विरोधी नहीं है । ऐसे ये श्री अमृतचंद्राचार्य के वचन और उन वचनों से प्राप्त हुआ ज्ञानस्वरूप आत्मा सदाकाल प्रकाशमान होता रहे ।

इसे ही कहते हैं कि—जो कर्मों से तो मुक्त हैं और ज्ञान आदि गुणों से अमुक्त हैं उन अक्षय-अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।

अब द्रव्य की अपेक्षा से कथित सप्तभंगी को अवतरित करते हैं—१. द्रव्य कथंचित् अस्ति है, २. द्रव्य कथंचित् नास्ति है, ३. द्रव्य कथंचित् अस्तिनास्ति है, ४. द्रव्य कथंचित् अवक्तव्य है, ५. द्रव्य कथंचित् अस्ति और अवक्तव्य है, ६. द्रव्य कथंचित् नास्ति अवक्तव्य है और ७. द्रव्य कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य है । यह सप्त भंगी हुई है ।

यहाँ यह 'स्यात्' शब्द निपात से सिद्ध है, यह कथंचित् अर्थ का वाचक है जो कि सर्वथारूप—एकांत का निषेध करने वाला है और अनेकांत को प्रकाशित करने वाला है । उसे ही स्पष्ट करते हैं—यह द्रव्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव के द्वारा कहा गया होने से 'अस्ति' है—विद्यमान है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव के द्वारा कहने पर यह द्रव्य 'नास्ति' है/अविद्यमान है । स्व और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा कहा गया यह द्रव्य अस्ति-नास्ति है/विद्यमान और अविद्यमान दोनों रूप है । स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के द्वारा और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के द्वारा एक साथ कहने पर द्रव्य अवक्तव्य है—कहा नहीं जा सकता है । स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से और युगपत्/एक साथ स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल,

शार्दूलविक्रीडित—यस्मादद्वैतमभूत् पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽन्तरं ।
 रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
 भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं ।
 तद्विज्ञानधनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित् खलु ॥ २७७ ॥

भाव से कहा गया द्रव्य 'अस्ति अवक्तव्य' है—विद्यमान है और कहा नहीं जा सकता है । परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से और एक साथ स्व-पर, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य 'नास्ति-अवक्तव्य' है—अविद्यमान है और कहा नहीं जा सकता है । स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से, पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से एक साथ स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से कहा गया द्रव्य 'अस्ति-नास्ति अवक्तव्य' है—विद्यमान, अविद्यमान और अवक्तव्य है ।

इस प्रकार यह सप्तभंगी पूर्ण हुई है ।

इति स्याद्वाद अधिकार पूर्ण हुआ ।

इसे ही कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—जिस अज्ञान से प्रथम तो अपने और पर का द्वैत हुआ, जिस हेतु से द्वैतभाव होने से स्वरूप में अंतर पड़ गया, जिससे उस अंतर के पड़ने से राग-द्वेष का परिग्रहण हुआ, राग-द्वेष का ग्रहण होने पर क्रिया-कारक के भेद उत्पन्न हुये पुनः उन भेदों के होने पर आत्मा की जो अनुभूति है वह क्रिया के फलों को भोगती हुई खेद खिन्न हो गई ऐसा जो यह अज्ञान था वह अब ज्ञानरूप हुआ विज्ञानधन के समूह में निमग्न हो गया है, विज्ञानरूप से परिणत हो गया तब किञ्चित् मात्र भी कर्म कुछ भी करने वाला नहीं रहा है । २७७ ।

भावार्थ—अनादिकाल से यह जीव कर्म जनित शरीर को और अपनी आत्मा को एक ही समझ रहा है । 'जीवंगाणं अणाइसंबंधो' पुनः जीव और शरीर का अनादि से संबंध है फिर भी ये दो हैं ऐसा ज्ञान तो हुआ फिर भी बंध को अपने से भिन्न नहीं समझ सकने से यह अज्ञान ही रहा । इस मोह जनित अज्ञान से राग-द्वेष आदि विभाव परिणामों से परिणत होता हुआ यह जीव कर्मों को ग्रहण करता रहा है । जब यही जीव सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा बन जाता है तब भेदज्ञान से अपने स्वतत्त्व की भावना करते हुये महामुनि अवस्था में शुद्धोपयोगी बनकर अपने ज्ञान को केवलज्ञान बना लेता है तभी संसार परिभ्रमण को समाप्त कर पूर्ण सुखी हो जाता है ।

पहले निज पर का द्वैत हुआ जिससे उनमें अंतर भी पड़ा ।

जिससे फिर रागद्वेष ग्रहण हो क्रिया व कारक भेद पड़ा ॥

अनुभूति हुई जो क्रिया फलों को भोग खिन्नता प्राप्त हुई ।

अज्ञान था वह अब ज्ञान वृंद में मग्न हुआ कुछ करे नहीं ॥ २७७ ॥

उपजाति छंद—स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः

व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः ।

स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति

कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥ २७८ ॥

इति श्री—अमृतचन्द्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता ॥

अब श्री अमृतचंद्रसूरि टीका को पूर्ण करते हुये कहते हैं—

काव्यार्थ—जिन्होंने अपनी शक्ति से अच्छी तरह से वस्तुतत्त्व को सूचित किया है, ऐसे शब्दों ने इस समय की—समय प्राभूत ग्रंथ की या शुद्ध आत्म तत्त्व की व्याख्या की है किंतु स्वरूप में गुप्त हुये 'अमृतचंद्र सूरि' का इसमें कुछ भी कर्तव्य/कार्य नहीं है। २७८।

विशेषार्थ—शब्दों में अपने अर्थ को कहने की शक्ति विद्यमान है। श्री अमृतचंद्राचार्य का कहना है कि निश्चयनय की अपेक्षा से मैं तो अपने चिच्छैतन्य स्वरूप आत्मा में गुप्त हूँ—तन्मयता को प्राप्त हूँ इसलिये मेरे द्वारा करने योग्य तो कोई कार्य है ही नहीं। इस कारण मैंने इस टीकारूप ग्रंथ को नहीं रचा है प्रत्युत अपने अर्थ को कहने में कुशल ऐसे शब्दों ने ही मिलकर यह 'आत्मख्याति' नाम की व्याख्या रची है। यह कथन एकदेश शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा है न कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय से, क्योंकि सर्वतः—पूर्ण शुद्ध निश्चयनय से ग्रंथरचना आदि कार्य व संसार-मोक्ष की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है। अथवा उपादान रूप से शब्दरूप पुद्गल वर्गणायें ही ग्रंथ रचना करती हैं आचार्य देव तो निमित्तमात्र हैं ऐसा समझना। अथवा यह कथन आचार्यश्री की लघुता को और उनकी सतत स्वात्मतत्त्व की भावना को ही द्योतित कर रहा है। क्योंकि समयसार की टीका करते समय आचार्य श्री स्वयं अपने को निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञान-दर्शन स्वरूप, अमूर्तिक, शुद्ध, सिद्ध मानते रहें इसमें भला आश्चर्य ही क्या

निज शक्ति से अच्छी तरह वस्तु तत्त्वों को जो सूचित करते ।

उन शब्दों से ही समय शब्द की व्याख्या हम पूरित करते ॥

आत्म स्वरूप में लीन हुए अमृतचंद्रसूरि कहते हैं ।

मैंने इसमें कुछ किया नहीं निज लघुता प्रगटित करते हैं ॥ २७८ ॥

प्रशस्ति—निज गुरु गणिनी आर्यिका ज्ञानमती जी की प्रबल प्रेरणा से ।

निज आत्म शुद्धि हेतु प्रभु की वाणी को ग्रहण किया मैंने ॥

श्री वीरअब्द पच्चीस शतक बीसवीं कृष्ण तृत्तिया मगशिर ।

इस रचना को करपूर्ण भाव है हो जाऊँ निज में स्थिर ॥ १ ॥

ज्ञानमयी अमृत भरे, कलशकाव्य सुखस्वाद ।

किया "चन्दनामति" सरस, भाषामय अनुवाद ॥ २ ॥

अथ स्याद्वादधिकारः

अत्र स्याद्वादसिद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।

उपायोपेयभावश्च भनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥

चिन्त्यते विचार्यते कथ्यते मनाक् संक्षेपेण भूयः पुनरपि । काऽसौ ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ? वस्तुतत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्याख्या । किमर्थं ? स्याद्वादशुद्ध्यर्थं स्याद्वादनिराकरणार्थं । अत्र समयसारव्याख्याने समाप्तिप्रस्तावेन केवलं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चिन्त्यते । उपायोपेयभावश्च । उपायो मोक्षमार्गः उपेयो मोक्ष इति । अतः परं स्याद्वादशब्दार्थः कः ? इति—प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः—स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः

है ? इसलिये इस महान ग्रंथ के स्वाध्याय करने वालों को भी सतत ही आत्मा को परद्रव्य से भिन्न ज्ञानस्वरूप समझना चाहिये और तत्त्वचिन्तन व सामायिक के समय अपने शुद्धचित्स्वरूप की ही भावना भाते रहना चाहिये ।

इति श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित 'समयसार प्राभृत' ग्रंथ में
श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका के रहस्य को प्रकाशित
करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा रचित इस
'ज्ञानज्योति' भाषा टीका में स्याद्वाद को प्ररूपित
करने वाला दशवां अधिकार पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत समयसार व्याख्या नाम से आत्मख्याति टीका पूर्ण हुई है ।

अथ स्याद्वाद अधिकार

अब यहाँ स्याद्वाद की सिद्धि के लिये वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिति, उपाय और उपेय भाव का पुनरपि किंचित् विचार करते हैं—

चिन्त्यते—विचार करते हैं—पुनरपि संक्षेप से कहते हैं । किसको ? वस्तु के स्वरूप को । किसलिये ? स्याद्वाद की शुद्धि के लिये—स्याद्वाद का निश्चय कराने के लिये वस्तु के स्वरूप की व्याख्या करते हैं ऐसा अभिप्राय है ।

यहाँ इस समयसार के व्याख्यान में समाप्ति के प्रकरण पर केवल/मात्र वस्तु तत्त्व की व्यवस्था का ही विचार करते हैं ऐसी बात नहीं है किंतु उपाय-उपेय भाव का भी विचार करते हैं । मोक्षमार्ग उपाय है और मोक्ष उपेय है ।

प्रश्न—स्याद्वाद शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर—स्यात्/कथंचित्/विवक्षित प्रकार से—अनेकांतरूप से बोलना, कथन करना,

शासनमित्यर्थः । तच्च भगवतः शासनं किं करोति ? सर्वं वस्तु अनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति । अनेकांत इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादनं स्यादनेकांतो भण्यते । स चानेकांतः किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थः शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेकात्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादिस्वभावात्मको भवतीति कथयति । तथाहि—ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति । ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति । द्रव्यार्थिकनयेनैकः । पर्यायार्थिकनयेनानेकः । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूपः । परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः । द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः । पर्यायार्थिकनयेनानित्यः । पर्यायार्थिकनयेन भेदात्मकः द्रव्यार्थिकनयेनाभेदात्मको भवतीत्याद्यनेकधर्मात्मक इति । तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समंतभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते—

जल्पना, कहना, प्रतिपादन करना यही 'स्याद्वाद' है । यह स्याद्वाद भगवान् अर्हंत देव का शासन है ऐसा समझना ।

प्रश्न—यह भगवान का शासन क्या करता है ?

उत्तर—सभी वस्तुयें अनेकांत स्वरूप हैं ऐसा कहता है ।

प्रश्न—अनेकांत का क्या अर्थ है ?

उत्तर—एक ही वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व-नास्तित्व, एकत्व-अनेकत्व आदि स्वरूप परस्पर में विरुद्ध सापेक्ष ऐसी जो दो-दो शक्तियां हैं—धर्म हैं उनको प्रतिपादित करना 'अनेकांत' कहलाता है ।

प्रश्न—यह अनेकांत क्या करता है ?

उत्तर—'ज्ञानमात्र' जो यह भाव है—जीव पदार्थ है—शुद्धात्मा है वह तत्-अतत् रूप है, एक-अनेक रूप है, सत्-असत् रूप है और नित्य-अनित्य रूप है इत्यादि स्वभाव वाला है, यह अनेकांत इस प्रकार से कहता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

यह आत्मा ज्ञानरूप से तत्तत् रूप है और ज्ञेयरूप से अतत्तत् रूप है, द्रव्यार्थिकनय से एक है और पर्यायार्थिकनय से अनेक है, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्वचतुष्टय से सतत्तत् रूप है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप परचतुष्टय से असत् रूप है, द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, पर्यायार्थिक नय से भेदरूप है और द्रव्यार्थिकनय से अभेदरूप है यह जीवपदार्थ नामक शुद्धात्मा इन तत्-अतत् आदि प्रकार से अनेक धर्मस्वरूप है ऐसा समझना । यही स्याद्वाद का स्वरूप है । श्री समंतभद्र आचार्य देव ने स्वयंभूस्तोत्र में भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
 सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितिह ते ॥ १ ॥
 सर्वथा नियमत्यागी यथा दृष्टमपेक्षकः ।
 स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषां ॥ २ ॥
 अनेकांतोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः ।
 अनेकांतः प्रमाणात् तदेकांतोऽर्पितानयात् ॥ ३ ॥
 धर्मिणोऽनंतरूपत्वं धर्माणां न कथंचन ।
 अनेकांतोप्यनेकांत इति जैनमतं ततः ॥ ४ ॥

सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षी—विरोधी हैं असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य, ये आठ नव होते हैं—ये परस्पर विरोधी चार युगल हैं और इनको कहने वाले आठनय हो जाते हैं। जब इनमें 'सर्वथा' शब्द लगा देते हैं तब ये दोष को प्राप्त हो जाते हैं और जब इनके साथ 'स्यात्' पद लगा देते हैं तब ये पोषक—भनोरथ को सफल करने वाले हो जाते हैं।

भावार्थ—जीव सर्वथा सत् ही है या सर्वथा असत् ही है यह कथन एकांत है किंतु जीव स्यात्/कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् है यह अनेकांत है क्योंकि जीव स्वचतुष्टय से सत् है और परचतुष्टय से असत् है सर्वथा सत् कह देने से परद्रव्य आदि से भी उसे सत् मानना होगा तब तो जीव अजीवादि से भी सत् होने से अजीव हो जायेगा इत्यादि महान् दोष आ जावेंगे।

हे भगवन् ! 'सर्वथा' इस नियम का त्यागी और जैसा प्रत्यक्ष में दिखता है उसकी अपेक्षा करने वाला यह 'स्यात्' शब्द आपके ही न्याय—शासन में है किन्तु अन्य जो आत्मा के विद्वेषी हैं उनके संप्रदाय में यह 'स्यात्' शब्द नहीं है।

हे भगवन् ! आपका अनेकांत भी अनेकांतरूप है अर्थात् वह कथंचित् अनेकांत है, कथंचित् एकांत है। वह प्रमाण और नय से साधा जाता है। वह प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत है और अर्पित—विवक्षित नय से एकांतरूप है।

धर्मों के अनंत रूपता है किंतु धर्मों के नहीं हैं—धर्मों जीव अनंतधर्मवाला है और उसके प्रत्येक धर्म पृथक्-पृथक् एक-एक ही हैं उन धर्मों में अन्य धर्म नहीं पाये जाते हैं इसलिये अनेकांत भी अनेकांतरूप ही है ऐसा जैनमत में माना गया है।

विशेषार्थ—अनेकांत में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकांत और एकांतरूप से अनेक मुखी कल्पनायें हो सकती हैं। अनेकांत और एकांत सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। प्रमाण के द्वारा प्ररूपित वस्तु के एकदेश को युक्ति सहित ग्रहण करने

एवं कथंचिच्छब्देन वाचकस्यानेकांतात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थः संक्षेपेण ज्ञातव्यः । तत्रैवमनेकांतव्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थः एकानेकात्मको जातः । तस्मिन्नेकानेकात्मके जाते सति ज्ञानमात्रभावस्य जीवपदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूतं साधकरूपं घटते । मोक्षरूपेण पुनरुपेयभूतं साध्यरूपं च घटत इति ज्ञातव्यं । अथ प्राभृताध्यात्मशब्दयोरर्थः

वाला 'सम्यक् एकांत' है और एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला 'मिथ्याएकांत' है । एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरोद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला 'सम्यक् अनेकांत' है तथा वस्तु को तत्-अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला ऐसा अर्थशून्य वचन विलास 'मिथ्या अनेकांत' है ।

सम्यक्एकांत नय कहलाता है और सम्यक्अनेकांत प्रमाण कहलाता है । यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जाय और एकांत का लोप किया जाय तो सम्यक् एकांत के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत् समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जायेगा । और यदि एकांत ही माना जाये तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्वलोप हो जावेगा ।"

इसलिये 'अनेकांतोऽप्यनेकांतः' अनेकांत में भी अनेकांत होने से वह कथंचित् सम्यक्एकांत है, कथंचित् अनेकांत है इत्यादि । इसका विस्तार तत्त्वार्थवार्तिक में देखना चाहिये ।

इस प्रकार इस कथंचित् शब्द से वाच्य-वाचक, अनेकांत स्वरूप वस्तु का प्रतिपादक 'स्यात्' शब्द का अर्थ संक्षेप से जानना चाहिये । यहाँ इस तरह अनेकांत के व्याख्यान से ज्ञानमात्र भाव वाला जीवपदार्थ एकानेकरूप सिद्ध हो गया । उस जीव पदार्थ के एक-अनेक स्वरूप सिद्ध हो जाने पर ज्ञानमात्रभावरूप आत्मा में नयविभाग से भेद-अभेदरत्नत्रयात्मक, निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के दो भेदरूप से साधकरूप/उपायभूत घटित हो जाता है और मोक्षरूप से उपेयभूत/साध्यरूप भी घटित हो जाता है ऐसा जानना चाहिये ।

भावार्थ—यह आत्मा अनंतधर्मवाला धर्मों है इसलिये इसमें एक-अनेक, सत्-असत् आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं यह बात सिद्ध हो जाने से ही आत्मा व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है अतः वही साधक है पुनः वही आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लेता है अतः वही साध्य है । इस प्रकार से आत्मा ही उपाय है और आत्मा ही उपेय है । यह आत्मा एक ज्ञानमात्र होते हुये भी अनेकांत की दृष्टि से इन दो रूप है ऐसा यहाँ स्पष्ट किया है ।

कथ्यते । तद्यथा—यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किञ्चित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभूतं भण्यते । तथा परमात्मा आराधकपुरुषस्य निर्दोषपरमात्मा राजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभूतं । कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति प्राभूतशब्दस्यार्थः । रागादिपरद्रव्यनिशलंबनत्वेन निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मं । इदं प्राभूतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं ? सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं निजनिरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं । रागद्वेषमोहक्रोधभानमाया-लोभ-पंचेंद्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदान-माया-मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः शून्योऽहं । जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमत्तैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवाः । इति निरन्तरं भावना कर्तव्या । इति स्याद्वादोऽधिकारः ।

अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता । वाक्यानि च भिन्नाभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं । तेन कारणेन लिंग-वचन-क्रिया-कारक-सन्धिसमास-विशेष्य-विशेषणवाक्य-समाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः । शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये यदज्ञानात् किञ्चिदधिस्मृतं तदपि क्षभितव्यमिति ।

अब प्राभूत और अध्यात्म शब्द का अर्थ कहते हैं—जैसे कोई देवदत्त नामा पुरुष राजा के दर्शन के लिये जाता है तब कुछ सारभूत वस्तु राजा के लिये देता है वही 'प्राभूत' कहलाता है—भेंट कहलाता है । वैसे ही परमात्मा के आराधक पुरुष को निर्दोष परमात्मारूपी राजा के दर्शन के लिये यह शास्त्र भी 'प्राभूत' है—भेंटस्वरूप है क्योंकि यह सारभूत है । इस प्रकार यह प्राभूत शब्द का अर्थ कहा गया है । रागादि परद्रव्य का अवलंबन छोड़कर विशुद्ध आधारभूत अपनी शुद्धात्मा में अनुष्ठान करना 'अध्यात्म' है ऐसा समझना ।

प्रश्न—इस प्राभूतशास्त्र को जानकर क्या करना चाहिये ?

उत्तर—इस 'समयसार' नामक प्राभूत शास्त्र को जानकर ऐसा चिंतन करना चाहिये कि 'मैं सहज, शुद्ध, ज्ञानानंद, एक स्वभावी हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ, मैं निज-निरंजन शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुखानुभूति लक्षणवाले स्वसंवेदन से संवेद्य हूँ—स्वानुभवगम्य हूँ, मैं स्वसंवेदन से प्राप्त होने योग्य हूँ, मैं वीतराग सहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान से भरित अवस्थारूप हूँ, मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, भान, माया, लोभ, पंचेंद्रिय विषयव्यापार, मनवचनकाय का व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने एवं अनुभव में आये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदान, माया मिथ्यात्वरूप तीन शल्य आदि सर्व विभावपरिणामों से रहित हूँ—शून्य हूँ । तीनों

जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो ।
 बुद्धि-सिरेणुद्धरिओ समण्णिओ भव्वलोयस्स ॥ १ ॥
 जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।
 तं सव्वजीवसरणं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥ २ ॥

जगत् में भी और तीनों कालों में भी मन वचन काय से और कृत कारित अनुमोदना से शुद्धनिश्चयनय से सभी जीव शुद्ध ही हैं, निरंतर ऐसी भावना करते रहना चाहिये।

इस प्रकार स्याद्वाद अधिकार पूर्ण हुआ।

सूचना—श्री अमृतचंद्रसूरि ने 'जीवाजीवाधिकार' एक माना है, अतः उनके अनुसार यह दशवां अधिकार है और श्रीजयसेनाचार्य ने जीवाधिकार—अजीवाधिकार अलग-अलग रखे हैं, अतः उनके अनुसार यह ग्यारवां अधिकार है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित 'समयसार' प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत
 आत्मख्याति टीका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य
 को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती कृत इस
 'ज्ञानज्योति' नामा भाषा टीका में स्याद्वाद को प्ररूपित
 करने वाला यह दशवां (ग्यारहवां)
 अधिकार पूर्ण हुआ।

इस समयसार ग्रंथ की टीका में प्रायः पदों की संधि नहीं की गई है और सरलता से समझने के लिये वाक्य भी भिन्न-भिन्न रखे गये हैं इसलिये लिंग—स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसक लिंग, वचन—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, क्रिया—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, तृतीय पुरुष संबंधि क्रिया, कारक—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण रूप षट्कारक, संधि—स्वरसंधि, व्यंजन संधि, विसर्ग संधि, समास—तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्वंद्व, विशेष्य, विशेषण और वाक्य समाप्ति आदि दूषण विवेकी जनों को ग्रहण नहीं करना चाहिये। शुद्धात्मा आदि तत्त्व के प्रतिपादन के विषय में अज्ञान से मेरे द्वारा जो कुछ भी विस्मृत हुआ है—भूल हुई हो उसको भी क्षमा कर देना चाहिये।

अब यहाँ श्री जयसेनाचार्य ग्रंथकर्ता का अभिनंदन करते हुये जिनशासन के प्रति सद्भावना व्यक्त करते हैं—

यश्चाभ्यस्यति संश्रुणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् ।
 तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतं ।
 शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलं ज्ञानात्मकं केवलं ।
 संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते ।

इति श्रीकुंदकुंददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्य संबंधिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता
 दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता ।

जिन महर्षि श्री पद्मनन्दि आचार्य (अपरनाम कुन्दकुन्द देव) ने महातत्त्व प्राभृत—समयसार प्राभृत ग्रंथरूपी पर्वत को अपनी बुद्धिरूपी शिर से उठाकर भव्यजीवों के लिये अर्पित कर दिया है वे पद्मनन्दि—श्री कुंदकुंदाचार्य देव सदा जयवंत होवें !

जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव अनंत संसार सागर को पार कर लेते हैं, सभी जीवों के लिये शरणभूत ऐसा यह जिनशासन चिरकाल तक वर्द्धिगत होता रहे ।

पुनरपि श्री जयसेनाचार्य आशीर्वाद सूचक मंगलाचरण करते हैं—

आत्मरस के रसिकों द्वारा वर्णित यह 'तात्पर्य' नाम का 'प्राभृत' है—तात्पर्यवृत्ति टीका नाम का शास्त्र है इसको जो आदर पूर्वक सुनेंगे, पढ़ेंगे, अभ्यास करेंगे और अन्य जीवों के लिये प्रतिपादित करेंगे वे शाश्वतकाल रहने वाले अद्भुत, सकल ज्ञानात्मक, समर्थ ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त करके मुक्तिरूपी ललना में आसक्त हुये लोक के अग्रभाग में भी सदाकाल तक स्थित रहेंगे ।

इस प्रकार श्रीकुंदकुंददेवाचार्य विरचित 'समयसार प्राभृत' नाम के ग्रंथ से संबंधित श्रीजयसेनाचार्यकृत दस अधिकारों द्वारा चार सौ उनतालीस गाथाओं में यह 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की टीका पूर्ण हुई ।

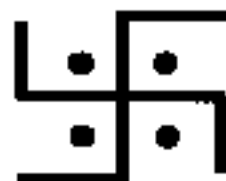
इति श्रीमद् भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित 'समयसारप्राभृत' ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरि

विरचित आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के

रहस्य को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा

रचित यह 'ज्ञानज्योति' नाम की भाषा टीका पूर्ण हुई ।

वर्धतां जिन शासनम्



स्याद्वाद अधिकार का सार—

“स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनं इति स्याद्वादः” स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनं ।

स्यात्/कथंचित्/विवक्षित प्रकार से—अनेकांतरूप से कथन करना/प्रतिपादन करना स्याद्वाद है, वह स्याद्वाद अर्हत भगवान का शासन है। अथवा यह स्याद्वाद समस्त वस्तुतत्त्व को सिद्ध करने वाला अर्हत/सर्वज्ञ भगवान् का एक अस्खलित शासन है। यह स्याद्वाद सभी वस्तु को अनेकांतात्मक कहता है क्योंकि सभी वस्तुयें अनेकांत स्वभाव वाली हैं।

अनेकांत का लक्षण—

एक ही वस्तु में वस्तुतत्त्व को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व-नास्तित्व सदृश दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियों को प्रतिपादन करने वाला अनेकांत है। वह अनेकांत यह बताता है कि ज्ञानमात्र जो भाव है—जीव पदार्थ है वह शुद्धात्मा है, वह तद्रूप या अतद्रूप या एकानेकात्मक अथवा सत्-असत् रूप अथवा नित्य-अनित्य आदि स्वभाव वाला है।

उसी का स्पष्टीकरण—जो आत्मा ज्ञानरूप से तत् रूप है वही आत्मा ज्ञेय रूप से अतत् रूप है। द्रव्यार्थिकनय से एक है तो पर्यायार्थिकनय से अनेकरूप है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप स्वचतुष्टय के द्वारा वह आत्मा सत् रूप (अस्ति रूप) है तो वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा असत् रूप है। द्रव्यार्थिकनय से नित्य है तो पर्यायार्थिकनय से अनित्य भी है। पर्यायार्थिकनय से भेदरूप है तो द्रव्यार्थिकनय से अभेदरूप है। यह आत्मा इस तरह अनेक धर्म वाला है।

श्री समंतभद्रस्वामी ने भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।

सर्वथेति प्रदुष्यति पुष्यति स्यादितीह ते ॥

सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और वक्तव्य-अवक्तव्य ये परस्पर विरुद्ध आठ नयों के चार जोड़े हैं। इनको यदि सर्वथा एकांत दृष्टि से मानें तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाने से दूषित हो जाते हैं। किंतु यदि स्यात्/कथंचित् रूप से इन्हें स्वीकार किया जाये तो ये एक दूसरे के पोषक/अनुकूल बने रहते हैं।

इस प्रकार अनेकांत के व्याख्यान से ज्ञानमात्र स्वभाव वाला जीव पदार्थ भी अनेकांतात्मक सिद्ध हुआ।

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं ।

अलंघ्यं शासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्था करके अपने स्वरूप को आप ही स्थापित करता हुआ अलंघ्य जैन शासन रूप यह अनेकांत व्यवस्थित/सिद्ध हो गया है।

प्रश्न होता है—जब यह आत्मा अनेकांतात्मक है तो यह अनंतधर्मात्मक सिद्ध हो गया, पुनः इस आत्मा को ज्ञानमात्र कैसे कहा ?

उसका उत्तर यह है कि—यहाँ लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य/आत्मा की प्रसिद्धि हो जाती है अर्थात् यहाँ आत्मा का लक्षण जो ज्ञानमात्र किया है उसका अभिप्राय यही है कि वह ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है, वह आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है।

तथा एक बात यह भी है कि आत्मा के अनंत धर्म हैं वे सभी ज्ञान के परिणामन स्वरूप हैं अर्थात् परस्पर भिन्न-भिन्न स्वरूप को धारण करने वाले अनंत धर्मों के समुदाय रूप परिणत हुई एक ज्ञान क्रिया, उस मात्र भावरूप करके अपने आप होने से आत्मा ज्ञानमात्र है यह बात बन जाती है। यद्यपि सभी धर्मों में लक्षण भेद हैं तो भी प्रदेश भेद नहीं है अतः एक असाधारण ज्ञान के कहने से सभी धर्म उसमें आ गये। इसी से इस आत्मा के ज्ञानमात्र एक भाव में अंतर्गर्भित अनंत शक्तियाँ उदित होती हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा में अनंत शक्तियाँ मानी गई हैं ज्ञान उन सबका अनुभव करने वाला होने से वे सब ज्ञान के अंतर्गत लीन सदृश कह दी जाती हैं। वास्तव में वे सब पृथक्-पृथक् हैं।

इस समयसार में श्री अमृतचंद्रसूरि ने ४७ शक्तियों के नाम गिनाये हैं। इनको आदि लेकर अनंत शक्तियों से युक्त आत्मा है तो भी वह अपने ज्ञानमात्र स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

इस स्याद्वाद अधिकार में प्रत्येक वस्तु को अनंत धर्मवाली सिद्ध किया है वैसे ही आत्मा में भी अनंत गुणों को माना है। वे अनंत गुण संसार अवस्था में शक्तिरूप हैं तथा भुक्ति में व्यक्तरूप हैं। उस आत्मा के अनंत गुणों में से एक ज्ञानगुण को ही विशेष करके इस समयसार में कहा है। यदि ज्ञान गुण न होवे तो उन अनंत गुणों का ज्ञान या अनुभव कौन करावे ? अतः सभी गुणों में एक ज्ञानगुण ही महान है, नेत्र के समान प्रधान है। उसी ज्ञानगुण के सहारे यह जीव संसार का अंत करता है।

उपाय और उपेयभाव का विचार—

शुद्ध आत्मा यद्यपि ज्ञानमात्र भाव एक है तो भी वह अनेकांत स्वरूप सिद्ध किया जा चुका है। अतः एक आत्मतत्त्व में स्याद्वाद से साधित उपाय और उपेय दोनों भाव घट जाते हैं।

आत्मा में जो साधकरूपता है वह उपाय है और जो सिद्धरूपता है वह उपेय है। आत्मा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारेत्र के संस्कार से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जब उसके विपक्षी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है तब वही आत्मा व्यवहार-निश्चयरूप रत्नत्रय से परिणत होने के कारण स्वयं ही 'उपाय' कहलाता है और वही आत्मा रत्नत्रय को पूर्ण करके स्वयं मोक्षपर्यायरूप/सिद्धपर्यायरूप परिणत होने से 'उपेय' कहलाता है।

जो महामुनि स्याद्विदनय की कुशलता और सुनिश्चल व्रत, समिति आदिरूप संयम इन दोनों के द्वारा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाते हुये आत्मा को निरंतर भाते हैं, वे ही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय से उन दोनों में परस्पर में तीव्र मैत्रीभाव के पात्र होते हैं, इस निज भावमयी भूमिका को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों में परस्पर मैत्रीभाव को प्राप्त हुये संयमी साधु सिद्धमयी भूमि को प्राप्त कर लेते हैं।

अब यहाँ सप्तभंगी प्रक्रिया को अवतरित करते हैं—

स्यादस्ति द्रव्यं, स्यन्नास्ति द्रव्यं, स्यादस्तिनास्ति द्रव्यं, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यं।

'स्यात्' शब्द का अर्थ कथंचित् है जो एकांत का निषेध करके अनेकांत का प्रकाश करता है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है। अन्य द्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है। स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की क्रम से अपेक्षा करने पर द्रव्य अस्ति-नास्तिरूप है। स्वचतुष्टय और पर चतुष्टयभावों की युगपत् अपेक्षा करने पर द्रव्य अवक्तव्य है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की और युगपत् स्वपर चतुष्टय भावों की अपेक्षा करने से द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है। परद्रव्यादि चतुष्टय की और युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा करने से द्रव्य नास्ति अवक्तव्य है। स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तथा युगपत् स्वपर द्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा द्रव्य अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

इस तरह प्रत्येक वस्तु में सप्तभंगी घटित करना चाहिये।

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः, व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।

स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति, कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥ २७८ ॥

यह समय आत्मवस्तु तथा समयप्राभृत नामक शास्त्र, उसका व्याख्यान या यह आत्मख्याति नामक टीका शब्दों के द्वारा की गई है। और ये शब्द अपनी शक्ति से ही अच्छे वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसमें आत्मस्वरूप ज्ञानमात्र में गुप्त होने वाले/स्थित

रहने वाले मुझ अमृतचंद्रसूरि ने कुछ भी नहीं किया है। यहाँ आचार्य ने समयसार का आश्रय लेते हुये अपने को स्वरूप में रहने वाला बतलाते हुये यह स्पष्ट किया है कि इस समयप्राभूत ग्रंथ की आत्मख्याति नाम की टीका को वस्तुतत्त्व प्रतिपादक शब्दों ने रचा है, मैं अकिंचित्कर हूँ। इस कथन से आचार्यश्री ने अपनी कर्तृत्व बुद्धि को हटाते हुये अपने अहंकाररूप उद्धतपने का त्याग किया है। तथापि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार से यह टीका अमृतचंद्रसूरि द्वारा ही विरचित है। आत्मा की ख्याति/प्राप्ति के लिये प्रत्येक भव्यजीवों को इसका निरंतर अभ्यास करना चाहिये।

श्री जयसेनाचार्य इस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका को समाप्त करते हुये कहते हैं—

अब प्राभूत और अध्यात्म शब्द का अर्थ कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य राजा के दर्शन के लिये जाता है तब कोई सारभूत वस्तु गेट में देता है उसे ही प्राभूत कहते हैं। उसी प्रकार से परमात्मा के आराधक पुरुषों को निर्दोष परमात्मा के दर्शनार्थ यह शास्त्र प्राभूत सदृश है क्योंकि यह सारभूत ग्रंथ है इसीलिये इसे 'प्राभूत' कहते हैं।

वैसे ही रागादि परद्रव्यों के अवलंबन से रहित होकर विशुद्धि का आधारभूत निज शुद्धात्मा में स्थित होना 'अध्यात्म' है।

इस अध्यात्मरूप प्राभूत शास्त्र को जानकर क्या करना चाहिये ?

इसे पढ़कर इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'मैं सहज शुद्धज्ञानानन्दैक स्वभाव हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, इत्यादि। तथा संसार के सभी जीव भी शुद्ध निश्चयनय से इसी प्रकार शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, सिद्ध समान हैं। निरंतर ऐसी भावना करते रहना चाहिये।

जयउ रिसि पडमणंदी जेण महातच्च पाहुडसेलो।

बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्व-लोयस्स ॥ १ ॥

जं अल्लोणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं।

तं सब्बजीवसरणं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥ २ ॥

जिन महर्षि पद्मनंदी ने अपनी बुद्धिरूपी सिर से महातत्त्वपाहुड़—समयसारपाहुड़ रूपी पर्वत को उठाकर भव्य जीवों के लिये अर्पण कर दिया है वे पद्मनंदी महर्षि जयवंत होवें। जिनका आश्रय लेकर भव्य लोग अनंत संसार सागर को पार कर जाते हैं, वह सब जीवों के लिये शरणभूत ऐसा जिन शासन चिरकाल तक जयवंत रहे।

आत्मारस के रसिकों द्वारा वर्णन किया हुआ यह तात्पर्य नाम की टीका सहित प्राभूत शास्त्र है इसको जो कोई आदर पूर्वक सुनेगा, पढ़ेगा, अभ्यास करेगा, और इसे प्रसिद्ध करेगा

वह जीव शाश्वत अद्भुत सकलज्ञानस्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके मुक्तिललना में आसक्त हुआ सदा ही अग्रण्ड/लोक के अग्रभाग में सदा-सदा काल निवास करेगा।

श्री जयसेनाचार्य अंतिम गाथा की टीका करते हुये प्रारंभ में ही 'श्री कुंदकुंदाचार्यदेवाः समयसारग्रंथसमाप्तिं कुर्वतः फलं दर्शयन्ति—'ऐसी पंक्ति द्वारा ग्रंथकर्ता श्री आचार्यदेव का नाम लिखते हैं—

जो भव्यजीव इस समयप्राप्त ग्रन्थ को पहले पढ़कर तथा ग्रन्थ और अर्थ से उसे सम्यक् प्रकार समझकर अनंतर उपायभूत शुद्धात्मलक्षण निर्विकल्प समाधि में स्थिर होंगे, वे भाविकाल में वीतराग सहज अपूर्व परमाह्लादरूप आत्मा से ही उत्पन्न अतिशयशाली और बाधारहित सिद्धों के सुख को प्राप्त कर लेंगे।

सिद्धों के सुख की कल्पना कराते हुये श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—कोई मनुष्य स्त्री सेवन आदि पंचेंद्रियों के विषयों के व्यापार से रहित निर्व्याकुलचित्त हुआ कहीं बैठा है तब किसी ने पूछा कि हे भाई ! सुख से तो हो ? तब उसने कहा—हाँ, सुख से हूँ। उस समय उसे निराकुलता में जो कुछ भी सुख हुआ है वह सुख आत्मा से ही उत्पन्न है।

अतः—वर्तमान में जो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य हैं वे सब निराबाधरूप से सभी इंद्रियों को प्रसन्न करने वाला इंद्रियजन्य, और क्रुद्धि आदि से प्राप्त सुख वर्तमान में भोग रहे हैं उन्हीं सभी के भूतकालीन और भविष्यत्कालीन ऐसे त्रैकालिक सभी सुखों को एकत्रित करिये। उन समस्त सुखों से भी अनंतगुणा सुख अतीन्द्रियजन्य निजस्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान् को एक समय में प्राप्त होता है।

इस प्रकार अध्यात्म ग्रन्थ का स्वाध्याय करके रागद्वेष को दूर करते हुये परमशांति का अनुभव करना चाहिये। पुनः परंपरा से अपने अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करना चाहिये।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदाचार्य विरचित 'समयसार' प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृतचंद्रसूरिकृत

आत्मख्याति टीका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य

को प्रकाशित करने वाली गणिनी आर्थिका ज्ञानमती कृत इस

'ज्ञानज्योति' नामा भाषा टीका में स्याद्वाद को प्ररूपित

करने वाला यह दशवां (ग्यारहवां)

अधिकार पूर्ण हुआ।

समयसार उत्तरार्थ समाप्तम्

समयसार प्रशस्तिः

श्रीसन्मतिप्रभुं नौमि, शासनं यस्य वर्तते ।
 सरस्वतीं च सद्भक्त्या, रत्नत्रयमयानपि ॥ १ ॥
 जंबूद्वीपेऽत्र क्षेत्रे प्राग्भरतेऽप्यार्यखंडके ।
 श्रीवीरशासने सूरि, कुंदकुंदगुरुर्महान् ॥ २ ॥
 मूलसंधे च तन्नाम्ना, कुंदकुंदान्वयोऽभवत् ।
 गच्छे सरस्वतीनाम्नि, बलात्कारगणे शुभे ॥ ३ ॥
 चारित्र्यचक्रवर्ती यः, सूरिः श्रीशांतिसागरः ।
 तस्य पट्टाधिपः सूरि, श्रीवीरसागरोऽभवत् ॥ ४ ॥
 अस्मान्महाव्रतं लब्ध्वा, ज्ञानमत्याख्ययाभवम् ।
 किञ्चिज्ज्ञानं मया लब्धं, सरस्वत्याः प्रसादतः ॥ ५ ॥
 शांतिसागरसंतत्या-माचार्यो देशभूषणः ।
 आद्यो दीक्षागुरुर्मैऽभूत् क्षुल्लिकाव्रतदायकः ॥ ६ ॥
 श्रीकुंदकुंददेवेन, कृतं समयप्राभृतं ।
 टीकाद्वयं समासाद्य, भाषा टीका कृता मया ॥ ७ ॥
 अष्टशून्यशरद्व्यंके, वीराब्दे ज्येष्ठशुक्लके ।
 त्रयोदश्यां तिथौ इन्द्र-प्रस्थपत्तनतस्तदा ॥ ८ ॥
 श्रीप्रधानमंत्री इन्दिरागांधीहस्तात् प्रवर्तिता ।
 जंबूद्वीपज्ञानज्योतिर्नाम्ना तस्य प्रतिकृतिः ॥ ९ ॥
 तत्तः प्रभावना जाता, जिनधर्मस्य सर्वतः ।
 अज्ञानध्वांतमुग्धेषु, ज्ञानज्योतिः प्रकाशितं ॥ १० ॥
 जंबूद्वीपस्य सज्ज्ञानं, ज्ञातं सर्वजनैस्तदा ।
 तदाकृतिः त्रिवर्षात्, भ्राम्यति चापि भारते ॥ ११ ॥
 समयप्राभृते चात्मा, ज्ञानमात्रं प्रकीर्त्यते ।
 अस्मादग्रंथात्तथा स्वस्मिन्, ज्ञानज्योतिश्चकासते ॥ १२ ॥

एतद् हेतोरियं टीका, ज्ञानज्योतिः सुनामतः ।
 धत्तेऽप्यन्तर्हतां संज्ञं, मे हृदये नत्कारतां ॥ १३ ॥
 हस्तिनागपुरे क्षेत्रे, त्रिमूर्तिजिनमंदिरे ।
 श्रीजिनबिंबसान्निध्ये, श्रद्धया भक्तितो मुदा ॥ १४ ॥
 पंचैकपंचयुग्मांके, वीराब्दे फाल्गुने सिते ।
 एकादश्यां कृता पूर्णा, ज्ञानमत्या मया कृतिः ॥ १५ ॥
 मोतीसागरनामास्ति, पीठाधीशो हि क्षुल्लकः ।
 ब्रह्मचारी रवीन्द्रश्च, कुमारी माधुरीत्यपि ॥ १६ ॥
 शिष्यवर्गस्तदा हर्षात् इमं ग्रंथमपूजयत् ।
 शिबिकोत्सवभक्त्याद्यैः, श्रुतस्याभिषवं व्यधात् ॥ १७ ॥
 ज्ञानज्योतिःप्रबृद्ध्यर्थं, श्रुतभक्तिर्हि सौख्यदा ॥
 भक्त्या सर्वं फलत्येव, भवेन्नैःश्रेयसं सुखम् ॥ १८ ॥
 अस्यामार्षाद् विरुद्धं चेत्, प्रमादाज्ञानतो भवेत् ।
 विज्ञा मे सूचयन्त्वेनं, यूयं यद्यार्षमार्गिणः ॥ १९ ॥
 भाषाटीकां विलोक्यामुं, तुष्यन्त्यार्षानुरागिणः ।
 द्विषन्त्येव स्वभावाद् हि, चतुःसंघस्य द्वेषिणः ॥ २० ॥
 रागद्वेषौ तयोर्मै न, दैवाश्रिता हि किंच ते ।
 ततोऽहं भावयाम्येवं, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ २१ ॥
 यावच्चतुर्विधः संघः, वत्स्यते चात्र भूतले ।
 स्थेयादियं कृतिस्तावद्, भव्यानां सिद्धिकारिणी ॥ २२ ॥
 यावद्धर्मः सुमेरुश्च, तावत् स्थेयादिहैष हि ।
 तावत्समयसारस्य, नद्यात् टीकाप्यसौ भुवि ॥ २३ ॥
 वीरस्य शासनं जीयात्, दयाधर्मं प्रवर्धयन् ।
 कुर्यात् भव्यस्य सत्सौख्यं, अज्ञानतमसं हरन् ॥ २४ ॥

राष्ट्रपतिरामास्वामी, व्यंकटरमणोऽस्ति वै ।
 प्रधानमंत्री राजीवगांधीह भारते शुभे ॥ २५ ॥
 धर्मनीति धरत्रय, जीवाद् भारतशासकः ।
 शासनं गणतंत्रं च, कुर्यात् शान्तिं सदा भुवि ॥ २६ ॥
 ज्ञानमत्यार्यिका साहं, गणिनी भुवि विश्रुता ।
 टीकां ग्रंथरचनां च, व्यथां सार्धशतान्यपि ॥ २७ ॥
 श्रुतभक्त्या स्वसिद्ध्यर्थं, प्रयासं केवलं मम ।
 नियमाद् हि तितीर्षामि, श्रुतभक्त्या भवार्णवम् ॥ २८ ॥
 श्रीकुंदकुंददेवाय, नमः परमोपकारिणे ।
 यस्य ग्रंथितग्रंथेभ्यः, सत्यथोऽद्यापि दृश्यते ॥ २९ ॥
 श्रीमदमृतचंद्राख्यं, सूरिं नौमि श्रुताम्बुधिम् ।
 श्रीजयसेनसूरिं च, नयचक्रस्य बोधकम् ॥ ३० ॥
 शान्तिकुंश्चरतीर्थेशां, चतुःकल्याणपूजितां ।
 हस्तिनागपुरं तीर्थं, वंदे स्वान्तो विशुद्धये ॥ ३१ ॥
 जंबूद्वीपाकृतिं मेरुं, वंदे कमलमंदिरम् ।
 अत्रत्यजिनबिंबानि, दद्युर्नः फलमोप्सितम् ॥ ३२ ॥
 त्रैलोक्याधिपते ! स्वामिन् ! शान्तिनाथ ! नमोऽस्तु ते ।
 त्वत्प्रसादाद् भवेन्महां, शान्तिश्चात्यंतिकी त्वरम् ॥ ३३ ॥

श्री सन्मतिप्रभु/भगवान् महावीर स्वामी को मैं नमस्कार करती हूँ जिनका शासन चल रहा है पुनः सरस्वती माता को और रत्नत्रयस्वरूप/महामुनियों को भी सद्भक्ति पूर्वक नमस्कार करती हूँ। इस जम्बूद्वीप में पहले भरतक्षेत्र में आर्यखंड है। उसमें श्री वीरभगवान् के शासन में श्रीकुंदकुंद नाम के महान् आचार्य हुये हैं। मूलसंघ में उन्हीं के नाम से कुंदकुंदाम्नाय प्रसिद्ध है। इसमें सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण है। इस परंपरा में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यवर्य श्रीशांतिसागर जी महाराज हुये हैं। उनके पट्ट पर श्रीवीरसागर आचार्य हुये हैं। इन गुरुदेव श्रीवीरसागरजी आचार्य से महाव्रत को (आर्यिका दीक्षा को) प्राप्त कर मैं

‘ज्ञानमती’ नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। सरस्वती माता के प्रसाद से मैंने किञ्चित्/अल्प ज्ञान पाया है। इसी शान्तिसागर जी की परंपरा में श्रीदेशभूषण आचार्य हुये हैं ये मुझे क्षुल्लिकावत को देने वाले मेरे आद्य/प्रथम गुरु हैं।

भावार्थ—सन् १९५३ में चैत्रवदी एकम को मैंने आचार्य श्री देशभूषणजी से श्रीमहावीरजी अतिशय क्षेत्र पर क्षुल्लिका दीक्षा ली थी। पुनः सन् १९५६ में वैशाख वदी दूज के ‘माधोराजपुरा’ (राजस्थान) में आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज से आर्यिका दीक्षा ली थी।

श्रीकुंदकुंददेव के द्वारा रचित समयसार या समयप्राभृत ग्रंथ एवं उस पर की गई दोनों संस्कृत टीकाओं को लेकर मैंने हिंदी भाषा में टीका की है।

ज्ञानज्योति नाम की सार्थकता—

वीर संवत् २५०८, ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन (४ जून १९८२ के दिन) दिल्ली शहर से उस समय श्री प्रधानमंत्री इंदिरागांधी के हाथ से ‘जंबूद्वीप ज्ञानज्योति’ नाम से उसके मॉडल को प्रवर्तित किया। उस ज्ञानज्योति के प्रवर्तन से सर्वत्र-भारत में जैनधर्म की प्रभावना हुई है और अज्ञान अंधकार में डूबे जीवों में ज्ञानज्योति को प्रकाशित किया है। उन दिनों भारतवर्ष के सभी लोगों ने—जैन-जैनेतरों ने ‘जंबूद्वीप’ का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। यह जंबूद्वीप ज्ञानज्योति तीन वर्ष तक सारे भारत में घूमी है।

उसी प्रकार इस समय प्राभृत में आत्मा को ‘ज्ञानमात्र’ कहा गया है और इस ग्रंथ से अपनी आत्मा में ‘ज्ञानज्योति’—ज्ञान का प्रकाश देदीप्यमान हो जाता है। इस हेतु से ही मैंने इस टीका का ‘ज्ञानज्योति’ यह नाम रखा है। यह टीका अपने नाम को सार्थक कर रही है, यह मेरे हृदय में देदीप्यमान होवे।

भावार्थ—‘जंबूद्वीप ज्ञानज्योति’ नाम से तीन वर्ष तक जो जंबूद्वीप के मॉडल का पूरा भारत में भ्रमण हुआ था उसके नाम को चिरस्थायी रखने हेतु और समयसार से ज्ञानमात्र ऐसी आत्मा का ज्ञान प्रगट होता है। इन दोनों हेतुओं से इस टीका का ‘ज्ञानज्योति’ यह सार्थक नाम रखा गया है।

यहाँ हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर ‘त्रिमूर्ति जिनमंदिर’ में श्री जिनेंद्रदेव के सानिध्य में बैठकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक हर्ष से वीरनिर्वाण संवत् २५१५ में फाल्गुन सुदी एकादशी के दिन मुझ गणिनी ज्ञानमती आर्यिका ने यह ज्ञानज्योति नामक हिंदी टीका पूर्ण की है। उस समय

जंबूद्वीप के पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर, ब्रह्मचारी रवीन्द्रकुमार, ब्रह्मचारिणी कुमारी माधुरी आदि सपस्त शिष्यवर्ग ने आनंदपूर्वक इस ग्रंथ की पूजा की। इस ग्रंथ को पालकी में विराजमान करके उत्सव किया, पुनः ज्ञानज्योति की वृद्धि के लिये ही भक्तिपूर्वक इस ग्रंथ का अभिषेक करके पूजा की। क्योंकि श्रुत/जिनवाणी की भक्ति सर्वसुखों को देने वाली है इस श्रुतभक्ति से सभी मनोरथ तो फलित होते ही हैं, मोक्ष सुख भी प्राप्त हो जाता है ॥ १४ से १८ ॥

भावार्थ—लिखित ग्रंथ के पृष्ठों को काच में प्रतिबिंबित करके उसका अभिषेक करना ही श्रुत/शास्त्र का अभिषेक है।

इस टीका में प्रमाद या अज्ञान से यदि आर्ष से—ऋषिप्रणीत ग्रंथों से कुछ विरुद्ध लिख गया हो तो विद्वद्गण यदि आर्षमार्गी हों वे मुझे सूचित करें।

आर्षमार्ग के अनुरागी जन इस टीका को देखकर संतुष्ट/प्रसन्न होंगे और चतुर्विध संघ के प्रति जो विद्वेषी हैं वे स्वभाव से ही द्वेष करेंगे। फिर भी एक दोस्ते में न तो मुझे राग है और न द्वेष ही है क्योंकि वे लोग अपने-अपने कर्मों के ही आधीन हैं। इसलिये मैं यही भावना भाती रहती हूँ कि 'स्वभाव तर्क के गोचर नहीं है' ॥ १९ से २१ ॥

भावार्थ—इस टीका में यदि कहीं प्रमाद या अज्ञान से कुछ स्खलन हुआ हो तो आर्ष और आचार्य श्री शांतिसागर जी की परंपरा के अनुयायी विद्वान् साधु या साध्वियां अथवा पंडितगण मुझे अवश्य ही सूचित करें जिससे कि उसे सुधारा जा सके। इस टीका में मैंने शास्त्रों के उद्धरण दे देकर आर्षपरंपरा व अपनी गुरुपरंपरा को पुष्ट किया है अतः आर्षमार्गानुसारी जन तो इससे प्रसन्न होंगे ही होंगे किंतु जो आज समयसार के अर्थ का अनर्थ करके निश्चयाभासी बन रहे हैं और दिगंबर जैन मुनि-आर्यिकाओं के प्रति विद्वेष करते हैं वे इस टीका को देखकर विद्वेष भाव कर सकते हैं। इन आर्षानुयायियों के प्रति मुझे न तो राग है और न उन निश्चयाभासी जनों के प्रति मुझे द्वेष है क्योंकि सभी की बुद्धि तो उनके-उनके कर्मानुसार ही रहती है।

जब तक इस पृथ्वीतल पर यह चतुर्विध संघ विद्यमान रहेगा तब-तक यह टीका स्थित रहे और भव्यों को सिद्धि प्रदान करने वाली होवे। जब-तक यहाँ जैन धर्म विद्यमान रहे तब तक यहाँ हस्तिनापुर में निर्मित यह सुदर्शनमेरु पर्वत स्थित रहे और तब तक यह समयसार

की भाषा टीका भी इस पृथ्वीतल पर समृद्धि को प्राप्त होती रहे। श्रीवीर भगवान का शासन दयाधर्म को बढ़ाता हुआ जयशील होता रहे और भव्यों के अज्ञान अंधकार को दूर करता हुआ उन्हें समीचीन सौख्य प्रदान करे ॥ २२ से २४ ॥

वर्तमान में इस भारत देश के राष्ट्रपति रामास्वामी वेंकटरमण हैं और प्रधानमंत्री राजीव गांधी हैं। ये भारत के शासक यहाँ धर्मनीति को धारण करते हुये जयशील होंगे। यह गणतंत्र शासन भी इस पृथ्वी तल पर सदा शांति को करे ॥ २५-२६ ॥

मैं आर्यिका ज्ञानमती इस पृथ्वी पर 'गणिनी' प्रसिद्ध हूँ। इस पृथ्वी पर प्रसिद्ध गणिनी आर्यिका ज्ञानमती मैंने टीका ग्रंथ और स्वतंत्र ग्रंथों की रचनायें ऐसे डेढ़ सौ ग्रंथ लिखे हैं। यह सब मेरा जो प्रयास है वह केवल श्रुतभक्ति से अपनी सिद्धि के लिये ही है, क्योंकि नियम से मैं इस श्रुतभक्ति से ही संसार रूपी समुद्र को तिरना चाहती हूँ ॥ २६-२७ ॥

परमोपकारी श्रीकुंदकुंददेव को मेरा नमस्कार होवे, जिनके रचित ग्रंथों से आज भी सच्चा मार्ग दिखाई दे रहा है। श्रुत के समुद्र ऐसे श्री अमृतचंद्रसूरि को और नयसमूह का ज्ञान कराने वाले श्रीजयसेनाचार्य को मैं नमस्कार करती हूँ ॥ २९-३० ॥

श्रीशार्ङ्गनाथ, कुंथुनाथ और अरुनाथ इन तीन तीर्थकरों के चार-चार कल्याणकों से पूजित हस्तिना तीर्थक्षेत्र की मैं अपने अंतरंग की विशुद्धि के लिये वंदना करती हूँ। यहाँ हस्तिनापुर में बनायी गयी जंबूद्वीप की आकृति को, सुदर्शनपेरु पर्वत को और कमल मंदिर को और यहाँ पर स्थित सर्वजिनप्रतिमाओं को मैं नमस्कार करती हूँ, ये सब जिनप्रतिमायें हम सभी को इच्छित फल प्रदान करें। तीन लोक के अधिपति हे शांतिनाथ स्वामिन् ! आपको मेरा नमस्कार हो आपके प्रसाद से आत्यंतिक शांति और आत्यंतिक लक्ष्मी मुझे प्राप्त होवे ॥ ३१-३२-३३ ॥

इति समयसारटीकाप्रशस्तिः समाप्ता ।

परिशिष्ट

समयसार (पूर्वार्ध)

वंदितु सच्चसिद्धे ध्रुवममलमणोवमं गदि पते । वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान्, ध्रुवममलमनुपमां गतिं प्राप्तान् । दक्ष्यामि समयप्राभृतमिदमहो श्रुतकेवलिभाणितं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(ध्रुवममलमणोवमं गदि पते) ध्रुव, अमल-कर्ममल रहित और अनुपम गति को प्राप्त (सच्चसिद्धे वंदितु) सर्वसिद्धों की वंदना करके (अहो) हे भव्यों ! (सुदकेवलीभणिदं) श्रुत केवलियों द्वारा कथित (समय पाहुडमिणं वोच्छामि) इस समयप्राभृत नामक ग्रंथ को कहूँगा ॥ १ ॥

जीवो चरित्तदंस्सण-णाणद्विदं तं हि ससमयं जाण । पुग्गलकम्मवदेसद्विदं तं न जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवश्चरित्रदर्शनज्ञानस्थितस्तं हि स्वसमयं जानीहि । पुद्गलकर्म्मोपदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(जीवो चरित्तदंस्सणणाणद्विदं तं हि ससमयं जाण) जो जीव चरित्र, दर्शन ज्ञान में स्थित है उसे ही तुम स्वसमय जानो । (च पुग्गलकम्मवदेसद्विदं तं परसमयं जाण) और जो पुद्गलकर्म्मोपदेश से जनित उपदेश—संज्ञाओं में—नरनारकादि पर्यायों में स्थित है उन्हें तुम परसमय समझो । अर्थात् नरनारकादि पर्यायों से सहित हैं वे परसमय हैं ॥ २ ॥

एयत्तणिच्छयगदो, समओ सच्चत्थ सुंदरो लोगे । बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके । बंधकथैक त्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(एयत्तणिच्छयगदो समओ सच्चत्थ लोगे सुंदरो) एकत्व के निश्चय को प्राप्त 'समय' नामक जीवद्रव्य संपूर्ण लोक में सुंदर है (तेण एयत्ते बंध कहा विसंवादिणी होदि) इस हेतु से एकत्व में जो बंध की कथा है—कर्मबंध का कथन है, वह विसंवादक हैं—शुद्धनय से शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है ॥ ३ ॥

सुदपरिचिदाणुभूदा, सच्चस्स वि कामभोगबंधकहा । एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा । एकत्वम्योपलभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(कामभोगबंधकहा सच्चस्स वि सुदपरिचिदाणुभूदा) काम, भोग और बंध की कथा—काम-भोग संबंधी कथायें सभी संसारी जीवों को सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई हैं । (णवरि विभत्तस्स एयत्तस्सुवलंभो सुलभो ण) किंतु पर से भिन्न, एकस्वरूप आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है ॥ ४ ॥

तं एयत्तविभत्तं, दाएहं अण्णो सविहवेण । जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण धित्तव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन । यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्वलितं छलं न गृहीतव्यं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अहं सविहवेण तं अप्पणो एयत्तविभत्तं दाए) मैं अपनी आत्मा के वैभव से आत्मा के उस एकत्व—एकरूप और विभक्त—पर से भिन्न स्वरूप को दिखाऊंगा (जदि दाएज्ज पमाणे) यदि दिखा सकूँ तो प्रमाण करना—परीक्षा करके मानना (चुक्किज्ज छलं ण धित्तव्वं) और यदि मैं चूक जाऊँ तो उल्टा अभिप्राय नहीं लेना ॥ ५ ॥

णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो । एवं भणंति सुद्धा, णादा जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः । एवं भणंति शुद्धा ज्ञाता यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जाणगो दु जो भावो) अहो ! जो ज्ञायक भाव है (ण पमत्तो णवि अप्पमत्तो होदि) वह न प्रमत्त है और न अप्रमत्त ही है (णादा जो सो दु सो चेव) वह ज्ञाता—आत्मा जो है सो ही है (एवं सुद्धा भणंति) ऐसा शुद्धजन-शुद्धनय के अवलंबी मुनिगण कहते हैं ॥ ६ ॥

ववहारेणुव दिस्सदि, णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं । णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानं । नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ववहारेणुवदिस्सदि) ज्ञानी आत्मा के चारित्र, दर्शन और ज्ञान हैं यह व्यवहारनय से कह ज्ञाता है (णावि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो) किंतु आत्मा के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है वह ज्ञायक—ज्ञानस्वरूप शुद्ध ही है, ऐसा निश्चयनय का कथन है अर्थात् शुद्धनय अभेदरूप ज्ञानमात्र शुद्ध ही है ॥ ७ ॥

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं । तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषा विना तु ग्राहयितुं । तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जह अणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं णवि सक्कं) जैसे म्लेच्छजन को म्लेच्छ भाषा के बिना कुछ भी समझाना शक्य नहीं है (तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणं असक्कं) वैसे ही व्यवहारनय के बिना परमार्थ का—निश्चय का उपदेश देना शक्य नहीं है ॥ ८ ॥

जो हि सुदेणभिगच्छदि, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं । तं सुदकेवलमिसिणो, भणंति लोग्गदीवयरा ॥ ९ ॥

जो सुदणाणं सव्वं, जाणदि सुदकेवलं तमाहु जिणा । णाणं अप्पा सव्वं, जहा सुदकेवली तहा ॥ १० ॥ युगलम् ॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धं । तं श्रुतकेवलिनमूषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः । ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(जो हि सुदेण केवलं सुद्धं तु अप्पाणमिणं अभिगच्छदि) जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान

के द्वारा इस केवल—मात्र शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं (लोग्गदीवयरा इसिणो तं सुदकेवलं भणंति) लोक को प्रकाशित करने वाले महर्षिगण उन मुनिको श्रुतकेवली कहते हैं । (जो सव्वं सुदणाणं जाणदि जिणा तं सुदकेवलं आहु) और जो संपूर्ण श्रुतज्ञान को जानते हैं जिनेन्द्रदेव उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं (जहा सव्वं णाणं अप्पा तहा सुदकेवली) क्योंकि हेतु से संपूर्ण ज्ञान आत्मा है इसीलिये वह श्रुतकेवली है ॥ ९-१० ॥

णाणह्मि भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य । ते पुण तिण्णिवि आदा, तह्मा कुण भावणं आदे ॥ ११ ॥

ज्ञाने भावना खलु कर्तव्या दर्शने चरित्रे च । तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावना आत्मनि ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(णाणह्मि दंसणे य चरित्ते खलु भावणा कादव्वा) ज्ञान में, दर्शन और चरित्र में भावना करना चाहिये (पुण ते तिण्णिवि आदा तह्मा आदे भावणं कुण) पुनः ये तीनों भी आत्मा ही है अतः आत्मा में भावना करना चाहिये ॥ ११ ॥

जो आदभावणमिणं, णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि । सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण ॥ १२ ॥

यः आत्मभावनामियां नित्योद्यतः मुनिः समाचरति । सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जो मुणी णिच्चुवजुत्तो इणं आदभावणं समाचरदि) जो मुनिराज सतत उद्यमशील होते हुये इस आत्मा में आचरण करते हैं—आत्मा का अनुभव करते हैं (सो अचिरेण कालेण सव्वदुक्खमोक्खं पावदि) वे थोड़े ही काल में सर्वदुःखों से छुटकारा पा लेते हैं ॥ १२ ॥

ववहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ । भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ १३ ॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः । भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारो अभूदत्थो दु सुद्धणओ देसिदो भूदत्थो देसिदो) व्यवहारनय अभूतार्थ—अपरमार्थ—असत्यार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ—सत्यार्थ है ऐसा कहा गया है (भूदत्थमस्सिदो खलु जीवो सम्मादिट्ठी हवदि) अतः भूतार्थ का आश्रय लेने वाले जीव—महामुनि सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १३ ॥

सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरिस्सीहिं । ववहारदेसिदो पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १४ ॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः । व्यवहारदेशितः पुनः ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(परमभावदरिस्सीहिं सुद्धादेसो सुद्धो णादव्वो) परमभावदर्शी शुद्धात्मा की भावना में तत्पर—मुनियों की शुद्धात्मा को कहने वाला ऐसा शुद्धनय ही जानने योग्य है (पुण जे अपरमे भावे ट्ठिदा ववहारदेसिदो) किंतु जो अशुद्ध भाव में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश योग्य है ॥ १४ ॥

भूदत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च । आसवसंवसरणिज्जर—बंधो मोक्खो य सम्मतं ॥ १५ ॥

भूतार्थेणाभिगता जीवाऽजीवौ च पुण्यपापं च । आसव-संवर-निर्जरा-बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(भूदत्थेण अभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवसरणिज्जर बंधो य मोक्खो सम्मतं) भूतार्थ से—अशुद्ध निश्चयनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आसव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये ही सम्यक्त्व हैं ॥ १५ ॥

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं । अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १६ ॥

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं । अविशेषमसंयुक्तं, तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं) जो अपनी आत्मा को कर्मबंध से रहित, पर से अस्पर्शित, अनन्य, अवस्थित, (अविसेसं असंजुत्तं पस्सदि) विशेष रहित और अन्य के संयोग से रहित देखते हैं—अनुभव करते हैं (तं सुद्धणयं वियाणीहि) तुम उन्हें ही शुद्धनय जानो ॥ १६ ॥

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्टं अणणमविसेसं । अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सत्त्वं ॥ १७ ॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् । अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणणं अविसेसं पस्सदि) जो अपनी आत्मा को बंध से रहित, अस्पर्शित, अनन्य और विशेष स रहित अनुभव करते हैं (अपदेससुत्तमज्झं सत्त्वं जिणसासणं पस्सदि) वे—महामुनि द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप संपूर्ण जिनशासन को देखते हैं—जानते हैं ॥ १७ ॥

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य । आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥ १८ ॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्ते च । आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरे योगे ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(मज्झ आदा खु णाणे) मेरी आत्मा निश्चय से ज्ञान में है (मे आदा दंसणे य चरित्ते) मेरी आत्मा दर्शन में और चरित्र में है (आदा पच्चक्खाणे मे आदा संवरे जोगे) मेरी आत्मा प्रत्याख्यान—त्याग में है तथा मेरी आत्मा संवर में और योग—ध्यान में है ॥ १८ ॥

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदब्बाणि साधुणा णिच्चं । ताणि पुण जाण तिण्णिवि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १९ ॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं । तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(साधुणा णिच्चं दंसणणाणचरित्ताणि सेविदब्बाणि) साधु को नित्य ही दर्शन, ज्ञान और चरित्र का सेवन करना चाहिये । (पुण ताणि तिण्णिवि णिच्छयदो अप्पाणं चेव जाण) पुनः इन तीनों को निश्चयनय से आत्मा ही जानो ॥ १९ ॥

जह णाम कोवि पुरिसो, रायाणं जाणिऊण सदहदि । तो तं अणुचरदि पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ २० ॥

एवं हि जीवराया, णादब्बो तह य सदहेदब्बो । अणुचरिदब्बो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामेण ॥ २१ ॥ युगलम् ॥

यथा नाम कोवि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्धाति । ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ २० ॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः । अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सदहदि) जैसे कोई पुरुष राजा को जानकर उस पर विश्वास करता है (पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण तो तं अणुचरदि) पुनः धन का इच्छुक हुआ प्रत्यक्षपूर्वक उस राजा की सेवा करता है (एवं हि जीवराया, णादब्बो तह य सदहेदब्बो) इसी प्रकार से जीवरूप राजा को जानना चाहिये और उसी प्रकार श्रद्धान करना चाहिये (पुणो य मोक्खकामेण सो चेव दु अणुचरिदब्बो) और पुनः उसी जीव राजा की सेवा करनी चाहिये ॥ २०-२१ ॥

कम्मे णोकम्पहि य, अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं । जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ २२ ॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म । यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(कम्मे य णोकम्पहि अहं इदि च अहकं च कम्म णोकम्मं) कर्म और नोकर्म में मैं कर्म नोकर्म हूँ और ये कर्म, नोकर्म मेरे हैं (जा एसा खलु बुद्धी ताव अप्पडिबुद्धो हवदि) जब तक नियम से ऐसी बुद्धि रहती है तब तक यह अज्ञानी रहता है ॥ २२ ॥

जीवेव अजीवे वा, संपदि समयहि जत्थ उवजुत्तो । तत्थेव बंध-मोक्खो, होदि समासेण णिहिट्ठो ॥ २३ ॥

जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः । तत्रैव बंधः मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(जीवेव अजीवे वा संपदि समयहि जत्थ उवजुत्तो) जीव और अजीव में वर्तमान काल में जहां पर जीव उपयोग लगाये रहता है—जिस रूप परिणत रहता है (तत्थेव बंधमोक्खो होदि समासेण णिहिट्ठो) वही बंध या मोक्ष होता है यह संक्षेप से कहा गया है । अर्थात् यह आत्मा जब अजीव तत्त्व में तन्मयरूप से परिणत रहता है तब बंध हुआ करता है और जब जीव में उपयुक्त हो जाता है—स्थिर हो जाता है तब कर्मों से छूट जाता है ॥ २३ ॥

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स । णिच्छयदो ववहारा, पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥ २४ ॥

यः करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य । निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्ता ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(आदा जं भावं कुणदि णिच्छयदो सो तस्स भावस्स कत्ता होदि) आत्मा जिस भाव को करता है । वह निश्चयनय से उसी भाव का कर्ता हो जाता है । (ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं) और व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों का कर्ता है ॥ २४ ॥

अहमेदं एदमहं, अहमेदस्सेव होमि मम एदं । अण्णं जं परदव्वं, सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २५ ॥

आसि मम पुव्वमेदं, अहमेदं चावि पुव्वकालहि । होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥ २६ ॥

एवं तु असंभूदं, आदवियण्णं करेदि सम्मूढो । भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असम्मूढो ॥ २७ ॥ त्रिकलम् ॥

अहमिदं इदमहं अहमेतस्य एव भवामि मम इदम् । अन्यद्यत्परद्रव्यं सच्चित्ताचित्त मिश्रं वा ॥ २५ ॥

आसीन्मम पूर्वमेतत् अहमिदं चैव पूर्वकाले । भविष्यति पुनरपि मम अहमिदं चैव भविष्यामि ॥ २६ ॥

एवं त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः । भूतार्थं जानन् न करोति पुनः तमसंमूढः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(जं अण्णं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा) जो भी अन्य परद्रव्य सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र है (अहं एदं एदं अहं अहं एदस्स एव होमि मम एदं) मैं यह हूँ, ये मैं हैं—मूझरूप हैं, मैं इनका ही हूँ और ये मेरे ही हैं । (पुव्वं एदं मम आसि) पहले ये मेरे थे (पुव्वकालहि अहमेदं चावि) पूर्व में मैं भी इनका था (पुणोवि मज्झं होहिदि) पुनः आगे भी ये मेरे होयेंगे (अहमेदं चावि होस्सामि) आगे मैं भी इनका होऊंगा (एवं तु असंभूदं आदवियण्णं सम्मूढो करेदि) इस प्रकार से असद्भूत—असत्य या अविद्यमान आत्म विकल्प को—अपनेपन के विकल्प को मोही आत्मा करता है (दु भूदत्थं जाणंतो असंमूढो तं ण करेदि) किंतु भूतार्थ को—वास्तविकता को जानता हुआ ज्ञानी इन विकल्पों को नहीं करता है ॥ २५-२६-२७ ॥

अण्णाणामोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं । बद्धमबद्धं च तथा, जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥ २८ ॥

सव्वण्णुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं । कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥ २९ ॥

जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं । तो सक्का वुत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥ ३० ॥ त्रिकलम् ॥

अज्ञानमोहितभक्तिर्ममेदं भवति पुद्गलं द्रव्यं । बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥ २८ ॥

सर्वज्ञानदृष्टो जीवः, उपयोगलक्षणो नित्यः । कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्वणसि ममेदं ॥ २९ ॥

सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव, उपयोगलक्षणो नित्यं । कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्गणसि ममेदं ॥ २९ ॥

यदि स पुद्गल-द्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् । तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गल द्रव्यं ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(अण्णाणमोहिदमदी जीवो बहुभावसंजुतो तदा बद्ध-अबद्धं च इणं पुग्गलदब्बं मज्झं भणदि) अज्ञान से मोहित बुद्धि वाला वैसे ही बहुत प्रकार के भावों से संयुक्त हुआ जीव इन बद्ध और अबद्ध पुद्गल द्रव्यों को—‘ये मेरे हैं’ ऐसा कहता है । (सव्वण्हुणाणदिहो जीवो णिच्चं उवओगलक्खणो) किंतु सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में देखा गया यह जीव नित्य ही उपयोग-ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है (सो पुग्गलदब्बीभूदो कह जं मज्झमिणं भणसि) पुनः वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कि जिससे तुम कहते हो कि ये मेरे हैं । (जदि सो पुग्गलदब्बीभूदो इदरं जीवत्तं आगदं) यदि वह जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जावे तब तो वह अन्यपुद्गलद्रव्य जीवपने को प्राप्त हो जावेगा (तो वुत्तुं सत्तो जे इदं पुग्गलं दब्बं मज्झं) तब तो यह कहना शक्य हो जावेगा कि ये पुद्गल द्रव्य मेरे हैं । अर्थात् यदि पौद्गलिक वस्तुओं को अपनी मानोगे तो तुम पुद्गल रूप अजीव बन जावोगे यह दूषण आयेगा ॥ २८-२९-३० ॥

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरिय-संधुदी चेव । सव्वावि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो ॥ ३१ ॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव । सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(जदि जीवो सरीरं ण तित्थयरायरिय-संधुदी चेव सव्वावि मिच्छा हवदि) यदि जीव को शरीर नहीं मानोगे तो तीर्थकर, आचार्य आदि की स्तुति करना आदि सभी आवश्यक क्रियायें मिथ्या—व्यर्थ हो जायेंगी (तेण दु आदा देहो हवदि) इसीलिये तो आत्मा देह ही है ॥ ३१ ॥

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को । ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एकट्ठो ॥ ३२ ॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः । न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारणओ भासदि जीवो य देहो खलु इक्को हवदि) व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर नियम से एक हैं (दु णिच्छयस्स जीवो य देहो कदावि एकट्ठो ण) किंतु निश्चयनय की अपेक्षा से कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं ॥ ३२ ॥

इणमण्णं जीवादो, देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी । मण्णदि हु संधुदो, वंदितो मए केवली भयवं ॥ ३३ ॥

इदमन्यत् जीवादेहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः । मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मथा केवली भगवान् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी जीवादो अण्णं इणं पुग्गलमयं देहं थुणित्तु) मुनिराज जीव से भिन्न इस पुद्गलमयी शरीर का स्तवन करके (हु मण्णदि) निश्चय से ऐसा मानते हैं कि (मए केवली भयवं संधुदो वंदितो) मैंने केवली भगवान की स्तुति वंदना की है ॥ ३३ ॥

तं णिच्छये ण जुज्जदि, ण सरीर गुणा हि होति केवलिणो । केवलिगुणे थुणदि जो, सो तच्चं केवलं थुणदि ॥ ३४ ॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीराणामिह भवन्ति केवलिनः । केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(तं णिच्छये ण जुज्जदि हि सरीरगुणा केवलिणो णं होति) वह स्तवन निश्चय से युक्त नहीं है क्योंकि शरीर के गुण केवली के नहीं होते हैं (जो केवलिगुणे थुणदि सो तच्चं केवलं थुणदि) जो केवली भगवान के गुणों का स्तवन करते हैं वे ही वास्तव में केवली भगवान की स्तुति करते हैं ॥ ३४ ॥

णयरम्मि वण्णिदे जह, ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि । देहगुणे धुव्वंते, ण केवल्लिगुणा थुदा होति ॥ ३५ ॥

नगरे वर्णिते वथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति । देहगुणे स्तूयमाने न केवल्लिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(जह णयरम्मि वण्णिदे वि रण्णो वण्णणा कदा ण होदि) जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता है, वैसे ही (देहगुणे धुव्वंते केवल्लिगुणा थुदा ण होति) शरीर के गुणों का—वर्ण, अवगाहना आदि का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता है ॥ ३५ ॥

जो इंदिए जिणिता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं । तं खलु जिदिदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहु ॥ ३६ ॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं । तं खलु जितेन्द्रियं ते, भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(जो इंदिए जिणिता णाणसहावाधियं आदं मुणदि) जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा को जानते हैं—अनुभव करते हैं (जे णिच्छिदा साहु ते तं खलु जिदिदियं भणंति) नियम से जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं—गणधर आदि महामुनि हैं वे नियम से उनको जितेन्द्रिय कहते हैं ॥ ३६ ॥

जो मोहं तु जिणिता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं । तं जितमोहं साहु, परमद्विव्याणया विति ॥ ३७ ॥

यो मोहं तु जित्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं । तं जितमोहं साधु, परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(जो मोहं तु जिणिता णाणसहावाधियं आदं मुणदि) जो मोह को जीतकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करते हैं (परमद्विव्याणया तं साहु जितमोहं विति) परमार्थ के ज्ञाता—महामुनि—उन साधु को जितमोह—उपशान्तमोह कहते हैं ॥ ३७ ॥

जितमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स । तइया हु खीणमोहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३८ ॥

जितमोहस्य तु यदा, क्षीणो मोहो भवेत्साधोः । तदा खलु क्षीणमोहो, भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(जितमोहस्स दु साहुस्स जइया खीणो मोहो हविज्ज) मोह को जीतने वाले—साधु का जब मोह क्षीण-नष्ट हो जाता है (तइया णिच्छयविदूहिं हु सो खीणमोहो भण्णदि) तब निश्चयनय के ज्ञाता—महामुनि निश्चित ही उन्हें क्षीणमोह—वारहवें गुणस्थान वाले वीतरागी कहते हैं ॥ ३८ ॥

णाणं सव्वे भावे, पच्चक्खाई परेत्ति णादूण । तद्दा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥ ३९ ॥

ज्ञानं सर्वान्भावान्, प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा । तस्मात्प्रत्याख्यानं, ज्ञानं नियमात् मन्तव्यम् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(णाणं सव्वे भावे परेत्ति णादूण पच्चक्खाई) ज्ञान सभी भावों—पदार्थों को 'ये पर हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ देता है (तद्दा णियमा णाणं पच्चक्खाणं मुणेदव्वं) इसलिये नियम से ज्ञान ही प्रत्याख्यान—त्याग है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि । तह सव्वे परभावे, णाउण विमुंचदे णाणी ॥ ४० ॥

यथानाम कोऽपि पुरुषः, परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति । तथा सर्वान् परभावान्, ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि) जैसे कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है (तह णाणी सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे) वैसे ही ज्ञानी आत्मा—महामुनि सभी पर भावों को जानकर छोड़ देते हैं ॥ ४० ॥

णत्थि मम कोवि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को । तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विति ॥ ४१ ॥

नास्ति मम कोपि मोहो, बुध्यते उपयोग एवाहमेकः । तं मोह-निर्ममत्वं, समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(मोहो मम कोवि णत्थि अहं इक्को उवओग एव बुज्झदि) मोह मेरा कोई भी नहीं है 'मैं एक उपयोग स्वरूप ही हूँ' जो ऐसा मानते हैं (समयस्स वियाणया तं मोहणिम्ममत्तं विति) समय—आत्मा के ज्ञाता—महामुनि उन्हें मोह से निर्मम कहते हैं ॥ ४१ ॥

णत्थि मम धम्म आदी, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को । तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विति ॥ ४२ ॥

न संति मम धर्मादयो, बुध्यते उपयोग एवाहमेकः । तं धर्मनिर्ममत्वं, समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(मम धम्म आदी णत्थि अहं इक्को उवओग एव बुज्झदि) धर्मद्रव्य आदि मेरे कुछ नहीं हैं 'मैं एक उपयोग स्वरूप ही हूँ' जो ऐसा समझते हैं (समयस्स वियाणया तं धम्मणिम्ममत्तं विति) समय के जानने वाले उन—मुनि को धर्म से निर्मम कहते हैं ॥ ४२ ॥

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी । णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ ४३ ॥

अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी । नाप्यस्ति भम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी) मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ दर्शन-ज्ञानमयी हूँ, सदा अमूर्तिक हूँ (मज्झ अण्णं किंचिवि परमाणुमित्तं पि णवि अत्थि) मेरा भी अन्य कुछ भी परमाणु मात्र भी नहीं है ॥ ४३ ॥

अप्पाणमयाणंता, मूढा दु परप्पवादिणो केई । जीव अज्झवसाणं, कम्मं च तहा परूविति ॥ ४४ ॥

अवरे अज्झवसाणे, सुतिव्व—मंदाणुभागगं जीव । मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥ ४५ ॥

कम्मस्सुदयं जीव अवरे, कम्माणुभागमिच्छंति । तिव्वत्तणमदंतणगुणेहिं, जो सो हवदि जीवो ॥ ४६ ॥

जीवो कम्मं उहयं, दोण्णिणवि खलु केवि जीवमिच्छंति । अवरे संजोगेण दु, कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४७ ॥

एवंविहा बहुविहा, परमप्पाणं वदंति दुप्पेहा । तेण दु परप्पवादी, णिच्छयवादीहिं णिदिट्ठा ॥ ४८ ॥

आत्मानभजान्तो, मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् । जीवमध्यवसानं, कर्म च तथा प्ररूयन्ति ॥ ४४ ॥

अपरेऽध्यवसानेषु, तीव्रमंदानुभागगं जीव । मन्यन्ते तथाऽपरे, नोकर्म चापि जीव इति ॥ ४५ ॥

कर्मण उदयं जीव—मपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति । तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां, यः स भवति जीवः ॥ ४६ ॥

जीवकर्मोभयं द्वे, अपि खलु केविज्जीवमिच्छन्ति । अपरे संयोगेण तु, कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥ ४७ ॥

एवंविधा बहुविधाः, परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः । तेन तु परात्मवादिनः, निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(केई परप्पवादिणो मूढा दु अप्पाणं अयाणंता) कोई परात्मवादी—पर को आत्मा कहने वाले अज्ञानी आत्मा को नहीं जानते हुये (अज्झवसाणं च तहा कम्मं जीव परूविति) अध्यवसान—परिणाम को जीव कहते हैं और उसी प्रकार कोई कर्म को जीव कहते हैं (अवरे अज्झवसाणे सुतिव्वमंदाणुभागगं जीव मण्णंति) और कोई जन परिणामों में तीव्र, मंद अनुभाग प्राप्त को जीव कहते हैं (तहा अवरे णोकम्मं चावि

जीवोत्ति) तथा कोई अन्य जन नो कर्म को ही 'यह जीव है' ऐसा मानते हैं। (अवरे कम्मस्सुदयं जीवं) अन्य कोई जन कर्मों के उदय को जीव कहते हैं (जो तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं कम्माणुभागं जो) कोई तीव्रपने और मंदपने रूप गुणों से कर्म का जो अनुभव है (सो जीवो हवदि) वही जीव है ऐसा कहते हैं। (केवि जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु जीवं इच्छंति) कोई जीव और कर्म ये दोनों ही नियम से जीव हैं ऐसा स्वीकार करते हैं (अवरे दु कम्माणं संजोगेण जीवं इच्छंति) और अन्य कोई—जीव और कर्म के संयोग को ही जीव कहते हैं (एवं विहा बहुविहा दुम्मेहा परं अप्पाणं वंदति) इस तरह बहुत प्रकार के दुर्बुद्धि लोग पर को ही आत्मा कहते हैं (तेण दु णिच्छयवादी हि परण्णवादी णिदिट्ठा) इसी कारण से निश्चयवादी—महामुनियों ने उन सबको परात्मवादी कहा है ॥ ४४ से ४८ तक ॥

एदे सव्वे भावा, पुग्गलद्वयपरिणामणिप्पण्णा । केवलजिणेहिं भणिदा, कह ते जीवोत्ति वुच्चंति ॥ ४९ ॥

एते सर्वे भावाः, पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः । केवलजिनेर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(एदे सव्वे भावा, पुग्गलद्वय परिणामणिप्पण्णा) ये सभी भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम से बने हुये हैं (केवलजिणेहिं भणिदा) केवली जिनेन्द्रदेव ने कहा है (ते जीवोत्ति कह वुच्चंति) पुनः 'वे जीव हैं' ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् ऐसा नहीं कह सकते हैं ॥ ४९ ॥

अट्ठविहं पि य कम्मं, सव्वं पुग्गलमयं जिणा विति । जस्स फलं तं वुच्चदि, दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ५० ॥

अष्टविधमपि च कर्म, सर्वं पुद्गलमयं जिना विन्दति । यस्य फलं तदुच्यते, दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विति) आठ प्रकार के जो कर्म हैं वे सब पुद्गलमय हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं (जस्स विपच्चमाणस्स तं दुक्खं ति फलं वुच्चदि) क्योंकि जिसके विपाक—उदय के आने में 'दुःख ही फल है' ऐसा कहा गया है ॥ ५० ॥

ववहारस्स दरीसण—मुवएसो वणिणदो जिणवरेहिं । जीवा एदे सव्वे, अज्झवसाणादओ भावा ॥ ५१ ॥

व्यवहारस्य दर्शन—मुपदेशो वर्णितो जिनवरैः । जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा जीवा) ये सभी अध्यवसान—विभाव भाव जीव हैं (ववहारस्स दरीसणं जिणवरेहिं उवएसो वणिणदो) यह व्यवहारमय का दर्शन है—कथन है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है ॥ ५१ ॥

राया हु णिग्गदो त्तिय, एसो बलसमुदयस्स आदेसो । ववहारेण दु उच्चदि, तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ५२ ॥

राजा खलु निर्गत, इत्येष बलसमुदयस्यादेशः । व्यवहारेण तूच्यते, तत्रैको निर्गतो राजा ॥ ५२ ॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानां । जीव इति कृतः सूत्रे, तत्रैको निश्चितो जीवः ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ—(राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो दु) राजा निकला है इस प्रकार का कथन सेना समूह में तो (ववहारेण उच्चदि) व्यवहार से कहा जाता है (तत्थेको राया णिग्गदो) किंतु उस सेना में तो एक ही राजा निकला है। (एमेव य अज्झवसाणादि अण्णभावाणं सुत्ते जीवो त्ति ववहारो कदो)

अन्वयार्थः—अरसं अरुवं अगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसहं । जाण अलिगगहणं, जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥ ५४ ॥

इसी प्रकार से रागादि अन्य भावों को परमागम में 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार किया जाता है (तत्त्वेको निच्छिदो जीवो) किंतु उनमें निश्चित ही जीव एक है ॥ ५२-५३ ॥

अरसमरूपमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसहं । जाण अलिगगहणं, जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥ ५४ ॥

अरसमरूपमगंधं—मव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं । जानीहि अलिगगहणं, जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(जीवं अरसं अरुवं अगंधं अव्वत्तं चेदणागुणं असहं अलिगगहणं अणिदिट्ठसंठाणं जाण) इस जीव को रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, प्रगटता रहित, चेतनागुणसहित, शब्द रहित, किसी भी चिन्ह से ग्रहण में न आने वाला और जिसका आकार कहा नहीं जा सकता ऐसा तुम जानो ॥ ५४ ॥

जीवस्स णत्थि वण्णो, णवि गंधो णणि रसो णवि य फासो । णवि रूवं ण सरीरं, णवि संठाणं ण संहणणं ॥ ५५ ॥

जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो । णो पच्चया ण कम्मं, णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५६ ॥

जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा णेव फड्डया केई । णो अज्झप्पट्ठाणा, णेव य अणुभागठाणाणि ॥ ५७ ॥

जीवस्स णत्थि केई, जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा । णेव य उदयट्ठाणा, ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५८ ॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा, जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा । णेव विसोहिट्ठाणा, णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५९ ॥

णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स । जेण तु एदे सव्वे, पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ६० ॥ षष्ठकम् ॥

जीवस्य नास्ति वर्णो, नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः । नापि रूपं न शरीरं, नापि संस्थानं न संहननं ॥ ५५ ॥

जीवस्य नास्ति रागो, नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः । नो प्रत्यया न कर्म, नो कर्म चापि तस्य नास्ति ॥ ५६ ॥

जीवस्य नास्ति वर्गो, न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् । नो अध्यवसानानि, नैव चानुभागस्थानानि ॥ ५७ ॥

जीवस्य न संति कानिचित्—योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा । नैव चोदयस्थानानि, न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥ ५८ ॥

नो स्थितिबंधस्थानानि, जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा । नैव विशुद्धस्थानानि, नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥ ५९ ॥

नैव च जीवस्थानानि, न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य । येन ज्वेते सव्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—(जीवस्स वण्णो णत्थि गंधो णवि रसो णवि य फासो णवि) जीव के वर्ण नहीं है, गंध भी नहीं है, रस भी नहीं है और स्पर्श भी नहीं है, (रूवं णवि सरीरं ण संठाणं ण वि संहणणं ण) रूप भी नहीं है, शरीर नहीं है, संस्थान नहीं है और संहनन भी नहीं है । (जीवस्स रागो णत्थि दोसो णवि मोहो णेव विज्जदे) जीव के राग नहीं है, द्वेष भी नहीं है और मोह भी नहीं है (से णो पच्चया ण कम्मं चावि णोकम्मं णत्थि) उस जीव के न तो प्रत्यय—आस्रव हैं, न कर्म हैं और न नो कर्म ही हैं । (जीवस्स वग्गो णत्थि वग्गणा ण केई फड्डया णेव) जीव के वर्ग नहीं हैं, वर्गणा नहीं हैं और स्पर्धक भी नहीं हैं (अज्झप्पट्ठाणा णो य अणुभागठाणाणि णेव) अध्यवसान—रागादि भावरूप विभावस्थान नहीं हैं और अनुभाग स्थान भी नहीं हैं (जीवस्स केई जोयट्ठाणा ण वा बंधठाणा ण य उदयट्ठाणा णेव केई मग्गणट्ठाणया ण) जीव के कोई योग स्थान भी नहीं हैं, बंध स्थान भी नहीं हैं, उदय स्थान भी नहीं हैं और मार्गणा स्थान भी कोई नहीं हैं । (जीवस्स णो ठिदिबंधट्ठाणा ण संकिलेसठाणा वा णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा) जीव के न स्थितिबंध स्थान हैं, न संक्लेश स्थान हैं, न विशुद्धि स्थान ही हैं और न संयमलब्धि स्थान ही हैं । (जीवस्स

जेव य जीवद्वाणा ण गुणद्वाणा य अत्थि जीव के न तो जीवसमास स्थान हैं और न गुणस्थान ही हैं (जेण दु एदे सल्ले पुग्गलदव्वस्स परिणामा) क्योंकि ये सब तो पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं—पुद्गल द्रव्य से बने हुये ही हैं ॥ ५५ से ६० तक ॥

ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवन्ति वण्णमादीया । गुणठाणंताभावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥

व्यवहारेण त्वेते, जीवस्य भवन्ति वर्णाद्याः । गुणस्थानांता भावा, न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारेण दु एदे वण्णमादीया गुणठाणंता भावा जीवा हवन्ति) व्यवहारनय से तो वर्ण को आदि में लेकर गुणस्थान पर्यंत ये सभी भाव जीव के हैं (दु णिच्छयणयस्स केई ण) किंतु निश्चयनय की अपेक्षा से ये कोई भी भाव नहीं हैं ॥ ६१ ॥

एदेहिं य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो । ण य हुंति तस्स ताणि दु, उवओग—गुणाधिगो जम्हा ॥ ६२ ॥

एतैश्च संबन्धो, यथैव क्षीरोदकं मन्तव्यः । न च भवन्ति तस्य तानि, तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो) इन वर्णादिकों के साथ जो जीव का संबंध है वह दूध और जल के संबंध जैसा ही मानना चाहिये (य तस्स ताणि ण हुंति) किंतु उस जीव के वे वर्णादि नहीं होते हैं (जम्हा दु उवओगगुणाधिगो) क्योंकि जीव तो उपयोग गुण से परिपूर्ण है ॥ ६२ ॥

पंधे मुस्संतं पस्सिदूण, लोगा भणन्ति ववहारी । मुस्सदि एस्से पंधो, ण य पंधो मुस्सदे कोई ॥ ६३ ॥

पथि मुख्यमाणं दृष्ट्वा, लोका भणन्ति व्यवहारिणः । मुख्यते एषः पन्था, न च पन्था मुख्यते कश्चित् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(पंधे मुस्संतं पस्सिदूण ववहारी लोगा भणन्ति) मार्ग में लुटते हुये पुरुष को देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं (एस्से पंधो मुस्सदि) कि यह मार्ग लुटता है (य कोई पंधो ण मुस्सदे) किंतु कोई मार्ग नहीं लुटता है ।

तह जीवे कम्माणं, णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं । जीवस्स एस वण्णो, जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥ ६४ ॥

तथा जीवे कर्मणां, नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं । जीवस्यैव वर्णो, जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(तह जीवे कम्माणं च णोकम्माणं वण्णं पस्सिदुं) उसी प्रकार जीव में कर्म और नोकर्मों के वर्णों को देखकर (जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो) जीव का यह वर्ण है जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से ऐसा कहा है ॥ ६४ ॥

एवं रसगंधफासा, संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा । सल्ले ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसन्ति ॥ ६५ ॥

एवं गंधरसस्पर्श—संस्थानादयः ये समुद्दिष्टाः । सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशन्ति ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा) इस प्रकार रस, गंध, स्पर्श और संस्थान आदिक जो भी कहे गये हैं (य सल्ले ववहारस्स णिच्छयदण्हू ववदिसन्ति) ये सब व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं ऐसा निश्चय के दृष्टा-गणधर देवादि कहते हैं ॥ ६५ ॥

तत्थभवे जीवाणं, संसारत्थाण होंति वण्णादी । संसारपमुक्काणं, णत्थि दु वण्णादओ केई ॥ ६६ ॥

तत्र भवे जीवानां, संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः । संसारप्रमुक्तानां, न संति खलु वर्णादयः केऽपि ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(संसारस्थान जीवाणं तत्त्वभवे वर्णादी होति) संसार में स्थित जीवों के संसारावस्था में वर्णादि से गुणस्थान पर्यंत सभी पर्यायें हैं (दु संसारपमुक्काणं वर्णादो केई णत्थि) किंतु संसार से मुक्त हुये जीवों में ये वर्णादि कुछ भी नहीं हैं ॥ ६७ ॥

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावन्ति मण्णसे जदि हि । जीवस्साजीवस्स य, णत्थि विसेसो हि दे कोई ॥ ६७ ॥

जीवश्चैव ह्येते, सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि । जीवस्याजीवस्य च, नास्ति विशेषस्तु ते कोऽपि ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(एदे सव्वे भावा जीवो चेव हि ति जदि हि मण्णसे) ये सभी भाव जीव ही हैं ऐसा यदि तुम मानते हो तो (दे जीवाजीवस्स य विसेसो हि कोई णत्थि) तुम्हारे यह जीव और अजीव में कोई भी अंतर नहीं रहेगा ॥ ६७ ॥

जदि संसारत्थाणं, जीवाणं तुज्झ होंति वर्णादी । तम्हा संसारत्था, जीवा रूखित्तमावण्णा ॥ ६८ ॥

एवं पोग्गलदव्वं, जीवो तह लक्खणेण मूढमदी । णिव्वाणमुवगदो वि य, जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ॥ ६९ ॥ युगलम् ॥

यदि संसारस्थानां, जीवानां तव भवन्ति वर्णादयः । तस्मात्संसारस्था, जीवा रूपित्त्वमावण्णाः ॥ ६८ ॥

एवं पुद्गलद्रव्यं, जीवस्तथा लक्षणेन मूढमते । निर्वानमुपगतेऽपि च, जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(यदि तुज्झ संसारत्थाणं जीवाणं वर्णादी होति) यदि तुम्हारे मत में संसारी जीवों के वर्णादि होते हैं (तम्हा संसारत्था जीवा रूखित्तं आवण्णा) तब तो सभी संसारी जीव रूपी—पुद्गल द्रव्य हो जायेंगे (एवं पुग्गलदव्वं तह जीवो लक्खणेण मूढमदी) इस प्रकार तो जैसे पुद्गलद्रव्य है वैसे ही जीव का लक्षण होने से है मूढबुद्धि जीव । (णिव्वाणं उवगदो वि य पुग्गलो जीवत्तं पत्तो) निर्वान को प्राप्त हुआ पुद्गल ही पुनः जीवपने को प्राप्त हो गया ऐसा समझना ॥ ६८-६९ ॥

एवकं च दोण्णि तिण्णि च, चत्तारि य पंच इंदिया जीवा । बादरपज्जत्तिदरा, पयडीओ णायकम्मस्स ॥ ७० ॥

एकं वा द्वे त्रीणि च, चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः । बादरपर्याप्तेतराः, प्रकृत्यो नामकर्मणः ॥ ७० ॥

अन्वयार्थ—(एवकं च दोण्णि तिण्णि च चत्तारि य पंच इंदिया जीवा) एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये जीव हैं (बादरपज्जत्तिदरा णायकम्मस्स पयडीओ) ये बादर—सूक्ष्म और पर्याप्त—अपर्याप्त भेदरूप हैं, ये सभी नाम कर्म की प्रकृतियाँ हैं ॥ ७० ॥

एदाहि य णिव्वत्ता, जीवद्वाणा दु करणभूदाहि । पयडीहि पुग्गलमईहि, ताहि कंह भण्णदे जीवो ॥ ७१ ॥

एताभिश्च निर्वृत्तानि, जीवस्थानानि करणभूताभिः । प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीव ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ—(एदाहि य करणभूदाहि दु पुग्गलमईहि पयडीहि जीवद्वाणा णिव्वत्ता) और इन करणभूत पुद्गलमयी कर्म प्रकृतियों के द्वारा ये जीवस्थान—चौदह जीव समास बनाये गये हैं (ताहि जीवो कंह भण्णदे) पुनः उनके द्वारा यह जीव कहे न कहे जायेंगे ॥ ७१ ॥

पज्जत्तापज्जत्ता, जे सुहुमा बादरा य जे चेव । देहस्स जीवसण्णा, सुत्ते खवहारदो उत्ता ॥ ७२ ॥

पर्याप्तापर्याप्ता, ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव । देहस्य जीव संज्ञा, सूत्रे व्यवहारतः उक्ता ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—(जे पज्जत्तापज्जत्ता य जे सुहुमा बादरा चेव) जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा जो सूक्ष्म

और बादर भेद हैं ये सब (देहस्स जीवसण्णा सुते व्यवहारदो उता) शरीर की जीवसंज्ञाये हैं ऐसा परमागम में व्यवहारनय से कहा गया है । ७२ ॥

मोहणकम्मस्सुदया, दु वणिणदा जे इमे गुणट्ठाणा । ते कह हवन्ति जीवा, ते णिच्चमचेदणा उता ॥ ७३ ॥

मोहनकर्मण उदयात्, वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि । तानि कथं भवन्ति जीवा, यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ—(मोहणकम्मस्सुदया जे इमे गुणट्ठाणा दु वणिणदा) मोहनीय कर्म के उदय से हुये जो ये गुणस्थान—चौदह भेदरूप कहे गये हैं (ते जीवा कह हवन्ति) वे जीव कैसे हो सकते हैं ? (जे णिच्चमचेदणा उता) क्योंकि वे नित्य ही अचेतन कहे गये हैं ॥ ७३ ॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं, तु आदासवाण दोण्हं पि । अण्णाणी तावदु सो, क्रोधादिसु वट्ठदे जीवो ॥ ७४ ॥

क्रोधादिसु वट्ठतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदि । जीवस्सेवं बंधो, भणितो खलु सव्वदरसीहि ॥ ७५ ॥ युग्मम् ॥

यावत्र वेत्ति विशेषांतरं, त्वात्मास्त्वयोर्द्वयोरपि । अज्ञानी तावत्स, क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥ ७४ ॥

क्रोधादिषु वर्तमानस्य, तस्य कर्मणः संचयो भवति । जीवस्यैवं बंधो, भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(आदासवाण दोण्हं पि जाव तु विसेसंतरं ण वेदि) आत्मा और आस्रव इन दोनों में भी जब तक विशेष अंतर—भेद नहीं जानता है (ताव दु सो जीवो अण्णाणी क्रोधादिसु वट्ठदे) तब तक यह जीव अज्ञानी हुआ क्रोध आदि कषायों में प्रवृत्ति करता रहता है । (क्रोधादिसु वट्ठतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि) पुनः क्रोधादि भावों में वर्तन करते हुये उस जीव के कर्मों का संचय होता है (जीवस्स एवं बंधो खलु सव्वदरसीहि भणितो) इस प्रकार जीव के कर्मों का बंध होता रहता है ऐसा नियम से श्री सर्वज्ञ देव ने कहा है ॥ ७४-७५ ॥

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव । णादं होदि विसेसंतरं, तइया ण बंधो से ॥ ७६ ॥

यदानेन जीवेनात्मनः, आस्रवाणां च तथैव । ज्ञातं भवति विशेषांतरं, तु तदा न बंधस्तस्य ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(जइया इमेण जीवेण अप्पणो य तहेव आसवाणं विसेसंतरं णादं होदि) जब इस जीव को आत्मा और कर्मास्रवों का विशेष अंतर-परस्पर का भेद ज्ञात हो जाता है—अनुभव में आ जाता है (तइया से ण बंधो) तब उसको कर्मबंध नहीं होता है ॥ ७६ ॥

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीय भावं च । दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्ति कुणदि जीवो ॥ ७७ ॥

ज्ञात्वा आस्रवाणां—मशुचित्तं च विपरीतभावं च । दुःखस्य कारणानीति च, ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—(आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च दुक्खस्स कारणं ति य णादूण) आस्रवों के अशुचिपने को, विपरीत भाव को और ये दुःखों के कारण हैं इस बात को जानकर (जीवो तदो णियत्ति कुणदि) यह जीव उनसे निवृत्त—दूर हो जाता है ॥ ७७ ॥

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो । तस्मिं ठिदो तच्चित्तो, सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७८ ॥

अहमेकः खलु शुद्धश्च, निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः । तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः, सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(अहं खलु इक्को सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो) मैं निश्चित ही एक हूँ, शुद्ध हूँ

ममता से रहित हूँ और ज्ञान—दर्शन से परिपूर्ण हूँ (तहि ठिदो तच्चित्तो एदे सव्वे खवं गेमि) ऐसे उस आत्मा में स्थित हुआ उसी चैतन्य में लीन हुआ मैं इन सभी—आस्रवों का क्षय कर देता हूँ ॥ ७८ ॥

जीवणिबद्धा एदे, अधुव अणिच्चा तथा असरणा य । दुक्खा दुक्खफलाणि य, णादूण णित्तदे तेहिं ॥ ७९ ॥

जीव निबद्धा एते, अधुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च । दुःखानि दुःखफलानि च, ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(एदे जीवणिबद्धा अधुव तथा अणिच्चा य असरणा दुक्खा य दुक्खफलाणि) ये आस्रव जीव के साथ बंधे हुये हैं, अधुव हैं तथा अनित्य हैं, दुःख रूप हैं और दुःखमय फल को देने वाले हैं (णादूण तेहिं णित्तदे) ऐसा जानकर जीव इन आस्रवों से दूर होता है ॥ ७९ ॥

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं । ण करेदि एदमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ८० ॥

कर्मणश्च परिणामं, नो कर्मणश्च तथैव परिणामं । न करोत्येनमात्मा, यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(कम्मस्स य परिणामं य तहेव णोकम्मस्स परिणामं आदा ण करेदि) कर्म के परिणाम को तथा नो कर्म के परिणाम को आत्मा नहीं करता है (जो एदं जाणदि सो णाणी हवदि) जो इस बात को जानता है वही ज्ञानी होता है ॥ ८० ॥

कर्ता आदा भणिदो, ण य कत्ता केण सो उवाएण । धम्मादी परिणामे, जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ८१ ॥

कर्ता आत्मा भणितः, न च कर्ता केन स उपायेन । धर्मादीन् परिणामान्, यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(आदा धम्मादी परिणामे कत्ता भणिदो सो केण उवाएण ण य कत्ता) आत्मा धर्म आदि परिणामों का कर्ता कहा गया है वही आत्मा किसी उपाय-नय से कर्ता नहीं भी है (जो जाणदि सो णाणी हवदि) जो ऐसा जानता है वही ज्ञानी होता है ॥ ८१ ॥

णविपरिणमदिण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये । णाणी जाणंतो विहु, पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८२ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये । ज्ञानी जानन्नपि खलु, पुद्गल—कर्मनिकविधं ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(णाणी अणेयविहं पुग्गलकम्मं जाणंतो विहु) ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को जानते हुये भी निश्चित ही (परदव्वपज्जाये णवि परिणमदि ण गिण्हदि ण उप्पज्जदि) परद्रव्य की पर्यायों में उन रूप से न परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप से उत्पन्न ही होता है ॥ ८२ ॥

णविपरिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए । णाणी जाणंतो विहु, सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ८३ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये । ज्ञानी जानन्नपि खलु, स्वकपरिणाममये नेकविधं ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—(णाणी अणेयविहं सगपरिणामं अणेयविहं जाणंतो विहु) ज्ञानी अनेक प्रकार के अपनी आत्मा के परिणामों को जानते हुये भी (परदव्वपज्जाए णवि परिणमदि ण गिण्हदि ण उप्पज्जदि) परद्रव्य की पर्यायों में—उनरूप से न तो परिणमन करता है, न ग्रहण करता है और न उन रूप से उत्पन्न ही होता है ॥ ८३ ॥

णविपरिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए । णाणी जाणंतो विहु, पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ८४ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये । ज्ञानी जानन्नपि खलु, पुद्गलकर्मफलमनंतं ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—(णाणी अणंतं पुग्गलकम्मफलं जाणंतो वि हु) ज्ञानी—महामुनि अनंतों भेदरूप पुद्गलकर्मों के फल को जानते हुये भी (णवि परदव्वपज्जाए परिणमदि ण गिण्हदि ण उप्पज्जदि) परद्रव्य की पर्यायों में न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप से उत्पन्न हो होता है ॥ ८४ ॥

णवि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए । पुग्गलदव्वं पि तहा, परिणमदि सएहिं भावेहिं ॥ ८५ ॥

नापि परिणमति न गृणात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये । पुद्गलद्रव्यमपि तथा, परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ—(तहा पुग्गलदव्वं पि परदव्वपज्जाए ण वि परिणमदि ण गिण्हदि ण उप्पज्जदि) वैसे ही—जीव द्रव्य के समान ही पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य की—जीव द्रव्य की पर्यायों में—उन रूप से न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप से उत्पन्न हो होता है ॥ ८५ ॥

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति । पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ ८६ ॥

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे । अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ ८७ ॥

एदेण कारणेण दु, कत्ता आदा सएण भावेण । पुग्गलकम्मकदाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥ त्रिकलम् ॥

जीवपरिणामहेतुं, कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति । पुद्गलकर्मनिमित्तं, तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥ ८६ ॥

नापि करोति कर्मगुणान्, जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् । अन्योन्यनिमित्तेन तु, परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८७ ॥

एतेन कारणेन तु, कर्ता आत्मा स्वकैः भावेन । पुद्गलकर्मकर्तृणां, न तु कर्ता सर्वभावानां ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ—(जीवपरिणामहेदुं पुग्गला कम्मत्तं परिणमंति) जीव के परिणामों को रागादिभावों हेतु करके पुद्गल कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं (जीवो वि पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव परिणमदि) जीव भी पुद्गलकर्म—उदय का निमित्त पाकर उसी प्रकार से—भावकर्म रूप से परिणमन कर जाता है (जीवो कम्मगुणे ण वि कुव्वदि तहेव कम्मं जीवगुणे) जीव कर्म के गुणों को नहीं करता है—उपादान रूप से नहीं करता है और कर्म भी जीव के गुणों को नहीं करता है (दु दोण्हं पि अण्णोण्णणिमित्तेण परिणामं जाण) फिर भी इन दोनों में परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक परिणमन जानो (एदेण कारणेण दु आदा सएण भावेण कत्ता) इसी कारण से तो यह आत्मा अपने भावों से कर्ता-कर्मों का कर्ता होता है । दु पुग्गलकम्मकदाणं सव्वभावाणं कत्ता ण) किंतु पुद्गल कर्मों के द्वारा किये गये सभी भावों का कर्ता नहीं है ॥ ८६-८७-८८ ॥

णिच्छयणयस्स एवं, आदा अप्पाणमेव हि करेदि । वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८९ ॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति । वेदयते पुनस्तं चैव, जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ—(णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणं एव हि करेदि) निश्चयनय का यह कथन है कि आत्मा आत्मा को ही करता है (पुणो अत्ता तं चेव अत्ताणं दु वेदयदि) पुनः वही आत्मा अपनी आत्मा को ही भोगता है—आत्मा आत्मा का ही अनुभव करता है ॥ ८९ ॥

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं । तं चेव य वेदयदे, पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ९० ॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् । तच्चैव पुनर्वेदयते, पुद्गलकर्मनैकविधं ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ—(ववहारस्स दु आदा अणेयविहं पुग्गलकम्मं करेदि) व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा

अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को करता है (य तं चेव अणेयविहं पुग्गलकम्मं वेदयदे) और उसी अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को भोगता है—अनुभव करता है ॥ ९० ॥

जदि पुग्गलकम्मणिणं, कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा । दो-किरियावादित्तं, पसज्जदि सम्मं जिणावमदं ॥ ९१ ॥

यदि पुद्गलकर्मदं, करोति तच्चैव वेदयते आत्मा । द्विक्रियावादित्वं, प्रसजति सम्यक् जिनावमतं ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ—(जदि आदा इणं पुग्गलकम्मं कुव्वदि तं चेव वेदयदि) यदि यह आत्मा इन पुद्गल कर्मों को करता है और उस—पुद्गलकर्मों को ही भोगता है तो (दो किरियावादित्तं पसज्जदि सम्मं जिणावमदं) आत्मा दो क्रियाओं को करने का प्रसंग आ जावेगा सो यह जिनेन्द्रदेव का समीचीन मत नहीं है अर्थात् जीव उपादान रूप से दोनों-जीव-और पुद्गलद्रव्यों का कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता है ॥ ९१ ॥

जम्हा दु अत्तभावं, पुग्गलभावं च दोवि कुव्वन्ति । तेण दु मिच्छादिट्ठी, दो-किरियावादिणो होन्ति ॥ ९२ ॥

यस्यैव अत्तभावं, पुद्गलभावं च द्वौ तपि कुर्वन्ति । तेन तु मिथ्यादृष्ट्यो, द्विक्रियावादिनो भवन्ति ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ—(जम्हा दु अत्तभावं च पुग्गलभावं दोवि कुव्वन्ति) जिस हेतु से ये आत्मा अपने-आत्मभाव को—रागादि विभाव परिणामों को और पुद्गलभाव को—द्रव्यकर्मों को—दोनों को—उपादान रूप से करते हैं (तेण दु दो किरियावादिणो मिच्छादिट्ठी होन्ति) उसी हेतु से ये आत्मा द्विक्रियावादी—दो द्रव्यों के कर्ता होने से मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

पोग्गलकम्मणिमित्तं, जह आदा कुणदि अण्णो भावं । पोग्गलकम्मणिमित्तं, तह वेददि अण्णो भावं ॥ ९३ ॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं, यथात्मा करोति आत्मनः भावं । पुद्गलकर्म-निमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(आदा जह पोग्गलकम्मणिमित्तं अण्णो भावं कुणदि) यह आत्मा जैसे पुद्गलकर्म के निमित्त से अपनी आत्मा के भावों को—रागादि भावों को करता है (तह पोग्गलकम्मणिमित्तं अण्णो भावं वेददि) उसी प्रकार से वह पुद्गलकर्म के निमित्त से अपनी आत्मा के भावों को भोगता है ॥ ९३ ॥

मिच्छन्तं पुण दुविहं, जीवमजीवं तहेव अण्णाणं । अविरदि जोगो मोहो, कोहादीया इमे भावा ॥ ९४ ॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं, जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं । अविरतियोगो मोहः, क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ—(मिच्छन्तं पुण दुविहं जीवं अजीवं तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा) मिथ्यात्व के दो भेद हैं जीव और अजीव, वैसे ही अविरति, योग, मोह और क्रोध आदि ये सभी भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं ॥ ९४ ॥

पोग्गलकम्मं मिच्छं, जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं । उवओगो अण्णाणं, अविरदि मिच्छन्त जीवो दु ॥ ९५ ॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं, योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः । उपयोगोऽज्ञानमविरतिमिथ्यात्वं जीवस्तु ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणं पोग्गलकम्मं अज्जीवं) मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान ये पुद्गलकर्म होने से अजीव हैं (दु अण्णाणं अविरदि मिच्छन्त उवओगो जीवो) किंतु अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व ये उपयोग रूप होने से जीव हैं ॥ अर्थात् मिथ्यात्व आदि पौद्गलिक द्रव्यकर्म अजीव हैं और जीव के भावरूप मिथ्यात्व आदि भाव कर्म जीव हैं ॥ ९५ ॥

उवओगस्स अणाई, परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स । मिच्छन्तं अण्णाणं, अविरदि भावो य णादब्बो ॥ ९६ ॥

उपयोगस्थानादयः, परिणामस्वयो मोहयुक्तस्य । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—(मोहजुत्तस्स उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि) मोह से सहित उपयोग के—ज्ञानदर्शन स्वरूप जीव के अनादिकालीन परिणाम तीन प्रकार के हैं (मिच्छन्तं अण्णाणं य अविरदिभावो णादब्बो) मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ९६ ॥

एदेसु य उवओगो, तिविहो सुद्धो निरंजणो भावो । जं सो करेदि भावं, उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९७ ॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः । यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(एदेसु य उवओगो सुद्धो निरंजणो भावो तिविहो) इन तीनों भावों में आत्मा का उपयोग शुद्ध निरंजन है तो भी वह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र इन भावरूप है (सो उवओगो जं भावं करेदि) वह उपयोग जिस भाव को करता है (सो तस्स कत्ता) वह उसी भाव का कर्ता होता है ॥ ९७ ॥

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स । कम्मत्तं परिणमदे, तहि सयं पोग्गलं दब्बं ॥ ९८ ॥

यं करोति भावमात्मा, कर्ता स भवति तस्य भावस्य । कर्मत्वं परिणमते, तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यं ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थ—(आदा जं भावं कुणदि) आत्मा जिस भाव को करता है, (सो तस्स भावस्स कत्ता होदि) वह उसी भाव का कर्ता होता है (तहि पोग्गलं दब्बं सयं कम्मत्तं परिणमदे) उन भावों के कर्ता होने पर पुद्गल द्रव्य—वर्गणाये स्वयं कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं ॥ ९८ ॥

परमप्पाणं कुब्बदि, अप्पाणं पि य परं करंतो सो । अण्णाणमओ जीवो, कम्माणं कारगो होदि ॥ ९९ ॥

परमात्मानं करोति, आत्मानमपि च परं कुर्वन् सः । अज्ञानमयो जीवः, कर्मणां कारको भवति ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(परं अप्पाणं कुब्बदि) जो पर को आत्मा करता है (य अप्पाणं पि परं करंतो सो) और आत्मा को भी पर करता हुआ (सो जीवो अण्णाणमओ कम्माणं कारगो होदि) वह जीव अज्ञानमयी होता हुआ कर्मों का करने वाला हो जाता है ॥ ९९ ॥

परमप्पाणमकुब्बं, अप्पाणं पि य परं अकुब्बंतो । सो णाणमओ जीवो, कम्माणमकारगो होदि ॥ १०० ॥

परमात्मनमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् । स ज्ञानमयो जीवः, कर्मणामकारको भवति ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ—(परं अप्पाणं अकुब्बं य अप्पाणं पि परं अकुब्बंतो) जो पर आत्मा नहीं करता हुआ और अपनी आत्मा को भी पर नहीं करता हुआ (णाणमओ सो जीवो कम्माणं अकारगो होदि) ज्ञानमय रहता है वह जीव कर्मों का करने वाला नहीं होता है ॥ १०० ॥

तिविहो एसुवओगो, अस्सवियप्पं करेदि कोधोहं । कत्ता तस्सुवओगस्स, होदि सो अत्तभावस्स ॥ १०१ ॥

त्रिविध एष उपयोगः, असद्विकल्पं करोति क्रोधोहं । कर्ता तस्योपयोगस्य, भवति स आत्मभावस्य ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ—(एसु तिविहो उवओगो अहं कोधो अस्सवियप्पं करेदि) यह तीन प्रकार का उपयोग 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा असत्-मिथ्या विकल्प करता है (सो तस्स अत्तभावस्स उवओगस्स कत्ता होदि) वह आत्मा उस अपने भावरूप उपयोग का कर्ता होता है ॥ १०१ ॥

तिविहो एसुवओगो, अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी । कत्ता तस्सुवओगस्स, होदि सो अत्तभावस्स ॥ १०२ ॥

त्रिविध एष उपयोगः, असद्विकल्पं करोति धर्मादिकं । कर्ता तस्योपयोगस्य, भवति स आत्मभावस्य ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ—(एस तिविहो उवओगो धम्मादी अस्सवियप्पं करेदि) यह तीन प्रकार का उपयोग धर्म आदि द्रव्यों में मिथ्या विपरीत विकल्प करता है (सो तस्स अत्तभावस्स उवओगस्स कत्ता होदि) वह जीव उस अपनी आत्मा के उपयोग का कर्त्ता होता रहता है ॥ १०२ ॥

एवं पराणि दब्बाणि, अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ । अप्पाणं अवि य परं, करेदि अण्णाणभावेण ॥ १०३ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि, आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु । आत्मानमपि च परं, करोति अज्ञानभावेन ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ—(एवं मंदबुद्धीओ पराणि दब्बाणि अप्पयं कुणदि) इस प्रकार पूर्वकथितरूप से यह अज्ञानी आत्मा पर द्रव्यों को अपने रूप करता है (य अप्पाणभावेण अप्पाणं अवि परं करेदि) और अज्ञानभाव से अपनी आत्मा को भी पररूप करता है ॥ १०३ ॥

एदेण दु सो कत्ता, आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो । एवं खलु जो जाणदि, सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥ १०४ ॥

एतेन तु स कर्त्तात्मा, निश्चयविद्धिः परिकथितः । एवं खलु यो जानाति, स मुंचति सर्वकर्त्तृत्वं ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थ—(एदेण दु सो आदा णिच्छयविदूहिं कत्ता परिकहिदो) इस पूर्व कथित प्रकार से वह आत्मा निश्चयनय के वेत्ताओं द्वारा सर्वज्ञया गणधर देवादि द्वारा 'कर्त्ता' कहा गया है (जो एवं खलु जाणदि सो सव्वकत्तित्तं मुंचदि) जो इस प्रकार नियम से जानता है वह संपूर्ण कर्त्तापने को छोड़ देता है ॥ १०४ ॥

ववहारेण दु आदा, करेदि घडपडरथाणि दब्बाणि । करणाणिय कम्माणि य, णोकम्माणीह विविहाणि ॥ १०५ ॥

व्यवहारेण त्वात्मा, करोति घटपटरथादि द्रव्याणि । करणानि च कर्माणि च, नो कर्माणीह विविधानि ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारणु दु आदा घडपडरथाणि दब्बाणि करेदि) व्यवहारनय से यह आत्मा घट, बरत, रथ आदि वस्तुओं को करता है, (करणाणि य कम्माणि य विविहाणि इह णोकम्माणि) इन्द्रिय आदि करणों को, कर्मों को और विविध प्रकार के नो कर्मों को भी यहां संसार में करता है ॥ १०५ ॥

जदि सो परदब्बाणिय, करिज्जणियमेण तम्मओ होज्ज । जम्हाण तम्मओ तेण, सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०६ ॥

यदि स परद्रव्याणि च, कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् । यस्मान्न तन्मयस्तेन, स न तेषां भवति कर्त्ता ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ—(जदि सो परदब्बाणि करिज्ज य णियमेण तम्मओ होज्ज) यदि यह आत्मा परद्रव्यों को करे तो नियम से उन—परद्रव्यरूप ही हो जावेगा (जम्हा तम्मओ ण होज्ज तेण सो तेसिं कत्ता ण हवदि) जिस हेतु से यह तद्रूप—परद्रव्यरूप नहीं है इसी हेतु से यह उन परद्रव्यों का कर्त्ता नहीं है ॥ १०६ ॥

जीवो ण करेदि घडं, णेव पडं णेव सेसगे दब्बे । जोगुवओगा उप्पादगा, य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०७ ॥

जीवो न करोति घटं, नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि । योगोपयोगावुत्पादकौ, च तयोर्भवति कर्त्ता ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थ—(जीवो ण घडं णेव पडं णेव सेसगे दब्बे करेदि) जीव न घट को करता है, न पट को और न शेष—अन्य द्रव्यों को ही करता है (य जोगुवओगा उप्पादगा) ये योग और उपयोग ही उनको उत्पन्न करने वाले हैं (सो तेसिं कत्ता हवदि) और यह जीव उन-योग-उपयोग का कर्त्ता है ॥ १०७ ॥

जे पुग्गलदव्वाणं, परिणामा होति णाणवराणां । ण करेदिनाणि अन्ना, जे जाणदि सो हवदि णाणी ॥ १०८ ॥

ये पुद्गलद्रव्याणां, परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि । न करोति तान्यात्मा, यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—(जे णाणआवरणा पुग्गलदव्वाणं परिणामा होति) जो ज्ञानावरण आदि हैं, वे पुद्गल द्रव्यों के परिणाम हैं (ताणि आदा ण करेदि) ठमको आत्मा नहीं करता है (जो जाणदि सो णाणी हवदि) ऐसा जो जानता है वही ज्ञानी होता है ॥ १०८ ॥

अं भावं सुहमसुहं, करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता । तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०९ ॥

यं भावं शुभमशुभं, करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता । तत्तस्य भवति कर्म, स तस्य तु वेदक आत्मा ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थ—(आदा अं सुहं असुहं भावं करेदि स खलु तस्स कत्ता) आत्मा जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है वह निश्चित ही उसी भाव का कर्ता होता है (तस्स तं कम्मं होदि दु तस्स सो अप्पा वेदगो) उस आत्मा का वही कर्म होता है और उस कर्म का वही आत्मा वेदक-अनुभव करने वाला होता है ॥ १०९ ॥

जो जहि गुणो दव्वे, सो अण्णहि दु ण संकमदि दव्वे । सो अण्णमसंकंतो, कहं तं परिणामए दव्वं ॥ ११० ॥

यो यस्मिन् गुणो द्रव्ये, सोऽन्यस्मिन् न संक्रामति द्रव्ये । सोऽन्यदसंकृतः, कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ॥ ११० ॥

अन्वयार्थ—(जो गुणो जहि दव्वे सो अण्णहि दव्वे दु ण संकमदि) जो गुण जिस द्रव्य में है वह गुण अन्य किसी द्रव्य में तो संक्रमण नहीं करता है (सो अण्णं असंकंतो तं दव्वं कहं परिणामए) वह गुण अन्य में संक्रमण नहीं करता हुआ—अन्य द्रव्य में नहीं मिलता हुआ उस अन्यद्रव्य को कैसे परिणाम सकता है ? अर्थात् नहीं परिणाम सकता ॥ ११० ॥

दव्वगुणस्स य आदा, ण कुणदि पुग्गलमयहि कम्महि । तं उभयमकुव्वंतो, तहि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १११ ॥

द्रव्यगुणस्य च आत्मा, न करोति पुद्गलमये कर्मणि । तदुभयमकुर्वन्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ—(आदा पुग्गलमयहि कम्महि य दव्वगुणस्स ण कुणदि) आत्मा पुद्गलमयी कर्मों में उनके द्रव्य और गुणों को नहीं करता है (तहि तं उभयं अकुव्वंतो सो तस्स कत्ता कहं) उसमें उन दोनों को नहीं करते हुये वह आत्मा उनका कर्ता कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥ १११ ॥

जीवहि हेदुभूदे, बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं । जीवेण कदं कम्मं, भण्णदि उवधारमत्तेण ॥ ११२ ॥

जीवे हेतुभूते, बंधस्य तु दृष्ट्या परिणामं । जीवेन कृतं कर्म, भण्यते उपचारमात्रेण ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवहि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं) जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबंध के परिणाम को देखकर (जीवेण कदं कम्मं उवधारमत्तेण भण्णदि) जीव ने कर्म किये हैं ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है ॥ ११२ ॥

जोधेहिं कदे जुद्धे, राएण कदंति अंपदे लोगो । तह व्यवहारेण कदं, णाणावरणादि जीवेण ॥ ११३ ॥

योधैः कृते युद्धे, राजाकृतमिति जल्पते लोकः । तथा व्यवहारेण कृतं, ज्ञानावरणादि जीवेन ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ—(जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति लोगो अंपदे) योद्धाओं के द्वारा युद्ध के किये जाने

पर 'राजा ने युद्ध किया है' ऐसा लोग कहते हैं (तह जीवेण कदं णाणावरणादि व्यवहारेण) उसी प्रकार से जीव के द्वारा ये ज्ञानावरण आदि कर्म किये गये हैं ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है ॥ ११३ ॥

उप्पादेदि करेदि य, बंधदि परिणामएदि गिहणदि य । आदा पुग्गलदब्बं, व्यवहारणयस्स वत्तव्वं ॥ ११४ ॥

उत्पादयति करोति च, बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च । आत्मा पुद्गलद्रव्यं, व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ—(आदा पुग्गलदब्ब उप्पादेदि य करेदि परिणामएदि य गिहणदि) यह आत्मा पुद्गलद्रव्यकर्म को उत्पन्न करता है, करता है—बनाता है, बांधता है, परिणमन करता है और ग्रहण करता है (व्यवहारणयस्स वत्तव्वं) यह सब व्यवहारनय का कथन है ॥ ११४ ॥

जह राया व्यवहारा, दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो । तह जीवो व्यवहारा, दब्बगुणुप्पादगो भणिदो ॥ ११५ ॥

यथा राजा व्यवहारद्वारागुणोत्पादक इत्यादिपितः । तथा जीवो व्यवहाराद्, द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थ—(जह राया दोसगुणुप्पादगोत्ति व्यवहारा आलविदो) जैसे राजा दोष और गुणों को उत्पन्न करने वाला है ऐसा व्यवहार से कहा जाता है (तह जीवो दब्बगुणुप्पादगो व्यवहारा भणिदो) वैसे ही यह जीव भी पुद्गल द्रव्य और गुणों को उत्पन्न करने वाला है ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है ॥ ११५ ॥

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो । मिच्छन्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥ ११६ ॥

तेसिं पुणोवि य इमो, भणिदो भेदो दु तेरस-वियप्पो । मिच्छादिद्धीआदी, जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥ ११७ ॥

एदे अचेदणा खलु, पुग्गलकम्मदयसंभवा जह्वा । ते यदि करंति कम्मं, णवि तेसिं वेदगो आदा ॥ ११८ ॥

गुण सण्णिदा दु एदे, कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्वा । तम्हा जीवो कत्ता, गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११९ ॥ चतुष्कं ॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु, चत्वारो भण्यन्ते बंधकत्तारः । मिथ्यात्वमविरमणं, कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ ११६ ॥

तेषां पुनरोपचार्यं, भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः । मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सुयोगिनश्चरमांतम् ॥ ११७ ॥

एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् । ते यदि कुर्वन्ति कर्म, नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ ११८ ॥

गुणसंज्ञितास्तु एते, कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् । तस्माज्जीवो कर्ता, गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ—(सामण्णपच्चया खलु चउरो बंधकत्तारो भण्णंति) सामान्य प्रत्यय—सामान्य से आसन्न नियम से चार ही बंध के कर्ता—करने वाले हैं (मिच्छन्तं अविरमणं य कसायजोगा बोद्धव्वा) ये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं । (य तेसिं पुणोवि इमो भेदो दु तेरसवियप्पो भणिदो) और पुनः भी उनके ये भेद तेरह प्रकार के हैं (मिच्छादिद्धी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं) मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली के अंत तक ये तेरह गुणस्थान रूप हैं (एदे खलु अचेदणा जह्वा पुग्गलकम्मसंभवा) ये सब नियम से अचेतन हैं क्योंकि ये पुद्गलकर्मों के उदय से होते हैं (ते यदि कम्मं करंति आदा तेसिं वेदगो णवि) ये गुणस्थान यदि कर्मों को करते हैं तो उनका वेदक—अनुभव करने वाला आत्मा नहीं हो सकता है (गुणसण्णिदा दु एदे पच्चया जह्वा कम्मं कुव्वंति) गुणस्थान नाम वाले ये प्रत्यय—कारण जिस हेतु से कर्मों को करते हैं (तम्हा जीवो कत्ता य गुणा कम्माणि कुव्वंति) उसी हेतु से यह जीव कर्मों का अकर्ता है और ये गुणस्थान ही कर्मों को करते हैं ऐसा गणना ॥ ११६ अ ११७ ॥

जह जीवस्स अणणुव—ओगो कोधो वि तह जदि अणणो । जीवस्साजीवस्स य, एवमणणत्तमावण्णं ॥ १२० ॥

यथा जीवस्यानन्य, उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः । जीवस्याजीवस्य, चैवमन्यत्वमापन्नम् ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ—(जह जीवस्स अणणुवओगो तह जदि कोधो वि अणणो) जैसे जीव का उपयोग अभिन्न है वैसे ही यदि जीव से क्रोध भी अभिन्न हो जावे (जीवस्स य अजीवस्स एवं अणणत्तं आवण्णं) तो जीव और अजीव में इस प्रकार एक अभिन्नपना—एकपना प्राप्त हो जावेगा ॥ १२० ॥

एवमिह जो दु जीवो, सो चेव दु णियमदो तहाजीवो । अयमेयत्ते दोसो, पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ १२१ ॥

एवमिव यस्तु जीवः, स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः । अयमेकत्वे दोषः, प्रत्ययनोर्कर्मकर्षणं ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ—(एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तह अजीवो) और ऐसा होने पर तो इस संसार में जो जीव है वही नियम से वैसे ही अजीव हो जावेगा (एयत्ते अयं दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं) और दोनों के एक हो जाने पर यह दोष प्राप्त होगा, ऐसे ही प्रत्यय—कारण, नोर्कर्म और कर्म इनमें भी एकत्व का दोष आ जावेगा ॥ १२१ ॥

अहपुण अण्णो कोहो, अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा । जह कोहो तह पच्चय—कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ १२२ ॥

अथ पुनः अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता । यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः, कर्म नोर्कर्माप्यन्यत् ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ—(अह पुण कोहो अण्णो अण्णुवओगप्पगो चेदा हवदि) अथवा पुनः क्रोध अन्य है और उपयोगमयी आत्मा अन्य है तो (जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्मं अवि अण्णं) जैसे क्रोध अन्य है वैसे ही प्रत्यय, कर्म और नोर्कर्म भी अन्य हैं ऐसा समझना ॥ १२२ ॥

जीवे ण सयं बद्धं, ण सयं परिणमदि कम्मभावेण । जदि पुग्गलदब्बमिणं, अप्परिणामी तदा होदि ॥ १२३ ॥

कम्मइयवग्गणासु य, अपरिणमंतीसु कम्मभावेण । संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२४ ॥

जीवो परिणामयदे, पुग्गलदब्बाणि कम्मभावेण । ते समयपरिणमंतं, कहं तु परिणामयदि णाणी ॥ १२५ ॥ त्रिकलम् ॥

जीवे न स्वयं बद्धं, न स्वयं परिणमते कर्मभावेन । यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामी तदा भवति ॥ १२३ ॥

कार्मणवर्गणासु चा—परिणममानासु कर्मभावेन । संसारस्याभावः प्रसज्जति सांख्यसमयो वा ॥ १२४ ॥

जीवः परिणामयति, पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन । तानि स्वयमपरिणममानानि कथं तु परिणामयति ज्ञानी ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ—(जादि इणं पुग्गलदब्बं जीवे ण सयं बद्धं कम्मभावेण ण सयं परिणमदि) यदि यह पुद्गलद्रव्य जीव में न स्वयं बंधा हुआ है और न कर्मभाव से स्वयं परिणमन ही करता है । (तदा अप्परिणामी होदि) तब तो वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी हो जावेगा (य कम्मइयवग्गणासु कम्मभावेण अपरिणमंतीसु संसारस्स अभावो वा संखसमओ पसज्जदे) पुनः कार्मणवर्गणाओं के कर्मरूप से परिणमन नहीं करने पर तो संसार का अभाव हो जावेगा या सांख्यवादी का सिद्धांत—नित्य एकांत आ जावेगा (जीवो पुग्गलदब्बाणि कम्मभावेण परिणामयदे) यदि कहो यह जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मरूप से परिणमन करा देता है (ते सयं अपरिणमंतं तु णाणी कहं परिणामयदि) तो पुनः स्वयं परिणमन न करते हुये को ज्ञानी आत्मा

कैसे परिणमन कराता है ? अर्थात् स्वयं अपरिणामी पुद्गल को ज्ञानी परिणमन नहीं करा सकती है, चूँकि उसमें परिणमन की शक्ति नहीं है ॥ १२३-१२४-१२५ ॥

ण सयं बद्धो कम्मे, ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं । जदि एस तुज्झ जीवो, अप्परिणामी तदा होदि ॥ १२६ ॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि, न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः । यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ—(कम्मे ण सयंबद्धो कोहमादीहिं ण सयं परिणमदि) जीव कर्मों से न स्वयं बंधा है और न क्रोधादि भावों से परिणमन ही करता है (जदि एस तुज्झ जीवो तदा अप्परिणामी होदि) यदि तुम्हारे मत में जीव ऐसा है तब तो वह अपरिणामी हो जावेगा ॥ १२६ ॥

अपरिणमते हि सयं, जीवे कोहादिएहिं भावेहिं । संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२७ ॥

अपरिणममाने हि स्वयं, जीवे क्रोधादिभिः भावैः । संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थ—(कोहादिएहिं भावेहिं जीवे सयं अपरिणमते हि) क्रोधादि भावों के द्वारा जीव के स्वयं परिणमन न करने पर तो (संसारस्स अभावो वा संखसमओ पसज्जदे) संसार का ही अभाव हो जावेगा अथवा सांख्य का सिद्धान्त—नित्यैकांतमत का प्रसंग आ जावेगा ॥ १२७ ॥

पुग्गलकम्मं कोहो, जीवं परिणामएदि कोहत्तं । तं सयमपरिणमत्तं, कह परिणामएदि कोहो ॥ १२८ ॥

पुद्गलकर्म क्रोधो, जीवं परिणामयति क्रोधत्वं । तं स्वयमपरिणममानं, कथं परिणामयति क्रोधत्वं ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थ—(पुग्गलकम्मं कोहो जीवं कोहत्तं परिणामएदि) यदि पुद्गलकर्म—रूप क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो (सयं अपरिणमत्तं तं कोहो कह परिणामएदि) स्वयं आप परिणमन न करते हुये उस जीव को क्रोध कैसे परिणमा सकता है ॥ १२८ ॥

अहसयमप्यापरिणमदि, कोहत्तभावेण एस दे बुद्धी । कोहो परिणामयदे, जीवस्स कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२९ ॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते, क्रोधभावेन एषा तव बुद्धिः । क्रोधः परिणामयति, जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ—(अह एस दे बुद्धी अप्या सयं कोहत्तभावेण परिणमदि) अथवा तुम्हारी ऐसी बुद्धि है कि आत्मा अपने आप क्रोध भाव से परिणमन करता है तो (कोहो जीवस्स कोहत्तं परिणामयदे इदि मिच्छा) क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है यह कथन मिथ्या हो जावेगा ॥ १२९ ॥

कोहुवजुत्तो कोहो, पाणुवजुत्तो य माणमेवादा । माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १३० ॥

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो, मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा । मायोपयुक्तो माया, लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥ १३० ॥

अन्वयार्थ—(आदा कोहुवजुत्तो कोहो य माणुवजुत्तो माणमेवा) अतः आत्मा क्रोध के उपयोग से सहित हुआ क्रोध है और मान के उपयोग से सहित हुआ जीव मान ही है (माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो लोहो हवदि) माया के उपयोग से सहित जीव माया है और लोभ के उपयोग से सहित हुआ जीव लोभ ही है ॥ १३० ॥

जो संगं तु मुइत्ता, जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं । तं णिस्संगं साहुं, परमद्विवियाणया वित्ति ॥ १३१ ॥

यः संगं तु मुक्त्वा, जानाति उपयोगमात्मकं शुद्धं । तं निस्संगं साधुं, परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ—(जो संगं तु मुइत्ता उवओगं अप्पगं सुद्धं जाणदि) जो परिग्रह को छोड़कर उपयोगमय आत्मा को शुद्ध जानता है (परमद्विव्याणया तं णिस्संगं साहुं विति) परमार्थ के ज्ञाता-गणधर देव आदि उनको निष्परिग्रही साधु कहते हैं ॥ १३१ ॥

जो मोहं तु मुइत्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं । तं जितमोहं साहुं, परमद्विव्याणया विति ॥ १३२ ॥

यो मोहं तु मुक्त्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानम् । तं जितमोहं साधु, परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ—(जो मोहं तु मुइत्ता आदं णाण सहावाधियं मुणदि) जो मोह को छोड़कर आत्मा को ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण मानता है (परमद्विव्याणया तं जितमोहं साहुं विति) परमार्थ के ज्ञाता—महामुनि उनको जितमोह साधु कहते हैं ॥ १३२ ॥

जो धम्मं तु मुइत्ता, जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं । तं धम्मसंगमुक्कं, परमद्विव्याणया विति ॥ १३३ ॥

यः धर्मं तु मुक्त्वा, जानाति उपयोगात्मकं शुद्धं । तं धर्मसंगमुक्तं, परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थ—(जो धम्मं तु मुइत्ता उवओगं अप्पगं सुद्धं जाणदि) जो धर्म को छोड़कर उपयोगस्वरूप आत्मा को शुद्ध जानते हैं (परमद्विव्याणया तं धम्मसंगमुक्कं विति) परमार्थ के ज्ञातागणधर देव आदि उनको धर्म के परिग्रह से मुक्त जानते हैं या कहते हैं ॥ १३३ ॥

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स । णाणिस्स दु णाणमओ, अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १३४ ॥

यं करोति भावमात्मा, कर्ता स भवति तस्य भावस्य । ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थ—(आदा जं भावं कुणदि सो तस्स भावस्स कत्ता होदि) आत्मा जिस भाव को करता है वह उस भाव का ही कर्ता होता है (णाणिस्स दु णाणमओ अणाणिस्स अण्णाणमओ) ज्ञानी का तो वह भाव ज्ञानमय है और अज्ञानी का अज्ञानमय है ॥ १३४ ॥

अण्णाणमओ भावो, अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि । णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणदि तह्हा दु कम्माणि ॥ १३५ ॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि । ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु, न करोति तस्मात् कर्माणि ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ—(अणाणिणो अण्णाणमओ भावो तेण कम्माणि कुणदि) अज्ञानी का जो अज्ञानमय भाव है जीव उससे कर्मों को करता है और (णाणिस्स दु णाणमओ तह्हा दु कम्माणि ण कुणदि) ज्ञानी का ज्ञानमय भाव है वह उससे कर्मों को नहीं करता है ॥ १३५ ॥

णाणमया भावाओ, णाणमओ चेव जायदे भावो । जह्हा तह्हा णाणिस्स, सव्वे भावा दु णाणमया ॥ १३६ ॥

ज्ञानमयाद्भावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः । यस्मान्माज्ञानिनः, सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ—(जह्हा णाणमओ भावाओ चेव णाणमओ भावो जायदे) जिस हेतु से ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं (तह्हा णाणिस्स सव्वे भावा णाणमया दु) उसी हेतु से ज्ञानी जीव—महामुनि के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं ॥ १३६ ॥

अण्णाणमया भावा, अण्णाणो चेव जायदे भावो । तह्हा सव्वे भावा, अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १३७ ॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः । तस्मात्सर्वे भावाः, अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ—(अण्णाणमया भावा चेव अण्णाणो भावो जायते) अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही होते हैं (तथा अण्णाणस्स सब्बे भावा अण्णाणमया) इसलिये अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमयी ही हैं ॥ १३७ ॥

कणमया भावादो, जायंते कुंडलादयो भावा । अयमययाभावादो, जह जायंते तु कडयादी ॥ १३८ ॥

अण्णाणमया भावा, अण्णाणिणो बहुविहा वि जायंते । णाणिस्स दु णाणमया, सब्बे भावा तथा होति ॥ १३९ ॥ युग्गम् ॥

कनकमयाद्भावाज्—जायंते कुंडलादयो भावाः । अयमययाद्भावाद—यथा जायंते तु कटकादयः ॥ १३८ ॥

अज्ञानमयाद्भावा—दजानिनो बहुविधा अपि जायंते । ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः, सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थ—(कणमया भावादो कुंडलादयो भावा जायंते) सुवर्णमय भाव से वस्तु से कुंडल आदिक भाव—पदार्थ होते हैं (जह अयमययाभावादो तु कडयादी जायते) और जैसे लोहमयी भाववस्तु से लोहमयी कटक आदि होते हैं (तथा अण्णाणिणो बहुविहा वि अण्णाणमया भावा जायंते) वैसे ही अज्ञानी जीव के बहु प्रकार के भी अज्ञानमय भाव होते हैं (दु णाणिस्स सब्बे भावा णाणमया होति) और ज्ञानी—महामुनि के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं ॥ १३८-१३९ ॥

मिच्छतस्स दु उदओ, जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं । असंजमस्स दु उदओ, जं जीवाणं अविरदत्तं ॥ १४० ॥

अण्णाणस्स दु उदओ, जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी । जो दु कसाउवओगो, जो जीवाणं कसाउदओ ॥ १४१ ॥

तं जाण जोग उदअं, जो जीवाणं तु चिदुउच्छाओ । सोहणमसोहणं वा, कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १४२ ॥

एदेसु हेदुभूदेसु, कम्मइयवग्गणागयं जं तु । परिणमदे अट्ठविहं, णाणावरणादिभावेहिं ॥ १४३ ॥

तं खलु जीवणिबद्धं, कम्मइयवग्गणागयं जइया । तइया दु होदि हेदू, जीवो परिणामभावाणं ॥ १४४ ॥ पंचकम् ॥

मिथ्यात्वस्य तूदयो, यज्जीवानामतत्त्वश्रद्धानम् । असंयमस्य तूदयो, यज्जीवानामविरतत्वम् ॥ १४० ॥

अज्ञानस्य तूदयो, या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः । यस्तु कषायोपयोगः, स जीवानां कषायोदयः ॥ १४१ ॥

तं जानीहि योगोदयं, यो जीवानां तुषेष्टोत्साहः । शोभनोऽशोभनो वा, कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥ १४२ ॥

एतेषु हेतुभूतेषु, कर्मणवर्गणागतं यत्तु । परिणमदेऽष्टविधं, ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १४३ ॥

तत्खलु जीवनिबद्धं, कर्मणवर्गणागतं यदा । तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥ १४४ ॥ कुलकम् ॥

अन्वयार्थ—(जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं दु मिच्छतस्स उदओ) जो जीवों के अतत्त्व का श्रद्धान है वह मिथ्यात्व का उदय है (जं जीवाणं अविरदत्तं दु असंजमस्स उदओ) जो जीवों के अविरतिभाव है वह असंयम का उदय है (जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी दु अण्णाणस्स उदओ) जो जीवों के अतत्त्व की उपलब्धि है वह अज्ञान का उदय है (जो दु कसाउवओगो) जो कषाय का—कलुषता का उपयोग है (सो जीवाणं कसाउदओ) वह जीवों के कषाय का उदय है (जो जीवाणं सोहणमसोहणं वा तु चिदुउच्छाओ) जो जीवों के शुभ या अशुभ रूप मन वचन काय की उत्साह रूप चेष्टा विशेष होती है (विरदिभावो वा कायव्वो) अथवा विरतिभाव है (तं जेणउदअं जाण) तुम उसे योग का उदय जानो (एदेसु हेदुभूदेसु जंतु कम्मइयवग्गणागयं णाणावरणादिभावेहिं अट्ठविहं परिणमदे) इनके हेतुभूत होने पर जो कर्मण वर्गणा रूप से

प्राप्त हुआ है वह ज्ञानावरण आदि भावों से आठ प्रकार से परिणमन कर जाता है (तं खलु जइया कम्मइयवग्गणागयं जीवणिबद्धं) वह निश्चय से जब कर्मणवर्गणारूप से प्राप्त हुआ कर्मद्रव्य जीव से संबंध करता है—अंधतः है (अइया दु णिक्खामवाधायं हेदू जीने होदि) तब वह जीव उन अज्ञान राग द्वेष आदि भावों का हेतु हो जाता है ॥ १४० से १४४ ॥

जीवस्स दु कम्मेण य, सह परिणामा दु होति रागादी । एवं जीवो कम्म, च दोवि रागादिमावण्णा ॥ १४५ ॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवति रागादयः । एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थ—(जीवस्स दु कम्मेण सह य रागादी परिणामा दु होति) जीव के कर्मों के साथ ही तो रागादि परिणाम होते हैं (एवं जीवो च कम्मं दोवि रागादिमावण्णा) इस प्रकार से तो जीव और कर्म ये दोनों भी रागादि भावों को प्राप्त हो जावेंगे ॥ १४५ ॥

एकस्स दु परिणामो, जायदि जीवस्स रागमादीहि । ता कम्मोदय हेदूहि, विणा जीवस्स परिणामो ॥ १४६ ॥

एकस्स दु परिणामो, पुग्गलद्वस्स कम्मभावेण । ता जीवभावहेदूहि, विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४७ ॥

एकस्य तु परिणामो, जायते जीवस्य रागादिभिः । तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना, जीवस्य परिणामः ॥ १४६ ॥

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन । तज्जीवभाव हेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ—(रागमादीहि जीवस्स एकस्स दु परिणामो जायदि) रागादि भावों से एक जीव का परिणाम उत्पन्न होता है (ता कम्मोदय हेदूहि विणा जीवस्स परिणामो) वह कर्मोदय के निमित्त बिना एक जीव का ही परिणाम है । (एकस्स दु पुग्गलद्वस्स कम्मभावेण परिणामो) तथा एक पुद्गलद्रव्य का कर्मभाव से परिणाम होता है (ता जीव हेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो) वह जीव भावों के हेतु बिना ही कर्म का परिणाम है ॥ १४६-१४७ ॥

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्टं चेदि व्यवहारणयभणितं । सुद्धणयस्य दु जीवे, अबद्ध-पुट्टं हवइ कम्मं ॥ १४८ ॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारणयभणितं । शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ—(जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि व्यवहारणयभणितं) जीव में कर्म बंधे हैं और स्पर्शित हैं यह व्यवहारणय के द्वारा कहा गया है (सुद्धणयस्स तु जीवे अबद्धपुट्टं कम्मं हवदि) शुद्धनय की अपेक्षा से तो जीव में कर्म न बंधे हैं न स्पर्शित ही हैं ॥ १४८ ॥

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं । पक्खातिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४९ ॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं । पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते सः स समयसारः ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थ—(जीवे कम्मं बद्धं अबद्धं एवं तु णयपक्खं जाण) जीव में कर्मबंधे हुये हैं या नहीं बंधे हुये हैं इस प्रकार से दोनों ही कथन को तुम नयों का पक्ष समझो । (पुण जो पक्खातिक्कंतो सो समयसारो भण्णदि) पुनः जो दोनों पक्षों से रहित हो चुके हैं उन्हें समयसार कहा गया है ॥ १४९ ॥

दोणहविणयाण भणियं, जाणइणवरितु समयपडिबद्धो । णदुणयपक्खं गिण्हदि, किंचिविणयपक्खपरिहीणो ॥ १५० ॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः । न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥ १५० ॥

अन्वयार्थ—(समयपडिबद्धो दोण्हवि णयाण भणियं णवरि जाणदि तु) समय—शुद्धात्मा में लीन हुये पुरुष दोनों भी नयों के कथन को केवल जानते हैं किंतु (किंचिवि णयपक्खं दु णं गिण्हदि णयपक्खवरिहीणो) किसी भी नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि वे नयों के पक्ष से दूर हो चुके हैं ॥ १५० ॥

सम्महंसणणाणं एदं, लहदित्ति णवरि ववदेसं । सव्वणयपक्खरहिदो, भणितो जो सो समयसारो ॥ १५१ ॥

सम्यादर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशः । सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थ—(सम्महंसणणाणं णवरि एदं ववदेसं लहदित्ति) ये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही केवल—मात्र नाम प्राप्त करते हैं (जो सव्वणयपक्खरहिदो सो समयसारो भणितो) जो संपूर्ण नयों के पक्ष से रहित हैं वे 'समयसार' कहलाते हैं ॥ १५१ ॥

पुण्यपाप अधिकार

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं । किह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ॥ १५२ ॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीत सुशीलं । कथं तद्वति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ—(असुहं कम्मं कुसीलं सुहकम्मं चावि सुसीलं जाणह) अशुभ कर्म कुशील-कुत्सित है और शुभ कर्म सुशील-अच्छ है ऐसा तुम जानो (जं संसारं पवेसेदि तं सुसीलं कह होदि) जो कर्म संसार में प्रवेश कराता है—रोके रखता है वह सुशील—अच्छ कैसे हो सकता है अर्थात् शुभकर्म भी संसार में रखे रहने से अच्छा नहीं है ॥ १५२ ॥

सौवणिणयं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं । बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १५३ ॥

सौवर्णिकमपि निगलं, बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं । बध्नात्येवं जीवं, शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ—(जह कालायसं पि णियलं पुरिसं बंधदि सौवणिणयं पि) जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है वैसे ही सोने की बेड़ी पुरुष को बांधती है (एवं जीवं सुहं वा असुहं कदं कम्मं बंधदि) इस प्रकार से जीव किये हुये शुभ या अशुभ कर्मों से बंध जाता है ॥ १५३ ॥

तह्मा दु कुसीलेहि य, रायं मा कुणह मा व संसर्गं । साधीणो हि विणासो, कुसीलसंसर्गरायेण ॥ १५४ ॥

तस्मान्नु कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं । स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरायेण ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थ—(तह्मा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसर्गं) इसलिये तुम कुशील—कुत्सित कर्मों के साथ राग मत करो और उनका संसर्ग भी मत करो (हि कुसीलसंसर्गरायेण साधीणो विणासो) क्योंकि कुत्सित कर्मों के या कुत्सितजनों के संसर्ग से और उनके प्रति अनुराग से स्वाधीनता का विनाश हो जाता है ॥ १५४ ॥

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता । वज्जेदि तेण समयं, संसर्गं रायकरणं च ॥ १५५ ॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय । वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थ—(जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता) जैसे कोई पुरुष कुत्सित स्वभाव

वाले पुरुष को जानकर (तेज समयं संसर्गं च रायकरणं वज्जेति) उसके साथ संसर्ग और उससे अनुराग करना छोड़ देते हैं ॥ १५५ ॥

एमेव कम्मपयडी, सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं । वज्जंति परिहरंति य, तस्संसर्गं सहावरदा ॥ १५६ ॥

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं हि कुत्सितं ज्ञात्वा, वर्जयन्ति परिहरंति च, तत्संसर्गं स्वभाववताः ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ—(एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं) इसी प्रकार कर्म प्रकृतियों के शील-स्वभाव को कुत्सित जानकर (सहावरदा तस्संसर्गं य वज्जंति परिहरंति) स्वभाव में लीन हुये—महामुनि उनकी छोड़ देते हैं और उनके साथ संसर्ग को भी छोड़ देते हैं ॥ १५६ ॥

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो । एसो जिणोवदेसो, तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५७ ॥

रत्तो बध्नाति कर्म मुचयते जीवो विरागसम्पन्नः । एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मारज्यस्य ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थ—(रत्तो कम्मं बंधदि विरागसंपण्णो जीवो मुंचदि) रागी जीव कर्मों से बंधता है और वैराग्य से सहित जीव मुक्त हो जाता है (एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज) यही जिनेंद्र देव का उपदेश है, इसलिये आप कर्मों में अनुरक्त मत होवो ॥ १५७ ॥

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी । तह्मि द्विदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १५८ ॥

परमार्थः खलु समयः, शुद्धो च केवली मुनिर्जनिः । तस्मिन् स्थिताः स्वभावं, मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ—(जो सुद्धो केवली मुणी णाणी खलु परमट्ठो समओ) जो निश्चित ही शुद्ध हैं, केवली हैं, मुनी हैं और ज्ञानी हैं ऐसे वे ही परमार्थ समय-शुद्ध जीव पदार्थ हैं (तह्मि सहावे द्विदा मुणिणो णिव्वाणं पावंति) उस शुद्ध स्वभाव में स्थित हुये महामुनि ही निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ॥ १५८ ॥

परमट्ठमि य अठिदो, जो कुणदि तवं वदं च धारयदि । तं सव्वं बालतवं, बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५९ ॥

परमार्थे चास्थितः यः, करोति तपो व्रतं च धारयति । तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विदंति सर्वज्ञाः ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थ—(जो परमट्ठमि य अठिदो तवं कुणदि च वदं धारयदि) जो परमार्थ में स्थित नहीं हैं वे तपश्चरण करते हैं और व्रतों को भी धारण करते हैं (तं सव्वं बालतवं बालवदं सव्वण्हू विंति) वे सर्व—क्रियायें बालतप हैं और बालव्रत हैं ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं ॥ १५९ ॥

वदणिचमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता । परमट्ठबाहिरा जेण, तेण ते हेंति अण्णाणी ॥ १६० ॥

व्रतनिग्रमान् धारयन्तः, शीलानि तथा तपश्च कुर्वाणाः । परमार्थबाह्या येन, तेन ते भवन्त्यज्ञानिनः ॥ १६० ॥

अन्वयार्थ—(वदणिचमाणि धरंता च तहा सीलाणि तवं कुव्वंता) व्रत नियमों को धारण करते हुये उसी प्रकार शील और तपश्चरण को करते हुये भी (जेण परमट्ठबाहिरा ते तेण अण्णाणी हेंति) जिस हेतु से वे परमार्थ से बाह्य हैं उसी हेतु से वे अज्ञानी हैं ॥ १६० ॥

परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति । संसारगमणहेतुं, विमोक्खहेतुं अज्जाणंता ॥ १६१ ॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छन्ति । संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमज्ञानतः ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ—(जे परमद्वबाहिरा ते) जो परमार्थ से बहिर्भूत हैं वे (संसारगमनहेतुं विमोक्षहेतुं अजाणता अण्णाणेण पुण्णं इच्छन्ति) संसार परिभ्रमण के कारण को और मोक्ष के कारणों को न जानते हुये अज्ञान से पुण्य की इच्छा करते हैं ॥ १६१ ॥

जीवादी-सद्वहणं, सम्पत्तं तेसिमधिगमो णाणं । रागादि-परिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १६२ ॥

जीवादिश्रद्धानं, सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम् । रागादी-परिहरणं, चरणं एष तु मोक्षपथः ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवादी सद्वहणं सम्पत्तं तेसि अधिगमो णाणे) जीवादि पदार्थों का श्रद्धानं करना सम्यक्त्व है, उन्हीं—जीवादि पदार्थों का जानना ज्ञान है और (रागादिपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो) रागादि भावों का परिहार करना चारित्र है, यही—इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है ॥ १६२ ॥

पोत्तूण णिच्छयदुं, व्यवहारे ण विदुसा पवट्टन्ति । परमदुमस्सिदाण दु, जदीण कम्मक्खओ होदि ॥ १६३ ॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं, व्यवहारे न विदुषा प्रवर्तते । परमार्थमाश्रितानां तु, यतोनां कर्मक्षया भवति ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ—(णिच्छयदुं पोत्तूणं विदुसा व्यवहारे ण पवट्टन्ति) निश्चयनय के विषय को छोड़कर विद्वान् जन व्यवहार के विषय में प्रवृत्ति नहीं करते हैं (परमदुमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि) परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है ॥ १६३ ॥

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो । मिच्छन्तमलोच्छण्णं, तह सम्पत्तं खु णादव्वं ॥ १६४ ॥

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो । अण्णाणमलोच्छण्णं, तह णाणं होदि णादव्वं ॥ १६५ ॥

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो । तह दु कसायाच्छण्णं, चारित्तं होदि णादव्वं ॥ १६६ ॥ त्रिकलम् ॥

वत्सस्य श्वेतभावो, यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः । मिथ्यात्वमलावच्छन्नं, तथा च सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ॥ १६४ ॥

वत्सस्य श्वेतभावो, यथा नश्यति मल विमेलनाच्छन्नः । अज्ञानमलावच्छन्नं, तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ॥ १६५ ॥

वत्सस्य श्वेतभावो, यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः । तथा तु कषायोच्छन्नं, चारित्रं भवति ज्ञातव्यं ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थ—(वत्थस्स सेदभावो जह मलविमेलणाच्छण्णो णासेदि) वस्त्र की सफेदी जैसे मैल के संबंध से ढक जाती है (तह सम्पत्तं खु मिच्छन्तमलोच्छण्णं णादव्वं) वैसे ही सम्यक्त्व भी मिथ्यात्वरूपी मैल से ढक जाता है ऐसा जानना चाहिये (जह वत्थस्स सेदभावो मलविमेलणाच्छण्णो णासेदि) जैसे वस्त्र का श्वेतपना मल के संबंध से ढक जाता है (तह णाणं अण्णाणमलोच्छण्णं होदि णादव्वं) वैसे ही ज्ञान भी अज्ञान रूपी मैल से ढक जाता है (जह वत्थस्स सेदभावो मलविमेलणाच्छण्णो णासेदि) जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के मिलने से ढक जाता है (तह चारित्रं दु कसायाच्छण्णं होदि णादव्वं) वैसे ही चारित्र भी कषायों से आच्छन्न—ढक जाता है ॥ १६४-१६५-१६६ ॥

सो सव्वणाणदरसी, कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो । संसारसमावण्णो, णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥ १६७ ॥

स सर्वज्ञानदर्शी, कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः । संसारसमापन्नो, नापि जानाति सर्वतः सर्वं ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थ—(णियेण कम्मरयेण सो सव्वणाणदरसी अवच्छण्णो) अपने द्वारा संचित कर्मरज के द्वारा

वह सर्वज्ञानी—सर्वदृष्टा—आत्मा ढका हुआ (संसारसमावणो) संसार को प्राप्त हो रहा है—संसारी हो रहा है (सर्वं सन्वदो णवि जाणदि) अतः सर्व-लोक को सर्व तरफ से पूर्णरूप से नहीं जानता है ॥ १६७ ॥

सम्पत्त-पडिणिबद्धं मिच्छन्तं जिणवरेहिं परिकहियं । तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णादब्बो ॥ १६८ ॥

सम्पत्तत्वं प्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं । तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ—(सम्पत्तपडिणिबद्धं मिच्छन्तं जिणवरेहिं परिकहियं) सम्पत्तत्वं का प्रतिकूल मिथ्यात्वं है ऐसा श्री जिनेंद्रदेव ने कहा है (तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादब्बो) उस—मिथ्यात्वं के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६८ ॥

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं । तस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होदि णादब्बो ॥ १६९ ॥

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं, अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं । तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ—(णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं) ज्ञान का विरोधी अज्ञान है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है (तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादब्बो) उससे उदय से जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६९ ॥

चारित्त-पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं । तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णादब्बो ॥ १७० ॥

चारित्र्य प्रतिनिबद्धं, कषायो जिनवरैः परिकथितः । तस्योदयेन जीवोऽचारित्र्यो भवति ज्ञातव्यः ॥ १७० ॥

अन्वयार्थ—(चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं) चारित्र्य का विरोधी कषाय है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है (तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादब्बो) उस कषाय के उदय से यह जीव अविरति होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ १७० ॥

आस्रव अधिकार

मिच्छन्तं अविरमणं, कसाय जोगा य सण्णसण्णादु । बहुविधभेदा जीवो, तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १७१ ॥

मिथ्यात्वभविरमणं, कषाययोगो च संज्ञासंज्ञास्तु । बहुविधभेदा जीवो, तस्यैवानन्यपरिणामा ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ—(मिच्छन्तं अविरमणं कसाय जोगा य सण्णसण्णादु) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारों ही संज्ञा—और असंज्ञा अर्थात् चेतन और अचेतन ऐसे दो-दो भेदरूप हैं (जीवो बहुविधभेदा तस्सेव अणण्णपरिणामा) ये जीव में बहुत प्रकार के भेदरूप हैं जो कि जीव के ही अभिन्न परिणाम हैं ॥ १७१ ॥

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होति । तेसिं पि होदि जीवो, य रागदोसादिभावकरो ॥ १७२ ॥

ज्ञानावरणाद्यस्य, ते तु कर्मणः कारणं भवति । तेषामपि भवति जीवः, च रागद्वेषादिभावकरो ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ—(णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होति) जो ज्ञानावरण आदि-अचेतन-पुद्गल के परिणाम हैं वे कर्मों के कारण होते हैं (तेसिं पि य रागदोसादिभावकरो जीवो होदि) उन ज्ञानावरण आदि के लिये भी रागद्वेष आदि भाव को करने वाला जीव कारण होता है ॥ १७२ ॥

णत्थि दु आसवबन्धो, सम्पादिद्विस्स आसवणिरोहो । संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबन्धन्ते ॥ १७३ ॥

नास्ति त्वास्वबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्वनिरोधः । संति पूर्वनिबद्धानि ज्ञानानि स तान्यबन्धन् ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थ—(सम्पादिद्विस्स आसवबन्धो णत्थि दु आसव णिरोहो) सम्यग्दृष्टि जीव के आसव-बंध नहीं है प्रत्युत आसव का निरोध है (पुव्वणिबद्धे संते ते अबन्धन्ते सो जाणदि) जो पहले बंधे हुये कर्म सत्ता में विद्यमान है, आगे के कर्म न बांधते हुये वह उनको जानता ही है ॥ १७३ ॥

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बन्धगो होदि । रागादिविप्पमुक्को, अबन्धगो जाणगो णवरि ॥ १७४ ॥

भावो रागादियुतः, जीवेन कृतम्, बन्धको भवति । रागादिविप्रमुक्तोऽबन्धको जायको नवरि ॥ १७४ ॥

अन्वयार्थ—(जीवेण कदो रागादिजुदो भावो दु बन्धगो होदि) जीव के द्वारा किये गये रागादि से युक्त भाव ही बंध को करने वाले कहे गये हैं (रागादिविप्पमुक्को अबन्धगो जाणगो णवरि) और रागादि भावों से रहित ज्ञायक—जाननेमात्र वाला भाव ही अबन्धक है ऐसा विशेष है ॥ १७४ ॥

पक्के फलमि पडिदे, जह ण फलं बज्झदे पुणो बिदे । जीवस्स कम्मभावे, पडिदे ण पुणोदयमुवेहि ॥ १७५ ॥

पक्के फले पतिते, यथा न फलं बध्यते पुनर्वृत्ते । जीवस्य कर्म भावे, पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ—(जह पक्के फलमि पडिदे पुणो बिदे ण बज्झदे) जैसे फल के गिर जाने के बाद पुनः वह फल डंटल में नहीं लगता है (जीवस्स कम्मभावे पडिदे पुणो ण उदयं उवेहि) वैसे ही जीव के कर्म भाव रूप से पट्टल के झड़ जाने पर वे पुनः उदय में नहीं आते हैं ॥ १७५ ॥

पुढवी पिडसमाणा, पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स । कम्मसरीरेण दु ते, बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ॥ १७६ ॥

पृथ्वी पिडसमानाः, पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययान्तस्य । कर्मशरीरेण तु ते, बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(तस्स पुव्वणिबद्धा दु पच्चया पुढवीपिडसमाणा) उस जीव के पूर्व में बंधे हुये जो प्रत्यय हैं वे पृथ्वी के पिड के समान हैं (णाणिस्स ते सव्वेवि कम्मसरीरेण दु बद्धा) ज्ञानी जीव के वे सभी प्रत्यय तो कार्मण शरीर के साथ ही बंधे हुये हैं ॥ १७६ ॥

चहुविह अणेयभेयं, बन्धन्ते णाणदंसणगुणेहिं । समये समये जह्वा, तेण अबन्धुत्ति णाणी दु ॥ १७७ ॥

चतुर्विधा अनेकभेदं, बन्धन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां । समये समये यस्मात्, तेनावन्ध इति ज्ञानी तु ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थ—(जह्वा चहुविह णाणदंसणगुणेहिं समये समये अणेयभेयं बन्धन्ते) जिस कारण मिथ्यात्व, अविर्गति, कषाय और योग ये चार प्रकार के प्रत्यय ज्ञान-दर्शन गुणों के द्वारा समय-समय में अनेक भेदरूप कर्मों को बांधते हैं (तेण णाणी दु अबन्धुत्ति) इसीलिये ज्ञानी तो अबन्धक ही है ऐसा समझना ॥ १७७ ॥

जह्वा दु जहण्णादो, णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि । अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बन्धगो भणिदो ॥ १७८ ॥

यस्मात् जघन्यात्, ज्ञानगुणात्, पुनरपि परिणमते । अन्यत्वं ज्ञानगुणः, तेन स बन्धको भणितः ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थ—(जह्वा दु णाणगुणो जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि अण्णत्तं परिणमदि) जिस कारण यह ज्ञान गुण जघन्यरूप—क्षयापशमिक ज्ञानगुण पुनरपि अन्यरूप परिणमन करता है (तेण दु सो अबन्धगो भणिदो) इसी कारण से वह ज्ञानगुण कर्म का बंधक कहा गया है ॥ १७८ ॥

दंसणणाणचरितं, जं परिणमदे जहण्णभावेण । णाणी तेण दु बज्झदि, पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन । ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ—(जं दंसणणाणचरितं जहण्णभावेण परिणमदे) जिस कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्य भाव से—क्षायोपशमिक भाव से—यथाख्यात चारित्र के पहले तक परिणमन करते रहते हैं (तेण दु णाणी विविहेण पुग्गलकम्मेण बज्झदि) उसी कारण से ज्ञानी-महामुनि विविध प्रकार के कर्मों से बंधते रहते हैं ॥ १७९ ॥

सखे पुव्वणिबद्धा, दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स । उवओगणाओगं, बंधंते कम्मभावेण ॥ १८० ॥

संता वि णिरुवभोज्जा, बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स । बंधदि ते उवभोज्जे, तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥ १८१ ॥

होदूण णिरुवभोज्जा, तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा । सत्तट्ठविहा भूदा, णाणावरणादिभावेहिं ॥ १८२ ॥

एदेण कारणेण दु, सम्मदिट्ठि अबंधगो होदि । आसवभावाभावे, ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १८३ ॥ चतुष्कं ॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु, प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः । उपयोगप्रायोग्यं, बध्नाति कर्मभावेन ॥ १८० ॥

संतापि निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य । बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥ १८१ ॥

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि । सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १८२ ॥

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भवति । आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थ—(सम्मदिट्ठिस्स सखे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति) सम्यग्दृष्टि के सभी पूर्व में बांधे हुये मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रव विद्यमान हैं (उवओगणाओगं कम्मभावेण बंधंते) वे उपयोग के प्रयोग करने रूप कर्मभाव से बंध करते हैं (संतावि णिरुवभोज्जा जहेव पुरिसस्स बाला इत्थी) सत्ता में स्थित कर्म भोग के योग्य नहीं हैं जैसे लोक में पुरुष के लिये बाला स्त्री भोगने योग्य नहीं हैं (ते उवभोज्जे बंधदि जह णरस्स तरुणी इत्थी) वे ही प्रत्यय उदय में आकर भोगने योग्य हुये आगे के लिये कर्म बांधते हैं जैसे तरुणी स्त्री भोगने योग्य हुई बांधती है (णिरुवभोज्जा होदूण जह उवभोज्जा हवंति) सत्ता में स्थित उपभोग योग्य नहीं होकर भी जैसे वे उदय में आकर उपभोग योग्य हो जाते हैं (तह णाणावरणादिभावेहिं सत्तट्ठविहा भूदा बंधदि) वैसे ही ज्ञानावरण आदि सातकर्मों को, आयु से सहित आठ कर्मों को बांधते हैं (एदेण कारणेण दु सम्मदिट्ठि अबंधगो होदि) इसी कारण से तो सम्यग्दृष्टि अबंधक होते हैं (आस्रवभावाभावे पच्चया ण बंधगा भणिदा) क्योंकि आस्रव भावों के अभाव में—रागादि भावों के अभाव में ये प्रत्यय—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बंध करने वाले नहीं कहे गये हैं ॥ १८०-१८१-१८२-१८३ ॥

रोगो दोसो मोहो, य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स । तह्मा आसवभावेण, विणा हेदू ण पच्चया होति ॥ १८४ ॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः । तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ—(रोगो दोसो य मोहो आसवा सम्मदिट्ठिस्स णत्थि) राग, द्वेष और मोह ये आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं (तह्मा आसवभावेण विणा पच्चया हेदू ण होति) इसलिये आस्रव भावों के बिना प्रत्यय कर्मबंध में हेतु नहीं होते हैं ॥ १८४ ॥

हेदू चदुव्वियणो अट्टवियणस्स कारणं होदि । तेसिं पि य रागादी तेसियभावे ण वज्झंति ॥ १८५ ॥

हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भवति । तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थ—(चदुव्वियणो हेदू अट्टवियणस्स कारणं होदि) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकार के हेतु ज्ञानावरण आदि भेदरूप कर्मों के कारण होते हैं (य तेसिं पि रागादी तेसिं अभावे ण वज्झंति) और उन चार हेतुओं के लिये भी रागादि भाव कारण हैं क्योंकि उन रागादि के अभाव में कर्म नहीं बंधते हैं ॥ १८५ ॥

जह पुरिसेणाहारो, गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं । मंसवसारुहिरादी, भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥ १८६ ॥

यथा पुरुषेणाहारो, गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं । मांसवसारुहिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्त ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थ—(जह पुरिसेण गहिदो आहारो सो उदरग्गिसंजुत्तो मंसवसारुहिरादी भावे अणेयविहं परिणमदि) जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया भोजन वह उदराग्नि में पहुँचकर माँस, वसा, रुधिर आदि भावोंरूप अनेक विध से परिणमन कर जाता है ॥ १८६ ॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं, जे बद्धा पच्चया बहुवियणं । बज्झंते कम्मं ते, णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ १८७ ॥

तथा ज्ञानिनस्तु पूर्व बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं । बध्यन्ते कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ—(तह णाणिस्स दु जे पुव्वं बद्धा पच्चया ते बहुवियणं कम्मं बज्झंते) वैसे ही ज्ञानी—महामुनि के जो पूर्व में बंधे हुये प्रत्यय हैं वे बहुत प्रकार के कर्म बांधते हैं (ते जीवा णयपरिहीणा दु) क्योंकि वे जीव तो नय से—शुद्धनय से हीन होते हैं ॥ १८७ ॥

संवर अधिकार

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो । कोहे कोहो चेवहि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥ १८८ ॥

अट्टवियण्णे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो । उवओगहिमय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥ १८९ ॥

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स । तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धया ॥ १९० ॥ त्रिकलम् ॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्युपयोगः । क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥ १८८ ॥

अष्टविकल्पे कर्मणि नो कर्मणि चापि नास्त्युपयोगः । उपयोगेऽपि च कर्म नो कर्म चापि नो अस्ति ॥ १८९ ॥

एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं, यदा तु भवति जीवस्य । तदा न किंचित्करोति, भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ—(उवओगे उवओगो कोहादिसु कोवि उवओगो णत्थि) उपयोग में उपयोग है, क्रोधादि भावों में कोई भी उपयोग नहीं है (कोहे कोहो चेव हि उवओगे खलु कोहो णत्थि) उपयोग में नियम से क्रोध नहीं है । अट्टवियण्णे कम्मे चावि णोकम्मे उवओगो णत्थि) आठ प्रकार के कर्मों और नोकर्मों में भी उपयोग नहीं है (उवओगहिमय कम्मं चावि णोकम्मं णो अत्थि) और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म भी नहीं हैं (जइया दु जीवस्स एदं अविवरीदं तु होदि) जब जीव का यह ज्ञान विपरीतपने से रहित—सच्चा होता

है (तइया उवओगमुद्धया किंचि भावं ण कुज्जदि) तव यह उपवोग स्वरूप शुद्धात्मा कुछ भी भाव नहीं करता है ॥ १८८-१८९-१९० ॥

जह कणयमग्गितवियं पि, कणयसभावं ण तं परिच्चयदि । तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥ १९१ ॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि, कनकभावं न तं परित्यजति । तथा कर्मोदयतप्तो, न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थ—(जह अग्निवियं पि कणयं तं कणयसहावं न परिच्चयदि) जैसे अग्नि में तपाया हुआ भी सुवर्ण उस सुवर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ता है (तह कम्मोदयतविदो णाणी दु णाणित्तं ण जहदि) वैसे ही कर्मों के उदय से संतप्त हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है ॥ १९१ ॥

एवं जाणदि णाणी, अण्णाणी मुणदि रायमेवादं । अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणतो ॥ १९२ ॥

एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं । अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ—(एवं णाणी जाणदि) इस प्रकार से ज्ञानी जानता है (अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणतो अण्णाणी आदं रायं एवं मुणदि) अज्ञान रूपी अंधकार व्याप्त हुआ, आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ अज्ञानी आत्मा को रागस्वरूप ही मानता है ॥ १९२ ॥

सुद्धं तु विद्याणत्तो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो । जाणतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १९३ ॥

शुद्धं तु विजानन्, शुद्धमेवात्मानं लभते जीवः । ज्ञानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थ—(जीवो सुद्धं तु विद्याणत्तो वेव अप्पयं लहदि) जीव आत्मा को शुद्ध जानता हुआ शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है (असुद्धं तु जाणतो असुद्धं एवप्पयं लहदि) और आत्मा को अशुद्ध जानता हुआ अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है ॥ १९३ ॥

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपाव-जोगेसु । दंसण्णाणहि ठिदो, इच्छाविरदो य अण्णहि ॥ १९४ ॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा, द्वि-पुण्यपापयोगयोः । दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पाणं अप्पणा दो पुण्णपावजोगेसु रुंधिऊण) आत्मा को आत्मा के द्वारा दोनों पुण्य और पाप योगों से रोक कर (दंसण्णाणहि ठिदो य अण्णहि इच्छाविरदो) जो दर्शन-ज्ञान में स्थित हैं और अन्य वस्तु में इच्छाओं से रहित हैं ॥ १९४ ॥

जो सव्वसंगमुक्को, झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा । णवि कम्म णोकम्मं, चेदा चित्तेदि एयत्तं ॥ १९५ ॥

यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा । नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चितयत्येकत्वं ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थ—(जो सव्वसंगमुक्को अप्पा अप्पणो अप्पाणं झायदि) जो संपूर्ण परिग्रह से रहित आत्मा-महामुनि आपनी आत्मा को ध्याते हैं (कम्मं णोकम्मं णवि) कर्म और नोकर्म को नहीं-ध्याते हैं (चेदा एयत्तं चित्तेदि) ऐसे चेतयिता—आत्मा एकत्वस्वरूप का ही चितवन करते रहते हैं ॥ १९५ ॥

अप्पाणं झायत्तो, दंसण्णाणमओ अण्णमणो । लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥ १९६ ॥

आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञान मयोऽनन्यमदाः । लभते चिरेणात्मानमेव स कर्माभिर्मुक्तं ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थ—(दंसणणागमओ अणणमणा अप्पाणं हायंतो) जो दर्शन-ज्ञानमय हुये अनन्यमना-अन्यवस्तु से मन को हटाकर आत्मा में तन्मय होकर अपनी आत्मा को ध्याते हैं (सो कम्मणिम्भुक्कं अप्पाणमेव अचिरेण लहदि) वे कर्मों से मुक्त होकर अपनी आत्मा को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ १९६ ॥

उपदेशेण परोक्खं, रूवं जह पस्सिटूण णादेदि । भण्णदि तहेव धिप्पदि, जीवो दिट्ठो य णादो य ॥ १९७ ॥

उपदेशेन परोक्षरूपं, यथा दृष्ट्वा जानाति । भण्यते तथैव ध्रियते, जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ—(जह उपदेशेण परोक्खं रूवं पस्सिटूण णादेदि) जैसे कोई उपदेश से परोक्ष रूप देखकर—श्रद्धान करके जानता है (तहेव जीवो भण्णदि य धिप्पदि दिट्ठो य णादो) उसी प्रकार उपदेश के द्वारा यह जीव भी कहा जाता है और ग्रहण किया जाता है सो वही देखा गया और जाना गया है ॥ १९७ ॥

कोविदिदच्छो साधू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं । पच्चक्खमेव दिट्ठं, परोक्खणाणे पवट्ठतं ॥ १९८ ॥

कोविदितार्थः साधुः, संप्रतिकाले भणेत् रूपमिदं । प्रत्यक्षमेव दृष्टं, परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थ—(कोविदिदच्छो साधू भणिज्ज) कौन विद्वान् साधु ऐसा कहेगा कि (परोक्खणाणे पवट्ठतं) इणं रूवं संपडिकाले पच्चक्खमेव दिट्ठं) परोक्षज्ञान में प्रवृत्त हुये इस आत्मा के रूप को मैं वर्तमान काल में प्रत्यक्ष में ही देख लिया है अर्थात् विद्वान् साधु ऐसा नहीं कहेगा ॥ १९८ ॥

तेसिं हेदू भणिदा, अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं । मिच्छंतं अण्णाणं, अविरदभावो य जोगो य ॥ १९९ ॥

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः । मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्च योगश्च ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वदरसीहिं तेसिं हेदू अज्झवसाणाणि भणिदा) सर्वज्ञदेव भगवान् ने उन राग-द्वेषादि के हेतु अध्यवसान-विभाव भाव कहे हैं (मिच्छंतं अण्णाणं य अविरदभावो य जोगो) मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये ही चार अध्यवसान कहलाते हैं ॥ १९९ ॥

हेदु-अभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो । आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स दु णिरोहो ॥ २०० ॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आसवनिरोधः । आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ—(हेदु अभावे णियमा णाणिस्स आसवणिरोहो जायदि) इन हेतुओं का अभाव हो जाने पर नियम से ज्ञानी जीव के आस्रव का निरोध हो जाता है (आसवभावेण विणा कम्मस्स वि णिरोहो जायदि) और आस्रव भाव के बिना कर्मों का भी निरोध हो जाता है ॥ २०० ॥

कम्मस्साभावेण य, णोकम्माणं च जायदि णिरोहो । णो -कम्मणिरोहेण य, संसारणिरोहणं होदि ॥ २०१ ॥

कर्मणोऽभावेन च, नोकर्मणामपि जायते निरोधः । नोकर्मनिरोधेन च, संसारनिरोधनं भवति ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ—(य कम्मस्साभावेण च णोकम्माणं णिरोहो जायदि) और कर्मों का अभाव हो जाने पर नोकर्मों का भी निरोध—संवर हो जाता है (य णोकम्मणिरोहेण संसारणिरोहणं होदि) और नोकर्मों का निरोध हो जाने पर संसार का भी निरोध—अभाव हो जाता है । अर्थात् संसार से मुक्ति हो जाती है ॥ २०१ ॥

संवर अधिकार पूर्ण हुआ

इति पूर्वार्ध

अथ निर्जराधिकारः

उवभोज्जमिदियेहिं, दव्वाणमवेदणाणमिदराणं । जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ २०२ ॥
 दव्वे उवभुज्जंते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च । तं सुहदुक्खमुदिण्णं, वेददि अथ णिज्जरं जादि ॥ २०३ ॥
 जह विसमुवभुज्जंता, विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति । पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुज्जदि णेव बज्झदे णाणी ॥ २०४ ॥
 जह मज्जं पिवमाणो, अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो । दव्वुवभोगे अरदो, णाणीवि ण बज्झदि तहेव ॥ २०५ ॥
 सेवंतोवि ण सेवदि, असेवमाणोवि सेवगो कोवि । पगरणचेट्ठा कस्सवि, ण य पावरणोत्ति सो होदि ॥ २०६ ॥
 पुग्गलकम्मं कोहो, तस्स विवागोदयो हवदि एसो । ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ २०७ ॥
 कह एस तुज्झ ण हवदि, विविहो कम्मोदयफलविवागो । परदव्वाणुवओगो, ण दु देहो हवदि अण्णाणी ॥ २०८ ॥
 एवं सम्माइट्ठी, अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं । उदयं कम्मविवागं, य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥ २०९ ॥
 उदयविवागो विविहो, कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं । ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ २१० ॥
 परमाणुमित्तयं पि य, रागादीणं तु विज्जदे जस्स । णवि सो जाणदि, अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥ २११ ॥
 अप्पाणमप्याणंतो, अण्णपरं चेव सो अण्णाणंतो । कइ होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २१२ ॥
 जो वेददि वेदिज्जदि, समए समए विणस्सदे उहयं । तं जाणगो दु णाणी, उभयं पि ण कंखदि कयावि ॥ २१३ ॥
 बंधुवभोगणिमित्तं, अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स । संसारदेहविसएसु, णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१४ ॥
 मज्झं परिग्गहो जदि, तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज । णादेव अहं जम्हा, तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २१५ ॥
 आदमिह दव्वभावे, अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं । थिरमेगमिमं भावं, उपलब्धंतं सहावेण ॥ २१६ ॥
 को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं । अप्पाणमप्यणो परिग्गहं, तु णियदं वियाणंतो ॥ २१७ ॥
 छिज्जुदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विष्पलयं । जम्हा तम्हा गच्छुदु, तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥ २१८ ॥
 एदमिह रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चेमदहि । एदेण होहि तित्तो, तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥ २१९ ॥
 आभिणिसुदोहिमणकेवलं, च तं होदि एक्कमेव पदं । सो एसो परमट्ठो, जं लहितुं णिव्वुदिं जादि ॥ २२० ॥
 णाणगुणेहिं विहीणा, एदं तु पदे बहूवि ण लहंति । तं गिण्ह सुपदमेदं, जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २२१ ॥
 अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं । अपरिग्गहो तु धम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ २२२ ॥
 अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं । अपरिग्गहो अधम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ २२३ ॥
 धम्मच्छि अधम्मच्छी, आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु । संगं च तहा णेयं, देवमणुअत्तिरियणेरइयं ॥ २२४ ॥
 अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी । अपरिग्गहो दु असणस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ २२५ ॥
 अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी । अपरिग्गहो दु पाणस्स, जाणगो तेण सो होदि ॥ २२६ ॥
 इच्चादिएदु विविहे, सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी । जाणगभावो णियदो, णीरालंबो य सव्वत्थ ॥ २२७ ॥
 उप्पण्णोदयभोगे, वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं । कंखामणागदस्स च, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २२८ ॥

णाणी रागप्यजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो । णो लिप्पदि कम्मराण दु, कद्दममज्झो जहा कणथं ॥ २२९ ॥
 अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो । लिप्पदि कम्मराण दु, कद्दममज्झो जहा लोहं ॥ २३० ॥
 णागफणीए मूलं, णाइणितोएण गब्बणागेण । णागं होइ सुवण्णं, धम्मंतं भच्छवाएण ॥ २३१ ॥
 कम्मं हवेइ किइं, रागादी कालिया अह विभाओ । सम्मतणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥ २३२ ॥
 झाणं हवेइ कणी, तवरारं चत्तली सारवण्णदो । जीवो हवेइ लोहं धम्मियव्वो परमजोईहिं ॥ २३३ ॥
 भुंजत्तस्सवि दव्वे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे । संखस्स सेदभावो, णवि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥ २३४ ॥
 तह णाणिस्स दु विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे । भुंजत्तस्सवि णाणं, णवि सक्कदि रागदो णेदुं ॥ २३५ ॥
 जइया स एव संखो, सेदसहावं तयं पजहिदूण । गच्छेज्ज किण्हभावं, तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २३६ ॥
 जह संखो योग्गलदो, जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण । गच्छेज्ज किण्हभावं, तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २३७ ॥
 तह णाणी विव जइया, णाणसहावत्तयं पजहिदूण । अण्णाणेण परिणदो, तइया अण्णाणदं गच्छे ॥ २३८ ॥
 पुरिसो जह कोवि इह, वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं । तो सोवि देदि राया, विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥ २३९ ॥
 एमेव जीवपुरिसो, कम्मरायं सेवदे सुहणिमित्तं । तो सोवि कम्मरायो, देदि सुहुप्पादगे भोगे ॥ २४० ॥
 जह पुण सो चेव णरो, वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं । तो सो ण देदि राया, विविहसुहुप्पादगे भोगे ॥ २४१ ॥
 एमेव सम्मादिट्ठी, विसयत्तं सेवदे ण कम्मरायं । तो सो ण देदि कम्मं, विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥ २४२ ॥
 सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्बया तेण । सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २४३ ॥
 जो चत्तारिवि पाए, छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे । सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४४ ॥
 जो ण करेदि दु कंखं, कम्मफले तहय सव्वधम्मेषु । सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४५ ॥
 जो ण करेदि दुगुंछं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं । सो खलु णिव्विदिगिंछो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४६ ॥
 जो हवदि असंमूढो, चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु । सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४७ ॥
 जो सिद्धभत्तिजुत्तो, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं । सो उवगूहणगारी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४८ ॥
 उम्मगं गच्छंतं, सिवमग्गे जो ठवेदि अण्णाणं । सो ठिदिकरणेण जुदो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २४९ ॥
 जो कुणदि वच्छलत्तं, तिण्हे साधूण मोक्खपगग्गि । सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २५० ॥
 विज्जारहमारूढो, मणोरहरएसु हणदि जो चेदा । सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २५१ ॥

इति निर्जराधिकारः

अथ बंधाधिकारः

जह णाम कोवि पुरिसो, णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि । ठाणम्मि ठाइदूण य, करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २५२ ॥
 छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकदलिवंसपिंडीओ । सच्चित्ताचित्ताणं, करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २५३ ॥
 उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं । णिच्छयदो चित्तिज्ज दु, किं पच्चयगो दु तस्स रयबंधो ॥ २५४ ॥
 जो सो दु णेहभावो, तह्मि णरे तेण तस्स रयबन्धो । निन्दुयदो विण्णेयं, ण कायचेद्वाहिं सेसाहिं ॥ २५५ ॥
 एवं पिच्छादिट्ठी, वड्ढन्तो बहुविहासु चेद्वासु । रागादी उवओगे, कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥ (पंचकम्) ॥ २५६ ॥
 जह पुण सो चेव णरो, णेहे सव्वहिं अक्खिये संते । रेणु बहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २५७ ॥
 छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकदलिवंसपिण्डीओ । सच्चित्ताचित्ताणं, करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २५८ ॥
 उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं । णिच्छयदो चित्तिज्जहु, किंपच्चयगो ण तस्स रयबंधो ॥ २५९ ॥
 जो सो दु णेहभावो, तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो । णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेद्वाहिं सेसाहिं ॥ २६० ॥
 एवं सम्मादिट्ठी, वड्ढन्तो बहुविहेसु जोगेसु । अकरन्तो उवओगे, रागादी णेव बज्झादि रयेण ॥ २६१ ॥
 जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं । सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २६२ ॥
 आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं । आउं ण हरेसि तुमं, कह ते मरणं कदं तेसि ॥ २६३ ॥
 आउउदयेण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू । आऊं च ण देसि तुमं, कहं तए जीवदं कदं तेसि ॥ २६४ ॥
 जो अण्णो दु मण्णदि, दुःखिदसुहिदं करेमि सत्तेति । सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २६५ ॥
 कम्मणिमित्तं सव्वे, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता । कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते ॥ २६६ ॥
 कम्मणिमित्तं सव्वे, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता । कम्मं च ण देसि तुमं, कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २६७ ॥
 कम्मोदयेण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे । कम्मं च ण देसि तुमं, कह तं दुहिदो कदो तेहिं ॥ २६८ ॥
 जो मरदि जो य दुहिदो, जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो । तह्मा दु मारिदो दे, दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥ २६९ ॥
 जो ण मरदि ण य दुहिदो, सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो । तह्मा ण मारिदो दे, दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥ २७० ॥
 एसा दु जा मदी दे, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति । एसा दे मूढमदी, सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥ २७१ ॥
 दुक्खिदसुहिदे सत्ते, करेमि जं एवमज्झवसिदं ते । तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ २७३ ॥
 मारेमि जीवावेमि य, सत्ते जं एवं मज्झवसिदं ते । तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ (युग्मम्) ॥ २७३ ॥
 अज्झवसिदेण बंधो, सत्ते मारेहिं मा य मारेहिं । एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २७४ ॥
 एवमलिये अदत्ते, अबंभचेरे परिग्गहे चेव । कीरदि अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झदे पावं ॥ २७५ ॥
 तह य अचोज्जे सच्चे, बंधे अपरिग्गहत्तणे चेव । कीरदि अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥ २७६ ॥
 वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं । ण हि वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २७७ ॥
 दुक्खिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधामि तह विमोचेमि । जा एसा तुज्झ मदी, णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥ २७८ ॥
 अज्झवसाणणिमित्तं, जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि । मुच्चंति भोक्खमग्गो, ठिदा य ते किं करोसि तुमं ॥ २७९ ॥

कायेण दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि । सव्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥ २८० ॥
 वाचाए दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि । सव्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥ २८१ ॥
 मणसाए दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि । सव्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥ २८२ ॥
 सच्छेण दुक्खवेमिय, सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि । सव्वावि एस मिच्छा, दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥ २८३ ॥ चतुष्कम ॥
 कायेण च वायाइव, मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति । एवंपि हवादे मिच्छा, सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥ २८४ ॥
 सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणोरयि । देवमणुवेपि सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २८५ ॥
 थम्माधम्मं च तहा, जीवाजीवे अलोगलोगं च । सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण अण्णाणं ॥ २८६ ॥
 एदाणि णत्थि जेसि, अज्झवसाणाणि एवमादीणि । ते असुहेण सुहेण य, कम्मेण मुणी ण लिप्पन्ति ॥ २८७ ॥
 जा संकप्पवियप्पो, ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं । अण्णसरूपा रिद्धी, जाव ण हियए परिण्फुरदि ॥ २८८ ॥
 बुद्धी ववसाओवि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं । इक्ककट्टमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो ॥ २८९ ॥
 एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण । णिच्छयणयसल्लीणा, मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥ २९० ॥
 वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं । कुव्वंतोवि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिद्धीओ ॥ २९१ ॥
 पोक्खं असदहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज । पाठो ण करेदि गुणं, असदहंतस्स णाणं तु ॥ २९२ ॥
 सदहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणोवि फासेदि । धम्मं भोगणिमित्तं, ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २९३ ॥
 आयारादी णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं । छज्जीवाणं रक्खा, भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥ २९४ ॥
 आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य । आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥ (युगलम्) ॥ २९५ ॥
 आथाकम्मादीया, पुगल दव्वस्स जे इमे दोसा । कह ते कुव्वदि णाणी, परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥ २९६ ॥
 आथाकम्मादीया, पुगलदव्वस्स जे इमे दोसा । कहमणुमण्णदि, अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा ॥ २९७ ॥
 आथाकम्मं उद्देसियं च, योग्गलमयं इमं दव्वं । कह तं मम होदि कदं, जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥ २९८ ॥
 आथाकम्मं उद्देसियं, च योग्गलमयं इमं दव्वं । कह तं मम कारविदं, जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥ २९९ ॥
 जह फलियमणि विसुद्धो, ण सयं परिणमदि रागमादीहिं । राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं ॥ ३०० ॥
 एवं णाणी सुद्धो, ण सयं परिणमदि रागमादीहिं । राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ ३०१ ॥
 ण वि रागदोसमोहं, कुव्वदि णाणी कसायभावं वा । सयमण्णो ण सो, तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥ ३०२ ॥
 रागहिं य दोसहिं य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा । तेहिं दु परिणममाणो, रागादी बंधदि पुणोवि ॥ ३०३ ॥
 रागहिं य दोसहिं य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा । ते मम दु परिणमंतो, रागादी बंधदे चेदा ॥ ३०४ ॥
 अपडिक्कमणं दुविहं, अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं । एदेणुवदेसेण दु, अकारगो वणिणदो चेदा ॥ ३०५ ॥
 अपडिक्कमणं दुविहं, दव्वे भावे अपच्चक्खाणं पि । एदेणुवदेसेण दु, अकारगो वणिणदो चेदा ॥ ३०६ ॥
 जाव ण पच्चक्खाणं, अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं । कुव्वदि आदा तावदु, कत्ता सो होदि णादव्वो ॥ ३०७ ॥

इति बंधाधिकारः

अथ मोक्षाधिकारः

जह णाम कोवि पुरिसो, बंधणयहि चिरकालपडिबद्धो । तिव्वं मंदसहावं, कालं च वियाणदे तस्स ॥ ३०८ ॥
 जदि णवि कुव्वदि छेदं, ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण । कालेण बहुएणवि ण, सो णरो पावदि विमोक्खं ॥ ३०९ ॥
 इय कम्मबंधणाणं, पदेसपयडिड्ढिदीय अणुभागं । जाणंतोवि ण मुंचदि, मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो ॥ ३१० ॥
 जह बंधे चिंतंतो, बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं । तह बंधे चिंतंतो, जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥ ३११ ॥
 जह बंधे मुत्तूण य, बंधणबंधो दु पावदि विमोक्खं । तह बंधे मुत्तूण य, जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ ३१२ ॥
 बंधाणं च सहावं वियाणिटुं अप्पणो सहावं च । बंधेसु जो ण रज्जदि, सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥ ३१३ ॥
 जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं । पण्णाछेदणाएण दु, छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ ३१४ ॥
 जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं । बंधो छेददव्वो, सुद्धो अप्पा य चेत्तव्वो ॥ ३१५ ॥
 कह सो घिप्पदि अप्पा, पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा । जह पण्णाए विभत्तो, तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥ ३१६ ॥
 पण्णाए घित्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो । अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३१७ ॥
 पण्णाए घित्तव्वो, जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो । अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३१८ ॥
 पण्णाए घित्तव्वो, जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो । अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३१९ ॥ युग्मम् ।
 को णाम भणिज्ज बुहो, णादु सव्वे परोदये भावे । मज्झमिणं ति य वचणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३२० ॥
 तेयादी अवराहे, कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि । मा बज्झोहं केणवि, चोरोत्ति जणाहि विवरंतो ॥ ३२१ ॥
 जो ण कुणदि अवराहे, सो णिस्संको दु जणावदे भमदि । ण वि तस्स बज्झादु जे, चिंता उप्पज्जदि कयावि ॥ ३२२ ॥
 एवं हि सावराहो, बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा । जो पुण णिरवराहो, णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥ ३२३ ॥ त्रिकलम् ।
 संसिद्धराधसिद्धी, साधिदमाराधिदं च एयद्धो । अवगदराधो जो खलु, चेदा सो होदि अवराहो ॥ ३२४ ॥
 पडिकमणं पडिसरणं, पडिहरणं धारणा णियत्ती य । णिंदा गरुहा, सोहिय, अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥ ३२५ ॥
 अपडिकमणं, अप्पडिसरणं, अप्परिहारो अधारणा चेव । अणियत्ती य अणिंदा, अगरुहा विसोहिय अमयकुंभो ॥ ३२६ ॥ युग्मम् ॥

इति मोक्षाधिकारः

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

दवियं जं उप्पज्जदि, गुणेहि तं तेहि जाणसु अणण्णं । जह कडयादीहिं दु, पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३२७ ॥
 जीवस्साजीवस्स य, जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते । तं जीवमजीवं वा, तेहिमणण्णं वियाणीहि ॥ ३२८ ॥
 ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जह्वा कज्जं ण तेण सो आदा । उप्पादेदि ण किंचिवि, कारणमवि तेण ण सो होदि ॥ ३२९ ॥
 कम्मं पडुच्च कत्ता, कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि । उप्पज्जंते णियमा, सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥ ३३० ॥
 चेदा दु पयडियडुं, उप्पज्जदि विणस्सदि । पयडीवि चेदयडुं, उप्पज्जदि विणस्सदि ॥ ३३१ ॥
 एवं बंधो दुण्हं पि, अण्णोण्ण पच्चयाण हवे । अण्णो पयडी एय, संसारो तेण जायदे ॥ ३३२ ॥
 जा एसो पयडियडुं, चेदगो ण विमुंचदि । अयाणओ हवे ताव, मिच्छादिद्धी असंजदो ॥ ३३३ ॥
 जदा विमुंचदे चेदा, कम्मफलमणंतयं । तदा विमुत्तो हवदि, जाणगो पस्सगो मुणी ॥ ३३४ ॥
 अण्णाणी कम्मफलं, सहावट्ठिदो दु वेदेदि । णाणी पुण कम्मफलं, जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥ ३३५ ॥
 जो पुण णिरवराहो, चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि । आराहणाए णिच्चं वट्ठिदि अहमिदि वियाणंतो ॥ ३३६ ॥
 ण मुयदि पयडिमभळ्वो, सुडुवि अज्झाइदूण सच्छाणि । गुडदुद्धं पि पिवंता, ण पण्णया णिव्विसा होति ॥ ३३७ ॥
 णिव्वेदसमावण्णो, णाणी कम्मफलं वियाणादि । महुरं कडुवं बहुविह-मवेदको तेण पण्णतो ॥ ३३८ ॥
 णवि कुळ्वदि णवि वेददि, णाणी कम्माइ बहुपयाराइ । जाणदि पुण कम्मफलं, बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३३९ ॥
 दिद्धी सयं पि णाणं, अकारयं तह अवेदयं चेव । जाणदि य बंधमोक्खं, कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥ ३४० ॥

इति सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

अथ समयसार चूलिका—अधिकारः

लोगस्स कुणदि विण्हू, सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते । समणाणं पि य अण्णा, जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥ ३४१ ॥
 लोगसमणाणमेव, सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो । लोगस्स कुणदि विण्हू, समणाणं अण्णो कुणदि ॥ ३४२ ॥
 एवं ण कोवि मुक्खो, दीसदि दुण्हं पि समणलोयाणं । णिच्चं कुव्वं ताणं, सदेवमणुआसुरे लोगे ॥ ३४३ ॥
 ववहारभासिदेण दु, परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा । जाणंति णिच्छयेण दु, ण य इह परमाणुमित्तं मम किंचि ॥ ३४४ ॥

जह कोवि णरो जंपदि, अम्हाणं गामविसयपुररुद्धं । ण य हुंति ताणि तस्स दु, भणदि य मोहेण सो अण्णा ॥ ३४५ ॥
 एमेव मिच्छदिट्ठी, पाणी णिस्संसयं हवदि एसो । जो परदव्वं मम इदि, जाणंतो अण्णं कुणदि ॥ ३४६ ॥
 तम्हा ण ममेति णच्चा, दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ । परदव्वे जाणंतो, जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं ॥ ३४७ ॥
 केहिचिदु पज्जयेहिं, विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो । जह्या तह्या कुव्वदि सो वा अण्णो वा णियंतो ॥ ३४८ ॥
 केहिचिदु पज्जयेहिं, विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो । जह्या तह्या वेददि, सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४९ ॥
 जो चेव कुणदि सो चेव, वेदको जस्स एस सिद्धंतो । सो जीवो णादव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३५० ॥
 अण्णो करेदि अण्णो, परिभुजदि जस्स एस सिद्धंतो । सो जीवो णादव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३५१ ॥
 मिच्छन्ता जदि पयडी, सम्मादिट्ठी करेदि अण्णाणं । तह्या अचेदणा दे, पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३५२ ॥
 सम्मत्ता जदि पयडी, सम्मादिट्ठी करेदि अण्णाणं । तह्या अचेदणा दे, पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३५३ ॥
 अहवा एसो जीवो, पुग्गल दव्वस्स कुणदि मिच्छंतं । तह्या पुग्गलदव्वं, मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३५४ ॥
 अह जीवो पयडी विय, पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छंतं । तह्या दोहि कदत्तं, दुण्णिवा भुजंति तस्स फलं ॥ ३५५ ॥
 अह ण पयडी ण जीवो, पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छंतं । तह्या पुग्गलदव्वं, मिच्छंतं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३५६ ॥ यंचकं ।
 कम्मेहि दु अण्णाणी, किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं । कम्मेहि सुवाविज्जदि, जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥ ३५७ ॥
 कम्मेहि सुहाविज्जदि, दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं । कम्मेहि य मिच्छंतं, णिज्जदि य असंजयं चेव ॥ ३५८ ॥
 कम्मेहि भयाडिज्जदि, उड्डुपहं चावि तिरियलोयमि । कम्मेहि चेव किज्जदि, सुहासुहं जेतियं किंचि ॥ ३५९ ॥
 जह्या कम्मं कुव्वदि, कम्मं देदित्ति हरदि जं किंचि । तह्या सव्वे जीवा, अकारया हुंति आवण्णा ॥ ३६० ॥
 पुरुसिच्छियाहिलासी, इच्छी कम्मं च पुरिसमहिलसदि । एसा आयरियपरंपरा-गदा एरिसी दु सुदी ॥ ३६१ ॥
 तह्या ण कोवि जीवो, अब्हयारी दु तुह्य मुवदेसे । जह्या कम्मं चेव हि, कम्मं अहिलसदि जं भणियं ॥ ३६२ ॥
 जह्या घादेदि परं, परेण घादिज्जदेदि सा पयडी । एदेणच्छेण दु किर, भणदि परघादणामेत्ति ॥ ३६३ ॥
 तह्या ण कोवि जीवो, उवघादगो अत्थि तुह्यउवदेसे । जह्या कम्मं चेव हि, कम्मं घादेदि जं भणियं ॥ ३६४ ॥
 एवं संखुवदेसं, जे दु परूवित्ति एरिसं समणा । तेसिं पयडी कुव्वदि, अण्णा य अकारया सव्वे ॥ ३६५ ॥
 अहवा यण्णसि मज्झं, अण्णा अण्णाणमण्णो कुणदि । एसो मिच्छसहावो, तुह्यं एवं मुणंतस्स ॥ ३६६ ॥

अप्पा णिच्चासंखेज्ज-पदेसो देसिदो दु समयहि । णवि सो सक्कदि ततो, हीणो अहियो व कादुं जे ॥ ३६७ ॥
 जीवस्स जीवरूवं, वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि । ततो सो किं हीणो, अहियो व कदं भणसि दव्वं ॥ ३६८ ॥
 अह जाणगो दु भावो, णाणसहावेण अत्थि देदि मदं । तह्या णवि अप्पा, अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥ ३६९ ॥
 दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए । तह्या किं घादयदे, चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३७० ॥
 दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेदणे । तह्या किं घादयदे, चेदयिदो तेसु कप्पेसु ॥ ३७१ ॥
 दंसणणाणचरित्तं, किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये । तह्या किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कायेसु ॥ ३७२ ॥
 णाणस्स दंसणस्स य, भणिदो घादो तहा चरित्तस्स । पवि तहि ओवि धुग्गसदव्वे वाओ दु णिदिदो ॥ ३७३ ॥
 जीवस्स जे गुणा, केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु । तह्या सम्मादिट्ठिस्स, णत्थि रागो दु विसएसु ॥ ३७४ ॥
 रागो दोसो मोहो, जीवस्सेव दु अणणपरिणामा । एदेण कारणेण दु, सदादिसु णत्थि रागादी ॥ ३७५ ॥
 अण्णदविण्ण अण्णदवि-यस्स णो कीरदे गुणविघादो । तह्या दु सव्वदव्वा, उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७६ ॥
 जह सिप्पिओ दु कम्मं, कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि । तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३७७ ॥
 जह सिप्पिओ दु करणेहिं, कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि । तह जीवो करणेहिं, कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३७८ ॥
 जह सिप्पिउ करणाणि, गिण्हदि ण य सो दु तम्मओ होदि । तह जीवो करणाणि य, गिण्हदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३७९ ॥
 जह सिप्पिउ कम्मफलं, भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि । तह जीवो कम्मफलं, भुंजदि ण य सोवि तम्मओ होदि ॥ ३८० ॥
 एवं ववहारस्स दु, वत्तव्वं दंसणं समासेण । सुणु णिच्छयस्स वयणं, परिणामकदं तुं जं होदि ॥ ३८१ ॥
 जह सिप्पिओ दु चेदुं, कुव्वदि हवदि य तहा अणणो सो^१ । तह जीवोवि य कम्मं, कुव्वदि हवदि य अणणो सो ॥ ३८२ ॥
 जह चेदुं कुव्वंतो दु, सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि । ततो सेय अणणो, तह चेदुंतो दुही जीवो ॥ ३८३ ॥
 जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया य सा होदि । तह जाणगो दु ण परस्स, जाणगो जाणगो सो दु ॥ ३८४ ॥
 जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया य सा होदि । तह पस्सगो दु ण परस्स, पस्सगो पस्सगो सो दु ॥ ३८५ ॥
 जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया दु सा होदि । तह संजदो दु ण परस्स, संजदो संजदो सो दु ॥ ३८६ ॥
 जह सेटिया दु ण परस्स, सेटिया सेटिया दु सा होदि । तह दंसणं दु ण परस्स, दंसणं दंसणं तं तु ॥ ३८७ ॥
 एवं तु णिच्छयणयस्स, भासियं णाणदंसणचरित्ते । सुणु ववहारणयस्स, य वत्तव्वं से समासेण ॥ ३८८ ॥
 जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण । तह परदव्वं जाणदि, णादा वि सएण भावेण ॥ ३८९ ॥
 जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण । तह परदव्वं पस्सदि, जीवोवि सएण भावेण ॥ ३९० ॥
 जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण । तह परदव्वं विरमदि, णादावि सएण भावेण ॥ ३९१ ॥
 जह परदव्वं सेटदि हु, सेटिया अप्पणो सहावेण । तह परदव्वं सदादि, सम्मादिट्ठी सहावेण ॥ ३९२ ॥
 एसो ववहारस्स दु, विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते । भणिदो अण्णेसु वि, पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥ ३९३ ॥
 कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं । ततो णियत्तदे, अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ ३९४ ॥

१ श्री अप्पत्तन्दमूरि जी गाथा में से पाठ है उसको छाया तस्याः होती है और यहाँ 'सो' पाठ है इसकी छाया 'सः' होती है ।

कम्मं जं सुहमसुहं, जह्मि य भावहिं बज्झदि भविस्सं । ततो णियत्तदे जो, सो पच्चक्खणाणं हवे चेदा ॥ ३९५ ॥
 जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं । तं दोसं जो वेददि, सो खलु आलोयणं चेदा ॥ ३९६ ॥
 णिच्चं पच्चक्खणाणं, कुब्बदि णिच्चं पि जो दु पडिक्कमदि । णिच्चं आलोचेदि य, सो दु चरित्तं इवदि चेदा ॥ ३९७ ॥
 णिदिदं संशुदवयणणि, पोग्गला परिणमंति बहुगाणि । ताणि सुणिदूण रूसदि, तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥ ३९८ ॥
 पुग्गलदब्बं सहत्त-परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो । तह्मा ण तुमं भणिदो, किंचिवि किं रूससे अबुहो ॥ ३९९ ॥
 असुहो सुहोव सद्दो, ण तं भणदि सुणसु मंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, सोदु विसयमागदं सद्दं ॥ ४०० ॥
 असुहं सुहं च रूवं, ण तं भणदि पेच्छ मंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, चक्खुविसयमागदं रूवं ॥ ४०१ ॥
 असुहो सुहो य गंधो, ण तं भणदि जिग्घ मंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, घाणविसयमागदं गंधं ॥ ४०२ ॥
 असुहो सुहो य रसो, ण तं भणदि रसय मंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, रसणविसयमागदं तु रसं ॥ ४०३ ॥
 असुहो सुहो य फासो, ण तं भणदि फासमंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, कायविसयमागदं फासं ॥ ४०४ ॥
 असुहो सुहो व गुणो, ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥ ४०५ ॥
 असुहं सुहं च दब्बं, ण तं भणदि बुज्झमंति सो चेव । ण य एदि विणिग्गहिदुं, बुद्धिविसयमागदं दब्बं ॥ ४०६ ॥
 एवं तु जाणिदब्बस्स, उक्खसमे णेव गच्छदे मूढो । णिग्गहमणा परस्स य, सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥ ४०७ ॥
 वेदंतो कम्मफलं, अण्णाणं जो दु कुणदि कम्मफलं । सो तं पुणो वि बंधदि, वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ४०८ ॥
 वेदंतो कम्मफलं, मये कदं जो दु मुणदि कम्मफलं । सो तं पुणो वि बंधदि, वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ४०९ ॥
 वेदंतो कम्मफलं, सुहिदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा । सो तं पुणो वि बंधदि, वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ४१० ॥
 सत्थं णाणं ण हवदि, जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विति ॥ ४११ ॥
 सद्दो णाणं ण हवदि, जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा विति ॥ ४१२ ॥
 रूवं णाणं ण हवदि, जह्मा रूवं ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं रूवं जिणा विति ॥ ४१३ ॥
 वण्णो णाणं ण हवदि, जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं वण्णं जिणा विति ॥ ४१४ ॥
 गंधो णाणं ण हवदि, जह्मा गंधो ण याणदे किंचि । तह्मा णाणं अण्णं, अण्णं गंधं जिणा विति ॥ ४१५ ॥
 ण रसो दु होदि णाणं, जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं । तह्मा अण्णं णाणं, रसं च अण्णं जिणा विति ॥ ४१६ ॥
 फासो णाणं ण हवदि, जह्मा फासो ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं फासं जिणा विति ॥ ४१७ ॥
 कम्मं णाणं ण हवदि, जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं कम्मं जिणा विति ॥ ४१८ ॥
 धम्मच्छिओ ण णाणं, जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णं धम्मं जिणा विति ॥ ४१९ ॥
 ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णं णाणं, अण्णमधम्मं जिणा विति ॥ ४२० ॥
 कालोवि णत्थि णाणं, जह्मा कालो ण याणदे किंचि । तह्मा ण होदि णाणं, जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं ॥ ४२१ ॥
 आयासंपि य णाणं, ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि । तह्मा अण्णायासं, अण्णं णाणं जिणा विति ॥ ४२२ ॥
 अज्झवसाणं णाणं, ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं । तह्मा अण्णं णाणं, अज्झवसाणं तह्मा अण्णं ॥ ४२३ ॥

जह्या जाणदि णिच्चं, तह्या जीवो दु ज्ञाणणो णाणी । णाणं च ज्ञाणायन्दो अल्लदिरित्तं गुणेयत्तं ॥ ४२४ ॥
 णाणं सम्मादिद्धी, दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं । धम्मायम्मं च तहा, पव्वज्जं अज्झवंति बुहा ॥ ४२५ ॥ पंचदशकं ॥
 अत्ता जस्स अमुत्तो, ण हु सो आहारगो हवदि एवं । आहारो खलु मुत्तो, जह्या सो पुग्गलमओ दु ॥ ४२६ ॥
 णखि सक्कदि धित्तुं जे, ण मुंचिदुं चेव जं परं दव्वं । सो कोवि य तस्स गुणो, पाउगिय विस्ससो वापि ॥ ४२७ ॥
 तह्या दु जो विसुद्धो, चेदा सो णेव गिण्हदे किंचि । णेव विमुंचदि किंचिवि, जीवाजीवाण दव्वाणं ॥ ४२८ ॥
 पाखंडिय लिंगाणि य, गिहलिंगाणि य बहुप्पयाराणि । धित्तुं वंदति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥ ४२९ ॥
 ण य होदि मोक्खमग्गो, लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा । लिंगं भुइत्तु दंसण-णाणचरित्ताणि सेवन्ते ॥ ४३० ॥
 णवि एस मोक्खमग्गो, पाखंडिगिहमयाणि लिंगाणि । दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गं जिणा विति ॥ ४३१ ॥
 तह्या जहित्तु लिंगो, सागारणागारिण्हिं वा गहिदे । दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४३२ ॥
 मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि चेदयहि झांयहि तं चेव । तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४३३ ॥
 पाखंडियलिंगेसु व, गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु । कुव्वन्ति जे ममत्ति, तेहि ण णादं समयसारं ॥ ४३४ ॥
 ववहारिओ पुण णओ, दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे । णिच्छयणओ दु णेच्छदि, मुक्खपहे सव्वलिंगाणि

॥ ४३५ ॥

जो समयपाहुणमिणं, पठिदूण य अत्थतच्चदो णादुं । अत्थे ठाहिदि चेदा, सो पावदि उत्तमं सोक्खं ॥ ४३६ ॥

卐 इति समयसार उत्तरार्धम् 卐

